# गीता-हृदय

स्वामी सहजानन्द सरस्वती

प्रकाशक

किताब महल • इलाहाबाद

# गीता-सप्तश्लोकी

प्राचीन लोगोने अपने-अपने ख्यालके अनुसार गीताके सात श्लोको-को चुनकर एक या कई सप्तश्लोकियाँ मानी है। वैसा ही प्रचार भी हुआ है। गीता-हृदय लिखनेके समय इस बार भी ध्यान दिया गया है। फलत 'हृदय'ने जिसे सप्तश्लोकी स्वीकार किया है वह कुछ दूसरी ही है। उसका स्वरूप यह है :—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफल हेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥२।४७॥
योगस्थः कुरुकर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥२।४८॥
यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥३।१७॥
आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥६।३॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥१७।३॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं कुरुतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलं चैव स त्यागः सात्त्विको मतः ॥१८।९॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥१८।६६॥

# प्रारम्भिक शब्द

गीताके साथ मेरा सम्बन्ध प्राय चालीस सालसे है, जब मैं दस-ग्यारह वर्षका बच्चा था। उपनयन और यज्ञोपवीत सस्कारके बाद ही मेरे दिलमे अन्यान्य धार्मिक आचारोके साथ गीताको भी जाने कैसे स्थान मिल गया! आज इस मधुर स्मृतिके फलस्वरूप आश्चर्य होता है कि सचमुच यह बात क्यो हो पाई जो आजतक कायम ही नही है, किन्तु उसने सूद भी काफी कमाया है। इन चालीससे ज्यादा वर्षोंने गीताके साथ मेरी जो तन्मयता और अभिन्नता कायम कर दी है वह मेरे जीवनकी एक खास चीज़ है। धार्मिक और राजनीतिक मामलोमे मैं इस दर्म्यान कहाँसे कहाँ जा पहुँचा! इनके सम्बन्धमे मेरे भीतर ऐसी क्रान्ति हो गई कि आज अपनेको बिल्कुल ही निराली दुनियामे पाता हूँ! फिर भी गीता और गीताधर्म अपनी जगहपर ज्योके त्यो है—अविचल है, अटल है। बल्कि वह तो और भी बद्धमूल हो गये है!

बेशक, गीताके साथ मेरा पहला सम्बन्ध केवल धार्मिक था—धार्मिक उसी मानीमे जिसमे इस शब्दका आमतौरसे व्यवहार किया जाता है और अब भी तो वह सम्बन्ध धार्मिक ही है। फर्क इतना ही है कि पहलेका 'केवल' हट गया है। या यो कहिये कि धर्मका रूप बहुत व्यापक बन गया है। इसे व्यापक तो और लोग भी कहते और मानते है। मगर मेरे सम्बन्धमे इसकी व्यापकता कुछ निराली है और गीता-हृदयकी पक्तियाँ इसे साफ बताती है। साराश यह कि गीताके सार्वभौम धर्मने मेरे धर्मको भी अपना लिया है और उसे भी सार्वभौम बना डाला है। यही तो मेरे वेदान्तका असली अद्वैतवाद है। एक समय था, जब मैं गीतामे सकुचित

देखते हुए, आज उल्टे खुशी हो रही है। क्योकि उस समय कुछ लिखके तो आज पछताना ही होता। अब जो कुछ लिखा है और लिख रहा हूँ यही ठीक है और पहले यह हर्गिज लिखा न जाता।

हमारी हालत यह है कि हम गीताकी टीकाओ और उसके भाष्योके बीचमे बैठके ही गीताका अर्थ समझना चाहते है। यही कारण है कि उसे ठीक समझ पाते नही। बच्चेको बराबर सवारीपर ही चलाइये तो वह खामखा पगु होगा। उसके पावोमे शक्ति न आ पायेगी। यही हालत टीकाके सहारे ग्रथोके पढ़नेवालोकी हो जाती है। उनकी बुद्धिमे शक्ति और स्वावलम्बन नही आने पाता और वह पगु हो जाती है। मेरी भी पहले यही हालत थी। मगर १९२२मे फैजाबाद जेलमे पहले-पहल केवल एक नन्हीसी गीताकी गुटका मिली। विवश होके उसका स्वतत्र विचार करनेपर मुझे जो मजा मिला और जो नया अर्थ सूझा उसे कह नही सकता। खूबी तो यह है कि अधिकाश वही अर्थ मूलत. आज कायम भी है। इसीलिये उस गुटकासे मुझे खास मुहब्बत हो गई है। उसे बराबर साथ ही रखता हूँ। उसने भी मेरे साथ बार-बार जेलयात्रा की है। उसीसे मैने जो कुछ गीतार्थ सीखा है वही लिपिबद्ध कर रहा हूँ।

गीता मुझसे अभिन्न हो गई है और मै उससे अभिन्न बन गया हूँ। अन्य विचारो तथा ग्रथोकी जुदाई बर्दाश्त कर सकता हूँ मगर उसकी नही। आत्माकी जुदाई भला बर्दाश्त हो ? उसके सम्बन्धके विचार बीसियो सालसे हृदयमे पले है। ये सचमुच ही हृदयके खूनसे सीचे गये है। लेकिन फिर भी इन्हे जुदा करनेमे जाने क्यो अपार खुशी हो रही है। शायद इसीलिये, कि जुदा होनेपर ये और भी स्थायी हो रहे है। शायद यही करनेसे इन्हे पुष्पित, फलित होने का मौका मिलेगा।

गीता-हृदय के तीन भाग करनेका विचार है—पूर्व, मध्य और उत्तर। इन्हीका नाम मैने क्रमश अन्तरग, गीता और बहिरंग भाग भी रखा

# अनुक्रमणिका

विषय पृष्ठ

विषय पृष्ठ

## दूसरा

## गीता भाग

| विषय | पृष्ठ |
| --- | --- |

पहला

# अंतरंग भाग

# १—गीताके मुख्य मन्तव्य

## कर्त्तव्याकर्त्तव्यके प्रश्न

कर्त्तव्य, अकर्त्तव्यका झमेला, कर्म करे, न करेका सवाल, बुरे, भलेकी पहेली और इन दोनोका निर्णय कैसे हो यह जिज्ञासा—ये सभी—पुरानी बाते है, इतनी पुरानी जितनी पुरानी यह दुनिया है। कोई भी ऐसा देश नही है, समाज नही है जहाँ एक न एक समय यह उधेड-बुन और समस्या लोगोके सामने—कमसे कम उनके सामने तो अवश्य ही जिन्हे समझ हो और जो तहके भीतर घुसनेकी योग्यता रखते हो—आ न खडी हुई हो। सभी देशकालके विद्वानो के समक्ष ये और इसी तरहके बहुतेरे प्रश्न बराबर आते रहे है और उनने अपनी-अपनी समझ तथा पहुँचके मुताबिक इनका उत्तर भी दिया है, समाधान भी किया है। मानवसमाजके इतिहासमे यह एक ही बात ऐसी है जो बिना धर्म और सम्प्रदायके भेदके, समान रूप से सभी जगह पाई गई है और, हमे आशा है, आगे भी पाई जायगी। अकेले इस सम्बन्धके प्रश्नोने लोगोको जितना परीशान किया है और उन्हे इनके बारेमे जितनी माथापच्ची करनी पडी है, शायद ही किसी एक विषयको लेकर यह बात हुई हो। इसीसे पता चलता है कि यह विषय कितना महत्त्वपूर्ण है।

इन सवालो, इन प्रश्नो और इन जिज्ञासाओके जो उत्तर आजतक दिये गये है और जिन्हे लोगोने किसी न किसी रूपमे लिख डाला है, उन्हे अगर एक जगह जमा कर दिया जाय तो खासा पहाड खडा हो जाय।

नीतिशास्त्र और धर्मशास्त्रके ग्रन्थो, वैदिक एवं दार्शनिक वचनों, कुरान एवं हदीसकी किताबो, बाइबिल और जेन्दअवेस्ताकी पोथियों, जैन तथा बौद्ध मतोकी देशनाओ और चार्वाक आदि नास्तिकोंके उपदेशोंके अलावे गत कई हजार सालके भीतर विभिन्न देशोंमे जो आईन-कानूनकी किताबें तैयार की गई है वह सबकी सब आखिर इन्ही प्रश्नोंका ही तो उत्तर देती है। खूबी तो यह कि उनमे बहुतेरे उत्तर और जवाब ऐसे हैं जो समय-समय पर बदलते रहे है। कमसे कम आईन-कानून तो किसी देश या समाजके लिये हमेशा एक ही तरहके रहे नहीं। वे तो समाजके साथ ही बदलते रहे है। उनकी प्रगति और तरक्की समाजके साथ होती रही है। यदि इस नजरसे देखते है तो यह समस्या और भी पेचीदा हो जाती है, इसका महत्त्व और इसकी अहमियत हजार गुना बढ जाती है।

## अध्यात्मवाद और भौतिकवाद

इन प्रश्नोपर सोचने और उनके उत्तर देनेवाले लोग दो तरहके होते रहे है। चाहे उन्हे अध्यात्मवादी कहिये या नीति और एथिक्स (Ethics)के पैरो और प्रचारक कहिये। मगर भारतके धर्मशास्त्रियो और नीतिशास्त्रके आचार्योंसे लेकर ग्रीसके प्राचीन तत्त्ववेत्ताओ और पश्चिमी देशोके आजतकके आचारशास्त्रोके आचार्योंतकको हम आमतौरसे दो ही श्रेणियोमे बाँट सकते है। इन्हींके भीतर चीनके कन्फ्यूसियस आदि सम्प्रदायोके प्रवर्त्तक तथा विद्वान लोग भी आ जाते है। इनमे एक दल तो उनका रहा है और है भी जो केवल अध्यात्म दृष्टि या आत्मा, परमात्मा और लोक, परलोककी दृष्टिसे, इसी खयालसे, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य या कर्मके त्याग और करनेका निश्चय करते आये है, करते आ रहे है। ऐसी हर बातमे उनकी नजर दुनियावी नफा नुकसान और हानिलाभकी कोई

खास कीमत नही कूतती। वे तो ऐसे मौकोपर हमेशा सिर्फ उसी आत्मा, परमात्मा आदिकी दृष्टिसे इसका निर्णय करते चले आ रहे है कि क्या बुरा और क्या भला है। उनने भले-बुरेकी कसौटी सिर्फ यही रखी है कि किस कामसे आत्मा कितना नीचे गिरती या ऊँचे उठती है, उसका कितना पतन और उत्थान होता है और करनेवाला उससे परमात्माके कितना नजदीक या दूर जाता है। उन लोगोने इस बातकी कसौटी भी अपनी-अपनी पहुँच और समझके अनुसार बना रखी है जिससे इस बातकी परख हो सके कि उत्थान या पतन आदि कहाँतक और कैसे हो रहे है। अभी इस सम्बन्धमे अधिक लिखना अप्रासगिक है।

दूसरे दलवाले इसके विपरीत उचित, अनुचित या कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य वगैरहकी जाँच केवल सासारिक हानि-लाभ एव नफा-नुकसानके ही तराजूपर करते है। उनकी नजरोमे या तो आत्मा, परमात्मा या लोक, परलोक नामकी कोई चीज हई नही, या अगर हो भी तो उसे इस मामलेमे खामखा "दालभातमे मूसरचन्द" बनने बनानेकी जरूरत नही। वे कहते है कि खास तौरसे यदि कोई अपने परमात्मा, भगवान या खुदाकी पूजा-परिस्तिश करना चाहे और उसकी ढूँढ खोजमे परीशान हो, तो उसे आजादी है, आजादी हो सकती है, और इस तरह जो रास्ता उसने अख्तियार किया है उसकी जॉच-पडतालके लिये भले ही वह आत्मा, परमात्माकी कसौटीका इस्तेमाल कर सकता है। उसमें दूसरेको या दूसरे दलवालोको उज्र नही। उसकी यह अपनी निजी चीज़ जो ठहरी। मगर जनसाधारण या आम लोगोके कामोको तौलनेके लिये उस तरहकी नाप-जोखकी इजाजत उसे हर्गिज दी नही जा सकती, और न ऐसा करनेका उसे हक ही प्राप्त है। वे तो सिर्फ यही देखना चाहते है कि किस कामसे ज्यादा लोगोको फायदा या नुकसान पहुँचता है। क्योकि किसी भी कामसे सबोका न तो फायदा ही हो सकता और न नुकसान ही। चोरी, डकैतीसे भी तो कुछ

लोगोको लाभ होता ही है और रोकनेसे हानि भी होती है। यहाँतक कि साँस लेने और पलक मारनेसे भी हजारों जीवधारी कीटाणु नष्ट हो जाते है। इसीलिये अधिकांश लोगोंके हानिलाभकी ही कसौटीपर नेकी या बदीकी जाँच की जा सकती है।

## गीताका समन्वय

मगर गीताने इन दोनो विचारोंको एकांगी और अधूरा माना है। उसके मतसे हमे आदमीके स्वभावका खयाल करके दोनों होको मिलाना और उन्हींके आधारपर कर्म, अकर्म, कर्मके त्याग या ग्रहण और कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका निश्चय करना चाहिये। भौतिक हाड-मांस और दिल-दिमागसे हम मनुष्यको जुदा कर सकते नहीं और ये भौतिक पदार्थ स्वभावतः दुनियावी हानिलाभो और बुरे-भलोंकी ही तरफ झुकते और दौड़ते है। उन्हींको पहचानते और पकड़ते है और उन्हींसे अपना गँठजोड़ा करते है, ठीक उसी तरह जिस तरह बच्चा मांकी सूरत-शकल या आवाजको सुनते ही उधर दौड़ पड़ता और उसीसे जा लिपटता है। इसमें दलीलकी तो गुजाइश नहीं। यह तो कठोर सत्य है।

मगर इसमे धोका और खामी रह जाती है, इस बातकी इनमे पूरी सभावना बराबर बनी रहती है। कारण, अधिकांश लोगोंका सासारिक लाभ या नुकसान किसमे है, इस बातका निर्णय प्राय असभव है। इनके लिये जितने भी तरीके सुझाये गये है, सबके सब अधूरे एव दोषपूर्ण है। अल्पमत और बहुमतका निश्चय वर्त्तमान मानव-समाजके लिये निहायत पेचीदा पहेली है। इसी झमेलेमें दुनिया तबाह हो रही है। ऐसा भी होता है कि तुच्छ निजी स्वार्थ ही कभी-कभी जन-हित जँचने लगता है। इसीलिये सासारिक हिताहित या हानिलाभ के सिवाय आध्यात्मिक दृष्टिका भी पुट इसमे आ जाना जरूरी हो जाता है। इससे तुच्छ स्वार्थका

तो मौका रही नही जाता। साथ ही, बहुमतके निर्णयकी परेशानीसे भी पिंड छूट जाता है। गीताकी जो अध्यात्म दृष्टि है उसमे कुछ ऐसी शक्ति और जडी-बूटीकी ताकत है कि हर कामकी बाहरी रूपरेखाको वदलके वह उसे सुन्दर, निर्दोष और कल्याणमय बना देती है।

इसका यह मतलब हर्गिज नही है कि इसके चलते कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके ससारमे अन्धेर मच जायगी, यह सभीके बाहरी रूपको पलटनेवाली मानी जो जाती है। बात ऐसी नही है। इस दृष्टिके फलस्वरूप आमतौरसे अच्छे माने जानेवाले कामोमे प्रवृत्ति और दूसरोसे निवृत्ति तो एक तरहका नियम बन जाती है, स्वभाव बन जाती है। मगर अपवाद स्वरूप अगर कभी सयोगवश उलट-फेर भी हुई, तो भी गडबड होने नही पाती और इसके करते वैसे ही मौकेपर ऊपरसे बुरे दीखनेवाले कामो और अमलोकी कायापलट हो जाती है। फलत कही भी पश्चात्ताप या अफ-सोसकी गुजाइश रह नही जाती। यदि कहे तो कह सकते हैं कि सासारिक दृष्टि और परखमे जो कमी और मानव स्वभावमे जो त्रुटि रह जाती है उसीकी पूर्त्ति कर्त्तव्याकर्त्तव्यके बारेमे यह अध्यात्म दृष्टि करती है। यह बात प्रसगवश आगे दिखाई जायगी।

लेकिन एक बात यहीपर जान लेना जरूरी है। गीताके सिद्धान्तके अनुसार किसी भी क्रियाका, कामका, अमलका, ऐक्शन (action)का बाहरी रूप कोई चीज नही है। किसी भी कामको बाहरसे, ऊपरसे या योही देख सुनके हम उसे भला या बुरा नही कह सकते। ठोस या स्थूल पदार्थोंकी बात है कि उनका जो रूप देखा सुना जाता है आमतौरसे वही सही और असली माना जाता है और उसीके मुताबिक उन्हे हेय या उपादेय, त्याज्य या ग्राह्य माना जाताहै। मगर यह बात कर्मों या अमलोके बारेमें लागू नही है। ऊपरसे जिन कामोको हम सुन्दर, कर्त्तव्य और ग्राह्य मानते है वह ीक उलटे हो सकते है। यही हालत बुरे, अकर्त्तव्य तथा

त्याज्य कामोकी भी समझी जानी चाहिये। गीताके मतसे हिंसा अहिंसा और अहिंसा हिंसा हो सकती है, हो जाती है। यही बात सभी कर्मोके सम्बन्धमे लागू है। गीता तो इस सम्बन्धमे यह मानती है कि करने-वालोकी भावना, धारणा, निश्चय, मानसिक संकल्प और दिलकी पुकार उन कर्मोके बारेमे कैसी है, वे किन विचार और खयालसे उन कामोको करते है, उनके मानसिक पटलपर कौनसा स्थान किस तरहसे उन कर्मोको मिला है, उनके और उनके फलोके सम्बन्धमे उन्हे ममता और आसक्ति है या नही वे उन कर्मोसे और उनके फलोसे अपने दिल और दिमागके जरिये लिपटे है या नही, इत्यादि बातोका फैसला ही, उन्हीकी जानकारी ही उन कामोको बुरा या भला, उचित या अनुचित बनाती है।

## श्रद्धा, दिल और दिमाग

जिसे गीतामे श्रद्धा कहा गया है वह भी इन्हीके भीतर आ जाती है और कर्मोको बुरा या भला बनानेमे श्रद्धाका बहुत बड़ा हाथ माना जाता है। यही बात "श्रद्धामयोऽयं पुरुष" (१७।३) आदि मे गीता ने कही है। "यस्य नाहंकृतो भाव" (१८।१७) आदि वचन भी यही बताते है। दिलके भीतर किसी कामके प्रति जो प्रेम और विश्वास होता है उन दोनोको मिलाके ही श्रद्धा कही जाती है। श्रद्धा इस बात को सूचित करती है कि दिमाग दिलकी मातहती मे—उसके नीचे—आ गया है। विद्वत्तामे ठीक इसके उलटा दिलको ही दिमागकी मातहती करनी होती है। हाँ, आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, तत्त्वज्ञान, ब्रह्मज्ञान, स्थितप्रज्ञता, गुणा-तीतता और ज्ञानस्वरूप भक्ति, (चतुर्थभक्ति) की दशामे दिल तथा दिमाग दोनो ही हिल मिल जाते है। इसे ही ब्राह्मीस्थिति, समदर्शन ऐक्यज्ञान आदि नामोसे भी पुकारा गया है। जब सिर्फ हृदय या दिलका निराबाध प्रसार होता है और उसका मददगार दिमाग नही होता तो

अन्ध परम्पराको स्थान मिल जाता है, क्योकि हृदयमे अन्धापन होता है। इसीलिये उसे दीपककी आवश्यकता होती है और यही काम दिमाग या बुद्धि करती है।

विपरीत इसके जब दिमाग या बुद्धिका घोडा बेलगाम सरपटे दौडता है और उसपर दिलका दबाव या हृदयका अकुश नही रहता तो नास्तिकता, अनिश्चितता, सन्देह आदिकी काफी गुजाइश होती है। क्योकि तर्क और दलीलको पहरेदार सिपाही जैसा मानते है। इसीलिये वह एक स्थानपर टिका रह सकता नही, अप्रतिष्ठ होता है, स्थान बदलता रहता है—"तर्कोऽप्रतिष्ठ ।" फलत सदाके लिये उसका किसी एक पदार्थपर, एक निश्चयपर जम जाना असभव होता है। अच्छेसे अच्छे तर्कको भी मात करनेके लिये उससे भी जबर्दस्त दलील आ खडी होती है और उसे भी पस्त करनेके लिये तीसरी आती है। इस प्रकार तर्को और दलीलोका ताँता तथा सिलसिला जारी रहता है, जिसका अन्त कभी होता ही नही। फिर किसी बातका आखिरी निश्चय हो तो कैसे ? ससारभरकी बुद्धि आजमाके थक जाय, खत्म हो जाय, तभी तो ऐसा हो। मगर बुद्धिका अन्त, परिधि, अवधि या सीमा तो है नही। बुद्धियाँ तो अनन्त है और नई-नई बनती भी रहती है, उनका प्रसार होता रहता है—"बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धय ।"

यही कारण है कि दिल और दिमाग दोनो हीको अलग-अलग निरकुश एव बेलगाम छोड देनेकी अपेक्षा गीताने दोनोको एक साथ कर दिया है, मिला दिया है। इससे परस्पर दोनोकी कमीको एक दूसरा पूरा कर लेता है—दिलकी कमी या उसके चलते होनेवाले खतरेको दिमाग, और दिमागकी त्रुटि या उसके करते जिस अनर्थकी सभावना है उसे दिल हटा देता है। इस प्रकार पूर्णता आ जाती है। लालटेन या चिरागके नीचे, उसके अत्यन्त नजदीक अँधेरा रहता ही है। मगर अगर दो लालटेने पास-पास रख

दी जायँ तो दोनोके ही तलेका अँधेरा जाता रहता है। यही बात यहाँ भी हो जाती है। कर्म, अकर्म, कर्त्तव्य, अकर्त्तव्य या कर्मके योग और उसके सन्यास जैसे पेचीदे एव गहन मामलेमे जरा भी कमी, जरा भी गडबडी बडी ही खतरनाक हो सकती है। यही कारण है कि दिल और दिमागको मिलाके गीताने उस खतरेको खतम कर दिया है।

## कर्मके भेद

गीताके मुताबिक कर्म, क्रिया या अमल (action) की कई सीढियाँ है। इनमें सबसे पहली या नीचेकी सीढीमे वे सभी कर्म (काम) आ जाते है जो जीवनके लिये, या यों कहिये कि सामाजिक बातोके लिये जरूरी है और जिनके बिना न तो कोई जिन्दा रह सकता है और न दुनिया-का काम ही चल सकता है। गीताके "कार्यतेह्यवश कर्म" (३।५), "शरीरयात्रापि च ते" (३।८) आदि वचन इस बातके पोषक है। जब यही कर्म इसी खयालसे किये जाते है कि हमारा, करनेवालेका या दुनिया-का काम चले, सब कुछ कायम रहे, चालू रहे और जब करनेवालेको अपने और परायेका विचार रहता है, तभी ये कर्म सबसे निचली सीढीमे आते है। उस दशामे ये सोलहो आना कर्मके रूपमे रहते है और इनका नतीजा भुगतना होता है। जिनके बारेमे धर्मशास्त्रो और पोथीपुराणोमे बहुत कुछ लिखा गया है, जिन्हें सुख, दुख और नरक, स्वर्ग आदि देनेवाले कहा गया है वे यही कर्म है। भाग्य, दैव, प्रारब्ध, सचित और तकदीर आदि नाम भी इन्ही पहली सीढीवालोको दिये गये है। जब बातचीतमे कर्मका फेर कहते है तो इन्हीसे मतलब होता है। इनमे स्वार्थ और परार्थ—अपने लिये और दूसरोके लिये—का सवाल सदा लगा रहता है और वह कभी इनका और करनेवालोका पिंड छोडता नही।

दूसरी सीढी आती है उन कर्मोकी जो मनकी, हृदयकी, अन्त करणकी

शुद्धिके लिये, पवित्रताके लिये किये जाते हैं। जैसे देह, कपड़े-लत्ते और घरवारको कर्म या क्रियाके द्वारा ही निर्मल बनाते हैं, साफ सुथरा करते हैं, झाडू, साबुन, पानी वगैरहके जरिये इनकी मैल हटाके इन्हे स्वच्छ, पवित्र और शुद्ध करते हैं; ठीक वैसे ही दिल, दिमागको भी निर्मल किया जाता है कर्मोंके ही जरिये। आत्मज्ञान और तत्त्वज्ञानसे घरकी गन्दगी तो हटती नही। वह तो झाड़ू और पानीसे धोये पोछे बिना नही हट सकती। मनकी मैल और गन्दगी भी उसी प्रकार कर्मोंके ही द्वारा मिटती है और वह शुद्ध एव निर्मल होता है। जिस प्रकार पहली सीढी वालोको गीता ने "शरीरयात्रार्थ" कर्म 'शरीर यात्रापि च ते' (३।८) मे कहा है? उसी प्रकार इन्हे 'आत्मशुद्धये' या "आत्मशुद्धयर्थ" कर्म 'सङ्ग त्यक्त्वऽऽत्मशुद्धये' (५।११) आदिमे कहा है।

मनकी मैल भी समझ लेनेकी चीज है। देह या कपडे-लत्ते जैसा ठोस और स्थूल पदार्थ तो मन या हृदय है नही। वह तो सूक्ष्म—अत्यन्त सूक्ष्म—है और अनुमानसे ही उसका अस्तित्व माना जाता है। इसलिये उसमें बाहरी या स्थूल मल (मैल) की सभावना नही है। यह मैल तो उसके पास पहुँच ही नही सकती। यही कारण है कि मनकी चचलता, उसका किसी भी पदार्थमे न टिक सकना, राग, द्वेष और भय आदि ही मैल कहे जाते है और इन्हीको दूर करनेकी—कम करनेकी—जरूरत होती है। क्रिया या कर्मके प्रभावसे ही मन इन दुर्गुणोसे छुट्टी पाता है और धीरे-धीरे इनकी कमी होने लगती है। ये सोलहो आना मिटते तो हैं आत्मदर्शनके बाद ही। मगर इनकी प्रचडता और इनका वेग जाता रहता है। जैसे जगली खूँखार और घरेलू पालतू जानवरोके स्वभाव-मे फर्क होता है वैसी ही दशा मनकी हो जाती है और उसकी खूँखारी जाती रहती है। वह पालतूसा बन जाता है, बनने लगता है। दिल या हृदयकी जो दुर्बलता होती है और सकटोके आते ही जो पस्ती आ जाया

करती है तथा निराशा हो जाती है यही दिलकी मैल है। यह भी कर्मके फलस्वरूप कम हो जाती है, मिटने लगती है। काम करते-करते सफलता-विफलताका सामना बारबार होता है जिससे हिम्मत होती है, बढ़ती है। इसपर आगे सन्यास और त्याग प्रकरण प्रकाश मे मिलेगा।

उसीके बाद कर्मोंकी तीसरी सीढ़ी आती है—यह तीसरा दर्जा नीचेका न होके ऊँचेका है, उलटा है। इसलिये तीसरा दर्जा सुनके किसीको भ्रम नही होना चाहिये। पहली दो सीढ़ियोंको पार कर लेनेके बाद ही इस तीसरीपर पाँव देते हैं, दे सकते हैं। जब दिल और दिमाग पवित्र हो जाते हैं तो इन्सान कुछ ऊपर उठता है और उसकी दृष्टि विस्तृत होने लगती है। जहाँ पहले अपने परायेकी बात होनेसे वह सकुचित रहती है और कदम-कदमपर पदार्थोंका बँटवारासा प्रतीत होता है कि यह अपना है और यह दूसरेका है, तहाँ ऊपर उठनेपर यह विभाग, यह बँटवारा मिटने लगता है और अनेकतामे एकता नजर आने लगती है। चाहे इसे "वसुधैव कुटुम्बकम्" कहिये, या समदृष्टि कहिये। इसे ही गीताने अपने ही समान सबोंके—प्राणिमात्रके— सुख-दुखोंका अनुभव या "आत्मौपम्य दृष्टि" भी नाम दिया है और "समत्वबुद्धि" भी कहा है।

लेकिन सबका साराश है सकुचितसे विस्तृतकी ओर, परिमितसे अपरिमितकी तरफ, पिंडसे ब्रह्माण्डकी ओर और व्यष्टिसे समष्टिकी तरफ जाना। इसीलिये इसे ऊपर उठना कहते हैं। इससे यह होता है कि व्यक्तित्व, शख्सियत या 'पर्सनलिटी' (personality) और व्यक्तिवादिता या 'इन्डिविजुअलिटी' (individuality) का लोप समष्टि या विराट्के भीतर हो जाता है—'इन्डिविजुअलिटी' मिल जाती है 'कलेक्टिविटी' (collectivity) मे, समष्टि भावमे और मनुष्य अपने आपको विस्तृत ससारका एक अविच्छिन्न अश समझने लगता है। जिस तरह शरीरके किसी भी अगको उससे जुदा किये जानेपर असह्य पीडा होती है,

ठीक उसी तरह उस समय व्यक्तित्वको समस्त ससारसे अलग करने, मानने तथा देखनेमे मर्मान्तिक वेदना होती है। अगकी पुष्टिके लिये समस्त शरीरको ही पुष्ट करना जिस तरह अनिवार्य है वही हालत यहाँ भी हो जाती है। फलतः ऐसा ऊँचा उठा मनुष्य निजी तौरपर या व्यक्तिगत हानि-लाभका कभी खयाल भी नही कर सकता। वह ऐसी बातके लिये सर्वथा अयोग्य हो जाता है। अत दुनियाके सभी झगडे मिट जाते है। जिस तरह बहुत ही ऊँचे पर्वतकी चोटीपर खडा होके देखनेवालेको नीचेकी वडीसे वडी चीजे भी निहायत ही नन्हीसी लगती है और कभी-कभी तो दीखतक नही पडती है, ठीक वही हालत उसके नजरोमे व्यक्तित्व और अपनेपनकी हो जाती है।

मगर यह हालत यकायक नही होती। इसमे भी सीढियाँ (stages) होती है और उन्हीसे होके इन्सान धीरे-धीरे ऊपर उठता हुआ आखिरी दशा (stage) मे पहुँच जाता है जहाँ सभी एक और समान हो जाते है—जहाँ वह अपनेको सबोसे और सबोको अपनेसे पृथक् देख नही सकता। यही है निर्वाण, मुक्ति या ब्राह्मी स्थिति। उस हालतमे पूर्णतया पहुँचनेके पहले जिन सीढियोसे होके गुजरना पडता है उनमे पहली वही है जिसे कर्मकी गणनामे तीसरी कह चुके है। उस तीसरी या इस पहलीमे जो कर्म किया जाता है उसे गीताने 'यज्ञार्थ' कर्म कहा है। "यज्ञार्थात्कर्म-णोऽन्यत्र" (३।९), "एव प्रवर्त्तित चक्रम्" (३।१६), "यज्ञायाचरत कर्म" (४।२३) आदि श्लोकोमे यही बात है। यज्ञार्थका अर्थ है यज्ञके लिये और गीताका यह यज्ञ बहुत ही व्यापक है। इसमे दुनिया आ जाती है। परमात्मासे लेकर छोटी-वडी सभी चीजोका समावेश इसमे हो जाता है। गीताके चौथे अध्यायके २४से ३० श्लोकोमे यह बात स्पष्ट है और अन्यत्र भी। परमात्मा और ज्ञानको तो यज्ञ कहते ही है। मगर व्यष्टि और समष्टि—व्यक्ति और समुदाय—रूपसे ससारको

कायम और चालू रखनेके लिये जितने भी काम (कर्म) किये जाते हैं, सभी यज्ञके अन्तर्गत माने गये हैं। अतएव मन शुद्धिके बाद ऊपर उठने-वाला आदमी जो भी कुछ काम शरीरयात्राके लिये या दूसरोंके भलेके लिये करता है सभी यज्ञमें आ जाता है। जिसे आमतौरसे हिन्दू लोग यज्ञ कहते हैं उससे लेकर बडेसे बडे और छोटेसे छोटे कामोंको—सबोंको ही—यज्ञका स्वरूप मिल जाता है।

## यज्ञार्थ कर्म

वह मामूली यज्ञसे शुरू करके ही आगे बढता है। यज्ञमें एक खूबी है कि इसके करनेवालेको कुछ न कुछ घी, अन्न आदिका त्याग करना ही होता है। इसीलिये इसे सैक्रिफाइस (sacrifice) और कुर्बानी भी कहते हैं। इस प्रकार ऊपर उठनेका काम इस त्यागबुद्धिसे ही शुरू होता है और यह चीज आगे बढती जाती है। गीताकी यही तो खूबी है कि जो यज्ञ, कु नी या सैक्रिफाइस सर्वजन प्रसिद्ध और सर्वप्रिय है और जिसमें आस्तिक-नास्तिकका भी कोई मतभेद नहीं है—क्योंकि त्याग और कु नीके कायल तो नास्तिक भी हुई—उसीसे शुरू करके लोगोंको आगे बढाती है। फलत इसमें दिक्कत नही होती। कर्मके गहनमार्गको सरल बनानेका इससे सुन्दर और बालबोध तरीका दूसरा होई नही सकता। और जब एक बार उस च मे हमने पाँव दे दिया और उस लहरके भीतर पड गये तो फिर अन्ततक, देर या अबेरसे, पहुँचे बिना चमें रुकना असभव है। इसीलिये आमतौरसे यज्ञार्थ कर्म करनेकी यह तीसरी सीढी कर्मके सिलसिलेमें मानी जाती है और इसमे उस यज्ञका कोई विश्लेषण या विवरण नही आता है।

लेकिन जब इस तीसरी सीढी या दशामे भी कुछ प्रगति हो जानेपर खोद-विनोद शुरू हो जाती है और क्रमश इस यज्ञका असली महत्त्व लोगो

को मालूम होने लगता है तो चसका लग जाता है, मजा आने लगता है। कुछ समय और गुजरनेके बाद इन्सानकी समझ ऐसी होने लगती है कि वह जो कुछ करता धरता है वह इस विराट् एव महाकाय ससारकी स्थिति, वृद्धि तथा प्रगतिके ही लिये हो रहा है। यहाँतक कि वह अपने श्वास-प्रश्वास और पलक मारने तकको उसी प्रगतिके लिये जरूरी एव अनिवार्य क्रिया कलापका एक अश देखता है। इस प्रकार उसका समस्त जीवन परोपकारमय बन जाता है। फिर भी यह सब कुछ होता है उस यज्ञके ही रूपमें। उसकी यह अविचल धारणा बराबर बनी रहती है कि जो महान् यज्ञ ससारके कल्याणके लिये चालू है उसीकी पूर्त्ति हमारे प्रत्येक कामो, प्रत्येक हलचलो तथा छोटी-बडी सभी क्रियाओके द्वारा निरन्तर हो रही है।

## ईश्वरार्पण और मदर्थ कर्म

इस मनोवृत्तिका, इस दशाका पूरा परिपाक हो जानेपर चौथी सीढी आती है, जो ऊपर उठनेकी दशाकी दूसरी कही जा सकती है। इस दशामे पहुँचनेपर ससारकी विभिन्नता (diversity)का ज्ञान नही रहता है। जिस प्रकार मनुष्य व्यक्तित्वसे शुरू करके समष्टिमे पहुँच जाता है और वहाँ पहुँचते ही व्यक्तित्व लापता हो जाता है, ठीक उसी प्रकार समष्टिके ही थोडा और भी ऊपर उठनेपर वह समष्टि भी विलीन हो जाती है। व्यक्तित्व या व्यष्टि और समष्टि ये दोनो ही सापेक्षिक चीजे है—इनमें एकको दूसरेकी अपेक्षा है—ये दोनो परस्पर सापेक्ष है। जैसे पिता और पुत्र दोनो ही परस्पर सापेक्ष है। इसीलिये एकके ज्ञानके लिये दूसरेके ज्ञानकी अपेक्षा है और इसीलिये यदि किसीको दूसरेकी अपेक्षा न जाने तो उसे पिता या पुत्र न कहके आदमी, इन्सान या मनुष्य ही कहेंगे और जानेगे भी। यही बात व्यष्टि तथा समष्टिकी भी है।

जबतक ये दोनो है—जबतक इन दोनोका ज्ञान होता है—तभीतक इनकी हस्ती है, सत्ता है। मगर ऊपर उठते-उठते जब व्यष्टिका लोप सोलहो आना हो गया तो फिर समष्टि बुद्धि भी कहां रहेगी, कैसे होगी? इसी-लिये सर्वत्र समरसता, एकरसताका ज्ञान होने लगा। गीता इसे ही ब्रह्मज्ञान या परमात्माका ज्ञान कहती है। उस दशामें जो कुछ किया जाता है वह यज्ञार्थ होते हुए भी ईश्वरार्थ, ब्रह्मार्पण, मदर्पण या मदर्थ कर्म कहा जाता है। "मयि सर्वाणि कर्माणि" (३।३०), "यत्करोषि" (९।२७), "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य" (१८।४६), "चेतसा सर्वकर्माणि" (१८।५७) आदि गीताके वचनोंमें यही बात कही गई है। इसीके बारेमें कहा जाता है कि भगवदर्पण बुद्धिसे या भगवानकी प्रसन्नताके लिये कर्म किया जा रहा है। असलमें आत्मा और समस्त संसार—दोनो ही—जब परमात्मा बन गये और उनके सिवाय इनकी जुदा स्थिति रही नहीं गई, तब तो जो कुछ होता है उसे भगवदर्पण-बुद्धिपूर्वक ही माना जाना चाहिये।

## कर्त्तव्य कर्म

सबके अन्तमें आती है पांचवी सीढी, जिसे गीतामें केवल कर्त्तव्य-बुद्धिपूर्वक या कर्त्तव्य समझके कर्म करना कहते है। जब सारा भेद मिट गया और अद्वैतबुद्धि—"एकोऽहं द्वितीयो नास्ति"की भावना—हो गई और वह निरन्तर बनी रहती है, उसका विलोप कभी भी जब होता नहीं, तो फिर ईश्वरार्थ कर्मका प्रयोजन क्या है—मतलब क्या है? ब्रह्म या ईश्वर या भगवानके लिये कर्म करनेका तब तो कोई मतलब रही नहीं जाता। भगवान उन कर्मोंको लेके आखिर करेगा क्या? उसे तो उनका प्रयोजन कुछ भी रही नहीं गया। इसीलिये भगवदर्पण कर्मके कुछ मानी दरअसल है नहीं। जबतक अद्वैत भावना दृढ न हो और उसमें

रह-रहके विराम आ जाता हो, तबतक तो इसके मानी कुछ हो भी सकते हैं। तबतक पहलेवाला ऊँचे उठना और ऊपर चढना अपने स्थानपर रह सकता है। मगर जब इस भावना और धारणाकी पूर्त्ति हो गई, तब ब्रह्मार्पण कहना बेमानी है।

इसीलिये उस हालतमे जो कुछ भी कर्म होता है वह केवल कर्त्तव्य समझके ही होता है। जिसे अग्रेजीमे 'ड्यू ी फॉर ड्यूटीज सेक' (duty for duty's sake) कहते है वही है कर्त्तव्य बुद्धिसे कर्म करनेका अर्थ। "कार्यमित्येव" (१८।९), "यष्टव्यमेवेति" (१७।११), "दातव्यमिति" (१७।२०) आदि गीतोक्त वचनोका यही मतलब है। चाहे किसीका कुछ भी प्रयोजन हो या न हो, मगर कर्म तो इस सृष्टिका नियम (law) है। क्रिया ही तो सृष्टि है। इसलिये कर्म तो होता ही रहेगा जबतक ससार बना है, सृष्टि बनी है। इससे छुटकारा तो किसीको मिल सकता है नही। हाथ-पाँव आदि इन्द्रियोकी तो यहीं बात है कि उनसे कोई न कोई क्रिया होती ही है। नही तो वे रहे ई न। इसलिये यह आत्मदर्शी पुरुष कर्मोकी नाहककी उधेड-बुनमे तो पडता नही कि उनका प्रयोजन क्या है। उसे इसकी फुर्सत कहाँ? उसका मन, उसका दिलदिमाग इस तुच्छ चीजके पास फटकने भी क्यो पाये? उसे आगापीछा सोचनेकी फुर्सत ही नही होती—उसके पास इस चीजकी गुजाइश होती ही नही। इसलिये जो कुछ होता है उसे वह रोकता नही, होने देता है। इसे ही पुराने लोगोने 'प्रवाहपतित कर्म' भी कहा है। इसका अर्थ वही है जो कर्त्तव्यबुद्धिपूर्वक कर्मका है।

असलमे बहुत समयतक यज्ञार्थ या ब्रह्मार्पण बुद्धिसे कर्म करते-करते उस मनुष्यका कुछ स्वभाव ही ऐसा हो जाता है कि बिना किसी खयालके भी वह ऐसे ही काम करता रहता है जिससे लोगोका कल्याण हो। अनजानमे भी उससे दूसरे प्रकारका कर्म होई नही सकता। उसके जरिये

ऐसा काम होनेकी संभावना रही नहीं जाती जिससे समाजमें अमंगल हो, दुनियाका अनिष्ट हो, या सामाजिक लोग देखा-देखी पथभ्रष्ट हों। उसने तो दीर्घकालतक दुखी लोगोंके ऊपर दयादृष्टि करके ही कर्म किया है। फलत उसका अंग-प्रत्यंग दयार्द्र हो गया है। मैत्री, करुणा वगैरह दैवी सम्पत्तियाँ और उदात्त गुण उसके भीतर इस कदर प्रविष्ट हो गये हैं कि उनसे वह अनजानमें भी लाख यत्न करनेपर भी अलग हो नहीं सकता है। इसीलिये जहाँ पहले लोगोंकी भलाईका खयाल करके ही वह काम करता था, तहाँ अब बिना उस खयालके ही काम करता ही है। ऐसे ही कर्मोंको 'लोकसंग्रहार्थ' कर्म कहते हैं, जैसा कि गीताने कहा है—"लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन् कर्तुमर्हसि"। यहाँ कर्म पहले मनोयोग-पूर्वक होते थे और अब स्वभावसे ही होते रहते हैं। दोनों ही दशामें ये रहते हैं 'लोकसंग्रह'के लिये ही। मगर पीछे उनमें और भी उदात्तता आ जाती है, वे और भी ऊँचे दर्जेके हो जाते हैं। क्योंकि ऐसे पहुँचे हुए महान् पुरुषोंकी स्वरसवाही प्रवृत्तियोंके फल-स्वरूप होनेके कारण उनमें कृत्रिमता नहीं रह जाती। इसीलिये उनमें ऐसा आकर्षण होता है कि जन-साधारण उधर ही बलात् खिंच जाते हैं, एक प्रकारसे उन्हीं कर्मोंके साथ बँध जाते हैं और उन्हींको करने लगते हैं। 'लोकसंग्रह'में जो संग्रह शब्द है उसका अर्थ है बाँधना या जमा करना और यह बात तभी चरितार्थ होती है। पहुँचे पुरुषोंके कर्मों में तब अपूर्व शक्ति हो जाती है जिसका जादू आम लोगोंपर होता है, होके ही रहता है।

## स्वभावके प्रभाव

स्वभावकी बात कुछ ऐसी है कि मनुष्य संस्कारोंके मजबूत हो जाने या मानस पटलपर जम जानेसे सपनेमें चीजें देखने लगता है। वहाँ चीजें तो होती नहीं। लेकिन पहले देखी दिखाई चीजोंका गहरा संस्कार

ही उन्हे घसीटके दिमागके सामने नीदके समयमे ला देता है। हालाँकि स्वभाव जैसी मजबूती उस सस्कारमे कभी होती नही। इसीसे स्वभावकी ताकत समझी जा सकती है कि वह क्या कर सकता है। मेरे गुरुजी महाराज अत्यन्त वृद्ध और प्राय सौ साल के होके मरे थे। उनका हृदय बच्चो जैसा सरल और प्रेमसे ओत-प्रोत—सना हुआ—था। बचपनसे ही उनकी आदत थी, स्वभाव था, अपनी उँगलियोपर ही मालाकी तरह ओकार या भगवानके नाम के जपनेका। उनका यह काम निरन्तर धारा-वाही रूप से चलता रहता था जबतक नीद न आ जाये। मगर इसका परिणाम यह हो गया कि गाढी नीदमे भी उँगलियोकी वह क्रिया बराबर जारी रहती थी। कितनी ही बार जब मै दिनमे उनके दर्शनोके लिये गया और वे सोये थे, तो अविच्छिन्न रूपसे चालू उँगलियोकी वह क्रिया मैने खुदबखुद देखी है। महान् आत्माओके कर्मोकी यही दशा होती ही है।

कहते है कि कविता है दरअसल कविके हृदयका बहके—प्रवाहित होके—बाहर निकल आना। बेशक सच्ची कविता तो इसीको कहते है। वाल्मीकिने वनमे यकायक देखा कि क्रौच पक्षियोका जोडा आपसमे रमा हुआ है। इतनेमे ही एक शिकारीने तीरसे ऐसा मारा कि मादा वही लोट गई। यह देखके नर तिलमिला उठा और इधर दयार्द्र मुनि वाल्मीकिका हृदय-स्रोत फूट निकला और उनके मुखसे सहसा शब्द निकल पडे कि "मा निषाद प्रतिष्ठा त्वमगम शाश्वती समा" "निषाद, तुझे भी बहुत दिनोतक चैन न मिलेगा"—क्योकि तूने इन निरपराध पक्षियोमेसे एकको मार डाला है! कहा जाता है कि, यही वाल्मीकि रामायणकी रचनाका श्रीगणेश है और इसीको लेके वह लम्बी और सुन्दर काव्य रचना हो गई। लोग जो कहते है कि कवि लोग लोकमत बदलने या जनताका दिमाग फेरनेमे कमाल करते है उसका कारण यही है कि उनका जिन्दा दिल कविताके रूपमे खयालोसे बिचा

विधाया वाहर आके पुकारता है। मगर पहुँचे पुरुषोंके कामों और शब्दोंमें तो कवितामे लाख गुना शक्ति होती है अपनी ओर खींचनेकी। क्योंकि कवितामे जहाँ कुछ कृत्रिमता होती ही है, तहाँ उनके काम और शब्द बिल्कुल ही अकृत्रिम होते है।

स्वामी विवेकानन्दने परमहस रामकृष्णकी जीवनीमे लिखा है कि जब मै उनके पास यह जानके दौडा दौडाया पहुँचा कि भगवानके वे बडे भक्त है और मुझे तो भगवानकी सत्ता ही स्वीकार नहीं, इसलिए वे कुछ चीजे बतायेगे जिससे मै उस सत्ताके सम्बन्धमे सोचूँ विचारूँगा, तो वहाँ अजीब हालत देखी। उनने मेरे प्रश्नके उत्तरमे कोई भी दलील न देके चट कह दिया कि "हाँ, मै तो भगवानको ठीक वैसे ही देखता हूँ जैसे तुम मुझे देखते हो।" मगर इन सीधेसादे शब्दोमे क्या जादू था! इनमे क्या गजबकी ताकत थी! जहाँ बडेसे बडे दिमागदारोंकी दलीले मुझपर इस वारेमे जरा भी असर कर न सकी थी, तहाँ इन्ही शब्दोने कमाल किया और मुझे मजबूर किया कि उन परमहसजीको मै अपना गुरुदेव बना लूँ। हुआ भी ऐसा ही और मै उसी क्षणमे घोर नास्तिक और अनीश्वर-वादीसे परम आस्तिक एव ईश्वरवादी बन गया! यह शक्ति उन शब्दों-की नितान्त अकृत्रिमतामे ही थी! परमहसजीका बाहर-भीतर एक रस था। वे जैसा बोलते वैसा ही सोचते और करते भी थे। दिल, दिमाग, जबान और काम—इन चारो—मे उनके यहाँ सामञ्जस्य था। यह नही कि दिलमे कुछ, दिमागमे दूसरी ही, जबानपर तीसरी और काममे चौथी ही चीज हो जाय। यही महात्मापन है।

## महात्मा और दुरात्मा

पुराने लोगोने कहा है कि महात्मा उसीको कहते है जो दिल-दिमागमे सोचे विचारे जो कुछ वही जबानसे भी बोले और वैसा ही काम भी करे।

चाहे दुनिया इधरसे उधर हो जाय और लोग हजार खुश या रंज हो, उसे किसीकी पर्वा नही होती। वह निर्भय और लापर्वा होके एक ही तरहकी बात सोचता-विचारता, बोलता और करता है। विपरीत इसके दुरात्मा या दुष्ट सोचता-विचारता कुछ, कहता कुछ दूसरा ही और काम करता है तीसरे ही ढगका। लोगोके दबाव, डर, भय और लोभ वगैरहका उसपर क्षण-क्षणमे असर होता है। उसकी आत्मा पतित और कमजोर जो होती है—"मनस्येकं वचस्येकं कर्मण्येकं महात्मनाम्। मनस्यन्यद्व-चस्यन्यत्कर्मण्यन्यद्दुरात्मनाम्।" इसका साराश यह है कि दिमागका काम है सोचना-विचारना, दिलका काम है किसी बातको पकड रखना, उससे चिपक जाना, उसीपर डटे रहना, जबानका काम है बात बोलना और हाथ-पाँव वगैरहका काम है अमल करना। महान् पुरुषमे इन चारो—दिमाग, दिल, जबान और हाथ-पाँव आदि—का सामञ्जस्य होता है, इनकी एकता होती है, इनका मेल होता है। उसके दिल, दिमाग, जबान और अमलमे एक ही बात पाई जाती है। जरा भी अन्तर नही मिलता। शीलमुरव्वत, भयप्रीति, लाजशर्म या हानिलाभका कोई भी खयाल उसे डिगा नही सकता। वह पर्वतकी तरह अडिग होके मौतके मुखमे जाता हुआ भी जोई सोचता-विचारता उसेही बेधडक बोलता और तदनु-कूल ही आचरण करता है। प्रह्लाद, ध्रुव, ईसा, हुसेन, मसूर आदिकी गणना ऐसे ही महापुरुषोमे है।

लेकिन दुरात्मा या छोटे आदमियोकी ऐसी हालत होती है कि शील-मुरव्वत, हानिलाभ, लाजशर्म, डर दबाव आदिके चलते कदम कदमपर बदलते रहते है—क्षणमे कुछ और क्षणमे कुछ करते रहते है। वे गिरे होनेके कारण सासारिक प्रलोभनोसे ऊँचे उठ नही सकते। यह ठीक है कि उनमे भी सभी तरहके लोग होते है। कोई बिलकुल ही गिरे एवं दबे होते है तो कोई उनसे जरा ऊपर होते है और तीसरे होते है दूसरोसे

भी जरा और ऊपर। इसी प्रकार नीचे और ऊपर हजारों होते हैं। बात असल यह है कि महात्माओंके लिये जिन चारोंका मेल जरूरी है उनमें यदि तीन या दोका ही मेल हो सका, या चारोंका मेल भी पूरा-पूरा न हो सका और यही बात तीन और दोके मेलमें भी हुई तो वे लोग महात्मा तो हो सकते नहीं। वे तो नीचे जा पड़े। मगर उसी हिसाबसे उनका पतन कम या बेश माना जायगा। मेलमें जितनी ज्यादा कमी होगी पतन उतना ही अधिक होगा। विपरीत इसके मेल जितना ही अधिक होगा उतना ही वे अपेक्षाकृत ऊपर या ऊँचे माने जायँगे।

## संन्यास और लोकसंग्रह

कर्त्तव्यबुद्धिसे या लोक संग्रहार्थ कर्म करनेवाले महापुरुषोंके ही प्रसंगसे गीताकी एक और बात भी जानने योग्य है। समदर्शन या ब्रह्म-निष्ठाकी हालतमें महान् पुरुषोंकी दो गतियाँ हो सकती हैं—ऐसे पुरुष दो प्रकारके हो सकते हैं। एक तो ऐसे जिनकी मानसिक दशा बहुत ही ऊँची हो, अत्यन्त ऊँची हो। वह ऐसी दशामें हो कि उनकी वृत्तियाँ, उनके खयाल नीचे उतरते ही न हों, उतर सकते ही न हों। आमतौरसे ऐसे लोग आत्मानन्दमें सदा मग्न रहते हैं। इन्हींको कहीं-कहीं मस्तराम भी कहा है। उनके लिये इस दुनियाकी सारी बातें वैसी ही हैं जैसी भादो-की अँधेरी रातमें पड़ी चीजें। उन चीजोंको कोई देख ही नहीं सकता। ऐसे महानुभाव भी सांसारिक पदार्थों और गति विधियों को कभी देख सकते नहीं। इन चीजों का यथार्थ ज्ञान उन्हें कभी होता ही नहीं। अँधेरे की चीजको तो टो-टाके जान भी सकते हैं। मगर इनके लिये दुनियवी पदार्थ सर्वथा अज्ञेय हैं। इनके साथ उनका निकटवर्त्ती सम्बन्ध कभी होई नहीं सकता, हालांकि ये पदार्थ औरों के देखने में चारों ओर पड़े मालूम होते हैं। जैसे पानी के भीतर ही पैदा हुआ और पड़ा

रहनेवाला कमल का पत्ता पानी से निर्लेप एव असम्बद्ध रहता है, वही दशा इनकी है। जहाँ दुनियाकी जरा भी पहुँच नही उसी मस्तीके ये शिकार है—उसीमे झूमते है और जिसमे दुनिया झूमती है उससे ये महात्मा लाख कोस दूर है। ीताने इन्हें सयमी कहा है—"तस्या जागर्ति सयमी" (२।६९) और बताया है कि ससारकी ओरसे ये बेखबर होते है, उधरसे सोते रहते है। ,ससार इनके लिये अँधेरी रात या रातकी चीज है। इसोसे दुनिया इन्हे पागल समझती है।

इन्ही पागलो और मस्ताने लोगोकी दशाको गीताने साख्यनिष्ठा और ज्ञाननिष्ठा नामसे भी पुकारा है। वे इतनी ऊँचाईपर होते है कि ससारकी लपट उनतक पहुँच पाती ही नही। इसीलिये शरीरयात्रा-की क्रियाओके होते रहनेपर भी इनके भीतर कर्त्तव्य-बुद्धि कभी पैदा होती ही नही। ये लोग कभी भी ऐसा नही समझते कि हमारे लिये अमुक कर्त्तव्य है। कर्त्तव्याकर्त्तव्यके खयालसे बहुत ज्यादा ऊपर होनेके कारण उसकी सतह या धरातलमें उनका पहुँचना असभव हो जाता है। उनकी तो दुनिया ही दूसरी होती है, निराली होती है यदि उसे दुनिया कहा जा सके। यही कारण है कि कर्म करने, न करनेके जो विधिनिषेध है, इस तरहके जो विधान है वह उनके लिये हुई नही। ये सयमी महात्मा उन विधि-निषेधो और विधानोके दायरेसे बाहर है। इसीलिये गीताने साफ कह दिया है कि इन मस्तरामोका कोई भी कर्त्तव्य रही नही जाता। "तस्य कार्यं न विद्यते" (३।१७)। यही है पक्का सन्यास, त्याग या कर्मका छोडना। जैसे मदिरा पीके मतवाला हुए आदमीको अपने तनकी सुध-बुध नही होती, उससे लाख गुने बेसुध ये सन्यासी होते है। इनने तो महामदिराका पान कर लिया है। कर्मके विधिनिषेध वचनोकी हिम्मत नही कि उनके सामने जा सके। उन्हे सामने जानेमें आँच लगती है। इस प्रकारके सन्यासी या कर्मत्यागी कहे जानेवालोमे शुक-

देव, वामदेव, सनक, सनन्दन आदि आ जाते हैं। यही एक प्रकारका कर्म सन्यास है, जिसका मतलब आमतौरसे सभी कर्मोंके त्यागमें न होकर केवल विधानसिद्ध कर्मोंके त्यागमें ही है।

परन्तु तत्त्वज्ञानी या समदर्शनवाले एक दूसरे प्रकारके भी महापुरुष होते हैं और जनक आदि इसी श्रेणीके माने जाते हैं। जिस प्रकार पहली श्रेणीवालोंके कर्म अनायास ही छूट जाते हैं ठीक उसी तरह, जिस तरह पकनेपर वृन्त या वृक्ष-शाखासे छूटके फल गिर पड़ता है, ठीक उसी प्रकार दूसरी श्रेणीवालोंके कर्म जारी ही रहते हैं, जैसे कच्चा फल वृन्त या टहनीमें लगा रहता है। अगर पके फलको बलात् टहनीमें लगा रखा जाय तो वह सड़ने लगता है और यदि कच्चेको समयसे पहले तोड़ा जाय तो फल भी या तो नीरस होता या सड़ने ही लगता है। बहुत दिनोंके संस्कार और अभ्यासके फलस्वरूप जैसे पहली श्रेणीवालोंका मन कर्मोंसे सोलहो आना उपराम और विरागी हो जाता है, ठीक उसी तरह दूसरी श्रेणीवालोंका मन कर्मोंमें ही मजा पाने लगता है। यदि यह बात न हो तो पहले दर्जेका लोक संग्रहार्थ कर्म कभी होई न सके। क्योंकि जो पहुँचे हुए हैं वे सबके सब यदि विरागी हो जायँ तो विधान-प्राप्त कर्मोंको करेगा कौन? और अगर वह न करे तो दूसरोंका कर्म तो उस उच्चकोटिका होइ नहीं सकता। उसमें कुछ न कुछ अपूर्णता रही जायगी। करनेवाले खुद जो पूर्ण नहीं ठहरे। सृष्टिके नियमके अनुसार इसीलिये एक दल ऐसा होता ही है। सन्यासियोंके भी उस दूसरे दलकी जरूरत इसीलिये है कि पहले दर्जेकी मस्तीका नमूना और कोई पेश कर नहीं सकता। फलतः वैसे आदर्शकी ओर लोग खिंच नहीं सकते। यह भी एक निराले ढंगका 'लोकसंग्रह' ही है, जो मस्तीके सम्बन्धमें सन्यासके रूपमें है। इसीको पुराने बूढ़ोंने जीते ही पूरा मुर्दा बन जाना लिखा है, जिसमें सुख-दुःख आदिका कुछ भी असर पड़ी न सके—ये सभी टक्कर मारके हार जायँ।

गीताने जिस प्रकार कर्म-सन्यासके इस उच्च आदर्शको माना है और बार-बार उसका उल्लेख किया है उसी प्रकार ज्ञानोत्तर कर्म करनेवाली बातको भी स्वीकार करके उसे कई जगह कर्मयोग या योग नाम दिया है और उसे करनेवालोको कर्मयोगी और योगी आदि शब्दोसे याद किया है। ीताके भाष्यकी भूमिकामे शकराचार्यने साफ ही कहा है कि समदर्शियो और ब्रह्मज्ञानियोके कर्मको तो हम कर्म मानते ही नही, उसे कर्म कहना ही भूल है। क्या भगवान कृष्णके कर्मको कर्म कहना उचित है ?—"तत्त्वज्ञानिना कर्म तु कर्मैव न भवति यथा भगवतः कृष्णस्य क्षात्र चेष्टितम्"। कर्म तो उसे ही कहते है जिसमे बाँधने, फँसाने या सुख-दु.ख देनेकी शक्ति हो। मगर समदर्शियोका कर्म तो ऐसा होता नही। वह तो ज्ञानके करते जडमूलसे जल जाता है। उससे बन्धन नही होता, जैसाकि—"ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम्" (४।१९), "कृत्वापि न निबद्धयते" (४।२२), "समग्र प्रविलीयते" (४।२३), "ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते" (४।३७)—आदि गीता वाक्य बताते है यही कारण है कि विधानसिद्ध कर्मोके सन्यासी होते हुए भी खुद शकर लोक सग्रहार्थ जीवनभर कर्म करते ही रहे। इसमे विधि-विधानकी तो कोई बात न थी। यह तो स्वभावसिद्ध चीज थी। विधिविधानके अनुसार किये गये कर्म तो बन्धक होते है और ये वैसे नही होते। इसीलिये शकरने इन्हे त्यागनेपर कभी जोर न दिया।

हिरण्यकशिपुके मारनेके बाद नृसिह और प्रह्लादका एक सवाद भागवतमे आया है। हिरण्यकशिपुके मारनेमे नृसिहको बडी दिक्कतका सामना करना पडा था। क्योकि वह न दिन मे मर सकता था, न रातमे, न जमीनमे, न आसमानमे और न आदमीसे या जानवरोसे ही। इसीलिये खिचडी रूप बनाके सन्ध्या समयमे अपने हाथमे लेके ही उसे मारनेकी बात

भगवानको सोचनी पड़ी, ऐसा कहा जाता है। आगे भी ऐसी परेशानी न हो इसी खयालसे उनने प्रह्लादसे कहा कि सब पसारा छोड़के मेरे साथ ही चलो। लोगोंको ज्ञान-ध्यान सिखाना छोड़ो। इसपर प्रह्लादका जो भोलाभाला, पर अत्यन्त कामका, बहुत ही ऊँचे दर्जेका, उत्तर मिला वह इसी गीताके कर्मयोगका पोषक है। वह कहते हैं कि भगवन्, ऐसा तो अकसर होता है कि सभी ऋषि मुनि दूसरोंकी पर्वा छोड़के चुपचाप एकान्तमें चले जाते और अपनी ही मुक्तिकी फिक्रमें लग जाते हैं। तो क्या मैं भी आपकी आज्ञा मानके ऐसा ही स्वार्थी बन जाऊँ? हर्गिज नहीं। मैं ऐसा नहीं कर सकता। मुझे अकेले मुक्ति नहीं चाहिये। क्योंकि तब तो इन सांसारिक दुखियोंका पुर्साहाल कोई रहा न जायगा जो आपको इनके हितार्थ बतात्। इसी तरह नीचे "प्रायेणदेव मुनयः स्वविमुक्तिकामा, मौनं चरन्ति विजने न परार्थनिष्ठाः। नैतान् विहाय कृपणान् विमुमुक्ष एको नान्यं त्वदस्य शरणं भ्रमतोऽनुपश्ये।' (भागवत ७।६।४४)। "योगस्थः कुरु कर्माणि" (२।४८) आदि श्लोकोंमें गीताने भी यही कहा है।

## आरुरुक्षु और आरूढ

कर्मके त्याग या सन्यासकी दशा एक और भी है। एक तो समदर्शनकी अवस्थामें जानेसे पहले उसकी तैयारी करनी होती है। दूसरे वह अवस्था आनेपर उसमें दृढता लानेके लिये प्रयत्न किया जाता है। तैयारीमें भी ऐसा होता है कि सबसे पहले उस ओर मनका जाना और लगना जरूरी है। जब मन चाहेगा कि हम उस दशामें आरूढ हों, पहुँचें और पक्के हों तभी तो दूसरे यत्न होंगे। इसे ही पुराने लोगोंने विविदिषा, जिज्ञासा वगैरह नामोंसे पुकारा है और ऐसी प्रवृत्तिवाले को विविदिषु, जिज्ञासु आदि कहा है। गीतामें इसे आरुरुक्षा और ऐसे आदमीको आरुरुक्षु नाम

दिया गया है। गीताके छठे अध्यायका "आरुरुक्षोर्मुनेर्योग" यह तीसरा श्लोक इस बातको बहुत ही सफाई के साथ बताता है। समदर्शन या साम्यावस्थाको ीतामे योग या योगावस्था भो कहा है। उसी अध्यायके १८से २३ तकके श्लोकोमे और दूसरे स्थानपर भी यह बात लिखी है। खुद इसी तीसरे श्लोकमे भो योग नाम ही आया है। उसी योगमे आरूढ होने या पहुँचनेकी इच्छावालेको "योगारुरुक्षु" या "योगमारुरुक्षु" कहा है और पक्कापक्की पहुँचके वही स्थिर हो जानेवालेको "योगारूढ" कहा है। तीसरे श्लोकमे ही ये दोनो नाम आये हैं। लेकिन इसके स्पष्टीकरणके लिये हम उपनिषदोके एकाध वचनोपर भी विचार करेंगे। क्योकि गीताको प्रत्येक अध्यायके अन्तमे "गीतासूपनिषत्सु" शब्दोमे उपनिषद भी कहा है।

बृहदारण्यक उपनिषदके चौथे अध्यायके चौथे ब्राह्मणके २२वे और पाँचवे ब्राह्मणके छठे मन्त्रोके कुछ अशोको ही हम यहाँ रखना चाहते हैं। क्योकि विस्तार करना हमारा लक्ष्य नही है। २२वेमे लिखा है कि "तमेत वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन।" इसका आशय यही है कि "उस आत्मा या ब्रह्मके ज्ञानकी इच्छा (विविदिषा या जिज्ञासा) या यो कहिये कि लगन पैदा करनेके लिये विवेकी लोग, वेदशास्त्रोके आधारपर, यही निश्चय करते है कि यज्ञ, दान और तप करना चाहिये—ऐसा तप जो शरीरका नाशक न हो या अनशनके रूपमे न हो।" यहाँ यज्ञ, दान और तपसे मतलब है सभी कर्मोसे। गीताके अनुसार ये तीनो बहुत ही व्यापक है और इनमे सभी क्रियाओका समावेश हो जाता है, जैसा कि सत्रहवे अध्यायके ११से २२ तकके श्लोको और चौथे अध्यायके २४से २९ तकके श्लोकोसे स्पष्ट है। इससे यह तो सिद्ध है कि जिज्ञासु या योगारुरुक्षु बननेके लिये—ज्ञान या योगके प्रति उत्कट अभिलाषा या लगन पैदा करनेके लिये—कर्म जरूरी है, कारण

है, साधन है, उपाय है। यही बात "आरुरुक्षोर्मुनेर्योग" आदि आधे श्लोकमें कही गई है। इस प्रकार योग या समदर्शनकी तैयारीके लिये कर्मोंकी जरूरत सिद्ध हो जाती है। कर्मोंके करने-कराने ही यह लगन पैदा हो जाती है। कर्म जितनी ही मुस्तैदी एवं तत्परताके साथ किये जायेंगे उतनी ही जल्दी यह लगन पैदा होके मनुष्य उस दशामें पांव देगा—उसके अत्यन्त निकट आ जायगा।

इसके बाद उसी २२वें मंत्रमें पूर्वोक्त वचनके बाद ही उसीसे मिला हुआ यह वचन मिलता है, "एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति एतमेव प्रव्राजिनो लोकमिच्छन्त प्रव्रजन्ति।" इसका आशय यह है कि "आत्मज्ञानके बाद ही मनुष्यको मुनि या मननशील हो जाना पड़ता है और उसी ज्ञानकी पुष्टि या आत्माकी प्राप्तिके लिये लोग सन्यासी बनते हैं।" पांचवें ब्राह्मणके छठे मंत्रमें भी लिखा है कि "आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि।" इसका अर्थ यह है कि "अरे मैत्रेयी, आत्माके ज्ञान या दर्शनका होना सर्वथा सर्वदा वाञ्छनीय है। उसके लिये श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना होगा।" श्रवणका तात्पर्य है खूब ध्यानसे पढ़ना और सुनना कि वह कैसा है। उसके बाद उसपर खूब मनन और विचार करना आवश्यक है। दोनों बातें कर लेनेके बाद एकान्तमें समाधि लगाके उसीका निरन्तर चिन्तन करना होगा। तभी आत्मज्ञान हो सकता है। इसी समाधि या निदिध्यासनका विस्तृत वर्णन गीताके छठे अध्यायके १०से ३२, आठवेंके ८में १३, बारहवेंके ६से १९ और १८वेंके ५०से ५५ तकके और दूसरे श्लोकोंमें भी है। यही बात "आरुरुक्षोर्मुनेर्योग" श्लोकके उत्तरार्द्धमें भी कही गई है कि उसे मुनि और योगारूढ बनने-बनानेके लिये शम यानी कर्मोंके त्यागकी जरूरत है, त्याग ही उसका कारण है। उपनिषदके वचनमें जो 'मुनि' शब्द है वही गीताके इस श्लोकमें भी पाया जाता है। उपनिषदके वचनोंमें साफ

ही सन्यासकी बात कही गई है । यह भी बात है कि मनन एव निदिध्यासन या समाधिके लिये तो जाने कितने समयतक कर्मोको कतई छोड देना आवश्यक हो जाता है । गीताके उक्त श्लोकोके पढनेवाले और समाधिकी बाते जाननेवाले ही बता सकते है कि उस समय कर्मकी गुजाइश कहाँ रह जाती है ? सो भी युग लग जाते है । फिर भी काम पूरा नही होता । इसीलिये कर्मोंका त्याग या सन्यास खामखा अनिवार्य हो जाता है ।

जो लोग चौथे अध्यायके उक्त श्लोकके "योगारूढस्य तस्यैव शम कारणमुच्यते"मे शम शब्द देखके एव उसका अर्थ उपशम या मनकी शान्ति लगाके सन्तोष कर लेते और कर्मोका त्याग जरूरी नही समझते उनकी समझपर हमें तर्स आता है । योगारूढ शब्दके भीतर तो मनकी शान्ति या उसका निरोध आई जाता है । "योगोऽनिर्विण्णचेतसा" (६।२३)मे भी यह साफ ही लिखा है कि योगकी सिद्धि मनकी शान्तिके बिना हो नही सकती है । और जब सभी कर्म करते रहे तो फिर मनकी चचलता मिटेगी कैसे ? वह तो बराबर चक्कर लगाता ही रहेगा । हम यहाँ इतनाही कहना काफी समझते है कि योगके वारेमे गीताके जिन वचनोका नाम हमने लिया है उन्हे पढने और समझनेके बाद यदि फिर भी किसीको यह कहनेकी हिम्मत हो कि समाधिके साथ-साथ विधान प्राप्त कर्म भी हो सकते है, तो हम अपनी भूल स्वीकार कर लेगे । जो लोग यह कहते है कि शमका अर्थ कर्मत्याग या सन्यास नही होता उन्हे चौदहवे अध्यायके "लोभ प्रवृत्तिरारम्भ कर्मणामशम स्पृहा" (१२)को पढके सन्तोष करना चाहिये । वहाँ 'आरम्भ' और 'अशम'के बीचमे 'कर्मणा' शब्द आया है और यह बताता है कि रजोगुणकी वृद्धि हो जानेपर आदमीको लोभ होता है, कर्मोके करनेकी इच्छा होती है, वह कर्म शुरू भी कर देता है, फिर उसका ताँता बराबर जारी रखता है और उसे वन्द नही करता । 'शम'के साथ 'अ' लगनेपर वह वन्द करने या त्यागकी विरोधी बात कहता

है। 'शम' धातुका संस्कृतमें अर्थ भी है सभी क्रियाओंकी निवृत्ति। मनकी शांतिका अर्थ भी यही है कि उसकी सारी हलचलें मिट गई। मगर शान्ति शब्द तो केवल मनके ही लिये आता नहीं। झगड़ेकी शान्ति, तूफानकी शान्ति आदि भी तो बोलते हैं। अतः उसका अर्थ है क्रियाकी निवृत्ति। अग्नि शान्त हो गई, लोग शान्त हो गये या ठंडे पड़ गये, दुनिया शान्त हो गया आदि बोलचालमें तो हलचल और क्रियाकी ही निवृत्तिसे मतलब होता है।

## पूजाके भेद

गीताकी एक और बात भी बड़े ही मार्केकी है। आमतौरसे यही समझा जाता है कि कंठी माला जपना, चन्दन अक्षत और पत्रपुष्प आदि चढाना तथा घंटा-घड़ियाल वगैरह बजाके धूप, दीप, आरती और भोगराग अर्पण करना यही भगवानकी पूजा है। तीर्थ व्रत आदि करने, भगवानके गुणोंको वर्णन करनेवाले ग्रन्थोंका पाठ करने, स्तुति करने और गीत भजन ऊँचे स्वरसे गानेको भी किसी कदर पूजा मान लेते हैं। आँखें बन्द करके ध्यानमें बैठना तो भगवानकी भक्ति जरूर ही है। प्रायः देखा जाता है कि भगवानके प्रेमके नामपर आँखोंसे नकली आँसू भरके कभी-कभी भक्त नामधारी लोग रोते भी हैं। रामलीलाके नामपर नाटक वगैरहका जो प्रपंच फैलाया जाता है उसे भी पूजाके भीतर ही मानते हैं। आजकल तो रसिक सम्प्रदाय और सखीसम्प्रदायके नामपर नाचने-गानेके अलावे जानें क्या क्या नकलें की जाती हैं। और स्त्री बननेका भी स्वांग रचा जाता है। इसे भी भगवद्भक्ति ही माननेकी बीमारी तेजीके साथ फैल रही है।

मगर गीताने एक निराला ही रास्ता निकाला है और इस तरह ऐसा करनेवालोंका सौदा ही फीका कर दिया है। बेशक, दुनियाको

दिखानेके लिये नही, किन्तु भीतरी श्रद्धाके साथ, जो कुछ पत्र, पुष्प आदि भगवानके नामपर अर्पण किया जाता है उसे भी नवे अध्यायके "पत्र पुष्प" (२६) श्लोकमे पूजा कहा है। मगर वहाँ 'भक्त्या' और 'प्रयतात्मन' के साथ ही जो 'भक्त्युपहृत' कहा है उससे एकदम स्पष्ट हो जाता है कि सरल स्वभाव और निष्कपट मनसे श्रद्धा और प्रेमके साथ जो कुछ किया जाता है उसे ही भगवान स्वीकार करते है और वही उनकी पूजा है। श्रद्धा भक्तिकी जरा भी कमी हुई और यह बात चौपट हुई। तब तो यह कोरा रोजगार हो जाता है। दो बार 'भक्ति' शब्द एक ही श्लोकमे कहनेका मतलब ही यही है कि छलछलाते प्रेम और सच्ची श्रद्धाके साथ ही ऐसा करना पूजा मानी जा सकती है। नरसी मेहता और नामदेव आदि भक्तोके बारेमे ऐसा ही कहा जाता है। शबरी तथा विदुरकी ऐसी ही बात सर्वजन विदित है।

यह तो हुई एक पूजा। लेकिन यह है बहुत ही सकुचित। इसमे कितने ही बन्धन जो लगे हुए है। पूजाके लिये पत्र, पुष्प आदि लाना और उसकी खासतौरसे तैयारी करना इस बातके लिये जरूरी हो जाता है। इसलिये यह पूजा निराबाध नही चल सकती। इसका दिनरात चलना भी असभव है। आखिर घर-गिरस्ती सँभालना तो पडता ही है। अपने शरीर-सम्बन्धी मलमूत्र त्याग आदिकी क्रियाये तथा खान-पान वगैरह भी तो जरूरी है। समय-समयपर लोगोसे बातचीत और सोना जागना भी आवश्यक है। यदि कोई नौकरी-चाकरी या मजदूरी करते है तो उस समय भी यह काम नही हो सकता है। यदि हल चलाते, खेत खोदते, विद्यार्थीकी दशामे पाठका अभ्यास करते और सिपाही बनके पहरा देते है, तो भी यह पूजा हो सकती नही। बीमार हो जानेपर भी यह चीज असभव है। इस प्रकार हजार बाधाये मौजूद है जिनसे यह पूजा खडित हो जाती है। इसीलिये गीताने बहुत ही आसान और सर्वथा सर्वदा सुलभ मार्ग बताया है।

नवे अध्यायका जो 'पत्र पुष्प' श्लोक पहले बताया है उसीके बाद के २७ और २८ दो श्लोकोंमे जो कुछ भी कहा गया है उससे सभी दिक्कतें और बेबसियाँ दूर हो जाती हैं। हाँ, अपने मनकी दिक्कत रहती है जरूर। मगर इसका तो कोई बाहरी उपाय है नही। यह खुद हटानेकी चीज है। मनकी शैतानियत तो दूसरा कोई दूर कर सकता नहीं। हाँ, तो उन श्लोकोंमे पहले यज्ञ, दान और तपके नामसे तीन कामोंको गिनाके कहा है कि इन्हें करके भगवदर्पण, मदर्पण, मुझे अर्पण करो। मगर फिर इनमे भी वही दिक्कतें और बाधायें समझके आखिरमें कह दिया है कि इन्हे तो नमूनेके तौरपर गिना दिया है। असलमें जो कुछ भी करते हो, 'यत्करोपि', उसे ही भगवानको अर्पण करो। इसका सीधा मतलब यही है कि जो भी काम करते हो सभी कुछ भगवदर्पण बुद्धिसे, यह समझके कि यह भगवानकी पूजा ही रूपान्तरमे हो रही है, करो। चौबीस घंटेमें जो कुछ भी किया जाय—और इसमे सोना, मलमूत्र त्याग आदि भी आई जाता है—सभीके मुतल्लिक एक ही भावना होनी चाहिये, एक ही खयाल होना उचित है कि यह तो और कुछ नही है, केवल भगवानकी पूजा है। इसी खयाल का अभ्यास होने से ही काम चल जाता है। फिर तो लोक-परलोक के लिये दूसरी चिन्ता-फिक्र करनेकी जरूरत ही नही होती। कामका काम हुआ और भगवानकी पूजा भी हो गई। "आमके आम रहे और गुठलीका दाम भी मिल गया।" इसे ही "एक पन्थ दुइ काज" कहते है।

गीतामें यह बात किसी न किसी रूपमें बार-बार आती गई है और अन्तमे १८वे अध्यायकी समाप्तिके पहले भी ४५ और ४६ श्लोकोंमें यही बात कही गई है। वहाँ तो "स्वकर्मणातमभ्यर्च्य"—"अपने-अपने कर्मोसे ही उस भगवानकी पूजा अच्छी तरह करके"—ऐसा साफ ही कह दिया है। यज्ञ, दान आदि का वहाँ नाम भी नही लेके केवल

'स्वकर्म'को ही पूजाके रूपमे बताया है। खूबी तो यह है कि 'स्वधर्म' भी नही कहके 'स्वकर्म' कहा है। धर्म और कर्म गीताकी नजरोमें तो पर्यायवाची है और दोनोका एक ही अर्थ है। मगर सर्वसाधारणका खयाल तो ऐसा है नही। वे तो धर्म कुछ और ही चीज मानते है। साधारण क्रियाको तो वे धर्म मानते नही। उनके लिये तो विशेष प्रकारका कर्म ही धर्म है। इसीलिये यहाँ 'स्वकर्म' कह दिया है। ताकि लोग भूलभुलैयामे न पडे रहे और क्रिया मात्रको ही पूजा के रूपमे समझने एव माननेकी कोशिश करे, ऐसा ही माने।

श्रीमद्भागवतमे भी राजा रहूगण और मस्तराम जडभरतके सम्वादमे कहा गया है कि "स्वधर्म आराधनमच्युतस्य यदीहमानो विजहात्यघौघम्" (५।१०।२३)। इसका आशय यह है कि "अपने कर्त्तव्योका पालन करना ही भगवानकी पूजा है, जिसके चलते पापका पहाड़ भी खत्म हो जाता और नजदीक नही आता है।" रहूगणने अपने राज्यकार्य सचालन और शासन आदिको ही लक्ष्य करके ऐसा कहा है। लोग यह न समझे कि दड देनेका काम तो वीभत्स है, इसीलिये उनने कह दिया है कि वह तो राजाका कर्त्तव्य होनेके कारण भगवत्पूजा ही है। बेशक, यहाँ स्वकर्म न कहके स्वधर्म कहा है। मगर मतलब एक ही है। यदि दड आदि रूप सख्त काम और अमल एव मारकाट तथा युद्धको पूजा कह सकते है, ये सभी काम यदि पूजा ही है, तो लोगोके सभी साधारण कामोका क्या कहना? वे तो आसानीसे उस पूजाके भीतर आई जाते है।

यहाँ 'स्वधर्म' और गीतामे जो 'स्वकर्म' कहा है इन दोनोमे 'स्व' शब्द देकर यही बताया गया है कि खुद कर्मोके अच्छे बुरे होनेकी कोई बात नही। अपने-अपने कर्म ही पूजा बन जाते है। उनकी बाहरी बनावट और रूपरेखा कोई चीज होती नही। इसीलिये अपने

खराब कामोको छोड दूसरोके अच्छोकी ओर झपट पडना भी ठीक नही। 'अपने'का अर्थ है हरेकके लिये जो निर्धारित या तयशुदा (assigned) है।

पूजाको ऐसा रूप देनेमे एक बहुत ही बडी खूबी और भी है। सभी चाहते है कि हरेक काम अच्छी तरह पूरा हो और सुन्दरताके साथ किया जाय। हरेक चीजकी सबसे बडी खूबी है उसकी पूर्णता। यदि अधूरापन किसी भी काममे रहने न पाये तो ससार मगलमय बनके ही रहे। मगर यही बात नही हो पाती और लापर्वाही, अन्यमनस्कता आदि कितनी ही चीजे इसकी वजह है। लोग अकसर यह भी समझते है, खासकर जब कोई कठिन, परन्तु अप्रिय, काम उन्हे सौंपा जाय, कि "गले पडी, बजाये फुर्सत।" इसीलिये जैसे-तैसे उसे कर-कराके अपना पिंड छुडाना चाहते है। इसलिये जरूरत है इस बातकी कि लोगोमे कामके लिये अनुराग पैदा किया जाय, उनमे उसकी धुन लाई जाय और ऐसा किया जाय कि कामके लिये उनमे आग पैदा हो। यही बात इस पूजावाली प्रक्रियासे हो जाती है। जब लोग समझने लगते है कि हम जो कुछ भी करते है वह भगवानकी पूजा ही है तो खामखा मनोयोगपूर्वक करना चाहते है। दिलमें यह खयाल हो आता है कि पूजामे कोई कोरकसर न रह जाय। इसलिये धुन और लगनके साथ सच्चे प्रेमसे अपने-अपने काम न सिर्फ करते है, बल्कि उन्हें पूर्ण बनानेके लिये मरतोड परिश्रम करते है। जब आमतौरसे किसी भी बडेके लिये तैयार की गई भेटको सुन्दरसे सुन्दर, बनानेकी कोशिश कीजाती है तो फिर बडोके भी बडे—सबसे बडे—के लिये होनेवाली हमारे कामोकी भेट क्यो न सर्वात्मना सुन्दर बनाई जाय? इसमें बाहरी खर्चवर्च और परीशानीकी भी बात नही है। यहां तो केवल मनोयोगका प्रश्न है। इस प्रकार सभी काम पूर्ण होगे और ससार सुखमय होगा।

# गीताका योग।

योग शब्दके कितने अर्थ गीतामे माने गये है यह वात तो आगे वताई जायगी। मगर गीताका जो अपना योग है, जिसका ताल्लुक कर्मयोगसे है और जो गीताकी अपनी खास देन है वह जाननेकी चीज है। यो तो उसका जिक्र कई स्थानोपर आगे भी आया है। लेकिन दूसरे अध्यायके "एषा तेऽभिहिता" (३९) श्लोकसे जिस योगकी भूमिका शुरू करके "कर्मण्येवाधिकारस्ते" (४७) तथा उसके वादवाले (४८वे) श्लोकमे जिस योगका वर्णन है वही गीताका निजी योग है। इन दोनो श्लोकोंको मिलाकर ही उसका रूप पूरा हुआ है। आगेके ५०वे श्लोकमे उसी योगका निचोड या सक्षिप्त रूप "योग कर्मसु कौशलम्" शब्दोमे वताया है। लोग कही ऐसा न समझ वैठे कि पहले वताया गया योग कोई दूसरी ही चीज है, इसीलिये गीता साफ कहे देती है कि वह और कुछ नही है सिवाय कर्म करनेकी चातुरी, उसकी कुशलता, विशेषज्ञता (specialism)के। जोई मनुष्य कर्मोंके करनेमे विशेषज्ञ (specialist) हो जाता है उसे ही योगी या कर्मयोगी कहते है। उसे ऐसी हिकमत मालूम हो जाती है कि कर्मोके करते रहनेपर भी वन्धनमे नही फँस सकता और निर्वाणमुक्ति या ब्रह्मनिष्ठा प्राप्त कर लेता है। योग शब्दका यो भी युक्ति या उपाय अर्थ माना जाता है और कर्मके सम्वन्धकी यह हिकमत भी युक्ति ही तो है।

यह युक्ति, हिकमत या विशेषज्ञता क्या है और कैसे प्राप्त होती है, यही वात ४७ और ४८ श्लोकोमे वताई गई है। अगर कर्म, क्रिया, काम या अमलको हम दायरे या वृत्तके रूपमे मान ले तो यह वात समझनेमे आसानी होगी। तव तो कर्म करनेका मतलव होगा मनुष्यका उस वृत्तमें घुसना। गीताकी नजरोमे कर्म करनेवालेके लिये कहा गया है कि "उसका

हक या अधिकार सिर्फ कर्मतक ही है"—"कर्मण्येवाधिकारस्ते।" इसका आशय यह है कि हमे उस वृत्तके भीतर ही सीमित या बंधे रहनेका ही हक है—हमें उसके भीतर ही रहना चाहिये। परिधिको डांकना नहीं चाहिये—परिधि डांकनेका यत्न हर्गिज करना नही चाहिये। 'कर्मणि'के आगे जो 'एव' शब्द है वही डांकनेकी मनाही करता है, हमें डांकनेसे रोकता है। लेकिन यह तो सूत्र जैसी बात हो जाती है। इसका स्पष्टीकरण हो जाना जरूरी है। इसीलिये ४७वें श्लोकके शेष तीन चरण (हिस्से) और पूरा ४८वां—दोनो ही—यही स्पष्टीकरण करते है।

कर्मको वृत्त करार देनेपर मान ले कि करनेवालेके आगे वह वृत्त है और उसके तथा वृत्तके बीचमे किसी और चीजकी संभावना है जिससे उसका वृत्तके साथ अत्यन्त निकटका सम्बन्ध न होके बीचमे वही चीज आ सकती है—आ जाती है और इस तरह वृत्तमें घुसनेमे उसे बाधा पहुँचाती है। उसी तरह वृत्तके भीतर घुसनेके बाद वृत्तके बाहर उस आदमीके सामने वृत्तके दूसरे किनारेके उस पार भी कोई वस्तु है। मतलब यो समझे कि हम पूर्व मुख खड़े है और हमारे आगे एक वृत्त है। मगर वृत्त और हमारे बीचमे भी कोई चीज है या हो सकती है जो हमें वृत्तमे जानेसे या तो रोकती है, या इतना ही होता है कि हम वृत्तमे जानेके पहले उस वस्तुसे होकर ही गुजरते है और सामनेकी परिधि पार करके सीधे वृत्तमे पूर्व मुख खड़े ही पहुँच जाते है। फिर वृत्तमे जानेपर जब परिधिका पिछला भाग न देखके सामनेवाला ही देखते है, तो उसके आगे—परिधिके पार—पूर्व और कोई दूसरी वस्तु भी नजरको आकृष्ट करती है, कर सकती है। साथ ही परिधिके भीतर वृत्तमें पांव देनेके पहले जो यह कहा गया है कि किसी और चीजसे गुजरनेके बाद ही वृत्तमे पांव दे सकते है, वह चीज एक भी हो सकती है और दो भी। गीताने शुरुमे ज्यादेसे ज्यादा दो चीजोकी और पीछे चलकर वृत्तके बाहर आगेकी एक चीजकी

सभावना करके उन्ही तीनोकी रोक लिखी है। कर्म करनेवालोको उनमें एक पर भी दृष्टि नही दौडाना चाहिये, एकका भी खयाल—पर्वा—नही करना चाहिये, यही आदेश ४७ और ४८ श्लोकोके शेष अशोमे दिया है। इन तीनोके सिवाय दायरे (वृत्त) के भीतर भी वृत्तके अलावे एक चीज है, एक खतरा है। उससे भी आगाह कर दिया गया है। जो इन चार खतरोसे बच जाता है वही पक्का योगी या कर्मयोगी होता है, यही गीताका कहना है।

पहलेकी दो चीजो—दो खतरो—मे एक है कर्मके फलका खयाल, उसका चिन्तन, उसकी इच्छा, फलेच्छा या फलका सकल्प। मनमे फलके स्वरूपकी कल्पना करके ही किसी काममे आमतौरसे हाथ बढाते जो है। दूसरा है कर्मका त्याग या उसका न करना। ऐसा होता है कि या तो योही कर्मंमे जी नही लगनेके कारण उसे करते ही नही; या यदि फलकी इच्छा या सभावना ही न हो तो भी कर्म नही करते है। इसलिये कर्मके फलकी इच्छाकी ही तरह अकर्म या कर्मका त्याग, उसे छोड देना भी कर्मके पहले ही आ जाता है—यह बात कर्मके दायरेमे पाँव देनेके पहले ही आ जाती है। दायरेके बाहर आगे जो चीज दायरेमे पाँव देनेपर आती है और जिससे खतरा है वह है उस कर्मका खुद फल ही। कर्म करनेके पहले तो मनमे फलका सकल्प मात्र करते है। मगर कर्म शुरू कर देने और पूरा करने तक तो साक्षात् फलपर ही नजर जा पडती है। इसीलिये यह भी एक खतरा है। चौथा खतरा है खुद कर्मसे ही—वृत्त या दायरेसे ही, यदि कर्ममें आसक्ति, सग, ममता, अन्धप्रेम (blind attachment) हो जाय। यह कर्मकी आसक्ति भी भारी खतरनाक है। यह भी याद रखना चाहिये कि जो शुरूके दो खतरोमे कर्मत्यागको गिनाया है उसका भी मतलब है कर्मके छोड देनेकी आसक्ति या हठसे ही। जैसे कर्म करनेकी आसक्ति या हठ बुरा है, ठीक उसी प्रकार उसके न करनेका

भी हठ खतरनाक है। हठ किसी ओर नहीं होना चाहिये। इसका स्पष्टीकरण अभी हुआ जाता है।

हाँ, तो अब जरा देखे कि इन चारो खतरोकी रोक क्योंकर की गई है। ४७वे श्लोकके दूसरे हिस्सेको हम यो पाते है, "माफलेषु कदाचन"—"कर्मोंके फलोमे तो हमारा अधिकार कभी नही है।" इस तरह वृत्तमे पाँव देनेके वाद जो आगेवाला खतरा है परिधिके वाहर और जिसे हमने तीसरा कहा है उसे रोक दिया। कर्मके साथ फलका ताल्लुक स्वभावत होता ही है। इसलिये कर्मके वाद चटपट उसीसे रोकना उचित समझा गया। इसके वाद ४७वेंके शेष—उत्तरार्द्ध—मे वृत्तके पहलेवाले दो खतरोसे रोका है "मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि"—"कर्मके फलके कारण मत वनो, अर्थात् कर्मफलका खयाल करके काम हर्गिज शुरू न करो।" फलके लिये सकल्प और चिन्तनके जरिये ही तो फलतक पहुँचते है। अब यदि वह सकल्प या चिन्तन रहा ही नही, फलका खयाल हुई नही तो "रहा वाँस न वाजी वाँसुरी"वाली वात हो गई और फलमे स्वयमेव ताल्लुक वँधा ही नही। यही कारण है कि पहले फलकी वात रोकके उसके कारण-स्वरूप फलेच्छा या फल सकल्पकी वात पीछे रोकी गई है। क्योकि फलकी इच्छा या सकल्प होनेपर तो फलतक पहुँचना रुकी नही सकता।

इसपर सहसा यह कहा जा सकता है कि तो फिर कर्म करेंगे ही क्यो? जव न तो फलकी पर्वा है और फलका सकल्प ही है, तो कर्मकी वलामे नाहक फँसा क्यो जाय? इसीका उत्तर श्लोकका आखिरी हिस्सा "मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि" देता है कि खवरदार, अकर्म (कर्म छोडने)मे आसक्ति या हठ हर्गिज होने न पाये। कर्मका न किया जाना एक चीज है और उसमें—न करने या छोडनेमे—हठ विलकुल दूसरी ही चीज है। ऐसा हो सकता है कि समय पाके खुदवखुद कर्म छूट जाय। परिस्थिति ऐसी हो जाय कि हजार चाहनेपर भी कर्म छोडनेके अलावे दूसरा चारा होई न।

इसलिये अपने आप या मजबूरन कर्म छूट जाय। गीता यह बात मानती है और इसका विरोध उसे इष्ट नही। मगर कर्मके छोडनेका हठ हर्गिज उसे बर्दाश्त नही। हम कर्म कभी करेंगे ही नही चाहे जो भी हो जाय, यही चीज गीताको पसन्द नही। कर्मके मार्गमे यही उसकी नजरोमे तीसरा खतरा है और वह लोगोको इसीसे सजग करती है।

लेकिन चौथे खतरेका सामना हो जा सकता है। वृत्तके बाहर परिधिके इधर-उधरके उक्त तीनो खतरोसे बचनेपर भी चौथा खतरा उसके भीतर ही—दायरेके अन्दर ही—हो सकता है। वह है कर्मके करनेका हठ या आसक्ति। इसीको कर्ममे सग, कर्मका सग, कर्मसग या कर्मासग भी कहते है। जैसे सक्ति और आसक्तिका अर्थ एक ही है चिपक जाना या सट जाना और जिसे अग्रेजीमें अटैचमेन्ट (attachment) कहते हे; ठीक उसी प्रकार सग और आसगका भी यही अर्थ है। दोनो शब्दोमे "आ"के जुट जानेसे चिपकने या लिपटनेमे सिर्फ अन्धापन या हठ (जिद्द) जुट जाता है और इसे "ब्लाइड अटैचमेन्ट" (blind attachment) कह सकते है। मगर 'आ'के न रहनेपर भी यही अर्थ होता है। गीताके मतसे जैसी ही बुरी अकर्म (कर्मत्याग)की जिद्द है वैसी ही कर्मकी जिद्द भी। आसक्ति या हठ दोनोका ही बुरा है। इसी हठको "ऊँटकी पकड़" कहते है। ऊँट किसी चीजको एक बार पकडनेपर छोडता ही नही। बन्दरियाकी आसक्ति या अन्धप्रीति अपने बच्चेके साथ होती है। फलत. बच्चेके मर जानेपर भी उसे नही छोडती। किन्तु छातीसे लिपटाये फिरती है जबतक कि वह खुद टुकडे-टुकडे होके गिर नही पडता है। यह चीज बुरी है और यही रोकी गई है। हजार कोशिश और दृढ संकल्प (determination) के बाद भी कभी-कभी परिस्थितिवश कर्मका छूट जाना अनिवार्य हो जाता है। परिस्थितियाँ किसीके वशकी

जो नहीं होती है। फिर हठ या जिद्द क्यों ? न करनेकी जिद्द हो और न तो न करनेकी ही। जिद्द ही तो बला है।

दृढ संकल्प और आसक्ति या हठमें फर्क है—दोनों दो चीजें हैं। दृढ संकल्पका तो इतना ही मतलब है कि विघ्न बाधाओंसे कदापि विचलित न होके कर्म करते रहें—चट्टानकी तरह अटल रहें। मगर इतनेपर भी कर्म छूट जा सकता है। यह जरूरी नहीं कि हम उसे करते ही रहें। परिस्थितियाँ हमें मजबूर कर दे सकती हैं। फलतः दृढ संकल्पके होते हुए भी इस तरह कर्मके छूट जानेपर हमें कष्ट न होगा। क्योंकि हमारा तो यही रास्ता है और होना चाहिये कि "आओ विपत्तियाँ तुम, दुःखोंको साथ लाओ। पीटूँगा मैं तुम्हींको, तुमसे ही या पिटूँगा।" मगर यदि कर्ममें आसक्ति या करनेकी जिद्द रही, तो हमें मर्मान्तिक वेदना ऐसी दशामें जरूर हो जायगी और सारा मजा ही किरकिरा हो जायगा। ठीक इसी तरह कर्मके त्यागके हजार हठ करनेपर भी उसे करनेकी मजबूरी कभी-कभी हो सकती है और हठ होनेसे हम उस दशामें तिलमिला जा सकते हैं। यही बात गीता रोकना चाहती है। इसीलिये कर्मके करने या न करने—कर्म या सन्यास दोनों ही—में आसक्ति, जिद्द या हठको उसने खतरा करार दिया है और कहा है कि कर्म चाहे पूरा हो या अधूरा ही रह जाय या चाहे हम उसे शुरू ही न कर पायें—हर हालतमें हमारे दिल-दिमागकी समता या गंभीरता (balance of mind) बिगडना नहीं चाहिये। हमें दोनों ही हालतोंमें, पूरा होने, न होने—कर्मकी सिद्धि और असिद्धि—में सम रहना चाहिये—एकरस (unconcerned) रहना चाहिये, जैसा कि जनकने मिथिलापुरीमें आग लगनेपर कहा था कि मिथिला जलती है तो जले, मेरा क्या जलता है ?—"मिथिलायां प्रदग्धायां न मे किञ्चन दह्यते।" यही है योग। इसी योगको प्राप्त करके, काबूमें करके—योगस्थ होके—हमें कर्म करना चाहिये।

फल और उसके सकल्पके त्यागका भी असली प्रयोजन यही है कि दिल-दिमागकी गभीरता और समता—एकरसता (balance)—न बिगडे।

इन चारो खतरोसे बचनेका निचोड इसी सिद्धि, असिद्धिकी समतामे ही आ जाता है। इसीलिये इसे ही योग कहा है। फलकी तरफ खयाल होने या फलका सकल्प होनेपर कुछ भी गडबड होते ही हायतोबा मचती ही है। इसीलिये उससे बचना जरूरी है। ऐसा भी होता है कि काम पूरा होने तथा विजय मिलनेपर खुशीके मारे मनुष्य आपेसे बाहर हो जाता है और ऐसा न होने या पराजय होनेपर रजके मारे ही आपेसे बाहर या बेसुध हो जाता है। दोनो ही हालतोमे दिल-दिमागकी समता खत्म हो जाती है। फलत. ऐसा करना चाहिये कि दोनोमें एकका भी मौका ही आने न पाये। इसीलिये तो आसक्तिका त्याग जरूरी बताया गया है। पूरे ४८वे श्लोकमे यही बात खूब सफाईके साथ कही गई है। न रजके मारे छाती पीटनेका और न खुशीके मारे बेहोश होनेका ही मौका इसीके चलते आने पायेगा। यही योग है।

इसमे सबसे बडी खूबी यह है कि जब कर्म करनेवालेका मन इधर-उधर कही भी जरा भी न जाके सिर्फ काममे ही लग जायगा—वही केन्द्रीभूत (concentrated)—हो जायगा, तो वह काम होगा भी ठीक-ठीक। किसी भी कामकी पूर्णताके लिये दिल और दिमागका उसमे लग जाना, उसीमे जाके अड जाना और लिपट जाना—उससे बाहर न जाना—बुनियादी और मौलिक कारण है। फिर तो वह सिद्ध और पूर्ण होके ही रहेगा। अधूरेपनकी गुजाइश उसमे रहेगी ही नही। दिल और दिमागमे बडी ताकत है। जिसे इच्छाशक्ति (will-power) कहते है वह यही चीज है। योगियो और सिद्धोके जो अद्भुत काम कहे गये है और उनकी सिद्धियोका जो वर्णन मिलता है उसका रहस्य यही है। और जब मनके—दिल और दिमागके—कही इधर-उधर जानेकी गुजाइश रखी ही नही

गई है, तो वह केन्द्रीभूत सामग्री होगी। फल, उसका सकल्प, कर्मके करनेका आग्रह और उसके न करनेका हठ—यही चार—ही तो ऐसी चीजें है जिनकी ओर मन कर्मके सिलसिलेमे भटक सकता है, भटकता फिरता है। मगर गीताने इन चारोंका दर्वाजा बन्द करके उसके लिये कोई रास्ता ही नही छोड़ा है कि भाग सके।

नतीजा यह होगा कि कर्मकी सागोपाग पूर्त्ति तो होगी ही। उसीके साथ उसका फल, परिणाम या नतीजा भी होके ही रहेगा। उसमें दिक्कत-की गुंजाइश रही कहाँ? गड़बड़ीके सभी रास्ते तो बन्द हो गये। यह भी कितनी मौजूँ और युक्तियुक्त बात है कि कर्मके फलोंको तो कोई सीधे पकड़ सकता नही। उन्हे तो कर्मके द्वारा ही पकड़ा जा सकता है। इन्सान काम करता है और कामसे फल होता है, चाहे बुरा हो या भला। हम सीधे फल तो पैदा करते ही नही। हमारे वशकी चीज तो कर्म या क्रिया ही है। फल तो है नही। फिर हम क्रियाकी ही फिक्र क्यो न करें? फलकी ओर नाहक क्यो दौड़ें? यह तो मृगतृष्णाकी बात ही ठहरी। जो चीज हमारे वशकी नही, अधिकारकी नही, उसपर नाहक क्यो दौड़ें और लट्टू हों? फलत गीताने जो कहा है कि सिर्फ कर्ममे ही अधिकार है, वही तो युक्तिसगत बात है। वह कोई आदर्शकी चीज तो है नहीं। और कर्म या अकर्मका हठ तो महज नादानी है, जैसी कि सभी तरहके हठोंकी बात है।

इस उपदेशका फल यह हुआ कि एक तो कर्मका फल जरूर ही मिलेगा—उसका मिलना एक प्रकारसे निश्चित ही समझिये, यदि कोई दैवी बाधा आ न पहुँचे। मगर यह बात फलकी इच्छा, लालसा और सकल्पके होनेपर सभव नही। क्योकि "मन न होय दस बीस"के अनुसार एक ही मन कभी कर्मकी ओर जायगा तो कभी फलकी ओर, कभी उसके त्यागकी ओर और कभी उसके करनेके हठकी तरफ। कभी उसे कर्म अपनी ओर

खीचेगा तो कभी फलेच्छा अपनी तरफ। इस खीचतानमे न तो वह कर्ममे जमेगा, न वह पूरा उतरेगा और न फल मिलेगा। दूसरी बात—दूसरा लाभ—इससे यह हुआ कि जहाँ पहले फल मिलनेपर या न मिलनेपर भी कर्म बन्धनका—जन्म-मरणका—कारण होता था, तहाँ अब वह बात जाती रही। जैसे भाडमें डालनेपर अन्नमे—बीजमे—अकुर पैदा करनेकी ताकत जाती रहती है, वैसे ही इस योगके फलस्वरूप कर्मोंमे बन्धनकी ताकत रही नही जाती—वह खतम हो जाती है। दरअसल कर्मोंका सस्कार मानसपटलपर जमने पाता ही नही। फिर वह जन्म-मरणमें फँसाये तो कैसे ? जन्म-मरणका तो अर्थ ही है कर्मोंके करनेका सिलसिला जारी रहना। और इस सिलसिलेके लिये उसके सस्कार जरूरी है, जैसे बीजमें अकुरजननकी शक्ति। मगर यहाँ तो योगके चलते हम कर्मोंके करने या न करने या उनके फलोसे कतई प्रभावित होते ही नही—तटस्थ या उदासीन रह जाते है। तब मानसपटलपर—जो निर्लेप बन गया है—सस्कार कैसे पैदा होगा ? संस्कारके लिये उदासीनताकी नही, किन्तु अनुराग, मैत्री या लालसाकी जरूरत होती है। जिन चीजोसे हम उदासीन हो उनके सस्कार मनमे पैदा होते ही नही। हाँ, जिनमे मन लगा हो उनके सस्कार जरूर ही पैदा हो जाते है। यही कारण है कि इसी योगको कर्मका कौशल कहा है। यही तो कर्म करनेकी असली कला है—कर्म करनेका जादू है, कारीगरी है।

जिस समत्वरूप योगका वर्णन अभी किया गया है उसके सम्बन्धमे अनेक बातें जाननेकी है। इसीलिये इसपर बहुत कुछ लिखना बाकी ही है। लेकिन आगे बढनेके पहले यहीपर पूर्वोक्त ४७वे श्लोककी एक महत्त्वपूर्ण बात और भी जान लेना जरूरी है। कर्म करने और उसके त्यागनेका झमेला कुछ ऐसा है और इधर कुछ गीताके टीकाकारोने उसे इतना ज्यादा बढा दिया है कि हमे विवश होके यह लिखना पड़ रहा है।

जिन दो पदार्थोंके बीचमे एकपर यह जोर रहता है उन्हीमे दूसरेके साथ एकको यानी पहलेको बाँध देता है और बाकियोको, जिनकी सभावना हो, रोक देता है। इसे और भी साफ तौरसे यो समझे कि कर्मपर ही ,यहाँ जोर देनेके कारण उसीके अनुकूल या अधीन हक रहता है। कर्मकी ही प्रधानता रहती है। हक उसकी छातीपर बैठके उसे घसीट नही सकता। विपरीत इसके यदि अधिकार या हकपर जोर होता तो उसीकी प्रधानता होती और कर्मकी छातीपर बैठके वह अपने साथ यानी आदमीके साथ कर्मको घसीटता फिरता। तब कर्म किसी भी दशामे त्याज्य या त्यागने योग्य नही रह सकता। मगर वर्त्तमान दशामे तो हक ही त्याज्य नही है। कर्मका त्याग तो हो सकता है। जब हम कर्म करते है तो यह कोई नही कह सकता कि उसपर हमारा हक नही है। इस तरह देखते है कि इस 'एव' शब्दका स्थान बदलनेसे दोनो श्लोकोके बाकी अशोंके साथ पहले चरणका कोई मेल होता ही नही।

इतना लिखनेका हमारा मतलब दोनो श्लोकोके सभी अशोमे परस्पर मेल या सामञ्जस्य लाना नही है। यह तो गीताके रचयिताका ही काम था कि बेमेल बात न बोले। हम उस कविके वकील भी नही है कि जो कुछ त्रुटि मालूम हो उसे मिटानेकी वकालत करे। गीताके कर्त्ता व्यासको वकीलकी जरूरत ही न थी। वह तो खुद इतने योग्य थे कि ऐसी मोटी भूल कर सकते न थे। हमारा मतलब सिर्फ यह दिखलानेका है कि गीताके अनुसार कर्मकी आसक्ति या उससे खामखा लिपटना ठीक नही है। उसने कर्म और कर्मके सन्यास——दोनो ही——के लिये गुजाइश मानी है, दोनोके लिये पूरा स्थान रखा है। वे दोनो ही अपनी-अपनी जगहपर ठीक है, उचित है, कर्त्तव्य है। खूबी तो यह है कि जिस योगको लेके कुछ लोगोने इस बातपर जोर दिया है कि गीता तो सन्यासकी विरोधिनी है; वह तो कर्मपर ही जोर देती और उसीका समर्थन करती है, वही योग कर्म और

बारहवेंके दसवेमे 'मदर्थं' शब्द भी इसी मानीमें है। और भी ऐसे ही शब्द आये है।

मगर इतना ही नही है। ठेठ दूसरे अध्यायसे ही शुरू करके अठारहवे अध्यायतक कमसे कम बीस बार सग, आसक्ति, असक्त आदि आये है और सिवाय कर्ममे आसक्ति या करनेके हठके त्यागके और कोई अर्थ इनका होई नही सकता। ये बीस स्थान तो ऐसे है जहाँ निस्सन्देह कर्मोंका हठ बुरा ठहराया गया है। चौथे अध्यायके २१वे श्लोकमे 'केवल' शब्द लिखके इस हठके त्यागको बडी सफाईके साथ दिखाया है। इसी तरह उसी अध्यायके १४वे श्लोकमे 'लिम्पन्ति' शब्द लेप, लीपने या लिपटनेके मानीमे लिखके बताया गया है कि कर्मोंमे हमारा लिपटना या कर्मोंका हमम् लिपटना ठीक नही है। यह तो स्पष्ट ही है कि कर्म तो कोई गुड, गोबर या गीली मिट्टी नही है जो योही लिपटेगे। वे तो हठ, राग या आसक्तिके द्वारा ही मनमे लिपट जाते है।

लोग ऐसा न समझे कि हमने योही बीस जगहोंका नाम ले लिया है, इसीलिये प्रत्येक अध्याय और श्लोकोके अकोको जान लेना चाहिये ताकि कोई भी आसानीसे यह बात जाँच सके। दूसरे अध्यायके ४८वे श्लोकका तो व्याख्यान होई चुका है जहाँ 'सग' शब्द साफ ही आया है। तीसरेके ७, ९, १९, २५, २८, २९ श्लोकोमे; चौथेके २०, २३मे, पाँचवेके १०, ११मे; छठेंके ४मे; नवेंके ९मे और अठारहवेके ६, ९, १०, २२, २४, २६, ३४ और ४९ श्लोकोमे यही बात है। योही मोटामोटी नजर दौडाने-पर भी यह अर्थ स्पष्ट हो जाता है। यदि गौरसे विचारा जाय तब तो कुछ कहना ही नही है। सदिग्ध स्थानोका तो हमने जिक्र किया ही नही है। इस प्रकार कर्मसन्यासमे कोई भी बाधा गीताकी नजरोमे हो नही सकती।

परन्तु गीताने तो और भी साफ-साफ यह बात कही है। चौथे

"इस प्रकार आत्मज्ञान या आत्माकी प्राप्ति हो जानेपर ही कर्मोंकी वन्धनशक्ति जाती रहती है।"

पाँचवे अध्यायके उक्त श्लोकका तो साफ ही मतलब है कि "सन्यास-की प्राप्ति तो कर्म (योग) के बिना अत्यन्त कष्टसाध्य—अर्थात् असभव—है। विपरीत इसके जो मननशील विवेकी कर्म करता है वह शीघ्र ही सन्यासके योग्य होके उसे प्राप्त कर लेता है।" इसमे इस बातकी पुष्टि कर दी गई है कि सन्यासके लिये कर्म करना जरूरी है। इसीलिये कर्मके विना वह प्राप्त होता नही और कर्मसे हो जाता है। कारण तो उसे ही कहते है जिसके बिना चीज होई न और जिसके रहनेपर अवश्य हो जाय। इसीको ुराने लोगोने अन्वय और व्यतिरेक कहा है। इस श्लोकके चौथे चरणमे सन्यास न लिखके यद्यपि ब्रह्म लिखा है, तथापि ब्रह्मका अभिप्राय सन्यास ही है। श्लोकके शेष तीन चरणोसे यह बात साफ हो जाती है। इसके पहले जो कई श्लोक आये है उन्हे गौरसे पढ़नेसे भी यही अभिप्राय निकलता है। इसके सिर्फ दो दृष्टान्त ीतासे ही देनेसे बात साफ हो जायगी।

## संन्यास और त्याग

अठारहवे अध्यायमे "नियतस्य तु सन्यास कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामस परिकीर्त्तितः" (७) और "अनिष्टमिष्ट मिश्र च त्रिविध कर्मण फलम्। भवत्यत्यागिना प्रेत्य न तु सन्यासिना क्वचित्" (१२), ये श्लोक आये है। इन दोनोमे ही 'सन्यास' और 'त्याग' या 'सन्यासी' तथा 'त्यागी' शब्द आये है। इस अध्यायके पहले ही श्लोकमे जो प्रश्न किया गया है उससे स्पष्ट है कि सन्यास और त्याग दो चीजे है। इसीलिये दोनोकी हकीकत अलग-अलग जाननेके खयाल-से ही सवाल किया गया है। फलत. यह धारणा स्वभावतः हो जाती

है कि आगेके श्लोकोमें जहाँ कही ये दोनो शब्द आये है, अलग-अलग मानीमे ही प्रयुक्त हुए है। मगर है यह वात गलत—यह धारणा निराधार है। यह ठीक है कि अठारहवें अध्यायमें त्याग और सन्यासके स्वरूप अलग-अलग वताये गये है और हम भी उनके बारेमे कुछ न कुछ कहेंगे। फिर भी उसका मतलव शब्दोके अर्थसे नही है। इन दोनो शब्दोका अर्थ तो अकसर एक ही माना जाता है। और गीतामे एक ही अर्थमे दोनो ही प्राय वोले गये है। फर्क तो त्याग और सन्यास नामकी चीजोकी भीतरी वातोको लेकर ही माना जाता है। ऊपरसे एक होने पर भी भीतरसे इनमे कुछ वारीक भेद है—आमतौरसे पुराने लोगोने कुछ भेद इनमे किया है। उसीके जाननेके लिये शुरूमे प्रश्न किया गया है और जवाव भी दिया गया है।

फलत यदि भ्रान्त धारणाको जुदा करके या हटाके हम देखें तो पता लगेगा कि पूर्व लिखे ७वे और १२वें श्लोकोंमें त्याग तथा सन्यास एक ही अर्थमे प्रयुक्त हुए है और एककी जगह दूसरेको वदल देनेसे अर्थमे कोई फर्क न पडके और भी स्पष्टता हो जायगी। पहले श्लोकका सीधा अर्थ यही है कि "किसीके भी लिये जो कर्म निश्चित कर दिये गये है उनका सन्यास उचित नही है, और अगर भूल या धोकेमे पडके उनका त्याग कर दिया जाय तो वह तामस (तमोगुणी) त्याग माना जाता है।" यहाँ पहले वाक्यमे जिस मानीमें सन्यास शब्द आया है, दूसरेमें उसी मानीमे त्याग शब्द है। दूसरा मानी सभव नही है। इसीलिये पहले लिखे सन्यास शब्दके ही अनुसार त्यागका भी अर्थ आगे लगता है। विपरीत इसके १२वे श्लोकके उत्तरार्द्धमे पहले त्यागी (त्यागिनाम्) लिखके पीछे सन्यासी (सन्यासिनाम्) लिखा है। श्लोकका अर्थ सिर्फ यही है कि "बुरे, भले और मिश्रित—तीन प्रकारके—जो फल कर्मोके होते है वह उन्हीको मिलते है जो त्यागी नही है, सन्यासियोको तो ये

फल कभी नही मिलते।" यहाँ त्यागीके ही अनुसार सन्यासीका अर्थ भी त्यागी ही माना जाता है। यह बात बहुत साफ है। ठीक इसी तरह पाँचवे अध्यायके उक्त श्लोकमे भी पीछेके ब्रह्म शब्दका अर्थ पूर्व लिखे सन्यास शब्दके बलसे सन्यास ही होना ठीक है। उपनिषदोमे भी "सन्यासो हि ब्रह्म" आदि प्रयोग मे ब्रह्मशब्द सन्यासके अर्थमे ही आया है और गीता तो उपनिषद् हुई।

जैसा कि अभी-अभी कहा है, गीताके १८वे अध्यायमे जो शका त्याग और सन्यासकी हकीकत या असलियतके बारेमे की गई है, उससे भी सन्यासकी कर्त्तव्यता सिद्ध हो जाती है। हम तो कही चुके है कि इन दोनो शब्दोके अर्थोंमे फर्क नही है। इसीलिये इस प्रश्नके बाद भी गीतामे ही दोनो एक ही अर्थमे बोले गये है। सवाल तो हकीकत या बारीकीके बारेमे ही है। इसीलिये प्रश्नवाले पहले श्लोकमे "तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्" लिखा है, जिसका अर्थ है कि "इन दोनों की हकीकत, असलियत या भीतरी बारीकियाँ जानना चाहता हूँ"। तत्त्व शब्द इसी मानोमे बोला ही जाता है। शब्दार्थको तत्त्व नही कहते। किन्तु जब कभी तत्त्व कहना होगा तो जिनके तत्त्वसे अभिप्राय होगा उन चीजोकी परिभाषा कर दी जायगी, उनका लक्षण कर दिया जायगा। यही बात हमेशा होती आती है। यहाँ भी आमतौर से दोनोका एक ही अर्थ समझा जानेके कारण ही अर्जुनको पूछना पडा कि आया दोनोकी परिभाषा एक ही है या जुदी-जुदी ? दोनोकी असलियत एक है या दो ? दोनोमे बारीकियाँ कुछ-कुछ है या नही ? इसी हिसाबसे उसे उत्तर भी दिया गया है।

उत्तरकी हालत यह है कि त्यागके बारेमे लोगोकी चार राये होनेके कारण और कृष्णका खुद अपना भी एक स्वतत्र विचार होनेके कारण पहले उसीकी हकीकत कहनी पडी है। हालाँकि प्रश्नमे पहले सन्यास ही

आया है। सन्यासके बारेमें मतभेद या अनेक राये न होनेके कारण ही उसकी बात उनने पीछे उठाई है। सो भी बहुत दूर जाके। असलमें त्यागका ब्योरा और विवरण देनेके बाद ही सन्यासकी बात समझनेमे आसानी भी हो जाती है। इसलिये भी त्यागके मुतल्लिक सारी बाते कहनेके बाद ही सन्यासकी बात कहना उचित समझा गया है। यही कारण है कि आरभसे लेकर पूरे ४८ श्लोकोमें कर्मके सम्बन्धकी ही सारी बातें ब्योरेके साथ कही गई है, जिनसे त्यागके स्वरूप और उसकी हकीकत-पर पूरा प्रकाश पड जाता है। फिर ४९वें और ५७वें श्लोकोमें सन्यासका जिक्र आया है। मगर ५७वें श्लोकवाला सन्यास शब्द तो ठीक वैसा ही है जैसा कि तीसरे अध्यायके "मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा" (३०)में आया है। क्योकि वहाँ लिखा है कि "चेतसा सर्वकर्माणि मयि सन्यस्य मत्पर।" मालूम होता है कि प्राय अक्षरश एक ही श्लोकका यह हिस्सा दोनो जगह लिखा गया है। तीसरे अध्यायवालेमे जो 'अध्यात्म' शब्द ज्यादा प्रतीत होता है, उसकी जगह अठारहवे वालेमें आगे "बुद्धि योगमुपाश्रित्य" लिख दिया है। और भी आगे-पीछे बहुतसी बातें मिल जाती है। फलत वहाँ भी सन्यासका वही पुराना सर्वजन विदित अर्थ ही है जिसे ईश्वरार्पण या मदर्पण आदि नाम दिया गया है। सन्यास शब्द सन्यासकी उस हकीकतको यहाँ नही बताता है जिसके बारेमें सवाल हुआ है।

बाकी बचा ४९वें श्लोकका सन्यास। ठीक है यह तो उसी बातको कहता है जिसकी—जिस हकीकतकी—जानकारीके लिये शुरूमें ही शका की जा चुकी है, प्रश्न हो चुका है। यदि इस समूचे श्लोकको गौरसे विचारा जाय तो यह बात साफ हो जाती है। हम खुद आगे यह विचार करेंगे। मगर इतना तो जान लेना ही होगा कि यह श्लोक भी उस सन्यासकी हकीकत या उसके स्वरूपकी ओर सिर्फ इशारा ही करता है

और यही कहता है कि सन्यासके जरिये किस तरह परम नैष्कर्म्यसिद्धि या सर्वात्मना कर्मत्यागकी तरफ आदमी जा सकता है। लेकिन उस सन्यासका स्पष्ट रूप तो बिना उस शब्दका उच्चारण किये ही आगेके "सर्वधर्मान्परित्यज्य" नामक ६६वे श्लोकमे ही बताया गया है। इस बातपर भी प्रकाश डालेगे। मगर अभी त्यागकी बात जान ले, तो अच्छा हो।

जैसा कि कहा जा चुका है दूसरेसे लेकर ४८वे श्लोकतक त्यागके सम्बन्धकी ही बाते कही गई है। सबसे पहले दो और तीन—दो—श्लोकोके दो-दो हिस्से करके चारो हिस्सोमे त्यागके सम्बन्धके चार मत कहे गये है जो ससारके विद्वानोमे प्रचलित है। उसके बाद चारसे लेकर छेतकके—तीन—श्लोकोमे कृष्णने त्यागके बारेमे अपना सिद्धान्त निश्चित रूपसे कहा है और उसीका स्पष्टीकरण किसी न किसी रूपमे ४८ तकके श्लोकोमे किया है। दूसरे श्लोकमे 'न्यास' और 'सन्यास' शब्दोको देखके यह समझनेकी भूल हर्गिज नही की जानी चाहिये कि पूर्वार्द्धमे 'सन्यास'का लक्षण कहा है। न्यास और सन्यास शब्दोका तो एक ही अर्थ है। फलतः कामनापूर्वक किये गये (काम्य) कर्मोके सन्यासको सन्यास कहते है, इस कथनका कोई अर्थ नही है। इसीलिये हम तो यही मानते है कि दूसरेके पूर्वार्द्धमे "कवयो विदु"—"सूक्ष्म बुद्धिवाले जानते है", उत्तरार्द्धमे "विचक्षणा. प्राहु"—"कुशल लोग कहते है" तथा तीसरेके पूर्वार्द्धमे "प्राहुर्मनीषिण"—"मनीषी लोग कहते है," और उत्तरार्द्धमे "अपरे प्राहु"—"दूसरे लोग कहते है"—ऐसा कहके चार मतवादो या सिद्धान्तो-का कर्मोके त्यागके बारेमे वर्णन किया गया है। साफ ही चारो एक दूसरेसे पृथक् मालूम पडते है। प्रश्नमें भी त्यागके बारेमे 'पृथक्' तत्त्व या अलग-अलग हकीकत पूछी गई है। इसीलिये उत्तर भी उसी ढगका दिया गया है। इस प्रकार सक्षेपमे पहला मत है केवल काम्य कर्मोके

ही त्यागनेका, दूसरा है केवल सभी कर्मोंके फलोके ही त्यागका, न कि किसी भी कर्मके त्यागका, तीसरा है सभी कर्मोंके ही त्यागका और चौथा है यज्ञ, दान तथा तपके सिवाय शेष कर्मोंके त्यागका। इस प्रकार त्यागके वारेमें चार तरहके सिद्धान्त साफ हो जाते है।

आगेके ४से ६तकके श्लोको में कृष्णने जो खुद अपना मत वताया है उसमे यह कहा है कि यज्ञ, दान तथा तपको भी, कर्मासक्ति एव फलासक्ति छोडकर ही, करना यही त्याग कहा जाता है, कहा जाना चाहिये। उनने इन तीनो कर्मोंकी वडी वडाई की है और कहा है कि "ये तो पवित्र करने-वाले है ऐसा मनीषी लोग भी मानते है"—"यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।" फलत इनके छोडनेका सवाल तो उठी नही सकता। हाँ, यह किया जाना चाहिये जरूर कि इनमें तथा इनके फलोमे आसक्ति रहने न पाये। जहाँ चौथा पक्ष इन तीनोके करनेमें कोई विशेष बात नही कहता, तहाँ कृष्णका मत है कि इन तीनोको भी कर्मासक्ति तथा फलासक्ति छोडकर ही करना होगा।

फिर सातसे लेकर वारह तकके श्लोकोमे त्यागकी सात्त्विक आदि किस्मे बताके उसका विवरण दिया गया है। उसके वाद कर्मके पाँच कारणोका निरूपण करके १३से १७ तक यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा तो इन पाँचोमें है नही। वह तो अलग और निर्लेप है। इसलिये कर्मका साथी उसे मानके सभी कर्मोंसे बचनेकी कोशिश बेकार है, नादानी है। वादमें १८से २८ तक यह वात विचारी गई है कि आखिर कर्म होता है कैसे और वह रहता है कहाँ, और इस तरह प्रतिपादन किया गया है कि आत्मासे उसका ताल्लुक हई नही। वह तो दूसरी ही चीजें है जिनसे कर्म सम्वद्ध है। कर्मके करनेमें अन्त करण या बुद्धि और धृति (हिम्मत, धारणशक्ति)की जरूरत होती है। ये दोनो न रहें तो कर्म हवामें मिल जाय। वुद्धि रास्ता वताती है और धृति पस्ती आने न देकर कर्म-मार्गमे

डँटे रहना लाती है। इसलिये जरूरी हो गया है कि इन दोनोका भी विश्लेषण किया जाय। क्योकि शायद इनमे किसीमे कही आत्मा आ जाय। मगर २९से ३५ तकके श्लोकोमे इन दोनोको त्रिगुणात्मक बताके आत्माको अलग ही मान लिया है। जिस आराम और सुखके लिये कर्म करते है उसका निरूपण ३६-३९ श्लोकोमे करके उनमे सात्त्विक सुख को आत्मानन्द माना है सही; मगर वह कर्मजन्य हुई नही। उसके लिये केवल अपनी बुद्धिकी निर्मलता अपेक्षित है—"आत्म-बुद्धिप्रसादजम्।" वह भले ही कर्मजन्य हो सकती है। शेष दो सुख तो आत्मासे लाख कोस दूर है। इसके उपरान्त आमतौरसे ४०वेमे कह दिया है कि कर्म तो सासारिक चीजोकी सिद्धिके ही लिये किया जाता है और वह चीजे तो सभी की सभी त्रिगुणात्मक होनेके कारण आत्मासे अलग है। प्रसगवश चारो वर्णोंके स्वाभाविक गुणोका ४१-४४ श्लोकोमे दिग्दर्शन कराके दिखा दिया है कि आत्मासे इनका क्या ताल्लुक ? इस प्रकार जब कर्मोंसे ही भय करनेकी कोई वजह न होनेके कारण बन्धनके डरसे उन्हे स्वरूपत त्याग करनेका सवाल आता ही नही, तो यज्ञ, दान, तपके स्वरूपत त्यागकी बात कहाँ और क्यो आयेगी ? इस तरह त्यागका सविस्तर निरूपण पूरा हो जाता है। चारो वर्णोंके कर्म जब स्वाभाविक (स्वभावज) ही है तो फिर उनके बुरे-भले या छोटे-बडे होनेका प्रश्न भी कहाँ आता है ? जैसाकि आगका स्वाभाविक काम जलाना और पानीका भिगोना होनेके कारण उनमे भले-बुरे या नीच-ऊँचका सवाल नही उठता, ठीक यही बात यहाँ भी है। इस तरह वर्ण-धर्मों और कर्मोकी समान-रूपता भी प्रसगत: सिद्ध हो जाती है।

विपरीत इसके ४५-४८ श्लोकोमे स्पष्ट कह दिया है कि स्वकर्म यदि ऊपरसे बुरा भी प्रतीत हो तो भी उसे हर्गिज नही छोडना चाहिये। वह सहज (स्वाभाविक) जो ठहरा। उसीके द्वारा भगवानकी पूजा

भी तो होती है। कर्म ही तो भगवत्पूजा है। यदि भगवानको संतुष्ट करना या उसे जानना चाहते हो तो स्वकीय कर्मोको ही ठीक-ठीक करना चाहिये। इस तरह तो त्यागकी जगह कर्मोका करना ही जरूरी हो जाता है। क्योंकि भगवत्पूजा तो आखिर करनी ही है न ?

इसके बाद ४६-५५ तक सन्यासकी उपयोगिता और उसकी दशाको बताके ५६-६५ तक उसके लिये भी कर्मोकी उपयोगिता बताई गई है। अब रह गई सन्यासकी बात। सो तो ४६से ही शुरू होती है और ६६वेंमें उसका स्पष्ट रूप दिखाया गया है। ४६वाँ श्लोक यों है, "असक्तबुद्धि सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृह । नैष्कर्म्यं सिद्धि परमा सन्यासेनाधिगच्छति"। इसका सीधा अर्थ यही है कि "जिसकी बुद्धि कही लिपटी न हो, जिसका मन अपने वशमे हो और जिसे कोई भी लोभ-लालच रह न गया हो वही सन्यासके द्वारा कर्मोके त्यागकी अन्तिम दशाको प्राप्त हो सकता है।" मन बुद्धि आदिपर अपना अधिकार रखनेसे कर्मोके त्यागका रास्ता साफ हो जाता है और बहुतेरे काम छूट भी जाते हैं। फिर भी नियत या स्वाभाविक कर्म तो होते ही रहते हैं। फलत जबतक उनका भी त्याग न हो जाय पूरी निष्कर्मता या कर्मोके त्यागकी आखिरी और पूर्ण हालतपर पहुँच नही सकते। इसीलिये सन्यास या कर्मोका स्वरूपत त्याग तब जरूरी हो जाता है।

कर्मत्यागकी पूर्णताकी जरूरत क्या है, यह सवाल हो सकता है। मगर इसका उत्तर तो "आरुरुक्षोर्मुनेर्योग"की व्याख्याके समय दिया जा चुका है। वही बात यहाँ भी ५०से लेकर ५५ तकके श्लोकोमें कही गई है। ये श्लोक समाधिका ही ब्योरेवार निरूपण करते है और कहते हैं कि अगर कुछ भी कर्मोका झमेला रहा तो समाधि हवामे ही मिल जायगी। फिर तो योगारूढ या आत्मदर्शी होना असभव हो जायगा। समाधिके लिये प्राय बहुत ज्यादा समय लगता है—दीर्घकालकी अपेक्षा है। सो

भी जब वह निरन्तर चालू रहे और बीचमे विराम होने न पाये। मनके निरोधको ही तो समाधि कहते हैं। फलत उसके निरोधके लिये जो अभ्यास किया जाता है उसके बारेमे योगदर्शनके समाधिपादमे पतञ्जलिने साफ ही कह दिया है कि श्रद्धापूर्वक निरन्तर बहुत दिनो तक करते रहनेपर ही वह दृढ होता है,—"स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमि·" (१४)। तब इसमे कर्मकी जरा भी गुजाइश कहाँ रह जाती है? उसकी तो जरूरत तभी तक थी जबतक कि आत्मदर्शनकी तरफ मनका झुकाव नही हुआ था। अब वैसा होनेपर तो कर्मोंका त्याग नितान्त आवश्यक हो जाता है।

हाँ, आत्मदर्शन हो जानेके वाद भले ही कर्म कर सकते है। क्योकि तब तो खामखा कर्मोंके छोडनेका सवाल रही नही जाता। पुराने सस्कारोके वलसे आत्मज्ञानी लोग दोनो ही तरहके होते है, जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है। कर्मयोगी भी होते है, जैसे जनक आदि और सन्यासी भी, जैसे शुकदेव आदि। पहले तो भगवदर्पण बुद्धि वगैरहसे ही कर्म करते है। फिर ज्ञानके वाद कर्त्तव्यबुद्धिसे या विशुद्ध लोकसग्रहकी ही दृष्टिसे। यही बात ५६से ६५ तकके श्लोकोमे कहके और इसीपर जोर देके ६६वेमे सन्यासके स्वरूपवाले प्रश्नका उत्तर देते हुए साफ कह दिया है कि "सभी धर्मकर्मोंको छोड़के अद्वितीय परमात्मा (आत्मा)की शरण जाओ—आत्मज्ञान प्राप्त करो। उसीके फलस्वरूप सभी पुण्यपाप रूप बन्धनोसे छुटकारा हो जायगा। फिक्र मत करो"—"सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज। अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।" पहले इसी चीजको भक्तिके भी नामसे ५४वे श्लोकमे कहा है और ५५वे मे बताया है कि यह भक्ति अद्वैत ब्रह्मज्ञानके सिवाय और कुछ नही है। सातवे अध्यायके "चतुर्विधा भजन्ते मा" आदि १६-१९ श्लोकोमे भी अद्वैत ज्ञानको ही सबसे ऊँचे दर्जेकी भक्ति कहा है। इसीलिये जो लोग इस श्लोकमे शरणा-

# आत्माका स्वरूप

यह ठीक है कि योग या कर्मयोगकी बात तो ४७वे श्लोकसे ही शुरू होती है और दो श्लोकोमे उसके स्वरूपको अच्छी तरह बताके उसीका विवेचन आगे किया है। लेकिन ३९-४६ श्लोकोमे उसी योगकी महत्ता-सूचक स्वतत्र प्रस्तावना दी गई है। यह समूचे गीतोपदेशकी प्रस्तावना न होके सिर्फ उसी योगकी है। इसीलिये हमने इसे स्वतत्र कहा है। यह भी बडे कामकी चीज है, खासकर योग-सम्बन्धी आगेकी बाते समझने और पिछली बातोके साथ सम्बन्ध जाननेके लिये। यह योग तो गीताकी खास देन है यह पहले ही कहा जा चुका है। इसीलिये इसपर ज्यादा प्रकाश डालना जरूरी है। इसी दृष्टिसे इसकी स्वतत्र प्रस्तावनाके ८ श्लोकोके साथ ही तत्त्वज्ञान सम्बन्धी पहलेके ११-३८ श्लोकोपर भी एक निगाह डालनेकी आवश्यकता है। ऐसा करते ही मालूम हो जाता है कि ११-३० श्लोकोमे तो आत्माकी अजरता, अमरता, निर्विकारिता और नित्यताका प्रतिपादन बहुत अच्छी तरह किया गया है। यह ठीक है कि वह प्रतिपादन यहाँ स्वतत्र नही है, किन्तु स्वधर्म और स्वकर्मकी कर्त्तव्यताकी पुष्टिके ही लिये किया गया है। इसीसे यह भी निर्विवाद हो जाता है कि गीतोपदेशकी भित्तिकी बुनियाद अध्यात्मवादसे ही बनी है। इसीलिये शुरूमे वही बात आई है। मरने-मारनेके तथा हिंसा-अहिंसाके ही खयालसे तो अर्जुन स्वकर्मसे विचलित हो रहा था। कृष्णने शुरूमें ही उसकी जड ही काट दी।

उनने कह दिया है कि मरने-मारने तथा हिंसा-अहिंसाका खयाल तो महज नादानी है। भीष्मादिकी आत्मा तो मरती नही और न दूसरोको मारती है। क्योकि सभी आत्माये अविनाशी और निर्विकार है। फिर हिंसा-अहिंसाकी बात ही कहाँ रही ? रह गई उनके शरीरोकी बात।

सो तो आज खत्म हुए, कल खत्म हुए जैसे ही है। उनका नाश तो कोई भी शक्ति—परमेश्वर भी—रोक सकती नही। वह तो अनिवार्य है अवश्यम्भावी है। यदि युद्ध में नही, तो ज्वर, महामारी आदिसे ही वे शरीर एक न एक दिन खत्म होगे ही। फर्क यही है कि तब मरना केवल मरना होगा। लेकिन अब मरनेमे मजा है, बहादुरी है, नाम और यश है, आत्मसम्मान है, स्वधर्मपालन है, "समर मरण अरु सुरसरि तीरा। रामकाज क्षणभग शरीरा"वाली बात है। फिर चिन्ता कैसी? आगा-पीछा कैसा? यही तो फायदेका सौदा है।

१९वे और २१वे श्लोकोमें जो करारी डाँट उन लोगोको बताई है जो आत्माके बारेमे चिन्ता करते और हिंसा-अहिसाकी बातें करते है वह बहुत ही सुन्दर है, निराली है, खूब है! साफ ही कह दिया है कि जो इस आत्माको मारनेवाली चीज मानते है और जो इसे मरनेवाली समझते है "वे दोनो ही कुछ नही जानते, बेवकूफ है, नादान है, कोरे है"—"उभौ तौ न विजानीत" (१९)। इसी तरह २१वे मे साफ ही कहते है कि "जिसने इस प्रकार आत्माको अजन्मा अविकार, सनातन और अविनाशी जान लिया भला वह किसीको मार-मरवा सकता है!"—"वेदाविनाशिन नित्य य एनमजमव्ययम्। कथ स पुरुष पार्थ क घातयति हन्ति कम्!" यहाँ "कथ स पुरुष" और भी सुन्दर है। वह तो मर्द है, नामर्द तो है नही। तब भला वह कैसे मारने-मरवानेकी बात सोचे! यह तो नामर्दीका रास्ता है, इससे तो नामर्दी और हिचककी प्रोत्साहन मिलता है और मर्द होके वह ऐसा काम करेगा! यह साराका सारा वर्णन इतना सरस और युक्ति-दलीलोसे भरा है कि लोट-पोट हो जाना पडता है। तर्क भी इतना जबर्दस्त और सामयिक (uptodate) एव वैज्ञानिक है कि कुछ कहिये मत। एक नमूना सुनिये।

१३वे श्लोकमे आत्माकी अविनाशिताकी दलील दी गई है। कहते है कि "एक ही जन्ममे कुमारावस्था, युवावस्था, तथा वृद्धावस्थासे हमे आमतौरसे गुजरना होता है"—"देहिनोऽस्मिन्यथादेहे कौमार यौवन जरा।" यह याद रखना होगा कि इन तीनो अवस्थाओका शरीर एक हर्गिज नही होता। कमसे कम तीन तो होते ही है जो एक दूसरेसे सोलहो आने जुदा होते है। यो तो एक एक अवस्थामे भी जाने कितने जुदा-जुदा शरीर हो जाते है। जिन अनन्त परमाणुओसे खून, मास, हड्डी आदिके ज़रिये किसी एक अवस्थाका शरीर बना होता है दूसरी अवस्थामें वह एक भी पाये नही जाते। वे तो जाने कहाँ गायब हो जाते है और उनकी जगह बिल्कुल ही नये और निराले परमाणु (atoms) ले लेते है। नही तो तीनो अवस्थाओमे पार्थक्य क्यो होता? यो भी कुमारावस्थाके शुरूमे होनेवाली देहके साथ युवावस्थाके अन्तिम परिपाकके समयके शरीरसे कोई मिलान हो सकती है क्या? वे दोनो तो साफ ही जुदे है—जुदे मालूम होते है! फिर वृद्धावस्थासे मिलानका सवाल क्या? विभिन्न अवस्थाओके जुदे-जुदे और परस्पर विरोधी काम ही इस बात के सबूत है कि शरीर जुदे-जुदे है। बाल्यावस्थाकी निपट असमर्थता और जवानीकी पूर्ण समर्थताके बाद बुढापेकी निराली असमर्थता ही पुकार-पुकारके अपने-अपने शरीरोको अलग बताती है।

इसे यो भी समझ सकते है। नया चावल कोठीके भीतर बन्द करके रखते है और किसी भी तरफसे हवा न जा सके इसका पूरा प्रबन्ध करते है—कोई जरा भी छिद्र या सूराख रहने नही देते। नही तो बाहरसे कीडे घुस जायँ और बरसाती हवा चावलको चौपट कर दे। फिर भी चार-छे सालके बाद अगर उन्ही चावलोको निकाले, पकाये और खाये तो निराला ही स्वाद, निराली गन्ध और निराली तृप्ति होती है जो बाते नयोमे पाई ही न जाती थी। पचनेमे तब भारी थे अब हलके हो गये,

बात वर्त्तमान साम्यवादी अग्रेज विद्वान श्री जौन स्ट्रेचीने अपनी पुस्तक "समाजवादका सिद्धान्त और व्यवहार" (The Theory and Practice of Socialism) के ३६२ पृष्ठमे लिखते हुए मार्क्सवादके मूल नेता श्री फ्रेड्रिक एगेल्सके "ड्यूह्लिगके विरुद्ध" (Anti-Duhring) पुस्तकके एक अशको ज्योका त्यो उद्धृत कर दिया है। वह इस प्रकार है —

"In the same way Engels observes that the eating and excreting processes, which every-living thing must continually maintain, mean that the actual physical structure of every man (for example) is continually changing. A man is not composed of the same cells as he was thirty years ago. Not a single one of the atoms of matter, which then constituted the man, is left. And yet we say without hesitation that it is the same man. The movement or evolution, through time, of a living organism, seems to present an analogous contradiction to the movement of an object through space. "Life is, therefore, also a contradiction, which is present in things and processes themselves and, which constantly asserts and solves itself; and as soon as the contradiction ceases, life too comes to an end, and death steps in"—"Anti-Duhring," page 138."

इसका आशय यह है, "उसी तरह एगेल्सका यह भी कहना है कि हरेक जानदारके लिये जिस खाने और पाखानेका निरन्तर जारी

रहना लाजिमी है उसीका यह मतलव है कि हरेक इन्सान वगैरहके जिस्म-की वनावट निरन्तर वदल रही है। तीस साल पहले जिन सजीव झिल्लियो-से मनुष्यका शरीर वना होता है, वे उस मुद्दतके वाद रह नही जाती है। उस समय जिन परमाणुओ से शरीर वना था उनमे एक भी रह नही जाते। फिर भी विना हिचक कह देते है कि यह वही आदमी है। किसी जीवित पदार्थका समय पाके जो विकास होता है या उसमे जो गति हो जाती है, उसमे जो परस्पर विरोध होता है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि किसी पदार्थके एक स्थानसे दूसरे स्थानमे जानेमें। "इसीलिये जीवन भी विरोधी चीज है और यह विरोध खुद पदार्थों और उनकी क्रियाओमे ही मौजूद है। यह विरोध अपने आप ऊपर आ जाता है और फिर इसका समाधान भी हो जाता है। यह विरोध ज्योही खत्म हुआ कि जीवनलीलाका भी अन्त हुआ और मौत आ धमकी।"

इस प्रकार अत्यन्त वैज्ञानिक तर्क दलीलके साथ गीताने भी वहुत समय पहले एगेल्सकी ही तरह कह दिया था कि यदि इस प्रकार परस्पर विभिन्न शरीरोके होते हुए भी हम उन्हे एक ही मानते है, और सबसे बडी बात यह है कि आत्मा एक ही रहती है, उसका परिवर्त्तन या नाश नही होता, इसीलिये तो वचपनकी देखी-सुनी वातोकी याद वुढापेमे भी हो आती है, तो वर्त्तमान शरीरके मिलनेके पूर्व और इसके खत्म होनेके वाद जो शरीर थे और जो मिलेंगे उनमें भी उसी आत्माकी सत्ता माननेमें क्या अडचन है जो इस वर्त्तमान शरीरमे है? जिस तरह एक जन्मके ही तीन विभिन्न शरीर वताये गये है वैसे ही तो तीन जन्मोके भी तीन है और आगे वढके तीस और तीन लाख जन्मोके भी होते है। बात तो सर्वत्र एकसी है। यदि वचपनकी सभी वातें वुढापेमे याद नही आती है और शायद ही एकाधका स्मरण होता है, तो दूसरे जन्मके शरीरोके वारेमें भी ऐसा ही होता है। कोई वच्चा पढने या दूसरे ही कामोमे

कुन्द, कोई तेज और कोई अत्यन्त विलक्षण होता है। इससे मानना पडता है कि पूर्व जन्मके अभ्यास काम कर रहे हैं, ठीक जैसे निद्राके बाद पहले पढी-लिखी बात याद आ जाती है। मौत भी तो आखिर नींदकी बडी बहन ही है न ? इसमें तम या अन्धेरे का पर्दा बहुत ही सख्त होनेके कारण स्मृति और भी पतली पड जाती है या शायद ही कभी किसीको होती है। लेकिन हमारा प्रयोजन यहाँ इन बाहरी दलीलोसे नही है। हमे तो एक ही युक्ति-तर्कको नमूनेके तौर पर पेश कर देना था।

बीचके "अथ चैनं नित्यजात"(२६) आदि श्लोकोमे जो आत्माके मरने या विनाशकी बात कही गई है, वह तो केवल स्वधर्मसे विमुख न होनेके ही लिये सहकारी तर्क (supplementary argument) के रूपमे ही है। वहाँ तो इतना ही कहना है कि जैसे शरीरका नाश अनिवार्य है, इसीलिये उसे बचानेके खयालसे भी युद्ध रूप स्वधर्मसे भागना मूर्खता है, ठीक उसी तरह यदि आत्माको भी नश्वर और क्षणभगुर ही मान ले, तो भी स्वधर्मसे विमुख होना कभी वाजिब नही। क्योकि जो बिगडेगा वह फिर बनेगा और जो बनेगा, जरूर ही बिगडेगा, यही संसारका नियम है और यह हमारे काबूकी बात है नही कि इसे ही रोक दे। यदि हम न भी लडे, तो भी आत्माका नाश तो होगाही, यदि हमने उसे अनित्य मान लिया। बस, इसका इतना ही मतलब है। ऐसा समझनेकी भारी भूल कोई न करे कि ऐसा कहके गीताने भी आत्माको विनाशी माना है। सारीकी सारी गीता इस सिद्धान्तके खिलाफ है। सैकडो बार आत्माकी अमरता और एकरसता उसमे दुहराई गई है।

इसके बाद अध्यात्मवादके बारेमे कुछ भी कहना रह जाता नही। फलत ३१-३७ श्लोकोमे धर्मशास्त्रोके विधि-विधान और दुनियामे नेकनामी बदनामी एव आत्मसम्मानके आधारपर उसी स्वधर्मके करनेकी

पुष्टि की गई है। लोग ऐसा न समझ बैठें कि जब गीताने अध्यात्म ज्ञानसे ही शुरू किया है तो उसे सासारिक हानि लाभोसे कोई वास्ता नही है, इसीलिये गीताकी दृष्टि इनकी तरफ कतई नही है; यही वजह है कि इन सभी सासारिक बातो और खयालोको भी उसने सामने ला दिया है। यदि ऐसा न होता तो गीताकी बात एकागी एव अधूरी रह जाती जैसा कि शुरूमें ही कहा है। गीताको तो सब तरह से पूर्ण और व्यावहारिक बनना था, पूर्ण अनुभवी बनके ही पथदर्शन करना था और वही चीज न हो पाती, अगर यश-अपयश, आत्मसम्मान आदिकी ओर से वह नजर फेर लेती। उस दशामें अनुभवी लोग उसमे कमी पाते और उसकी ओर सहसा खिच आते नही। इसीलिये इस पहलूको भी उसने नहीं छोडा है। विधि-विधानके अनुसार स्वर्ग-नर्क आदि भी इसी पहलूके भीतर आ जाते है। इनका स्थान न तो अध्यात्म दृष्टिमे है और न योगदृष्टिमें ही। इसीलिये वे भी यही दिखाये गये है।

## सांख्य और योगमें अन्तर

इसके बाद योगवाली दृष्टिकी ओर जानेके पहले एक ही श्लोक—३८वाँ—रह जाता है। वह यो है, "सुखदु खे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ। ततो युद्धाय युज्यस्व नैव पापमवाप्स्यसि ॥" इसका अर्थ है कि "जय-पराजय, हानि-लाभ और सुख-दु खको समान समझके—यानी इनकी पर्वा न करके—लडाईके लिये तैयार हो जाओ। फिर तो तुम्हारे पास पाप फटकने भी न पायगा"। लडाईमे हार या जीत—दोमे एक—जरूरी है। फलत तदनुसार ही हानि या लाभ भी अनिवार्य है। फिर तो दुःख या सुख खामखा आता ही है। यही है साधारण नियम। ये चीजे बदली जा सकती है भी नही। इसलिये इन्हें समान बनाना असभव है। इसीलिये गीता कहती है कि इनका बाहरी रूप ज्योका त्यो रहते

हुए भी हम इन्हे समान इस तरह बना सकते है कि दिल-दिमाग पर इनका कोई खास असर न होने दे। अध्यात्मवाद या वेदान्तका यह अटल सिद्धान्त है कि सुख-दु.खके कारण बाहरी पदार्थ नही है। हम अपने दिल दिमागमें उन्हे जो स्थान देते या उनका जैसा स्वरूप खडा करते है तदनुसार ही वे सुख-दु ख आदिके कारण बनते है और नही भी बनते है। इन्हीको मानसिक या मनोराज्यके पदार्थ कहते है।

दृष्टान्तके लिये किसी स्त्रीको ले सकते है। वह तो एक ही प्रकारकी होती है—उसका बाहरी रूप तो एक ही होता है। अब यदि वही भली या बुरी हो या सुख-दु ख पहुँचानेवाली मानी जाय तो सभीको उसके करते समान रूप से ही सुख या दु ख होना चाहिये। मगर ऐसा तो होता नही। एक ही स्त्री किसीके लिये सुखद, किसीके लिये दु खद और किसीके लिये दोनोमे एक भी नही होती। जो पुरुष उसे बहन, बेटी या माता मानता है उसकी कुछ और हालत होती है, जो उसे स्त्री मानता है उसकी दूसरी ही और जो उसकी तरफसे निरा उदासीन या लापर्वा है उसकी तीसरी ही दशा होती है। पहली दो हालतोमे राग या द्वेष या प्रेम और जलनकी जो बाते पाई जाती है। वह तीसरी दशा मे कतई लापता है। वेश्या, धर्मपत्नी और माताके बाहरी रूपमें कोई भी अन्तर नही होता है। एक ही स्त्री किसीकी मा, किसीकी पत्नी और किसीके लिये वेश्या भी परिस्थितिवश हो सकती है। इसीसे वह आरामदेह या तकलीफदेह बन सकती है। सो भी एक ही समयमे किसीको आराम देनेवाली और किसीको तकलीफ देनेवाली। क्यो ? इसीलिये न, कि पत्नी, वेश्या, माता, बहन आदिके रूपमें एक ही स्त्रीकी जुदा-जुदा कल्पना अलग-अलग लोग अपने मनोमें कर लेते है ? और जो विरागी या मस्तराम ऐसी कोई भी कल्पना नही करके लापर्वा रहता है उसे उस स्त्रीसे सुख या दु ख कुछ नही होता। इसलिये सिद्ध हो जाता है कि किसी भी पदार्थका बाहरी

रूप कुछ नही करता। किन्तु उसका मानसिक रूप जैसा खडा किया जाता है तदनुसार ही वह सुख-दु खादिका कारण बनता है—उसे वैसा बनना पडता है।

इसीलिये ३८वे श्लोकमे गीताने इसकी जड ही काट दी है। उसने कह दिया है कि अपने दिल-दिमागपर जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख दु खका असर होने ही न दो, दिल-दिमागको यह मौका ही न दो कि इन चीजोका रूप अपने भीतर खडा कर सकें, ऐसा न होने पाये कि दिल-दिमाग-की स्वाभाविक एकरसता, गभीरता और शान्तिको, ये सभी अपनी छाया और अपना प्रतिविम्ब उसपर डालके, भग करें, विगाडें। फिर तो पौ बारह है, फिर तो सव कुछ ठीक है, फिर तो पाप-पुण्यकी जड ही कट जाती है। पाप-पुण्यके वाप तो ये मानसिक रूप ही है, चीजोका मानस पटल पर पडा हुआ असर और प्रतिविम्ब ही है, छाया ही है। इस प्रकार अध्यात्मवाद और वेदान्तके सिद्धान्तके ही आधारपर कर्म करनेकी वातका प्रतिपादन पूरा किया गया है। क्योकि जव आत्मा निर्विकार और निर्गुण है, निर्लेप और अजर-अमर है तव तो मानसिक कल्पनाके ही चलते वह भटकती है और पाप-पुण्यमे पडती है, जैसे जगलमे भटक जानेवाला काँटे-कुशोमें विधता या चोर डाकुओसे लुटता है। और जव वही चीज नही रही, जव मानसिक समता (balance) विगडने न पाई, तो फिर खतरा ही कहाँ रहा ?

अव विचार पैदा होता है कि जिस समताका उल्लेख यहाँ किया गया है उसीका जिक्र आगे कर्मयोगके प्रकरणके ४८वे श्लोकमे भी आया है। यहाँ भी "सुखदु खे समे कृत्वा" है और वहाँ भी "सिद्धचसिद्धयो समो भूत्वा" लिखा है। ऐसी दशामे दोनो एक ही चीज हो जाती है। फिर अध्यात्मवादके प्रकरणके अन्त और योगके आरभके पहले जो ३९ श्लोकमें वडी तपाकके साथ कहा है कि "तत्त्वज्ञानकी वात कह चुके अव योगकी वात

सुनो", उसका तो कोई मतलब रही नही जाता। वह बेकार और निरर्थक मालूम पडता है। मगर ऐसा मान भी तो नही सकते। गीताकारको क्या इतनी मोटी भी बुद्धि न थी कि यह बात समझ जाये? और जो गीतामे साख्य एव योगके दो मार्गोंका बारबार जिक्र आया है उसका क्या होगा? यह कोई बच्चोकी तो बात है नही। इसीलिये कुछ अजीबसा घपला यहाँ आ खडा होता है।

यह बात तो जरूर है। यहाँ दिक्कत तो मालूम होती ही है। इसीलिये जरा गौरसे कई बाते विचारना है। पहली बात यह है कि हम अध्यात्मवादके उपसहारवाले ३८वे श्लोकके "नैवं पापमवाप्स्यसि" तथा कर्मयोगकी भूमिकाके ३९वे श्लोकके "कर्मबन्ध प्रहास्यसि" शब्दोपर भी विचार करे। पहले शब्द तो इतना ही कहते है कि "ऐसा होनेसे तुम्हारे पास पाप फटकने न पायेगा।" उनका इस बातसे कोई तात्पर्य नही है, कोई भी प्रयोजन नही है कि आया कर्म पाप-पुण्य पैदा करते है या नही, कर्मोंमे पाप-पुण्य पैदा करनेकी शक्ति है या नही। तत्त्वज्ञान और अध्यात्मवादको इससे कोई भी गर्ज नही होती। वह इन बातोकी ओर दृष्टि डालना फिजूल समझता है। बल्कि यो कहिये कि वह ऐसा करनेको पतन एव पथभ्रष्टताकी निशानी मानता है। वह यह बालकी खाल क्यो खीचने लगा? वह तो इतना ही कहता है कि जब आत्मा निर्लेप है, अकर्त्ता है, जब उसमें कर्म हुई नही, तो फिर कर्मका फल वह क्यों भोगे? कर्मका फल उसके निकट आये भी क्यो? आनेकी हिम्मत भी क्यो करे? हाँ, एक ही बात है कि मनमे—दिल-दिमागमे—उसकी कल्पना कर ली जाय तो गड़बड हो सकती है, होती है। इसीलिये उसने उसी चीजको अन्तमे रोक दिया है और साफ कह दिया है कि खबरदार, दिल-दिमागकी गभीरता (serenity) बिगडने न पाये। फिर मजाल किसकी कि फँसा सके? ऐसी दशामे

जहाँ आगका सम्बन्ध ही नही वहाँ उसकी लपट, गर्मी या आँच आयेगी कैसे ?

और ३९वें श्लोक वाले शब्द ? वह तो कुछ और ही कहते है। वह तो कहते है कि "ऐसा होनेपर कर्मोमे जो बन्धकता या बाँधने और फँसानेकी शक्ति है वही खत्म हो जायगी।" मतलब यह है कि ये शब्द आत्माके अकर्तृत्व आदिका खयाल न करके कर्मके स्वरूपका ही खयाल करते हैं—इनकी नजर उसी तरफ है। वह कर्मोंमें फल देनेकी ताकत और शक्तिको मानके ही ऐसा उपाय सुझाते है कि वह शक्ति बेकार हो जाय, मारी जाय। जिस तरह भुने जानेपर बीजमें अकुर पैदा करनेकी ताकत नही रहती, खत्म हो जाती है, ठीक उसी तरह कर्मको भी भून देनेकी बात ये वचन बताते है। आत्मा निर्गुण है, कर्त्तृत्वशून्य है, निर्लेप या कि सगुण, कर्त्तृत्वयुक्त और लिपटनेवाली-लिपटानेवाली, इस खोद विनोदमें वे नही पडते। इस गहरे पानीमे वे उतरना नही चाहते—उतरते नही। आत्मा चाहे कुछ भी क्यो न हो, वह करनेवाली ही क्यो न हो, फिर भी ऐसी युक्ति की जा सकती है कि कर्म ही भून दिये जायँ और सब पँवारा ही खत्म हो जाय। अतएव यही कहना ीक है कि इन वचनोकी दृष्टि पहलेवालोसे ठीक उलटी दिशामें है—दूसरे किनारे है। यदि इसी श्लोकके बादका ४०वाँ श्लोक देखे तो वहाँ भी "प्रत्यवायो न विद्यते"—"पाप होता ही नही, रहता ही नही"—ऐसा ही लिखा है। इससे भी यही बात निकलती है कि योगवाली हिकमत या योगकी जानकारीसे पाप पैदा होने पाता ही नही—उसका अस्तित्व ही नही रह जाता—उसकी सत्ता होने ही नही पाती। फिर वह जायेगा किसके निकट ? जो चीज हुई नही, उससे किसीको खतरा ही क्या ? इस प्रकार साख्य और योगकी विशेषता सिद्ध हो जाती है।

दूसरी बात भी है। ३८वे श्लोकमे युद्धरूप क्रिया या कामके बारेमें

समत्वबुद्धिकी बात नही कही गई है। किन्तु उसके फलोके ही बारेमे। जय-पराजय, लाभ-हानि और सुख-दुःख तो युद्धके परिणामस्वरूप ही क्रमशः एकके बाद दीगरे होते है और उन्हीके असरसे दिल-दिमागको बचा रखनेको कहा है। मगर ४८वे श्लोकमे जो सिद्धि-असिद्धिमे समता या एकरसताकी बात कही गई है, वह कर्मोंके ही बारेमें है और प्रकृतमे युद्धको ही लेकर है। लडाई अन्ततक हो या बीचमे ही रह जाय, खत्म हो जाय स बातकी पर्वा कतई न हो यही योग है। इस बातका दिलपर जरा भी असर न हो, यही चीज वहाँ कही गई है। इस प्रकार जहाँ पहली खूबीमे कर्मको भूननेकी बात है, तहाँ इसमे उसका कोई भी प्रभाव दिलपर न आने देनेकी बात है। इसीके फलस्वरूप कर्म भुने जायँगे। यह ुनियादी चीजको ही पकडता है। कर्मोंका ही असर न होने दिया जाय तो योग हो गया और उनके नतीजोको ही पास-मे फटकने न दिया गया तो सांख्य हो गया।

तीसरी बात भी है जिससे योगका निरूपण अलग किया गया है। यह ठीक है कि कर्मकी सिद्धि-असिद्धिकी लापर्वाहीको ही योग कहते है। मगर सवाल तो यह है कि वह हो क्योकर ? जरा देखिये तो सही यह कितनी कठिन चीज है। फलकी इच्छाको स्थान न देना, फलकी ओरसे लापर्वा होना, कर्मसे आसक्तिका न होना और कर्मत्यागमे आग्रह न रहना—ये चार चीजे बताई गई है। इनके बताने और इनपर अमल करनेका सीधा मतलब यही है कि हमारी दृष्टि कर्मके ऊपर इस हद्दतक बँध गई हो, हमारे मनकी एकाग्रता (concentration) कर्मके ऊपर इस तरह पूर्ण और इतनी पक्की हो गई हो कि वह फलेच्छा और फलकी तो बात ही जाने दीजिये, वह तो जुदी चीज है, कर्मके त्याग और उसके करनेकी ओर भी न जा सके ! क्या कमाल है ! कैसी लासानी एकाग्रता-की बात है ! किन्न अलौकिक मनोयोगका निरूपण है ! मन कर्ममे

उतना वँधा है और उस वन्धनकी सीमा इतनी सकुचित एव निर्धारित है कि कर्मके आगे जो उसका करना या न करना है उसे भी वह देख नही सकता, वहाँ भी वह जा नहीं सकता, वहाँ जानेकी भी उसे इजाजत नही है। वहाँ भी उसके लिये 'नो ऐडमिशन' (No admission) ही है। जो वात दिमागमे आनेवाली नही जँचती वही लिखी गई प्रतीत होती है। क्या खूब !

यह तो ऐसा ही है जैसाकि छुरेकी धारपर होकर गुजरना और फिर भी पाँवको कटनेसे वाल-वाल वचा लेना ! यह तो सवके लिये सभव नही। यह तो कोई विरला ही माईका लाल कर सकता है। इस अनोखी दैवी कलाका पारगत तो शायद ही कोई होता है, हो सकता है। ऐसा वही हो सकता है जो प्राणायामकी क्रियासे समूचे शरीरको तौलके ऐसा ऊपर—इतना ऊपर—उठा ले कि पावोका केवल सम्वन्ध ही उस धारपर हो और शरीरका जरा भी भार उसपर न होने पाये। शरीर न तो इतना ऊँचा उठ जाय कि छुरेसे सम्वन्ध ही टूट जाय, क्योकि तव तो उसकी धारपरका चलना कहा जायगा नही ! और न ऐसा ही उठे कि धारपर जरा भी—नाममात्रको भी—उसका वोझ पडे, क्योकि तव तो पाँव ही कट जायगा। फिर भी पाँवके द्वारा शरीरका सम्वन्ध भी धारसे वना रहे। उफ, गजवकी करामात है। ठीक यही करामात कर्मके वारेमें भी करनेकी वात ४८वें श्लोकमे कही गई है।

प्रश्न होता है कि यह हो कैसे ? यहीपर मदद करने और इस महान् सकटसे उवारनेके लिये साख्य या अध्यात्मज्ञान आ जाता है। ठीक, छुरेपर जुटे शरीरकी ही तरह यहाँ मनको वहुत ऊँचा उठना होगा, ऊँचा उठाना होगा। वह इतना ऊपर चला जाय कि कर्मके अलावे वाकी सभी चीजें अनन्त दूरीपर—वहुत नीचे दूर—पड जायें। उन सवोसे मन वेलाग हो जाय। मगर उसीके साथ कर्मसे सम्वन्ध भी जुटा रहे—

वह टूटने न पाये। जबतक वह अध्यात्मदर्शन और तत्त्वज्ञानकी पूर्णताके फलस्वरूप बहुत बडी उँचाई (high plane) पर चला नही जाता, खामखा गड़बडी होगी और खतरा बराबर बना रहेगा कि कभी इधर और कभी उधर जाय। मनकी इसी दशाको—इसी उँचाईको—चौथे अध्यायके "गतसगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतस" (२३) श्लोकमे "ज्ञानावस्थित ेता" या ज्ञानावस्थित चित्त कहा है। वह ज्ञानमे डूब जाता है। तीसरे अध्यायके "यस्त्वात्मरतिरेव" श्लोकमे इसे ही "आत्मरति" और "आत्मतृप्त" कहा है। जो अमृतमे डूबा है उसे शर्ब-तकी पर्वा क्यो हो ? यही बात यहाँ है। जो आत्मानन्दमे मस्त है, उस.मे तृप्त है, उसीमे डूबा है वह इधर-उधर क्यो जाय ? फिर भी एक ओर—सिर्फ कर्मकी ओर— जाना भी है ! यही तो निरालापन है ! गीतामे इस हालतका वर्णन बारबार आया है। यही ज्ञानकी असली अवस्था है और इसीकी मददसे मन कर्मके आगे-पीछे बाल भर भी नही बहकेगा। नही तो वही कट जायगा ! यही योग है जिसमे आत्मज्ञान मददगार है।

योगमे आत्मज्ञान निहायत जरूरी है और उसीके फलस्वरूप जो सिर्फ कर्मतक ही मन पहुँचने दिया जाता है इसी युक्ति, इसी हिकमत और इसी कलाकी आगे भी प्रशसा की गई है। दरअसल योगमे तीन चीजे है। एक तो कर्म है। दूसरी उसीतक मन या बुद्धिकी पहुँच और तीसरी चीज है इसीके लिये जरूरी तथा आधारभूत आत्मदर्शन या आत्माका साक्षात्कार। इनमे कर्मके सिवाय शेष दोको ही एक साथ मिलाके योगके सम्बन्धकी बुद्धि, जानकारी या कला कहा गया है "बुद्धिर्योगेत्विमा शृणु" (२।३९)में। इन दोनोमे भी असली चीज वही आत्मज्ञान है। क्योकि उसीके बलपर ऊँचे उठके मन कर्मसे आगे जा नही सकता है। इसीलिये "दूरेण ह्यवर कर्म" (२।४९) और "बुद्धियुक्तो जहातीह" (२।५०) श्लोकोमे कह दिया है कि "इस बुद्धि या ज्ञानके योग यानी सम्बन्धको

हटा देनेपर वचा वचाया कर्म तो रद्दी चीज है, बहुत बुरा है। इसलिये कर्मसे पैदा होनेवाले अनर्थोंसे वचनेके लिये इसी बुद्धिकी शरण जाओ। इसके विना तो फलकी आकाक्षा आदिके चलते दुर्दशा होती है।" "विपरीत इसके यदि वह इस बुद्धिसे युक्त—इससे सम्बद्ध—हो जाय, तो पुण्य-पाप दोनोसे ही उसका पिंड छूट जाता है। अतएव योगकी ही प्राप्तिके लिये कोशिश करो। वही तो कर्मकी कला, हिकमत या विशेषज्ञता है।"

यहाँ ५०वे श्लोकमें जो पुण्य-पापसे पिंड छूटनेकी बात कही गई है वह ठीक वैसी ही प्रतीत होती है जैसी आत्मज्ञानके फलस्वरूप ३८वें श्लोकमें वताई गई है। इससे यह खयाल हो सकता है कि ज्ञान और योगमें कोई फर्क नही है। मगर इसीके वादके ५१वें श्लोकमे जो 'हि' शब्द दिया गया है और जिसका अर्थ है 'क्योकि', उससे पता लगता है कि वह श्लोक पहलेके मतलवको स्पष्ट करता है। पहलेमे जो कुछ इस तरहके शककी गुजाइश है उसे खुद समझके ही वह इसपर और भी प्रकाश डालता है। अव जरा "कर्मज बुद्धियुक्ता हि" आदि उस श्लोकका अर्थ देखिये। वह यो है, "क्योकि बुद्धियुक्त (बुद्धिवाले) मनीषी लोग कर्मोंसे पैदा होनेवाले फलोको छोडके जन्ममरण रूप वन्धनसे छुटकारा पा जाते और निरुपद्रव स्थानमे पहुँच जाते है।" पहले श्लोकमें जो पुण्य-पापके त्यागने या उनसे पिंड छूटनेकी वात कही गई है ठीक उसीका उल्लेख इस श्लोकमें "कर्मोंसे पैदा होनेवाले फलोको छोंडके" इन शब्दोमें किया है और कहा है कि जन्ममरण रूप वन्धनसे वे छूट जाते है। पहले श्लोकके "बुद्धियुक्ता "की ही जगह यहाँ "मनीषिण" कहा है।

अव यदि इन सभी वातोको मिलाके गौर करें तो पता चलेगा कि भूमिका वाले ३९, ४० श्लोकोमे जो कुछ कहा गया है कि योगके करते कर्मों की वधनशक्ति खत्म हो जाती है और पुण्य-पाप होने पाते ही नही, वही

वात यहाँ समर्थनके रूपमे दुहराई गई है। इसीलिये श्लोकमे 'बन्ध' शब्द भी आया है। असलियत यह है कि कर्मोमे ही जो मन बुद्धि जम गई है उसका परिणाम यह होता है कि बन्धनसे छुटकारा मिलता है। कर्मसे हटके यकायक बन्धनपर जा पहुँचे और उसे खत्म किया! कर्म और बन्धनके बीचमें कई सीढियाँ पडती है। योगवाले उन्हें फाँद जाते है! कर्मका तो सबसे पहले तत्काल फल होता ही है जय-पराजय आदिके रूपमे। फिर उसके बाद दूसरा फल आता है जिसे पुण्य-पाप कहते है। तब कही जाके बन्धन आता है उन्ही पुण्य-पापोके फलस्वरूप। योगके चलते कर्म और बन्धनके बीचके इन दो फलो—दो सीढियोसे साबका पडता ही नही। उनसे कोई भी नाता नही होता—वह होते ही नही। फिर बन्धन यानी जन्ममरण कैसा? साख्य या ज्ञानमे भी बन्धन तो होता नही। मगर बीचके दो फल होते है जरूर; हालाँकि आत्मासे उनका कोई भी नाता न होनेके कारण वे उसमे सटते नही। क्योकि कर्म ही जब उसमे सटता नही, है नही, तो उसके फल कैसे आयेगे? विपरीत इसके योगमे कर्म आत्मामे आये और सटे तो क्या और न सटे तो क्या? वहाँ इससे कोई मतलब हुई नही। मगर ीचवाले फल नही सटते यह पक्का है। पहले पक्षमे पक्कापक्की कर्म ही नही सटता है और इसीसे ये फल नही सटते। मगर इस पक्षमे पक्कापक्की यही नही सटते है। फिर कर्म सटके भी क्या करेगा? दोनोका यही मौलिक भेद—बुनियादी फर्क—यहाँ साफ हो जाता है।

## व्यवसायात्मक बुद्धि

अब एक ही बात इस योगके मुतल्लिक रह जाती है जिसका ज़िक्र "व्यवसायात्मिका" आदि ४१वे श्लोकमे है। उसीका स्पष्टीकरण आगेके ४२-४४ श्लोकोमे भी किया गया है, बल्कि प्रकारान्तरसे ४५-४६मे भी।

इन श्लोकोमें कहा गया है कि योगवाली बुद्धि एक ही होती है, एक ही प्रकारकी होती है और होती है वह निश्चित, निश्चयात्मक (definite)। उसमें सन्देह, आगा-पीछा या अनेकताकी गुजाइश होती ही नही। विपरीत इसके जो योगसे अलग हैं, जिनका ताल्लुक योगसे हुई नही उनकी बुद्धियाँ बहुत होती हैं और एक एककी अनेक शाखा-प्रशाखायें होती हैं। वे अनिश्चित तो होती ही हैं। कहनेका मतलब यह है कि जहाँ योगीके खयाल पक्के और एक ही तरहके होते हैं तहाँ दूसरोंके अनेक तरहके, कच्चे और सदिग्ध होते हैं।

बात सही भी है। पहले जो कुछ योगके बारेमें कहा गया है उससे यह बात इतनी साफ हो जाती है कि समझनेमें जरा भी दिक्कत नही होती। जब यह कह दिया गया है कि सिवाय कर्मके उसके करने, न करने, छूटने, न छूटने, फल, उसकी इच्छा, कर्मकी जिद्द या उसके न करनेकी जिद्द—इनमें किसी भी—की तरफ मन या बुद्धिको जानेका हक नही है, जाने देना नही चाहिये, जाने दिया जाता ही नही या यो कहिये कि जानेकी गुजाइश ही नही रह जाती, तो फिर बुद्धि या खयालका एक और निश्चित होना अवश्यभावी है। पहलेसे ही निश्चित एक ही चीज—कर्म—से जब वह डिगने पाता नही, तो फिर गडबडकी गुजाइश हो कैसे और अनेकता या सन्देह इसमें घुसने भी पाये कैसे ?

मगर जहाँ यह बात नही है और खयालको—बुद्धि या मनको—आजादी और छूट है कि फलोकी ओर दौडे, सो भी पहलेसे निश्चित फलोकी ओर नही, किन्तु मनमें कल्पित फलोकी ओर, वह बुद्धि तो हजार ढगकी खामखा होगी ही। एक तो कर्मोंके फलोकी ही तादाद निश्चित है नही। तिसपर तुर्रा यह कि कर्म करनेवाले रह-रहके अपनी-अपनी भावनाके अनुसार फलोके बारेमे हजार तरहकी कल्पनायें—हजार तरहके खयाल—करते रहते हैं। यही कारण है कि फल और फलकी

इच्छा या कल्पनाको जुदा-जुदा रखा है। क्योकि कर्मोके फल तो पहलेसे निर्धारित या बने बनाये होते नही। वे तो नये सिरेसे बनते है, बनाये जाते है। हर आदमी चाहता है कि एक ही कर्मका फल अपने-अपने मनके अनुसार जुदी-जुदी किस्मका हो। यह भी होता है कि एक ही आदमी खुद रह-रहके अपने खयाल फलोके बारेमे बदलता रहता है। परिस्थिति उसे मजबूर करती है। एक ही युद्धके फलोकी कल्पना हर लडनेवाले जुदी-जुदी करते है। साथ ही एक आदमीकी जो कल्पना शुरू मे होती है मध्य या अन्तमें वह बदल जाती है, ठीक उसी हिसाबसे जिस हिसाबसे उसे अपनी शक्ति और मौकेका अन्दाज लगता है। इसीके साथ यदि कर्मोके करने न करने या उनके छोडने न छोड़नेके हठोकी बात मिला दे, तब तो बुद्धि और खयालोके परिवारकी अपार वृद्धि हो जाती है। वह पक्की चीज तो होती ही नही। कभी कुछ खयाल तो कभी कुछ। एक ही फलके विस्तारका रूप भी विभिन्न होता है।

मगर योगमे तो सारा झमेला ही खत्म रहता है। वहाँ तो "न नौ मन तेल होगा और न राधा नाचेगी"वाली बात होती है। इसीलिये उसकी महत्ता बताई गई है। ५२से लेकर ७२ तक—अध्यायके अन्त तक—के श्लोकोमे उसी बुद्धिका विशद चित्र खीचा गया है। वह कितनी कठिन है, दुःसाध्य है यह भी बताया गया है। मस्तीकी अवस्था ही तो ठहरी आखिर। इसीलिये तीसरे अध्यायके पहले ही श्लोकमें उसी बुद्धिकी यह महिमा जानके अर्जुनने कर्मके झमेलोसे भागने और उस बुद्धिका ही सहारा लेनेकी इच्छा जाहिर की है। मगर यह तो ठीक ऐसी ही है जैसी कि किसीकी यकायक गुरु बन जानेकी हो इच्छा।

# २—गीताधर्म और मार्क्सवाद

## १. गीता धर्म

ीताकी अनेक महत्त्वपूर्ण शिक्षाओ और वातोपर अभी प्रकाश डालना वाकी ही है। मगर यह काम करनेके पहले उसके एक वहुत ही अपूर्व पहलूपर कुछ विस्तृत विचार कर लेना जरूरी है। गीताकी कई अपनी निजी वातोमें एक यह भी है। हालाँकि जहाँतक हमे ज्ञात है, इसपर अवतक लोगोकी वैसी दृष्टि नही पडी है जैसी चाहिये। यही कारण है कि यह चीज लोगोके सामने खूव सफाईके साथ आई न सकी है। उसीके सिलसिलेमें गीताकी दो-एक और भी वातें आ जाती है। उनका विचार भी इसी प्रसगमे हो जायगा। सवसे वडी वात यह है कि जिस वातका हम यहाँ विचार करने चले है उसका वहुत कुछ ताल्लुक, या यो कहिये कि वहुत कुछ मेलजोल, एक आधुनिक वैज्ञानिक मतवादसे भी हो जाता है—उस मतवादसे जिसकी छाप आज समस्त ससारपर पडी है और जिसे हम मार्क्सवाद कहते है। यह कहनेसे हमारा यह अभिप्राय हर्गिज नही है कि गीतामे मार्क्सवादका प्रतिपादन या उसका आभास है। यह वात नही है। हमारे कहनेका तो मतलव सिर्फ इतना ही है कि मार्क्सवाद-की दो-एक महत्त्वपूर्ण वाते गीताधर्मसे मिल जाती है और गीताका मार्क्स-वादके साथ विरोध नही हो सकता, जहाँतक गीताधर्मकी व्यावहारिकतासे ताल्लुक है। यो तो गीतामें ईश्वर, कर्मवाद आदिकी छाप लगी हुई है। मगर उसमें भी खूबी यही है कि उसका नास्तिकवादसे विरोध नही है और यही है गीताकी सबसे वडी खूबी, सबसे वडी महत्ता। यही कारण

ह कि हमें गीताधर्मको सार्वभौम धर्म—सारे ससारका धर्म—मानने और कहनेमे जरा भी हिचक नही होती।

## कर्मका पचड़ा

हाँ, तो जरा उसी बातको देखे कि वह कौनसी है। हमने शुरूमे ही उसकी तरफ श्रद्धा, मानसिक भावना आदिके नामसे इशारा भी किया है और कहा है कि वही चीज कर्मके बाहरी रूपको सोलहो आना पलट देती है—उसे एक निराले और अपने मनके ही साँचेमे ढाल देती है। बात यह है कि सोलहवे अध्यायके आखिरी दो—२३ और २४—श्लोकोमे "य शास्त्रविधिमुत्सृज्य" आदि शब्दोके द्वारा ऐसा कहा गया है कि कोई भी काम—क्रिया या अमल—उसके सम्बन्धमे बने अनुशासन और पद्धतिविधान—शास्त्र—के ही अनुसार किया जाना चाहिये। इसीलिये जो ऐसा नही करता है उसका न तो वह काम पूरा होता है, न उसे चैन मिलता है और न मरनेके बाद या पीछे उसका कल्याण ही होता है। बात भी ठीक ही है। हरेक कामकी निराली तरकीबे और प्रक्रियाये होती है, उसे करनेके नियम-कायदे होते है और बिगडने-बननेकी हालतमे पुरस्कार और दड—अनुशासन—भी होते है। फिर चाहे वह काम लौकिक हो या पारलौकिक, बहुत बडा तथा अहम हो या मामूली। इसलिये उसके विधि-विधानको जानना और तदनुसार ही अमल करना जरूरी हो जाता है। जो लोग ऐसा नही करते उन्हे परीशानी तो होती ही है, उनका काम भी ठीक-ठीक हो नही पाता और पीछे जाने क्या-क्या नतीजे भुगतने पडते है। इसलिये गीताका यह आदेश—उसकी यह चेतावनी—बहुत ही मौजूँ है।

मगर दरअसल यह बात उतनी आसान और सीधी नही है जितनी यकायक मालूम पडती है। गीताके ही अनुसार "कर्मोंकी जानकारी, उनकी

माया, गहन है, बहुत ही कठिन है"—"गहना कर्मणो गति" (४।१७)। फलत जब हम कर्मोंके घोर और दुष्प्रवेश जगलमे घुसते है तो यही नही कि रास्ता नही मिल पाता और भटक जाते है, वल्कि काँटोमे विध जाते, खूँखार जानवरोके शिकार बन जाते और चोर-वदमाशोके शिकजेमें भी फँस जाते है। एक तो कर्म योही ठहरे अनन्त। फिर उनकी जानकारी ठहरी उनसे भी अनन्त। तिसपर भी हरेकके ब्योरे होते ही है। उन्हें जाननेका अवसर सबको मिलता भी नही। ऐसी दशामे हो क्या? क्या लोग कर्मोसे विमुख रहे? क्योकि अधिकाश लोग तो ऐसे ही होगे। मगर तब तो ससारका काम ही रुक जायगा। आखिर यह कैसे और क्यो कहा जाय कि किस कामके विधि-विधानको—शास्त्रविधानको—बखूबी जाननेकी जरूरत है और किसकी नही? सभी तो काम ही—कर्म ही—ठहरे और "गहना कर्मणो गति" तो सभीपर समान रूपसे लागू है। यदि भीतर घुसके देखें तो बात भी ऐसी ही है। अत "को वड छोट कहत अपराधू।" इसीलिये यही मानना होगा कि "ऊपर चढके देखा, घर घर एकै लेखा।" और अगर इस दिक्कतसे बचने और दुनिया-का काम चलानेके लिये लोग योही कर्मोमे लग जायँ, तो उनकी हालत क्या होगी? उनकी गति तो अभी-अभी कह चुके है। यही खयाल करके अर्जुन जैसे सूक्ष्मदर्शीने सत्रहवे अध्यायके पहले ही श्लोकमे चटपट यही बात पूछ ही तो दी। कृष्णने आगेके दो और तीन श्लोकोमे उसका उत्तर देके उसीका विवरण समूचे अध्यायमें किया है।

इस बातपर जरा हम और गौर करे। किसी भी कामके करनेके लिये रास्ते बतानेवाले दोई तरहके हो सकते है। एक तो जीवित मनुष्य और दूसरे उसके बारेमें लिखी लिखाई पुस्तकें, जिन्हें शास्त्र कहते है। अब अगर जिन्दा आदमियोको लेते है तो इतनी लम्बी दुनियामे वे खामखा होगे बहुत ज्यादा। एक-दो या दस-बीससे तो काम चलनेका नही।

और जब दो आदमियोंके भी सभी खयाल और विचार नहीं मिलते, तो फिर हजारोंका क्या कहना ? ऐसा भी होता है कि एक ही आदमीके विचार समय पाके एक ही बातके सम्बन्धमे बदलते रहते हैं और कभी-कभी तो तीन-तीन चार-चार पलटे खा जाते हैं। तब अनेकोंकी बात ही क्या ? इसीको कहते हैं "मुडे मुडे मतिर्भिन्ना" या "अपनी अपनी डफली, अपनी अपनी गीत"। महाभारत के वनपर्व के युधिष्ठिर-यक्ष सम्वाद मे यही बात स्वीकार की गई है कि "एक मुनि ऋषि हो तो उनकी बात मानके काम चले। यहाँ तो अनन्त है—अनेक हैं "नैकोऋषिर्यस्यवच प्रमाणम्" (३१२+११५)। आदमी की यह भी हालत होती है कि उसका दिमाग हमेशा स्वस्थ और एक हालतमे रहता ही नही। तो कब उससे बात मानी जाय, कब नही ? फिर दूरवर्तीको क्या मालूम कि कब उसका दिल-दिमाग ठीक है और उसने जब कहा था तब ठीक था या नही ? और अगर कही देरतक उसके दिमागमे गडबडी रही तो क्या हो ? दुनियाके काम तो उसकी गडबडीके लिये रुके रहेगे नही।

और अगर इस दिक्कतसे बचनेके लिये लिखित वचनो तथा आदेशो-की शरण ले, तो दूसरी पहेली खडी हो जाती है। जिन्दा आदमी तो साफ कह-सुन देता है और अगर कोई बात समझमे न आये तो उससे पूछके सफाई भी कर ले सकते है। मगर मरेका क्या हो ? आखिर पुस्तको और शास्त्रोके वचन तो मरोके ही है न ? वे खुद तो बोल नही सकते। अगर किसी वचनका मतलब समझमे न आये या उलटा ही समझमे आये तो क्या करे ? किससे पूछे ? यदि उसकी टीका-टिप्पणी देखें तो और भी गजब हो। टीकाकार तो आखिर दूसरे ही होंगे न ? फिर क्या मालूम कि उनने लेखकका अभिप्राय ठीक समझा या गलत ? यदि खुद लेखकने ही टीका की हो तो बात दूसरी है। मगर ऐसा होता तो शायद ही है। और अगर टीकामे भी कही शक हो या वही कही समझमे

न आये तो ? आखिर बचन ही तो वह भी ठहरी और जब पहले या मूल के वचनो में ही सन्देह की गुंजाइश है तो बाद वाले (तूल या टीका के) वचनोमे भी क्यो न होगी ? यदि लेखककी ही बातें सुनके ही किसीने टीका लिखी और मौके-मौकेसे उनसे पूछ भी लिया था, तो भी इसका क्या सबूत है कि प्रश्नो का उत्तर ठीक ही मिला या उसने उसे ठीक ही समझा ? पूछने और उत्तर देने वालो का दिमाग बराबर ही ठीक रहा और उसमे कभी गडबडी न रही, यह भी कौन कहे ?

कहते है कि पाणिनीय व्याकरणके सूत्रोपर जो पतञ्जलिका महाभाष्य है उसकी टीका सबसे पहले कैयटने लिखी। उनके बारेमें कहा जाता है कि बरसो यह हालत रही कि जोई बात वह एक दिन लिखते थे उसीको अगले दिन गलत बताके काट देते और फिर नये सिरेसे लिखते थे। तीसरे दिन उसे भी काटके कुछ और ही लिखते। यही हालत बराबर रही। नतीजा यह हुआ कि हाथीके नहानेकी-सी इस हालतसे उन्हे सख्त अफसोस हुआ। वे खिन्न हो गये। नौबत यहाँतक पहुँची कि मरणासन्न दीखने लगे। उसपर उनकी माने सारी बातें जानके किसी अपने मित्रको बुलाया और उपाय पूछा। उसने रास्ता सुझाया कि कैयटको रातमे दही और उडद खिलाया जाय, तो इनकी बुद्धि मन्द हो जायगी। फिर तो जो भी एक बार लिखेगे उसकी भूल शायद ही सूझे और इस प्रकार जिस कामके पूरे न होनेकी चिन्तासे वे मर रहे है वह पूर्ण हो जायगा। यही किया गया और धीरे-धीरे वे स्वस्थ होने लगे। उधर टीका लिखनेमे प्रगति भी काफी हुई। जब कुछ दिनो बाद किसी मित्रने उनसे खुद उनकी हालत पूछी तो उनने उत्तर दिया कि "अब क्या पूछना है ? अब तो बुद्धिको ही चुरा लेनेवाले उडद खा रहा हूँ"—"अधुना शेमुषीमोषान्माषानश्नामि नित्यश"। यही बात औरोकी भी क्यो न होगी ? फिर तो यदि रोज ही शास्त्र बदले तो ?

शास्त्रो और पुस्तकोको भी क्या बात कही जाय ? एक-दो या दस-बीस हो तब न ? यहाँ तो जितने मुनि उतने मत है—जितने लेखक उनसे कई गुना किताबे है। हिन्दुओके ही घरमे एक व्यासके नामसे जाने सैकडो पोथियाँ है। खूबी तो यह कि वह भी एक दूसरेसे नही मिलती है! उनमे भी परस्पर विरोधी बाते सैकडो है, हजारो है। तब किसे माने किसे न माने ? और जब एककी ही लिखी बातोकी यह हालत है, तो विभिन्न लेखकोका खुदा ही हाफिज! उनके वचनोमे परस्पर विरोध होना तो अनिवार्य है! भिन्न-भिन्न दिमागोसे निकले विचार एक हो तो कैसे ? सभी दिमाग एक हो तो काम चले। मगर यह तो अनहोनी बात ठहरी। फलत शास्त्रोके द्वारा किसी कामके भले-बुरेपनका निर्णय भी वैसा ही समझिये।

यदि चुनावके जरिये राय लेके जो बहुमतसे तय पाये वही ीक माना जाय तब तो और भी गडबडी होगी। समूचे ससारका मत तो मिलो नही सकता। एक देश या प्रान्तकी भी यही हालत है। उलटा-सीधा समझाने-वाले तो होते ही है। उसीसे गडबड होती है। जोई लोग एक बार एक तरहकी राय देते है वही औरोके समझानेपर दूसरी बार बदल दे सकते है। उन बेचारोका इसमे कसूर भी क्या ? उन्हे समझ हो तब न ? और अगर यही समझ हो जाय तो फिर शास्त्रकी जरूरत ही क्यो हो ? समझदारोके लिये तो वह चाहिये नही। सबोको समझदार बना देना तो असभव भी है। समझकी कोई नाप-जोख भी तो नही है कि वह कितनी चाहिये, कैसी चाहिये। इसका पता भी कैसे लगेगा ? और अगर यही बात हो जाय तो गलत प्रचारकी महिमा ही चली जाय। एक ही मुकदमेमे ऐसा देखा जाता है कि वह जितने न्यायाधीशोके सामने जाता है उसका उतने ही ढगका मतलब लगता है। इसीलिये महाभारतवाले उक्त वन-पर्वके वचनमे साफ लिख दिया है कि "तर्क-दलीलका तो ठिकाना ही नही,

वह तो दिमागके ही मुताबिक बदलता है। वेदशास्त्रके वचन तो अनेक तरहके हैं—एक ही बातके लिये परस्पर विरोधी वचन मिलते हैं। ऋषि-मुनि तो एक ठहरे नही कि उनकी बातसे काम चल जाय। नतीजा यह है कि धर्मकी हकीकत अँधेरी गुफाके भीतर बन्द चीज जैसी हो गई है। तो फिर उपाय क्या? बडे बूढे जिस रास्ते गये हो या पचोने जो तय किया हो वैसा ही बात करके काम निकालना चाहिये"—"तर्कोऽप्रतिष्ठ श्रुतयो विभिन्ना नैको ऋषिर्यस्य वच प्रमाणम्। धर्मस्य तत्त्व निहित गुहाया महाजनो येन गत स पन्था।"

## श्रद्धाका स्थान

मगर गीताका यह उत्तर नही है। काम चलानेकी या गोल-मोल बाते गीताकी शानके खिलाफ है। उसे तो साफ और बेलाग बोलना है। इसीलिये वह कहती है कि "त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिना सा स्वभावजा। सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति ता शृणु॥ सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत। श्रद्धामयोऽय पुरुषो यो यच्छ्रद्ध स एव स" (१७।२-३)। इसका आशय है, "आदमियोकी श्रद्धा स्वभावत तीन ही तरहकी होती है, सात्विक, राजस और तामस। इस श्रद्धाकी हालत सुनिये। सत्त्वगुणके तारतम्यके हिसाबसे ही सबोकी श्रद्धा होती है और आदमीको तो श्रद्धामय ही समझना होगा। इसीलिये जिसकी श्रद्धा जैसी हो वह वैसा ही समझा जाय।" इसका निचोड यह है कि जिसका हृदय सत्त्व प्रधान है—जिसमे सत्त्वगुणकी प्रधानता है—वह सात्त्विक आदमी है। जिसमे सत्त्व दबा हुआ है और रजोगुणकी प्रधानता है वह राजस है। जिसमे सत्त्वके बहुत ही अल्प होनेके साथ ही रजोगुण भी दबा है और तमोगुण ही प्रधान है वही तामसी मनुष्य होता है। और जैसा मनुष्य वैसी श्रद्धा या जैसी श्रद्धा वैसा ही मनुष्य, यही सिद्धान्त माननीय होनेके

कारण जैसी ही श्रद्धाके साथ काम किया जायगा वैसा ही भला या बुरा होगा। सात्त्विक श्रद्धावाला बहुत अच्छा, राजसवाला बुरा और तामसवाला बहुत ही खराब समझा जाना चाहिये।

इसका मतलब समझना होगा। हरेक कर्मके करनेवालेका वश परिस्थितिपर तो होता नही कि वह विद्वान हो, विद्वानोके बीचमे ही रहे, पढने-लिखने की पूरी सामग्री उसे मिले, उसकी ुद्धि खूब ही कुशाग्र हो, वह भूल कभी करी न सके। ऐसा होनेपर वह मनुष्य ही क्यो हो ? और उसके कर्त्तव्याकर्त्तव्यका झमेला ही क्यो उठे ? वह तो सब कुछ जानता ही है। एक बात और। वह शास्त्रोके वचनोके अनुसार ही काम करे, यह तो ठीक है। मगर सवाल तो यह है न, कि उन वचनोका अर्थ वह समझे कैसे ? किसकी बुद्धिसे समझे ? कल्पना कीजिये कि मनुने एक वचन कर्त्तव्यके बारेमे लिखा है जिसका अर्थ समझना जरूरी है। क्योकि बिना अर्थ जाने अमल होगा कैसे ? तो वह अर्थ मनुको ही बुद्धिसे समझा जाय या करनेवालेकी अपनी बुद्धिसे ? यदि पहली वात हो, तो वह ठीक-ठीक समझा तो जा सकता है सही, इसमे शक नही। मगर करनेवालेके पास मनुकी बुद्धि है कहाँ ? वह तो मनुके ही पास थी और उनके साथ ही चली गई।

अब यदि यह कहे कि करनेवाला अपनी ही बुद्धिसे मनुके वचनका भाव समझे, क्योकि मनुकी बुद्धि उसमे होनेसे तो वह भी खुद मनु बन जायगा और समझनेकी जरूरत उसे रहेगी ही नही, तो दिक्कत यह होती है कि अपनी बुद्धिसे मनुका आशय कैसे समझे ? जो चीज मनुकी बुद्धिमे समाई वही वैसे ही उसकी बुद्धिमे तभी समा सकती है जब उसे भी मनु जैसी ही वुद्धि हो। मगर यह तो असभव है ऐसा कही चुके है। सभी लोग मनु कैसे बन जायेगे ? फलत जैसा समझेगा गलत या सही वैसा ही ठीक होगा। दूसरा उपाय है नही। फिर तो वैसा ही गलत

या सही करेगा भी। किया भी आखिर क्या जाय ? मगर तब शास्त्रकी बातकी कीमत क्या रही ? एक ही शास्त्र-वचनके हजार अर्थ हो सकते हैं अपनी-अपनी समझके अनुसार, और यह एक खासा तमाशा हो जायगा।

एक बात और भी है। यदि मनुकी ही समझके अनुसार चलना हो तो बुरे-भलेका दोष-गुण मनुपर न जाके करनेवालेपर क्यों जाय ? वह अपनी समझसे तो कुछ करता नही। उसकी अपनी समझको तो कर्म-अकर्मके सम्बन्धमे कोई स्थान हुई नही। उसे मनुका आशय ठीक-ठीक समझना जो है। और अगर यह बात नही है तो शास्त्रके आदेश और विधि-विधानका प्रयोजन ही क्या है ? यदि मनुके माथे दोष-गुण न लदे इस खयालमे करनेवालेको अपनी ही बुद्धिसे समझना और करना है तब शास्त्र बेकार है। यह ठीक है कि जिसे अधिकार दिया गया है उसीपर जवाबदही आती है। मगर यह जवाबदेही तो बिना शास्त्रके भी आई जायगी। चाहे शास्त्रकी बाते अपनी अक्लसे समझके करे या बिना शास्त्र-वास्त्रके ही अपनी ही समझसे जैसा जँचे वैसा ही करे। दोनोका मतलब एक ही हो जाता है। फलत शास्त्र खटाईमें ही पडा रह जाता है। यही समझके अर्जुनने शका की थी कि "जो लोग शास्त्रीय विधि-विधानका झमेला, किसी भी तरह, छोडके श्रद्धापूर्वक यज्ञादि कर्म करते है उनकी हालत क्या होगी ? वे क्या माने जायँ—सात्त्विक, राजस या तामस ?" —"ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विता । तेषा निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तम" (१७।१)।

गीतामें इसका जो कुछ उत्तर दिया गया है वह यही है कि शास्त्रकी बात तो योही है। इसीलिये इसे बच्चोंको फुसलानेवाली चीज पुराने लोगोंने मानी है—"बालानामुपलालना"। असली चीज जो कर्मके स्वरूपको निश्चित करती है वह है करनेवालेकी श्रद्धा ही। जैसा हमारी

समझमें—हमारे दिल दिमागमे—आया वैसा ही हमने ईमानदारीसे किया, यही श्रद्धापूर्वक करनेका मतलब है। यह नही कि समझते है कुछ और धारणा है कुछ। मगर डर, शर्म या लोभ वगैरहके चलते करते है कुछ और ही। फिर भी श्रद्धाके नामसे पार हो जायँ। श्रद्धापूर्वक करने-का ऐसा मतलब हर्गिज नही है। तब तो अन्धेरखाता ही होगा और उसीपर मुहर लग जायगी। दिल, दिमाग, जबान और हाथ-पाँव आदिके मेल या सामञ्जस्यकी जो बात पहले कही गई है उसीसे यहाँ मतलब है। उसमे जरा भी फेरफार नहीं होना चाहिये। जितना ही फेरफार होगा उतनी ही गडबड और कमी समझिये। सत्रहवे अध्यायके अलावे ७वेंके २०-२३ तथा नवेके २३-२३ श्लोकोमे भी यही भाव दर्शाया गया है। यदि गौरसे विचारा जाय तो उनका दूसरा मतलब होई नही सकता। उनके बारेमे प्रसगवश आगे भी प्रकाश डाला जायगा। चौथे अध्यायके ११, १२ श्लोक भी कुछ ऐसे ही है।

इससे यह भी हो जायगा कि करनेवाले पर ही उत्तरदायित्व होगा। क्योकि समझके ही साथ उत्तरदायित्व चलता है। इसीलिये रेलसे आदमी कट जानेपर जिनके ऊपर उसकी जवाबदेही नही होती, हालाँकि काटनेका काम वही करता है। किन्तु ्राइवर पर ही होती है। उसे समझ जो है। यही कारण है कि पागल आदमीके कामोकी जवाबदेही उसपर नही होती। वह समझके करता जो नही है। यदि हमने गलतको ही सही समझके ईमानदारीसे उसे ही किया तो हम अपराधी नही हो सकते, यही ीताकी मान्यता है।, यद्यपि ससारमे ऐसा नही होता है। मगर होना तो यही चाहिये। जो कुछ विवेचन अबतक किया गया है उससे तो दूसरी बात उचित होई नही सकती। यह ठीक है कि एक ही काम इस तरह कई ढगसे—यहाँतक कि परस्पर विरोधी ढंगसे भी—किया जा सकता है और सभी करनेवाले निर्दोष और सही हो सकते है

यदि उनने श्रद्धासे किया है जैसा कि बताया गया है। युक्तियुक्त रास्ता तो इसके लिये यही हुई। और यदि यह नई बात है तो गीता तो नई बातें बतानी ही है।

## धर्म व्यक्तिगत वस्तु है

यहाँ तकके विवेचनने यह बात साफ कर दी कि धर्म या कर्त्तव्याकर्त्तव्य सोलहो आना व्यक्तिगत चीज है। न कि वह सार्वजनिक वस्तु है, जैसा कि आमतौर से माना जाता है। जब अपनी-अपनी समझ के ही अनुसार श्रद्धापूर्वक धर्म या कर्म करनेका सिद्धान्त तय पा गया और उसका मतलब भी साफ हो गया कि दिल, दिमाग, जबान और हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियोमे सामञ्जस्य होनेका ही नाम श्रद्धापूर्वक करना है, तो फिर सार्वजनिकताकी गुंजाइश रही कहाँ ? जब श्रद्धा, ईमानदारी और सच्चाईसे (honestly and sincerely) कर्म करनेका अर्थ साफ हो गया और जब पूर्वोक्त चारोके सामञ्जस्य को सच्चाई तथा ईमानदारीसे अलग कोई चीज नही मान सकते, या यो कहिये कि सच्चाई और ईमानदारी उस सामञ्जस्य या मेलसे भिन्न कोई चीज नही, तो यह कैसे होगा कि दो-चारकी भी समझ, श्रद्धा या ईमानदारी एक ही हो। ये सब चीजे, ये सब गुण तो पूर्णरूपसे व्यक्तिगत है। जो समझ हममें है वही दूसरेमे कैसे होगी ? यदि एकाध बातमे दोनोका मेल भी दैवात् हो जाय तो भी क्या ? एकताका तो अर्थ है हर बातमे मिल जाना और यही चीज गैरमुमकिन है। जब श्रद्धा और समझपर बात आ जाय तो क्या यह संभव है कि सभी हिन्दू सध्या पूजा करे या चुटिया रखें, या सभी मुस्लिम दाढी रखें और रोज़ा-नमाज माने ? लोगोको आजाद कर दीजिये और दबाव छोड दीजिये, पाप, नर्क, अज़ाब, दोजख आदिका भय उनके दिमागसे हटा दीजिये और देखिये कि क्या होता है। एक सध्या करेगा तो दूसरा उसके पास

भी न जायगा। तीसरा कुछ और करेगा और चौथेकी निराली ही दशा होगी। यही बात रोजा-नमाजमे भी होगी।

## धर्म स्वभावसिद्ध है

सत्रहवे अध्यायके जिस दूसरे श्लोकको पहले उद्धृत किया है उसमे श्रद्धाको स्वभावसिद्ध "स्वभावजा" कहा है। वह कृत्रिम चीज नही है। डर, भय आदिको तो दबाव डालके या प्रलोभनसे पैदा भी कर सकते है। मगर इन उपायोसे श्रद्धा कभी उत्पन्न की जा सकती नही और वही है धर्मके स्वरूप को ठीक करतेवाली असल चीज। वहाँ और उसके पहले समूचे चौदहवे अध्यायमे तथा और जगह भी ऐसा प्रतिपादन किया गया है कि सत्त्व, रज और तम इन तीन गुणोके ही अनुसार श्रद्धा आदि दिव्यगुण मनुष्योमे पाये जाते है। हममे किसीकी शक्ति भी नही कि उन गुणोको डरा धमकाके या दबाव डालके बदल सके। शरीर, इन्द्रियादिके निर्माणमे जो गुण जहाँ जिस मात्रा मे आ गया वह तो रहेगा ही। हम तो अधिकसे अधिक यही कर सकते है कि समय समयपर दबे रहने या न मालूम होनेपर उसे प्रकट कर दे, जैसे पखेके जरिये हवा पैदा नही की जाती, किन्तु केवल प्रकट कर दी जाती है। हवा रहती तो है सर्वत्र। मगर मालूम नही पडती और पखा उसे मालूम करा देता है, बिखरी हवाको जमा कर देता है। और स्वभाव तो लोगोके भिन्न होते ही है। इसीलिये हरेकके धर्म भी भिन्न ही होगे। दोके भी धर्मो का कभी मेल हो नही सकता।

इतना ही नही। अठारहवे अध्यायके ४१-४४ श्लोकोमे दृष्टान्त-स्वरूप चारो वर्णोके कर्मो और धर्मोका विस्तृत वर्णन है। लेकिन यह कितनी विचित्र बात है कि चारोके धर्मोको अलग-अलग गिनानेके साथ-साथ 'स्वभावज'—स्वाभाविक या स्वभावसिद्ध—यह विशेषण चार बार

आया है। इससे एक ही मतलब हो सकता है और वह यह कि गीताको इस बातपर ज्यादेसे ज्यादा जोर देना है कि वर्णों और आश्रमोके जितने भी धर्म है सबके सब स्वाभाविक है, न कि कृत्रिम, बनावटी या डर भयसे पैदा किये गये। मगर इतनेसे ही सन्तोष न करके ठेठ ४१वे श्लोकमे भी, जहाँ चारोका एक स्थानपर ही नाम लिया है, साफ ही कहा है कि "इन चारोके काम बँटे हुए है और यह बात गुणोके अनुसार बने हुए स्वभावके ही मुताबिक हुई है"—"कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणै"। गुणोमे सत्त्व, रज और तम की कमी-बेशी तथा सम्मिश्रणके अनुपातके ही हिसाबसे लाखो, करोडो, या अनन्त प्रकारके मनुष्योके स्वभाव बने है और इन जुदे-जुदे स्वभावोके ही अनुसार उनके कर्म भी निर्धारित किये गये है।

## स्वाभाविक क्या है?

इस वर्णनमे एक और भी खूबी है। लोग तो आमतौरसे यही समझते है कि ब्राह्मणमात्रके लिये एक ही प्रकारके धर्म है। यही बात क्षत्रियादिके भी सम्बन्धमे समझी जाती है। गीतामे भी इन धर्मोको इसी प्रकार गिनाया है। इसलिये शका हो सकती है कि फिर भी तो यह धर्म सामूहिक ही हो गया। व्यक्तिगत तो रहा नही। क्योकि ब्राह्मण-समूहका एक धर्म हुआ ही और इसी तरह क्षत्रियादिके भी समूहका। यही बात शेख, सैयद, मुगल और पठान की भी हो सकती है और पादरी तथा गृहस्थ क्रिस्तानकी भी। उसके बाद ब्राह्मणादि चारोको मिलाके हिन्दू समूहका भी एक धर्म होई जाता है, शेख, सैयद आदिका मिलाके मुसलमान समुदायका भी और पादरी तथा गृहस्थका मिलाके ईसाईका भी। इस प्रकार घूम-फिरके हम वही पहुँच जाते है जहाँसे चले थे और "है वही पहले जहाँ थे, क्योकि दुनिया गोल है"की बात आ जाती है।

इसीका उत्तर "स्वभावप्रभवैर्गुणै"मे दिया गया है। गीता तो कहती है कि धर्मकी बात भेडो जैसी अन्ध परम्पराकी नही है कि फलाँ ब्राह्मण है, तो फलाँ क्षत्रिय। यह कोई निश्चित और बँधी बँधाई बात नहीं है, कि फलाँ ब्राह्मण हुई, या होगाही और फलाँ क्षत्रिय, जैसा कि आज माना जाता है। आज तो हालत यह है कि कर्म भी नही देखे जाते। किन्तु एक तरहकी दूकानदारी ब्राह्मणादि वर्णधर्मोंके नामपर चल पड़ी है। मगर इस वर्त्तमान परम्पराकी जडमे भी यही बात थी कि कर्मोंमे ही ब्राह्मणादिको जानते या पकडते थे—पकड़ने लगे थे। इसका आशय यह है कि कर्मोंकी एक परम्परा और प्रणाली जारी कर दी गई थी और बचपनसे ही वही कर्म (काम) कराये जाते थे। किसीके स्वभावकी परीक्षा न की जाती थी। माता-पिताको जान लिया और पता पा लिया कि उन्हींसे बच्चा पैदा हुआ है। फिर क्या था ? माता-पिताके ही वर्णके अनुसार बच्चेके कर्म-धर्म ठीक कर दिये गये और इस प्रकार समय पाके वही ब्राह्मण, क्षत्रियादि बना जैसा कर्म करता रहा। मा-बापका भी वर्ण इसी प्रकार उनके मा-बापके ही आधारपर कर्म कराके ठीक किया जाता था। यही शैली थी, यही प्रणाली थी। इसमें कर्मपर ही जोर था, दारमदार था। यही कारण है कि विश्वामित्रको ब्राह्मण माननेमे दिक्कतें पेश आई। क्योकि माता-पिताकी बात उनके बारेमे कुछ दूसरी ही थी। मगर इसमे इतनी तो बात थी कि कर्मोपर जोर था। फलत. जिसमें कर्म न हो वह वर्णच्युत और पतित हो जाता था—वह "धोबीका कुत्ता न घरका न घाटका" माना जाता था। मगर आज तो इतना भी नहीं है। आज तो केवल मा-बापसे जन्म ही काफी है ब्राह्मणादि बननेके लिये !

मगर गीताके अनुसार तो उलटी बात थी, उलटी बात होती है, उलटी बात चाहिये। गीता तो कर्मके पहले मा-बापसे उत्पत्तिको न देख स्वभाव

देखती है। वह तो इस बातकी जांच-पड़ताल करती है कि जिससे किसी भी कर्मकी आशा की जाती है उसका स्वभाव कैसा है। आखिर सियार, हाथी और सिंहका स्वभाव तो एकसा है नहीं। इसीलिये उनके काम भी एकसे नहीं हैं। यदि स्वभावका खयाल न करके "सब धान बाईस पसेरी" तौला जाय और गीदड़से सिंहके कामकी आशा की जाय तो सिवाय नादानी और निराशाके और होगा ही क्या? इसीलिये गीता सबसे पहले स्वभाव देखती है। वह स्वभावके मूलमें भी गुणोंको देखती है जो शुरूमें ही शरीर-रचनामें शामिल हुए थे। क्योंकि स्वभावके नामपर गड़बड़ हो सकती है और कोशिशसे सिखा-पढ़ाके थोड़े समयके लिये कोई भी किसी कामके लिये तैयार किया जा सकता है—कोई भी "ठोक-पीटके तत्काल वैद्यराज" बनाया जा सकता है और स्वभाव नाम इस बातको भी दिया जा सकता है। आखिर पहचान हुई क्या? इसीलिये गीता मूल-भूत गुणोंको ही पकड़ती है जो कृत्रिम नहीं है। फलतः कल्पित या चन्दरोजा चीज कबतक टिक सकेगी? साराश यह कि, बहुत गौरसे दीर्घ कालतक पर्यवेक्षणके बाद ही स्वभावका निश्चय होता है, ऐसी बात गीताको मान्य है। उसके बाद ही उसीके अनुसार कर्म कराया जाना—किया जाना—चाहिये, ऐसी मान्यता गीताकी है और अन्ततोगत्वा वर्णोंका अन्तिम निश्चय उसीसे होता है। महाभारतमें लिखा है कि पहले कोई वर्ण न थे—सब एक ही समान थे, पीछे स्वाभाविक कर्मोंके अनुसार ही वर्ण बने। ज्यादेसे ज्यादा यही कि सभी ब्राह्मण ही थे—पीछे वर्ण विभाग हुआ—"न विशेषोऽस्ति वर्णाना सर्व ब्राह्ममिद जगत्। ब्रह्मणा पूर्व सृष्ट हि कर्मभिर्वर्णता गतम्" (मोक्षधर्म १८८।१०)। फिर वर्णोंका विवरण भी दिया है। इससे भी यही बात सिद्ध होती है।

इस तरह हमने देखा कि गीता कर्मोंसे वर्णोंको पकड़नेके बजाय गुणोंके अनुसार बने स्वभावसे ही कर्मोंको पकड़ना उचित समझती है।

हमारा तो ऐसा खयाल है कि गीताके अलावे औरोकी भी मान्यता पहले ऐसी ही थी। उसीका पतन होते-होते वर्त्तमान दशाको यह धर्म पहुँच गया है। लेकिन गीताके बारेमे तो शककी जगह हुई नही कि उसने यही माना है। ऐसी दशामे धर्मको सामूहिक रूप मिल कैसे सकता है ? यह तो जरूरी नही कि ब्राह्मणका बच्चा ब्राह्मण ही हो, यदि ठीक-ठीक गुण और स्वभावकी पाबन्दी की जाय और उसी कसौटीपर कसा जाय। यह भी नही कि अगर ब्राह्मणका लडका ब्राह्मण हो भी गया तो भी बाप और बेटा—दोनो ही—एक ही तराजूपर सोलह आना पाव रत्ती ठीक उतर जायँ—बराबर हो जायँ। यह तो तभी सभव है जब दोनोकी समझ एव श्रद्धा और दोनोके स्वभाव एक हो जायँ। मगर ऐसा होना गैरमुमकिन है यह पहले ही कहा जा चुका है। यह दूसरी बात है कि जैसे एक ही कक्षामे पढनेवाले छात्रोमे समता न होनेपर भी उनका एक वर्गीकरण व्यवहारके लिये होता है वैसा ही यहाँ भी होता रहा हो और आगे भी हो। मगर उसका मतलब यह तो नही है कि समानता और एकता हो गई। योग्यता तो सबोकी भिन्न-भिन्न रहती ही है, रहेगी ही। एक वर्ण कहनेका तो मतलब केवल यही है कि उस तरहके कर्मोंके लिये कौनसे लोग यत्न करे और कौन उनके योग्य है यह मालूम हो जाय।

जिस प्रकार किसीकी निजी चीज होती है, अपनी समझ तथा योग्यता होती है, अपना शरीर और स्वास्थ्य होता है, न तो उसपर किसीका अधिकार होता है और न उसकी अपनी चीजसे एकता और समानता किसी औरकी वैसी ही चीजसे होती है। ठीक उसी प्रकार धर्मकी भी बात है। वह भी हरेक आदमीका अपना निजी और व्यक्तिगत पदार्थ है। उसमे किसीका साझा या हिस्सा नही है। धर्म सामूहिक—समूह-की—चीज न होकर व्यक्तिगत है, हर व्यक्तिका जुदा-जुदा है। अगर दो आदमी एक ही ढगसे खाना खाते हो और एक ही चीज खाते हो, तो

भी दोनोके खानेकी क्रिया दो होगी, न कि एक। धर्मकी भी यही बात है। यह बात गीताने निर्विवाद सिद्ध कर दी है। कमसे कम अपना मन्तव्य उसने यही बता दिया है। यदि यही मन्तव्य संसारमे व्यापक हो जाय, सार्वभौम हो जाय—यदि यह गीताधर्म (गीताका बताया धर्म) ससार मान ले—तो धर्मके झगडे रहने ही न पाये। इनके करते आज जो हमारा देश नर्क बन रहा है और गजबकी बलामे आ फँसा है, वह तो न रहे। आज जो भाईका गला भाई और पडोसीका पडोसी धर्मकी वेदीपर चढानेको आमादा है, वह तो न हो। धर्मकी यह नापाकीजगी तो मिट जाय।

इसीके चलते—धर्मको जो लोगोने सामूहिक चीज समझ उसीके नामपर भेडोकी तरह लोगोको मूडना शुरू कर दिया है उसीके करते—तो राजनीति भी पनाह माँगती है। पण्डित, मौलवी और पादरी हजारो लोगोको योही मूँडके जाने क्या-क्या अटसट सिखाते फिरते है। वे लोग कमानेवाली जनताको—किसानो और मजदूरोको—अपने पाँवो खडे होने देना नही चाहते इसी धर्मके नामपर और इसीकी ओटमे। जब किसानो और मजदूरोमे वर्गचेतना पनपती है, शुरू होती है और प्रगति करती है तो इन धर्माचार्योंके घरमें जाने क्यो आतक छा जाता है और ये मातम मनाने लगते है। इनके पास कोठियाँ, कल कारखाने और जमींदारियाँ न भी हो—और ज्यादातरके पास तो ये चीजे होती भी नही, उनका काम तो चेलो और मुरीदोकी 'पूजा' और चढावेसे ही चलता है—तो भी ये जाने क्यो घबरा जाते है और नगे पाँव दौड पडते है किसान मजदूरोको उलटा-सुलटा समझाने और गुमराह करनेके लिये। कर्म, तकदीर, भाग्य और भगवान ही तो धर्मके स्तम्भ और पाये माने जाते है और उन्हीके नामपर किसानो तथा मजदूरोको ये भलेमानस वर्ग-सघर्ष और हककी लडाईसे सामना रोकते है। सीधे और भोले लोग तो इन्हे

पवित्र, धर्ममूर्त्ति, भगवानके दूत और पारसा समझते है—कम से कम उनका यही विश्वास होता है। यही कारण है कि ये गरीब ठगे जाते है और मालदार-जमीदारोके घर घीके चिराग जलते है। धर्मके नामपर यदि और नही हो सका तो किसानो और मजदूरोके सघ ही अलग-अलग बनवा दिये जाते है। जब कभी वर्ग-सघर्ष चालू हो तो ये धर्माचार्य कहे जानेवाले पादरी, पुरोहित और मुल्ला अपनेको धर्मके ठेकेदार कहके नियमत धनियो और मालदारोका ही साथ देते है और शोषितो एव पीडितोको छोड देते है, हालाँकि वही इनके चेले होते और उन्हीसे इनकी गुजर होती है।

## २. मार्क्सवाद और धर्म

"Religion cannot be stopped Conscience cannot be stilled. Religion is a matter of conscience and conscience is free. Worship and religion are free" (Stalin to Dean of Canterbury.)

**"धर्मको रोका नहीं जा सकता। अन्तरात्मा या हृदयको दबाया नहीं जा सकता। धर्म तो हृदयकी चीज है और हृदय है स्वतंत्र। इसीलिये पूजा और धर्म स्वतंत्र है।" (स्तालिनका उत्तर)।**

यही कारण है—यह एक प्रमुख कारण है—जिसके करते मार्क्सवादमे धर्मका विरोध पाया जाता है। धर्मको मानवसमाजके लिये अफीम (Religion is the opium of the people) बतानेकी यही असली वजह है। क्योकि शोषितो तथा पीडितोंपर धर्माचार्योंका जादू चल जाता है और उनके उत्थानके लिये होनेवाला सारा यत्न बेकारसा हो जाता है। ऐसी परीशानी होती है कि कुछ कहिये मत। हम मानते है कि धर्मके सम्बन्धमे मार्क्सवादकी निश्चित बाते है और पक्के मार्क्सवादी

इस मामलेमे बुनियादी तौरपर अलग जाते और कोई रिआयत करनेको तैयार नही है। लेनिनने धर्म-सम्बन्धी अपने एक लेखमे कहा है कि "मार्क्सवाद तो भौतिकवाद है। इसीलिये वह बेमुरव्वतीके साथ धर्मका विरोध करता है"—"Marxism is materialism. As such it is ruthlessly hostile to religion" मगर घबरानेका खयाल नही है। यदि ठडे दिलसे विचारे तो पता चलेगा कि इसकी तहमे और चीज है। सभी सिद्धान्तकी स्थापना और प्रतिपादनके मूलमे कुछ खास बाते और परिस्थितियाँ रहती है और अगर हम उनपर खयाल न करे तो गलती कर सकते है।

मार्क्सवादका मूल सिद्धान्त द्वन्द्ववाद (dialectics) है और उसका यदि अबाध प्रयोग किया जाय—और दूसरी बात हो भी नही सकती—तो श्रेणीविहीन समाजके बन जानेके बाद भी यह द्वन्द्ववाद तो चालू रहेगा ही। उसका परिणाम क्या होगा, कौन कहे? यदि द्वन्द्ववादमे प्रगति होती है तो यह तो मानना ही होगा कि वर्गविहीन समाज सभी प्रगतिके साधनोसे पूर्णरूपेण सम्पन्न होनेके कारण और भी उन्नति करेगा, सभी तरहकी उन्नति—शारीरिक, मानसिक, वैज्ञानिक आदि—जिसके फलस्वरूप कौन-कौनसे अज्ञात तत्त्व विदित होगे यह कौन बताये? मार्क्सवाद तो श्रेणीविहीन समाज तक ही फिलहाल रुक जाता है। दर-असल बात यह है कि ज्ञानका ठेकेदारी ले लेना अच्छा नही, बुद्धिमानी नही। यदि उस समय ईश्वर या आत्माका पता लग जाय तो क्या इनकार किया जायगा, सिर्फ इसीलिये कि मार्क्सवाद उसे नही मानता? बुद्धिमानी इसीमे है कि भविष्यके झमेलेमे न पडे और उसका रास्ता किसीके भी लिये बन्द न करे—चाहे वह ईश्वरवाद बतानेवाला हो या अनीश्वरवादी हो कहनेवाला हो। हाँ, आज इसके करने दिक्कत है, आज ईश्वरवाद प्रगतिका बाधक है। क्योंकि जिस ज्ञानपर ही उसका टिक सकना या न

टिक सकना सभव है और उचित भी है उसीका बाधक वही बन गया है ! जिसे ज्ञानस्वरूप कहा जाय वही ज्ञानप्रसारका विरोधी ! मगर स्थिति कुछ ऐसी ही बेढब है। इसलिये प्रगति चाहनेवालोको सारी शक्ति लगाके उसका बेमुरव्वतीसे विरोध करना चाहिये—ऐसा करना चाहिये कि किसी भी तरह वह हमारे रास्तेमे अडगे डाल न सके। बस ! मेरे जानते यही मार्क्सका आशय है, होना चाहिये और लेनिनके उक्त वाक्यो का यही अर्थ मै समझता हूँ। इसीलिये इसमे साथ भी देता हूँ। आगे यह बात और भी साफ होगी।

लेनिन उसी लेखमे आगे लिखता है, "The fight against religion must not be confined to abstract preaching. The fight must be linked up with the concrete practical class movement directed towards eradicating the social roots of religion"

"No educational books will obliterate religion from the minds of those condemned to hard labour of capitalism, until they themselves learn to fight in a united, organised, systematic and conscious manner the roots of religion, the domination of capital in all its forms."

"धर्मके विरुद्ध लडी जानेवाली लडाई सिर्फ दिमागी बहस-मुबाहसे तक ही परिसीमित न होनी चाहिये। किंतु धर्म की जडके रूपमे जो सामाजिक बाते है उन्हे खत्म करनेके लिये जो वर्ग आन्दोलन और सघर्ष चलें—चलाये जायँ—उनके साथ इसे जोड़ देना चाहिये।"

"धर्मकी जो जड पूँजीवादकी अनेक सूरतोके रूपमे कायम है उसे मिटानेके लिये सयुक्त, सगठित, नियमित और समझदारीके साथ लडाई

चलाना जबतक वे सीख न जाये तबतक पूँजीवादके नीचे सख्त मिहनत ही जिनके पल्ले पडी है उन लोगोके दिमागसे कोई भी पढने-लिखनेकी किताब इस धर्मको जडमूलसे निकाल नही सकती है।"

लेनिनके ये उद्धरण इसलिये महत्त्व रखते है कि वह इस बातपर जोर देते है कि धर्मके खडन-मडनके झमेलेमे पडनेके बजाय शोषितोका वर्गसघर्ष ही खूब सगठित रूपसे बराबर चलाना और उनमें वर्गचेतना पैदा करना यही बुनियादी चीज है। वह बात नही चाहता, काम चाहता था। उसकी आँखे तो बडी तेज थी। वह बहुत ही दूरतक देखता था। उसने समझ लिया कि धर्म और ईश्वरके खडन-मडनकी वितडामे पडके जनसेवक लोग कहीके न रहेंगे—भटक जायेगे। काम तो इससे कुछ होगा नही। केवल अक्लकी बदहजमी मिटेगी। हाँ, सीधे-सादे जन-साधारण विरोधी जरूर हो जायँगे। धर्मध्वजी—धर्मके ठेकेदार—उन्हें जनसेवको और क्रातिकारियोके खिलाफ आसानीसे भडका देंगे। क्योकि तर्क दलीलोकी पेचीदगी तो वे समझ पायेंगे नही। इधर मुल्ले लोग अपनी चिकनी-चुपडी बाते आसानीसे समझाके उन्हें विरोधी बना देंगे। यदि नास्तिक और धर्मविरोधी लोग अपनी दलीलके साथ-साथ गरीबोकी कोई ठोस भलाई कर पाते और धर्मध्वजी लोग नही कर सकते, तो बात दूसरी होती। क्योकि तब तो जनसाधारण आसानीसे समझ जाते कि हो न हो यही हमारा मित्र है। धर्मके विरुद्ध बोलता है तो क्या? काम तो हमारा ही करता है न? यदि दो-चार लात मारके भी गाय काफी दूध दे, तो बुरा कौन माने? यही वजह है कि लेनिन उस सघर्षपर ही जोर देता है जिससे जनताको लाभ होता है और वह खिच आती है। लडाई ही ऐसी चीज है जो उसे अपनी ओर खीच लेती है।

एक बात और है। जब जनता दिमागी बारीकियोको समझ पाती ही नही और हमें उसीको समझाके उठाना है, तो ऐसा क्यो न करे कि

दानो पक्षवाले—आस्तिक-नास्तिक—साफ ही कह दे कि इस झगडेसे क्या काम ? धर्म-वर्म भी तो लोगोके हितार्थ ही है और यहाँ जीते जी नारकीय यत्रणा भोगके स्वर्ग जानेके वजाय जो यही आराम मिले वही ठीक। आखिर स्वर्गके लिये कोई मरना तो चाहता है नही। इसलिये आइये पहले यही लोगो को आराम पहुँचाने के लिये ही कुछ कर ले, लोगोकी तरफसे उनके हकोके लिये लड ले। हम जानते है कि धर्मके ठेकेदार ऐसा नही करेगे। मगर जनसेवक उन्हे ऐसा करनेके लिये मजबूर क्यो न करे ? इससे लोगोके सामने उनका पर्दाफाश हो जायगा, ज्योही उनने इसमे आनाकानी या वहानेवाजी शुरू की। हम तो उनसे और दूसरे लोगोसे भी कह देगे कि हमारा विश्वास है कि धर्मवादी लोग शोषकोका ही साथ खामखा देते है—उनके दलाल होते है और कमानेवालोको धोका देते है। फिर ऐसे लोगोका और उनके इस धर्मके सिद्धान्तका विरोध करे न तो और क्या करें ? न वे दूसरी वात कर सकते, सिवाय शोषकोके साथ देनेके और न हम धर्म और ईश्वरके विरोधके जरिये उनका विरोध करने और उनकी जड उखाडनेसे रुक सकते। हाँ, यदि उनकी वात सच्ची है और जनहितकी है तो आये पहले यही जनसेवा कर ले। तब माना जायगा कि मरनेपर भी उनका धर्म लोगोको लाभ पहुँचायेगा।

यह ऐसी वात है कि लोगोके दिलमे जम जायगी। इनसे धर्माचार्योकी कलई भी खुल जायगी और लोग उन्हें छोडके हमारे साथ आ जायेंगे। यही होगा। दूसरी वात हो नही सकती। इस तरह हम विजयी होंगे। यदि कहा जाय कि धर्मवाले लोग भी वर्ग-सघर्ष करेगे, तो यह असभव वात है। वह इक्के-दुक्के कही कुछ भले ही कर ले। मगर सर्वत्र डटके ऐसा कभी कर नहीं सकते। नही तो फिर उनका धर्म ही डूब जायगा—उनके धर्मका सारा आधार ही खत्म हो जायगा। यह काम वही कर

सकते हैं जिनमे आत्मविश्वास हो, जो अपने ही यत्नोसे सब कुछ कर डालनेकी हिम्मत और विश्वास रखते हो। मगर धर्मवाले तो दैव, तकदीर, कर्म, पूर्व जन्मकी कमाई और भगवानपर ही भरोसा रखते है। उनका अन्तिम दारमदार उन्हीपर होता है। भाग्यमें जो बदा होगा सोई होगा, भगवानकी मर्जी होगी वही होगी, जब यही मानना है तो जमके प्राणपनसे कौन लडे ? और ये मुफ्तकी हलवा पूडी उडाके तोद फुलानेवाले लडेंगे ? लेकिन यदि असभव भी सभव हो जाय और वही लोग सर्वत्र वर्गसघर्ष सफलतापूर्वक चलाने लगे तो चिन्ता क्या ? हमारा काम तो हो गया। मार्क्सवाद जो चाहता है वह हो गया ! हमारा काम है वर्गविहीन समाज बनाना न कि ईश्वरको मिटाना या उसके पीछे लाठी लिये फिरना ! यदि धार्मिकोने ही ऐसा समाज बनाया तो भी हमारी जीत हो गई ! हमे तो ऐसी दशामें यह कहनेका भी हक है, हम तो तब ऐसा भी कह सकते है कि धर्ममें भी जो गलत चीज है वह भी इसी सघर्षमें ऐसे ही मिट जायगी जैसे श्रेणियाँ मिटेंगी। फिर शुद्ध समाजकी तरह कोई शुद्ध धर्म भी अन्तमे बन जाय तो हर्ज क्या ?

लेनिन या मार्क्स और एगेल्सके मतमें एक और भी खूबी है कि उसमे वर्गसघर्षकी कसौटीपर धर्मको कसते है। हमने तो कही दिया है कि भविष्यका रास्ता मत बन्द कीजिये। हाँ, इस समय ईश्वर और धर्मका रास्ता रोक दीजिये। भविष्यसे हमारा मतलब है श्रेणीविहीन समाज बन जानेके बादसे। हमारे कलेजेके पास ही फोडा हो गया है और उसमे नश्तर लगना जरूरी है। नश्तर लगे भी जरूर, ताकि हम बचे। मगर ऐसा नश्तर हर्गिज न लगे कि कलेजा ही कट जाय और हमी मर जायँ। सदाके लिये धर्म या ईश्वरको इजाजत ही न देना और उन्हें आँख मूँदके मार देना कलेजेका चीरना हो जायगा। हम उससे बचे तो क्या बुरा। हम बिच्छूका डक बेमुरव्वतीसे निकाल ले जरूर। मगर उसे

जानसे मारने तक क्यो परीशान हो ? हमे तो लोगोको उसके डकसे ही भविष्यमे बचाना है न ? या कि उसका खून भी पीना है ? हाँ, तो फोडेपर नश्तर जरूर लगाये। आज श्रेणीयुक्त समाजमे धर्मके लिये स्थान नही है, ऐसा जरूर कहे और खुशीसे कहे। मगर कहे या न कहे, हर हालतमे वर्गसघर्ष जरूर करे, ताकि ईश्वरवादियोकी पोल खुल जाय। जितनी जरूरत है उतना ही कहे और करे। बहके न। जरूरतसे ज्यादा न बढे जिससे कही बहक जायँ। इससे सजग रहे। हमारे जानते यही मार्क्सवादका इस सम्बन्धका निचोड है।

मगर आइये, जरा और भी विस्तारके साथ लेनिनके इस सम्बन्धके वचनोपर विचार कर ले जो उसी लेखमे पाये जाते है। वह लिखता है—

"The workers in a certain district and in a certain branch of industry are divided, we will assume, into a progressive section of class conscious Social Democrats, who are, of course, atheists, and a rather backward section, which still maintains contact with the rural districts and the peasantry, which believes in God, goes to church and is perhaps under the direct influence of a priest, who, we will assume, has organised a Christian Labour Union. Let us assume further that the economic struggle in this district has led to a strike The duty of the Marxist is to place the success of this strike in the forefront and to prevent the workers from being split up into atheists and Christians. Atheist propaganda in such circum-

going on and which will train and educate the masses better than anything else. A Marxist should take into consideration all the concrete circumstances, should always be able to see the dividing line between anarchism and opportunism (the dividing line is relative, flexible, changeable, but it exists), should take care not to fall into the abstract, verbal, empty 'revolutionism' of the anarchist, or into the vulgar opportunism of the petty bourgeois or liberal intellectual, who shirks from the fight against religion, who evades this task, who reconciles himself with the belief in God, who is guided not by the interests of class struggle, but by the petty pitiful fear of offending, repelling or scaring off others by the wise precept, "Live and let live" etc

All other questions that rise in connection with the attitude of Social-Democrats towards religion should be decided from the point of view outlined above. For example, it is frequently asked whether a clergyman may join the Social Democratic Party and usually this question is answered in the affirmative, without any reservation, and reference is made to the practice of Social Democratic Parties in Europe. This practice is a

to be expelled. We must not only admit; we must do everything possible to attract workers who retain their belief in God into the Social Democratic Party. We are resolutely opposed to offending But we attract them to our Party in order to allow them to fight against it We permit freedom of opinion inside the Party, but within certain limits defined by the freedom of forming groups. We are not obliged to go hand in hand with those who advocate views rejected by the majority of the Party."

इसका आशय यह है, "कल्पना करे कि एक इलाकेके किसी कारखानेके मजदूरोके दो दल हो गये है। एक दल है प्रगतिशील एव वर्गचेतनायुक्त सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीवालोका, जो बेशक नास्तिक है। दूसरा दल है पिछडे हुओका, जिनका सम्बन्ध देहाती इलाको और किसानोके साथ अभी कायम है, जो ईश्वरमे विश्वास रखते है और गिर्जाघरोमे जाते है और जिनपर वहाँके पादरीका खूब असर है। हम यह भी मान ले कि उस पादरीने वहाँ एक "क्रिस्तान-मजदूर-सघ" भी सगठित कर रखा है। हम यह भी कबूल कर ले कि उस इलाकेके मजदूरोकी आर्थिक लडाईके परिणाम स्वरूप वहाँ हडताल हो गई है। उस दशामे वहाँ मार्क्सवादीका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उस हडतालकी सफलताको ही मुख्य बात माने और इस बातकी कोशिश करे कि उस सघर्षसे सम्बन्ध रखनेवाले मजदूरोमे क्रिस्तान और नास्तिक— स तरहके—दो दल बनने न पाये—हडतालके समय इस तरहकी दलबन्दी होने न पाये। ऐसी परिस्थितिमे तो नास्तिकताका प्रचार केवल व्यर्थ ही न होगा; किन्तु हानिकारक

भी होगा—हानिकारक इस मोटी दृष्टिसे नहीं कि पिछड़े विचारके मजदूर वहां भड़क जायेंगे, या चुनावके समय नास्तिक प्रचारकोंको उनका वोट न मिलनेसे मजदूर-संघके चुनावमें वे हार जायेंगे। किन्तु वास्तविक वर्गसंघर्षकी प्रगतिकी दृष्टिसे भी वह हानिकारक होगा और वर्गसंघर्षकी वह प्रगति ही, वर्त्तमान पूंजीवादी समाजकी हालतमें, नास्तिकताके केवल प्रचारकी अपेक्षा सौ गुना प्रभावशाली रीतिसे क्रिस्तान मजदूरोंको सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी तथा नास्तिकवादमें प्रवेश करायेगी। बल्कि वैसी दशामें तो नास्तिकताका प्रचारक उन पादरियोंका ही मददगार बन जायगा जो सबसे अधिक यही बात चाहते हैं कि हड़तालके समय भी मजदूरोंमें हड़तालकारी और उसके तोड़नेवाले ऐसे दो दल न होकर नास्तिक और आस्तिक (क्रिस्तान) यही दो दल कायम रहें। उस हालतमें ईश्वरके विरुद्ध बेमतलबसे युद्ध चलानेवाले अराजक लोग तो पादरियों और पूंजीवादियोंकी ही मदद करेंगे, जैसा कि वे लोग सचमुच सदा ही ऐसी सहायता करते ही हैं।

"लेकिन मार्क्सवादीको तो भौतिकवादी होना होगा—अर्थात् वह ईश्वरका शत्रु तो होगा। मगर होगा भौतिकवाद तथा द्वन्द्ववादकी ही दृष्टिसे। इसका आशय यह है कि उसे धर्मविरोधी लड़ाईको केवल एक दिमागी चीज नहीं बनाना होगा और न उसे केवल नास्तिकताकी सैद्धान्तिक दृष्टिसे चलाना ही होगा—ऐसी सैद्धान्तिक दृष्टिसे जो हमेशा हरेक परिस्थितिमें समान-रूपसे लागू होती है। किन्तु स्थूल सांसारिक (बाहरी हिताहितकी) दृष्टिसे ही चलाना होगा, जिसका आधार होगा वह वर्गसंघर्ष जो सचमुच चालू है और जो जनसमूहको और उपायोंकी अपेक्षा कहीं अच्छी तरह शिक्षित तथा कुशल बनायेगा। मार्क्सवादीको चाहिये कि वह वास्तविक परिस्थितिका खयाल करे, वह इस योग्य हो कि स्पष्ट समझ सके कि कहांतक जानेपर अराजकवाद और अवसरवादसे

मेल हो जायगा (एक ऐसी सीमा जरूर होती है जो अराजकता तथा अवसरवादको पृथक् करती है। यह ठीक है कि वह सीमा आपेक्षिक है, उसका सकोच विस्तार होता रहता है, और वह बदलती रहती है), मार्क्स-वादीको हमेशा सतर्क रहना चाहिये, ताकि वह अराजकतावादियोके खयाली, जबानी और खोखले क्रातिवादमे कही फँस न जाय, या कही ऐसा न हो जाय कि वह टुटपुँजिये बाबुओ या उदारतावादी दिमागदारोके भद्दे अवसरवादका शिकार ही हो जाय। ये टुटपुँजिये बाबू या उदार दिमागदार ऐसे होते है कि धर्म-विरोधी सघर्षोसे भागते और पिंड छुडाते फिरते है और आस्तिकताके साथ उनका समझौता हो जाता है। उन्हे इस बातमे पथदर्शक वर्गसघर्षका स्वार्थ तो होता नही। किन्तु वे तो हमेशा इसी तुच्छ एव दयाजनक डरसे काँपते रहते है कि कही और लोग रज न हो जायँ, हट न जायँ या भडक न उठे। वे तो इसीमे बुद्धिमानी समझते है कि खुद भी कायम रहे और दूसरे भी बने रहे।

"इस सम्बन्धमे जो भी दूसरे प्रश्न उठते है कि सोशलडेमोक्रेटिक पार्टीके लोग धर्मके बारेमे कौनसा रुख अख्तियार करे उन सबोका निर्णय इसी ऊपर बताये सिद्धान्तके ही आधारपर दिया जाना चाहिये। दृष्टान्त-स्वरूप प्राय ऐसा पूछा जाता है कि पादरी लोग सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीके सदस्य बन सकते है या नही ? इसका उत्तर भी बिना आगा-पीछा किये ही आमतौरसे 'हाँ' दिया जाता है और कहा जाता है कि यूरोपकी ये पार्टियाँ ऐसा ही तो करती है। असलमे यूरोपमे जो यह रीति चल पडी वह सिर्फ इसीलिये नही कि मजदूर आन्दोलनमे मार्क्सके मन्तव्योका प्रयोग किया गया था। बल्कि इसका कारण पश्चिमकी कुछ खास ऐतिहासिक परिस्थितियाँ थी, जो रूसमे नही है। फलत.'हाँ'वाला उत्तर यहाँ ठीक नही है। हम एक ही साँसमे सबोके लिये यह नही कह सकते कि किसी भी हालतमे कोई भी पादरी इस पार्टीका मेम्बर हो नही सकता। लेकिन

दूसरी ओर हम विरोधमे भी एक निश्चित उत्तर नही दे सकते। यदि कोई पादरी राजनीतिक कामोमें हमारा साथ देना चाहता है, हमारी पार्टीका काम समझ-बूझके करता है और पार्टीके कार्यक्रमका उल्लघन नही करता, तो उसे हम अपनी पार्टीमे ले सकते है। क्योकि उस दशामें हमारे कार्यक्रमके सिद्धान्तो और भावोके साथ अगर उस पादरीके धार्मिक विचारोका कोई विरोध हो तो यह केवल उस पादरीके ही विचारनेकी बात है। किसी राजनीतिक सस्थाका यह काम हर्गिज नही है कि वह अपने प्रत्येक मेम्बरोमें यह बात ढूँढती फिरे कि आया उसके कार्यक्रमके साथ उनके दूसरे विचारोका विरोध तो नही है। लेकिन बेशक ऐसे पादरी तो यूरोपमे भी बहुत ही कम मिलते है और रूसमे तो वे शायद ही मुश्किलसे मिल सकें।

"विपरीत इसके यदि कोई पादरी सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीमें दाखिल होके अपना प्रधान काम अपने धार्मिक विचारोके प्रचारको ही बना ले, तो बेशक उसे पार्टीसे निकाल देना ही होगा। हमे सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीमे मजदूरोको सिर्फ दाखिल करना ही नही होगा। किन्तु जो मजदूर ईश्वरमे विश्वास करते है उन्हें भी अपनी ओर खिंच आनेके लिये सभी सभव उपाय करने होगे। हम किसीको भी भडकाने या रज करनेके पक्के विरोधी हैं। लेकिन हम तो उन्हे अपनी पार्टीमें इसीलिये खींचते है कि उन्हे मौका दें कि वे हमसे (पार्टीसे) लड ले। हम तो पार्टीके भीतर विचार-स्वातत्र्यका मौका देते ही है। मगर इस स्वतत्रताकी कुछ सीमाये है जिनका निर्धारण पार्टीके भीतर छोटे-मोटे दल बननेके नियमोसे ही हो जाता है। पार्टीके बहुमतने जिन विचारोको नही माना हो उन्हीका जो प्रचार करे उनसे हमारा साथ नही हो सकता।"

हमने जानबूझकर यह लम्बा अवतरण दिया है जिससे धर्मके इस पेचीदे मामलेपर काफी प्रकाश पड जाय। इसमे कई ऐसी बाते है जो

बहुत बडा महत्त्व रखती है। इसलिये उनपर विशेष खयाल होना जरूरी है। लेनिनने यह साफ कह दिया है कि हम खयाली और सैद्धान्तिक रूपसे ही नास्तिकता या अनीश्वरवादके समर्थक नही है। बल्कि हम तो इस निरी दिमागी दुनियाके विरोधी है। इसमे तो उसे अवसरवाद और अराजकवाद साफ ही मालूम होता है। इसलिये भी उसने इसका विरोध किया है।

इसीके साथ वह यह भी साफ कहता है कि हमारा (मार्क्सवादका) अनीश्वरवाद तो ऐसा नही है जो हर समय, हर परिस्थितिमे लागू किया जा सके। यह कोई कोरी सिद्धान्तकी चीज नही है। यह तो सिर्फ व्यावहारिक बात है। इसीलिये इसका प्रयोग व्यावहारिक परिस्थितिको देखनेके बाद ही खूब जानबूझके करना होगा। कही ऐसा न हो कि हमने परिस्थिति तो इसके अनुकूल देखी और इसे लागू भी किया। मगर ऐसा हो गया कि हमने आगेका मौका समझा नही कि अब इसे बन्द कर देना होगा, क्योकि इसकी सीमा पूरी हो रही है। नतीजा यह हुआ कि अवसरवादमे हम जा फँसे! इसीलिये हमेशा सतर्क रहनेपर उसने जोर दिया है।

वह यह भी कहता है कि हमे तो वर्गसघर्ष देखना है—हमारे लिये तो नास्तिकवाद असल चीज है नही। वह यदि कुछ भी हो सकता है तो ज्यादेसे ज्यादा यही कि वर्गसघर्षको निर्विघ्न चालू करनेमे मददगार हो जाय। मगर हमारा साध्य या असली लक्ष्य तो है वह वर्गसघर्ष ही। इसलिये हमे बराबर यह खयाल रखना होगा कि कही हमारे नास्तिकवादसे उलटे उसीमें हानि न पहुँच जाये। कही ऐसा न हो कि साधन ही साध्यकी छातीपर कोदो दलने लग जाय—कही देवीसे बकरा ही बडा न हो जाय और ऐसा न हो कि देवीकी छातीपर वही चढ बैठे। यह सबसे मार्केकी बात उसने कही है।

वह तो वर्गसघर्षका दृष्टान्त देके कहता है कि हडताल वगैरहके समय नास्तिकताका प्रचार उसके लिये घातक होता है। हडतालके समय तो मजदूरोमे एकता चाहिये—दलबन्दी नही चाहिये। यदि कोई भी दलबन्दी उस समय हो सकती है, तो ऐसी हो जिसपर मजदूरो और उनके नेताओका कोई वश न हो और वह हो सकती है हडतालियो और हडताल विरोधियोकी ही, जिन्हें 'कालीटाँगे' कहते है और जिनका काम होता है हडतालियोकी जगह पर जाके काम करे और इस तरह हडतालको तोडें। शेष मजदूर तो एक ही दलमे होगे। अगर पहले धर्म-वर्मके नामपर दल बने भी हो तो वह फौरन खत्म कर दिये जायँ। लेनिन तो यह भी कहता है कि पादरी-पुरोहित तो दरअसल मजदूरोके नेता होते नही। इसलिये यह बात तो वही चाहते है कि हडताल या वर्गयुद्धके समय भी आस्तिक और नास्तिक दलोका बखेडा जरूर ही रहे। वे तो पूँजीपतियोके दलाल होते है। इसीसे यह बात चाहते है। इसीलिये लेनिनका कहना है कि नास्तिकताका प्रचार सघर्षके समय जो कोई करता है वह पूँजीवादियोका सहायक और दलाल होता है, चाहे वह यह बात भले ही न समझे।

और जब असली मौकेपर—सघर्ष और लडाईके ही समय—ही हम आस्तिक-नास्तिकका झमेला खडा कर नही सकते, जब उस वक्त ऐसा करनेकी हमें इजाजत हुई नही, तो फिर मार्क्सवादपर नास्तिकताके इलजामका अर्थ ही क्या है? जब हम मौजमें बैठे है तब तो बहुतसी बातें करते रहते ही हैं। उन्हीमें यह नास्तिकतावाली बात भी हो सकती है। कितने ही प्रकारके वाद-विवाद और मतभेद होते है। बातें जानने, समझने और स्थितिके स्पष्टीकरणके लिये यह चीजे जरूरी होती है। मगर उन्हे उद्देश्य या मान्य समझ लेना भूल है। नास्तिकवाद आदिकी बातें तो वर्गसघर्षकी तैयारीके रूपमें ही की जाती है। क्योकि पादरी-पुरोहित लोग धर्म, भाग्य और भगवानके नामपर जमीदारो और कारखाने-

दारोके साथ किसानो और मजदूरोको लडनेसे रोकते हैं। फलत उन्हे मनाना, किसान मजदूरोको समझाना और पादरी-पुरोहितोका मुँह बन्द कर देना जरूरी हो जाता है। यह भी ठीक है कि जबतक जडमूलसे भाग्य और भगवानको ही उडाया न जाय तबतक वे मानते हो नही। वे होते हैं बडे ही बेहया और उनका असर शोषित जनतापर खूब होता है। इसीलिये नास्तिकवाद अनिवार्य होता है। यह भी बात होती है कि धर्म और ईश्वरके मामलेमे जरा भी नर्मी और मुरव्वतसे काम लिया जाय तो एक तो पादरी-पुरोहित चट कह बैठते हैं कि देखा न, आखिर ये लोग भी, दबी जबानसे ही सही, भाग्य और भगवानको मानते ही है? फलत सारा किया-कराया चौपट हो जाता है। दूसरी बात यह हो जाती है कि किसान और मजदूर दिलोजानसे लडनेको तैयार नही हो पाते। क्योकि उसी नर्मीके करते उनमे भी कमजोरी आती है और अन्ततोगत्वा इतना तो सोचते ही है कि जैसा होगा देखा जायगा।

और जब वह यह भी कहता है कि अनीश्वरवाद हर देश और हर कालके लिये नही है और उसका प्रचार विशेष सामाजिक परिस्थितिमे ही होता है, तो फिर इसे सदाके लिये मान्य करके मार्क्सवादपर निरीश्वर-वादका कलक लगाना कहाँतक जायज है? वह यह भी तो कहता ही है कि वर्गसघर्षके आधारपर ही निरीश्वरवादका प्रचार करना होगा। उसके मतसे वर्त्तमान समयमे जो संघर्ष चालू हो वह जनताको कही अच्छी तरह शिक्षित और वर्गचेतनायुक्त कर देगा। फिर तो रास्ता साफ हो जाता है। मार्क्सवादका असली काम निरीश्वरता प्रचार नही है। उसका तो काम है शोषितो एव पीडितोको—कमानेवालोको—शिक्षित तथा वर्गचेतनायुक्त करना, जो दूसरे अन्य सभी उपायोकी अपेक्षा वर्गसघर्षसे ही बहुत अच्छी तरह पूरा होता है। फिर निरीश्वरताके कोरे प्रचारको

छोड हम इसी सघर्षमे ही क्यो न लगे ? इससे तो स्पष्ट हो जाता है कि वह नास्तिकवादको साधनके रूपमें ही स्वीकार करता है।

इस लम्बे उद्धरणके पहले जो हमने लेनिनके दो छोटे-छोटे उद्धरण दिये हैं उनमें जो सबसे मार्केकी बात है वह यह है कि दोनोमें यही कहा गया है कि धर्मकी बुनियाद तो पूँजीवाद और उसकी अनेक शकले हैं। वह तो पूँजीवादके आधारपर बनी सामाजिक व्यवस्थाको ही वर्त्तमान धर्म और ईश्वरवादकी जड मानता है। फलत मुख्य काम वह यही बताता है कि उस जडको ही खोदना होगा। पत्ता और शाखा तोडनेसे पेड तो रही जायगा। इसीलिये इस सामाजिक व्यवस्थाको ही मिटानेपर हमे जोर देना चाहिये। इससे साफ और क्या कहा जा सकता है ?

और जब पादरी-पुरोहितो तकको भी अपनी पार्टीमे लेनेकी राय वह देता है, बशर्ते कि उनका प्रधान काम धर्म प्रचार न होके पार्टीके कार्य-क्रमको पूरा करना ही हो, तो फिर निरीश्वरताके इलजामके कुछ मानी रही नही जाते। जो पादरी पार्टीमे आके पार्टीके कामकी अपेक्षा धर्म प्रचारको ही प्रधान काम समझे और प्रधानतया (स्मरण रहे 'प्रधानतया' लिखा है) वही करे उसीको पार्टीसे निकालनेकी बात कही गई है। इससे तो और भी सफाई हो जाती है। वह तो कहता है कि हमे ऐसे सभी उपाय करने होगे जिससे धर्ममे विश्वास करनेवाले किसान-मजदूर जरूर हमारी पार्टीमे आयें और हमारी इस चीजका—नास्तिकताका—विरोध करें—इसके खिलाफ लडे। हमे उन्हे इसका मौका देनेके ही लिये पार्टीमें खीचना होगा। और यह तो जरूरी नही कि आस्तिक मजदूर थोडे और नास्तिक ही ज्यादा हो। बात तो उलटी ही होती है। फिर भी वह कहता है कि पार्टीके सदस्योको भी अपने स्वतत्र विचार रखनेकी आजादी किसी हदतक रहनी ही चाहिये। फलत यदि पार्टीमे बहुमत आस्तिकोका ही हो जाय तो ? लेनिनको इसकी पर्वा नही है। वह तो खूब जानता है

कि असल चीज यह न होके वर्गसघर्ष ही असल चीज हमारी पार्टीके लिये है, जिसमे आस्तिक-नास्तिक सभी साथ देगे ही। नतीजा यह होगा कि संघर्ष चालू होनेपर ज्यो-ज्यो उसमे सफलता मिलेगी त्यो-त्यो धर्मके ठेकेदारोका पर्दाफाश होता जायगा। फलस्वरूप अन्तमे सभी या अधिकाश मजदूरोकी आस्था धर्मसे खुदबखुद उठ जायगी। वे उसे खुद पूँजीवाद की उपज और करामात समझ उससे घृणा कर बैठेगे और बहुमतसे निर्णय कर देगे कि धर्म-वर्मकी बात ठीक नही। फिर तो सभोको यही मानना ही होगा।

हम लेनिनके दो उद्धरण और देके यह विवाद खत्म करेगे। वह अपने लेखके प्राय शुरूमे ही कहता है कि, "'Religion is the opium of the people,' said Marx, and this thought is the corner-stone of the whole Marxian philosophy on the question of religion. Marxism regards all modern religions and churches, all religious organisations as organs of bourgeois reaction, serving to drug the minds of the working class and to perpetuate their exploitation."

इसका आशय है कि, "मार्क्सने कहा था कि धर्म तो लोगोके लिये अफीम है और उसका यही कहना, यही विचार धार्मिक प्रश्नोके बारेमे मार्क्सके समूचे सिद्धान्त की असली बुनियाद है। मार्क्सके सिद्धान्तके अनुसार आजकलके (modern—यह याद रखनेकी चीज है) धर्म, गिर्जे वगैरह और सभी धार्मिक सस्थाएँ पूँजीवादी प्रतिगामियोके हथकडे है, जिनका इस्तेमाल वे लोग श्रमजीवियोके दिमागोमे जहर भरने और इस तरह उनका शोषण बराबर जारी रखनेके लिये करते है।"

यहाँ तो इस बातको खोलके कह दिया है कि वर्त्तमान धर्म, मठमन्दिर

और धर्मकी सस्थाये जाल है, धोकेकी चीजें है । इन्हे मालदारोने कमाने-वालोको ठगनेके ही लिये बनाया है । इन्हीके द्वारा भोलीभाली जनताके दिमागमें जहर भरा जाता है । जैसे बच्चोको अफीम खिलाके सुला देते है वही बात पूँजीवादी धर्मके जरिये आम लोगोके बारेमे करते है । उनके दिमाग खराब कर देते है । मार्क्सके धार्मिक सिद्धान्तोकी यही बुनियाद है । मार्क्सने जो धर्मका विरोध किया है उसका असली कारण यही है । हमने तो शुरूमें ही यही बात कही थी । यहाँ जो 'वर्त्तमान' धर्म कहा है, उससे भी यह झलकता है कि एक तो मार्क्सको इन बातोका विरोधी बनानेमें यही चीजे कारण हुई, इन्हीकी हरकतोने मार्क्सको इनका—धर्मका—बागी बना दिया । दूसरे पीछे या पहले (भूत या भविष्यमें) ऐसे धर्मों या धर्मकी सभावना भी इससे सिद्ध हो जाती है, जिनका विरोध मार्क्सको इष्ट नही है । हमने गीताधर्मके निरूपणमे धर्मका जो रूप गीताको मान्य बताया है वह तो वर्त्तमान धर्मसे जुदा ही है । इसलिये उसके साथ भी मार्क्सका विरोध नही है, ऐसा सिद्ध हो जाता है ।

जरा और भी सुनिये कि लेनिन क्या कहता है । वह अभी-अभी लिखे गये वाक्योके बाद ही लिखता है कि, "At the same time, however, Engels frequently condemned those who, desiring to be more 'left' or more 'revolutionary' than Social Democracy, attempted to introduce into the programme of the workers' party a direct profession of atheism in the sense of declaring war on religion In 1874, speaking of the celebrated manifesto issued by the Blanquist refugees from the Commune, who were living in exile in London, Engels described their

clamorous declaration of war upon religion as stupid, and stated that it would be the best means of reviving religion and retarding its death. Engels accused the Blanquists of failing to understand that only the class struggle of the workers, by drawing the masses into class-conscious revolutionary practical work, can really liberate the oppressed masses from the yoke of religion....and with equal ruthlessness condemned his pseudo-revolutionary idea of suppressing religion in socialist society."

इसका अभिप्राय है कि, "इसीके साथ एगेल्सने उन लोगोकी भर्त्सना की, जिनने सोशल डेमोक्रेटिक पार्टीकी अपेक्षा ज्यादा वामपक्षी या क्रातिकारी बननेके गुमानमे श्रमजीवियोकी पार्टीके कार्यक्रममे नास्तिकताको साफ-साफ स्वीकार करनेकी बात रखनेकी कोशिश की। इसमें उनका साफ मतलब था धर्मके खिलाफ जेहाद बोलना—युद्धघोषणा करना। पेरिसवाले कम्यून (साम्यवादी सरकार)से भागके जो ब्लाकी (अराजकतावादी नेता)के अनुयायी लडनमे रहते थे उनने जो महत्त्वपूर्ण घोषणा-पत्र प्रकाशित किया था उसके सम्बन्धमे १८७४में बोलते हुए एगेल्सने उनकी धर्मविरोधी युद्धघोषणाकी लम्बी बातोको मूर्खतापूर्ण बताया और कहा कि धर्मकी मौतको रोकके उसे फिरसे फैलानेका सबसे सुन्दर साधन यह युद्धघोषणा ही हो जायगी। एंगेल्सने ब्लांकीके अनुयायियोपर यह भी आरोप लगाया कि वह यह समझते ही नही कि सिर्फ श्रमजीवियोंका वर्गसघर्ष ही, जनसमूहको वर्गचेतनायुक्त क्रातिकारी अमली काममें खींचके, पीडित जनताको सचमुच धर्मके जुएसे मुक्त कर सकता है।....और

समझ जाये तो धर्म और ईश्वरके बारेमे मार्क्सवादका क्या रुख है और उस दृष्टिसे हमे खुद क्या करना चाहिये, यह बात अच्छी तरह साफ हो जायगी। बडे-बडे क्रातिकारी कहे जानेवाले भी इस सम्बन्धमे भयकर भूले करते आये है, यह तो एगेल्सने ही खुद कह दिया है। इसलिये थोडेसे स्पष्टीकरणकी जरूरत अभी है। अभीतक, हमारे जानते, इसका पूरा स्पष्टीकरण नही हो पाया है।

यदि भगवान ऐसा हो कि मरनेके बादकी किसी दुनियाका प्रबन्ध करता हो जिसे स्वर्ग, नर्क, बैकुठ या बिहिश्त कहते है, अगर हमारी इस भौतिक दुनियाके कारबारसे उसका कोई ताल्लुक न हो, तो मार्क्सको और मार्क्सवादियोको भी उससे नाहक कलह क्यो हो? जिस दुनियाका जीतेजी हमसे कोई वास्ता नही, जो निराली दुनिया है, मगर भौतिक नही है, आध्यात्मिक है, उसकी फिक्र हम क्यो करे, अगर वह बिलकुल ही अलग और जुदी है? अगर वह दुनिया और उसका प्रबन्धक हमारे इस भौतिक ससारके कारबारमे "दालभातमे मूसरचन्द" नही बनता और दखल नही देता, तो हम भी उसमे क्यो दखल देने जायँगे? अगर काजीजी शहरकी फिक्रसे नाहक दुबले हो रहे थे, तो हम भी काजी क्यो बने? हम यहाँ कुछ यत्न करते और इस प्रकार इस भौतिक ससार एव समाजको पूर्णत बदलना चाहते है। हमारे इस काममे धर्म और भगवान यदि कोई मदद न करे तो भी हमे उनसे कोई शिकायत नही, गिला नही। मार्क्सवादी किसी अदृश्य तथा अलौकिक (Supernatural) शक्तिकी मदद चाहते ही नही। उन्हे इस काममे ऐसी शक्तिकी पर्वा और जरूरत नही है। बल्कि वे तो ऐसा मानते है कि ज्योही मददके भी नामपर किसी ऐसी शक्तिने हमारे काममे दखल दिया कि सारा गुड गोबर हुआ। वे तो ऐसी शक्तिका किसी भी तरह इस काममे पडना ही खतरनाक मानते है। क्योकि तब तो हमारा अपना

सभी कामोमे वह किसी भी भगवान या दैवी-शक्तिका हाथ नही देखता। उसने तो इसके सभी कामोंके बाकायदा चलानेकी ताकत इसी दुनियामे, यही के पदार्थों में देख ली है। हम चाहे सो भी जाये। मगर वह ताकत, जिसे वह निरी भौतिक ताकत समझता है, बराबर जगी रहती और अपना काम करती जाती है। उसे तो जरा भी विराम नही है, जरा साँस लेनेकी भी फुर्सत नही है। इसी ताकतका नाम उसने द्वन्द्ववाद रखा है। इसे ताकत कहिये, या भौतिक प्रक्रिया (Material Process) कहिये। यही सब कुछ करती है। मार्क्स इस दुनियाके निर्माण-सम्बन्धी दार्शनिक विचारोमें इससे आगे नही जाता, नही जा सकता है। उसके मतमें इससे आगे जानेकी जरूरत हुई नही। हमारा काम तो इतनेसे ही बखूबी चल जाता है, चल जायगा। बल्कि वह तो यहाँतक कहता है कि आगे जानेमे खतरा है और सारा गुड गोबर हो जायगा—हमारे काम ही चौपट हो जायँगे। यही है सक्षेपमे मार्क्सका द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद या भौतिक द्वन्द्ववाद (Dialectical Materialism)।

इस सिद्धान्तके अनुसार संसारके पदार्थोंमे बराबर सघर्ष (द्वन्द्व) चलता रहता है, जिसे हलचल, सग्राम, युद्ध या जीवन सग्राम (Struggle for Existence) भी कहते है। इसमे कमजोर पक्ष हारता और जबर्दस्त जीतता है; दुर्बल खत्म हो जाते, मिट जाते और प्रबल जम जाते है। इसे ही डार्विनका विकासवाद भी कहते है। इस दुनियामे जो लोग साधन सम्पन्न, कुशल और चौकन्ने है वही रह पाते और आगे बढते है। विपरीत इसके जो ढीले, आगा-पीछा करनेवाले, असहाय, भोदू है वे मिट जाते है। इस निरन्तर चलनेवाले (सतत) सग्रामके फलस्वरूप ही ससारकी प्रगति होती है। यह तो बात मानी हुई है। चाहे ढीले ढाले और आगा-पीछावाले खत्म भले ही हो जायँ और उनके विरोधी आगे बढ़ जायँ। मगर इसीके साथ समूचा ससार आगे बढ जाता है और इसीमें

मार्क्स यहीपर यह भी कहता है कि देखो, पूँजीवादी और जमीदार—तुम्हारे शोषक—बडे काइयाँ है। उनने तुम्हारे लिये अनेक जाल फैलाये है। भगवान और धर्मका कोई भी ताल्लुक इस भौतिक कारबारसे नही होनेपर भी उनने इन्हे खडा करी तो दिया। यह देखो, इन्हीके नामपर तुम्हे ठगते आ रहे है, ठगने चले है! और ये पडित, मौलवी, पादरी, पुरोहित, साधु फकीर? क्या ये भी ठगते है? हाँ, हाँ, जरूर ठगते है। ये सबके सब मालदार-जमीदारोके दलाल है। इसीलिये तो खाते तुम्हारा और गुण गाते उनका। बडी चालाकीसे जाल बिछा है। सजग रहो। दूरकी कौडी लाई गई है। ये गुरु, पीर, पडित वगैरह तुम्हे धोका दे रहे है और अत तक धोका देगे। इनकी बातोमे हर्गिज न पडो। तुम जो अपने उद्धारके लिये कटिबद्ध हो रहे हो और द्वन्द्ववादके चलते जो तुम्हारे उद्धारका सामान प्रस्तुत हो गया है उसीसे घबराके मालदारोने ये जाल खडे किये है, ताकि भाग्य और भगवानके फेरमे पडके तुम अपने यत्नमे शिथिल हो जाओ, उससे मुँह मोड लो और मालदार-जमीदारोके घर घीके चिराग जले। फिर तो इन गुरु-पुरोहितो और पादरी-मौलवियोको वे लोग भरपूर बिदाई देगे!

मार्क्स और भी कहता है कि यह द्वन्द्ववाद और कुछ नही, केवल वर्गसघर्ष है। एक वर्ग दूसरेको कल, बल, छलसे दबाके, मिटाके खुद आगे बढना चाहता है। मठ, मन्दिर, तीर्थ, हज्ज, पोथी, पुराण इसी वर्गसघर्षकी सफलताके साधन है। मालदार-जमीदार तुम्हारे वेतनमे एक पैसा नही बढाते, तुम्हारी दवाका प्रबन्ध नही करते और न लगानमे ही कमी करते है। मगर मन्दिरो और तीर्थोमे लाखो रुपये फूँकते है! क्यो? वही पैसे तुम्हें क्यो नही देते? कल-कारखाने तुम्ही चलाते हो न? खेतीबारी करके उनके लिये गेहूँ-मलाई तुम्ही उपजाते हो न? या कि ये मठ, मन्दिर और तीर्थ वगैरह? फिर तुम्हे पैसे न

देके उन्हे वे लोग क्यो देते है ? सोचो। तुम्हे देनेसे तुम्हारी हिम्मत बढेगी और आगे फिर भी मागें पेश करोगे और ये माँगें जब वे पूरा न करेंगे तो उन्हे मिटाने चलोगे। मगर मन्दिरो और तीर्थोंके पैसे तो उन्हें सूद-दरसूद सहित वापस मिलेंगे। क्योकि पडे, पुजारी, साधु-फकीर वगैरह तुम्हे भाग्य और भगवानके नामपर भडकायेंगे, गुमराह करेंगे और सघर्षसे विमुख करेगे। समझा न ? यही चाल है। इसमे हर्गिज न पडो और लडो। यदि तुम्हारा विश्वास हो कि ये साधु-फकीर वगैरह तुम्हारे ही साथी है, तो चलो खुलके वर्गसघर्ष करो और उन्हें भी मददके लिये बुलाओ। उनसे कह दो कि आइये, मदद कीजिये। अभी तो हमारे पास कुछ है नही, तो भी आप लोगोको भरसक अच्छा ही खिलाते-पिलाते है। मगर इस सघर्षमें जीत होनेपर तो खूब माल चखायेंगे और सुनहले वस्त्र पहनायेंगे, सगमर्मरके महल बनवा देंगे। मठ-मन्दिर भी वैसे ही सजा देगे। मगर देखोगे कि वे हर्गिज तुम्हारा साथ न देगे, हालाँकि उन्हे इसीमे लाभ है। साथ दें भी कैसे ? वे तो मालदारोके दलाल ठहरे न ? वे मजबूर है, बँधे है। अपना फायदा सोचें या मालिकोका ?

इस प्रकार भौतिक बातोमे अध्यात्मवाद और ईश्वरका अडगा खडा करके साधु-फकीर और मन्दिर-तीर्थवाले सत-महत मालदारोका पक्ष करते और उनके विरुद्ध शोषितोके द्वारा चलाई जानेवाली हककी लडाई या वर्गसघर्षमें बाधक होते है, यही बात मार्क्सवादके जरिये शोषितोंके दिल-दिमागमें बैठा दी जाती है। वे इसे बखूबी समझके वर्गसघर्षसे धर्म या ईश्वरके नामपर नही मुडते। किन्तु उसे अविराम चलाते जाते है। इसी वजहसे पहले कहा गया है कि हडतालके समय नास्तिक-आस्तिक-वाली दलबन्दी मजदूरोमें हर्गिज रहने न दी जाय, होने न दी जाय। पुरोहित या पादरी तो जरूर चाहेगा कि यह दलबन्दी जारी रहे। मगर

मार्क्सवादी हर्गिज इसे बर्दाश्त नही करेगा। उसका तो असली लक्ष्य यह लडाई ही है। इसीके लिये वह आस्तिक-नास्तिकका झगड़ा भी पहले करता था, ताकि रास्ता साफ हो। मगर जब यह युद्ध चल पडा, तो उस झगडेका क्या काम ? उससे तो अब इसमे उलटे बाधा हो सकती है। इसीलिये उसे तिलाजलि दे देता है।

हमने इस लम्बे विवेचनसे साफ देख लिया कि भौतिक सघर्ष और वर्गयुद्धमे बाधक होनेके कारण ही मार्क्सवादमे धर्म और ईश्वरका विरोध किया गया है। जब और कोई उपाय नही चला तो जमीदार-मालदारोने इसी आखिरी ब्रह्मास्त्रसे ही काम लेना शुरू जो कर दिया था। वह आज भी यही करते है। यही है धर्म और ईश्वरके विरोधका भौतिक दृष्टिसे और द्वन्द्ववादकी दृष्टिसे प्रयोग, या यो कहिये कि भौतिक द्वन्द्ववादकी दृष्टिसे प्रयोग। इससे स्पष्ट है कि यदि इनके करते वर्गसघर्षमे कोई भी बाधा न हो तो मार्क्सवाद इन्हे छूए भी नही। इनके साथ कमसे कम क्षणिक सन्धि तो करी ले। बहुत पहले तो यह बात न थी—वर्गसघर्षमे ये धर्मादि बाधक न थे, या यो कहिये कि वर्गसघर्षका यह रूप पहले था ही नही। तो फिर वे बाधक होते भी कैसे ? इधर कुछ सदियोसे ही यह बात हुई है। इसीलिये मार्क्सवादमे "वर्त्तमान" धर्म (Modern Religion) और धर्मसस्थाओकी ही बात कही गई है और इन्हीको मालदारोका हथकडा वताके विरोध किया गया है। मार्क्सके मतसे जब सभी चीजे बदलती है तो धर्म भी आज बदला हुआ ही यदि मान लिया जाय तो हर्ज क्या ? जो भी धर्म वर्गसघर्षका जरा भी बाधक हो यदि वह इसी बदले हुएके भीतर ही माना जाय तो इसमे उज्र क्या होगा ?

यदि मार्क्सवादकी दृष्टि धर्म और ईश्वरके सम्बन्धमे भौतिक द्वन्द्ववादकी न होके कोरी सैद्धान्तिक होती, तो यह बात नही होती। सिद्धान्त-

की दृष्टिका तो यही मतलब है कि बिना किसी प्रयोजन और खयालके ही हम असलियत एव वस्तुस्थितिका पता लगाना चाहते है। जैसा कि नये-नये ग्रहोका पता लगाते है। इसमे कोई खास प्रयोजन तो है नही। यह काम तो सृष्टिकी असलियतकी जानकारीके ही लिये किया जाता है। यह भी नही जानते कि इन अनन्त ग्रहो और उपग्रहोकी कौनसी जरूरत इस सृष्टिके काम मे है। फिर भी इनका और इनकी गति आदिका पता भी लगाते ही है। इनके बारेमे वाद-विवाद चलता है और पोथा-पोथे भी लिखे जाते है। यही है सैद्धान्तिक दृष्टि। यदि इस दृष्टिसे धर्म और ईश्वरका विरोध मार्क्सको इष्ट होता तो फिर भौतिक द्वन्द्ववादकी बात इस सिलसिलेमे छेडनेका प्रश्न ही कहाँ होता? यह दृष्टि तो ईश्वरके विरोधका प्रयोजन बताती है। अर्थात् मार्क्स किसी खास प्रयोजनसे ही उसका विरोध करता है। न कि ईश्वर सचमुच हई नही, केवल इस सैद्धान्तिक दृष्टिसे। बल्कि इस सैद्धान्तिक दृष्टिका तो वह पक्का विरोधी है। इसमे तो वह अराजकतावाद और अवसरवादकी गंध पाता है। इसीलिये इसका सख्त विरोध भी करता है। क्योंकि ये दोनो वाद मार्क्सवादके विरोधी तथा वर्गसघर्षके घातक है। इससे तो यह भी सिद्ध हो जाता है कि वस्तुत धर्म या ईश्वर हई नही, यह बात मार्क्स या मार्क्सवादकी नही है, इस पचडेमे वह नही पडता। भौतिक द्वन्द्ववादकी दृष्टिके इस लम्बे विचारने, हमे विश्वास है, मार्क्सवादके इस पहलूको काफी साफ कर दिया है।

## धर्म, सरकार और पार्टी

अब हमे फिर गीताके धर्मको ही देखना है। जब, जैसा कि पहले ही बता चुके है, धर्म गीताके अनुसार नितान्त वैयक्तिक या व्यक्तिगत (शख्सी—personal) चीज है, तो न सिर्फ इसमे या इसके नामपर

कलहकी ही रोक हो जाती है। बल्कि मार्क्सवादसे भी मेल हो जाता है, विरोध नही रहता। व्यक्तिगत कहनेका यही मतलब है कि किसी समुदाय, गिरोह, कमिटी, पार्टी, दल, सभा या अंजुमनकी चीज यह हर्गिज नही है। हरेक आदमी चाहे जैसे इसके बारेमे अमल करे, सोचे या कुछ भी करे। किसी दूसरे आदमी, दल, पार्टी, गिरोह या देशको इसमे टाँग अडाने और दखल देनका कोई हक नही। असलमे गिरोह, समुदाय, पार्टी आदिको इससे कोई ताल्लुक हुई नही। इसीलिये सरकारको भी इसमे पडनेका हक है नही। अगर वह पडती है, जैसा कि बराबर ही देखा जा रहा है, खासकर पूँजीवादी युगमें, तो और भी, नाजायज काम करती है। जर्मनी या और देशोकी सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियोने जहाँ सरकारको इसमें पडनेसे रोका तहाँ उनने खुद इसमे पड जानेकी गलती की, या कमसे कम ऐसा खयाल जाहिर किया। इसीलिये एगेल्सने उन्हे डाँटा था। उसने कहा था कि सरकार इसमे हाथ न डाले यह तो ठीक है। मगर पार्टीकी भी यह निजी चीज क्यो हो? पार्टीको इससे क्या काम? उसका कोई मेम्बर धर्मको माने या न माने। पार्टी उसमे दखल क्यो देने लगी? हाँ, इसके चलते जो भारी खतरे है, उनका खयाल करके पार्टीका रुख तो इसके बारेमे सदा भौतिक द्वन्द्ववादवाला ही होगा। यही बात लेनिन अपने लेखमे यो लिखी है—

"This he did in a declaration in which he emphatically pointed out that Social Democracy regards religion as a private matter in so far as the State is concerned, but not in so far as it concerns Marxism or the workers' party."

"Should our deputy have gone further and developed atheistic ideas in greater detail? We

think not. This might have exaggerated the significance of the fight which the party of the proletariat is carrying on against religion; it might have obliterated the dividing line between the bourgeois and socialist fight against religion"

इसका अर्थ यह है, "एंगेल्सने यह काम एक घोषणाके द्वारा किया, जिसमें उसने जोर देकर बताया कि सोशल डेमोक्रेटिक (मजदूरोकी क्रांतिकारी) पार्टी धर्मको व्यक्तिगत चीज वही तक मानती है जहाँतक सरकारका इससे ताल्लुक है। लेकिन उसके मतसे मार्क्सवाद या मजदूरों की पार्टीके लिये यह व्यक्तिगत चीज नही है।"

"क्या डचूमाके हमारे प्रतिनिधि (सरकोफ)को चाहिये था कि आगे बढ जाता और नास्तिकवादपर विस्तारसे बोलता एव खडन-मडन करता? हम तो ऐसा नही समझते। यदि वह ऐसा करता तो मजदूरों-की पार्टीका जो धर्म-विरोधी आन्दोलन और सघर्ष है उसके महत्त्वकी अत्युक्ति हो जाती। समाजवादियो और पूँजीवादियोके द्वारा धर्मका विरोध करनेमें जो भेद है वह ऐसा करनेसे मिट जाता।"

यहाँ यह बात जाननेकी है कि पूँजीवादी लोग भी अपना काम निकालने-के लिये समय-समयपर धर्मका विरोध करते है। उस समय जर्मनीमें विस्मार्कने ऐसा ही किया था। जार भी यहूदियोका विरोध करता था और हिटलर भी। मगर उनका मतलब तो दूसरा ही होता है। या तो उन्हें दिमागी दुनियाकी कुश्ती लडनेका शौक होता है, या वे ख्यातिके लिये ही ऐसा करते है, या ऐसा करनेसे उनका कोई दुनियावी मतलब सिद्ध होता है। वर्गसघर्षकी दृष्टिसे वे ऐसा काम हर्गिज नही करते। भले ही सैद्धान्तिक दृष्टिसे करते हो। विपरीत इसके साम्यवादी लोग वर्गसघर्षकी ही दृष्टिसे उसका विरोध करते है। मगर कोरे वाद-विवाद

और खडन-मडनमें पड जानेपर खतरा यह है कि मार्क्सवादी भी उसी सैद्धान्तिक दृष्टिमे पड जा सकते है। इसीलिये उसे रोकके दोनो दृष्टियो-को अलग-अलग रखा गया है। मार्क्सवाद कोरे खडन-मडनको पूँजीवादी और इसीलिये अपनी विरोधी दृष्टि मानता है, यह बात मार्क्की है।

## दृष्ट और अदृष्ट

यह कहा जा सकता है कि गीताने जब कर्मवादको माना है तो भाग्य या प्रारब्धका सवाल हमारे भौतिक कामोमे भी आई जाता है। अठारहवें अध्यायके "अधिष्ठान तथा कर्त्ता"से लेकर "पचै ते तस्यहेतव "(१४,१५) तक दो श्लोकोमें साफ ही कहा है कि जो कोई भी भला या बुरा काम किया जाता है उसके पांच कारण होते है, जिनमे एक दैव, प्रारब्ध या भाग्य भी है, जिसे तकदीर भी कहते हैं। गीताने स्वीकार कर लिया है कि प्रारब्धका हाथ दुनियाके सभी कामोमे होता ही है। इसमे शककी जगह हुई नही। फिर तीसरे अध्यायके "यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्म-समुद्भवः" (१४)मे भी साफ ही कर्म और यज्ञको वृष्टिके द्वारा अन्नादिके उत्पादनमें और इस तरह भौतिक कार्य चलानेमें कारण ठहराया है। चौथे अध्यायके "नाय लोकोऽस्त्ययज्ञस्य" (३१) श्लोकमे भी स्पष्ट ही कह दिया है कि यज्ञके विना इस दुनियाका काम चल नही सकता। छठे अध्यायके ३७से ४८ तकके श्लोकोमे इसी कर्मका सम्बन्ध मनुष्योके जन्म और स्वभावके साथ जोडके ४५वेमे कह दिया है कि "अनेक जन्मोमें यत्न करनेके बाद ही उसका दिल-दिमाग ठीक हो जानेपर मनुष्य मोक्षका भागी होता है"—"अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परागतिम्।" इस तरह कर्मोका सम्बन्ध पुनर्जन्मके साथ लगा हुआ है और पुनर्जन्मका तो अर्थ ही है यह भौतिक शरीर। सोलहवे अध्यायके १९, २० श्लोकोमें आसुरी सम्पत्तिवालोके दुष्कर्मोके फलस्वरूप उनकी दुर्गति और नीच योनियोमे

उनका जन्म बताया गया है। दूसरे अध्याय के "बुद्धियुक्तो जहातीह" (५०) श्लोकमें पुण्य-पापका जिक्र है। इधर-उधरके श्लोकोंमे भी यही बात है। इस तरह गीतामें जाने कितनी ही जगह यही बात पाई जाती है। इसलिये यह तो मानना ही होगा कि भाग्य और भगवानका दखल इस दुनियाके भौतिक कार्योंमें गीताको भी मान्य है।

बात तो कुछ ऐसी ही मालूम पड़ती है और अगर इसपर कुछ ज्यादा खोद-विनोद न किया जाय तो इसी नतीजेपर पहुँचना अनिवार्य हो जायगा। यह ठीक है कि ऐसा होनेपर भी हमारा पहलेका मन्तव्य ज्योंका त्यों रह जाता है। क्योंकि यह जो कर्मवादकी बात अभी-अभी कही गई है वह तो गीताधर्म है नहीं—वह गीताकी अपनी चीज नहीं है। इसके बारेमें तो अधिकसे अधिक इतना ही कह सकते है कि सामान्यतः उस समयके समाज और शास्त्रमें जो कुछ कर्म-सम्बन्धी बातें और धारणायें प्रचलित थीं, जो सिद्धान्त आमतौरसे इस सम्बन्धमें माने जाते थे, उन्हींको अक्षरशः अनुवाद करके गीताने लिख दिया है। ऐसा करनेमें उसका प्रयोजन कुछ न कुछ है। बावजूद इन सभी बातोंके योग और ज्ञानके आश्रय लेनेपर मनुष्य बन्धनरहित हो जाता है, यही बात दिखलाने और योग, ज्ञान या भक्तिके मार्गके महत्त्वको बतानेके ही लिये उन कर्मफलों और विविध गतियोंका उल्लेख गीता करती है, जो आस्तिक समाजमें प्रचलित थीं और हैं। गीताका उनके अनुमोदन या उनकी यथार्थतासे कोई ताल्लुक नहीं है। यह उसका ध्येय हई नहीं। यदि उन प्रसगों और पूर्वापर विचारोंको देखा जाय तो यह बात साफ हो जायगी। गीताके श्लोकार्थके समय हम भी यह बात साफ दिखायेंगे।

इसके विपरीत गीताधर्मके नामसे जो कुछ हमने कहा है और जिसका उल्लेख सत्रहवें अध्यायमें आया है वह गीताकी निजी चीज है, अपनी देन है। द्वितीय अध्यायवाले योगको जिस प्रकार हम गीताधर्म मानते हैं

और स्वीकार करते है कि वह उसकी खास देन है, ठीक यही वात यहाँ भी है। श्रद्धापूर्वक कर्म करना ही असल चीज है। श्रद्धासे ही कर्मोका रूप निर्णीत हो जाता है। इसीलिये कर्म सोलहो आना व्यक्तिगत चीज है, यह वात भी गीताधर्म है। उस योगकी ही तरह यह चीज भी और कही पाई नही जाती है। इसलिये गीताधर्म और मार्क्सवादमे कोई भी विरोध नही है यह जो हमने पहले कहा है वह ज्योका-त्यो वना रह जाता है और इस प्रकार हमारा अपना काम सिद्ध हो जाता है—पूरा हो जाता है। जो चीज या जो विषय—जो सिद्धान्त—अन्यान्य ग्रन्थो और मत-वादोमे पाया जाय उसे भला गीता-धर्म कैसे कहेगे? और यही वात कर्म-वादके सम्वन्धमे भी है। यही कारण है कि हमारे हरेक कामोके पाँच कारणोको गिनाके उनमे जो दैव या भाग्यको भी गिनाया है, ठीक उसीके पूर्वके श्लोक "पचैतानि महावाहो", "साख्ये कृताते प्रोक्तानि" (१३)में साफ ही कहा है कि साख्यमत या सांख्यसिद्धान्तमे ऐसा माना गया है।

फिर भी इस सम्वन्धमे कुछ वाते जाननेकी है। इससे गीताधर्मके यथार्थ महत्त्वको समझनेमे आसानी होगी। प्राय हजारो साल पहले एक अपूर्व प्रतिभाशाली नैयायिक विद्वान उदयनाचार्य हो गये है, जिनने ईश्वरवाद और धर्म-कर्मकी सिद्धिपर कई अपूर्व ग्रन्थ लिखे है। इन्हीमे एकका नाम न्यायकुसुमाञ्जलि है। उसमे एक स्थानपर इसी दैव, प्रारव्ध, अदृष्ट या अपूर्व—दैवको ही अपूर्व तथा अदृष्ट भी कहते है—के सम्वन्धमे लिखते हुए लिखा है कि सांसारिक पदार्थोकी उत्पत्तिके लिये दो प्रकारके कारण माने जाते है, दृष्ट और अदृष्ट। कपडा तैयार करनेमे जिस प्रकार सूत, जुलाहा, करघा वगैरह प्रत्यक्ष या दृष्ट कारण है, उसी प्रकार सभी पदार्थोके ऐसे ही कारणोको दृष्ट कारण कहते है। मगर इनके अलावे जो दूसरा कारण है और प्रत्यक्ष दीखनेवाला नही है उसे अदृष्ट कहते है। उदयनाचार्यने

कहा है कि यह अदृष्ट कारण कोई स्वतंत्र या करामाती चीज नही है। उसका काम है दृष्ट कारणोको जुटानेमें ही सहायक होना—"अदृस्य-दृष्टसम्पादनेनैव चारितार्थ्यात्"। यह अदृष्ट, दैव या प्रारब्ध दूसरा कुछ नही करता। यह नही होगा कि सूत, जुलाहा, करघा आदि सभी प्रत्यक्ष कारण जुटे हो तो भी अदृष्टके करते कपडेके तैयार होनेमें देर लगेगी।

अब अगर हम इस दार्शनिक विचारपर गौर करते है तो कर्मवादकी सारी दिक्कतें दूर हो जाती है। ईश्वरवादके ही सिलसिलेमें यह बात कही जानेके कारण इसका महत्त्व और भी बढ जाता है। यदि ऐसा न मानें तो बडी गडबड होगी और रसोई बनानेवाला चावल, पानी, लकडी, आग, चूल्हा, बर्त्तन वगैरह रसोईके सभी सामानोको जुटाके भी भाग्यका मुँह देखता बैठा रहेगा। फलत सभी जगह गडबडझाला हो जायगा। पाचक महाशय अदृष्ट महाराजकी बाट जोहते रहेंगे। मगर उनका दर्शन होगा ही नही। और तटस्थ दुनिया कहेगी कि यह कैसी मूर्खताकी बात है अदृष्टका सिद्धान्त। इसमे तो कोई अक्ल मालूम होती ही नहीं। इसीलिये दार्शनिक नैयायिककी हैसियतसे उदयनाचार्यने बहुत ही सुन्दर समाधान करके सारा झमेला ही मिटा दिया। यह भी नही कि अदृष्टका अर्थ केवल पूर्व कर्म, दैव या प्रारब्ध ही हो। अदृष्टका अर्थ है जो न दीखे—जो प्रत्यक्ष न हो। इसलिये ईश्वर, उसकी इच्छा वगैरह जो भी ऐसे कारण माने जाते है सभी इसमे आ गये और सभीका समाधान उदयनाचार्यने किया है। क्योकि दलील तो सभीके लिये एक ही है और गडबड भी वही एक ही है।

हाँ, तो इस सिद्धान्तके अनुसार यदि हम देखते है तो हमें कोई गडबड नही मालूम होती। मजदूरोकी लडाईके सिलसिलेमें हडतालका मौका आनेपर सारी तैयारी हो गई और मजदूर लडने जा रहे है या लड रहे है, इस विश्वासके साथ कि विजय होके ही रहेगी। इसी बीच भाग्यवादी

और भगवानका ठेकेदार कोई पादरी, पडित या मौलवी आके उन्हे बहकाता है कि कुछ न हो सकेगा, तुम्हारी तकदीर ही खराब है, तुमपर भगवान ही रज है। तुम लोग हारोगे जरूर। मिलवालेपर भगवान खुश जो है, उसका भाग्य सुन्दर जो है, उसका करम चन्दनसे लिखा जो गया है। बस, सारा मामला बिगडता है—उसके बिगडनेका खतरा हो जाता है। मगर अगर उदयनाचार्यवाली दार्शनिक बात और युक्ति मान लें, तो फिर ऐसी बेहूदा बातोकी गुजाइश ही नही रह जाती। उस दशामे इन गुरु-पुरोहितो या मौलवी-पादरियोकी बेहूदगी को जगह है कहाँ? हड-तालकी सफलताका सारा बाहरी या दृष्ट सामान जब होई गया तो अब अदृष्ट—भाग्य या भगवान—अलग कहाँ रह गया? यह तो सारी शैतानियत है। अमीरोके दलालोने यह कुचक्र खुद रचा है जो निराधार और बेबुनियाद है। उन्हे तो उलटे यह कहना चाहिये कि हडतालकी तैयारीमे कोई कोर कसर रहने न दो। बस, भगवान और भाग्य तुम्हारे साथ है और जरूर जीतोगे। यही उचित और कर्मवादके सिद्धान्तके अनुसार है।

और गीताका क्या कहना? वह तो हमारे यत्नो और कोशिशोको ही सब कुछ मानती है। वह अदृष्टकी पर्वा न करके काममे मुस्तैदीसे जुट जानेपर ही जोर देती है। वह कहती है कि जब सभी सामान मौजूद है तो जीत तो होगी ही, कार्यसिद्धि तो होगी ही। फिर आगा पीछा क्यो? वह तो यहाँतक कहती है कि जीतने हारनेका क्या सवाल? हमे तो काम करनेका ही हक है। हमारे बसकी चीज तो यही है। हम फल-वलकी नाहक फिक्र करके कामसे, सघर्षसे क्यो मुंडे? यह तो नादानी होगी। वह तो पीछे मुडनेवालोको कहती है कि छि-छि, क्या मुँह दिखाओगे जब दुश्मन हँसेंगे और लोग गालियाँ देगे? इस तरह बेइज्जतीसे जीनेकी अपेक्षा तो काम करते-करते और लडते-लडते मर जाना लाख

दर्जे अच्छा है। इसमें शान है, प्रतिष्ठा है, इज्जत है! इससे न सिर्फ लडने और काम करनेवालोका, बल्कि उनके साथियोका भी सर ऊँचा होता है। फिर और चाहिये ही क्या? इससे बढके और हुई क्या?

जब अर्जुन इसी आगा-पीछामे अपने कर्त्तव्यसे विमुख हो रहा था, तो कृष्णने दूसरे अध्यायसे ही शुरू करके अठारहवें तक जानें बीसियो बार उसे ललकारा और कहा कि क्या नाहक मरने-मारनेकी फिक्र नादानोकी तरह कर रहे हो? तैयार हो जाओ, डट जाओ, कमर बाँध लो, दृढ सकल्पके साथ लडो। यह नामर्दोंकी-सी बातें क्या कर रहे हो? ये बाते तुम्हारे जैसोके लिये मुनासिब नही है, जेबा नही देती है। जरा सुख-दु ख बर्दाश्त करनेकी हिम्मत तो करो। इस विश्वासके साथ भिड तो जाओ कि जरूर फतह होगी। फिर तो बेडापार ही समझो। ये बातें अक्लमदीकी नही हैं जो तुम कर रहे हो। तुम धोकेमे पडके आगा-पीछा कर रहे हो, खबरदार! जरा सुनिये,—"धीरस्तत्र न मुह्यति" (२।१३), "तास्तितिक्षस्व" (२।१४), "तस्माद्युध्यस्व" (२।१८), "उभौ तौ न विजानीत" (२।१९), "क घातयति हन्ति कम्" (२।२१), "नानुशोचितुमर्हसि", "न शोचितुमर्हसि" (२।२५–२७, ३०), "का परिदेवना" (२।२८), "न विकम्पितुमर्हसि" (२।३१), "पापमवाप्स्यसि" (२।३३), "उत्तिष्ठ युद्धायकृतनिश्चय" (२।३७), "युद्धाय युज्यस्व" (२।३८), "कुरु कर्माणि" (२।४८), "योगाय युज्यस्व" (२।५०), "नियत कुरु कर्म त्व" (३।८), "मुक्तसग समाचर" (३।९), कार्यं कर्म समाचर" (३।१९), "कर्त्तुमर्हसि" (३।२०), "युध्यस्व विगतज्वर" (३।३०), "कुरु कर्मैव" (४।१५), "कृत्वापि न निबध्यते" (४।२२), "उत्तिष्ठ भारत" (४।४२), "योगिन कर्म कुर्वन्ति" (५।११), "कार्यं कर्म करोति" (६।१), "तस्माद्योगी भव" (६।४६), "युध्य च" (८।७), "योगयुक्तो भव" (८।२७), "तत्कुरुष्व मदर्पणम्" (९।२७), "यशो लभस्व"

(११।३३), "निमित्तमात्र भव" (११।३३), "युध्यस्व" (११।३४), "मत्कर्मपरमो भव" (१२।१०), "न हिनस्त्यात्मनात्मानम्" (१३।२८), "मा शुच "(१६।५), "कर्म कर्त्तुमिहार्हसि" (१६।२४), "कर्म न त्याज्य" (१८।३), "न त्याज्य कार्यमेव" (१८।५), "कर्माणि कर्त्तव्यानि" (१८।६), "कर्मण सन्यासो नोपपद्यते" (१८।७), "न हन्ति न निवध्यते" (१८।१७), "ससिद्धि लभते" (१८।४५), "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य" (१८।४६), "स्वधर्म श्रेयान्" (१८।४७), "कर्मकुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्" (१८।४७), "सहज कर्म न त्यजेत्" (१८।४८), "न श्रोष्यसि विनक्ष्यसि" (१८।५८), "यदहकारमाश्रित्य न योत्स्ये" (१८।५९), "प्रकृतिस्त्वा नियोक्ष्यति" (१८।५९), "करिष्यस्यवशोऽपि तत्" (१८।६०), "करिष्ये वचन तव" (१८।७३) इत्यादि। इन उद्धरणोसे स्पष्ट है कि पचास वारसे ज्यादा अर्जुनपर ललकार पडी है। शायद ही कोई अध्याय है जिसमे यह वात नही आई है। गीतामे कर्मकी ललकार ओतप्रोत है—यह कर्मकी ललकार गीताकी रग-रगमे भिनी हुई है और कर्मयोग उसका प्राण है।

## अर्जुनकी मानवीय कमजोरियाँ

यो तो दूसरे अध्यायके ३३-३६ श्लोकोमे, मानव स्वभावकी कमजोरियोको समझके ही, अर्जुनको खूब ही ललकारा है कि मुँहमे कालिख पुत जायगा, यदि पीछे हटे, लोग धिक्कारेंगे; हटनेसे तो मरना कही वेहतर है, शानकी मौत बेइज्जतीकी गद्दीसे लाख दर्जे अच्छी है, आदि आदि। ३७वेमे भी कह दिया है कि तुम्हारे तो दोनो ही हाथोमे लड्डू है—हारो तो शान तथा स्वर्ग और जीतो तो राजपाट। इसलिये हर्गिज मुँह न मोडो। असलमे विवेक और अध्यात्मवादकी अपेक्षा यही वाते मनुष्य को स्वभावत उत्तेजित करके कर्त्तव्य पथमे खामखा जुटा देती है। गीता इसे वखूवी जानती है और इसपर जोर भी उसने इसीलिये दिया है।

तथापि दूसरे अध्यायके शुरूके दो और तीन श्लोकोमें जो कुछ कहा गया है वह इतना सुन्दर है और मार्क्सवादके साथ गीताको मिलानेमें उसका इतना महत्त्व है कि हम उसे लिखे विना रह नही सकते। वे दोनो श्लोक ये है, "कुतस्त्वा कश्मलमिद विषमे समुपस्थितम्। अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ॥ क्लैब्य मा स्म गम पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते। क्षुद्र हृदयदौर्बल्य त्यक्तोत्तिष्ठ परन्तप ॥"

इन दोनोका अर्थ ऐसा है, "अर्जुन, इस विकट समयमें, जब कि सारी तैयारी हो चुकनेके बाद भिडन्त होने ही वाली है, तुममें यह कमजोरी कहाँसे आ गई ? कमजोरी भी ऐसी कि भले लोग जिससे लाख कोस दूर भागें, और जो निहायत मनहूस और अमगल होनेके साथ ही इज्जतको भी मिट्टीमें मिला दे। खबरदार, नामर्दी मत दिखाओ। यह चीज तुममें ज़ेबा नही देती। इसलिये बहादुर, दिलकी इस बेहूदी कमजोरीको छोडके तैयार हो जाओ।" मगर इतनेसे ही काम नही चलेगा। इन बातोकी खूबी और अहमियत समझनेके लिये हमें अर्जुनकी उन बातोपर सरसरी नजर दौडानी होगी जो उसने इससे पहले कही थी और जिनके जवाबमें यह कहा गया है।

पहले अध्यायके २८-४६ श्लोकोको देखनेसे पता चलता है कि अर्जुनको जैसे धर्म और अक्लका अजीर्ण हो गया हो। उसका हृदय उस समय दयासे दब गया था, यह बात उससे ठीक पहलेके २७वें श्लोकके "कृपया परयाविष्ट"से स्पष्ट है। यही कारण है कि बुद्धि ठीक काम करती थी नही। फलत अक्लका अजीर्ण मिटाना जरूरी हो गया। जो लोग ऐन कर्त्तव्य-पालनके समय दिलकी कमजोरी और नादानीसे दयार्द्र हो जाते और रहम करने लगते है वह ऐसी ही वे सर-पैरकी बातें करते है। १९०५मे काले सागरके रूसी जहाजी बेडेके सिपाहियोको मजबूरन अपने ही अफसरोके विरुद्ध बगावत करनी पडी थी। क्योकि

अफसरोने जानबूझके ऐसी शैतानियत की और सिपाहियोकी स्वतन्त्रतापर ऐसी रोक लगाई कि वर्दाश्तसे बाहर थी। बात यह थी कि रूसके किसानो और मजदूरोके क्रातिकारी आन्दोलनोके साथ जहाजी सिपाही (sailors) सहानुभूति दिखाना चाहते थे। कारण, वह आन्दोलन उनके अपने ही मजलूम भाइयोका था। मगर इसमे अफसरोने अडगे डाले। फलतः विद्रोहकी आग भडक उठी और सिपाहियोने सभी अफसरोको चटपट कैद कर लिया! फिर तो लेनेके देने पडे! अफसरोकी सारी गर्मी ही गायव हो गई! उनने आर्जू मिन्नत की, माफी माँगी, आगेके लिये बाधा न डालनेके वादे किये। फिर क्या था? दयामे आके सिपाहियोने उन्हे रिहा कर दिया! बस, मौका मिलते ही बाहरसे अपने पक्षकी फौज मँगाके अफसरोने उन्ही सिपाहियोका कत्लेआम शुरू कर दिया! ऐसे समयकी दया नादानीकी पराकाष्ठा होती है और उसका नतीजा इसी तरह भुगतना पडता है। लेनिनने इस दयावाली नादानीका सुन्दर वर्णन सन् १९०५ वाली रूसी क्रान्तिके सम्वन्धके २२।१।१९१७वाले ज्यूरिचके भाषणमे किया है। महाभारतके समय वही गलती अर्जुन भी ऐन मौकेपर करने जा रहा था।

मगर इस ऐन मौकेपर पीछे हटनेके लिये कोई कारण तो चाहिये ही। दयाकी वात तो की जा नही सकती थी। जिनने सव कुछ किया और पाडव परिवारका सर्वस्व छीनने, उन्हे तग-तबाह करने, उनकी स्त्रीतकको वेइज्जत करने और उन्हे मार डालनेतकके लिये जिनने कोई भी दकीका बाकी नही रखा, यहाँतक कि जगलमे भटकनेके समय उन्हे चिढाने तथा जलेपर नमक छिडकनेके लिये वही राजसी ठाटवाटके साथ दुर्योधनका सारा समाज पहुँच गया था, उन्हीके साथ दया! ऐसा बोलनेकी हिम्मत अर्जुनको थी नही। इसलिये वह धर्म, पाप, कुलसहार, वर्णसकर, नरक-वासका भय आदि बाते पेश करने लगा, धर्म एव नीतिशास्त्रके पन्नेके

पन्ने उलटने लगा ! उसने यह भी कहा कि यह ठीक है कि विरोधियोको भी ऐसा ही सोचना चाहिये, आखिर अक्लकी ठेकेदारी हमीको तो नही है, एक ही पक्ष के सोचने से दुनिया में काम भी नही चला करता। फिर भी उनकी आँखें तो वन्द है। वे तो लोभमें पडे है। उन्हें तो लोक-परलोक कुछ सूझता नही। लेकिन हमारी तो खुली है। हम तो सारा अनर्थ साफ देख रहे है। इसलिये हम तो सन्तोषको ही कल्याणकारी मानते है। यह भी ठीक है कि हम हटेगे तो शत्रु लोग हमें बर्बाद करके ही छोडेंगे। मगर इससे क्या ? हमारा परलोक तो न बर्बाद होगा, स्वर्ग वैकुठ तो मिलेगा, भगवान तो खुश होगे। इसलिये हमें हर्गिज-हर्गिज लडना नही चाहिये।

ऐसा मालूम होता है कि किसी जमीदार या कारखानेदारके अत्याचारोसे ऊबकर हडताल या और तरहकी सीधी लडाई लडनेको जब किसान और मजदूर पूरी तरह आमादा है, ठीक उसी समय कोई धर्मध्वजी, धर्मका ठेकेदार गुरु, पीर, पडित, मौलवी या पादरी उन्हे धर्म और भगवानके नामपर सिखा रहा है कि कभी सघर्ष और लडाईका नाम न लो। राम, राम, महापाप होगा। यदि जमीदार-मालदार कष्ट देते है, तो वर्दाश्त करो। आखिर वे लोग वडे है, मालिक है। छोटोके लिये बडोकी बातें सहनेमे ही फायदा है। सन्तोष करो, तो भगवान खुश होगा, परलोक वनेगा। भुलावेमे मत पडो। वे गलती करते है तो करें, मगर उनकी देखा-देखी तुम लोग क्यो नादानी कर रहे हो, आदि आदि। और दूसरे अध्यायके शुरूके दो श्लोकोमें जो कुछ कृष्णके मुँहसे गीताने कहलवाया है वह तो ऐसा मालूम होता है कि कोई वर्गसघर्षवादी मार्क्सवादी ऐसे उपदेशकोको और उन किसान-मजदूरोको भी फटकार रहा है जो भूलभुलैयांमें पडके आगा-पीछा कर रहे है। गीताने धर्म और पुण्य-पाप आदिकी सारी दलीलोका जो उत्तर इन दो श्लोकोमें ही खत्म कर दिया है वह

निरी भौतिक दृष्टिसे ही है। इतना चुभता हुआ, सक्षिप्त और माकूल उत्तर शायद ही मिले। अर्जुनकी धर्म-वर्मकी बातोकी जरा भी पर्वा नही की गई है। उनका खयाल ही नही किया गया है। सीधे सासारिक दृष्टिसे ही उसे कसके चपत लगाई गई है और करारी डाँट दी गई है। इन दो श्लोकोमे जो सिर्फ एक शब्द 'अस्वर्ग्य' आया है उससे शायद यह भ्रम हो कि स्वर्ग या परलोककी बात भी इसमे है। मगर सस्कृतमे 'अस्वर्ग या अस्वर्ग्य' शब्द मनहूस, अमगल आदिके ही मानीमे आता है। ऐन लडाईके समय इन बातोसे बढके मनहूस या अमगल होई क्या सकता है? इसीलिये हम गीता-धर्मको मार्क्सवादका साथी पाते है।

## स्वधर्म और स्वकर्म

इस सिलसिलेमे हम दो और बाते कहके यह प्रकरण पूरा करेगे। एक तो है अपने-अपने धर्मोमे ही डटे रहने और दूसरेके साथ छेडखानी न करनेकी। अपने धर्मको कभी किसी दूसरे धर्मसे बुरा या छोटा न मानना और दूसरोके धर्मोपर न तो हाथ बढाना और न उनकी निन्दा करना, यह गीताकी एक खास बात है। गीताने इसपर खास तौरसे जोर दिया है। चाहे और जगह भी यह बात भले ही पाई जाती हो; मगर गीतामे जिस ढगसे इसपर जोर दिया गया है और जिस प्रकार यह कही गई है वह चीज और जगह नही पाई जाती।

यो तो किसी न किसी रूपमे यह बात अन्य अध्यायो एव स्थानोमे भी पाई जाती है। मगर तीसरे अध्यायके ३५वे और अठारहवेके ४७, ४८ श्लोकोमे खास तौरसे इसका प्रतिपादन है। यहाँतक कि "श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात्" श्लोकका यह आधा भाग दोनो ही जगह ज्योका त्यो लिखा गया है। इससे गीताकी नजरोमे इसकी अहमियत बहुत ज्यादा मालूम पडती है। यह भी जान पडता है कि इस मामलेमें

जो एक निश्चित दृष्टि तय कर दी गई है उसीका ज्योका त्यो पालन करनेपर ही गीताका जोर है। वह उसमें जरा भी परिवर्त्तन बर्दाश्त नही कर सकती। नही तो उन्ही शब्दोको हूबहू दोनो जगह दुहरानेका और दूसरा मतलब होई क्या सकता है? यह भी नही कि वे शब्द साधारण है। वही तो गीताके इस मन्तव्यके प्रतिपादक है। उनके साथ जो अन्य शब्द या वाक्य पाये जाते है उनका काम है इन्हीकी पुष्टि करना—इन्हीके आशयको स्पष्ट करना।

अब जरा इनका अर्थ देखें। श्लोकका जो आधा भाग ऊपर लिखा गया है उसका आशय यही है कि "दूसरेका धर्म यदि अच्छी तरह पालन भी किया जाय तो भी उसकी अपेक्षा अपना (स्व)धर्म अधूरा या देखनेमें बुरा होनेपर भी कही अच्छा होता है।" एक तो गीताने धर्म और कर्मको एक ही माना है यह बात पहले कही जा चुकी है और आगे भी इसपर विशेष प्रकाश डालेगे। लेकिन इतना तो इससे साफ होई जाता है कि यह मन्तव्य सभी कामो, क्रियाओ या अमलोके सम्बन्धमें है, न कि धर्मके नामपर गिनाये गये कुछ पूजा-पाठ, नमाज आदिके ही बारेमें। इसका मतलब यह हुआ कि हमे अपने-अपने कामोकी ही पर्वा करनी चाहिये, फिक्र करनी चाहिये, फिर चाहे वे कितने भी बुरे जँचते हो, भद्दे लगते हो या उनका पूरा होना गैरमुमकिन हो। वे अधूरे भी दूसरोंके पूरोसे कही अच्छे होते है। इसलिये दूसरोके अच्छे, सुन्दर और आसानीसे पूरे होनेवाले कामोपर हमारा खयाल कभी नही जाये, हम उन्हें करने और अपनोको छोडनेकी भूल कभी न करे। क्योकि इस तरह हम दो कसूर कर डालेगे। एक तो अपने कर्त्तव्यसे भ्रष्ट होगे और इस तरह उसकी पाबन्दीके बिना होनेवाली खराबियोकी जवाबदेही हमपर होगी। दूसरे हम अनधिकार ेष्टाके भी अपराधी होगे।

दूसरी बात है इसमें अपने या 'स्व'की। स्वकर्म या स्वधर्मका मतलब

है जो प्रत्येक आदमीके लिये किसी वजहसे भी निर्धारित है, निश्चित है, उसके जिम्मे लगाया गया ( assigned ) है, या जो उसके स्वभावके अनुकूल होनेके कारण ही उसपर लादा गया है, उसके माथे मढा गया है। १८वे अध्यायवाले श्लोकमे ऊपर लिखे आधे श्लोकके बाद कारणके रूपमे लिखा गया है कि "स्वभावके अनुकूल जो काम हो उसे करनेमे पाप या बुराई होती नही"—"स्वभावनियत कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम्।" इससे पता चलता है कि स्वकर्म या स्वधर्मका अर्थ है "स्वाभाविक धर्म या कर्म।" उसके पहलेके ४१-४६तकके छे श्लोकोमे चारो वर्णोंके धर्मोंको गिनाते हुए सबोको "स्वभाविकधर्म" ही कहा है। उन श्लोकोमे केवल 'कर्म' शब्द ही है और इस ४७वेमें भी पूर्वार्द्धमे 'धर्म' कहके उत्तरार्द्धमे, जैसा कि अभी दिखाया है, 'कर्म' ही कहा गया है। बादवाले ४८वेमे भी "सहज कर्मकौन्तेय"में पुनरपि कर्म शब्द ही आया है। फलत मानना होगा कि धर्म और कर्म एक ही मानीमे बोले गये है और इन शब्दोका अर्थ है स्वभावनियत, स्वभावके अनुकूल या स्वाभाविक काम।

मगर समस्त गीताके आलोडन करने और १८वे अध्यायके आरभके ही कुछ वचनोको भी देखनेसे पता चलता है कि कुछ कर्म ऐसे है जिनके बारेमे स्वभावका सवाल होता ही नही। वे तो सबोके लिये नियत, स्थिर या तयशुदा है। दृष्टान्तके लिये ५-६ —दो— श्लोकोमे यज्ञ, दान, तपके बारेमें कहा गया है कि ये सबोके लिये समानरूपसे कर्त्तव्य है। इन्हें कोई छोड नही सकता। बेशक फल और कर्म—दोनोकी ही—आसक्ति छोडके ही ये किये जाने चाहिये,' कृष्णने अपना यह पक्का मन्तव्य कहा है। इसके बाद ही "नियतस्य तु सन्यास कर्मण "आदिमे कहा है कि नियत कर्मका त्याग उचित नही है। वह तो तामस त्याग है। ६वे श्लोकमे भी "कार्यमित्येव यत्कर्म नियत" शब्दोके द्वारा नियत कर्मको कर्त्तव्य समझके करते हुए फलासक्ति एव कर्मासक्तिके त्यागको ही सात्विक-

त्याग कहा है। इससे स्पष्ट है कि नियत कर्म कहते है स्वाभाविक कर्मको और किसी कारणवश स्थिर या निश्चित किये गये ( assigned ) कर्मको भी। यज्ञ, दान, तप ऐसेही कर्मोमे आते है। अपने आश्रितोका पालन या रक्षा भी ऐसे ही कर्मोमें है। पहरेदारका पहरा देना, अध्यापकका पढाना या सेवककी सेवा भी ऐसी ही है। अनेक धर्म, मजहब या सम्प्रदायोके अनुसार जिसे जो करनेको कहा गया है वह भी नियतकर्म या स्वधर्ममें आ जाता है। अपनी श्रद्धा और समझसे जो कुछ भी करता है वह तो पक्का-पक्की स्वधर्म है।

इस प्रकार यदि देखा जाय तो गीताने धर्म-मजहबके झगडे और शुद्धि या तबलीगके सवालकी जडको ही खत्म कर दिया है। गीता इन झगडो और सवालोको भेडोका मूँडना ही समझती है। और आदमीको भेड बनाना तो कभी उचित नही। इसीलिये इन झमेलोमें पडनेकी मनाही उसने कर दी है। उसने तो अठारहवें अध्यायके ४८वें श्लोकमें यह भी कह दिया है कि बुराई-भलाई तो सभी जगह और सभी कामोमें लगी हुई है। इसलिये कर्मोके सम्बन्धमें अच्छे और बुरे होनेकी क्या बात ? हमारा धर्म अच्छा, तुम्हारा बुरा, यह बात उठती ही है कैसे ? सभी बुरे और सभी अच्छे है। किसने देखा है कि कौनसे धर्म भगवान या खुदा तक सीढी लगा देते है ? इसीलिये तीसरे अध्यायमें "श्रेयान्स्वधर्मो विगुण" आदि आधे श्लोकके बाद कहा है कि "इसलिये स्वधर्म करते-करते मर जाना ही कल्याणकारी है, दूसरेका (पर)धर्म तो भयदायक है।"

इतना ही नही। ठीक इस श्लोकके पूर्ववाले ३४वे श्लोकमें कहा है कि "हरेक इन्द्रियोके जो पदार्थ (विषय) होते है उनके साथ रागद्वेष लगे ही होते हैं, उनसे किसीका भी पिंड छूटा नही होता। सलिये इन रागद्वेषोसे ही बचना चाहिये। असलमे चीजे या उनका ताल्लुक ये खुद बुरे नही है—इनसे किसीकी हानि नही होती। किन्तु उनमें जो

रागद्वेष होते है वही सब कुछ करते है—वही जहर है, घातक है"—
"इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ। तयोर्न वशभागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥" इस बातका प्रतिपादन तो पहले बहुत विस्तारके साथ किया गया है। यहाँ ऐसा कहनेका अभिप्राय यह है कि भले बुरेका सवाल उठाके जो किसी धर्म या कामको बुरा और दूसरेको अच्छा कहते है और इसीलिये आपसमे लोगोके सर भी फूटते है, वह तो नादानी है। न कोई भला है न बुरा। भला-बुरा तो अपना मन ही है। यही तो चीजो या कामोमे रागद्वेष पैदा करके जहन्नुम पहुँचाता है। इसलिये हमे इस भूलमे हर्गिज नही पडना होगा। गीताका यह कितना सुन्दर मत्र है और यदि हम इसपर चले तो हमारे हक्की लडाई कितनी जल्दी सफल हो जाय। ऐसा होनेपर तो मार्क्सवादके सामनेकी भारी चट्टान ही खत्म हो जाय और वर्गसघर्ष निर्बाध चलने लगे।

## योग और मार्क्सवाद

जिन दो बातोको कहके यह प्रकरण पूरा करनेकी इच्छा हमने जाहिर की थी उनमे स्वधर्मवाली यह एक बात तो हो चुकी है। अब दूसरीको देखना है। गीताके छठे अध्यायके ४५वे, और सातवे अध्यायके तीसरे एव १९वे श्लोकोके अनुसार गीतोक्त योग प्राय: अप्राप्य है। लाखो करोडोमे शायद ही एकाध आदमी इसमे पूरे उतरते है। उक्त ४५वे श्लोकमें तो कहा है कि "योगकी प्राप्तिके लिये यत्न करनेवाला मनुष्य जब इसमे सारी शक्ति लगाके पडे तो उसके भीतरकी मैल धुलते-धुलते बहुत जन्म लग जाते है; तब कही वह पूर्ण योगी बनके परमगति प्राप्त करता है"—"प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी सशुद्धकिल्विष। अनेकजन्म-ससिद्धस्ततो याति परा गतिम् ॥"

इसी प्रकार सातवे अध्यायके १९वे श्लोकमे भी कहा है कि "बहुत

जन्मोमें कोशिश करते-करते ज्ञान हासिल होता है, समस्त ससारमे वासुदेव बुद्धि या परमात्मज्ञान होता है। उसीके वाद ब्रह्मप्राप्ति होती है। ऐसे महात्मा लोग अत्यन्त अलभ्य है।" —"वहूना जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मा प्रपद्यते। वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ ॥" मगर तीसरे श्लोकमें तो और भी कठिनाईका वर्णन इस मार्गके सिलसिलेमें मिलता है। वहाँ तो कहा है कि "हजारो लाखोमें एकाध आदमी ही योगी होनेके लिये यत्न करते है और ऐसे लाखोमें विरला ही कोई मुझे—परमात्माको—ठीक-ठीक जान पाता है"—"मनुष्याणा सहस्रेपु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धाना कश्चिन्मा वेत्ति तत्त्वत ॥"

यदि इन तीनो वचनोको मिलाके देखें तो पता चलता है कि गीताका योग नियम तो हो सकता है नही। यह तो इतना कठिन है कि असभव-प्राय है। कठोपनिषत्में इसी सम्बन्धके प्रश्नके उत्तरमें यमने नचिकेतासे कहा था कि "नचिकेता, मौतकी बात मत पूछो—जीते जी मर जानेकी बात न पूछो"—"नचिकेतो मरण माऽनुप्राक्षी" (१।१।२५)। उनने यह भी कह दिया था कि "इस मार्गपर चलना क्या है छुरेकी तीखी धारपर चलना समझो, जो असभव जैसी वात है। इसीलिये जानकार लोगोने कहा है कि यह मार्ग दुर्गम है"—"क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया दुर्ग पथस्तत्कवयो वदन्ति" (१।३।१४)। हमने भी योगके सम्बन्धमें जो कुछ पहले कहा है उससे भी निस्सन्देह यही बात पक्की हो गई है।

तृतीय अध्यायके "यस्त्वात्मरतिरेव" श्लोकका वार-वार उल्लेख तो आया है। मगर इस सम्वन्धमें उसे मनन करना चाहिये। चौथे अध्यायके १९-२३ श्लोकोको भी गौरसे पढना होगा। पाँचवेंके ७-२१ श्लोक भी इस सम्बन्धमें बहुत महत्त्व रखते है। छठें अध्यायके ७-३२ श्लोकोमें जितनी बातें कही गई है उनसे भी इस विषयपर पर्याप्त प्रकाश पडता है। आठवेंके ८-१६ श्लोक भी विचारणीय है। दूसरे अध्यायके अन्तमें जो

स्थितप्रज्ञ का, बारहवे के १३-१६ श्लोको मे जो भक्तका और चौदहवेंके २२-२५ श्लोकोमे जो गुणातीतका वर्णन है वह हमारी आँखें खोल देता है, ताकि इस चीजकी कठिनाईका अनुभव करे। तेरहवेके २७,२८ श्लोकोमे भी यह बात मिलती है। अन्तमे अठारहवे अध्यायके ५०-५८ श्लोकोमे भी यह बात लिखी गई है। यदि हम इन सभी वचनोका पर्यालोचन और मन्थन करते है तो कठोपनिषत्‌वाली बात अक्षरश सत्य सिद्ध होती है और मानना पड जाता है कि गीताका योग असभवसी चीज है। फलत वह अपवाद स्वरूप ही हो सकता है, न कि मनुष्योके लिये नियम या सर्व-जन-सभव पदार्थ। सभी लोग ऐसी चीजको कमसे कम आदर्श बनाये यह भी उचित नही। आकाशके चाँदको जो आदर्श बनाये और उसीके पीछे अपने सभी कामोको चौपट करे वह पागलके सिवाय और कुछ नही। यह योग ऐसा नही कि उसे आदर्श बनाके हम कुछ और भी कर सकते है, जबतक वह प्राप्त न हो जाय।

जब इस भौतिक ससारमे गीताधर्म—योग—अपवाद ही हो सकता है, न कि नियम, तो स्वभावत यह प्रश्न उठता है कि सर्वसाधारणके लिये जो चीज साध्य हो और इसीलिये जो हमारे लिये नियम जैसी सार्वजनिक वस्तु हो सके वह क्या है? उत्तरमे बेखटके कहा जा सकता है कि वह है मार्क्सवाद। बहुत लोग इस बातको नही समझके ही नाक भौं सिकोडते है। हालाँकि हमने धर्म तथा ईश्वरके सम्बन्धमे मार्क्सवादका जो विश्लेषण किया है उससे लोगोका भ्रम कमसे कम उस सम्बन्धमे तो मिट जाना ही चाहिये। मगर वह तो मार्क्सवादका एक पहलू मात्र है। असलमे तो मार्क्सवाद साम्यवाद या वर्गविहीन समाजका निर्माण ही है। मार्क्सवादका तो यही लक्ष्य माना जाता है कि इस ससारको आनन्दमय, सुखमय, स्वर्ग या वैकुठ जैसा बना दिया जाय; न बीमारियाँ हो और न अकालमृत्यु हो, न कोई गरीब हो और न अमीर; सबोको समानरूपसे

खाने-पीने, पढने-लिखने, कला-कौशल तथा ज्ञान-विज्ञानकी सभी सुविधायें प्राप्त हो, सबसे ऊँचे दर्जेके आरामका सभीके लिये—मानवमात्रके लिये—पूरा सामान होनेपर भी अन्वेषण, विज्ञान, कला आदिके लिये पर्याप्त समय सबको प्राप्त हो, अनावृष्टि, अतिवृष्टि, पाला आदिको निर्मूल कर दिया जाय, प्रकृतिके साथ ही सघर्ष करके मौतके ऊपर भी कब्जा कर लिया जाय, आदि आदि। एक वाक्यमें "सर्वेऽपि सुखिन सन्तु सर्वे सन्तु निरामया। सर्वे भद्राणि पश्यतु मा कश्चिद् दु खभाग्भवेत्," पूरी तरह चरितार्थ हो जाय। यह बाते केवल मनोराज्य नही है। विज्ञानके लिये ये सभी सभव है। यदि विश्वामित्रकी नई सृष्टि मानी जाती है तो आज भी विज्ञान क्या नही कर सकता है ? विश्वामित्रने भी यदि किया होगा तो विज्ञानके ही बलसे।

यह ऐसी चीज नही है कि मानवमात्रमें किसीके भी लिये असाध्य हो। यह भी नही कि इसके लिये कोई खास ढगकी या अलौकिक तैयारी चाहिये। मार्क्सने तो इसका सीधा उपाय वर्गसघर्ष बताया है। उसीका मार्ग अबाध हो जानेपर यह सभी बाते अपने आप धीरे-धीरे हो जायँगी। रूसने इसका नमूना पेश भी कर दिया ह। वह इस मामलेमें बहुत कुछ अग्रसर हो गया है। असलमें पूँजीवादी राष्ट्रोसे घिरे होनेके कारण ही—ऐसे राष्ट्रोसे जो उसे हजम करनेपर तुले बैठे है—उसकी प्रगतिमें वैसी तेजी नही आ सकी है। यदि यह बात न होती तो वह देश आज कहाँका कहाँ जा पहुँचा होता। फिर भी उसने जो कुछ किया है वह भी कम नही है।

हमने अनीश्वरवादके सम्बन्धमे मार्क्सका मत स्पष्ट करी दिया है। मगर थोडी देरके लिये मान भी ले कि वह धर्म-वर्मसे नाता तोडनेको ही कहता है, तो हर्ज क्या है ? यदि ऊपर लिखी सभी बातोकी सिद्धिके लिये—भूमिपर ही स्वर्ग लानेके लिये—यह करना भी पडे और ईश्वरको

भी विदाई देनी हो तो क्या बुरा है ? मामूली जमीन-जायदाद, रुपये-पैसे और कारबारके लिये भी तो रोज ही धर्म और ईश्वरको धकियाते ही है, गर्दनियाँ देते ही है। कचहरियोमे, सर्वेसेट्लमेन्टके समय और खरीद-बिक्रीमे तो रोज ही शालग्राम, गगा-तुलसी, वेद, कुरान, बाइबिल उठाके झूठी कसमे खाते ही है। क्या इतनेपर भी धर्म और ईश्वर रही गये ? फाटका और सट्टेबाजीमे तो कोई भी जाल-फरेब बच पाता नही और आजकलका व्यापार तो केवल जूआ ही है। फिर भी क्या हम लोगोने धर्म और ईश्वरको भूमडलमे कही भी रख छोडा है ? यदि इतनेपर भी हममे कोई ऐसा कहनेकी धृष्टता करे कि वह धर्मवादी और ईश्वरवादी है तो यह परले दर्जेका धोका है, आत्मप्रवचना और लोकवचन है।

फिर हम साफ ही क्यो न कह दे कि हम धर्म-वर्म नही मानते ? इसमे ईमानदारी तो है। उसमे तो यह भी नही है। इसका परिणाम भी सुन्दर होगा। हम धर्मके ठेकेदारोसे बाल-बाल—साफ-साफ—बच जायँगे और अपने हककी लडाई बेखटके अच्छी तरह चलाके श्रेणी-विहीन समाज जल्दसे जल्द स्थापित कर सकेंगे। धर्म माननेकी दशामे तो दुबिधेमे—रमखुदैयामे—रह जानेके कारण कोई काम ठीक-ठीक कर पाते नही। न इधरके रह जाते है और न उधरके। परिणाम बहुत ही बुरा होता है। इसमें यह बात न होगी। कोई रुकावट तो होगी ही नही। मालदार-ज़मीदारो-का अन्तिम ब्रह्मास्त्र तो यही है और जब यही न रहा, तो उनकी तो कमर ही टूट जायगी और जल्दी ही धडामसे गिर पडेगे। इसलिये हमारी—शोषितो एव पीडितोकी—जीत शीघ्र ही होगी और अवश्य होगी। धर्म और ईश्वरके नामपर जो स्वर्ग, वैकुठ या बिहिश्त मिलनेवाला बताया जाता है वह एक तो अनिश्चित है। दूसरे उसका आँखो देखा प्रमाण तो है नही। तीसरे वह मिलेगा भी तो मरनेके बाद। मगर इसका फल तो यहीपर प्रत्यक्ष स्वर्ग और वैकूठ है। इससे तो यहीपर आनन्द-समुद्रमे गोते लगाना है।

लेकिन यदि धर्म और ईश्वर सत्य नही है तब तो विज्ञान उनका पता नही ही लगा पायेगा, यह बात पक्की है और जो विज्ञानकी कसौटीपर खरा न उतरे वह तो जरूर ही नकली होगा। फिर हमे उसकी चिन्ता ही क्यो हो ? हमे तो उलटे इसमे खुशी होनी चाहिये कि मिथ्या चीजोसे पिड छूटा। तब तो हमे मार्क्सवादका कृतज्ञ भी होना चाहिये कि उसने सत्यका पता लगाया और धर्म या ईश्वर जैसी मिथ्या चीजोसे हमारा पिड छुडाया। आखिर मिथ्याचार और मिथ्या पदार्थोंसे चिपटे रहना तो कोई बुद्धिमानी है नही। यह तो किसी भी भलेमानसका काम नही है और हम—धर्मवादी—लोग यह तो दावा करते ही है कि हम भले लोग है। फिर तो हृदय से धर्मवादी खुश ही होगे कि चलो अच्छा ही हुआ और मिथ्या पदार्थोंसे पिंड छूटा। ईमानदारीका तकाजा तो यही है।

इस प्रकार इस लम्बे विवेचनने यह साफ कर दिया कि गीताधर्म और मार्क्सवादका कही भी विरोध नही है। वे अनेक मौलिक बातोमे एक दूसरे के निकट पहुँच जाते है—मिल जाते है। बल्कि यो कहिये कि कई बुनियादी बातोमे गीताधर्म मार्क्सवादका पूर्णतया पोषक है। इतना कहनेमे तो किसीको भी आनाकानी नहीं होनी चाहिये कि मार्क्स-वादको गीतासे कोई आँच नही है—कोई भय नही है। मार्क्सवादसे गीताधर्मके डरने या उसे आँच लगनेका प्रश्न तो उठी नही सकता। ऐसा प्रश्न उठाना ही तो गीताधर्मको नीचे गिराना और उसके महत्त्वको कम करना है। वह तो इतनी मजबूत नीवपर खडा है, उसकी बुनियाद तो इतनी पक्की है कि वह सदा निर्भय है। उसे किसीसे भी भय नही है। वह इतना ऊँचा है कि उसतक कोई दुश्मन पहुँची नही सकता है। असलमें उसका शत्रु कोई हई नही। गीताधर्मका तो निष्कर्ष ही है "तुल्यो मित्रारिपक्षयो" (१४।२५), "सम शत्रौ च मित्रे च" (१२।१८) आदि-आदि।

उससे पहलेके २७वे श्लोकमे परमेश्वर भी शब्द आया है । मगर उसमे वह सफाई नही है जो १८वे अध्यायके उस ईश्वर शब्दमे है । वहाँ तो कुछ एसा मालूम होता है कि सबोसे अलग और सबोके ऊपर कोई पदार्थ है जिसे ईश्वर कहते है और उसकी शरण जानेसे ही उद्धार होगा । इस प्रकार जैसा आमतौरसे ईश्वरके बारेमे खयाल है ठीक उसी रूपमे वहाँ आया मालूम होता है । मगर यहाँ जो ईश्वर और परमेश्वर है वह उस रूप मे उसे बताता मालूम नही पडता है । "प्रकृति पुरुष चैव" इस १९वे श्लोकसे ही शुरू करके यदि देखा जाय तो देह और जीव या प्रकृति और पुरुषका ही वर्णन इस प्रसगमे है । उन्हीको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ भी पहले तथा इस प्रसग मे भी कहा है । फिर २२वे श्लोकमे तो साफ ही कहा है कि इसी पुरुषको पर, परमात्मा, महेश्वर आदि भी कहते है जो इसी देहमे मौजूद है । आगे चलके २६वेमे उसे ही क्षेत्रज्ञ कहके २७, २८मे परमेश्वर और ईश्वर कहा है । इसलिये वह सफाई यहाँ है कहाँ ? यहाँ तो जीव और ईश्वर एकही प्रतीत होते है । ३१वे श्लोकमे भी "परमात्माऽयमव्यय" शब्दोके द्वारा इसी पुरुषको ही अविनाशी परमात्मा कह दिया है ।

बेशक पन्द्रहवे अध्यायके १७, १८ श्लोकोमे परमात्मा, उत्तम पुरुष, पुरुषोत्तम तथा ईश्वर शब्दोसे ऐसे ही ईश्वरका उल्लेख आया है जो प्रकृति एव पुरुषके ऊपर—दोनोसे निराला और उत्तम—बताया गया है । लेकिन यहाँवाला ईश्वर शब्द मुख्य नही है, ऐसा लगता है । चौदहवे अध्यायके १९वे श्लोकमे पर शब्द आया है । उसीके साथ 'मद्भाव' शब्द है । २६ और २७ श्लोकोमे 'मा' या 'अस्मत्' शब्द है । इससे पता लगता है कि पर शब्द भी परमात्माका वाचक है । मगर वह जीवात्मासे अलग यहाँ प्रतीत नही होता । हाँ, १६वें अध्यायके "असत्यम-प्रतिष्ठन्ते जगदाहुरनीश्वरम्" (८)में जो अनीश्वर शब्दके भीतर ईश्वर

है वह उसी ईश्वरका वाचक है, यद्यपि सफाईमें कुछ कमी है। आगे चौदहवें श्लोकका ईश्वर शब्द तो मालिक या शासकके ही अर्थमें आया है। हाँ, १८, १९, २० श्लोकोमे जो 'अह' और 'मा' शब्द आये है वह जरूर ईश्वरके मानीमे है। सत्रहवें अध्यायके छठें श्लोकमें 'मा' शब्द स्पष्ट ईश्वरके अर्थमें नही है। किन्तु जीवाभिन्न ईश्वर ही उसका आशय मालूम पडता है। वेशक, २७वे श्लोकमे जो 'तदर्थीय' शब्द है उसका 'तत्' शब्द ईश्वरवाचक है। लेकिन वह व्यापक अर्थमें ही आया है।

अठारहवे अध्यायके ४६वे श्लोकमे 'त' शब्द ईश्वरके ही मानीमें आया है, चाहे स्पष्टता उतनी भले ही न हो। उससे पहलेके ४३वें श्लोक का ईश्वर शब्द शासकके ही अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। ५०-५८ श्लोकोमें ब्रह्म और अस्मत् शब्द वारवार आये है और ईश्वरार्थक है। यही वात ६५, ६६ श्लोकोके 'अह', 'मत्' आदि शब्दोकी है । इसपर आगे विशेप वातें लिखी जायँगी। ६८वे श्लोकमें भी यही वात है। ग्यारहवे अध्यायके ५-५५ श्लोकोमे 'अह', 'माम्', 'मत्', 'मे', 'मम,' 'ऐश्वरम्' आदि शब्द ईश्वरवाची ही है। दसवेंके २-४२ श्लोकोमे भी वारवार 'अह' शब्द 'परमात्मावाची' ही है। यही हालत ९वे अध्यायकी भी है। सातवेंके २९,३०-श्लोको में और ८वेंके शुरूके चार श्लोकोमें भी ब्रह्म, अधियज्ञ आदि शब्द ईश्वरके ही अर्थमें प्रयुक्त हुए है। आगेके 'अक्षर' शब्दका भी यही मतलव है। अव्यक्त, परपुरुष आदि शब्द भी इसी मानीमे आये है। यहाँ 'अस्मत्' शब्दके जितने रूप है सभी ईश्वरके ही अर्थमे है। सातवें अध्यायके 'वासुदेव' तथा 'अनुत्तमागति' ईश्वरार्थ कही है। वहाँ 'माम्', 'अहम्' आदि वारवार आनेवाले शब्द भी उसी मानीमें आये है। छठे अध्यायकी भी यही वात है,। पाँचवेंके १०वे श्लोकका 'ब्रह्म' शब्द और २९वे श्लोकमें 'महेश्वर' शब्द निस्सन्देह ईश्वरवाचक है। 'अह' या 'मा' आदि शब्द भी वैसे ही है। चौथे अध्यायके पहले श्लोक का 'अह' शब्द ईश्वरार्थक

है। मगर तीसरेके 'मया' और 'मे' कृष्णके ही अर्थमे आये है। छठेके 'अज' एव 'ईश्वर' शब्द ईश्वरके अर्थमे आये है। फिर १४ श्लोकतक 'अस्मत्' शब्दका प्रयोग भी उसी मानीमे है। २३वेंका यज्ञ शब्द व्यापक अर्थमें ईश्वरको भी कहता है। उसके बादका ब्रह्म शब्द परमात्माका ही वाचक है। ३१वेमे भी ब्रह्मका वही अर्थ है। ३५वेका 'मयि' शब्द ईश्वरार्थ है।

तीसरे अध्यायके तीसरे श्लोकमे 'मया' शब्द ईश्वरके ही अर्थमे आया है। दसवेका प्रजापति ईश्वर ही है और पन्द्रहवेका अक्षर भी वही है। ३०वेमे 'मयि' शब्द ईश्वरको ही कहता है। मगर ३१, ३२मे जो 'मे' शब्द है वह कृष्णका वाचक है। जिस प्रकार अठारहवे अध्यायमे अत्यन्त सफाईके साथ ईश्वरका जिक्र अन्तमे आया है, ठीक उसके उलटा दूसरे अध्यायमें उसकी चर्चातक कही हुई नही! वह वहाँ कतई बेदखल कर दिया गया है! वहाँ तो आत्मा ही परमात्मा बना बैठा है। इस प्रकार स्पष्ट रूपमे तो बहुत ही कम, लेकिन अस्पष्ट रूपमे ईश्वरका उल्लेख गीतामे पद-पदपर पाया जाता है।

इस तरह मालूम हो गया कि गीतामे ईश्वरकी किसी न किसी रूपमे सैकडो बारसे ज्यादा चर्चा आई है। मगर असली रूपमे हम उसे केवल १८वे अध्यायके ६१वे श्लोकमे ही साफ-साफ पाते है। कृष्णने खुद जो "मै" और "मेरा" आदिके रूपमे सैकडो बार कहा है उसमे कुछी बार अपने लिये—साकार वसुदेवपुत्रके लिये—कहा है। मगर आमतौर से अपने ईश्वरीय स्वरूपको ही लक्ष्य करके बोल गये है। यदि पूर्वापरका विचार करके देखा जाय तो शरीरी कृष्णमे वे बाते लागू होई नही सकती है, जिनका उल्लेख उनने ऊपर बताये स्थानोमे जाने कितनी बार किया है। जब चौथे अध्यायके शुरूमे ही उनने कहा है कि मैने यह योग पहले विवस्वान्को बताया था और विवस्वान्ने मनुको, तो यह बात शरीरी

कृष्णमें कथमपि लागू हो सकती है नही। उसीके आगे जब अवतारकी बातके प्रसगमें कहा है कि मै समय-समयपर पैदा हो जाता हूँ, तो यह भी शरीरधारीके लिये सभव नही। कोई नही मानता कि कृष्ण बार-बार जन्म लेते है। यो तो हर मनुष्य भी बार-बार जन्मता ही है। मगर उसे अवतार नही कहते। चातुर्वर्ण्यकी रचना भी कृष्णके शरीरसे नहीं होती। हालाँकि उनने कहा है कि मै ही चातुर्वर्ण्य बनाता हूँ। सातवें अध्यायमे अपनेको अधियज्ञ कहा है। यह भी ईश्वरके ही लिये सभव है, न कि शरीरवालेके लिये। अधियज्ञका आशय आगे मालूम होगा। इसी प्रकार प्रत्येक प्रसगके देखनेसे पता चलता है कि आत्मज्ञानके बलसे कृष्ण अपनी आत्माको परमात्मस्वरूप ही अनुभव करते थे और वैसा ही बोलते भी थे। वह उपदेशके समय आत्माका ब्रह्मके साथ तादात्म्य मानते हुए ही बाते करते थे। मालूम होता है, जरा भी नीचे नही उतरते थे। उसी ऊँचाईपर बराबर कायम रहते थे। इसीलिये तो इन उपदेशोमे अपूर्व आकर्षणशक्ति और मोहनी है। बृहदारण्यक उपनिषदमें वामदेवके इसी प्रकारके अनुभवका उल्लेख आया है। वहाँ लिखा है कि "तद्धै-तत्पश्यन्नृषिर्वामदेव प्रतिपेदेऽह मनुरभव सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एव वेदाह ब्रह्मास्मीति स इद सर्व भवति" (१।४।१०)।

इसका अर्थ है यह कि "वामदेव ऋषिको जब अपनी ब्रह्मरूपताका साक्षात्कार हो गया तो उनने कहा कि ऐ, हमी तो मनु, सूर्य आदि बने! आज भी जिसे ठीक वैसा ही अनुभव अपनी ब्रह्मरूपताका हो जाय वह भी यही मानता है कि वही यह सारा ससार बन गया है।" ससार तो ईश्वरका ही रूप माना जाता है। गीतामें तो इसकी घोषणा है। इसलिये जो अपनेको ब्रह्मरूप ही मानने लगेगा वह तो यह समझेगा ही कि सारी दुनिया उसीका रूप है। कृष्णका अनुभव ऐसा ही था। इसीलिये सातवें अध्यायके ६-१२ श्लोकोमे, नवेंके १६-१९ श्लोकोमे और दसवेंके प्राय सभी श्लोकोमें

साथ ही और भी वात कही गई है। वहाँ तो कहते है कि "अर्जुन, ईश्वर तो सभी प्राणियोके हृदयमें ही रहता है और अपनी माया (शक्ति) से लोगोको ऐसे ही घुमाता रहता है जैसे यत्र (चर्खी आदि) पर चढे लोगोको यत्रका चलानेवाला—"ईश्वर सर्वभूताना हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। भ्रामयन्सर्वभूतानि यत्रारूढाणि मायया"॥

यहाँ दो बाते विचारणीय है। पहली है हृदयमे रहनेकी। यह कहना कि हृदय ईश्वरका घर है, कुछ ठीक नही जँचता है। वह जब सर्वत्र है, व्यापक है, तो हृदयमे भी रहता ही है। फिर इस कथनके मानी क्या? यदि कहा जाय कि हृदयमें विशेषरूपसे रहता है, तो भी सवाल होता है कि विशेषरूपसे रहनेका क्या अर्थ? यह तो कही नही सकते कि वहाँ ज्यादा रहता है और वाकी जगह कम। यह भी नही कि जैसे यत्रका चलानेवाला वीचमे वैठके चलाता है तैसे ही ईश्वर भी बीचकी जगह—हृदय—मे वैठके सवोको चलाता है। यदि इसका अर्थ यह हो कि हृदयके वलसे ही चलाता है तो यह कैसे होगा? जिस यत्रके वलसे चलाते हैं उसका चलानेवाला उससे तो अलग ही रहता है। मोटर या जहाज वगैरहके चलाने और घुमाने-फिरानेवाले यत्रसे अलग ही रहके ड्राइवर वगैरह उन्हें चलाते-घुमाते है। हृदयमे वैठके घुमाना कुछ जँचता भी नही, यदि इसका मतलव व्यावहारिक घुमाने-फिराने जैसा ही हो।

इसीलिये मानना पडता है कि हृदयमें रहनेका अर्थ है कि वह हृदयग्राह्य है। सरस और श्रद्धालु हृदय ही उसे ठीक-ठीक पकड सकता है। दिमाग या वुद्धिकी शक्ति हई नही कि उसे पकड सके या अपने कब्जेमें कर सके। ईश्वर या ब्रह्म तर्क-दलीलसे जाना नही जा सकता, यह वात छान्दोग्योपनिषत्‌मे भी उद्दालकने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे कही है। वहाँ कहा है कि अक्ल बघारना और बालकी खाल खीचना छोडके श्रद्धा करो ऐ मेरे प्यारे,—"श्रद्धत्स्व सोम्य" (६।१२।३)। और यह श्रद्धा हृदयकी

चीज है यह पहले ही कहा जा चुका है। इसलिये गीताके मतसे ईश्वर हृदयग्राह्य है। फलत' जो सहृदय नही वह ईश्वरको जान नही सकता।

## हृदयकी शक्ति

अब दूसरी बात रही लोगोके चलानेकी। सो भी ठीक ही है। जिस हृदयने भगवानको जान लिया, पकड लिया, कब्जेमे कर लिया वह दुनिया-को चाहे जिस ओर घुमा सकता है। नरसी, नामदेव, सूर, तुलसी आदि भक्तजनोकी बाते ऐसी ही कही जाती है। बताया जाता है कि भीष्मने कहा कि, "आज मै हरिसो अस्त्र गहाऊँ।" उनने अपने प्रेमके बलसे अपनी प्रतिज्ञा रख ली थी और कृष्णकी तुडवा दी थी। सूरदासने कहा था कि "हिरदयसे जो जाहुगे बली बखानौं तोहि"। रामकृष्णने विवेका-नन्द जैसे नास्तिकको एक शब्दसे आस्तिक बना दिया। वह सच्चे हृदयकी ही शक्ति थी जिसने भगवानको पकड लिया था। इसलिये जिसने शुद्ध हृदयसे श्रद्धाके साथ भगवानको अपना लिया है वह दुनियाको इधरसे उधर कर सकता है।

गीताके इस कथनमे एक बडी खूबी है। ससारके लोगोको हम तीन भागोमे बाँट सकते है। या यो कहिये कि पहले दो भाग करके फिर एक भागके दो भाग करदेनेपर तीन भाग हो जाते है। आस्तिक और नास्तिक यही पहले दो भाग है। फिर आस्तिकके दो भाग हो जाते है—साकार ईश्वरवादी और निराकारवादी। इस प्रकार साकारवादी, निराकारवादी और निरीश्वरवादी ये तीन भाग हो गये। हमने देखा है कि ये तीनो ही आपसमे तर्क-दलीले करते और लडते रहते है। यह झमेला इतना बडा और इतना पुराना है कि कुछ कहिये मत। जबसे लोगोको समझ हुई तभीसे ये तीनो मतवाद चल पडे। इनपर सैकडो पोथे लिखे जा चुके है।

मगर गीता इन तीनोपर तर्स खाती और हँसती है। उसने जो ईश्वरको हृदयकी चीज बनाके बुद्धिके दायरेसे उसे अलग कर दिया है, उसके चलते ये सभी झगडे बेकार मालूम होते हे और गीताकी नजरोमें ये झगडनेवाले सिर्फ भटके हुए सिद्ध हो जाते है। इन झगडोकी गुजाइश तो बुद्धिके ही क्षेत्रमें है न ? इसीलिये जहाँ हृदय आया कि इन्हें बेदखल कर देता है, कान पकडके हटा देता है। क्यो ? इसीलिये कि यदि ईश्वर है तो वह तो यह नही देखने जाता है कि किसके ऊपर आस्तिक या नास्तिककी छाप (label) लगी है, या साकारवादी और निराकारवादीकी छाप। वह तो हृदयको देखता है। वह यही देखता है कि उसे सच्चाईसे ठीक-ठीक याद कौन करता है।

## आस्तिक-नास्तिकका भेद

जब इस प्रकार देखते है तो पता लगता है कि साकारवादी और निराकारवादी तो याद करते ही है। मगर निरीश्वरवादी भी उनसे कम ईश्वरको याद नही करते। यदि भक्तिका अर्थ यह याद ही है तो फिर नास्तिक भी क्यो न भक्त माने जायँ ? बेशक, प्रेमी याद करता है और खूब ही याद करता है, यदि सच्चा प्रेमी है। मगर पक्का शत्रु तो उससे भी ज्यादा याद करता है। प्रेमी तो शायद नीदकी दशामे ऐसा न भी करे। मगर शत्रु तो अपने शत्रुके सपने देखा करता है, बशर्ते कि सच्चा और पक्का शत्रु हो। इसीलिये मानना ही होगा कि ईश्वरका सच्चा शत्रु भक्तोसे नीचे दर्जेका हो नही सकता, यदि ऊँचे दर्जेका न भी माना जाय। पहले जो कहा है कि धर्म तो व्यक्तिगत और अपने समझके ही अनुसार ईमानदारीसे करनेकी चीज है, उससे भी यही बात सिद्ध हो जाती है। यदि हमे ईमानदारीसे यही प्रतीत हो कि ईश्वर हई नही और हम तदनुसार ही अमल करें, तो फिर पतनकी गुजाइश रही कहाँ जाती है ?

इसीलिये प्रौढ नैयायिक उदयनाचार्यने ईश्वर-सिद्धिके ही लिये बनाये अपने ग्रथ "न्यायकुसुमाञ्जलि"को पूरा करके उपसहारमें यही लिखा है। वे साफ ही सच्चे और ईमानदार नास्तिकोके लिए वही स्थान चाहते है जो सच्चे आस्तिकोको मिले। उनने प्रार्थनाके रूपमे अपने भगवानसे यही बात बहुत सुन्दर ढगसे यो कही है—"इत्येव श्रुतिनीतिसप्लवजलैर्भूयोभिराक्षालिते, येषा नास्पदमादधासि हृदये ते शैलसाराशया। किन्तु प्रस्तुतविप्रतीप विधयोऽप्युच्चैर्भवच्चिन्तका, काले कारुणिक त्वयैव कृपया ते भावनीया नरा।" इसका आशय यही है कि "कृपासागर, इस प्रकार वेद, न्याय, तर्क आदिके रूपमे हमने झरनेका जल इस ग्रथमे प्रस्तुत किया है और उससे उन नास्तिकोके मलिन हृदयोको अच्छी तरह धो दिया भी है, ताकि वे आपके निवास योग्य बन जायँ। लेकिन यदि इतनेपर भी आपको वहाँ स्थान न मिले, तो हम यही कहेगे कि वे हृदय इस्पात या वज्रके है। लेकिन यह याद रहे कि प्रचड शत्रुके रूपमें वे भी तो आपको पूरी तौरसे आखिर याद करते ही है। इसलिये उचित तो यही है कि समय आनेपर आप उन्हे भी भक्तोकी ही तरह सतुष्ट करें।" कितना ऊँचा खयाल है! कितनी ऊँची भावना है! गीता इसी खयाल और इसी भावनाका प्रसार चाहती है।

## दैव तथा आसुर सम्पत्ति

अच्छा, अब जरा ईश्वरकी सत्ताको स्वीकार करनेका परिणाम क्या होता है, क्या होना चाहिये, इसपर भी गीताकी दृष्टि देखे। गीताके सोलहवें अध्यायके शुरूवाले छे श्लोकोमे दैवी तथा आसुरी सम्पत्तियोका सक्षेपमे वर्णन कर दिया है। इन दोनोका तात्पर्य मनुष्यके ऐसे गुणो और आचरणोसे है जिनसे समाजका हिताहित, भला-बुरा होता है। कल्याणकारी और मगलमय गुणो एव आचरणोको दैवी सम्पत्ति और

विपरीतोको आसुरी सम्पत्ति कहा है। पाँचवे श्लोकमें यही बात साफ कह दी है कि दैवी सम्पत्ति मुक्तिसम्पादक और कल्याणकारी है, जब कि आसुरी सभी बन्धनो और सकटोको पैदा करती है। साथ ही यह भी कहा है कि अर्जुनके लिये चिन्ताकी तो कोई बात हुई नही। क्योकि वह तो दैवी सम्पत्तिवाला है। इसके बाद छठे श्लोकके उत्तरार्द्धमें कहा हैं कि अबतक तो दैव सम्पत्तिका ही विस्तृत विवेचन किया गया है। मगर आसुरी तो छूटी ही है। इसलिये उसे भी जरा खोलके बता दें तो ठीक हो। फिर सातवेंसे लेकर अध्यायके अन्ततकके शेष १८ श्लोकोमें यही बात लिखी गई है। बेशक, अन्तके २२-२४ श्लोकोमे निषेधके रूपमें ही यह बात कही गई है। शेष श्लोकोमें तो साफ-साफ निरूपण हो है।

यहाँ जो यह कहा गया है कि अबतक तो विस्तारके साथ दैव सम्पत्तिका हो वर्णन आया है, उससे साफ हो जाता है कि गीताके शुरूसे लेकर सोलहवें अध्यायके कुछ श्लोकोतक मुख्यत वही बात कही गई है। यह तो निर्विवाद है कि पहले अध्यायमें खुलके समाज-सहारकी कडीसे कडी निन्दा की गई है। दूसरेमे भी जो अर्जुनको यह कहा गया है कि लोग तुम्हे गालियाँ देंगे और तुमपर थूकेंगे वह भी सामाजिक दृष्टिसे ही तो है। तीसरे अध्यायमे तो समाज रक्षार्थ यज्ञका विस्तार ही बताया गया है और कहा गया है कि समाजके लिये उसे मूलभूत मानना चाहिये। इसी प्रकार चौथेके "नाय लोकोऽस्त्ययज्ञस्य" (३१) आदिके द्वारा तथा छठेके "आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति" (३२)के जरिये लोक-कल्याणकारी भावनाओ एव आचरणोका ही महत्त्व दिखाया है। सातवेंसे लेकर पन्द्रहवें अध्यायतक यही बात जगह-जगह किसी न किसी रूपमें बराबर पाई जाती है। इसलिये स्पष्ट है कि समाजके कल्याणसे ही गीताका मतलब है। यो तो योगका जो स्वरूप पहले बताया जा चुका है वह समाजके कल्याणकी ही चीज है। दसवें अध्यायके अन्तके ४१वें श्लोकमें

तो साफ ही कह दिया है कि ससारमे जोई चमत्कारवाली गुणयुक्त चीज है वह भगवानका ही रूप है, उसीका अश है। इससे तो स्पष्ट है कि गीता-की दृष्टिमे भगवानका मतलब ही है जगन्मगलकर्त्तासे। गीता वैसे भग-वानको कहाँ देखती और मानती है जो केवल स्वर्ग और नर्कमे भेजनेका इन्तजाम करता हो, या मुक्ति देता हो? गीताने तो ऐसे भगवानका खयाल ही नही किया है।

यही बात सोलहवे अध्यायके ७-२४ श्लोकोसे भी सिद्ध होती है। आमतौरसे यही होता है, यही बात देखी जाती है कि जो कुकर्मोको करता हुआ ईश्वरकी सत्तामे विश्वास नही करता हो उसकी निन्दा या उसके खडन-मडनका जब प्रसग आये तो इसी बातसे शुरू करते है कि देखिये न, यह तो ईश्वरको ही नही मानता है और साफ ही कहता है कि इस सृष्टिकी उत्पत्ति या इसके कामके सचालनके लिये उसकी जरूरत हई नही! फिर और लोगोकी इसे क्या पर्वा होगी? उनके हितोको क्यो न पाँव तले रौंदेगा? आदि आदि। ठीक भी यही प्रतीत होता है और स्वाभाविक भी। भगवान तो लोगोके लिये सबसे बडी चीज है और जो उसे ही नही मानता वह बाकीको क्यो मानने लगा? लोगोका गुस्सा भी यदि उसपर उतरेगा तो यही कहके कि जब यह शालग्रामको ही भून देता है तो इसे बैगन भूननेमे क्या देर? अन्तमे भी सब कुछ लानत-मलामतके बाद यही कहेगे कि इसकी ऐसी हिम्मत कि भगवान तकको भी इनकार कर जाये?

मगर गीतामें कुछ और ही देखते है। वहाँ तो असुरोका लक्षण बताते हुए पूरे सातवे श्लोकमे ईश्वरका नाम ही नही आया है। आसुर-सम्पत्ति-वाले इस ससारके मूलमे ईश्वरको नही मानते यह बात सिर्फ आठवे श्लोकके पूर्वार्द्धके अन्तमे यो पाई जाती है कि देखो न, ये लोग ससारके मूलमे उसे नही मानते—"जगदाहुरनीश्वरम्"। इसके पहले सातवे मे

तो यही कहा है कि "असुर लोग तो क्या करे क्या न करे यह—कर्त्तव्या-कर्त्तव्य—जानते ही नही, उनमे पवित्रता भी नही होती और न उनका आचरण ही ठीक होता है। सत्यका तो उनमे नाम भी नही होता"—"प्रवृत्ति च निवृत्ति च जना न विदुरासुरा। न शौच नापिचाचारो न सत्य तेषु विद्यते।" आठवेंके शुरूमे भी कहा है कि "वे जगत्को बेबुनियाद और इसीलिये निष्प्रयोजन मानते हैं"—"असत्यमप्रतिष्ठन्ते जगदाहु।" और जब ऐसी बात है तो फिर ईश्वरकी क्या जरूरत? वह तो तभी होती जब यह ससार किसी खास मकसद या उद्देश्यको लेकर बनाया गया होता—बना होता। इसीलिये वे कहते है कि ईश्वरकी कोई जरूरत हुई नही।

## समाजका कल्याण

इस प्रकार हम देखते है कि अनीश्वरवाद या नास्तिकताको पीछे धकेल दिया गया है। उसे वह महत्त्व नही मिला है जो आमतौरसे दिया जाता है। गीताने तो महत्त्व दिया है उन्ही चीजोको जिनसे ससारके उत्थान-पतनका—इसकी उन्नति-अवनतिका—गहरा सम्बन्ध है। भले-बुरेकी पहचान होना, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यकी जानकारी, उत्तम आचरण, बाहर-भीतर पवित्रता और सच्चा व्यवहार—यही चीजें तो समाजकी बुनियाद है। इनके विना न तो हमी एक मिनट टिक सकते और न यह समाज ही चल सकता है। ईश्वरको आप मानिये, या मत मानिये। मगर ये चीजें मानिये खामखा। आपका अमल अगर इन्हीके अनुसार हो तो हमें आपके अनीश्वरवादसे—आपकी नास्तिकतासे—कोई मतलब नही, उसकी पर्वा हम नही करते। हम जानते हैं कि उसका जहरीला डक खत्म हो गया है। फलत वह कुछ बिगाड नही सकती। आप तो पिंजडेमे बन्द पक्षी हो गये है इन्ही बातोके करते। इसलिये समाजकी ही गीत गायेंगे। न तो स्वच्छन्द उडान ही मार सकते और न मनचाही

डालपर बैठके स्वतत्र गीत ही गा सकेगे। यही है गीताका इस सम्बन्धमे वक्तव्य, यही है उसका कहना।

मगर जिनमे यही चीजे नही है—जो असुर है—जो देव नही है उनका क्या कहना ? वे ईश्वरको क्यो मानने लगे ? यह परस्पर विरोधी बाते जो है। यह होई नही सकता कि सदाचार और कर्त्तव्यपरायणता न रहे तथा बाहर-भीतर एक समान ही सच्चा व्यवहार भी न रहे; मगर ईश्वरवादी बने रहे। गीताकी नजरोमे ये दोनो बाते एक जगह हो नही सकती है। बेशक, आज तो धर्म और ईश्वरकी ठेकेदारी लिये फिरनेवाले ऐसे लोगोकी ही भरमार है जिनमे ये बाते जरा भी पाई नही जाती है। एक ओर देखिये तो कठीमाला, जटा, टीका-चन्दन, दड-कमडल और क्या क्या नही है। सभीके सभी धर्मवाले ट्रेडमार्क पाये जाते है। मगर दूसरी ओर ऐसे लोगोमे न तो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका ज्ञान है, न तदनुकूल आचरण है, न बाहर-भीतर सर्वत्र होनेवाली पवित्रताही है और न सच्चाई तथा ईमानदारी ही। आज तो यही बात धार्मिक ससारमे सर्वत्र ही पाई जाती है। सब जगह इसीकी छूट है। कोई पूछनेवाला ही नही कि यह क्या अन्धेरखाता है। जिस हृदयमे भगवान बसे वह कितना पवित्र और कितना उदार होगा! उसकी गभीरता और उच्चता कैसी होगी ! वह विश्वप्रेमसे कितना ओतप्रोत होगा ! आखिर ईश्वर तो प्रेममय, सत्य, शुद्ध, आनन्दरूप और निर्विकार है न ? और वही हमारे हृदयमे बसता भी है। फिर भी यह गन्दगी और बदबू ? कस्तूरी जहाँ हो वहाँ उसकी सुगन्ध न फैले, यह क्या बात ? और ईश्वरकी गन्ध तो भौतिक कस्तूरीके गन्धसे लाख गुना तेज है। फिर हमारे दिलोमें, जहाँ वही मौजूद है, सत्य, प्रेम, दया, पवित्रता, सदाचार और आनन्द क्यो नही पाया जाता ? इन चीजोका स्रोत उमड क्यो नही पडता ?

कहनेके लिये तो लोग कहेंगे कि हम धर्मात्मा है, ईश्वरवादी है। मगर है ये लोग दरअसल पापात्मा और अनीश्वरवादी। नास्तिक लोग तो जवानसे ही ईश्वरकी सत्ता इनकार करते है। मगर ये भलेमानस तो अमली तौरपर उसे जहन्नुम पहुँचाते है। हम तो महान्से महान् नास्तिकोको जानते है जो अनीश्वरवादी तो थे, मगर जिनका आचरण इतना ऊँचा और लोकहितकारी था कि बडे-बडे पादरी, पडित और धर्म-वादी दातो तले उँगली दबाते थे। हिम्मत नही होती थी कि उनके विरुद्ध कोई चूँ भी करे, उँगली उठाये। मार्क्सवाद वैसे नास्तिकोको ही चाहता है जिनके कामसे आस्तिक लोग भी शर्मिन्दा हो जायँ। वह बेशक उन धर्मात्माओसे अपना और समाजका पिंड खामखा छुडाना चाहता है जो व्यवहारमें ठीक उलटा चलते है। हमें तो अमल चाहिये, काम चाहिये, न कि जबानी हिसाब और जमाखर्च। हम तो "कह-सुनाऊँ" नही चाहते, किन्तु "कर-दिखाऊँ" चाहते हैं।

यदि गीताके सोलहवें अध्यायके ६-१८ श्लोकोपर गौर करें तो हमें पता चल जायगा कि जो धर्मके ठेकेदार आज जनताके हकोकी लडाईका विरोध करते फिरते है और इस मामलेमे धर्म और ईश्वरका ही सहारा लेते है उन्हीका चित्र वहाँ खीचा गया है। यह चित्र ऐसा है कि देखते ही बनता है। इसमे शक नही कि ६-१४ श्लोकोसे तो यह साफ पता नही चलता कि धर्मके ठेकेदारोका ही यह चित्रण है। मगर पन्द्रहवेंके "यक्ष्ये दास्यामि" पदोसे, जिनका अर्थ है कि "यज्ञ करेंगे और दान देंगे" तथा "यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्" (१७)से तो यह बात बिलकुल ही साफ हो जाती है। जहाँ पहले वचनोमे सिर्फ यज्ञ करने और दान देनेकी बात है तहाँ आखिरवाले तो साफ ही कहते है कि—"वे लोग दिखावटी यज्ञ ख्याति आदिके लिये ही करते है। यज्ञोके विधि-विधानसे तो उन्हें कोई मतलब होता ही नही।" यह "अविधिपूर्वकम्" शब्द दूसरे

मानीमें आई नही सकता है। यह इसीलिये धर्मके ठेकेदारोकी नकाब उतार फेकता है, इसमे शक नही।

उनका चित्र खडा करना शुरू ही किया है यह कहते हुए कि "ससारके तो वे शत्रु ही होते है। फलत उसे चौपट करनेके बडेसे बडे उग्र काम कर डालनेकी ताकत रखते है"—"प्रभवन्त्युग्रकर्माण क्षयाय जगतोऽहिता।" ससारसे तात्पर्य यहाँ समाजसे ही है। वहाँ बताया गया है कि उनका तो काम ही है समाजको तहस-नहस करना। ऐसा करते हुए वे खुद भी चौपट हो जाते है। क्योकि समाजसे बाहर तो जा सकते नही। उनकी वासनाये तथा आकाक्षायें इतनी ज्यादा और बडी होती है कि उनकी पूर्त्ति हो सकती नही। उनका ठाटबाट और ढोग इतना ज्यादा होता है, गरूर इस कदर होता है और प्रभुत्व, प्रभाव या शक्तिका नशा ऐसा होता है कि कुछ पूछिये मत। जिद्दमें ही पडके अटसट कर बैठते है। उन्हे पवित्रताका तो कोई खयाल रहता ही नही। दुनिया भरकी फिक्र उन्हीके माथे सवार रहती है, ऐसा मालूम होता है। खूब चीजे प्राप्त करो और खाओ, पिओ, मौज करो, यही उनका महामत्र होता है। जाने कितनी उमीदे उन्हे होती है। काम और क्रोध यही दो उनके पक्के और सदाके साथी होते है। विषयवासनाकी तृप्ति और शान बढानेके लिये वे हजार जुल्म और अत्याचार कर डालते है। बराबर यही सोचते रहते है कि अमुक काम तो हमने कर लिया, अब तो सिर्फ फलाँ फलाँ बाकी है। इतनी सम्पत्ति तो मिल चुकी ही है। मगर अभी तो कितनी ही गुनी हासिल करेगे! बहुत दुश्मनोको खत्म कर डाला है। बचे हुओको भी न छोड़ेगे। हमी सबसे बडे है, महलोमे रहते है, जो चाहते है करके ही छोडते है। हमसे बडा ताकतवर है कौन? सुखी भी तो हमी है। न तो हमसे बढके कोई धनी है और न सगी-साथियोवाला ही। हमारे मुकाबिलेमे कौन खडा हो सकता है? वे दिनरात खुद अपने

ही मुँहसे अपनी बडाई करते रहते है। रुपये-पैसे, गरूर और नशाकी गर्मीमे ही चूर रहते है। यज्ञ और दान तो वे केवल दिखाने और ठगनेके ही लिये करते है। उनमें अहकार इतना ज्यादा होता है कि मत कहिये। वे आत्मा-परमात्माको तो समझने भी नही कि क्या चीज है—उनके नामसे ही उन्हे नफरत होती है। नतीजा यह होता है कि उनका पतन होता ही जाता है। ऊपर तो वे उठ सकते नही। दूसरे, तीसरे आदि जन्मोमें भी अधिकाधिक नीचे गिरते ही जाते है। ईश्वर या आत्मातक उनकी पहुँच कभी होती ही नही।"

इसी रूपमे असुरो या धर्मध्वजियोका चित्र गीताने खीचा है। १८वे और २०वे श्लोकमें एक बार फिर परमात्माका उल्लेख यद्यपि किया है। मगर वह है आत्माके रूपमें ही। चाहे ईश्वरके रूपमे भी मानें, तो भी जो कुछ उसके साथ-साथ कहा गया है उससे स्पष्ट है कि ऊपर लिखे आसुरी व्यवहारो और आचरणोके करते ही उनकी परमात्मातक पहुँच हो पाती नही। इससे भी यही सिद्ध हो जाता है कि असल चीज आचरण ही है। २१, २२ श्लोकोमे तो खुलके कही दिया है—और यह बात उपसहारकी है—कि "नर्क या पतनके तीन ही रास्ते है जिन्हे काम, क्रोध और लोभ कहते है। ये तीनो आत्माको भी चौपट कर देते है। इसलिये इनसे अपना पिंड छुडाना जरूरी है। जहन्नुममें ले जानेवाले इन तीनोसे पल्ला छूटनेपर ही कल्याणकारी रास्ता सूझता और सदाचरण होता है। फिर तो हर तरहसे मौज ही मौज समझिये"—"त्रिविध नरनरकस्येद द्वार नाशनमात्मन। काम क्रोधस्तथालोभस्तस्मादेतत्त्रय त्यजेत्॥ एतैर्विमुक्त कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नर.। आचरत्यात्मन श्रेयस्ततो याति परा गतिम्॥" आखिरमें कार्य-अकार्य या कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके जानने और तदनुसार ही काम करनेका आदेश देके यह अध्याय पूरा किया गया है।

इसीलिये गीताने न तो धर्मकी श्रेणियाँ बताके मुख्य, अमुख्य या प्रधान और गौण धर्म जैसा उसका विभाग ही किया है और न कोई दूसरी ही तरकीब निकाली है। गीताकी नजरोमे तो धर्म और कर्म या क्रिया (अमल या काम) एक ही चीज है। जिसे हम अग्रेजीमें ऐक्शन (action) कहते है उसमे और धर्ममे जरा भी फर्क गीता नही मानती। इसका मोटा दृष्टान्त ले सकते है। हिन्दू लोग चार वर्णोंको मानते हुए उनके पृथक्-पृथक् धर्म मानते है। उनके सिद्धान्तमे वर्णधर्म एक खास चीज है। मगर चौथे अध्यायके १२, १३ श्लोकोकी अजीब बात है। १३वेंमें तो वर्णधर्मोंकी ही बात है। फिर भी कृष्ण कहते है कि "हमने चारो वर्णोंकी रचना कर्मोंके विभागके ही मुताबिक की है और ये कर्म गुणोके अनुसार बने स्वभावोके अनुकूल अलग-अलग होते है",—"चातुर्वण्य मया सृष्ट गुणकर्मविभागश।" यहाँ धर्मकी जगह कर्म ही कहा गया है। १२वे श्लोकमे भी कहा है कि "मर्त्यलोकमे कर्मोंकी सिद्धि जल्द होती है। इसीलिये यहाँ उसी सिद्धि (इष्टसिद्धि)के लिये देवताओका यज्ञ किया करते है"—"काक्षन्त कर्मणा सिद्धि यजन्त इह देवता। क्षिप्र हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।" यहाँ यज्ञको कर्म कहा है, न कि धर्म; हालाँकि यह तो पक्का धर्म है। धर्मोंकी सिद्धि न कहके कर्मोंकी सिद्धि कहनेका भी यही मतलब है कि धर्म और कर्म एक ही चीज है और गीता इन दोनोमे कोई भेद नही रखती।

इसी प्रकार १८वे अध्यायके ४१-४४ श्लोकोमे भी चारो वर्णों के ही धर्मोंकी बात आई है। ४५, ४६ श्लोकोमे भी उसी सम्बन्धमे यह बताया गया है कि उन धर्मोंके द्वारा ही भगवानकी पूजा कैसे हो सकती है और इष्टसिद्धि क्योकर होती है। चारो वर्णोंके कुछ चुने-चुनाये धर्मोंको गिनाया भी गया है, जो पक्के और स्वाभाविक माने जाते है। साराश यह कि ये छे श्लोक वर्णोंके धर्मोंको जितनी सफाईके साथ कहते है उतनी

रहते है। भगवानकी रजिशका भी सबसे बडा खतरा इस बातमें बना रहता है। इसीलिये स्वभावत उनकी पाबन्दी ठीक-ठीक की जाती है—कमसे कम पाबन्दीकी कोशिश तो जरूर होती है।

लेकिन बाकी कामोमें ? उनमें तो कोई डर-भय उस तरहका नही होता। हाँ, लोक-लाज या कानून-वानूनका डर जरूर रहता है। मगर लोगोसे छिप-छिपाके और कानूनी फन्दे से बच-बचाके भी काम किये जा सकते है, किये जाते है। कानूनकी आँखमें धूल डालना चतुर खिलाडियोके लिये बायें हाथका खेल है। वे तो कानूनको बराबर चराते फिरते है। इसलिये उन्हें स्वतत्रता तो करीब-करीब रहती ही है। क्योकि भगवान तो यहाँ दखल देता नही और न धर्मराज या यमराज ही। यह तो धर्मसे बाहरकी चीजें है, जहाँ उनका अधिकार नही। यदि थोडा-बहुत मानते भी है कि वह दखल देंगे तो भी यह बात अधूरी ही रह जाती है। क्योकि सन्ध्या, नमाजकी तरह सच बोलने या शराब न पीनेकी बात नही है। यदि ये चीजें धर्ममें किसी प्रकार आ भी जायें तो भी इनका स्थान गौण है, मुख्य नही। देखते ही है कि सन्ध्या, नमाज वगैरहकी पाबन्दीमें जो सख्ती पाई जाती है वह सच बोलने और सूद न लेने या शराब न पीनेमें हर्गिज नही है। बडे-बडे धर्माधिकारी भी बडे-बडे कारबारो और जमीदारियोके चलानेवाले होते है, जहाँ झूठ बोलने और जाल-फरेबके बिना काम चलता ही नही। मैनेजर, प्रबन्धक और कारपर्दाज वगैरहके जरिये वह काम करवाके अपने पिंडको बचानेकी बात केवल अपने आपको धोका देना है—आत्मप्रवचना है। जब कारबार उनका है, जमीदारी उनकी है तो उसके मुतल्लिक होनेवाले झूठ और जाल-फरेबकी जवाबदेही उन्हींपर होगी ही। यह डूबके पानी पीना और खुदासे चोरी करना ठीक नही। यदि कारबार और जमीदारीके फायदेके लिये वह झूठ और जाल न हो तो बात दूसरी है। मगर यहाँ तो उन्हींके चलानेके ही लिये ऐसा किया जाता है।

इसीलिये गीताने न तो धर्मकी श्रेणियाँ बताके मुख्य, अमुख्य या प्रधान और गौण धर्म जैसा उसका विभाग ही किया है और न कोई दूसरी ही तरकीब निकाली है। गीताकी नजरोमे तो धर्म और कर्म या क्रिया (अमल या काम) एक ही चीज है। जिसे हम अग्रेजीमे ऐक्शन (action) कहते है उसमे और धर्ममे जरा भी फर्क गीता नही मानती। इसका मोटा दृष्टान्त ले सकते है। हिन्दू लोग चार वर्णोको मानते हुए उनके पृथक्-पृथक् धर्म मानते है। उनके सिद्धान्तमे वर्णधर्म एक खास चीज है। मगर चौथे अध्यायके १२, १३ श्लोकोकी अजीब बात है। १३वेमें तो वर्णधर्मोकी ही बात है। फिर भी कृष्ण कहते है कि "हमने चारो वर्णोकी रचना कर्मोके विभागके ही मुताबिक की है और ये कर्म गुणोके अनुसार बने स्वभावोके अनुकूल अलग-अलग होते है",—"चातुर्वण्यं मया सृष्ट गुणकर्मविभागश।" यहाँ धर्मकी जगह कर्म ही कहा गया है। १२वे श्लोकमे भी कहा है कि "मर्त्यलोकमे कर्मोकी सिद्धि जल्द होती है। इसीलिये यहाँ उसी सिद्धि (इष्टसिद्धि)के लिये देवताओका यज्ञ किया करते है"—"काक्षन्त कर्मणा सिद्धि यजन्त इह देवता। क्षिप्र हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।" यहाँ यज्ञको कर्म कहा है, न कि धर्म; हालाँकि यह तो पक्का धर्म है। धर्मोकी सिद्धि न कहके कर्मोकी सिद्धि कहनेका भी यही मतलब है कि धर्म और कर्म एक ही चीज है और गीता इन दोनोमे कोई भेद नही रखती।

इसी प्रकार १८वे अध्यायके ४१-४४ श्लोकोमें भी चारो वर्णो के ही धर्मोकी बात आई है। ४५, ४६ श्लोकोमें भी उसी सम्बन्धमे यह बताया गया है कि उन धर्मोके द्वारा ही भगवानकी पूजा कैसे हो सकती है और इष्टसिद्धि क्योकर होती है। चारो वर्णोके कुछ चुने-चुनाये धर्मोको गिनाया भी गया है, जो पक्के और स्वाभाविक माने जाते है। साराश यह कि ये छे श्लोक वर्णोके धर्मोको जितनी सफाईके साथ कहते है उतनी

सफाई शायद ही कही मिलेगी। मगर एक वार भी उनमें धर्म शब्द नही आया है। खूवी तो यह कि उन्हीमे कर्म शब्द पूरे आठ वार आया है। धर्मके वारेमें जिनका वडा जोर है उन्हें इस वातसे काफी धक्का लग सकता है कि जहाँ धर्म शब्दका वार-वार आना निहायत जरूरी था वहाँ उसे गीता भूलसी गई! और अगर ऐसे ही अवसरपर धर्मकी वात नही आती है, किन्तु उसकी जगह कर्म कहके ही सन्तोष किया जाता है, तो फिर यह कहनेकी गुजाइश रही जाती कहाँ है कि धर्म और कर्म दो चीजे है?

जो लोग फिर भी हठ करते रहे और ऐसा कहनेका साहस करे कि यद्यपि सभी धर्म तो कर्म ही होते है, तथापि सभी कर्म कदापि धर्म हो नही सकते, इसीलिये धर्मकी जगह कर्म कहके काम चलाया जा सकता है और यही वात यहाँ पाई जाती है, उनके लिये कोई भी समझदारीकी वात क्या कही जाय? योही कभी-कभी धर्मका नाम ले लेना और हर विशेष अवसरपर वारवार कर्मका ही जिक्र करना, जवकि धर्मका उल्लेख ज्यादा मौजूँ और उचित होता, क्या यह वात नही वताता कि गीता इस झमेलेसे हजार कोस दूर है? यदि धर्मका नाम कही-कही आ गया भी है तो योही, न कि किसी खास अभिप्रायसे, यही कथन ज्यादा युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यह ठीक है कि एकाध जगह धर्म शब्दसे ही काम निकलता देख और कर्म कहनेमें दिक्कत या कठिनाई समझके गीताने धर्म-शास्त्रोके अर्थमें ही धर्म शब्द कहा है। मगर वह ज्योंका त्यो वोल दिया गया है, न कि प्रतिपादन किया गया है कि धर्म खास चीज है। जैसा कि "स्वधर्ममपि चावेक्ष्य" (२।३१) मे पाया जाता है। और जव दूसरे अध्यायमें योगका सिद्धान्त एव स्वरूप वताते समय, तीसरे अध्यायमें यज्ञकी महत्ता दिखाते वक्त, चौथेमें यज्ञका विस्तार एव विवरण वताते समय और अठारहवेंमें अपने-अपने (स्व)धर्मोके रूपमे ही कैसे भगवत्पूजा होती है यह

सिद्ध करते समय भी सिर्फ कर्मकी ही चर्चा आती है, न कि धर्मकी एक बार भी, तो गीतामे प्रतिपादन किसका माना जाय ? वहाँ रहस्य और सिद्धान्त किसके सम्बन्धका बताया गया माना जाय ? धर्मका या कर्मका ? अगर कर्मका, क्योकि धर्मका कहनेकी तो कोई भी गुंजाइश हुई नही, तो फिर अन्ततोगत्वा यही बात रही कि गीताने धर्म और कर्ममें कोई भी अन्तर नही किया है। उसने कर्मके ही दार्शनिक विवेचनसे सन्तोष करके दिखा दिया है कि असली चीज कर्म ही है।

एक बात और भी है। गीताने बारबार कहा है कि कर्मोंसे ही बन्धन होता है और उसीसे छुटकारा मिलनेको मुक्ति कहते है। अर्जुनने इसी बन्धनके डरसे ही तो आगा-पीछा किया था। यदि दूसरे अध्यायके ३८वे श्लोकसे शुरू करके देखे तो प्राय: हरेक अध्यायमे बारबार कर्मकी इस ताकतका और उससे छुटकारा पानेकी हिकमतका जिक्र मिलेगा। चाहे उस हिकमतको योग कहे, निर्लेपता कहें, अनासक्ति कहे, समत्व बुद्धि कहें, या इन सबोको मिलाके कहे, यह बात दूसरी है। मगर यह तो पक्की चीज है कि बारबार यही बात शुरूसे अन्ततक आई है। अर्जुनकी धारणा कुछ ऐसी थी कि धर्म उन कामोको ही कहते है जिनमें कोई भी बुराई न हो, जिनसे स्वजन-वध आदि सभव न हो, जैसा ध्यान, समाधि, पूजा आदि। उसका यह भी खयाल था कि जिसके करते बुराई हो, हत्या हो या इसी तरहकी और बात हो वह धर्म माना जानेपर भी वस्तुगत्या अधर्म—धर्म विरोधी—ही है। युद्धसे विरक्त होने और लम्बी-चौडी दलीले पेश करनेका उसका यही मतलब था। दूसरा मतलब हो भी क्या सकता था ? इसका उत्तर भी कृष्ण ने साफ ही दे दिया कि "सहज कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्। सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृता" (१८।४८), "श्रेयान्स्वधर्मो विगुण" (३।३५, १८।४७),—"बुराई-भलाई तो सर्वत्र मिली हुई है। ऐसा काम हो नही सकता जिसमे बुराई

न हो या भलाई न हो। इसलिये बुराईवाला होनेपर भी स्वधर्म ही ठीक है। उसीको करना चाहिये।" गीतामें जो धर्म, अधर्म शब्द कहीं-कहीं आ गये हैं वह अर्जुनकी इसी भ्रान्त धारणाको ही लेके, और उसे ही कृष्णने दूर किया है।

इससे एक और भी गडबड हो जाती है। ऐसी धारणाके करते धर्म और अधर्म अजीबसी चीज बन जाते हैं। क्षत्रियके लिये युद्ध जैसा महान् धर्म भी अधर्मकी कोटिमें —उसी श्रेणीमे—आ जाता है। यह कितनी गलत बात है! ऐसा समझना कि जो निर्दोष हो, हिंसारहित हो वही धर्म और शेष अधर्म है, कितनी नादानी है! साँस लेने एव पलक मारनेमे भी तो लक्ष-लक्ष कीटाणुओका सहार होता रहता ही है। पुराने लोगोने भी कहा ही है कि वायुमडलमें ऐसे अनत जीव भरे पडे है जिनका सहार पलक मारनेसे ही हो जाता है—"पक्ष्मणोऽपि विपातेन येषा स्यात्पर्व-सक्षय।" जब यही बात है तो फिर साँसका क्या कहना? वह तो बराबर चलती और गर्मागर्म रहती है। फलत कत्लेआम ही होता रहता है उसके चलते भी! तो क्या किया जाय? क्या पलक न मारें? साँस न ले? क्योंकि अधर्म जो हो जायगा! और जब इस प्रकार जीवन ही अधर्म हो गया तो आगे क्या कहा जाय? धर्मशास्त्रियोने जिस जीवनरक्षाके लिये सब कुछ कर डालने और खा-पी लेनेतककी छूट दे दी है वही अधर्म? और पूजा-पाठ? माला जपो, जबान हिलाओ, चन्दन रगडो, फूल तोडो, आरती करो, दीप जलाओ, भोग लगाओ और पद-पदपर अनन्त निर्दोष जीवोका सहार करो। फिर भी यह कहना कि यह पूजा-पाठ धर्म है, महज नादानी है, यदि धर्मकी वही परिभाषा मानी जाय जो अर्जुनके दिमागमे थी। तब तो कही भी किसी प्रकार गुजर नही और धर्म महाराज यहाँसे सदाके लिये विदाई ही लेके चले जायँ!

इसीलिये तो कृष्णको कसके सुनाना पडा कि यह तो तुम्हारी अजीब पंडिताई है—"प्रज्ञावादाश्च भाषसे" (२।११)। धर्मकी यह परिभाषा तो जहन्नुममें भेजे जानेकी चीज है, उनने ऐसा समझके ही अध्यात्म विवेचनसे ही शुरू किया और अर्जुनको ललकारा। अर्जुनकी गलती भी इसमे क्या कही जाय? जब धर्म-अधर्मके बारेमे इसी प्रकारकी मोटी बाते कही और लिखी जाती है और धर्म पालनके साथ ही "अहिंसा परमोधर्म." की दुहाई दी जाती है, तो उसका ऐसे मौकेपर घपलेमे पड जाना अनिवार्य था। दरअसल कर्मका असली रूप और उसका दार्शनिक विश्लेषण न जाननेके कारण ही तो धर्म-अधर्म और हिंसा-अहिंसाका यह घपला आ खडा होता है। इसलिये जरूरी हो गया कि वही विश्लेषण किया जाय। गीताने यही किया भी। इससे तो साफ हो जाता है कि धर्म-अधर्मकी सर्वसाधारण धारणा निहायत ही थोथी और ऐन मौकेपर खतरनाक हो जाती है। अर्जुनको जो धोका हुआ वह उसीके चलते। इसलिये आमतौरसे जिसे लोग धर्म या अधर्म मानते हैं वह बच्चोंकीसी बात हो जाती है। गीताने यह बात दिखला दी है। वह धर्म ही क्या जिसके या जिसकी सर्वसाधारण समझके चलते ऐन मौकेपर, जब कि जीवन-मरणका संग्राम उपस्थित है, गडबड-घोटाला हो जाय? धर्मको उस समय ठीक पथ-प्रदर्शन करना चाहिये। मगर वह तो उलटी गंगा बहाने लगता है! इसलिये धर्मशास्त्रियोंकी बातोंको ताकपर रखके उसका नये सिरेसे विवेचन और विश्लेषण जरूरी हो जाता है। यही जरूरत शुरूमे ही बडी खूबीके साथ दिखाके गीताने उसका नया विवेचन कर्मके ही दार्शनिक विश्लेषण (Philosophical analysis) के आधारपर किया है। क्योंकि इसके बिना दूसरा रास्ता हई नहीं।

पर भी तो देखिये कि जहाँ गीतामे शुरूसे लेके अन्ततक कर्मका उल्लेख सैकडों बार कर्म शब्दसे करनेके अलावे कार्य, कर्त्तव्य, युद्ध, यज्ञ, यत्न,

योग आदि शब्दोसे किया है, तहाँ धर्म शब्द मुश्किलसे किसी न किसी रूपमें—अधर्म, धर्म्य, साधर्म्यके रूपमें भी—सिर्फ तेंतीस बार आया है। खूबी तो यह है कि गीताके पहले श्लोकका धर्म तो नामके साथ ही लगा है। वह कोई धर्म जैसी चीजको खास तौर कहनेके लिये नही आया है। कुरुक्षेत्रकी प्रसिद्धि धर्मक्षेत्रके नामसे उस समय थी और यही बात श्लोकमें भी आ गई। अठारहवे अध्यायके ७०वे श्लोकमें जो 'धर्म्य' शब्द है वह भी कुछ ऐसा ही है। वह तो केवल 'सवाद'का विशेषण होनेसे उसके औचित्यको ही बताता है। उसका कोई खास प्रयोजन नही है। चौदहवेंके दूसरे श्लोकके 'साधर्म्य'का धर्म शब्द भी दूसरे ही मानीमें बोला गया है, न कि कर्त्तव्यके अर्थमें। वह तो समानताका ही सूचक है। दूसरे अध्यायके ४०वे श्लोकका धर्म शब्द भी गीताके योगके ही अर्थमें आया है, न कि धर्मशास्त्रोके धर्मके मानीमें। इसी प्रकार ९वेंके २, ३ श्लोकोमें जो धर्म्य और धर्म शब्द आये है वह ज्ञान-विज्ञानके ही लिये आये है, न कि अपने खास मानीमे। १२वेंके २०वे श्लोकका धर्म्य शब्द भी कुछ ऐसा ही है। वह समस्त अध्यायके प्रतिपादित विषयको ही कहता है। इसी प्रकार १८वेंके ४६वे श्लोकमें जो धर्म शब्द है उसीके अर्थमे उसी श्लोकमें आगे कर्म शब्द आनेके कारण वह भी सकुचित अर्थमें प्रयुक्त नही हुआ है। उसी अध्यायके ६६वे श्लोकका धर्म शब्द भी व्यापक अर्थमें ही आया है और धर्म, अधर्म तथा दूसरे कर्मोंका भी वाचक है। यह बात प्रसगवश आगे कही जायगी और इसपर विशेष प्रकाश पडेगा। यह ठीक है कि उस धर्मको कर्मकी जगहपर प्रयोग नही किया है। क्योकि ऐसा करना असभव था। कहनेका आशय यह है कि जितना व्यापक अर्थ कर्म शब्द का है उस अर्थमे वह धर्म शब्द नही आया है और इसकी वजह है जो प्रसग-वश लिखी जायगी।

इस प्रकार देखनेसे पता चलता है कि पाँचसे लेकर सत्रह अध्यायतक

कुल तेरह अध्यायोमे यह धर्म आया ही नही है। हालाँकि इन्हीमे कर्मका दार्शनिक विवेचन खूब ही हुआ है। जिस समत्वरूप योगका वर्णन दूसरे अध्यायमे पाया जाता है और जो कर्मोकी कुजी है वही पाँच, छे, नौ, वारह, तेरह और चौदह अध्यायोमे किसी न किसी रूपमे आया ही है। सोलह और सत्रह अध्याय तो गीताधर्मकी दृष्टिसे काफी महत्त्व रखते है, यह पहले कहा चुके है और विस्तारके साथ यह बात सिद्ध की जा चुकी भी है।

अब रहे सिर्फ पहले, दूसरे, तीसरे, चौथे और अठारहवे अध्याय। इन्हीमे धर्म शब्द कुल मिलाके केवल चौबीस बार अपने विशेष मानीमे प्रयुक्त हुआ मालूम पडता है। इसमे भी खूबी यह है कि पहले अध्यायके ४०वेमे तीन वार और तीसरेके ३५वेमे ही चार वार आया है। पहलेके तेंतालीसवेमे, दूसरेके बत्तीस-तेतीसमे, चौथेके सातवेमे और अठारहवे एकतीस-बत्तीस श्लोकोमे दो-दो बार आ जानेके कारण कुल उन्नीस वार तो सिर्फ आठ ही श्लोकोमे आया है। शेष ५ श्लोकोमे ५ वार। इनमें भी पहले अध्यायके ४१ तथा ४४मे, दूसरेके ७वेमे, चौथेके ८वेमे और अठारहवेके ३४वेमे—इस प्रकार एक-एक बारका बँटवारा है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि कुछी जगहोमे वह पाया जाता है। इसमे भी खूबी यह है कि पहले अध्यायमे सात वार और दूसरेमे एक—कुल आठ—वार तो खुद अर्जुनने ही यह शब्द कहा है। फलत वह तो गीताके सिद्धान्तके भीतर योही नही आता है। हाँ, सत्रह वार जो कृष्णने कहा है उसीपर कुछ भरोसा कर सकते है।

मजा तो यह है कि दूसरे अध्यायके ३१ तथा ३३ श्लोकोमे जो कुल चार वार धर्म शब्द कृष्णने कहा है वह अर्जुनके ही कथनानुसार धर्मशास्त्र-वाला ही है, न कि कृष्णका खास। वहाँ तो अर्जुनकी ही वातके अनुसार ही उसे माकूल करते है। इसी प्रकार तीसरेके ३५वेमे जो चार वार आया है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि अठारहवेके ४७वेका। क्योकि

"श्रेयान्स्वधर्मो विगुण परधर्मात्स्वनुष्ठितात्" यह श्लोकका आधा ज्योका त्यो दोनो ही जगह पूर्वार्द्धमे आया है। फलत यदि १८वेमें धर्मका अर्थ कर्म ही है, तो तीसरेमें भी यही बात है—होनी चाहिये। यह भी बात है कि तीसरे अध्यायके शुरूसे लेकर इस श्लोकके पूर्वतक कर्मकी ही बात लगातार आई है। उसकी शृखला टूटी नही है। इसलिये धर्म शब्द भी कर्मके ही अर्थमें प्रयुक्त हुआ है यही मानना उचित है।

इस प्रकार देखनेपर तो सिर्फ चौथे अध्यायके ७, ८ तथा अठारहवेंके ३१, ३२ एव ३४ श्लोकोमे जो धर्म शब्द कृष्णके मुखसे निकले है केवल वही, मालूम पडता है, धर्मके विशेष या पारिभाषिक अर्थमे आये हैं। मगर यहाँ भी कुछ बातें विचारणीय है। चौथे अध्यायमें तो धर्मका उल्लेख अवतारके ही प्रसगमें हुआ है। वहाँ कहा गया है कि जब समाजमें उपद्रव होने लगता है और दुष्टोकी वृद्धि हो जाती है तो अवतारोकी जरूरत होती है। ताकि भले लोगोकी, सत्पुरुषोकी रक्षा हो सके। अब यदि इस वर्णनकी मिलान सोलहवे अध्यायके असुरोके आचरणोंसे करें और तुलसीदासके "जब जब होइ धर्मकी हानी। बाढहिं असुर महा अभिमानी" वचनको भी इस सिलसिलेमे खयाल करे, तो पता लग जाता है कि धर्मका मतलब यहाँ समाज-हितकारी समस्त आचरणोसे ही है। जिन कामोंसे समाजका मगल हो वही धर्म है, ऐसा ही अभिप्राय कृष्णका प्रतीत होता है।

बेशक, सिर्फ १८वें अध्यायके ३१, ३२ तथा ३४ श्लोकोमें यह बात जरूर मालूम होती है कि सामान्य कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यसे अलग धर्म-अधर्म है। ३०वें श्लोकमें प्रवृत्ति-निवृत्ति शब्दोसे इन्ही धर्म और अधर्मको कहा है। इसके सिवाय जिस प्रकार वहाँ कार्याकार्य—कार्य-अकार्य—अलग बताया है, न कि इन्हें धर्म-अधर्म—प्रवृत्ति-निवृत्ति—के ही भीतर ले लिया है, ठीक उसी प्रकार ३१वेंमें भी अधर्म और धर्म तथा अकार्य एव कार्य जुदा-जुदा लिखा है। इससे साफ हो जाता है कि सामान्य कार्य और अकार्यसे अलग

ही धर्म एव अधर्म है—ये विशेष पदार्थ है। मगर जब बत्तीसवे श्लोकपर विशेष ध्यान देते है तो यह पहेली सुलझ जाती है और पता चल जाता है कि धर्म-अधर्म शब्द भी व्यापक अर्थमे ही आये है। पहले—३१वे—श्लोकमें आम लोगोकी धारणाके ही अनुसार इन्हे अलग रखा है जरूर। मगर यह बात विवरणके ही रूपमे है, यह मानना ही पडेगा।

बात असल यह है कि सात्त्विक, राजस और तामस बुद्धियोकी पहचान इन तीन—३०से ३२—श्लोकोमे बताई गई है। पहलेमे कहा गया है कि प्रवृत्ति-निवृत्ति या धर्म-अधर्म तथा कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको ठीक-ठीक बताना सात्त्विक बुद्धिका काम है। इसीसे उसकी पहचान होती है। फिर ३१वेमे कहा गया है कि इन चीजोको जो ठीक-ठीक न बताये—कभी ठीक बताये और कभी नही—वही राजस बुद्धि है। उसकी यही पहचान है। यहाँतक तो ठीक है। दोनोकी पहचानमे धर्म (प्रवृत्ति), अधर्म (निवृत्ति) तथा कार्य-अकार्यका उल्लेख आया है। मगर जब तामस बुद्धिका प्रसग ३२वे श्लोकमें आया है तो कार्य-अकार्यको छोडके केवल धर्म और अधर्मका ही उल्लेख है और कहा गया है कि जो अधर्मको ही धर्म माने और इस प्रकार सभी बाते उलटी ही बताये वही तामसी बुद्धि है। यदि पहला क्रम रखते तो कहते कि जो अधर्मको धर्म और अकार्यको कार्य समझे वही तामसी बुद्धि है। क्योकि उसका काम न तो ठीक-ठीक बताना है और न कुछ गडबड करना, किन्तु बिल्कुल ही उलटा बताना। मगर यहाँ कार्य-अकार्यको छोडके केवल धर्म-अधर्म का ही उल्लेख यही बताता है कि इन्हीके भीतर कार्य-अकार्य भी आ जाते है और ये शब्द व्यापक अर्थमे ही आये है। फलत कार्य-अकार्यका पहले दो श्लोकोमे उल्लेख योही विवरणके ही रूपमे है। ३४वे श्लोकका धर्म शब्द तो प्रचलित प्रणाली के ही अनुसार धर्म, अर्थ, काममे एकको कहता है और जब पहले ही उसका अर्थ ठीक हो गया तो यहाँ दूसरा क्या होगा ?

इस प्रकार यह बात निर्विवाद हो गई कि गीताने धर्मको कर्म, काम या अमलसे भिन्न नही मानके दोनोको एक ही माना है—धर्म ही कर्म है और कर्म ही धर्म । अर्जुनने जो दूसरे अध्यायके सातवें श्लोकमें कहा है कि "धर्मके बारेमे कोई भी निश्चय न कर सकनेके कारण ही आपसे सवाल कर रहा हूँ"—"पृच्छामि त्वा धर्मसमूढचेता", उसका भी मतलब कर्त्तव्य, कर्म या कामसे ही है । इसीलिये तो उसे जो उत्तर दिया गया है उसमें कर्मके ही स्वरूप और उसके सभी पहलुवोका विवेचन किया गया है । यही तो खूबी है कि शुरूसे लेकर अन्ततक जो भी विवेचन किया गया है वह कर्मका ही है, न कि धर्मका । एक भी स्थानपर धर्मका उल्लेख करके विश्लेषण या विवेचन पाया जाता है नही । अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें जो कुछ कहना शुरू हुआ है वह भी मरने-मारने और युद्ध करनेकी ही बात लेके । इन्ही बातोको धर्म कहके शुरू करते तो भी एक बात थी । मगर वहाँ तो सीधे कौन मारता है, कौन मरता है आदि प्रश्न ही उठाये गये है और उन्हीका उत्तर दिया गया है । युद्ध करो, तैयार हो जाओ, लडनेका निश्चय कर लो, आदिके ही रूपमे बार-बार उपसहार किया गया है, न कि धर्म करो, ये धर्म है, इसलिये इन्हें करो, आदिके रूपमें । खूबी तो यह है कि यह सभी बातें स्वतत्र रूपसे कहके आगे ३१-३३ श्लोकोमें यह भी बात कहते है कि धर्मबुद्धिसे भी यही काम कर सकते हो—यह युद्ध और मरने-मारनेका काम धर्म समझके भी करना ही होगा । इससे तो साफ है कि पहले धर्म समझके इन्हें करनेपर जोर नही देके कर्त्तव्य-बुद्धि या विवेकबुद्धिसे ही इन्हें करनेको कहा गया है ।

इस प्रकार सभी कामोको धर्मके भीतर डाल देनेका मतलब यह हो जाता है कि धर्म बहुत बडा एव व्यापक बन जाता है और उसका सर्वजन-प्रसिद्ध सकुचित रूप जाता रहता है । फलत लोगोमें जो धर्माचरणकी प्रवृत्ति आमतौरसे पाई जाती है उसमे काफी फायदा उठाके सभी समा-

जोपयोगी कामोको उसी व्यापक एव उदार बुद्धिसे धर्म समझके ही कराया जा सकता है। गीताके इस ढगसे कर्त्तव्यके ससारमे बहुत बडा लाभ हो जाता है।

मगर दूसरा और असली महत्त्वपूर्ण लाभ इससे यह होता है कि धर्मके नामपर धर्मशास्त्रो, धर्मशास्त्रियो तथा धर्माचार्योंका जो नाहकका नियत्रण लोगोकी समझ और उनके कामोपर रहा करता है वह खत्म हो जाता है। जब धर्म अत्यन्त व्यापक बन जाता है, जब सभी काम उसमे आ जाते है तब धर्मके ठेकेदारोकी गुजाइश रही कहाँ जाती है? जवतक कोई खास चीज और कुछ चुनी-चुनाई बाते न हो तबतक उन्हे पूछे कौन? जीवनके हरेक काममे कौन किससे पूछने जाता है? किस धर्माचार्यकी जरूरत इस बातके लिये होती है कि हम कैसे आगे-पीछे पाँव दे, कैसे साँस ले, कैसे खानेमे मुँह चलाये, कैसे दाँतोसे अन्नको खूब चबाये, कैसे कपडे पहने, आदि-आदि? ये बाते पूछना असभव भी तो है। हाँ, स्वास्थ्यशास्त्रो और ऐसी ही दूसरी पोथियोकी सहायतासे इन्हे भले ही जान ले सकते है। मगर ऐसा तो नही होगा कि सालमे एक या दो-चार गुरु और पीर या पडित-पुरोहित इन्हींके लिये खास तौरसे आया करेगे और 'पूजा' लिया करेगे, ठीक जैसे एकादशी, रोजा आदिके सिलसिलेमे आते ही रहते है। तब तो रोजा, नमाज, सध्या, पूजा वगैरह भी साँस लेने आदिकी ही श्रेणीमे आ जायँगे और वहाँसे भी धर्मध्वजियोकी बेदखली होई जायगी, चाहे देरसे हो या सबेरे।

तीसरी बात यह होगी कि जब हम हरेक बातको धर्मके फन्देसे निकालके व्यावहारिक और सामाजिक दुनियामे ला देगे तो उसके भले-बुरेपनकी जाँच स्वर्ग और नर्ककी दृष्टिसे न करके देखेगे कि इससे अपना और समाज-का भौतिक लाभ क्या है, इससे सामाजिक, वैज्ञानिक या सास्कृतिक विकास-में कहाँतक फायदा पहुँचता है, समाजके स्वास्थ्यकी उन्नति इससे कहाँतक

होती है। विना इस व्यावहारिक दृष्टिके ही तो सब गुड गोवर हो रहा है।
नहानेमें भी जब धर्मकी बात घुसती है तो उससे शरीर या वस्त्रादिकी स्वच्छता
न देखके स्वर्ग-नर्कको ही देखने लगते है। जैसे ऊँटकी नजर हमेशा पश्चिम-
के रेगिस्तानकी ही तरफ होती है, ऐसा कहा जाता है, ठीक उसी तरह हमें
हर काममे ठेठ स्वर्ग, बैकुण्ठ या नर्क ही सूझता है। इस पतनका कोई
ठिकाना है! इस अन्धी धर्मबुद्धिने हमें—मानव-समाजको—निरा भोदू और
बुद्धिहीन बना डाला है, मशीन करार दे दिया है। गीताका यह रास्ता
इस बलासे हमारा निस्तार कर देता है और हमें आदमी बना देता है।

चौथी और आखिरी बात यह होती है कि कर्म भले है या बुरे, इनके
करते हम नर्कमे जायँगे या स्वर्गमे, आदि बातो और प्रश्नोका भी निर्णय
जो अबतक पडितो एव मौलवी लोगोके हाथोमें रहा है उसे गीता इस प्रकार
उनसे छीन लेती और इन्हें ऐसी कसौटीपर कसती है जो सर्वत्र सुलभ हो,
जिसे हम खुद हासिल कर सकते है, यदि चाहें। अबतक तो धर्मके नामपर
फैसला करनेवाले पडित आदि ही थे। मगर अब जब धर्म हो गया कर्म
और कर्मके जाँचने की एक दूसरीही कसौटी गीताने तैयार कर दी, जो
दूसरेके पास न होके हरेक आदमीके पास अपनी-अपनी अलग होती है, तो
फिर पडितो और मौलवियोको कौन पूछे? यह भी नही कि दूसरेको कसौटी—
गैरकी तराजू—दूसरेके काम आये। यहाँ तो अपनी-अपनी ही बात है।
यहाँ "अपनी-अपनी डफली, अपनी-अपनी गीत" है। फलत परमुखा-
पेक्षिताके लिये स्थान रही नही जाता। सोलह आना स्वावलम्बन ही उसकी
जगह ले लेता है। तब धर्मके नामपर झमेले और झगडे भी क्यो होगे?

## गीताका साम्यवाद

गीतामे समता या साम्यवादकी भी बात है और उसे लेके बहुत लोग
मार्क्सवादी साम्यवादको खरी-खोटी सुनाने लगते है। उनके जानते

मार्क्सका साम्यवाद भौतिक होनेके कारण हलके दर्जेका है, तुच्छ है गीताके आध्यात्मिक साम्यवादके मुकाबिलेमे। वह तो यह भी कहते ह कि हमारा देश धर्मप्रधान एव धर्मप्राण होनेके कारण भौतिक साम्यवादके निकट भी न जायगा। यह तो आध्यात्मिक साम्यवादको ही पसन्द करेगा। असलमें इस युगमे जो साम्यवादकी हवा बह निकली है उसीसे घबराके यह बाते उसीके जवाबमे कही जाती है। उस तरहकी दूसरी चोज न रहनेपर तो लोग खामखा उधर ही झुकेगे। इसीलिये गीताकी यह बात लोगोके सामने ला खडी कर दी जाती है; ताकि स्वभावत लोग इधर ही आकृष्ट हो और दूसरे साम्यवादका खतरा न रह जाय। खूवी तो यह है कि जिन्हे अध्यात्मवादसे लाख कोस दूर रहना है वह भी गीताकी यही वात रटते फिरते है! उनके स्थायी स्वार्थोंको भौतिक साम्यवादसे बहुत बडा खतरा होनेके कारण ही वे गीताका नाम लेके टट्टीकी ओटसे शिकार खेलते है। हर हालतमे इस चीजपर प्रकाश डालना जरूरी है।

असलमे गीतामे प्राय बीस जगह या तो सम शब्दका प्रयोग मिलता है या उसीके मानीमे तुल्य जैसे शब्दका प्रयोग। दूसरे अध्यायके ३८ तथा ४८वे, चौथेके २२वे, पाँचवेके १८, १९वे, छठेके ८, ९, १३, २९, ३२, ३३वे, नवेके २९वे, बारहवेके १३, १८वे, तेरहवेके ९, २७, २८वे, चौदहवेंके २४वे तथा १८वेके ५४वे श्लोकोमें सम, समत्व या साम्य शब्द आया है। किसी-किसी श्लोकमे दो बार भी आया है। चौदहवेके २४वें श्लोकमें समके साथ ही तुल्य शब्द भी आया है और २५वेमे सिर्फ तुल्य शब्द ही दो बार मिलता है। इनमे केवल छठेके तेरहवे श्लोकवाला सम शब्द 'सीधा' (Straight)के अर्थमे प्रयुक्त हुआ है। इसलिये उसका साम्यवादसे कोई भी ताल्लुक नही है। शेष सम शब्दो या उन्हीके अर्थमें प्रयुक्त तुल्य शब्दोका साम्यवादसे सम्बन्ध जरूर जुट जाता है। यदि असक्त, अनासक्त, परित्यागी या परित्याग आदि शब्दोको, जो

समके ही अर्थमें—उसी अभिप्रायसे ही—प्रयुक्त हुए है, भी इसी सिलसिले में गिन ले, तब तो गीताके अग-प्रत्यग मे यह बात पाई जाती है, यही मानना पडेगा। कर्मके विश्लेषण और इस समत्व या साम्यवादका ऐसा सम्बन्ध है कि दोनो एक दूसरेके विना रही नही सकते।

अब देखना है कि गीताकी यह समता, उसका यह समत्व, समदर्शन या साम्यवाद है क्या चीज। जबतक उसकी असलियत और रूपरेखाका ही पता हमे न हो उसकी तुलना भौतिक साम्यवादके साथ कर कैसे सकते है? तबतक हमें यह भी कैसे पता लग सकता है कि कौन भला, कौन बुरा है? यदि भला या बुरा है तो भी किस दृष्टिसे, यह भी तो तभी जान सकते है। हरेक चीज हर दृष्टिसे तो कभी भी अच्छी या बुरी होती नही। आखिर पदार्थोंके पहलू तो होते ही है और उन्हें हर पहलूसे अलग-अलग देखना जरूरी हो जाता है, यदि किसी औरके साथ मिलान या तुलना करना हो। यही कारण है कि गीताके समदर्शन या साम्यवादके हर पहलूपर प्रकाश डालना और विचार करना आवश्यक है।

जैसा कि पहले भी कहा गया है, गीताका साम्यवाद, समदर्शन, समत्वबुद्धि या साम्ययोग तो दिल-दिमागकी ही दशा विशेष है। दर-असल युरोपमे हीगेल आदि दार्शनिकोने जिस विचारवाद या आईडियलिज्म (idealism) को प्रश्रय दिया और उसका समर्थन किया है वह बहुत कुछ गीताके समदर्शनसे मिलता-जुलता है। यह भी नही कि यह कोरी मानसिक अवस्था विशेष है जिसे ज्ञानकी एक विलक्षण कोटि या दशा कह सकते है। निस्सन्देह पाँचवे अध्यायके १८, १९—दो—श्लोकोमे जो कुछ कहा है वह तो दर्शन या ज्ञानात्मक ही है। क्योकि वहाँ साफही लिखा है कि पडित लोग समदर्शी होते या सम नामकी चीजको ही देखते है, "पडिता समदर्शिन", "साम्ये स्थित मन।" छठेके ८,९ श्लोकोमें भी "समलोष्ठाश्मकाञ्चन", "समबुद्धिर्विशिष्यते" के द्वारा

कुछ ऐसा ही कहा है। हालाँकि "समलोष्ठाश्मकाञ्चन"का व्यापक भाव माना जाता है जो आगे बताया जायगा। यही बात उस अध्यायके ३२, ३३ श्लोकोमे भी है। क्योकि ३२वेमे "सम पश्यति" लिखा गया है और उसीका उल्लेख ३३वेमे है। यद्यपि तेरहवेके ६वे श्लोकमे यह बात इतनी स्पष्ट नही है और उसका दूसरा आशय भी सभव है; तथापि २७, २८-दो-श्लोकोमे 'पश्यति' एव 'पश्यन्' शब्दोके द्वारा उसे ज्ञान ही बताया है। बस।

## नकाब और नकाबपोश

इसका आशय यह है कि जिस तरह स्वाग बनानेवालेकी बाहरी वेशभूषाके रहते हुए भी समझदार आदमी उससे धोकेमे नही पडता है; किन्तु असली आदमीको पहचानता और देखता रहता है, ठीक यही बात यहाँ भी है। ससारके पदार्थोका जो बाहरी रूप नजर आता है उसे विवेकी या गीताका योगी एकमात्र नट, नर्त्तक या स्वाँग बनानेवालेकी बाहरी वेशभूषा ही मानता है। इसीलिये इन सभी बाहरी आकारोके भीतर या पीछे किसी ऐसी अखड, एकरस, निर्विकार—सम—वस्तुको देखता है जो उसकी अपनी आत्मा या ब्रह्म ही है। उसे समस्त दृश्य भौतिक ससार उसी आत्मा या ब्रह्मकी नटलीला मात्र ही बराबर दीखता है। वह तो इस नटलीलाकी ओर भी दृष्टि न करके उसी सम या एक रस पदार्थको ही देखता है। यह जो बाहरी पर्दा या नकाब है उसे वह उतार फेकता है और पर्दानशीन या नकाबपोशको हूबहू देखता रहता है।

नरसी मेहता एक ज्ञानी भक्त हो गये है। उनकी कथा बहुत प्रसिद्ध है। कहते है कि वह एक बार कहीसे आटा और घी माँग लाये। फिर घीको अलग किसी पात्रमे रखके कुछ दूर पानीके पास आटा गूँधके रोटी पकाने लगे। जब रोटी तैयार हो गई तो सोचा कि घी लगाके भगवानको

भोग लगाऊँ और यज्ञशिष्ट या प्रसाद स्वय ग्रहण करूँ। बेशक, आजकलके नकली भक्तोकी तरह ठाकुरजीकी मूर्त्ति तो वह साथमें बाँधे फिरते न थे। वे थे तो पहुँचे हुए मस्तराम। उनके भगवान तो सभी जगह मौजूद थे। खैर, उनने रोटियाँ रखके घीकी ओर पाँव बढाया और उसे लेके जो उलटे पाँव लौटे तो देखा कि एक कुत्ता रोटियाँ लिये भागा जा रहा है! फिर क्या था? कुत्तेके पीछे दौड पडे! कुत्ता भागा जा रहा है बेतहाशा और नरसी उसके पीछे-पीछे हाथमे घी लिये आर्जू-मिन्नत करते हुए हाँपते-हाँपते दौडे जा रहे है कि, महाराज, रूखी रोटियाँ गलेमें अटकेंगी! जरा घी तो लगा देने दीजिये! मुझे क्या मालूम कि आप इतने भूखे है कि घी लगाने भर की इन्तजार भी बर्दाश्त नही कर सकते! यदि मुझे ऐसा पता होता तो और सबेरे ही रोटियाँ बना लेता! अपराध क्षमा हो! अब आगे ऐसी गलती न होगी! कृपया रुक जाइये, आदि-आदि। बहुत दौड-धूपके बाद तब कही कुत्ता रुका और नरसीने भगवानके चरण पकडे!

नरसीको तो असलमें कुत्ता नजर आता न था। कुत्तेकी शकल तो बाहरी नकाब थी, ऊपरी पर्दा था। वह तो नकाबको फाडके उसके भीतर अपने भगवानको ही देखते थे। उनकी आँखें तो दूसरी चीज देख पाती न थी। उनके लिये सर्वत्र सम ही सम था, सर्वत्र उनकी आत्मा ही आत्मा थी, ब्रह्म ही ब्रह्म था। नटलीलाका पर्दा वह भूल चुके थे—देखते ही न थे। यदि किसी वैज्ञानिकके सामने पानी लाइये तो वह उसमें और ही कुछ देखता है। उसकी दूरदर्शी एव भीतर घुसनेवाली—पर्दा फाड डालनेवाली—आँखें उसमें सिवाय औक्सिजन और हाइड्रोजन (Oxygen and Hydrogen) नामक दो हवाओंकी खास मात्राओंके और कुछ नही देखती हैं, हालाँकि सर्वसाधारणकी नजरोमें वह सिर्फ पानी है, दूसरा कुछ नही। वैज्ञानिककी भी स्थूल दृष्टि पानी देखती

है, यदि उसे वह मौका दे। नही तो वह भी देख नही पाती। मगर सूक्ष्म दृष्टि—और वही यथार्थ दृष्टि है—तो उस दृश्य जलको न देख अदृश्य वायुवोको ही देखती है। यही दशा नरसीकी थी। यही दशा गीताके योगी या समदर्शीकी भी समझिये।

यदि नौ मन बालूके भीतर दो-चार दाने चीनीके मिला दिये जायँ तो हमारी तेजसे तेज आँखे भी उनका पता लगा न सकेंगी, चाहे हम हजार कोशिश करे। मगर चीटी? वह तो खामखा ढूँढ-ढाँढके उन दानोतक पहुँची जायगी। उसे कोई रोक नही सकता। समदर्शी भक्तोकी भी यही दशा होती है। जिस प्रकार चीटीकी लगन तथा नाक तेज और सच्ची होनेके कारण ही वह चीनीके दानोतक अवश्य पहुँचती और उनसे जा मिलती है, बालूका समूह जो उन दानो और चीटीके बीचमें पडा है उसका कुछ कर नही सकता; ठीक वही बात ज्ञानी एव समदर्शी प्रेमी जनोकी होती है। उनके और भगवानके बीचमे खडे ये स्थूल पदार्थ हर्गिज उन्हे रोक नही सकते। शायद किसी विशेष ढगका एक्स रे (Xray) या खुर्दबीन उन्हे प्राप्त हो जाता है। फिर तो शत्रु-मित्र, मिट्टी-पत्थर, सोना, सुख-दु ख, मानापमान आदि सभी चीजोके भीतर उन्हें केवल सम ही सम नजर आता है। पर्दा हट जो गया है, नकाब फट जो गई है। यही है गीताके साम्यवादके समदर्शनका पहलू और यही है उस ज्ञानकी दशाविशेष।

## रसका त्याग

मगर यह तो एक पहलू हुआ। मन या बुद्धिका पदार्थोंके साथ सम्बन्ध होनेपर भी उनके बाहरी या भौतिक आकार एव रूपकी छाप उनपर लगने न पाये और ये इन पदार्थोंके इन दृश्य आकारो एव रूपोसे अछूते रह जायँ, यह तो समदर्शन या गीताके साम्यवादका केवल एक पहलू

हुआ। उसका दूसरा पहलू तो अभी बाकी ही है और गीताने उसपर काफी जोर दिया है। वही तो आखिरी और असली चीज है। इस पहले पहलूका वही तो नतीजा है और यदि वही न हो तो अन्ततोगत्वा यह एक प्रकारसे या तो बेकार हो जाता है या परिश्रमके द्वारा उस दूसरेको सम्पादन करनेमें प्रेरक एव सहायक होता है। यही कारण है कि गीतामें पहलेकी अपेक्षा उसीपर अधिक ध्यान दिया गया है।

बात यो होती है कि मनका भौतिक पदार्थोंसे ससर्ग होते ही उनकी मुहर उसपर लग जाती है, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार फोटोग्राफीमें फोटोवाली पटरी या शीशेपर सामनेवाले पदार्थोंकी। सहसा देखनेसे यह पता नही चलता कि सचमुच उस शीशेपर सामनेकी वस्तुकी छाप लगी है, हालाँकि वह होती है जरूर। इसीलिये तो उसे स्पष्ट करनेके लिये पीछे यत्न करना पडता है। मन या बुद्धिपर भी लगी हुई पदार्थोंकी छाप प्रतीत नही होती। क्योकि वे तो अदृश्य है—अत्यन्त सूक्ष्म है। मन या बुद्धिको देख तो सकते नही। उनका काम है पदार्थोंकी छाप या प्रतिबिम्ब लेके बाहरका अपना काम खत्म कर देना और भीतर लौट आना।

मगर भीतर आनेपर ही तो गडबड पैदा होती है। मनने बाहर जाके पदार्थोंको प्रकट कर दिया—जो चीजे अज्ञानके अन्धकारमे पडी थी उन्हे ज्ञानके प्रकाशमे ला दिया। अब उन चीजोकी बारी आई। उनकी छापके साथ जब मनीराम (मन) भीतर घुसे तो उन पदार्थोंने अब अपना तमाशा और करिश्मा दिखाना शुरू किया। जहाँ पहले भीतर शान्तिसी विराज रही थी, तहाँ अब ऊधम और बेचैनी—उथल-पुथल—शुरू हो गई! मालूम होता है, जैसे बिरनीके छत्तेमें किसीने कोई चीज घुसेड दी और पहले जो वे भीतर चुपचाप पडी थी भनभनाके बाहर निकल आई। किसी छूतवाली या सक्रामक बीमारीको लेके जब कोई किसी

घर या समाजमे घुसता है तो एक प्रकारका आतक छा जाता है, चारो ओर परीशानी छा जाती है और वह छूतकी बीमारी जाने कितनोको तबाह करती है। मनपर अपनी मुहर लगाके जब भौतिक पदार्थ उसी रूपमे मनके साथ भीतर—शरीरमे—घुसते है तो ठीक सक्रामक रोगकी सी बात हो जाती है और भीतरकी शान्ति भग हो जाती है। वह मन अग-प्रत्यगमें अपनी उस छापका असर डालता है। या यो कहिये कि मनके द्वारा वाहरी भौतिक पदार्थ ही ऐसा करते है। फलत हृदय या दिल पूर्ण रूपसे प्रभावित हो जाता है। दिलका काम तो खोद-विनोद करना या जानना है नही। वह तो ऊँटकी पकड पकडता है। जब उसपर भौतिक पदार्थोका प्रभाव इस प्रकार हुआ तो वह उन्हे जैसेका तैसा पकड लेता और परीशान होता है। यदि उसमे विवेक शक्ति होती तो उनसे भाग जाता। मगर सो तो है नही, और जिस मन और बुद्धिमे यह शक्ति है उनने तो खुद ही यह काम किया है—वाहरी पदार्थोंको भीतर पहुँचाया है, या कमसे कम उनके कीटाणुओको ही। फिर हो क्या ?

पहले भी कहा जा चुका है कि भौतिक पदार्थ खुद कुछ कर नही सकते—ये बुरा-भला कर नही सकते, सुख-दु ख दे नही सकते। किन्तु मनमे जो उनका रूप बन जाता है वही सुख-दु खादिका कारण होता है। इस बातका विशेष रूपसे विवरण ऊपरकी पक्तियोसे हो जाता है। जब मनपर भौतिक पदार्थोंकी छाप पडती है तो उसमें एक खास दात पाई जाती है। पहले भी कहा जा चुका है कि उदासीन या लापर्वाह आदमीको ये पदार्थ बुरे-भले नही लगते। क्योकि उसके मनपर इनकी मुहर लग पाती नही। उसका मन बेलाग जो होता है। जिनके मनमे लाग होती है, जिसे लस बोलते है, उन्हीकी यह दशा होती है। इसी लागको गीताने रस कहा है "रसवर्जं रसोऽप्यस्य" (२।५९) श्लोकमे। रागद्वेष या काम, क्रोधके नामसे भी इसी चीजको दार-बार याद किया है। यही लाग

या रागद्वेष-रस-सब तूफानोका मूल है। यदि यह न हो तो सारी बला खत्महो जाय। गीताने इस रसको खत्म करने पर इसीलिए काफी जोर भी दिया है।

अब हालत यह होती है कि भौतिक पदार्थोंके इस प्रकार भीतर पहुँचते ही मै, मेरा, तू, तेरा, अपना-पराया, शत्रु-मित्र, हित-अहित, अहन्ता-ममता आदिका जमघट लग जाता है—भीतर इनका बाजार गर्म हो जाता है। जैसे मासका टुकडा देखते ही, उसकी गन्ध पाते ही गीध, चील, कौवे आदि रक्तपिपासु पक्षियोकी भीड लग जाती है और वे इर्द-गिर्द मॅडराने लगते है, ठीक वही बात यहाँ भी हो जाती है। मै-तू, मेरा-तेरा, शत्रु-मित्र आदि जो जोडे है—द्वन्द्व है—वे जमके एक प्रकारका आपसी युद्ध—एक तरहकी कुश्ती—मचा देते है और कोई किसीकी सुनता नहीं। ये द्वन्द्व होते है बडे ही खतरनाक। ये तो फौरन ही आपसमें हाथापाई शुरू कर देते हैं। पहलवानोकी कुश्तीमें जैसे अखाडेकी धूल उड जाती है इनकी कुश्तीमे ठीक उसी प्रकार मनुष्यके दिलकी दुर्दशा हो जाती है, एक भी फजीती बाकी नही रहती। फिर तो सारे तूफान शुरू होते है। इसीके बाद बाहरी लडाई-झगडे जारी हो जाते है, हाय-हाय मच जाती है। बाहरके झगडे-झमेले इसी भीतरी कुश्तम-कुश्ताके ही परिणाम है। नतीजा यह होता है कि मनुष्यका जीवन दुखमय हो जाता है। क्योकि इन भीतरी कशमकशोका न कभी अन्त होता है और न बाहरी शान्ति मिलती है। भीतर शान्ति हो तब न बाहर होगी?

गीताके आध्यात्मिक साम्यवादकी आवश्यकता यहीपर होती है। वह इसी भीतरी कशमकश और महाभारतको मिटा देता है, ताकि बाहरका भी महायुद्ध अपने आप मिट जाये। ज्योही मन बाहरी पदार्थोंकी छूत भीतर लाये या लानेकी कोशिश करे, त्योही उसका दर्वाजा बन्द कर देना यही उस साम्यवादका दूसरा पहलू है। इसके दोई उपाय है। या

तो मनमे भौतिक पदार्थोंकी छूत लगने पाये ही न, जैसा कि समदर्शनवाले पहलूके निरूपणके सिलसिलेमे कहा जा चुका है । तब तो सारी झंझट ही खत्म हो जाती है । और अगर लगने पाये भी, तो भीतर घुसते ही मनको ऐसी ऊँची सतह या भूमिकामे पहुँचा दे कि वह अकेला पड जाय और कुछ करी न सके, जिस प्रकार छूतवालेको दूरके स्थानमे अलग रखते है जबतक उसकी छूत मिट न जाये। मनको ध्यान, धारणा या चिन्तनकी ऐसी ऊँची एव एकान्त अट्टालिकामे चढा देते है कि वह और चीजे देख सकता ही नही । अगर उसे किसी चीजमे फँसा दे तो दूसरीको देखेगा ही नही। उसका तो स्वभाव ही है एक समय एक हीमे फँसना। कहते है कि व्रजमे गोपियोको जब ऊधवने ज्ञान और निराकार भगवानके ध्यानका उपदेश दिया तो उनने चट उत्तर दे दिया कि मन तो एक ही है और वह चला गया है कृष्णके साथ। फिर ध्यान किससे किया जाय ? "इक मन रह्यो सो गयो स्याम सग कौन भजै जगदीस ?" यही बात यहाँ हो जाती है और सारी बला जाती रहती है ।

## मस्ती और नशा

दूसरा उपाय मनकी मस्ती है, पागलपन है, नशा है। चौबीसो घटे बेहोशी बनी रहती है। जिसे प्रेमका प्याला या शौककी शराब कहा है उसीका नशा दिनरात बना रहता है। बाहरी ससारका खयाल कभी आता ही नही। असलमे तो यह बात होती है हृदयमे, दिलमे। यह मस्ती मनका काम न होके दिलकी ही चीज है। मन तो बडा ही नीच है, लपट है। उसे तो किसी चीजमे जबर्दस्ती बाँध रखना होता है। मगर दिल तो गगाकी धारा है, बहता दर्या है जिसका जल निर्मल है। उसीमे यह मस्ती आती है, यह पागलपन होता है, यह नशा रहता है और वही मनको मजबूर कर देता है कि चुपचाप बैठ जाये, नटखटी या शैता-

नियत न करे। इसीलिये इसे मनकी भी मस्ती कहा करते हैं। खतरनाक फोडेके चीरने-फाड़नेके समय डाक्टर लोग मनुष्यको क्लोरोफार्मके प्रभावसे बेहोश कर देते हैं, ताकि उसे चीर-फाडका पता ही न चले। उसका मन कही जाता नही—किसी चीजमें बँध जाता नही। किन्तु निश्चेष्ट और निष्क्रिय हो जाता है, उसकी सारी हरकतें बन्द हो जाती हैं, जैसे मुर्दा हो गया हो। यही बात मस्तीकी दशामे भी मनकी होती है। जब दिल अपने रगमें आता है और प्रेमके प्यालेमें लिपट जाता है तो गोया मनको क्लोरोफार्म दे दिया और वह मुर्दा बन जाता है। फिर तो कुछ भी कर नही सकता। दिलकी इसी दशाको साम्यावस्था या साम्ययोग कहते हैं। मनकी छूतका ऐसी दशामे न दिल पर असर होता है और न आगेवाला तूफान चालू होता है। जब डकका ही असर न हो तो हायतोबा, चिल्लाहट और रोने-धोने या मरनेका सवाल ही कहाँ ?

इस दशामे भीतरकी शान्ति ज्योकी त्यो अखड बनी रह जाती है। हृदयकी गभीरता (serenity) नही टूटती और कोई खलबली मचने पाती नही। जब बाहरी चीजोका उसपर असर होता ही नही तो शान्तिभग हो कैसे ? चट्टानसे टकराके जैसे लहरें लौट जाती हैं, छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, ठीक यही हालत मनके द्वारा भीतर आनेवाले भौतिक पदार्थोंकी होती है। वे कुछ कर पाते नही। फलत अपने-पराये, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ, बुरे-भलेका द्वन्द्व भीतर हो पाता नही। वहाँ तो सभी चीजें एकसी ही रह जाती हैं। जब उनका असर ही नही हो पाता तो क्या कहा जाय कि कैसी हैं ? इसीलिये उन्हें एकसी कहते हैं। वे खुद एकसी बन तो जाती हैं नही। मगर जब उनकी विभिन्नताका, उनके भले-बुरेपनका अनुभव होता ही नही तो, उन्हें समान, सम या तुल्य कहनेमें हर्ज हई क्या ? यही बात गीताने भी कही है। और जब भीतर असर हुआ ही नही, तो बाहरी महाभारतकी

तो जड ही कट गई। वह तो भीतरी घमासानका ही प्रतिबिम्ब होता है न ?

दूसरे अध्यायमे सुख-दुःखादि परस्पर विरोधी जोडो—द्वन्द्वो—को सम करनेकी जो बात "सुखदु खे समेकृत्वा" (२।३८) आदिके जरिये कही गई है और "सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा" (२।४८)मे जो कामके बनते-बिगडनेमे एक रस—लापर्वा—बने रहनेकी बात कही गई है, वह यही मस्ती है। चौथे अध्यायके "सम सिद्धावसिद्धौ च" (२२)में भी यही चीज पाई जाती है। छठेके "लोहा, पत्थर, सोनाको समान समझता है"—"समलोष्ठाश्मकाञ्चन" (८)का भी यही अभिप्राय है। नवेमे जो यह कहा है कि "मै तो सबके लिये समान हूँ, न मेरा शत्रु है न मित्र"—"समोऽह सर्वभूतेषु नमे द्वेष्योऽस्ति न प्रिय" (२९) वह भी इसीका चित्रण है। बारहवेमे जो "अहन्ता-ममतासे शून्य, क्षमाशील और सुख-दु खमे एकरस"—"निर्ममो निरहकार सम-दु खसुख क्षमी" (१३), कहा है तथा जो "शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दु खमे एकसाँ लापर्वा रहे और किसी चीजमे चिपके नही"—"सम शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयो। शीतोष्णसुखदु खेषु सम सगविवर्जित" (१८) कहा है, वह इसी चीजका विवरण है। चौदहवेके २४, २५ श्लोकोमे "समदु.खसुख स्वस्थ" आदि जो कुछ कहा है वह भी यही चीज है। यहाँ जो "स्वस्थ." कहा है उसका अर्थ है "अपने आपमे स्थिर रह जाना।" यह उसी मस्ती या पागलपनकी दशाकी ही तरफ इशारा है। अठारहवे अध्यायके ५४वे श्लोकमे भी इसी बातका एक स्वरूप खडा कर दिया है "ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा" आदि शब्दोके द्वारा। यो तो जगह-जगह यही बात कही गई है, हालाँकि सर्वत्र सम शब्द नही पाया जाता।

# ज्ञानी और पागल

जनसाधारणको यह सुनके आश्चर्य होगा कि यह क्या बात है कि जो परले दर्जेका तत्त्वज्ञानी हो वही पागल भी हो और बाहरी सुध-बुध रखे ही न। मगर बात तो ऐसी ही है। वामदेव, जडभरत आदिकी ऐसी बाते बराबर कही जाती है भी। यही नही कि हिन्दुओंके ही यहाँ यह चीज पाई जाती है, या गीताने ही यही बात "या निशा सर्वभूताना" (२।६९) मे कही है, या सुरेश्वराचार्यने अपने वार्त्तिकमे खुलके कह दिया है कि "बुद्धतत्त्वस्य लोकोऽय जडोन्मत्तपिशाचवत्। बुद्धतत्त्वोऽपि लोकस्य जडोन्मत्तपिशाचवत्"—"पहुँचे हुए तत्त्वज्ञानीकी नजरोमें यह सारी दुनिया जड, पागल और पिशाच जैसी है और दुनियाकी नजरोमे वह भी ऐसा ही है।" किन्तु प्राचीनतम ग्रीक विद्वान अरिस्टाटिल (अरस्तू)ने भी प्राय ढाई हजार साल पूर्व यही बात अपनी पुस्तक "जीवनकी बुद्धिमत्ता" (Wisdom of life)मे यो कही है —

"Men distinguished in philosophy, politics, poetry or art appear to be all of a melancholy temperament" (page 19)

"By a diligent search in lunatic asylums I have found individual cases of patients who were unquestionably endowed with great talents, and whose genius distinctly appeared through their madness" (1,247)

"जिन लोगोने दर्शन, राजनीति, कविता या कलामे विशेषज्ञता प्राप्त की है उन सबोका ही स्वभाव कुछ मनहूस जैसा रहा है।" "पागलखानोमें यत्नपूर्वक अन्वेषण करनेपर हमने ऐसे भी पागल पाये है जिनका

दिमाग निस्सन्देह आले दर्जेका था और पागलपनकी दशामे भी उनकी चमत्कारशील प्रतिभा साफ झलकती थी।" पश्चिमी दर्शनोका इतिहासका लेखक डुरान्ती (Duranti) भी लिखता है कि, "The direct connection of madness and genius is established by the biographies of great men, such as Rousseau, Byron, Alfieri etc."
"पागलपन और प्रतिभाका सीधा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है यदि हम रूसो, बायरन, आलफीरी जैसे महापुरुषोकी जीवनियाँ गौरसे पढे।"

## पुराने समाजकी झाँकी

बेशक, इस जमानेमे यह बात ताज्जुबकी मालूम होगी चाहे हजार पुराने दृष्टान्त दिये जायँ, या महापुरुषोके वचन उद्धृत किये जायँ। आज तो ऐसे लोग नजर आते ही नही। जीतेजी सदाके लिये हमारी माया-ममता मिट जाये और हम किसीको भी शत्रु-मित्र न समझे, यह बात तो इस ससारमे इस समय अचम्भेकी चीज जरूर है। गीताने इसपर मुहर दी है अवश्य। मगर इससे क्या? दिमागमे भी तो आखिर बात आये। ज्यो-ज्यो सभ्यताका विकास होता जाता है, मालूम होता है, यह बात भी त्यो-त्यो दूर पडती और असभवसी होती जाती है। असलमे दिनपर दिन हम इतना ज्यादा भौतिक पदार्थोंमे लिपटते जाते है कि कोई हद्द नही। इसीलिये यह बात असभव हो गई है। मगर पुराने जमानेके समाजमें माया-ममताका त्याग इतना कठिन न था। गीताने जिस समय यह बात कही है उस समय यह बात इतनी कठिन बेशक नही थी। उस समयका समाज ही कुछ ऐसा था कि यह बात हो सकती थी। और तो और, यदि हम बर्बर एव असभ्य कहे जानेवाले लोगोका प्रामाणिक इतिहास पढे तो पता लग जायगा कि उनके लिये यह बात कही आसान थी। उनकी

is only among the Christian savages, who dwell at the gates of cities, that money is in use. The others will neither handle it nor even look upon it. They call it the serpent of the white-men. They think it strange that some should possess more than others, and that those who have most should be more highly esteemed than those who have least. They neither quarrel nor fight among themselves; they neither rob nor speak ill of one another."

"बेशक रक्तवर्ण असभ्य लोगोमे जो परस्पर भ्रातृभाव पाया जाता है वह किसी हद्दतक इसीलिये है कि उन लोगोको अबतक 'मेरा और तेरा'का ज्ञान हुई नही—वही 'मेरा' और 'तेरा', जिन्हे महात्मा जौन्क्रिसोस्तमोने 'ठडे शब्द' ऐसा कहा है। अनाथो, विधवाओ एव कमजोरोकी रक्षा वे लोग जिस तरह करते है और जिस प्रशसनीय ढगसे वे लोग आगतुकोका आदर-सत्कार करते है वह उनकी नजरोमे इसीलिये अनिवार्य और स्वाभाविक है कि उनका विश्वास है कि ससारकी सभी चीजे सभी लोगोकी है।"

"स्वतत्र विचारक लहोतनने अपनी 'द्वितीय लहोतनकी समुद्रयात्रा' पुस्तकमें लिखा है कि असभ्य लोगोमे 'मेरे' और 'तेरे'का भेद होता ही नही। क्योकि यह बात उनमे देखी जाती है कि जो चीज एककी है वही दूसरेकी भी है। जो असभ्य लोग क्रिस्तान हो गये है और हमारे शहरोके पास रहते है केवल उन्ही लोगोमे रुपये-पैसेका प्रचार पाया जाता है। शेष असभ्य न तो रुपया-पैसा छूते और न उनकी ओर ताकतेतक है। उन्हे यह बात विचित्र लगती है कि कुछ लोगोके पास ज्यादा चीजे होती है बनिस्बत औरोके, और जिनके पास ज्यादा है उनकी ज्यादा इज्जत होती है बनिस्बत कम रखने वालोके। वे असभ्य न तो आपसमे झगडते और

वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्ट." (१।२।७)। यही बात ज्योकी त्यो गीताने भी कुछ और भी विशद रूपसे इसकी असभवताको दिखाते हुए यो कही है कि "आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्य । आश्चेर्यवच्चैन मन्य· शृणोति श्रुत्वाप्येन वेद न चैव कश्चित्" (२।२९)।

पहले भी तो इस चीजकी अव्यावहारिकताका वर्णन किया जाई चुका है। आमतौरसे सासारिक लोगोके लिये तो यह चीज पुराने युगमे भी कठिनतम थी—प्राय: असभव थी ही । मगर वर्त्तमान समयमे तो एकदम असभव हो चुकी है । जो लोग इसकी बार-बार चर्चा करते तथा मार्क्सके भौतिक साम्यवादके मुकाबिलेमे इसी आध्यात्मिक साम्यवादको पेश करके इसीसे लोगोका सन्तोष करना चाहते है वे तो इससे और भी लाखो कोस दूर है। वे या तो पूँजीवादी और जमीदार है या उनके समर्थक और इष्ट-मित्र या सगी-साथी । क्या वे लोग सपनेमे भी इस चीजकी प्राप्तिका खयाल कर सकते है, करते है ? क्या वे मेरा-तेरा, अपना-पराया, शत्रु-मित्र, हानि-लाभ आदिसे अलग होनेकी हिम्मत जन्म-जन्मान्तरमे भी कर सकते है ? क्या यह बात सच नही है कि उनको जो यह भयका भूत सदा सता रहा है कि कहीं भौतिक साम्यवादके चलते उन्हें सचमुच हानि-लाभ, शत्रु-मित्र आदिसे अलग हो जाना पड़े और सारी व्यक्तिगत सम्पत्तिसे हाथ धोना पड जाय, उसीके चलते इस आध्यात्मिक साम्यवादकी ओटमे अपनी सम्पत्ति और कारखानेको बचाना चाहते है ? वे लोग बहुत दूरसे घूमके आते है सही। मगर उनकी यह चाल जानकार लोगोसे छिप नही सकती है । ऐसी दशामे तो यह बात उठाना निरी प्रवचना और धोकेबाजी है। पहले वे खुद इसका अभ्यास कर ले। तब दूसरोको सिखायें। "खुदरा फजीहत, दीगरे रा नसीहत" ठीक नही है ।

मुकाबिला भी वे करते है किसके साथ ? असभवका सभवके साथ,

अनहोनीका होनीके साथ। एक ओर जहाँ यह आध्यात्मिक साम्यवाद बहुत ऊँचा होनेके कारण आम लोगोके पहुँचके बाहरकी चीज है, तहाँ दूसरी ओर भौतिक साम्यवाद सर्वजनसुलभ है, अत्यन्त आसान है। यदि ये भलेमानस केवल इतनी ही दया करें कि अडगे लगाना छोड दें, तो यह चीज बातकी बातमें ससार व्यापी बन जाय। इसमें न तो जीते जी मुर्दा बननेकी जरूरत है और न ध्यान या समाधिकी ही। यह तो हमारे आये दिनकी चीज है, रोज-रोजकी बात है, इसकी तरफ तो हम स्वभावसे ही झुकते है, यदि स्थायी स्वार्थ (Vested interests)वाले हमें बहकायें और फुसलायें न। फिर इसके साथ उसकी तुलना क्या? हाँ, जो सासारिक सुख नही चाहते वह भले ही उस ओर खुशी-खुशी जायें। उन्हे रोकता कौन है? बल्कि इसी साम्यवादके पूर्ण प्रचारसे ही उस साम्यवादका भी मार्ग साफ होगा, यह पहले ही कहा जा चुका है।

## यज्ञचक्र

गीतामें यज्ञ और यज्ञचक्रकी भी बात आई है। यो तो हिन्दुओकी पोथियोमें इस बातकी चर्चा भरी पडी है। उपनिषदोमें भी यह बात कुछ निराले ढगसे ही आई है। मगर गीताका ढग कुछ दूसरा ही है, जो ज्यादा व्यावहारिक एव आकर्षक है। उपनिषद् रूपकके ढगसे यज्ञ और हवनका आलकारिक वर्णन करते है और धर्मशास्त्र या पुराण इन्हें स्वर्ग, नर्क या मुक्ति और वैकुठके ही लिये करनेकी आज्ञा देते है। उनने यज्ञोको पूरा धार्मिक रूप दे दिया है। फिर तो स्वर्ग-नर्ककी बात आई जाती है और हुक्म या आज्ञा (Order or command) की भी जरूरत होई जाती है। हाँ, मनुस्मृतिमें "अग्नौ प्रास्ताऽऽहुति सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्न तत प्रजा" (३।७६) वचन आया है। इसमें गीताकी बातोका कुछ स्थूल आभास पाया जाता है। यह श्लोक

इतना तो कहता ही है कि "यज्ञ-यागादिके समय अग्निमे जो कुछ ठीक-ठीक हवन किया जाता है वह सूर्य तक पहुँचता है, सूर्यसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है और अन्नसे प्राणियोकी उत्पत्ति तथा वृद्धि होती है।" महाभारतके शान्तिपर्वके २६१वे अध्यायका ग्यारहवाँ श्लोक भी ऐसा ही है। इससे इतना तो साफ होई जाता है कि उस समय लोगोका खयाल यज्ञके सम्बन्धमें केवल स्वर्गादि तक ही सीमित न रहके समाजकी व्यवस्था और उसके भरण-पोषणतक भी गया था। लोग यह मानने लगे थे कि समाजके कल्याणके लिये—प्राणियोके सीधे भरण-पोषण आदिके लिये—भी यज्ञ एक जरूरी चीज है। धर्मके रूपमे यज्ञके करनेसे पुण्यके जरिये लोगोको अन्न-वस्त्रादि प्राप्त होगे इस खयालके सिवाय यह विचार भी जड पकड़ चुका था कि यज्ञसे सीधे ही वृष्टिमे सहायता होती है और उससे अन्नादि उत्पन्न होते है।

ेशक, मीमासकोने कारीरी नामक यागके बारेमे यह भी कहा है कि उसके करनेसे अवर्षण मिट जाता है और वृष्टि होती है—"कारीर्या वृष्टिकामो यजेत।" मगर आमतौरसे सभी यज्ञयागोके बारेमें उनका ऐसा मत है नही। इसीलिये मनुस्मृति और शान्तिपर्वके उक्त वचन उस समयके लोगोके विचारोकी प्रगतिके सूचक है। उनसे पता चलता है कि किस प्रकार सामान्य रूपसे पुण्य-प्राप्ति, स्वर्ग-प्राप्ति आदिसे आगे बढके क्रमश. कारीरी यज्ञ के द्वारा सामान्यतः सभी यज्ञोका उपयोग समाजहितके काममे सीधे होने लगा। उपनिषदोके समयमे ऋषियो ने और पीछे दार्शनिकोने भी जो यह स्वीकार किया कि अग्निसे जल और जलसे पृथिवीके द्वारा अन्नादि उत्पन्न हुए और इस प्रकार प्राणि-सृष्टिका विकास हुआ उसका भी सम्बन्ध इस यज्ञवाली प्रक्रियासे है या नही और अगर है तो कितना यह कहना असभव है। यज्ञ और अग्निका सम्बन्ध पुराने लोग अविच्छिन्न मानते थे। इसीलिये यह खयाल स्वाभाविक है कि शायद

वह बात भी इसी सिलसिलेमें आई हो। मगर हमें तो उतने गहरे पानीमें उतरना है नही। हम तो गीताकी ही बात देखना चाहते है।

इससे पहले कि हम इस यज्ञ के वारेमें गीताका मन्तव्य या उसकी विशेपता वतायें यह जान लेना आवश्यक है कि गीतामें कहाँ-कहाँ यज्ञका जिक्र है और किस प्रसगमे। यो तो यज्ञके वारेमें गीताका एक रुख और भाव हम वहुत पहले वता चुके है और कह चुके हैं कि उसमें क्या खूवी है। मगर यहाँ उसके दूसरे ही पहलूका वर्णन करना है। इस विवेचनसे पहले कही गई वातपर भी काफी प्रकाश पड जायगा। गीताकी यह यज्ञ वाली वात जो अपना निरालापन रखती है उसे भी हम वखूवी जान सकेंगे।

गीतामे तीसरे ही अध्यायसे यज्ञकी वात शुरु होके चौथेमे उसका खूव विस्तार है। पाँचवेमें भी यज्ञ शव्द अन्तके २९वें श्लोकमें आया है। सिर्फ छठेंमे वह पाया नही जाता। फिर लगातार सात, आठ, नौ, दस, ग्यारह और वारह अध्यायोमें यज्ञकी वात आती है। यह ठीक है कि वारहवेंमे यज्ञ शव्द नही आता। मगर तीसरे अध्यायमें 'यज्ञार्थ' (३।९) शव्द आया है और "अह क्रतुरह यज्ञ" (९।१६)में भगवानको ही यज्ञ कहा है। "यज्ञाना जपयज्ञोऽस्मि" (१०।२५)मे भी भगवानको ही जप यज्ञ कहा है। फिर वारहवेंके १०वें श्लोकमे 'सत्कर्म', तथा 'मदर्थं कर्म' शव्द आये है। इसीलिये उसे भी यज्ञ ही माना है। वीचवाले १३, १४, १५ अध्यायोमें यज्ञकी चर्चा नही है। उसके वाद १६, १७, १८में स्थान-स्थानपर आई है। इससे स्पष्ट है कि गीताकी दृष्टिसे यज्ञकी महत्ता वहुत है, और है वह व्यापक चीज। गीताकी खास-खास वातोमें एक यह भी है।

अव जरा उसके स्वरूपका विचार करें। सवसे पहले तीसरे अध्यायके ९-१६ श्लोकोको ही लें। इन आठ श्लोकोमें यज्ञ और यज्ञचक्रकी वात आई है। यहाँ यज्ञका कोई भी व्योरा नही दिया गया है और न उसका

विशेष विश्लेषण ही किया गया है। केवल इतना ही कहा गया है कि "जो कर्म यज्ञके लिये हो उससे बन्धन नही होता है, किन्तु और और कर्मोंसे ही",—"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धन" (३।९)। इसके बाद यज्ञको प्राणियोके लिये जरूरी और कल्याणकारी कहके १४-१६ श्लोकोमे एक शृखला ऐसी बनाई है जो चक्रकी तरह गोल हो जाती है और उसके बीचमे यज्ञ आ जाता है। इसीको यज्ञचक्र कहके इसे निरन्तर चालू रखनेपर बडा ही जोर दिया है। १३वे तथा १६वे श्लोकोमे यज्ञ न करनेवालोकी सख्त शिकायत भी की गई है। यहाँतक कह दिया है कि जो इस चक्रको निरन्तर चालू न रखे वह पतित तथा गुनहगार है और उसका जीना बेकार है।

चौथे अध्यायकी यह दशा है कि उसके २३-३३ श्लोकोमे यज्ञका बहुत ज्यादा ब्योरा दिया गया है। इन ग्यारह श्लोकोमे जो पहला—२३वाँ—है उसमे तो वही बात कही गई है जो तीसरेके ९वेमे कि "यज्ञार्थ कर्म सोलहो आना जडमूलसे विलीन हो जाता है। फिर बन्धनमें कौन डालेगा ?"—"यज्ञायाचरत कर्म समग्र प्रविलीयते।" इसके बाद यज्ञोकी किस्मे २४वेंसे शुरू होके ३३वेंतक बताई गई है। बीचके ३१वेमे तो यहाँतक—साफ कह दिया है कि "जो यज्ञ नही करता उसका दुनियाबी कामतक तो चली नही सकता, परलोककी बात तो दूर रहे"—"नाय लोकोऽस्त्य-यज्ञस्य कुतोऽन्य. कुरुसत्तम।" इससे एक तो यज्ञकी व्यापकता तथा समाजोपयोगिता सिद्ध होती है—यह बात पक्की हो जाती है कि वह समाजको कायम रखनेके लिये अनिवार्य है। दूसरे यह कि पूर्वके सात श्लोकोमें जिन यज्ञोको गिनाया है वह केवल नमूनेकी तौरपर ही है। इसीलिये २८वे श्लोकमें गोल-गोल बात ही कही भी गई है कि—"द्रव्योंसे सम्बन्ध रखनेवाले, तप-सम्बन्धी, योग-सम्बन्धी, ज्ञान-सम्बन्धी और सद्ग्रन्थ-सम्बन्धी अनेक यज्ञ है"—"द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथाऽपरे। स्वा-

ध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतय सशितव्रता ।" फिर ३२वें श्लोकमें भी इसकी पुष्टि कर दी गई है कि "इस प्रकारके अनेक यज्ञ वेदादि सद्ग्रन्थोमें बताये गये है और सभीके सभी क्रियात्मक या क्रियासाध्य है"—"एव बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे। कर्मजान्विद्धितान्सर्वान् ।" आखिरमें ज्ञान-यज्ञको और यज्ञोसे उत्तम कहके इस प्रसगको पूरा किया है । फिर ज्ञानकी प्राप्तिका विचार शुरू किया है ।

पाँचवें अध्यायमें तो एक ही बार अन्तिम-२९वें-श्लोकमें यज्ञ शब्द आया ही है । उसमें इतना ही कहा गया है कि परमात्मा ही यज्ञो तथा तपोको स्वीकार करनेवाला एव सभी पदार्थोंका बडेसे बडा शासक और नियत्रणकर्त्ता है । लेकिन यह बात भी है कि सबोका कल्याण भी वह चाहता है—"भोक्तार यज्ञतपसा" आदि । यह दूसरी बात है कि चौथे अध्यायमें जिस प्राणायामको यज्ञ कहा है उसीका कुछ अधिक विवरण और तरीका इस अध्यायमें दिया गया है । छठेंमें तो प्राणायामकी ही विधि विशेष रूपसे दी गई है । फलत इस दृष्टिसे तो वह भी यज्ञप्रति-पादक ही है ।

सातवें अध्यायकी यह हालत है कि उसके २०से २३तकके चार श्लोकोमे निचले दर्जेके—जघन्य—यज्ञोका वर्णन करके अन्तमें कह दिया है कि जो भगवानके लिये यज्ञ करता है वही सबसे अच्छा है । यह एक अजीबसी बात है कि जिसकी मर्जी जिस चीजमें हो उसकी श्रद्धा उसीमें मजबूत कर दी जाती है । यह काम खुद भगवान करते है ऐसी बात "तस्य-तस्याचला श्रद्धा" (२१)मे साफ ही कही गई है । इसका एक मतलब तो यही है कि छोटी-छोटी चीजोमें एकाग्रता होने और श्रद्धा जम जानेपर मनुष्यका अपने दिल-दिमागपर काबू होने लगता है । इसलिये मौका पडनेपर ऊँची चीजमें भी वह उसे लगा सकता है । यकायक वैसी चीजमें लगाना असभव होता है । इसीलिये पतजलिने योगसूत्रोमें साफ ही कहा

है कि "यथाभिमतध्यानाद्वा" (१।३९)। इसके भाष्यमे व्यासने लिखा है कि "यदेवाभिमत तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपद लभते"—"जिसीमे मन लगे उसीका ध्यान करे। जब उसमे मन जमते-जमते स्थिर होने लगेगा तो उससे हटाके दूसरेमे भी स्थिर किया जा सकता है।" दूसरी बात यह है कि धर्म तो श्रद्धाकी ही चीज है, यह पहले ही कहा जा चुका है। वह न छोटा है न बडा, और न ऊँचा है न नीचा। वह कैसा है यह सब कुछ निर्भर करता है इस बातपर कि उसमे हमारी श्रद्धा कैसी है, हमारे दिल-दिमाग, हमारी जबान और हमारे हाथ-पाँवोमे—इन चारोमे—सामञ्जस्य कहाँतक है और हम सच्चे तथा ईमानदार कहाँतक है। इसीलिये यह सामञ्जस्य पूर्ण न होनेके कारण ही कमअक्ल लोगोके कर्मोंको तुच्छ फलवाला कहा है "अन्तवत्तु फल तेषा तद्भवत्यल्पमेधसाम्" (७।२३)। लेकिन जिनका सामञ्जस्य पूरा हो गया है उनके लिये कहा है कि वे भगवान रूप ही है—"मद्भक्ता यान्ति मामपि" (७।२३)। इस अध्यायके अन्तके ३०वे श्लोकमे 'अधियज्ञ'-के रूपमे यज्ञका नाम लेकर प्रश्न किया है कि वह क्या है, कौन है ? अधियज्ञ आदिकी बात हम स्वतत्र रूपसे आगे लिखेगे।

आठवें अध्यायके तो आरभमे ही उसी अधियज्ञके बारेमे दूसरे ही श्लोकमें प्रश्न किया गया है कि वह है कौनसा पदार्थ ? फिर इसीका उत्तर चौथे श्लोकमे आया है कि भगवान ही इस शरीरके भीतर अधियज्ञ है—"अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृता वर।" मगर इससे पूर्वके तीसरे श्लोकमें कर्म किसे कहते है, पूर्वके इस प्रश्नका जो उत्तर दिया गया है कि "पदार्थोंके उत्पादन और पालनका कारण जो त्याग या विसर्जन है वही कर्म कहा जाता है"—"भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसज्ञितः", वह भी यज्ञका ही निरूपण है। क्योकि जैसा कि कह चुके है, तीसरे अध्यायमें तो वृष्टि आदिके द्वारा यज्ञका यही काम कहा ही गया है। इसी अध्यायके

अन्तिम–२८वें–श्लोकमे भी यज्ञ शब्द आया है। मगर उसका यही मतलब है कि यज्ञ कोई उत्तम चीज है जिसका फल बहुत ही सुन्दर और रमणीय होता है। इससे ज्यादा कुछ नही कहा गया है।

नवेंके १५, १६ तथा २०-२८ श्लोकोमें इस यज्ञका विस्तार पाया जाता है। १५वेमें ज्ञान-यज्ञका ही विभिन्न रूप बताके दिखाया है कि उसके द्वारा कैसे भगवानकी पूजा होती है। १६वेंमें भगवानको ही यज्ञ करार देके वैदिक यज्ञके साधन घी, अग्नि आदिको भी भगवानका ही स्वरूप कह दिया है। २०, २१ श्लोकोमें वैदिक सोम-यागादिका क्या परिणाम होता है और स्वर्ग पहुँचके उस यज्ञके करनेवाले फिर क्योकर कुछी दिनो वाद लौट आते तथा जन्म लेते हैं, यह बताया गया है। २२वें में पुनरपि उसी ज्ञान-यज्ञके महत्त्वका वर्णन है। २३-२५ श्लोकोमें सातवें अध्यायकी ही तरह दूसरे-दूसरे देवताओके यज्ञोकी बात कहके उसमें इतना और जोड दिया है कि वह भी भगवानकी ही पूजा है, हालांकि जैसी चाहिये वैसी नही है। क्योकि उसे करनेवाले यह बात तो समझ पाते नही कि यह भी भगवत्पूजा ही है। इसीलिये वे चूकते है—उनका पतन होता है। जिस चीजमें मन लगाइये वही पहुँचियेगा—वही वनियेगा, यही तो नियम है और वे लोग तो दूसरोमें—भूत-प्रेत, पितर आदिमें—ही मन लगाते है, उसी भावनासे यज्ञ या पूजन करते है। फिर उन्हें भगवान कैसे मिलें? यही उनका चूकना है।

इस अध्यायके २६-२८ तीन श्लोकोमें जो कुछ कहा गया है वह है तो यज्ञ ही। मगर है वह बहुत बडी चीज। कोई भी काम, जो निश्चित कर दिया गया हो, करते रहिये। बस, वही भगवत्पूजा होती है यदि इसी भावनासे वह काम किया जाय, यही अमूल्य मन्तव्य इन श्लोकोमें कहा गया है। कर्मोंके छुटकारेके लिये खुद कर्म ही किस प्रकार साधुनका काम करते है, यही चीज यहाँ पाई जाती है। इन श्लोकोके सिवाय पीछेके

१९वें श्लोकमे भी कुछ ऐसी बात कही गई है जिससे पता चलता है कि उसमे भी यज्ञका ही निरूपण है। भगवानको तो उससे पूर्वके १६वे श्लोकमे यज्ञ कहा ही है। मगर इसमे जो यह कहा गया है कि "मै ही वर्षा रोकता हूँ और उसे जारी भी करता हूँ"—"अह वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च", उससे पता चलता है कि यज्ञका ही उल्लेख है। क्योकि तीसरे अध्यायमें तो कही दिया है कि "यज्ञसे ही वृष्टि होती है"—"यज्ञाद्भवति पर्जन्य.।" 'उत्सृजामि' शब्दका अर्थ है उत्सर्ग या छोडना—बाधा हटा देना। आठवेंमे जो विसर्ग कहा गया है वही है यह उत्सर्ग। यज्ञोसे वृष्टिकी बाधा हटके पानी बरसता है। नवे अध्यायके अन्तके ३४वे श्लोकमें भी "मद्याजी" शब्द मिलता है, जिसका अर्थ है "मेरा-भगवानका—यज्ञ करनेवाला—भगवत्पूजक"। इसी श्लोकके प्राय तीन चरण १८वे अध्यायके ६५वे श्लोकमे भी ज्योके त्यो पाये जाते है। अर्थ भी यही है।

दसवे अध्यायके तो केवल २५वे श्लोकमे जप यज्ञकी बात आई है। इसके बारेमें हम भी इस प्रसगके शुरूमे ही कह चुके है। ग्यारहवे अध्यायके "नवेदयज्ञाध्ययनैर्नदानै." (४८), तथा "नदानेन नचेज्यया" (५३) श्लोकोमे यज्ञ और इज्या शब्द आये है। इज्याका वही अर्थ है जो यज्ञका। यहाँ केवल यज्ञका उल्लेख है। कोई खास बात नही है। बारहवेंके १०वे श्लोकमे 'मदर्थ' या भगवानके लिये किये जानेवाले कर्मोका उल्लेख है और यज्ञार्थ कर्मकी बात तो कही चुके है। इसीलिये वहाँ भी यज्ञकी ही बात है।

सोलहवे अध्यायमे यज्ञका जिक्र है केवल १५वे तथा १७वे श्लोकोमें। यह बात बहुत अच्छी तरह ईश्वरवादके प्रसगमे लिखी जा चुकी है। हाँ, सत्रहवे अध्यायमे यज्ञकी बात बार-बार अनेक रूपमे आई है। पहले और चौथे श्लोकमे श्रद्धापूर्वक यज्ञादि करने और सात्त्विक यज्ञोका साधारण उल्लेख है। कोई विवरण नही है। हाँ, इतना कह दिया है कि

कैसोकी यज्ञपूजा किस प्रकार की होती है। यज्ञके सात्त्विक आदि तीन प्रकार यजनीय और पूजनीय पदार्थोके ही हिसाबसे बताये गये है। फिर आगेके ११-१३—तीन—श्लोकोमे यज्ञके कर्त्ताके अपने ही भावो और विचारोके अनुसार यज्ञके वही सात्त्विक आदि तीन भेद बताये गये है। इसके बाद २३-२५—तीन—श्लोकोमे और कुछ न कहके यज्ञादि कर्मोकी त्रुटियोके पूरा करनेका सीधा उपाय बताया गया है कि श्रद्धाके साथ-साथ यदि ओतत्सत् बोलके उन्हें किया जाय तो उनमें अधूरापन रही नही जाता—वे सात्त्विक बन जाते है। यही बात २७, २८ श्लोकोमे भी पाई जाती है। २८वेमें हुत शब्दका अर्थ यज्ञ ही है। २७वेका 'तदर्थीयकर्म' भी इसी मानीमे आया है। यज्ञार्थ और तदर्थ एक ही चीज है।

अठारहवे अध्यायके ६५वेके सिवाय ७०वे श्लोकमें भी ज्ञानयज्ञका उल्लेख है। गीताके उपसहारमें ज्ञानयज्ञका नाम लेना कुछ महत्त्व रखता है। पहले भी तो कही चुके है कि और यज्ञोसे ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। वही बात यहाँ याद हो आई है। खूबी तो यह है कि उस श्लोकमें गीताके पढ़ने-वालेको ही कहा है कि वही ज्ञानयज्ञके द्वारा भगवानकी पूजा करता है। इस प्रकार पठन-पाठनको ज्ञानयज्ञके भीतर डालके गीताने सुन्दर पथ-प्रदर्शन किया है। यज्ञका अर्थ समझनेके लिये कुजी भी दे दी है। इस अध्यायके प्रारंभके ३, ५, ६ श्लोकोमे भी यज्ञ, दान, तप इन तीन कर्मोका बार-बार उल्लेख किया है और कहा है कि ये बुनियादी कर्म है। इन्हें किसी भी दशामें छोड नही सकते। इस तरह यज्ञका महत्त्व सिद्ध कर दिया है।

इतनी दूरतक गीताके यज्ञका सामान्य तथा विशेष विचार कर लेनेके बाद अब हमें मौका मिलता है कि उसकी तहमें घुसके देखें कि यह क्या चीज है। तीसरे अध्यायमें जो यज्ञचक्र बताया गया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उससे इस मामलेपर काफी प्रकाश पडता है। इसलिये पहले उसे

ही देखें कि उसकी हकीकत क्या है। वहाँ यह क्रम पाया जाता है कि कर्मोंसे यज्ञका स्वरूप तैयार होता है, वह पूर्ण होता है—यज्ञसे वृष्टि होती है, वृष्टिसे अन्न होता है, अन्नसे भूतो यानी पदार्थों तथा प्राणियोका भरण-पोषण होता है और उनकी उत्पत्ति भी होती है। इस प्रकार जो एक शृखला तैयार की गई है उसके एक सिरेपर भूत आ जाते है। भूतका असल तात्पर्य है ऐसे पदार्थोंसे जिनका अस्तित्व पाया जाय—यानी सत्ता-धारी पदार्थमात्र। उसी शृखलाके दूसरे सिरेपर कर्म पाया जाता है, ऐसा खयाल हो सकता है। होना भी ऐसा ही चाहिये। क्योकि कर्मका ही सम्बन्ध पदार्थोसे मिलाना है और यही चीज गीताको अभिमत भी है। मगर इससे चक्र तैयार हो पाता नही। क्योकि जबतक शृखलाके दोनो सिरे—छोर—मिल न जायँ, जुट न जायँ, चक्र होगा कैसे? चक्रका तो मतलब ही है कि शृखलाके भीतरवाले सभी पदार्थोका लगाव एक सरेसे रहे और कही भी वह लगाव टूटने न पाये। फलत. एक बार एक पदार्थको शुरू कर दिया और वह चक्र खुदबखुद चालू रहेगा। केवल शृखला रहनेपर और चक्र न होनेपर यह बात नही हो सकती। तब तो बार-बार शृखलाकी लडियोके किनारे पहुँचके नये सिरेसे शुरू करनेकी बात आ जायगी। मगर चक्रमे किनारेकी बात ही नही होती। सभी लडियाँ बीचमे ही होती है।

यह ठीक है कि भूतोका तो कर्मोसे ताल्लुक हुई। भूतोमे ही तो क्रिया पाई जाती और क्रियासे यज्ञका सम्बन्ध होके चक्र चालू रहता है। किनारेका सवाल भी अब नही उठता। यही सर्वजनसिद्ध बात है भी। मगर इसमें दो चीजोकी कमी रह जाती है। एक तो यह बात निरी मैशीन जैसी चीज हो जाती है। भूतोकी क्रियाके पीछे कोई ज्ञान, दिमाग या पद्धति है, या कि योही वह क्रिया चालू है, जैसे घडीकी सुइयोकी क्रिया चालू रहती है? यह प्रश्न उठता है और इसका उत्तर जरूरी है। मगर

इस चक्रमे इसका उत्तर नही मिलता है। दूसरी वात यह है कि हमे तो अपने ही दिल-दिमागके अनुसार कर्मोके करनेका हक है, गीताका यह सिद्धान्त वताया जा चुका है। इस चक्रमे यह वात भी साफ हो पाती नहीं और इसके विना काम ठीक होता नही।

इसीलिये तीसरे अध्यायमे उस शृखलामें दो लडे और भी जुटी है जो इस कमीकी पूर्ति कर देती है। दोई कमियाँ थी और दो लडें जुट गईं। वहाँ कहा गया है कि अक्षरसे ब्रह्म और ब्रह्मसे कर्म पैदा होता है। कर्मका तो यज्ञके द्वारा उस शृखलामें लगाव हुई। मगर प्रश्न यह होता है कि चक्र वनता है कैसे? अक्षरसे शुरू करके भूतोपर खात्मा हो जानेपर मिलान तो होती नही। भूत और अक्षर तो दो जुदी चीजें है न? यह भी नही कि जैसे भूतोसे कर्म वनते हो—उनके ही द्वारा कर्म होते हो—वैसे ही भूतोसे अक्षर होता हो या वनता हो। फलत भारी अडचन आ जाती है। दोनो कमियोकी पूर्ति कैसे हो गई यह वात तो अलग ही है—इसका भी पता नही चलता।

इस पहेलीको सुलझानेके लिये हमे ब्रह्म और अक्षरको पहले जान लेना होगा कि ये दोनो है क्या। पहले ब्रह्मको ही लें। गीतामे ब्रह्म शब्द तीन अर्थोमें आया है। यो तो ब्रह्म शब्दका अर्थ है वृहत् या वडा—वहुत वडा, सवसे वडा। आमतौरसे ब्रह्म कहते है परमात्मा या भगवानको ही। उसे इसीलिये समब्रह्म, परब्रह्म या परब्रह्म और अक्षरब्रह्म भी कहा करते है। ब्रह्म शब्द गीतामें कुल मिलाके प्राय तिरपन वार आया है। अध्याय और श्लोक जिनमें यह शब्द मिलता है इस तरह है—(२।७२), (३।१५), (४।२४, २५, ३१, ३२), (५।६, १०, १९, २०, २१, २४, २५, २६), (६।१४, २८, ३८, ४४), (७।२९), (८।१, ३, ११, १३, १६, १७, २४), (१०।१२), (११।१५, ३७), (१३।४, १२), (१४।३, ४, २६, २७), (१७।१४, २३, २४,), (१८।४२, ५०, ५३, ५४)।

किसी-किसी श्लोकमे कई कई बार आनेके कारण ५० बारसे ज्यादा हो जाता है।

मगर यदि पूर्वापर विचार किया जाय तो पता चलेगा कि पाँच ही अर्थों मे यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। परमात्माके अर्थ में तो बारबार आया है और सबसे ज्यादा आया है। ब्राह्मण जातिके अर्थमे केवल एक बार १८वे अध्यायके ४२वे श्लोकमे पाया जाता है। यो तो इसी ब्रह्म शब्दसे बना ब्राह्मण शब्द कई बार आया है। प्रकृति या मायाके अर्थमें चौदहवे अध्यायके ३, ४ श्लोकोमे पाया जाता है। असलमे उसके साथ महत् शब्द लगा है और उसका अर्थ है महान् या महत्तत्त्व। प्रकृतिसे जिस तत्त्वकी उत्पत्ति वेदान्त और साख्यदर्शनोमे मानी जाती है उसे ही महान्, महत् या महत्तत्त्व कहते है। तेरहवें अध्यायके ५वे श्लोकमे जिसे बुद्धि कहा है वह यही महत् है। यह है समष्टि या व्यापक बुद्धि, न कि जीवोकी जुदा-जुदा। वहाँ जिसे अव्यक्त कहा है वही है प्रकृति और चौदहवेमें उसीको ब्रह्म कहा है। सातवे अध्यायके ४थे श्लोकमे भी उसे बुद्धि और अव्यक्तको अहकार कह दिया है। वहाँ मनका अर्थ है अहकार और अहकारका प्रकृति अर्थ है। चौदहवेमे महत् शब्दके सम्बन्धसे ब्रह्मका अर्थ प्रकृति हो जाता है। प्रकृतिसे ही तो विस्तार या सृष्टिका पसारा शुरू होता है और सबसे पहले समष्टि बुद्धि पैदा होती है। इसीलिये प्रकृतिका विशेषण महत् दे दिया है। महत्तत्त्व भी तो प्रकृतिसे जुदा नही है, जैसे मिट्टीसे घडा।

ब्रह्म शब्दका चौथा अर्थ है हिरण्यगर्भ या ब्रह्मा। उसीको अव्यक्त भी कहा है। आठवे अध्यायके १६, १७ श्लोकोमे ब्रह्माके ही अर्थमे ब्रह्म शब्द और १८वेमें अव्यक्त शब्द आया है। ग्यारहवे अध्यायके १५वेमे भी ब्रह्म शब्दका ब्रह्मा ही अर्थ है। छठेके चौदहवें तथा १७वे के १४वे श्लोकमे ब्रह्मचारी एव ब्रह्मचर्यवाला ब्रह्म शब्द वेदके ही अर्थमे सर्वत्र आता है

और वहाँ भी आया है। चौथेके "ब्रह्मणोमुखे"का ब्रह्म शब्द भी वेदका ही वाचक है। इसी प्रकार छठें अध्यायके ४४वें श्लोकमे जो ब्रह्म शब्द है वह भी वेदार्थक ही है। उसके पूर्वमें 'शब्द' शब्द लग जानेसे दूसरे अर्थकी गुजाइश वहाँ रही नही जाती। तीसरे अध्यायमें जो यज्ञचक्रके सिलसिलेमें ब्रह्म शब्द आया है वह भी वेदका ही वाचक है। शेष ब्रह्म शब्द परब्रह्म या परमात्माके ही अर्थमें आये है। शायद ही कही परमात्माके सिवाय उक्त शेष चार अर्थोंमे किसीमें आये हो।

असलमे तो ब्रह्म शब्दके तीन ही मुख्य अर्थ गीतामें पाये जाते है और ये है वेद, परमात्मा, प्रकृति। यह भी कही चुके है कि आमतौरसे ब्रह्मका अर्थ परमात्मा ही होता है। शेष अर्थ या तो प्रसगसे जाने जाते है, या किसी विशेषणके फलस्वरूप। दृष्टान्तके लिये प्रकृतिके अर्थमें ब्रह्म शब्द-का प्रयोग होनेके समय प्रसग तो हुई। पर, उसीके साथ महत् विशेषण भी जुटा है। यही वात वेदके अर्थमें भी है। शब्द ब्रह्मकी वात अभी कही गई है। "ब्रह्मणोमुखे"में जो ब्रह्मका अर्थ वेद होता है वह प्रसगवश ही समझा जाता है। यज्ञोका विस्तार वेदोमे ही है। उसे ही वेदका मुख कह दिया है। मुख है प्रधान अग। इसीलिये मुख और मुख्य शब्द प्रधानार्थक है। वेदोके प्रधान अशोमे यज्ञोका ही विस्तार पाया जाता भी है। जिन लोगोने यहाँ "ब्रह्मणोमुखे"मे ब्रह्मका अर्थ परमात्मा किया है उन्हें क्या कहा जाय ? यज्ञोका, विस्तार वेदोमें ही तो है। भगवानके मुखमें विस्तार है, यह अजीब वात है। हमें आश्चर्य तो तब और होता है जब वही लोग "त्रैविद्या मा सोमपा." (९।२०), तथा "त्रयीधर्ममनु-प्रपन्ना" (९।२१),मे खुद स्वीकार करते है कि त्रयी या तीनो वेदोमें यज्ञयागादिका ही विशेष वर्णन है। फिर यहाँ वही अर्थ क्यो नही किया जाय ? तीसरे अध्यायमें भी ब्रह्मका विशेषण सर्वगत है। गम् धातु सस्कृतमें ज्ञानके अर्थमे भी प्रयुक्त होती है। इसीलिये अवगत शब्दका

अर्थ है जाना हुआ। इस प्रकार सर्वगत शब्दका अर्थ है सब चीजोको जनाने या बतानेवाला। खुद वेद शब्दका अर्थ है ज्ञान। ज्ञानसे ही तो सब चीजे प्रकाशित होती है या जानी जाती है। इसीलिये यहाँ अर्थ हो जाता है कि सभी बातोको अवगत करानेवाले वेदोसे ही कर्म आते हैं, पैदा होते है या जाने जाते है। वेदका तो काम केवल बताना ही है न?

यह तो सभी वेदज्ञ जानते है कि यज्ञयागादि सभी प्रकारके कर्मोपर बहुत ज्यादा जोर वेदोने दिया है। मीमासा दर्शन उन्ही वेदवाक्योके आधारपर कर्मोका विस्तृत विवेचन करता है। श्रौत तथा स्मार्त्त सूत्र-ग्रन्थ इन्ही वैदिक कर्मोकी विधियाँ बताते है। यहाँतक कि यजुर्वेदके अन्तिम–४०वे–अध्यायके दूसरे मत्रमे साफ ही कह दिया है कि "कर्मोको करते रहके ही इस दुनियामे सौ साल जीनेकी इच्छा करे, क्योकि मनुष्यमे कर्मोका लेप न हो—वे मनुष्यको बन्धनमे न डाले—इसका दूसरा उपाय हई नही"—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत समा। एवं त्वयि.नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥" यह तो कही चुके है कि गीताने भी कर्मोको ही उनके बन्धनके धोनेका साबुन बताया है। उसने इसकी तरकीब भी सुझाई है।

परन्तु दरअसल ब्रह्मके दोई भेद किये गये है। मुण्डक उपनिषदके प्रथम खडमे ही जिसे परा एव अपरा विद्याके रूपमे "द्वे विद्ये वेदितव्ये" कहा है, उसी चीजको सफाईके साथ महाभारतके शान्तिपर्वके (२३१-६। २६९-१) दो श्लोकोमे, जो हुबहू एक ही हैं, कह दिया है कि "ब्रह्म तो दोई है—पर तथा अपर या शब्द ब्रह्म और परब्रह्म। जो शब्दब्रह्ममे प्रवीण हो जाता है वही परब्रह्मको जान पाता है"—"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्द ब्रह्म पर च यत्। शब्दब्रह्मणि निष्णात पर ब्रह्माधिगच्छति॥" इन्ही दोमेसे शब्द-ब्रह्मको गीताके तृतीय अध्यायमे सर्वगत ब्रह्म और पर-ब्रह्मको अक्षर कहा है। आठवे (८।३)मे उसे ही अक्षर ब्रह्म और

परमब्रह्म भी कहा है। और भी स्थान-स्थानपर यही बात पाई जाती है।

इस प्रकार सर्वगत वेदसे यदि कर्मोकी जानकारी होती है तो यह शका कि कर्मोके पीछे ज्ञान और दिमाग है या नही, अपने आप मिट जाती है। वेद तो ज्ञानको कहते ही है। इसलिये मानना पडता है कि यज्ञ-यागादि कर्म घडीकी सूईकी चाल जैसे न होके ज्ञानपूर्वक होते है। इनकी व्यवस्था ही ऐसी है। इसीलिये तो जवावदेही भी करनेवालोपर आती है। अब सिर्फ दूसरी शका रह जाती है कि लोगोको समझ-बूझके करनेकी बात है या नही। कही ऐसा तो नही कि किसीकी प्रेरणासे विवश होके ही कर्म करने पडते है। इसका उत्तर "ब्रह्म अक्षरसे पैदा हुआ"—"ब्रह्माक्षर समुद्भवम्" पद देते है। श्वेताश्वतर उपनिषद्के अन्तिम—छठे—अध्यायमें एक मत्र आता है कि "जो परमात्मा सबसे पहले ब्रह्माको पैदा करके उसे वेदोका ज्ञान कराता है—"यो ब्रह्माण विदधाति पूर्व यो वै वेदाश्च प्रहिणोति तस्मै' (६।१८)। जगह-जगह वैदिक ग्रन्थोमे यही बात पाई जाती है। मनु आदिने भी यही लिखा है। ब्राह्मण ग्रथोमें भी बार-बार यही कहा गया है। इससे यह बात तो निर्विवाद है कि अविनाशी या अक्षरब्रह्मसे वेद पैदा हुए। या यो कहिये कि उसने ही वेद बनाये। और जब ऐसा नही कहके कि परमात्माने कर्म बनाये, यह कहा है कि उसने वेद बनाये, तो स्पष्ट है कि हम वेदोको पढके जानकारी हासिल करें और कर्मोको समझ-बूझके करे। अगर यह कह दिया होता कि परमात्माने कर्म ही बनाये, तो यही खयाल होता है कि कर्म करनेकी उसकी आज्ञा या मर्जी है। उसमे सोचने-विचारनेका प्रश्न है नही।

तब सवाल यह होता है कि चक्र कैसे बनेगा? भूतोका अक्षर ब्रह्मसे कौनसा सम्बन्ध है? जबतक या तो भूतोसे अक्षरब्रह्मकी उत्पत्ति न मानी जाय, या दोनोकी एकता स्वीकार न की जाय तबतक शृंखलाके दोनो

छोर पृथक्-पृथक् रहेगे। वे मिलेगे हर्गिज नही। मगर इन दोनोमे एक भी सभव नही। भूतोमे तो सभी पदार्थ आ जाते है, चाहे जड हो या चेतन। फिर सबकी एकता ब्रह्मके साथ होगी कैसे? उनसे ब्रह्मकी उत्पत्ति तो कोई भी नही मानता। तब यह गुत्थी सुलझे कैसे? यहाँ हमे फिर उपनिषदोकी ही ओर देखना पडता है। तभी यह गाँठ सुलझेगी। गीता तो उपनिषद हुई। सभी अध्यायोके अन्तमे ऐसा ही कहा गया भी है।

वृहदारण्यक उपनिषदके चतुर्थ अध्यायके पाँचवे ब्राह्मणके ११वे मत्रमे याज्ञवल्क्य एव मैत्रेयीके सम्वादके सिलसिलेमे याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीसे कहा है कि, "यथार्द्रैधाग्नेरभ्याहितस्य पृथग्धूमा विनिश्चरन्त्येव वा अरेऽस्य महतो भूतस्य नि श्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेद सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराण विद्या उपनिषद श्लोका· सूत्राण्यनुव्याख्यानिव्याख्यानीष्ट हुतमाशित पायितमय च लोक· परश्च लोक सर्वाणि च भूतान्यस्यैवैतानि सर्वाणि नि श्वसितानि।" इसका आशय यह है कि "जिस तरह गीले ईंधनसे अग्निका सम्बन्ध होनेपर उससे चारो ओर धुआँ फैलता है, ठीक उसी तरह इस महान् भूतकी साँसके रूपमे ही ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास, पुराण, कला, उपनिषद, श्लोक, सूत्र, व्याख्यान, व्याख्यानोके व्याख्यान, हवनके पदार्थ, यज्ञके भोज्य तथा पेय पदार्थ, यह लोक, परलोक, सभी भूत चारो ओर फैले है।"

यहाँ कई बाते है। एक तो वेदादि जितनी ज्ञानकी राशियाँ है उनका केन्द्र परमात्मा ही माना गया है। दूसरे सृष्टिके सभी पदार्थोंका पसारा उसीसे बताया गया है। तीसरे भूतोको भी उसीकी साँसकी तरह कहा गया है। यानी भूत उससे जुदा नही है। चौथी बात यह है और यही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है कि उस परमात्माको महाभूत कहा गया है। आगेके १४, १५ मत्रोमें उसीको अविनाशी आत्मा कहा है, जिसका नाश

के कृश करनेकी बात कही गई है या घसीटनेकी—खीचनेकी—उसका भी मतलब नीचे गिराने, गिरने या पतनसे ही है। यह बात आसुरी कामोसे होती है। इसीलिये उनकी निन्दा और यज्ञकी प्रशसा की गई है। देखिये न, दुनियावी बातोमे ऐसे लोग अपनी एव ईश्वरकी कितनी झूठी कसमे खाते है और इस प्रकार अपने आपको तथा ईश्वरको भी कितना नीचे घसीट लाते है !

जैसे भूतका अर्थ है सत्ताधारी, ठीक उसी प्रकार अन्नका अर्थ है जिसे खाया-पिया जाय या जो औरोको खा-पी जाय—"अद्यतेऽत्ति वा भूतानी-त्यन्नम्।" वृष्टि या पानीकी सहायतासे जो भी चीजे तैयार हो या शुद्ध हो सभी अन्नके भीतर आ जाती है। वैदिक यज्ञादिसे या वैज्ञानिक रीतिसे जो वृष्टि कराई जाय, नहर आदिके जरिये या कुएँसे पानी वहाँ पहुँचाया जाय जहाँ जरूरत हो, वृक्षादिकी वृद्धिके जरिये वृष्टिको उत्तेजना दी जाय—क्योकि यह मानी हुई बात है कि जगलोकी वृद्धिसे पानी ज्यादा बरसता है और काट देनेपर कम—या दूसरा भी जो तरीका अख्तियार किया जाय और जितनी भी वैज्ञानिक प्रक्रियाये सिखाई-पढाई जायँ सभी यज्ञके भीतर आ जाती है। औषधियोके जरिये, स्वच्छताका खूब प्रसार करके या जैसे हो जलकी शुद्धिके सभी उपाय यज्ञ ही है। फिर आगे जो कुछ भी जलके प्रभावसे हमारे कामके लिये—समाजके लाभके लिये—किया जाय, बनाया जाय—फिर चाहे वह शुद्ध हवा हो, खाद्य पदार्थ हो, जमीन हो, घर हो या दूसरी ही चीजे—सभी अन्नके भीतर आ जाती है। ज्ञान, ध्यान, समाधिके जरिये जो शक्ति पैदा होती है उससे क्या नही होता। योगसिद्धियोका पूरा वर्णन योगसूत्रोमे है। इसलिये यह सब कुछ यज्ञ ही है। जो भी काम आत्मा, समाज तथा पदार्थोंकी सर्वांगीण उन्नतिके लिये जरूरी हो उससे चूकना पाप है। यही गीताका उपदेश है, यही यज्ञचक्रका रहस्य है।

## अध्यात्म, अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ

वालोको कुछ पता ही न लगा। वे तो और भी परीशानीमें पड गये कि यह विडौजा कौनसी बला है। मघवामे तो मघ शब्द था जो माघ जैसा लगता था। मगर विडौजा तो एकदम अनजान ही है। ठीक यही बात यहाँ हो जाती है। ये शब्द तो कुछ समझमे आते भी है, कुछ परिचित जैसे लगते है। मगर इनके जो अर्थ बताये गये है वे ? वे तो ठीक बिडौजा जैसे है और समझमे आते ही नही।

बेशक यह दिक्कत है। इसलिये भीतरसे पता लगाना होगा कि बात क्या है। एतदर्थ हमे उपनिषदोसे ही कुंजी मिलेगी। मगर वह कुजी क्या है यह जाननेके पहले यह तो जान लेना ही होगा कि अधियज्ञ गीताकी अपनी चीज है। गीतामे नवीनता तो हुई। फिर यहाँ भी क्यो न हो ? गीताने यज्ञको जो महत्त्व दिया है और उसके नये रूपके साथ जो उसकी नई उपयोगिता उसने सुझाई है उसीके चलते अध्यात्म आदि तीनके साथ यहाँ अधियज्ञका आ जाना जरूरी था। एक बात यह भी है कि यज्ञ तो भगवत्पूजाकी ही बात है। गीताकी नजरोमे यज्ञका प्रधान प्रयोजन है समाज-कल्याणके द्वारा आत्मकल्याण और आत्मज्ञान। गीताका यज्ञ चौबीस घटा चलता रहता है यह भी कही चुके है। इसलिये गीताने आत्मज्ञानके ही सिलसिलेमे यहाँ अधियज्ञ शब्दको लिखके शरीरके भीतर ही यह जानना-जनाना चाहा है कि इस शरीरमे अधियज्ञ कौन है ? बाहर देवताओको या तीर्थ और मन्दिरमें भगवानको ढूँढनेके बजाय शरीरके भीतर ही यज्ञ-पूजा मानके गीताने उसीको तीर्थ तथा मन्दिर करार दे दिया है और कह दिया है कि वही आत्मा-परमात्माको ढूँढो। बाहर भटकना बेकार है। प्रश्न और उत्तर दोनोमे ही जो "इस शरीरमे"— "अत्र देहेऽस्मिन्" कहा गया है उसका यही रहस्य है।

इस सम्बन्धमे एक बात और भी जान लेना चाहिये। अगस्त कोन्त (Auguste Comte) नामक फ़ासीसी दार्शनिकने तथा और भी

पश्चिमी दार्शनिकोने किसी चीजके और खासकर समाज और सृष्टिके विवेचनके तीन तरीके माने है, जिन्हे पौजिटिव (Positive), थियोलौजिकल (Theological) और मेटाफिजिकल (Metaphysical) नाम दिया गया है। मेटाफिजिक्स अध्यात्मशास्त्रको कहते है, जिसमें आत्मा-परमात्माका विवेचन होता है और थियोलौजी कहते है धर्मशास्त्रको, जिसमे स्वर्ग, नर्क तथा दिव्यशक्ति-सम्पन्न लोगोका, जिन्हें देवता कहते है, वर्णन और महत्त्व पाया जाता है। पौजिटिवका अर्थ है निश्चित रूपसे प्रतिपादित या सिद्ध किया हुआ, वताया हुआ। कोन्तके मतसे किसी पदार्थको दैवी या आध्यात्मिक कहना ठीक नही है। वह इन वातोको वेवकूफी समझता है। उसके मतसे कोई चीज स्वाभाविक (Natural) भी नही कही जा सकती। ऐसा कहना अपने आपके अज्ञानका सवूत देना है। किन्तु हरेक दृश्य पदार्थोका जो कुछ ज्ञान होता है वही हमें पदार्थोके स्वरूपोको वता सकता है और उसीके जरिये हम किसी वस्तुके वारेमे निर्णय करते है कि कैसी है, क्या है आदि। वेशक, यह ज्ञान आपेक्षिक होता है—देश, काल, परिस्थिति और पूर्व जानकारीकी अपेक्षा करके ही यह ज्ञान होता है, न कि सर्वथा स्वतत्र। इसी ज्ञानके द्वारा उसके पदार्थोका विश्लेषण करके जो कुछ स्थिर किया जाता है वही पौजिटिव है, असल है, वस्तुतत्त्व है। इसी प्रणालीको लोगो ने आधिभौतिक विवेचनकी प्रणाली कहा है। इसे ही मैटिरियलिस्टिक मेथड (Materialistic method) भी कहते है। शेष दो को क्रमश आधिदैवत एव आध्यात्मिक विवेचन प्रणाली कहते है।

आधिदैवत प्रणालीमे दिव्य शक्तियोकी सत्ता स्वीकार करके ही आगे वढते है। उसमे मानते है कि ऐसी अलौकिक ताकते है जो ससारके वहुतसे कामोको चलाती है। विजलीका गिरना, चन्द्र-सूर्य आदिका भ्रमण तथा निश्चित समयपर अपने स्थानपर पहुँच जाना, जिससे ऋतुओ-

का परिवर्त्तन होता है, आदि बाते ऐसे लोग उस दैवी-शक्तिके ही प्रभावसे मानते है। यह बाते मानवीय शक्तिके बाहरकी है। हमारी तो वहाँ पहुँच हुई नही। सूर्यसे निरन्तर ताप निकल रहा है। फिर भी वह ठडा नही होता! ऐसा करनेवाली कोई दिव्य-शक्ति ही मानी जाती है। हम किसी चीजको कितना भी गर्म करे। फिर भी खुद बातकी बातमे वह ठडी हो जाती है। मगर सूर्य क्यो ठडा नही होता? उसमे ताप कहाँसे आया और बराबर आता ही क्यो कहाँसे रहता है? ऐसे प्रश्नोका उत्तर वे लोग यही देते है ससारका काम चलानेके लिये वह ताप और प्रकाश अनिवार्य होनेके कारण ससारका निर्माण करनेवाली वह दैवी-शक्ति ही यह सारी व्यवस्था कर रही है। इसी प्रकार प्राणियोके शरीरोकी रचना वगैरहको भी ले सकते है। जाने कितनी बूँदे वीर्यकी योही गिर जाती है और पता नही चलता कि क्या हुई। मगर देखिये उसीकी एक ही बूँद स्त्रीके गर्भमे जानेसे साढे तीन हाथका मोटा-ताजा, विद्वान और कलाकार मनुष्यके रूपमे तैयार हो जाता है सिंह, हाथी आदि जन्तु बन जाते है! यह तो इन्द्रजाल ही मालूम होता है! मगर है यह काम किसी अदृश्य हाथ या दिव्य शक्तिका ही। इसलिये उसकी ही पूजा-आराधना करे तो मानव-समाजका कल्याण हो। वह यदि जरासी भी नजर फेर दे तो हम क्यासे क्या हो जायँ। शक्तिका भडार ही तो वह देवता आखिर है न? जिस प्रकार आधिभौतिकवादी जड पदार्थोकी पूजा करते है या यो कहिये कि इन्हीके अध्ययनमे दिमाग खर्चना ठीक मानते है, ठीक वैसे ही आधिदैवतवादी देवताओके ही ध्यान, अन्वेषण आदिको कर्त्तव्य समझते है।

आध्यात्मिक पक्ष इन दोनोको ही स्वीकार न करके यही मानता है कि हर चीजकी अपनी हस्ती होती है, सत्ता होती है, अपना अस्तित्व

होता है। वही उसकी अपनी है, स्व है, आत्मा है। उसे हटा लो, अलग कर दो। फिर देखो कि वह चीज कहाँ चली गई, लापता हो गई! मगर जबतक उसकी आत्मा मौजूद है, सत्ता कायम है तबतक उसमें कितनी ताकत है! बारूद या डिनामाइटसे पहाडोको फाड देते है। बिजलीसे क्या-क्या करामाती काम नही होते! आग क्या नही कर डालती! दिमाग-दार वैज्ञानिक क्या-क्या अनोखे आविष्कार करते है! हाथी पहाड जैसा जानवर कितना बोझ ढो लेता है! सिंह कितनी बहादुरी करता है! मनुष्योकी हिम्मत और वीरताका क्या कहना! मगर यह सब बातें तभीतक होती है जबतक इन चीजोकी हस्ती है, सत्ता है, आत्मा है। उसे हटा दो, सत्ता मिटा दो। फिर कुछ न देखोगे। अतएव यह आत्मा ही असल चीज है, इसीकी सारी करामात है। इसका हटना या मिटना यही है कि हम इसे देख नही पाते। यह हमसे ओझल हो जाती है। इसका नाश तो कभी होता नही, हो सकता नही। आखिर नाशकी भी तो अपनी आत्मा है, सत्ता है, हस्ती है। फिर तो नाश होनेका अर्थ ही है आत्माका रहना। यह भी नही कि वह आत्मा जुदा-जुदा है। वह तो सबोमें—सभी पदार्थोंमे—एक ही है। उसे जुदा करे कौन ? जब एक ही रूप, एक ही काम, एक ही हालत ठहरी, तो विभिन्नताका प्रश्न ही कहाँ उठता है ? जो विभिन्नता मालूम पडती है वह बनावटी है, झूठी है, धोका है, माया है। यह ठीक है कि शरीरोमें ज्ञानके साधन होनेसे चेतना प्रतीत होती है। मगर पत्थरमें यह बात नही। लेकिन आत्माका इससे क्या ? आग सर्वत्र है। मगर रगड दो तो बाहर आ जाय। नही तो नही! ज्ञानको प्रकट करनेके लिये इन्द्रियाँ आगके लिये रगडनेके समान ही है। इस तरह आध्यात्मिक पक्षवाले सर्वत्र आत्माको ही देखते है, ढूँढते है। उसे ही परमात्मा मानते है।

# अन्य मतवाद

कुछ लोगोका खयाल है कि इन्ही आधिभौतिक, आधिदैवत एव आध्यात्मिक—तीनो—पक्षोका जिक्र गीतामें किया गया है। उनके मतसे गीताका यही कहना है कि हमे इन सभी पक्षोको जानना चाहिये। जिन्हें मुक्ति लेना है और जन्म-मरणसे छुटकारा पाना है उन्हे इन सभी पक्षोका मन्थन करना ही होगा। वे खामखा इन सबोका मथन करते है। सातवे अध्यायके अन्तके जिन दो श्लोकोमे ये बाते कही गई है और इसीलिये आठवेके शुरूमें इनके बारेमे पूछनेका मौका अर्जुनको मिल गया है, उनमे पहले यानी २६वे श्लोकमे तो उनके मतसे कुछ ऐसा ही लिखा भी गया है। वह श्लोक यो है, "जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये। ते ब्रह्म तद्विदु कृत्स्नमध्यात्म कर्म चाखिलम्॥" इसका अर्थ यह है कि "जो लोग भगवानका आश्रय लेकर जन्म, मरणादिसे छुटकारा पानेकी कोशिश करते है वे उस ब्रह्मको पूरा-पूरा जान लेते है, सभी कर्मोंको जान जाते है और अध्यात्म आदिको भी जानते है।" इससे वे लोग अपना खयाल सही साबित करते है।

मगर बात दरअसल ऐसी है नही। वस्तुओके विवेचनके उक्त तीन तरीके है सही। इन्हे लोग अपनी-अपनी रुचि एव प्रवृत्तिके अनुसार ही अपनाते भी है। मगर यहाँ उन तरीको तथा प्रणालियोसे मतलब हर्गिज है नही। यदि इन श्लोकोसे पहलेके सिर्फ सातवे अध्यायके-ही श्लोकोपर गौर किया जाय तो साफ मालूम हो जाता है कि आत्मा-परमात्माकी एकता के ज्ञान का ही वह प्रसग है। इसीलिये वही बात किसी न किसी रूपमें कई प्रकारसे कही गई है। १६-१९ श्लोकोमे तो भक्तोके चार भेदोको गिनाके ज्ञानीको ही चौथा माना है और कहा है कि "ज्ञानी तो मेरी—भगवानकी—आत्मा ही है"—"ज्ञानी त्वात्मैव

मे मतम्" (७।१८)। इसकी वजह भी बताते है कि "वह तो हमसे—परमात्मासे—बढके किसीको मानता ही नही और हमीमें डूब जाता है"—"आस्थित सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमा गतिम्" (७।१८)। लेकिन इसके बाद ही जो यह कहा है कि "ससारमे जो कुछ है वह सबका सब वासुदेव—परमात्मा—ही है, ऐसा जो समझता है, वह तो अत्यन्त दुर्लभ महात्मा है"—"वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ" (७।१९), वह तो बाकी बातोको हवामे मिला देता है। उससे तो स्पष्ट हो जाता है कि यही एक ही चीज दरअसल जाननेकी है।

इतना ही नही। इसके आगे २०-२७ श्लोकोमे उन लोगोकी काफी निन्दा भी की गई है जो दूसरे देवताओ या पदार्थोंकी ओर झुकते है। उनकी समझ घपलेमे पडी हुई बताई गई है, "हृतज्ञाना" (७।२०)। इसीलिये तुच्छ एव विनाशशील फलोको ही वे लोग प्राप्त कर पाते है",—"अन्तवत्तु फल तेषा" (७।२३)। भौतिक दृष्टिवालोके बारेमे तो यहाँतक कह दिया है कि हमारे असली रूपको न जानके ही ऐसे बुद्धिहीन लोग स्थूल रूपमे ही हमें देखते है,—"अव्यक्त व्यक्तिमापन्न मन्यन्ते मामबुद्धय" (७।२४)। आगेके तीन श्लोकोमे इसी बातका स्पष्टीकरण हुआ है। अन्तमें तो यहाँतक कह दिया है कि रागद्वेषके चलते जो अपने-पराये और भले-बुरेकी गलत धारणा हो जाती है उसीका यह नतीजा है कि लोग इधर-उधर इस सृष्टिके भौतिक पदार्थोंमे भटकते फिरते है—"इच्छाद्वेष समुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत। सर्वभूतानि समोह सर्गे यान्ति परन्तप" (७।२७)। इसके विपरीत जिन सत्कर्मियोमे यह रागद्वेषादि ऐब नहीं है वे अपने-पराये आदिके झमेलेमे न पडके पक्के निश्चय एव दृढसकल्पके साथ केवल हमी—परमात्मा—मे रम जाते है,—"येषा त्वन्तगत पाप जनाना पुण्यकर्मणाम्। ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मा दृढव्रता" (७।२८)। इसीके बाद वे श्लोक आये है। तब कैसे कहा जाय कि

उनमे आधिभौतिक आदि विवेचनोपर जोर दिया गया है या ऐसे विवेचनोकी जानकारी अवश्य प्राप्तव्य बताई गई है ?

इसके सिवाय उक्त तीन वातोके अलावे ब्रह्म और कर्मकी जानकारी-की भी तो वात वही लिखी है। शका भी इन दोनो हीके बारेमे की गई है। उत्तर भी दिया गया है। भला अधियज्ञको तो उन्ही तीनोके साथ जैसे-तैसे जोडके वे लोग पार हो जाते है। मगर मरनेके समय भगवानकी जानकारी कैसे होती है, यह भी तो एक प्रश्न है। पता नही वे लोग इसे किस पक्षमे डालते है। ऐसा तो कोई पुराना पक्ष है नही। और अधियज्ञवाला पक्ष तो बिलकुल ही नया है। फिर पुरानोके साथ इसका मेल कैसे होता है ? खूबी तो यह है कि उनने 'अधिदेह' नामका एक दूसरा भी पक्ष यहीपर खडा कर दिया है और यह ऐसा है कि "न भूतो न भविष्यति।" यदि वे लोग यह समझ पाते कि अध्यात्म शब्दमे जो आत्मा शब्द है वह देहके ही मानीमे है और जहाँ-जहाँ यह शब्द छान्दोग्य, वृहदारण्यक आदि उपनिषदो या और जगह आया है इसी मानीमे आया है, तो शायद अधिदेहकी वात बोलनेकी हिम्मत ही न करते। ज्यादा तो नही, लेकिन हमारा उनसे यही अनुरोध है कि छान्दोग्यके पहले अध्याय-का दूसरा, खड वृहदारण्यकके पहले अध्यायके पाँचवे ब्राह्मणका २१वाँ मत्र तथा कौषीतकी उपनिषदके चौथे अध्यायके ९-१७ मत्रोको गौरसे पढ जाये। तब उन्हे पता लगेगा कि अध्यात्ममे जो आत्मा शब्द है वह शरीरका ही वाचक है या नही।

लेकिन जब कर्म, ब्रह्म और मरण कालका ब्रह्मज्ञान किसी पुराने पक्षकी चीज नही है तो फिर अध्यात्म वगैरहको ही क्यो पुराने पक्षमे घसीटा जाय ? और इन पक्षोके जाननेसे लाभ ही क्या ? किसी विश्व-विद्यालयकी न तो परीक्षा ही देनी है और न कोई उपाधि ही लेनी है। कोई पुस्तक भी नही लिखनी है कि पाण्डित्यका प्रदर्शन किया जायगा

या खडन-मडन ही होगा, जिसके लिये इन अनेक पक्षोकी जानकारी जरूरी हो जाती है। यहाँ तो ब्रह्मज्ञान और मोक्षका ही सवाल है। सो भी मरण कालकी जानकारीकी बात उठाके यह भी जनाया है कि विशेष रूपसे मरण समयके लिये जरूरी बाते यहाँ बता दी गई है। यही कारण है कि चार श्लोकोमे ये बाते खत्म करके पाँचवेके ही "अन्तकाले च" आदि शब्दोसे शुरू करके उसी अन्तकाल या मरण समयकी ही बातें अन्ततक लिखी गई है। तरीका भी बताया गया है कि किस प्रकार उस समय आत्मा और ब्रह्मका साक्षात्कार होता है। मरनेपर लोग किन-किन रास्तोसे होके जाते है यह बात भी अन्तमे कही गई है। ऐसी हालतमें आधिभौतिक आदि मतवादोका तो यहाँ अवसर ही नही है। इसीलिये मानना पडता है कि इन बखेडोसे यहाँ कोई भी मतलब नही है।

## अपना पक्ष

असल बात यह है कि प्राचीन समयमे कुछ ऐसी प्रणाली थी कि हम क्या है, यह ससार क्या है और हमारा इसके साथ सम्बन्ध क्या है, इन्हीं तीन प्रश्नोको लेकर जो अनेक दर्शनोकी विचार धारायें हुई थी और आत्मा-परमात्मा आदिका पता लगा था, या यो कहिये कि इनकी कल्पना की गई थी, उन्हीमे एक व्यावहारिक या अमली धारा ऐसी भी थी कि उसके माननेवाले निरन्तर चिन्तनमे लगे रहते थे। उनकी बात कोई शास्त्रीय-विवेचनकी पद्धति न थी। वे तो खुद दिन-रात सोचने-विचारने एव ध्यानमे ही लगे रहते थे। इसीलिये हमने उनकी धारा या प्रणालीको अमली और व्यावहारिक ( Practical ) कहा है। इस प्रणालीके सैद्धान्तिक पहलूपर लिखने-पढने या विवाद करनेवाले भी लोग होगे ही। मगर हमारा उनसे मतलब नही है और न गीताका ही है। गीतामें तो अमली बातका वह प्रसग ही है। वही बात वहाँ चल रही है। आगे भी

मरण समयकी बात आ जानेके कारण अमली या व्यावहारिक चीजकी ही आवश्यकता हो जाती है। मरणकालमे कोरे दार्शनिकवादोसे सिवाय हानिके कुछ मिलने-जुलनेवाला तो है नही।

ऐसे लोगोने दृश्य--बाहरी--ससारको पहले दो भागोमे बाँटा। पहले भागमे रखा अपने शरीरको। अपने शरीरसे अर्थ है चिन्तन करनेवालोके शरीरसे। फिर भी इस प्रकार सभी जीवधारियोके शरीर, या कमसे कम मनुष्योके शरीर इस विभागमे आ जाते है। क्योकि सोचने-विचारनेका मौका तो सभीके लिये है। हालाँकि एक आदमीके लिये दूसरोके भी शरीर वैसे ही है जैसे अन्न, वस्त्र, पृथिवी, वृक्ष आदि पदार्थ। शरीरके अतिरिक्त शेष पदार्थोंको भूत या भौतिक माना गया। पीछे इन भौतिक पदार्थोके दो विभाग कर दिये गये। एक तो ऐसोका जिनमें कोई खास चमत्कार नही पाया जाता। इनमे आगये वृक्ष, पर्वत, नदी, समुद्र, पृथिवी आदि। दूसरा हुआ उन पदार्थोंका जिनमे चमत्कार पाया गया। इनमें आये चन्द्र, सूर्य, विद्युत् आदि। इस प्रकार शरीर, पृथिवी आदि, सूर्य प्रभृति, इन तीन विभागोमे दृश्य ससारको बाँट दिया गया। शुरूमे तो शरीरके सिवाय आत्मा, स्व, या निज नामकी और चीजका पता था नही। इसलिये शरीरको ही आत्मा भी कहते थे। पृथिवी आदि स्थूल पदार्थोंको, जिनमे चमत्कार या दिव्य-शक्ति नही देखी गई, भूत कहने लगे। भूतका अर्थ है ठोस। इन्हे छूके इनका ठोसपन जान सकते थे। मगर जो आदमीकी पहुँचके बाहरके सूर्य, चन्द्र, विद्युत् आदि पदार्थ थे उन्हें देवता, देव या दिव्य कहते थे। इनके ठोसपनका पता तो लगा सकते न थे। ये चीजे आकाशमे ही नजर आती हैं। इसलिये आकाश को भी दिव्, या द्यु कहते थे। वह ठोस भी तो नही है। जिस स्वर्ग नामक स्थानमे इन दिव्य पदार्थोंका निवास माना गया वह भी दिव् या द्यु कहा जाने लगा।

जिन पदार्थोंको अधिभूत कहा गया उनके सम्बन्धके विवेक, विचार और मथन आदिको ही आधिभौतिक नाम दिया गया। इसी तरह देवो या देवताओमे जो भी विभूति, खूबी, चमक, आभा वगैरह जान पडी उसे अधिदेव, अधिदैव या अधिदैवत नाम दिया गया। तत्सम्बन्धी चिन्तन, ध्यान या विवेचन भी आधिदेवत, आधिदैव या आधिदैविक कहा जाने लगा। पीछे तो लोगोने अधिभूत और अधिदैवको एकमे मिलाके सबोके भीतर एक अन्तर्यामी पदार्थको मान लिया, जो सबोको चलाता है, कायम रखता है, व्यवस्थित रखता है। उसी अन्तर्यामीको ब्रह्म या परमात्मा कहने लगे। सबसे बडा होनेके कारण ही उसे ब्रह्म कहना शुरु किया। शरीरके भीतरवाली आत्माको व्यष्टि मानके ब्रह्मको परमात्मा, वडी आत्मा या समष्टि आत्मा कहनेकी रीति चल पडी।

ऊपर हमने जो कुछ लिखा है वह शुरूसे लेकर आजतककी स्थितिका सक्षिप्त वर्णन है। शुरूसे ही यह हालत तो थी नही। यह परिस्थिति तो क्रमिक विकास होते-होते पैदा हो गई है। जब स्वतत्र रूपसे लोगोका चिन्तन चलता था तो कोई अध्यात्म-विमर्शमे लगे थे, कोई अधिदैव-विचारमे और कोई अधिभूत-विवेचनमे। यह तो सभव न था कि सभी लोग सभी वाते सोच सके। तव तो सभी वाते अधूरी ही रह जाती। कोई भी पूरी न हो पाती, अन्ततक पहुँच पाती नही। और ज्ञानकी वृद्धिके लिये यह अधूरापन सर्वथा अवाञ्छनीय है, त्याज्य है। यही कारण है कि अलग-अलग सोचनेवाले अपने-अपने कामोमे लीन थे। यही कारण है कि जवतक सव लोग गोष्ठी या परस्पर विमर्श नही कर लेते थे तवतक अनेक स्वतत्र निश्चयोपर पहुँचते थे। यह वात स्वाभाविक थी। श्वेताश्वतर उपनिषदके पहले ही दो मत्रो "ब्रह्मवादिनो वदन्ति, किं कारण ब्रह्म कुत स्म जाता" आदि, तथा "काल' स्वभावो नियतिर्यदृच्छा" आदिमे यही मतभेद और विचारभेद वताया गया

है। साथ ही सभी सोचनेवालोको ब्रह्मवादी ही कहा है, न कि किसीको भी कमबेश। उसीके छठे अध्यायके पहले मत्रमें भी इसी प्रकारके विचार-विभेदका उल्लेख "स्वभावमेके कवयो वदन्ति" आदिके द्वारा किया है। वहाँ सबोको कवि या सूक्ष्मदर्शी कहा है। छान्दोग्यके छठे अध्यायके दूसरे खडके पहले ही मत्रमें "सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीय तद्धैक आहुरसदेवेदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्" आदिके जरिये यही विचार विभिन्नता बताई गई है और अगले "कुतस्तु खलु" मत्रमे इसीका खडन-मडन लिखा गया है। फलत विभिन्न विचारोके प्रवाह होने जरूरी थे।

वैसी हालतमे जो परम कल्याण या मोक्षकी आकाक्षा रखता हो उसके दिलमें यह बात स्वभावत उठ सकती है कि कही धोका और गडबड न हो जाय, कही ऐसा रास्ता न पकड ले कि या तो भटक जायँ या परीशानीमें पड जायँ, कही ऐसे मार्गमे न पडे जो अन्ततक पहुँचानेवाला न होके मुख्य मार्गसे जुटनेवाली पगडडी या छोटी-मोटी सडक हो, राजमार्गके अलावे कही दूसरे ही मार्गके पथिक न बन जायँ, कही ऐसा न हो कि मार्ग तो सही हो, मगर उसके लिये जरूरी सामान सम्पादन करनेवाले उपाय या रास्ते छूट जायँ और सारा मामला अन्तमे खटाईमे पड जाय। जो सभी विचारपद्धतियो एव चिन्तनमार्गोंको वखूबी नही जानते और न उनके लक्ष्य स्थानोका ही पता रखते है उनके भीतर ऐसी जिज्ञासाका पैदा होना अनिवार्य है। जिन्हें सभी विचार प्रवाहोका समन्वय या एकीकरण विदित न हो और जो यह समझ सके न हो कि पुष्पदन्तके शब्दोमे रुचि या प्रवृत्तिके अनुसार अनेक मार्गोंको पकडनेवाले अन्तमें एक ही लक्ष्य-तक—परमात्मातक—पहुँचते है—"रुचीना वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथ जुषाम्, नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव", वे तो घबराके सवाल करेंगे ही कि "परमात्माका ध्यान तो हम करेगे सही, लेकिन अध्यात्म,

अधिदैव, अधिभूतका क्या होगा ? उनकी जानकारी हमे कैसे होगी ? यदि न हो तो कोई हानि तो नही ?

सबसे बडी बात यह है कि उस काममे फँस जानेपर कर्मोसे तो अलग हो जाना ही होगा। यह तो सभव नही कि ध्यान और समाधि भी करे और कर्मोंको भी पूरा करे। ऐसी दशामे ससारका एव समाजका कल्याण कही गडबडीमे न पड जाय यह खयाल भी परीशान करेगा ही। उनका यह काम ऐसे मगलकारी कर्मोंके भीतर तो शायद ही आये। कमसे कम इसके बारेमे उन्हे सन्देह तो होगा ही। फिर काम कैसे चलेगा ? और अगर जानकार लोग ही समाजके लिये मगलकारी कामोको छोडके अपने ही मतलबमे—अपनी ही मुक्तिके साधनमे—फँस जायँ, तो फिर ससारकी तो खुदा ही खैर करे। तब तो ससार पथदर्शनके विना चौपट ही हो जायगा। इसके अतिरिक्त यज्ञवाला प्रश्न भी उन्हे परीशान करेगा। जब पहले ही कहा जा चुका है कि "यज्ञोके विना तो यही खैरियत नही होती, परलोकका तो कुछ कहना ही नही"—"नाय लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्य कुरुसत्तम" (४।३१), तो काम कैसे चलेगा ? तब तो सब खत्म ही समझिये। यज्ञके ही बारेमे एक बात और भी उठ सकती है। यदि कहा जाय कि यज्ञ तो व्यापक चीज है। अतएव ध्यान और समाधिके समय भी होता ही रहता है, तो सवाल होता है कि यज्ञमे असल लक्ष्य, असल ध्येय कौन है जिसे सन्तुष्ट किया जाय ? कही वह कोई दूसरा तो नही है। ज्ञान, ध्यान तो शरीरके भीतर ही होता है और यह यदि यज्ञचक्रमे आगया तब तो अच्छी बात है। तब तो बीमारी, दुर्बलता, अशक्ति और मरणावस्थामे भी यह हो सकता है। इसीलिये तब खास तौरसे यह जानना जरूरी हो जाता है कि शरीरके भीतर जब यज्ञ होता है तो उससे किसकी तृप्ति होती है, कौन सन्तुष्ट होता है ? कही नास्तिकोकी तरह खाओ-पिओ, मौज करोकी बात तो नहीं होती और केवल

अपना ही सन्तोष तो नही होता ? असलमें उस यज्ञसे परमात्मातक पहुँचते है या नही यही प्रश्न है। इसीलिये देहके भीतर ही अधियज्ञको जाननेकी उत्कठा हुई है। क्योकि सबसे महत्त्वपूर्ण चीज यही है और सबसे सुलभ भी। मगर यदि इससे इन्द्रियादिकी ही पुष्टि हुई तो सारा गुड गोबर हो जायगा। इसीलिये सभी प्रश्न किये गये है। यह ठीक है कि सातवे अध्यायके अन्तमे कृष्णने कह दिया है कि वह ज्ञान सर्वांग-पूर्ण है—इसमें कोई कमी नही है, क्योकि अधिभूत आदिको भी ऐसा पुरुष बखूबी जानता है। लेकिन जबतक अर्जुनको पता न लग जाय कि आखिर ये अधिभूत आदि है क्या, तबतक सन्तोष हो तो कैसे ? इसीलिये आठवेंके शुरूमें उसने यही पूछा है, यही प्रश्न किये है।

उनके उत्तर भी ठीक वैसे ही है जिनसे पूछनेवालेको पूरा सन्तोष हो जाय। मरनेके समय भगवानको जाननेकी जो उत्कठा दिखाई गई थी उसका सम्बन्ध अधियज्ञसे ही है। इसीलिये उसे उसके बाद ही रखा है और उसका उत्तर शेष समूचे अध्यायमें दिया गया है। क्योकि सब प्रश्नोका मतलब चौपट हो जाय, यदि वह बात न हो सके। अर्जुनको यह भी खयाल था कि कृष्ण कही अपने आपकी ही भक्तिकी बात न करते हो, और इस प्रकार ब्रह्मज्ञानसे नाता ही न रह जानेपर कल्याणमें बाधा न पड जाय। इसीलिये अर्जुनने पूछा कि आखिर वह ब्रह्म क्या है ? आपसे या ईश्वरसे अलग है या एक ही चीज ? उसका यह भी खयाल था कि कही ब्रह्म या परमात्मा भी वैसा ही चन्दरोजा न हो जैसी यह दुनिया। तब तो मुक्तिका यत्न ही बेकार हो जायगा। हिरण्यगर्भको भी तो ब्रह्मा या ब्रह्म कहते है और उसका नाश माना जाता है। यही कारण है कि उस ब्रह्मासे पृथक् परम अक्षर या अविनाशी ब्रह्मका निरूपण आगे किया गया है। वहाँ बताया गया है कि क्यो ब्रह्माका नाश होता है और कैसे, लेकिन अक्षर ब्रह्मका क्यो नही।

उत्तरसे सभी बातोकी पूरी सफाई हो जाती है। परम अक्षरको ब्रह्म कहा है। असलमे १५वे अध्यायके "द्वाविमौ पुरुषौ लोके" (१६) श्लोकमे जीवको भी अक्षर कहा है। इसीलिये परम आत्मा—परमात्मा—की ही तरह यहाँ परम अक्षर कहनेसे परमात्माका ही बोध होता है। नही तो गडवड होती।

अध्यात्मको स्वभाव कहा है। ब्रह्मके बाद स्वभाव शब्द आनेसे इसमे स्वका अर्थ वही ब्रह्म ही है। उसीका भाव या स्वरूप स्वभाव कहा जाता है। अर्थात् अध्यात्म, जीव या आत्मा ब्रह्मका ही रूप है। गीतामे स्वभाव शब्द कई जगह आया है। अठारहवे अध्यायके ४१-४४ श्लोकोमे कई वार यह शब्द प्रकृति या गुणोके अनुसार दिल-दिमागकी वनावटके ही अर्थमे आया है। उसी अध्यायके ६०वे श्लोकवालेका भी वही अर्थ है। पाँचवे अध्यायके "न कर्त्तृत्व" (१४) श्लोकमे जो स्वभाव है उसका अर्थ है सासारिक पदार्थों या सृष्टिका नियम। मगर जैसे अठारहवे अध्यायके स्वभाव शब्दमे स्वका अर्थ है गुण और तदनुसार रचना, उसी तरह पाँचवे अध्यायमे स्वका अर्थ है इसके पहलेके सासारिक पदार्थ, जिनका जिक्र उसी श्लोकमे है। ८वेके ही २०वे श्लोकमे जो भाव शब्द है उसका अर्थ है पदार्थ या हस्ती—अस्तित्व। ठीक उसी प्रकार इस श्लोकमे भी स्वभावका अर्थ हो जाता है ब्रह्मका भाव, अस्तित्व या रूप। दूसरा अर्थ ठीक नही होगा।

कर्मका जो स्वरूप बताया गया है वह भी व्यापक है। "भूतभावो-द्भवकरो विसर्ग" यही उसका स्वरूप है। इसका अर्थ है कि जिससे पदार्थोंका अस्तित्व, वृद्धि या उत्पत्ति हो उस त्याग, जुदाई या पार्थक्यको कर्म कहते है। यहाँ विसर्ग शब्द और सातवेके २७वेका सर्ग शब्द मिलते-जुलते है। सस्कृतके धातुपाठमे जो धातुओका अर्थ लिखा गया है वहाँ सृज धातुका विसर्ग ही अर्थ लिखा है। पहले कह चुके है कि "तपाम्यहमह

"पुरुषश्चाधिदैवतम्"का अर्थ है कि "पुरुष ही अधिदैवत है।" गीताके "द्वाविमौ पुरुषौ" श्लोककी बात कह चुके है। उसमे पुरुष आता है। उसीमे "क्षर सर्वाणि भूतानि" भी लिखा है, जिससे अधिभूतका अर्थ साफ होता है। मगर प्रकृति तथा जीव दोनोको ही पुरुष कहा गया है, यह बात याद रखनेकी है। उससे आगेके १७वे श्लोकमे "उत्तम पुरुष." शब्दोमे परमात्माको उत्तम पुरुष या दोनोसे ही पृथक् बताया है और १८वेंमे उसीको पुरुषोत्तम भी कहा है। इससे सिद्ध हो जाता है कि आधिदैवत भी वही परमात्मा या पुरुष है और है वह सभीका स्वरूप "वासुदेव सर्वम्।"

अन्तमे "अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे"के द्वारा यह कह दिया है कि मै—परमात्मा—ही सभी शरीरोके भीतर अधियज्ञ हूँ। जो दिनरात श्वास-प्रश्वास, खानपान, निद्रा, बोलचाल, विचार, ध्यान आदिके रूपमे "यत् करोऽषि यदश्नासि" (९।२७)के अनुसार अखड यज्ञ जारी है उससे भगवानकी ही पूजा हो रही है, यही इसका आशय है। यह पूजा सुलभ और सुकर है। फलत चिन्ताका अवसर रही नही जाता।

सातवें अध्यायके अन्तिम—२९, ३०—श्लोकोमे जो कुछ कहा है वह भी हमारे पूर्वके बताये इसी अर्थका पोषक है। उन दोनो श्लोकोका पूरा विचार किया जाय तो यही अभिप्राय व्यक्त होता है कि जन्म-मरण आदिके सकटोसे छुटकारा सदाके लिये पा जानेके विचारसे जो लोग भगवानमे ही रमते और यही काम करते है वह उस पूर्ण ब्रह्मको भी जानते है, अध्यात्मको भी और सभी कर्मोंको भी। अधिभूत, अधिदैव तथा अधियज्ञके रूपमें भी भगवानको वही जानते है। इसीलिये पूर्ण योगी होनेके कारण मरण समयमे भी परमात्माको साक्षात् जान लेते है। दूसरे शब्दोमे इसका आशय यह है कि जो लोग अधिभूत, अधिदैव, अधियज्ञ, अध्यात्म, ब्रह्म और कर्मको जानते है वही परमात्माको अन्तमे भी जानते

कर ली, तो वही हो गया विज्ञान। दूसरा दृष्टान्त लीजिये। कही पढ लिया या जान लिया कि हाईड्रोजन और औक्सिजन नामक हवाओको विभिन्न अनुपातमे मिलानेसे ही जल तैयार हो जाता है। यह ज्ञान हुआ। और जब किसी प्रयोगशालामे जाके हमने इसका प्रयोग खुद करके देख लिया या दूसरोसे प्रयोग करा लिया तो वही विज्ञान हुआ। विज्ञानसे वस्तुके रगरेशेकी जानकारी हो जाती है।

प्रकृतमे भी यही बात है। योही आत्मा-परमात्मा या जीव-ब्रह्म और ससारकी बात कह देनेसे काम नही चलता। वह बात दिलमे बैठ पाती नही। यदि बैठाना है तो उसका प्रयोग करके देखना होगा—यह देखना होगा कि किस पदार्थसे कौन कैसे बनता है, रहता है, खत्म होता है। यदि परमात्मा ही सब कुछ है तो कैसे, इसका विश्लेपण करना होगा। जब तक ब्योरेवार सभी चीजोको अलग-अलग करके न देखेगे तब तक हमारा ज्ञान पक्का न होगा, विज्ञान न होगा, दिलमे बैठेगा नही। फलत उससे कल्याण न होगा। इसीलिये अध्यात्म, अधिभूत आदि विभिन्न रूपोमे आत्मा या परमात्माका जानना जरूरी हो जाता है और इसीलिये उसका उल्लेख आया है। बिना इसके जिज्ञासुओको सन्तोष कैसे हो?

इसीलिये सातवेके आखिरी—३०वे—श्लोकका जो लोग ऐसा अर्थ करते है कि भगवानके ज्ञानके साथ ही अधिभूत आदिका पृथक् ज्ञान होना चाहिये, यही गीताकी मशा है, वह भूलते है। वहाँ तो सबोको परमात्म स्वरूप ही—"वासुदेव सर्वमिति"—जानना है। ब्रह्म तथा अधियज्ञको तो परमात्म-रूप साफ ही कहा है। जीव—अध्यात्म—भी तो वही है। हाँ, कर्म शायद अलग हो। मगर वह तो व्यापक है। फलत अन्ततोगत्वा वह भी जुदा नही है।

# ४. कर्मवाद और अवतारवाद

गीताकी अपनी निजी बातोपर ही अबतक प्रकाश डाला गया है। मगर गीतामे कुछ ऐसी बाते भी पाई जाती है, जो उसकी खास अपनी न होनेपर भी उनके वर्णनमे विशेषता है, अपनापन है, गीताकी छाप लगी है। वे बाते तो है दार्शनिक। उनपर दर्शनोने खूब माथापच्ची की है, वाद-विवाद किया है। गीताने उनका उल्लेख अपने मतलबसे ही किया है। लेकिन खूबी उसमें यही है कि उनपर उसने अपना रग चढा दिया है, उन्हें अपना जामा पहना दिया है। गीताकी निरूपणशैली पौराणिक है। इसके बारेमे आगे विशेष लिखा जायगा। फलत इसमें पौराणिक बातोका आ जाना अनिवार्य था। हालाँकि ज्यादा बाते इस तरहकी नही आई है। एक तो कुछ ऐसी है जिन्हे ज्योकी त्यो लिख दिया है। इसे दार्शनिक भाषामे अनुवाद कहते है। वैसा लिखनेका प्रयोजन कुछ और ही होता है। जबतक वे बाते लिखी न जायँ आगेका मतलब सिद्ध हो पाता नही। इसलिये गीताने ऐसी बातोका उपयोग अपने लिये इस तरह कर लिया है कि उनके चलते उसके उपदेशका प्रसग खडा हो गया है।

मगर ऐसी भी एकाध पौराणिक बाते आई है जिन्हे उसने सिद्धान्तके तौरपर, या यो कहिये कि एक प्रकारसे अनुमोदनके ढगपर लिखा है। वे केवल अनुवाद नही है। उनमें कुछ विशेषता है, कुछ तथ्य है। ऐसी ही एक बात अवतारवादकी है। चौथे अध्यायके ५-१० श्लोकोमे यह बात आई है और बहुत ही सुन्दर ढगसे आई है। यह योही कह नही दी गई है। लेकिन गीताकी खूबी यही है कि उसपर उसने दार्शनिक रग चढा

दिया है। यदि हम उन कुल छे श्लोकोपर गौर करे तो साफ मालूम हो जाता है कि पुराणोका अवतारवाला सिद्धान्त दार्शनिक साँचेमें ढाल दिया गया है। फलत वह हो जाता है बुद्धिग्राह्य। यदि ऐसा न होता, तो विद्वान और तर्क-वितर्क करनेवाले पडित लोग उसे कभी स्वीकार नही कर सकते। मजा तो यह है कि दार्शनिक साँचेमे ढालनेपर भी वह रूखापन, वह वादनिवादकी कटुता आने नही पाई है जो दार्शनिक रीतियोमे पाई जाती है। सूखे तर्कों और नीरस दलीलोकी ही तो भरमार वहाँ होती है। वहाँ सरसताका क्या काम ? दार्शनिक तो केवल वस्तुतत्त्वके ही खोजनेमे परीशान रहते है। उन्हे फुर्सत कहाँ कि नीरसता और सरसता देखें ?

## ईश्वरवाद

हम उसी चीजपर यहाँ विशेष प्रकाश डालने चले है। लेकिन उस अवतारवादकी जडमे कर्मवाद है और है यह दार्शनिकोकी चीज। गीताने उसीको ले लिया है। इसलिये जबतक कर्मवादका विवेचन नही कर लिया जाता, अवतारवादका रहस्य समझमे आ सकता नही। यही कारण है कि हम पहले कर्मवादकी ही बात उठाते है। यह कर्मका सिद्धान्त किसी न किसी रूपमे अन्य देशोके भी बहुतेरे दार्शनिकोने—पुरानोने और नयोने भी—माना है। यह दूसरी बात है कि उनने खुलके ऐसा न लिखा हो। उनके अपने लिखनेके तरीके भी तो निराले ही थे और सोचनेके भी। इसीलिये उनने यह बात निराले ही ढगसे—अपने ही ढगसे—मानी या लिखी है। मगर हमारे देशके तो आस्तिक-नास्तिक सभी दार्शनिकोने यह कर्मवाद स्वीकार किया है, सिवाय चार्वाकके। न्याय, साख्य आदि दर्शनोके अलावे जैन, बौद्ध, पाशुपत आदिने भी इसे साफ स्वीकार किया है। यह बात तो पहले ही कही जा चुकी है कि गीताने भी कर्मवादको माना है। मगर वह पौराणिक ढगके कर्मवादको स्वीकार

चकित हो जाना पडता है। इसीलिये प्रयोगशालामे बैठके ही यह बात सोचनेकी है। क्योकि दूसरे ढगसे इसपर आमतौरसे लोगोको विश्वास होई नही सकता। लोगोके दिमागमे यह बात समाई नही सकती कि प्रतिक्षण हरेक पदार्थके भीतरसे असख्य परमाणु निकलते और भागते रहते है और उनकी जगह ले लेते है नये-नये बाहरसे आके। विज्ञानके प्रतापसे यह बात अब लोगोके दिमागमे आसानीसे आ जाती है। मगर पुराने जमानेमे जब ये वैज्ञानिक यत्र कही थे नही और न ये प्रयोगशालाये थी, तब हमारे दार्शनिक विद्वानोने ये बाते कैसे सोच निकाली यह एक पहेली ही है। फिर भी इसमे तो कोई शक हई नही—यह तो सर्वमान्य बात है—कि उनने ये बाते सोची थी, ढूँढ़ निकाली थी। इन्हीके अन्वेषण, पर्यविक्षण और सोच-विचारने उन्हे अगत्या कर्मवादके सिद्धान्ततक पहुँचाया और उसे माननेको मजबूर किया। या यो कहिये कि इन्हीको ढूँढते-ढूँढते उनने कर्मवादका सिद्धान्त ढूँढ निकाला।

हमारे नैयायिक दार्शनिकोका एक पुराना सिद्धान्त है कि एक ही स्थानमे दो द्रव्योका समावेश नही होता। पार्थिव, जलीय आदि सभी पदार्थोको उनने द्रव्य नाम दिया है। रूप, रस आदि गुणोमे कोई भी जिन पदार्थोमे पाये जायँ उन्हीको उनने द्रव्य कहा है। वे यह भी मानते आये है कि कई द्रव्योके सयोगसे नया द्रव्य तैयार होता है। दृष्टान्तके लिये कई सूतोके परस्पर जुट जानेसे कपडा बनता है। सूत भी द्रव्य है और कपडा भी। फर्क यही है कि सूत अवयव है और कपडा अवयवी। सूतोके भी जो रेशे होते है उन्हीसे सूत तैयार होते है। फलत रेशोकी अपेक्षा सूत हुआ अवयवी और रेशे हो गये अवयव। रेशोके भी अवयव होते है और उन अवयवोके भी अवयव। इस प्रकार अवयवोकी धारा—परम्परा—चलती है। उधर कपडेको भी काट-छाँटके और जोड-जाडके कुर्त्ता, कोट वगैरह बनाते है। वहाँपर कपडा अवयव हो जाता है और

कोट, कुर्त्ते अवयवी। जितने नये सूत जुटते जाते हैं उतना ही लम्बा कपडा होता जाता है—नया-नया कपडा वनता जाता है। उधर अवयवोंके भी अवयव करते-करते कही न कही रुक जाना जरूरी होता है, जहाँसे यह काम शुरू हुआ है। क्योकि अगर कही रुके न और हर अवयवके अवयव करते जायँ तो पता ही नही लगता कि आखिर अवयवीका वनना कव और कहाँसे शुरू हुआ। इसीलिये जहाँ जाके रुक जायँ उसीको नैयायिकोने परमाणु कहा है। परमाणु (Atom) का अर्थ ही सवसे छोटा, छोटेसे छोटा—जिससे छोटा हो न सके। परमाणुवादके वारेमे और भी दलीलें है। मगर हमे यहाँ उनमे नही पडना है। उनपर कुछ प्रकाश आगे डाला गया है गुणवादके प्रकरणमे।

इस प्रकार परमाणुओके जुटने—सयोग—से चीजें वनती रहती है। अब मान लें कि कुछ परमाणुओने मिलके एक चीज बनाई। लेकिन, जैसा कि कह चुके है कि पुराने परमाणुओका निकलना और नयोका जुटना जारी है, जब कुछ और भी परमाणु पुरानोके साथ, जिनने आपसमे मिलके कोई चीज बनाई थी, आ जुटे तो अब जो चीज बनेगी वह तो दूसरी ही होगी। पहली तो यह होगी नही। क्योकि पहलीमें तो नये परमाणु थे नही। इसी प्रकार कुछ सूतोको जुटाकर कपडा वना। मगर सूत तो जुटते ही रहते हैं। इसलिये नये सूतोको पुरानोके साथ जुटनेपर कपडा भी वनता ही जायगा। हाँ, यह नया होगा, न कि वही पहलेही वाला। क्योकि पहले तो ये नये सूत जुटे न थे। यही हालत बरावर सर्वत्र जारी रहती है। अब यहीपर नैयायिकोकी वह बात आती है कि एक ही स्थानमें दो द्रव्योका समावेश नही हो सकता है।

चाहे परमाणुओवाली वात लें या सूतोवाली। हम हर हालत मे देखेंगे कि नये-नये कपडे या नई-नई चीजे वनती जाती है। मगर सवाल तो यह होता है कि जिन सूतोसे पहला कपडा बना है उन्ही के साथ कुछ दूसरोके

जुटनेसे दूसरा और तीसरा बनता है। यह बात चाहे जैसे भी देखे, यह तो मानना ही होगा कि पहलेके जिन सूतोमे पहला कपडा बना और उन्हीमे उसका समावेश है, अँटाव है, उन्हीमे दूसरा भी बनता है और उसके बादवाले कपडे भी बनते है, हालाँकि दूसरे-तीसरे आदिका अँटाव कुछ नये सूतोमे भी रहता है। मगर पहले सूतोमे भी तो रहता ही है। पीछेवाले कपडे पहलेवाले सूतोके बिलकुल ही बाहर तो चले जाते नही। ऐसी हालतमे उन्ही सूतोमें कई कपडे कैसे अँटेंगे, यही तो पहेली है। कपडे तो द्रव्य है और द्रव्य तो जगह घेर लेते है। इसीसे नैयायिक कहते है कि एक ही स्थानमे एकसे ज्यादा द्रव्योका अँटाव या समावेश नही हो सकता।

तब सवाल होता है कि यदि एक ही कपडा उनमे रहेगा तो साफ ही है कि जोई पीछे या नया बनेगा, तैयार होगा, तैयार होता जायगा वही सभी—नये पुराने—सूतोमे समाविष्ट होगा। फलत पहलेवाले हट जायँगे, नष्ट हो जायँगे, खत्म हो जायँगे। जैसे-जैसे नये सिरेसे कपडा बनता जायगा तैसे-तैसे पहले बने कपडे नष्ट होते जायँगे। इस प्रकारके सभी पदार्थोमें यही प्रक्रिया जारी रहती है—पहलेवालोके नाशका यह सिलसिला जारी रहता है। दूसरा उपाय है नही—दूसरा चारा है नही। बात तो कुछ अजीब और बेढंगीसी मालूम पडती है। मगर हमे इस दुनियामें कितनी ही बेढंगी बात माननी ही पडती है। जब बुद्धि और तर्ककी कसौटीपर कसते है तो जो बाते खरी उतरे उनके माननेमें उज्र क्या है? किसी जमानेमे सूर्य स्थिर है और पृथिवी चलती है, इस बातके कहनेवालोको बडी आफते झेलनी पडी। मगर गणित और हिसाब-किताबकी मजबूरी जो थी। वे लोग करते क्या? नतीजा यह हुआ कि आज आमतौरसे यही बात मानी जाने लगी है।

पहले विज्ञानका यह विकास न होनेके कारण लोगोंको उलझने मिलती हुई। मगर आज तो विज्ञानने ही बता दिया है कि जरूर ही पुराने वस्त्र,

पुराने चावल, पुराने पदार्थ नष्ट हो जाते है और नये पैदा हो जाते है। भला कपडेके वारेमे तो नैयायिक दार्शनिक यह भी कहते थे कि साफ ही नये सूत जुटे है। देखनेवाले देखते भी थे। मगर कोठीमे वन्द चावलोमे कौन देखता है कि चावलोके नये परमाणु जुटते और पुराने भागते जाते है। पुराने सूतोकी ही सूरत-शकलके नये सूत कपडेमें जुटते है। मगर चावलोके पुराने परमाणुओमे जो स्वाद या रस होता है उसी स्वाद और रसके नये परमाणुओको आते और पुरानोकी जगह लेते कौन देखता है? चावलका स्वाद दस सालके वाद वदलके गेहूँका तो हो जाता नही। उसमे स्वाद, रस वगैरह चावलका ही रहता है। इससे मानना पडेगा कि जो नये परमाणु आये वे चावलके ही स्वाद और रसके थे। वात तो यह भी कम अजीव और वेढगीसी है नही। इसीलिये नैयायिकोकी वात अव समझमे आ जाती है—आ सकती है। चावलोके ही परमाणुओ-का—वैसे ही स्वाद, रस, रूप-रेखावालोका—खजाना किसने कहाँ जमा कर रखा है जो वरावर आते-जाते है? यह नही कि चावलोकी ही वात हो। गेहूँ, चने, मटर आदिकी भी तो यही वात है। पशु, पक्षी, मनुष्य, खाक, पत्थर सवोकी यही हालत है। सवोमे अपनी ही जातिके परमाणु आ मिलते है। फलत यह तो मानना ही पडेगा कि सवोका अलग कोष, खजाना (Stock) कही पडा है। मगर पता नही कहाँ, कैसे पडा है। यही तो पहेली है। वर्त्तन या कोठीके मुँह तो ऐसे वन्द है कि जरा भी हवा आ जा न सके। मगर ये अनन्त परमाणु वरावर आते-जाते रहते है। यही तो माया है, जादू है।

यहाँतक तो हमने इस पहेलीकी उधेड-बुन दार्शनिक ढगसे की। मगर सवाल हो सकता है कि इसका कर्मवादसे ताल्लुक क्या है? ताल्लुक है और जरूर है। इसीलिये तो जरा विस्तार से हमने यह वात लिखी है। नही तो आगेकी वात समझमे नही आती। वात यह है कि अनन्त

परमाणुओका आना-जाना और पुरानीकी जगह नई चीजका बन जाना एक पहेली है यह तो मान चुके। अब जरा सोचे कि आखिर यह होता है क्यो और कैसे ? पुराने चावलोकी जगह नये क्यो बने ? वैसे ही परमाणु क्यो आये और उतने ही क्यो आये जितने निकले ? यदि कमी-बेशी भी हुई तो बहुत ही कम। गेहूँमे चावलके और चावलमे गेहूँके क्यो नही आ गये ? गायमे भैसके और भैसमे गायके क्यो न घुसे ? आदमीमे पशुके तथा पशुमे आदमीके क्यो न प्रवेश पा सके ? मर्दमें औरतके और औरतमें मर्दके क्यो न चले आये ? वृक्षोमे पत्थरके और पत्थरोमे वृक्षोके क्यो न जुटे ? मूर्खोंमे पडितोके तथा पडितोमे निरक्षरोके क्यो न लिपटे ? ऐसे प्रश्न तो हजार लाख हो सकते है, होते है।

इन परमाणुओका वर्गीकरण कहाँ कैसे किया गया है ? यह काम कौन करता है ? जिसमे जरा भी गडबडी न हो, किन्तु सभी ठीक-ठीक अपनी-अपनी जगह जाये-आये यह पक्का प्रबन्ध क्यो, किसने, कैसे किया ? इसमे कभी गडबड न हो इस बातका क्या प्रबन्ध है और कैसा है ? परमाणुओके कोषमें कमी-बेशी हो तो उसकी पूर्त्ति कैसे हो ? यदि यह माना जाय कि हरेक पदार्थसे निकलनेवाले परमाणु अपने सजातीयोके ही कोषमे जा मिलते है, तो प्रश्न होता है कि ऐसा क्यो होता है और उन्हे कौन, कहाँ, कैसे ले जाता है ? साथ ही यह भी प्रश्न होता है कि निकलनेवाले परमाणुओकी जो हालत होती है वह तो कुछ निराली होती है, नकि कोषमे रहनेवालोकी ही जैसी। ऐसी दशामें उनके मिलनेसे वह कोष खिचडी बन जायगा या नही ? नये चावलका भात भारी होता है और मीठा ज्यादा होता है, बनिस्बत पुराने चावलोके। इसलिये यह तो मानना ही होगा कि चावलके भी परमाणु सबके सब एक ही तरहके नही होते। ऐसी हालतमे चावलके परमाणुओके भी कई प्रकारके कोष मानने ही होगे। अब यदि यह कहे कि नये चावलोके परमाणु पुनरपि वैसे ही नये चावलोमे जा मिलेगे

ग्रौर जबतक जाकर मिल जाते नही तबतक कही शान्त पडे रहेगे, तो सवाल होता है कि यह बारीक देख-भाल कौन करता है ग्रौर क्यो ? ठीक समयपर वैसे ही चावलोमें उन्हें कहाँ, कैसे पहुँचाया जायगा यह व्यवस्था भी कैसे होती है ? यह तो ऐसा लगता है कि कोई सर्वशक्तिशाली ग्रौर सर्वव्यापक देखनेवाला चारो ग्रोर ग्राँखे फाडके हर चीजको बारीकीसे देखता हो ग्रौर ठीक समयपर सारी व्यवस्था करता हो। यह कैसी बात है, यह प्रश्न स्वाभाविक है ? यह कौन है। क्यो है ? कैसे है ?, ये प्रश्न भी होते है। उसके हाथ बँधे है या स्वतत्र है ? यदि बँधे है तो किससे ? ग्रौर तब वह सारे काम ठीक-ठीक करेगा कैसे ? यदि स्वतत्र है तो भी वही बात ग्राती है कि सारे काम नियमित रूपसे क्यो होते है ? कही-कही मनजानी घरजानी क्यो नही चलती ?

चावलोको ही लेके ग्रौर भी बातें उठती है। माना कि चावलोंसे असख्य परमाणु निकलते रहते है। तो फिर जरूरत क्या है कि उनकी जगह खाली न रहे ग्रौर दूसरे परमाणु खामखा ग्राके जम जायें ? धीरे-धीरे चावल पतले पड जायें तो हर्ज क्या ? ग्राखिर घुनोके खा जानेसे तो ऐसा होई जाता है। कपूरके परमाणु निकलते है ग्रौर उनमें नये ग्राते नही। इसीलिये वह जल्द खत्म हो जाता है। वही बात चावलोमें भी क्यो नही होती ? यदि कहा जाय कि चावलवाला मर जो जायगा, तो प्रश्न होता है कि ग्राग लगने या चोरी होनेपर क्या वह भूखो नही मर जाता जब चावल लुट जाते या जल जाते है ? ग्रौर कपूर वाले पर भी यही दलील क्यो न लागू हो ? चावल जलनेपर या लुटजाने पर जो होता है वही बात यो भी क्यो नही हो ? किसी समय चावलोके परमाणु ज्यादा निकल जायें ग्रौर वह गल-सड जाये ग्रौर किसी समय नही, ऐसा क्यो होता है ? इसी तरहके हजारो सवाल उठ खडे होते है यदि हम इन पदार्थोके खोद-विनोद ग्रौर

अन्वेषणमे पड जाये। हमने तो यहाँ थोडेसे प्रश्न नमूनेके तौरपर ही दिये है।

इसी खोद-विनोद, इसी जाँच-पडताल, इसी अन्वेषणके सिलसिलेमें इन जैसे प्रश्नोके उत्तर ढूँढते-ढूँढ़ते हमारे प्राचीन दार्शनिकोको विवश होके ईश्वर और कर्मवादकी शरण लेनी पडी, यह सिद्धान्त स्थिर करना पडा। मनुष्य अपनी पहुँचके अनुसार ही कल्पना करता है। हम तो देखते है कि नियमित व्यवस्था बुद्धिपूर्वक ही होती है। बिना समझ और ज्ञानके यह बात हो पाती नही। और अगर कभी घडी या दूसरे यत्रोको नियमित काम करते देखते है तो उसीके साथ यह भी देखते है कि उनके मूलमे कोई बुद्धि है जिसने उन्हें तैयार करके चालू किया है। वही उनके बिगड जाने-पर पुनरपि उन्हे ठीक कर देती है। जड पदार्थोमे तो यह शक्ति नही होती कि अपनी भूल या गडबड देखे, त्रुटिका पता लगाये और उसे सँभाले। इसके बाद हम बाकी दुनियामे भी ऐसी ही व्यापक या समष्टि बुद्धिकी कल्पना करते है, क्योकि हम सभी मिल-मिलाकेभी बहुतसे कामोको नही कर सकते। वे हमारी ताकतके बाहरके है। दृष्टान्तके लिये चावल वगैरहके बारेमे जो बाते पूछी गई है उन्हीको ले सकते है। वे हमारी पहुँचके बाहरकी बाते है। जिन्हे हम देख पाते नही उनकी व्यवस्था क्या करे? और अगर थोडी देरके लिये मान भी ले कि हमी सब लोग उन्हे करते है, कर लेते है, कर सकते है, तो भी हम सबोके कामोकी मिलान (Co-ordination) तो होनी ही चाहिये न? नही तो फिर वही गडवड होगी। अब इस मिलानका करनेवाला कोई एक तो होगा ही जो सब कुछ बखूबी जानता हो।

जो लोग इन प्रश्नोके सम्बन्धमे प्रकृति, नैसर्गिक-नियम, शाश्वत-विधान (Nature, Natural Law, Eternal Law) आदि कहके बाते टाल देते है वे शब्दान्तरसे अपनी अनभिज्ञता मान लेते है। हमारा

काम है गुप्त रहस्योका पता लगाना, प्रकृतिके—ससारके—नियमोको ढूँढ निकालना। दिमाग, अक्ल, बुद्धिका दूसरा काम है भी नही। इन बातोसे किनाराकशी करना भी हमारा काम नही है। कोई समय था जब कहा जाता था कि योगियोका आकाशमे योही चला जाना असभव है, दूर देशका समाचार जान लेना गैरमुमकिन है। पक्षी उडते है तो उडें। उनकी तो प्रकृति ही ऐसी है। मगर आदमीके लिये यह बात असभव है। अपेक्षाकृत कुछ कम-बेश दूरीपर हमारी आवाज दूसरोको भले ही सुनाई दे। मगर हजारो मील दूर कैसे सुनाई देगी ? शब्दका स्वभाव ऐसा नही है, आदि-आदि। मगर अन्वेषण और विज्ञानने सब कुछ सभव और सही बता दिया—करके दिखा दिया! फलत स्वभावकी बात जाती रही। मामूलीसी बातमे भी तर्क-दलील करते-करते जब हम थक जायें और उत्तर न दे सके, तो क्यो न स्वभाव या प्रकृतिकी शरण लेके पार हो जायँ ? तब हम भी क्यो न कह दे कि यही प्रकृतिका नियम है, नित्य नियम है ? बात तो एक ही है। ज्यादा बुद्धिवाले कुछ ज्यादा दूरतक जाके प्रकृतिकी शरण लेते है। मगर हम कम अक्लवाले जरा नजदीकमे ही। और यह कैसे पता चला कि यह प्रकृतिका नियम है, नित्य नियम है ? प्रकृति क्या चीज है ? नियम क्या चीज है ? किसे नियम कहें और किसे नही ? पहले तो कहा जाता था कि पृथिवी स्थिर है और सूर्य चलता है। क्यो ? यही नित्य नियम है यही उत्तर मिलता था। अब उलटी बात हो गई। इसलिये प्रकृति, नेचर और प्राकृतिक नियमोकी बात करना दूसरे शब्दोमें अपने अज्ञान, अपनी सकुचित समझ, अपनी अविकसित बुद्धिको कबूल करना है। यह बात पुराने दार्शनिक नही करते थे। और जब जड नियमोको मानते ही है, तो फिर चेतन ईश्वरको ही क्यो न मानें ? अन्धेसे तो आँखवाला ही ठीक है न ? नही तो फिर भी अडचन आ सकती है।

इसीलिये उनने उस व्यापक हाथ, शक्ति या पुरुषको स्वीकार किया, या यो कहिये कि ढूँढ निकाला। उसके विना इस ससारका काम उन्हे चलता नही दीखा। इसीलिये उसे पुरुष कहा, पुरुषका अर्थ ही है जो सर्वत्र पूर्ण या व्यापक हो। यदि उसमे अविद्या, भले-बुरे कर्म, सुख-दु ख, रागद्वेष या भलेबुरे सस्कार मनुष्यो जैसे ही रहे तो फिर वही गडबड होगी। पुरुष तो जीवोको भी कहते है। आत्माये भी तो व्यापक है। इसीलिये उसे निराला पुरुष माना और पतजलिने योगसूत्रोमे साफ ही कह दिया कि "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वर" (१।२४)। इसका अर्थ यही है कि अविद्या आदिसे वह सर्वथा रहित है। इसीलिये उसे रत्ती-रत्ती चीजोका जानकार होना चाहिये। नही तो फिर भी दिक्कत होगी और ससारकी व्यवस्था ठीक हो न सकेगी। उसका ज्ञान ऐसा हो कि उसकी कोई सीमा न हो—वह भूत, भविष्य, वर्त्तमान सभी कालके सभी पदार्थोंको जान सके। इसीलिये पतजलिने कहा कि "तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम्" (१।२५)। अगर वह मरे-जिये, कभी रहे कभी न रहे तो भी वही दिक्कत हो। इसलिये कह दिया कि वह समयकी सीमासे बाहर है—नित्य है, अजर-अमर है। जितने जानकार, विद्वान, दार्शनिक और तत्त्वज्ञ अबतक हो चुके उसके सामने सब फीके है—तुच्छ है। क्योकि देशकालसे सीमित तो सभी ठहरे और वह ठहरा इससे बाहर। इसीलिये वह सबोका दादागुरु है—"पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्" (१।२६)।

## कर्मवाद

मगर इतनेसे भी काम चलता न दीखा। यदि ऐसा ईश्वर हो कि जो चाहे सोई करे तो उसपर स्वेच्छाचारिता (Autocracy)का आरोप आसानीसे लग सकता है। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान और सर्वव्यापक होनेके कारण उसकी स्वेच्छाचारिता बडी ही खतरनाक सिद्ध होगी।

जिस व्यवस्था और नियमितताके लिये हम उसे स्वीकार करते है या उसका लोहा मानते है, वही न रह पायेगी। क्योकि उसकी स्वतन्त्रता ही कैसी यदि उसपर बन्धन लगा रहा? वह स्वतन्त्र ही कैसा यदि उसने किसी बातकी पर्वा की? यदि उसपर कोई भी अकुश रहे, चाहे वह कैसा भी क्यो न हो, तो वह परतत्र ही माना जायगा। यह प्रश्न मामूली नहीं है। यह एक बहुत बडी चीज है। जब हम किसी बातको बुद्धि और तर्ककी तराजूपर तौलते है, तो हमे उसके नतीजोके लिये तैयार रहना ही होगा। यह दार्शनिक बात है। कोई खेल, गप्प या कहानी तो है नहीं। इस प्रकारके ईश्वरको माननेपर क्या होगा यह बात आँखे खोलके देखनेकी है। पुराने महापुरुषोने—दार्शनिकोने—इसे देखा भी ठीक-ठीक। वे इस पहेलीको सुलझानेमे सफल भी हुए, चाहे ससार उसे गलत माने या सही। और हमारी सभी बाते सदा ध्रुव सत्य है यह दावा तो समझदार लोग करते ही नही। ज्ञानका ठेका तो किसीने लिया है नही। तब हमारे दार्शनिक ऐसी गलती क्यो करते? उन्हें जो सूझा उसे उनने कह दिया।

इस दिक्कतसे बचनेके ही लिये उनने कर्मवादकी शरण ली। असलमें यह बात भी उनने अपने अनुभव और आँखो देखीके ही अनुसार तय की। उनने सोचा कि प्रतिदिन जो कुछ भी बुरा-भला होता है वह कामोके ही अनुसार होता है। चाहे खेतीबारी लें या रोजगार-व्यापार, पढना-लिखना, पारितोषिक, दण्ड और हिंसा-प्रतिहिंसाके काम। सर्वत्र एक ही बात पाई जाती है। जैसा करते है वैसा पाते है। जैसा बोते है वैसा काटते है। गाय पालते है तो दूध दुहते है। साँप पालके जहरका खतरा उठाते है। सिंह पालके मौतका। जान मारी तो जान देनी पडी। पढा तो पास किया। न पढा तो फेल रहे। अच्छे काममें इनाम मिला और बुरेमें जेल या बदनामी हाथ आई। असलमे यदि कामोके अनुसार परिणामकी व्यवस्था न हो तो ससारमें अन्धेरखाता ही मच जाये। जब इससे उलटा

किया जाता है तो बदनामी और शिकायत होती है, पक्षपातका आरोप होता है। यदि इसमे भी गडवड होती है तो वह कामके नियमका दोष न होके लोगोकी कमजोरी और नादानीसे ही होती है। अगर कामके अनुसार फलका नियम न हो तो कोई कुछ करे ही न। पढनेमे दिमाग खपानेवाला फेल हो जाय और निठल्ला बैठा पास हो । खेती करनेवाले-को गल्ला न मिले और बैठे ठालेकी कोठी भरे। ऐसा भी होता है कि एकके कामका परिणाम वशपरपराको भी भुगतना पडता है। यदि अपनी नादानीसे कोई पागल हो जाय तो वशमे भी उसका फल बच्चो और उनके बच्चोतक पहुँचता है। ऐसी ही दूसरी भी बीमारियाँ है। एकके कियेका फल सारा वश, गाँव या देश भी भुगतता है।

इस प्रकार एक तो कर्म ही सारी व्यवस्थाके करनेवाले सिद्ध हुए। दूसरे उनके दो विभाग भी हो गये। एकका ताल्लुक उसी व्यक्तिसे होता है जो उसे करे। यह हुआ व्यष्टि कर्म। दूसरेका सम्बन्ध समाज, देश या पुश्त-दरपुश्तसे होता है। यही है समष्टि कर्म। ऐसा भी होता है कि हरेक आदमी अपने कामसे अपनी जरूरत पूरी कर लेता है। नदीसे पानी लाके प्यास बुझा ली। मिहनतसे पढके पास कर लिया। वेशक इसमे विवादकी गुजाइश है कि कौन व्यक्तिगत या व्यष्टि कर्म है और समष्टि। मगर इसमे तो शक नही कि व्यष्टि कर्म है। जहर खा लिया और मर गये। हाँ, समष्टि कर्ममे एकसे ज्यादा लोग शरीक होते है। कुआँ अकेले कौन खोदे? खेती एक आदमी कर नही सकता। घर-बार सभी मिलके उठाते है। समष्टि कर्म यही है। सभी मिलके करते और फल भी सभी भोगते है। कभी-कभी एकका किया भी अनेक भुगतते है। फलत वह भी समष्टि कर्म ही हुआ।

बस, तत्त्वदर्शियोने इस सृष्टिका यही सिद्धान्त सभी बातोमे लागू कर दिया। उनने माना कि जन्म, मरण, सुख, दुःख, बीमारी, आराम

वगैरह सभीके मूलमे या तो व्यष्टि या समष्टि कर्म है। उनने सभीकी स्वतत्रता मर्यादित कर दी। चावलो या पदार्थोंके परमाणुओके आने-जानेसे लेकर सारे ससारके बनाने-बिगाडने या प्रबन्धका काम ईश्वरके जिम्मे हुआ और सभी पदार्थ उसके अधीन हो गये। ईश्वर भी जीवोके कर्मोंके अनुसार ही व्यवस्था करेगा। यह नही कि अपने मनसे किसीको कोढी बना दिया तो किसीको दिव्य, किसीको राजा तो किसीको रक, किसीको लूटनेवाला तो किसीको लुटनेवाला। जीवोके कर्मोंके अनुसार ही वह सब व्यवस्था करता है। जैसे भले-बुरे कर्म है वैसी ही हालत है, व्यवस्था है। कही चुके है कि बहुतेरे कर्म पुश्त-दरपुश्ततक चलते है। इसीलिये इस शरीरमें किये कर्मोंमें जिनका फल भुगतना शेष रहा उन्हीके अनुसार अगले जन्ममें व्यवस्था की गई। जैसे भले-बुरे कर्म थे वैसी ही भली-बुरी हालतमें सभी लोग लाये गये। इस तरह ईश्वरपर भी कर्मोंका नियत्रण हो गया। फिर मनमानी घरजानी क्यो होगी? तब वह निरकुश या स्वेच्छाचारी क्यो होगा? कर्म भी खुद कुछ कर नही सकते। वह भी किसी चेतन या जानकारके सहारे ही अपना फल देते है। वे खुद जड या अन्धे जो ठहरे। इस तरह उनपर भी ईश्वरका अकुश या नियत्रण रहा—वे भी उसके अधीन रहे। साराश यह कि सभीको सबकी अपेक्षा है। इसीलिये गडबड नही हो पाती। किसीका भी हाथ सोलह आना खुला नही कि खुलके खेले।

## कर्मोंके भेद और उनके काम

यह तो पहले ही कह चुके है कि जब कर्म अपना फल देते है तो उस फलकी सामग्रीको जुटाकर ही। कर्मोंका कोई दूसरा तरीका फल देनेका नही है। यकायक आकाशसे कोई चीज वे टपका नही देते। अगर जाडेमें आराम मिलना है तो घर, वस्त्र आदिके ही रूपमे कर्मोंके फल मिलेंगे।

इन्ही कर्मोंके तीन दल प्रकारान्तरसे किये गये है। एक तो वे जिनका फल भोगा जा रहा हो। इन्हे प्रारब्ध कहते है। प्रारब्धका अर्थ ही है कि जिनने अपना फल देना प्रारभ कर दिया। लेकिन बहुतसे कर्म बचे-बचाये रह जाते है। सबोका नतीजा बराबर भुगता जाय यह सभव नही। इसलिये बचे-बचायोका जो कोष होता है उसे सचित कर्म कहते है। सचितके मानी है जमा किये गये या बचे-बचाये। इसी कोषमे सभी कर्म जमा होते रहते है। इनमे जिनकी दौर शुरू हो गई, जिनने फल देना शुरू कर दिया वही प्रारब्ध कहे गये। इन दोनोके अलावे क्रियमाण कर्म है जो आगे किये जायँगे और सचित कोषमे जमा होगे। असलमे तो कर्मोंके सचित और प्रारब्ध यही दो भेद है। क्रियमाण भी सचितमे ही आ जाते है। यो तो प्रारब्ध भी सचित ही है। मगर दोनोका फर्क बता चुके है। यही है सक्षेपमे कर्मोंकी बात।

अब जरा इनका प्रयोग सृष्टिकी व्यवस्थामे कर देखे। पृथिवीके बननेमे समष्टि कर्म कारण है। क्योकि इससे सबोका ताल्लुक है—सबोको सुख-दु ख इससे मिलता है। यही बात है सूर्य, मेघ, जल, हवा आदिके बारेमे भी। हरेकके व्यक्तिगत सुख-दु ख अपने व्यष्टि कर्मके ही फल है। अपने-अपने शरीरादिको एक तरहसे व्यष्टि कर्मका फल कह सकते है। मगर जहाँतक एकके शरीरका दूसरेको सुख-दु ख पहुँचानेसे ताल्लुक है वहाँतक वह समष्टि कर्मका ही फल माना जा सकता है। यही समष्टि और व्यष्टि कर्म चावल वगैरहमे भी व्यवस्था करते है। जिस किसानने चावल पैदा करके उन्हें कोठीमे बन्द किया है उसके चावलोसे उसे आराम पहुँचना है। ऐसा करनेवाले उसके व्यष्टि या समष्टि कर्म है जो पूर्व जन्मके कमाये हुए है। यदि चावलोके परमाणु निकलते ही जायँ और आये नही, तो किसान दिवालिया हो जायगा। फिर आराम उसे कैसे होगा ? इसलिये उसीके कर्मोंसे यह व्यवस्था हो गई कि नये

परमाणु आते गये और चावल कीमती बन गया। यदि पुराने नही जाते और नये नही आते तो यह बात न हो पाती। परमाणुओका कोष भी कर्मोंके अनुसार बनता है, बना रहता है। ईश्वर उसका नियन्त्रण करता है। जब बुरे कर्मोंकी दौर आई तो घुन खागये, चावल सड गये या और कुछ हो गया। उनमे अच्छे परमाणु आके मिले भी नही। यही तरीका सर्वत्र जारी है, ऐसा प्राचीन दार्शनिकोने माना है। यो तो कर्मोंके और भी अनेक भेद है। ऐसे भी कर्म होते है जिनका काम है केवल कुछ दूसरे कर्मोंको खत्म (Negative) कर देना। ऐसे भी होते है जो अकेले ही कई कर्मोंके बराबर फल देते है। मगर इतने लबे पँवारेसे हमें क्या मतलब? योगसूत्रोके भाष्य और दूसरे दर्शनोको पढके यह बाते जानी जा सकती हैं।

## अवतारवाद

इतने लम्बे विवरणके बाद अब मौका आता है कि हम अवतारवादके सम्बन्धमे इन कर्मोंको लगाके देखे कि कर्मवाद वहाँ किस प्रकार लागू होता है। यह तो कही चुके है कि समष्टि कर्मोंके फलस्वरूप पृथिवी आदि पदार्थ बनते है जिनका ताल्लुक एक-दोसे न होके समुदायसे है, समाजसे है, मानव-ससारसे है, सभी पदार्थोंसे है। यदि यह ढूँढने लगे कि पृथिवीको किस एक व्यक्तिके कर्मने तैयार किया कराया, तो यह हमारी भूल होगी। एकसे तो उसका सम्बन्ध है नही। पृथिवीके चलते हजारो-लाखोको सुख-दु ख भोगना है, गल्ला पैदा करना है, घर बनाना है, कपडा तैयार करना है—होना है। उससे तलवारे, भाले, तोपे, गोले, लाठियाँ बनके जानें कितने मरें-मारेगे। फिर एकके कर्मका क्या सवाल? पृथिवी आदि पदार्थ एकके कर्मसे क्यो बनेगे?

जरा यही बात अवतारोके विषयमे भी लगा देखे। आखिर अवतारोका काम क्या है? उनसे होता क्या है? उनकी भली-बुरी उप-

योगिता है क्या ? गीता कहती है कि "भले लोगोकी रक्षा, बुरोके नाश और धर्म---सत्कर्मो, पुण्यकार्यो, समाज-हितकारी कामो---की मजबूती एव प्रचारके लिये बार-बार---समय-समयपर---अवतार होते है",---"परित्राणाय साधूना विनाशाय च दुष्कृताम्। धर्मसस्थापनार्थाय सभवामि युगेयुगे" (४।८)। अवतारके पहलेकी भी समाजकी दशा यो कही गई है, "जब-जब धर्म---सत्कर्मो---का खात्मा या अत्यन्त ह्रास हो जाता है और अधर्म---बुरे कर्मो---की वृद्धि हो जाती है तभी-तभी भगवान खुद आते है"---"यदायदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत। अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मान सृजाम्यहम्" (४।७)। इन श्लोकोमे जो 'यदायदा'---जब-जब---तथा 'युगे-युगे'---समय-समय पर---कहा है उसका तात्पर्य यही है कि ऐसी ही परिस्थिति के साथ अवतारका ताल्लुक है। जिस प्रकार खेती-बारीके लिये जमीन और सीचनेके लिये पानी की जरूरत है, साँसके लिये जैसे हवा जरूरी है; ठीक वैसेही ऐसी परिस्थिति आ जानेपर उसका समुचित सामना करने, उसके प्रतिकारके लिये अवतार जरूरी है। पृथिवी, जल, वायु आदिका काम जिस प्रकार दूसरोसे नही हो सकता है---जिस तरह पृथिवी आदिके विना काम चल नही सकता---ठीक उसी तरह अवतारका काम और तरहसे, दूसरोसे चल नही सकता---उसके विना काम हो नही सकता। इससे साफ हो जाता है कि जिस प्रकार पृथिवी आदि पदार्थ बनते है, पैदा होते है लोगोके समष्टि कर्मोके ही करते उन्हीके फलस्वरूप, ठीक वैसे ही अवतार होते है लोगोके समष्टि कर्मोके ही फलस्वरूप उन्हीके करते। अब यही देखना है कि यह बात होती है कैसे।

इसमे विशेष दिक्कतकी तो कोई बात है नही। राम, कृष्ण आदि अवतारोके शरीरोसे भले लोगोको--साधु-महात्माओ, देवताओ, तपस्वियो, सदाचारियो और भोलीभाली जनताको---तो बेशक आराम पहुँचता

है, शान्ति मिलती है, उनकी चिन्ता और परीशानी मिटती है, उनके कामोंमें आसानी होती, सहायता पहुँचती है और वे निर्द्वन्द्व विचरते रहते हैं। जैसा कि खुद कृष्णने ही कहा है कि, "लोकसग्रह या लोगोके पथदर्शनके खयालसे भी तो कर्म करना ही चाहिये"—"लोकसग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्त्तु-मर्हसि" (३।२०)। उनने यह भी साफ ही कह दिया है कि, "मेरे अपने लिये तो कुछ भी करना-वरना शेष नही है, क्योकि मुझे कोई चीज हासिल करनी जो नही है। फिर भी कर्म तो मुस्तैदीसे करता रहता ही हूँ। क्योकि यदि ऐसा न करूँ तो सब लोग मेरीही देखादेखी कर्मोको छोड बैठेगे। नतीजा यह होगा कि सारी गडवड पैदा हो जायगी। फिर तो अव्यवस्था होने के कारण लोग चौपट ही हो जायँगे—" "न मे पार्थास्ति कर्त्तव्य त्रिषु लोकेषु किंचन", आदि (३।२२-२६)। इसके अनुसार तो सभीको अच्छेसे अच्छा पथदर्शन एव नेतृत्व मिलता है, जिससे सभी बातोकी मर्यादा चल पडती है और समाज मजबूतीके साथ उन्नतिके पथमें अग्रसर होता है। इस तरह जितनोका कल्याण होता है उतनोका सत्कर्म या उनके पूर्व जन्मके अच्छे कामोका ही यह फल माना जाना चाहिये। यदि वे आराम पाते और निर्वाध आगे बढते है तो इसमें दूसरोकी कमाई, प्रारब्ध या पूर्व जन्मार्जित कर्मोकी कोई बात आती ही नही। जिन्हें सुख मिलता है, सुविधाये मिलती है उनके अपने ही कर्मोके ये फल हैं, यही मानना होगा।

दूसरी ओर ऐसे लोग भी होते हैं जिन्हें मिटानेके लिये अवतारोंके शरीर होते हैं। जिनकी शैतानियते मिटानी है, जिन्हें तवाह-वर्वाद करना है, अवतारोके करते जितनोको आठ-आठ आँसू रोने पडते है, जो खुद और जिनके सगे-सम्बन्धी भी चौपट होते हैं, रो-रो मरते है, जिनकी भीषणसे भीषण यत्रणायें होती हैं, जिनकी स्वेच्छाचारिता बन्द हो जाती और निरकुशता एव स्वच्छन्दतापर पाले पड जाते है, उनकी यह दशा होती है

यद्यपि अवतारोके शरीरोसे ही, उनके कामोसे ही। फिर भी इसका कारण उन्ही दुराचारियो, दुष्कृत—दुष्ट—लोगोके अपने ही बुरे कर्म मानने होगे। यदि किसीकी लाठीसे सर फूटा या तलवारसे गला काटा तो यह ठीक है कि सर फूटने एव गला कटनेका प्रत्यक्ष कारण लाठी या तलवार है। मगर ऐसे कारणोके सम्पादन करनेवाले वे दुष्कर्म माने जाते है जो पहले या पूर्व जन्ममे ऐसे लोगोने किये थे जिनके सर फूटे या गले कटे। यह तो कर्मोका मोटा-मोटी हिसाब माना ही जाता है। इसलिये अवतारोके शरीरोके निर्माणमे भी इन दुष्ट जनोके ही बुरे कर्म कारण है। पहले कही चुके है कि यदि किसीके शरीरसे दूसरोको कष्ट या आराम पहुँचे तो उनके भी भले-बुरे कर्म उस शरीरके कारण होते है। शरीरवालेके कर्म तो होते ही है। फलत· जिस प्रकार साधारण शरीरके निर्माणमे समष्टि कर्म कारण बनते है उसी तरह अवतारोके शरीरोके निर्माणमे भी।

एक बात और भी जान लेनेकी है। यह जरूरी नही कि पूर्व जन्मके ही भले-बुरे कर्म वर्त्तमान जन्मके सुख-दु खोके कारण हो। इसी देहके अच्छे या गन्दे काम भी कारण बन सकते है, बन जाते है। बासी या पुराने ही कर्म ऐसा करे यह कोई नियम नही है। सब कुछ निर्भर करता है कर्मोकी शक्तिपर, उनकी ताकतपर, उनकी भयकरता या उत्तमतापर। इसीलिये नीतिकारोने माना है कि "तीन साल, तीन महीने, तीन पखवारे या तीन दिनोमे भी जबर्दस्त कर्मोके भले-बुरे फल यही मिल जाते है"—"त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभि पक्षैस्त्रिभिर्दिनै। अत्युत्कटै पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते।" इसीलिये तो यह भी कहा जाता है कि "इस हाथ दे, उस हाथ ले।" इसलिये दुष्ट जनोके जिन भयकर कुकर्मोके करते हाहाकार मच जाता है, बहुत सभव है कि अवतारोके कारण वही हो या वह भी हो। इसी प्रकार महान् पुरुषोके तप और सदाचरण भी, जो उन पापी जनोसे त्राण पानेके लिये किये जाते है, अवतारोके कारण बन जाते है,

वन सकते है। मीमासकोने जानें कितने ही ऐसे कर्म माने है जिनके फल जल्दी ही मिलते है।

इस प्रकार समष्टि कर्मोंके चलते ही पृथिवी आदिकी ही तरह अवतारोके शरीर बनते है यह बात समझमें आ जाती है। जो लोग ऐसा सोचते हो कि हमारे भले-वुरे समष्टि कर्म भगवानको नही खीच सकते, क्योकि वह तो सबके ऊपर माना जाता है, उनके लिये तो पहले ही कहा जा चुका है कि कर्मोंके अनुसार ही तो भगवानको चलना पडता है। उसे भी कर्मकी अधीनता एक अर्थमे स्वीकार करनी ही पडती है। यदि लोगोंके कर्मोंके अनुसार उसे हजार परीशानी उठानी पडती हो, दौड-धूप और चिन्ता फिक्र करनी पडती हो, तो यह तो मामूलीसी बात ठहरी। जव लोगोने ऐसा भी माना है कि भक्तजन भगवानको नचाते है, तो फिर अवतार बनना क्या बडी बात है ? जिनके कर्मोंके करते पूर्व वताये ढगसे परमाणुओकी क्रियाये, दौडधूप और चावल, पेड, मनुष्यके शरीर आदि वनना-विगडना निरन्तर जारी है, अवतारोके शरीर भी उन्हीकी क्रियाओंके भीतर क्यो न आ जायें, उन्हीसे तैयार क्यो न हो जाये ? आखिर ये सारी चीजे होती ही है ससारका काम चलानेके ही लिये न ? फिर यदि अवतारोके विना कोई काम रुकता हो या न चल सकता हो, तो उनके शरीर भी वैसे कामोके ही लिये क्यो न बन जायेगे ?

यह ठीक है कि जितनी चीजे वनती है सभी अनिवार्य आवश्यकताओ और जरूरतोके ही चलते। प्रकृति या ससारके भीतर व्यर्थ और फिजूल पदार्थोंकी गुजाइश हुई नही। वल्कि प्रकृति तो ऐसी चीजोकी दुश्मन है। इसीलिये उन्हे जल्द मिटा देती है। वैसी ही आवश्यकताओंके चलते अवतार भी होते है। यही कारण है कि आवश्यकताओकी पूर्त्ति होते ही अवतारोका काम पूरा हो जाता है और उनके शरीर खत्म हो जाते है। किन्हीका काम कुछ देरसे होता है और किन्हीका जल्द।

कहते हैं कि नृसिंहके बिना हिरण्यकशिपुको कोई मार नही सकता था। कहानी तो ऐसी है कि उसने अपने लिये ऐसा ही सामान कर लिया था। यही वजह है कि भगवानको नृसिंह बनना और उसे मारके फौरन विलीन हो जाना पडा। पीछे नृसिंहका शरीर रह न सका। यही बात राम, कृष्ण आदिके बारेमे भी है। जो जो काम उनने किये, जो पथदर्शन उनसे हुए वे औरोसे हो नही सकते थे। मगर उन कामोके लिये कुछ ज्यादा समय चाहता था। इसीलिये वे लोग देरतक रहे। हमारा मतलव यहाँ पौराणिक आख्यानोपर मुहर लगाने या उन्हे अक्षरश सही बतानेसे नही है। हमे तो यही दिखाना है कि अवतारोके लिये दार्शनिक युक्तिके अनुसार जो परिस्थिति चाहिये वह सभव है या नही।

यह बात भी अब साफ होई चुकी कि अवतारोके शरीरोमें भगवानको खिच आना ही पडता है। अवतार शव्दका तो अर्थ ही है उतरना या खिच आना। अगर ससारमे बुरे-भले कर्म माया-ममताशून्य जनोतकको अपनी ओर खीच सकते है और उनमे दया या रोष पैदा करवाके हजारो कठिनतम काम उनसे करवा सकते है, तो फिर भगवानका खिच जाना कोई आश्चर्य नही है। यदि बाँसुरीका स्वर मृग या साँपको खीच सकता है, उन्हे मुग्ध एव बेताव कर सकता है, यदि वछडेकी आवाज गायको वहुत दूरसे खींच सकती है, यदि किसी प्रेमीका प्रेम हजारो कोससे किसीको घसीट सकता है, तो सृष्टिकी जरूरत या लोगोके भले-बुरे कर्म तथा प्रेम और द्वेष भगवानको उस शरीरमे क्यो नही खीच लेगे? न्याय और वैशेषिक दर्शनोने तो स्पष्ट कहा है कि लोगोके कर्मोसे ही परमाणुओमे क्रिया जारी होती है और वे आपसमे खिचके मिलते मिलते महाकाय पृथिवी, समुद्र आदि वना डालते है। फिर प्रलयके समय उलटी क्रिया होनेसे अलग होते-होते वही सवको मिटा देते है। ऐसी दशामे उन्ही कर्मोसे भगवानके शरीर क्यो न वन जाये? उनमे वह खिच जाय क्यो नही?

अब एक ही सवाल और रह जाता है। कहा जा सकता है कि शरीर बन जानेपर तो भगवानकी भी वही हालत हो जायगी जो साधारण जीवोकी। वही तकलीफ-आराम, वही माया-ममता और वही हैरानी-परीशानी होगी ही। इसका उत्तर गीताने चौथे अध्यायमें ही दे दिया है। वहाँ लिखा है कि, "अविनाशी एव जन्मशून्य होते हुए और सभी पदार्थोंका शासक रहते हुए भी मैं अपनी मायाके बलसे शरीर धारण करता हूँ। मगर अपने स्वभावको कायम रखता हूँ जिससे माया मुझपर अपना असर नही जमा पाती"—"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्। प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सभवाम्यात्ममायया" (४।६)। माया कहने और अपने स्वभावको कायम रखनेकी बात बोलनेका मतलब यह है कि एक तो भगवानका शरीर साधारण लोगो जैसा देखनेपर भी वैसा नही है; किन्तु मायामय और नटलीला जैसा है। नटकी कलाकी कितनी ही बातें असाधारण होती है। वह देखने में चाहे जो लगे, मगर उनकी हकीकत कुछ और ही होती है। देखनेवाले चकाचौध में पडके और का और समझ बैठते है। यही बात अवतारो के भी शरीरो की है। दूसरी बात यह है कि साधारण लोगोकी तरह माया-ममतामे वे दबते नही। उनका अपना स्वभाव, अपना ज्ञान, अपनी अनासक्ति और अपना बेलागपन बराबर कायम रहता है। खानपान आदि सारी क्रियाएँ उस शरीरके लिये आवश्यक होनेके कारण ही होती है जरूर। मगर उनमे वे अवतार लिपटते नही, चिपकते नही। वे इन सब बातोंसे बहुत ऊपर रहते है।

यह भी जान लेना जरूरी है कि गीतामे इस मायाको दैवी या अलौकिक शक्तिवाली कहा है, जिसमे हजारो गुण, खूबियाँ या करिश्मे होते है— "दैवी ह्येषा गुणमयी ममभाया" (७।१४)। इसीलिये उस मायाके चलते जो शरीर बनेगा उसमें मामूली नटोके करिश्मोसे हजार गुने अधिक

करिश्मे होगे—चमत्कार होगे। वह तो महान् इन्द्रजाल होगा। इसीके साथ-साथ यह भी वात है कि जिस तरह कर्मोकी व्यवस्था वताके भगवानके शरीर वननेकी रीति कही जा चुकी है वह असाधारण है, गैरमामूली है। इसीलिये जो निराले, अलौकिक काम अवतार करते है वह औरोमे पाये नही जाते, पाये जा नही सकते। यह तो सारी प्रणाली ही अलौकिक है, निराले कर्मोकी खेल है, भगवानकी लीला है। भगवान भी दिव्य है, निराले है। उनकी माया भी वैसी ही है। अनोखे कर्मोसे ही उनके शरीर वनते है, न कि मामूली कर्मोसे। इसीलिये गीताने कह दिया है कि इन सारी निराली वातोको जो ठीक-ठीक समझता है, भगवानके दिव्य जन्म एव दिव्य कर्मको जो वखूवी जान जाता है, मरनेके वाद वह पुनरपि जन्म नही लेके भगवान ही वन जाता है—"जन्म कर्म च मे दिव्यमेव यो वेत्ति तत्वत:। त्यक्त्का देह पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन" (४।९)।

अवतारोके सम्बन्धमे गीताकी वाते सामान्य रूपसे वताई जा चुकी। अव एक खास वात कहके यह प्रसग पूरा करना है। हमने जो परमाणुओंके जुटनेसे पृथिवी आदिके वनने और अलग होनेसे उनके नष्ट हो जाने तथा प्रलयके आ जानेकी वात कह दी है उससे यह तो पता लगी गया कि प्रलय और कुछ चीज नही है, सिवायं इसके कि वह कर्मोके, और इसीलिये सभी पदार्थोके जो उस समय रह जाते है, विरामका समय है, विश्रामका काल है। ससारमे विश्रामका भी नियम पाया जाता है। इसीलिये कर्मवादके माननेवालोने कर्मोके सिलसिलेमे ही उसे माना है। इसीलिये वे प्रलयको कर्मोका विश्राम काल और सृष्टिको उनके काम या फल देनेका समय मानते है।

इसी नियमके अनुसार जव-जव जहाँ-जहाँ समष्टि कर्मोकी प्रेरणासे अवतारोकी आवश्यकता अनिवार्य हो जाती है तव-तव तहाँ-तहाँ अवतार पाये जाते है, होते है। किसी खास देश या खास समयमे ही अवतारोका

## ५. गुणवाद और अद्वैतवाद

कर्मवाद एव अवतारवादकी ही तरह गीतामे गुणवाद तथा अद्वैतवादकी भी बात आई है। इनके सम्बन्धमे भी गीताका वर्णन अत्यन्त सरस, विलक्षण एव हृदयग्राही है। यो तो यह बात भी गीताकी अपनी नही है। गुणवाद दरअसल वेदान्त, साख्य और योगदर्शनोकी चीज है। ये तीनो ही दर्शन इस सिद्धान्तको मानते है कि सत्त्व, रज और तम इन तीन ही गुणोका पसारा, परिणाम या विकास यह समूचा ससार है—यह सारी भौतिक दुनिया है। इसी तरह अद्वैतवाद भी वेदान्त दर्शनका मौलिक सिद्धान्त है। वह समस्त दर्शन इसी अद्वैतवादके प्रतिपादनमे ही तैयार हुआ है। वेदान्तने गुणवादको भी अद्वैतवादकी पुष्टिमे ही लगाया है—उसने उसीका प्रतिपादन किया है। फिर ये दोनो ही चीजे गीताकी निजी होंगी कैसे? लेकिन इनके वर्णन, विश्लेषण, विवेचन और निरूपणका जो गीताका ढग है वही उसका अपना है, निराला है। यही कारण है कि गीताने इनपर भी अपनी छाप आखिर लगाई दी है।

### परमाणुवाद और आरंभवाद

असलमे प्राचीन दार्शनिकोमे और अर्वाचीनोमे भी, फिर चाहे वह किसी देशके हो, सृष्टिके सम्बन्धमे दो मत है—दो दल है। एक दल है न्याय और वैशेषिकका, या यो कहिये कि गौतम और कणादका। जैमिनि भी उन्हीके साथ किसी हद्दतक जाते है। असलमे उनका मीमासा-दर्शन तो प्रलय जैसी चीज मानता नही। मगर न्याय, तथा वैशेषिक उसे मानते है। इसीलिये कुछ अन्तर पड जाता है। असलमे गौतम और

कणाद दोईने इसे अपना मन्तव्य माना है। दूसरे लोग सिर्फ उनका साथ देते हैं। इसी पक्षको परमाणुवाद (Atomic Theory) कहते हैं। यह बात पाश्चात्य देशोमे भी पहले मान्य थी। मगर अब विज्ञानके विकासने इसे अमान्य बना दिया। इसी मतको आरम्भवाद (Theory of creation) भी कहते हैं। इस पक्षने परमाणुओंको नित्य माना है। हरेक पदार्थके टुकडे करते-करते जहाँ रुक जायें या यों समझिये कि जिस टुकडेका फिर टुकडा न हो सके, जिसे अविभाज्य अवयव (Absolute or indivisible particle) कह सकते हैं उसीका नाम परमाणु (Atom) है। उसे जब छिन्न-भिन्न कर सकते ही नही तो उसका नाश कैसे होगा? इसीलिये वह अविनाशी—नित्य—माना गया है।

परमाणुके माननेमे उनका मूल तर्क यही है कि यदि हर चीजके टुकडोंके टुकडे होते ही चले जायँ और कही रुक न जायँ—कोई टुकडा अन्तमे ऐसा न मान लें जिसका खड होई न सके—तो हरेक स्थूल पदार्थके अनन्त टुकडे, अवयव या खड हो जायँगे। चाहे राईको लें या पहाडको, जब खड करना शुरु करेंगे तो राईके भी असख्य खड होगे—इतने होगे जिनकी गिनती नही हो सकती, और पर्वतके भी असख्य ही होगे। वैसी हालतमें राई छोटी क्यो और पर्वत बडा क्यो? यह प्रश्न स्वाभाविक है। अवयवोंकी सख्या है, तो दोनोकी अपरिमित है, असख्य है, अनन्त है। इसीलिये बराबर है, एकसी है। फिर छुटाई, बडाई कैसे हुई? इसीलिये उनने कहा कि जब कही, किसी भागपर, रुकेंगे और उस भागके भाग न हो सकेंगे, तो अवयवोंकी गिनती सीमित हो जायगी, परिमित हो जायगी। फलत राईके कम और पर्वतके ज्यादा टुकडे होगे। इसीलिये राई छोटी हो गई और पर्वत बडा हो गया। उसी सबसे छोटे अवयवको परमाणु कहा है। परमाणुओंके जुटनेसे ही सभी चीजें बनी।

# गुणवाद और विकासवाद

दूसरा दल गुणवादियोका है। उनके गुणवादको परिणामवाद या विकासवाद (Evolution Theory) भी कहते है। इसे वही तीन दर्शन—वेदान्त, साख्य तथा योग—मानते है। इनके आचार्य है क्रमश व्यास, कपिल और पतजलि। ये लोग परमाणुओकी सत्ता स्वीकार न करके तीन गुणोको ही मूल कारण मानते है। इन्हे परमाणुओसे इनकार नही। मगर ये उन्हे अविभाज्य नही मानते है। इनका कहना यही है कि कोई भी भौतिक पदार्थ अविभाज्य नही हो सकता है। विज्ञानने भी इसे सिद्ध कर दिया है कि जिसे परमाणु कहते है उसके भी टुकडे होते है। परमाणुवादके माननेमे जो मुख्य दलील दी गई है उसका उत्तर गुणवादी आसानीसे देते है। वे तो यही कहते है कि पर्वतके टुकडे करते-करते एक दशा ऐसी जरूर आ जायगी जब सभी टुकडे राई जैसे ही हो जायँगे। उनकी सख्या भी निश्चित होगी, फिर चाहे जितनी ही लम्बी हो। अब आगे जो टुकडे हरेक राई जैसे टुकडेके होगे वह अनन्त—असख्य—होगे। नतीजा यह होगा कि इन अनन्त टुकडोसे हरेक राई या राई जैसी ही लम्बी-चौडी चीज तैयार होगी, जिसकी सख्या निश्चित होगी। अब यहीसे एक ओर राई रह जायगी अकेली और दूसरी ओर उसी जैसे टुकडोको, जिनकी सख्या निश्चित है, मिलाके पर्वत बना लेगे। इसीलिये वह बडा भी हो जायगा। फिर परमाणुका क्या सवाल ? गीतामें परमाणुवादकी गन्ध भी नही है—चर्चा भी नही है, यह विचित्र बात है।

इसीलिये परमाणुवाद और तन्मूलक आरभवादकी जगह उनने गुणवाद और तन्मूलक परिणामवाद या विकासवाद स्थिर किया। उनने अन्वेषण करके पता लगाया कि देखनेमे चाहे पृथिवी, जल आदि पदार्थ भिन्न हो; मगर उनका विश्लेषण (Analysis) करनेपर अन्तमे सबोमे तीन

ही चीजें, तीन ही तत्त्व, तीन ही मूल पदार्थ पाये जायँगे, पाये जाते है। इन तीनोको उनने सत्त्व, रजस् और तमस् नाम दिया। आमतौरसे इन्हें सत्त्व, रज, तम कहते है। इन्हीका सर्वत्र अखड राज्य है—सर्वत्र बोलबाला है। चाहे स्थूल पदार्थ अन्न, जल, वायु, अग्नि आदिको लें, या क्रिया, ज्ञान, प्रयत्न, धैर्य आदि सूक्ष्म पदार्थोंको लें। सबोमे यही तीन गुण पाये जाते हैं। इसीलिये गीताने साफ ही कह दिया है कि "आकाश, पाताल, मर्त्यलोकमें—ससार भरमें—ऐसा एक भी सत्ताधारी पदार्थ नही है जो इन तीन गुणोसे अछूता हो, अलग हो"—"न तदस्ति पृथिव्या वा दिवि देवेषु वा पुन । सत्त्व प्रकृतिजैर्मुक्त यदेभि स्यात्त्रिभिर्गुणै" (१८।४०)। यो तो १८वें अध्यायके ७वेंसे लेकर ४४तकके श्लोकोमें विशेष रूपसे कर्म, धैर्य, ज्ञान, सुख, दु खादि सभी चीजोका विश्लेषण करके उन्हें त्रिगुणात्मक सिद्ध किया है। सत्रहवे अध्यायके शुरूके २२ श्लोकोमें भी दूसरी अनेक चीजोका ऐसा ही विश्लेषण किया गया है। गीतामे और जगह भी गुणोकी बात पाई जाती है। चौदहवें अध्यायमें भी यही बात है। वह तो सारा अध्याय गुणनिरूपणका ही है। मगर वहाँ गुणोका सामान्य वर्णन है। इसका महत्त्व आगे बतायेगे।

यहाँपर आरभवाद और परिणामवाद या विकासवादके मौलिक भेदोको भी समझ लेना चाहिये। तभी आगे बढना ठीक होगा। आरभवादमें यही माना जाता है कि परमाणुओके सयोग या जोडसे ही पदार्थोंके बननेका काम शुरू होता है—आरभ होता है। वे ही पदार्थोंका आरभ या श्रीगणेश करते है। वे इस तरह एक नई चीज तैयार करते है जैसे सूत कपडा बनाते हैं। जो काम सूतोसे नही हो सकता है वह तन ढकनेका काम कपडा करता है। यही उसका नवीनपन है। मगर परिणामवाद या विकासवादमें तो किसीके जुटने, मिलने या सयुक्त होनेका प्रश्न ही नहीं होता। वहाँ पहलेसे बनी चीज ही दूसरे रूपमें परिणत हो जाती है, विक-

सित हो जाती है। जैसे दूध ही दहीके रूपमे परिणत हो जाता है। इस मतमे तीनो गुण ही सभी भौतिक पदार्थोके रूपमे परिणत हो जाते हैं। कैसे हो जाते हैं यह कहना कठिन है, असभव है। मगर हो जाते है यह तो ठोस सत्य है। जव परमाणुओको निरवयव मानते हैं, तो फिर उनका सयोग होगा भी कैसे? सयोग तो दो पदार्थोके अवयवोका ही होता है न? जब हम हाथसे लोटा पकडते है तो हाथके कुछ भाग या अवयव लोटेके कुछ हिस्सोके साथ मिलते है। मगर निरवय चीजे कैसे परस्पर मिलेंगी? इसीलिये आरभवादको माननेसे इनकार कर दिया गया। क्योकि इस मतके माननेसे दार्शनिक ढगसे पदार्थोका निर्माण सिद्ध किया जा सकना असभव जंचा।

## गुण और प्रधान

सत्त्व, रज, तमको गुण नाम क्यो दिया गया यह भी मजेदार वात है। जव यही सृष्टिके मूलमे है तव तो यही प्रधान ठहरे, मुख्य ठहरे, असल ठहरे, अग्रणी ठहरे। लेकिन इन्हे गुण कहते है! गुण या गौणका अर्थ है अप्रधान, जो मुख्य न हो, अग्रणी न हो। और प्रधान किसे कहा है? प्रकृतिको, जो इन तीनो गुणोके मिल जानेसे वन जाती है। जव ये तीनो गुण अपनी विषमता छोडके सम रूपसे मिल जाते है, जव इनकी साम्यावस्था हो जाती है तो उसे हा प्रकृति और प्रधान कहते है, हालाँकि वह पीछेकी चीज होनेसे गुण या गौण ठहरी। साम्यावस्था ही प्रलयकी अवस्था है। उस दशामे सृष्टिका काम कुछ भी नही हो पाता—सव कुछ खत्म हो जाता है।

यद्यपि चौदहवें अध्यायके ५वेसे २५वेतकके श्लोकोमे इन गुणोकी वात विशेष रूपसे कही गई है, तथापि ५-१८ तकके १४ श्लोकोके पढनेसे, अभी जो शका उठी है, उसका उत्तर मिल जाता है। दूसरी भी वातें

विदित हो जाती है। इसीलिये इस अध्यायका विशेष महत्त्व हमने माना है। इन्हें गुण क्यों कहते है, इस सम्बन्धमें पाँचवाँ श्लोक खास महत्त्व रखता है। मगर उसका अर्थ करने या और भी विचार करनेके पूर्व हमें सृष्टिकी एक बात जान लेनेकी है जो उससे पहलेके ३, ४ श्लोकोमें कही गई है। हम तो हमेशा सृष्टिके ही सम्बन्धमें सोचते है कि यह कैसे बनी, इसका विकास या पसारा कैसे हुआ। दर्शनोका श्री गणेश तो इसी बातको लेके होता ही है, यह पहले ही कहा जा चुका है। प्रलय या सृष्टि न रहनेकी दशाको तो हम पहले सोचते नही। वह तो हमारे सामनेकी चीज है नही। विचारके ही सिलसिलेमें जब उसकी बात पीछे आ जाती है, तो उसपर भी सोचते है। मगर उस दशामें भी वह महज खयाली और दिमागी चीज होती है। वह सामनेकी या ठोस वस्तु तो होती नही। फिर पहले उधर खयाल जाये तो कैसे ?

एक बात और है। सृष्टिका अर्थ ही है अनेकता, विभिन्नता (Diversity, heterogeneity)। इसी विभिन्नताको लेके हम शुरू करते है और अन्वेषण चालू होता है। प्रलय तो इससे उलटी चीज है। उसमें तो एकता और अभिन्नता है, एकरूपता और समता (Uniformity & homogeneity) है। जैसा कि गीताने चौदहवेंके ६-१८ श्लोकोमे बताया है, गुणोमें तो परस्पर विरोध है—वे ऐसे है कि एक दूसरेको खा जायें। यदि हम इन तीनोंके प्रतिनिधिके रूपमें पित्त, वात और कफको मान लें तो इनकी बात कुछ समझमें आ जाये। क्रमश सत्त्व, रज, तमकी जगह स्थूल शरीरमे पित्त, वात, कफ माने जाते भी है। पित्तादिमें सत्त्वादिकी ही यो भी प्रधानता रहती है। सत्त्वमे प्रकाश, उजाला, हल्कापन आदि माने जाते है। पित्तमें भी यही चीजे है। पित्त आग या गर्म है और उसीमें ये बाते होती है। रजमे क्रिया होती है और वायु तो सतत क्रियाशील है। तम भारी है और कफ भी जकडनेवाली चीज

है। शरीरके लिये जैसे पित्तादि तीनोकी जरूरत है, वैसे ही ससारके लिये सत्त्वादिकी आवश्यकता है। हाँ, पित्त आदिकी मात्रा निश्चित रहे तो ठीक हो, नही तो गडवड, बेचैनी, बीमारी हो। यही बात सत्त्वादि-की भी है। उनकी भी निश्चित मात्रा है और जहाँ वह बिगडी कि गडवड शुरू हुई। जैसे शरीरमे एक समय एक ही पित्त या वायु या कफ प्रधान होके रहता है, वैसी ही बात इन गुणोकी भी है। एक समय एक ही प्रधान रहेगा, बाकी उसीके मातहत। यही बात गीताने "रजस्तम-श्चाभिभूय" (१४।१०) श्लोकमे साफ कही है।

इन गुणोका परस्पर विरोध तो मानते ही है। वायु, कफ, पित्त, की भी यही बात है। मगर जरा और भी देख ले। ज्ञानके लिये, हल्केपन के लिये और प्रकाशके लिये क्रिया नही चाहिये, भारीपन नही चाहिये। ज्यादा हलचलसे प्रकाश रुक जाता है, ज्ञान नही हो पाता, मनकी एकाग्रता नही हो पाती। भारीपनसे या तो नीद आती है या बेचैनी होती है। ज्ञान है सत्त्वका काम। हल्का-पन और प्रकाश भी उसीका काम है। उसकी विरोधी क्रिया है रजका काम और भारीपन है तमका। साफ ही देखते है कि ज्ञान होनेसे मन उसमे लगे तो क्रिया रुक जाये। निद्रा या भारीपन भी जाता रहे। हल्कापन उसका विरोधी जो है। भारीपन हो तो सारी चीजे दवके रह जायँ, नीद आ जाय और क्रिया न हो सके। ज्ञानकी तो बात ही मत पूछिये। ६से ९ तथा ११से १८ तकके श्लोकोमे इसी बातका सुन्दर विवरण है।

मगर खूबी यह है कि इन तीनोका आपसमे समझौता है कि हम लोग मिलके रहेगे, नही तो किसीकी खैर नही। राजनीतिमे आज जो धर्मो और देशोका परस्पर विरोध है वह तो इनके सामने फीका पड जाता है—वह इनके विरोधके सामने कुछ नही है। मगर चाहे हमारी नादानीसे

धर्मविरोध और राजनीतिका विरोध मिटे या न मिटे, भाई-भाई की लडाइं खत्म हो या न हो। मगर इनने तो पारस्परिक विरोध मिटा लिया है, समझौता (pact) कर लिया है। इन्हें दुनियामें सर ऊँचा करके रहना जो है। और हमें ? हमे तो गैरोके जूते सहने और गुलामी करनी है न ? फिर हमारा मेल कैसे हो ? हाँ, तो इनने यह समझौता कर लिया है कि एक वक्तमे हममे एक ही प्रधान होगा, नेता होगा, मुखिया होगा, बाकी दो उसीके साथ, उसीके अनुकूल चलेगे, उसीकी मदद करेंगे, बावजूद इसके कि ये दोनो ही उसके सख्त दुश्मन है ! फिर मौके पर जरूरत के अनुसार हममें दूसरा प्रधान तथा लीडर होगा और पहला उस जगहसे हटेगा। उस समय भी बाकी दो उसी प्रधानके सहायक होगे। आवश्यकतानुसार उसे हटाके जब तीसरा मुखिया बनेगा तो बाकी दो उसके ही सहायक और साथी बनेंगे। यही है इन तीनो का अलिखित समझौता (Convention)। पूर्वोक्त दसवें श्लोकका यही अभिप्राय है।

यहीपर इन्हें गुण कहनेका एक कारण मिल जाता है। जैसा कि अभी कहा गया है, सृष्टिके रहते हुए इन तीनमें दो या अधिकाश हमेशा एकके पीछे रहते है, उसीके सहायक और मददगार होते है, यहाँतक कि अपना स्वभाव छोडके उसके विपरीत उसकी मदद करते है, जैसे बलपूर्वक किसी गुलामसे कोई काम कराया जाय। फर्क यही है कि इनके लिये बल प्रयोग नही है। दूरदेशीसे खुद ही ये वैसा करते है। और इनमें जो एक कभी प्रधान होता है वही पीछे अप्रधान बन जाता है। इस प्रकार देखते है कि ये तीनो गुण सृष्टिके मूल कारण होते हुए यद्यपि प्रधान कहे जाने योग्य है, तथापि इनकी असली खूबी है दूसरोके अनुयायी बनना, उनकी सहायता करना, उनके अनुकूल होना। सृष्टिकी दृष्टिसे इनकी यह खूबी जरूरी है भी। इसी विशेषताके खयालसे, इसी ओर खयाल आकृष्ट

करनेके ही लिये इन्हे गुण कहा है। दसवे श्लोकसे यही पता चलता है।

अब जरा दूसरा पहलू देखिये। यदि ५-९ श्लोकोको देखे तो पता चलता है कि ये तीनो ही गुण बाँधनेका काम करते हैं। कोई ज्ञान, सुख आदिमे मनुष्यको लिप्त करके, लिपटाके उन्ही चीजोसे उसे बाँध देते हैं; क्योकि किसी चीजकी ज्यादती ही ऐब है, बन्धन है, तो कोई क्रिया और लोभ आदिमे फँसा देते हैं। यह नही हुआ, वह नही हुआ, यह काम शेष है, वह बाकी है इसी हाय-हायमे जिन्दगी गुजरती है। जिस प्रकार सत्त्व गुण ज्ञान आदिमे फँसाके बाँध देता है, उसी प्रकार रज क्रिया और लोभ आदिमे। जालमे फँसानेका काम करनेमे ज्ञान, सुख, क्रिया, लोभ चारेकी जगह प्रयुक्त होते हैं। तमका तो फँसाना काम प्रसिद्ध ही है। वह तो हमेशाका ही बदनाम है। मगर जो उससे अच्छा रज है और जो महान् माने जानेवाला सत्त्व है वह भी फँसानेमे किसीसे पीछे नही है! "छोटी बहू तो छोटी, बडी बहू शुभानल्ला!" और यह तो जानते ही है कि फाँसने और बाँधनेका काम रस्सी करती है। फिर चाहे वह सूतकी बारीक या मोटी हो, या और चीजकी हो। संस्कृतमे रस्सीको गुण कहते है। इसी-का अपभ्रंश होके गोन शब्द हो गया। नाव खींचनेकी रस्सीको गोन कहते हैं। फलत फँसाने और बाँधनेकी ताकत इन गुणोमे होनेके ही कारण इन्हे गुण कहा है, ताकि लोग इनसे सजग रहे। ५-९ श्लोकोसे यह स्पष्ट है। ५वेके उत्तरार्द्धमे तो एक ही साथ तीनोको बाँधनेवाले कह दिया है—"निबध्नन्ति महाबाहो।" इसीलिये अर्जुनको कहा गया है कि इन गुणोसे ऊपर जाओ—"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन" (२।४५)। इसी चौदहवे अध्यायमे भी कहा है कि इन गुणोसे अलग ब्रह्मात्माको जानने-वालेकी मुक्ति होती है—"गुणेभ्यश्च परं वेत्ति" (१४।१९), तथा इन गुणोसे ऊपर उठनेपर ही मनुष्य ब्रह्मरूप हो जाता है—"स गुणान्स-मतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते" (१४।२६)।

गुणोमें यह परस्पर विरोध और मिलके काम करनेकी—दोनो—बात योगसूत्र—"परिणामतापसस्कारदु खैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दु खमेव सर्व विवेकिन "(२।१५)—में और इसके भाष्यमें भी अत्यन्त विशद रूपसे बताई गई है। वहीपर यह भी कह दिया है कि तीनो गुण परस्पर मिलके ही हर चीज पैदा करते हैं। इसीलिये तो सभी पदार्थोंमें तीनो ही गुण पाये जाते हैं। ईश्वरकृष्णने साख्यकारिकाओमें भी "सत्त्व लघु प्रकाशक-मिष्टमुपष्टम्भक चल च रज। गुरु वर्णकमेव तम प्रदीवच्चार्थतो वृत्ति" (१३)के द्वारा इन तीनो गुणोको परस्पर विरोधी बताके बादमें तीनोंके मिलके काम करनेका बहुत ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है। इनके परस्पर मिलनेका कारण भी बताया है। वह कहता है कि जिस प्रकार दीपकमें तेल, वत्ती और तेज या अग्नि तीनो ही परस्पर विरोधी है, तथापि तीनोको मिलाये बिना रोशनी होई नही सकती। आग वत्ती और तेल दोनोको ही खत्म करनेवाली है। तेल ज्यादा दे दिया जाय तो जलना वन्द हो जाय, बुझ जाय। वत्तीको भी भिगोके विकृत बना देता है। वत्ती भी तेलको सोखती है और अगर सख्त बत्ती या कपडेका वडल डाल दें तो चिराग बुझ जाये। मगर प्रयोजनवश तीनोको हिसाबसे रखके काम चलाते हैं। इस तरह परस्पर मेलसे ही दीपक जलता है। इसी प्रकार ससारके कामोके चलाने और गुणोके अपने स्वतत्र अस्तित्वके ही लिये तीनोका मिलके काम करना जरूरी हो जाता है।

## तीनों गुणोंकी जरूरत

अब हमे एक ही बातका विचार करना शेष है जिसका सृष्टिसे ही ताल्लुक है। बादमे प्रलयकी बात कहके आगे बढेंगे। सृष्टिकी रचना कैसे होती है यह बात तो प्रलयके ही निरूपणमे आगे आयेगी। अभी तो हमे यह देखना है कि इन तीनो परस्पर विरोधी गुणोकी क्या जरूरत

है। क्या सचमुच ही इन तीनोकी आवश्यकता है, यह प्रश्न होता है। उत्तरमें 'हाँ' कहना ही पडता है। यह कैसे है यह बात और ये तीनो एक दूसरेकी मदद कैसे करते है यह भी एक ही साथ मालूम हो जायगी। यदि सिर्फ सत्त्व रहे तो हम ज्ञान, प्रकाश तथा सुखसे ऊब जायँगे। एक ही चीजका निरन्तर होना (monotony) ही तो ऊबनेका प्रधान कारण है। इसीलिये तो परिवर्त्तन जरूरी होता है। ज्ञानके मारे न नींद, न खाना-पीना, न और कुछ होगा। प्रकाशमे चकाचौंध हो जायगी। हल्का होके यह ससार कहाँ उड जायगा कौन कहे? यदि सिर्फ तम हो तो भी दबते-दबते कहाँ जायगा पता नही। निरन्तर नींद, भारीपन, जडता, अँधेरा, अज्ञान कौन बर्दाश्त करेगा? पत्थरकी दशा भी उससे अच्छी होगी। ससारका कोई काम होगा ही नही। इसलिये यदि सत्त्व और तम दोनोको ही माने तो दोनो एक दूसरेको दबाके खत्म या बेकार (neutralised) कर देगे। फलत दोमे एकका भी काम न होगा। इसीलिये रज आके दोनोमें क्रिया पैदा करता है, दोनोको चलाता है; ताकि दोनो सारी ताकतसे आपसमे भिड न सके। न दोनो जमेगे, स्थिर होगे और न जमके लडेगे। फिर एक दूसरेको बेकार कैसे बनायेगे? यदि रज ही रहे और बराबर क्रिया होती रहे तो भी वही बेचैनी! सारी दुनिया जल्द घिस जाये, मिट जाये। इसलिये तम उसे दबाके बीच-बीचमे क्रिया-को रोकता है। सत्त्व क्रियाका पथ-प्रदर्शन करता है प्रकाश और ज्ञान देके। मगर जब तम प्रकाशको रोक देता है तो ज्ञानके अभावमे भी क्रिया रुकती है। ज्ञान और क्रियाके बिना कुछ होई नही सकता। अत्यन्त हलकी चीज स्थिर हो सकती ही नही। फिर उसमे ज्ञान या क्रिया हो कैसे? उसे वजनी बनानेके लिये भी तो तमोगुण चाहिये ही। इस प्रकार तीनोकी जरूरत और परस्पर सहायता स्पष्ट सिद्ध है।

## सृष्टि और प्रलय

रह गई सृष्टिकी प्रारम्भिक दशा तथा प्रलयकी बात। जब सृष्टिका विचार करने लगे तो अन्तमें यह बात उठी कि जब यह चीजें न थीं तो क्या था ? आखिर न रहनेपर ही तो बननेका सवाल पैदा होता है। यह भी बात है कि जब ये गुण परस्पर विरोधी हैं तो यदि ये कभी स्वतत्र बन जायें और एक दूसरेकी न सुनें, तब क्या होगा ? यह निरी खयाली बात तो है नही। इनके प्रतिनिधि कफ, वायु, पित्त जब स्वतत्र हो जाते और एक दूसरेकी नही सुनते तो त्रिदोष और सन्निपात होता है और मौत आती है। वही जो कभी एक दूसरेके अनुयायी थे, आज आजाद हो गये ! यही बात गुणोमें हो तो ? और जब विश्रामका नियम ससारमें लागू है तो ये भी तो विश्राम करेंगे ही, फिर चाहे देरसे करें या जल्द करें। उस समय क्या हालत होगी और ये किस तरह रहेंगे ? और जब विश्राम-का समय पूरा होगा तब कैसे, क्या होगा ? इसी ढगके सवाल उठनेपर सृष्टि तथा प्रलयकी बात आ जाती है।

दार्शनिकोने इन प्रश्नोपर बहुत ही उधेड-बुन करके जवाब दिया, कि जबतक ये गुण ऐसेके ऐसे ही रहेंगे तबतक इनका काम जारी रहेगा ही, तबतक तो चूहा बिल खोदता ही रहेगा। इनका स्वभाव ही जो यह ठहरा। इसीलिये, और कभी तन जानेपर भी, तीनो आजाद हो जायँगे, समान हो जायँगे। फिर तो कोई काम हो न सकेगा। बिना विषमताके, बिना एक दूसरेकी मातहतीके तो सृष्टिका काम चल सकता है नही और यहाँ तो "नाईकी बारातमें सब ठाकुर ही ठाकुर ठहरे।" फलत आजादी या साम्यावस्थामें ही विश्राम होगा और यह सारा पसारा रुका रहेगा। क्योकि "रहे बाँस न बाजे बाँसुरी।" उसी साम्यावस्थाको प्रलय कहते है, प्रकृति कहते है और प्रधान भी कहते है। ये गुण उसी हालतमें जाते

और फिर वहीसे लौटते हैं। इनका यह चरखा रह-रहके चालू रहता है। उससे आगे तो इनकी पहुँच है नही। वही इनकी अन्तिम दशा है। इसीलिये उसे प्रधान कहते हैं। प्रधान कहते हैं उसे जो सबके अन्तमे हो, आखिरमे हो। उसी प्रधानकी अपेक्षा इनको गुण कहते हैं। क्योकि इनकी आखिरी कृति वही है जिसे ये बनाते हैं अपनी प्रधानता, मुख्यताको गँवाके। जब इनकी क्रिया रही ही नही तो तने भले ही हो और आजाद भले ही रहे, फिर भी इनका पता कहाँ रहता है ? वही प्रधान फिर इन्ही गुणोके द्वारा अपना विस्तार करती है, सारा पसारा फैलाती है। इसीसे उसे प्रकृति कहते हैं। प्रकृतिका अर्थ ही है कि जो खूब करे, ज्यादा फैले-फैलाये।

कागज काटनेके लिये जो मैशीन (Cutting machine) आजकल बनी है उसकी एक खूबी यह है कि हैंडिल—चलानेवाला भाग—पकड़के मैशीन चलाते रहिये और उसकी तेज धार कागजतक पहुँचके उसे काट देगी। फिर ऊपर वापस भी चली जायगी। चलानेवालेका काम बराबर एक ही तरह चलता रहेगा। वह जरा भी इधर-उधर या उलट-फेर न करेगा। मगर उसी चलानेकी क्रिया—कर्म—के फलस्वरूप तेज धार ऊपरसे नीचे उतरके काटेगी और फिर ऊपर लौट जायगी। जितनी देरतक चलाते रहिये यही आना-जाना जारी रहेगा। सृष्टि और प्रलयकी भी यही हालत है। हमारे काम, कर्म (actions) ही सब कुछ करते हैं। उन्हीके करते कभी सृष्टि और कभी प्रलय होती है। ये दोनो चीजे परस्पर विरोधी हैं, जैसे मैशीनकी धारका नीचे आना और ऊपर जाना। मगर उन्ही—एक ही—कर्मोंके फलस्वरूप ये दोनो ही होती हैं। कभी भी जीवोको विश्राम मिल जाता है जिसे प्रलय कहते है। गीताने उसीको 'कल्प-क्षय' (९।७) भी कहा है। उसे भूतसम्प्लव भी कहते हैं। फिर कभी सृष्टिका काम चालू हो जाता है। प्रलय शब्द भी गीता (१४।२) मे आया ही है।

यद्यपि यह खयाल हो सकता है कि सबोकी दशा तो एकसी नही है। सबोके कर्मों, कर्मफलभोगो तथा अन्य बातोमें भी कोई समानता तो है नही। यहाँ तो "अपनी-अपनी डफली, अपनी-अपनी गीत", है। यहाँ तो "मुडेमुडे मतिर्भिन्ना तुडे तुडे सरस्वती।" फिर यह कैसे सभव है कि सभी जीव किसी समय विश्राममे चले जायें और प्रलय हो जाय ? यदि गीताने ऐसा माना है और अगर दर्शनोने भी इसे स्वीकार किया है तो इससे क्या ? सभीका कार्य-विराम एक ही साथ हो, यह क्या बात ? ससार कोई एक कारखाना या एक ही कम्पनीके अनेक कारखानोका समूह तो है नही, कि निश्चित समयपर कामसे छुट्टी मिल जाये, या काम बन्द हो जाया करे। यहाँ तो साफ ही उल्टी बात देखी जाती है। तब कल्पक्षय-की बात कैसे मानी जाय ? प्रलय क्यो मानी जाय ?

बात तो है कुछ पेचीदगीसे भरी जरूर। मगर असभव नही है। ऐसी बातें दुनियामें होती रहती है। यो तो रातमें विराम और दिनमें कामकी बात आमतौरसे सर्वत्र है। यह तो सभीके लिये है। मगर जहाँ दिन रात बडे होते है, जैसे उत्तर ध्रुवके आसपास, वहाँ भी और नही तो छे मासका दिन एव उतनी ही लम्बी रात तो होती ही है। प्रकृति की ओरसे जब तूफान आता है, बर्फीली आँधियाँ चलती है तब तो सबोको एक ही साथ काम बन्द कर देना ही पडता है। मगर इन सबोको न भी मानें और अगर इनमे भी कोई गडबड सूझे, तो भी तो यह बात देखी जाती है कि किसी गोल घेरे या रास्तेपर चक्कर लगानेवाले यद्यपि भिन्न-भिन्न चालोवाले होते है, फिर भी ऐसा मौका आता है कि कभी न कभी सभी एक साथ मिल जाते है। फिर फौरन आगे-पीछे हो जाते है। यो तो आमतौरसे आगे-पीछे चलते ही रहते है। मगर चक्कर लगाते-लगाते बहुत चक्करोके बाद देर या सबेर एक बार तो सभी इकट्ठे होई जाते है। फिर आगे-पीछे होके चलते-चलते उतनी ही देर बाद दूसरी-तीसरी

बार भी एकत्र हो जाते है। यही सिलसिला चलता रहता है। बस, यही हालत प्रलय या कल्पक्षयकी मानिये। इसीलिये हिसाब लगाके एक निश्चित समयके ही अन्तरपर इसका बारबार होना गीताने भी माना है। इस प्रलयको गीताने रात भी कहा है (८।१७-१९मे)।

हाँ, तो उस प्रलयकी दशासे सृष्टिका श्रीगणेश कैसे होता है यह बात भी जरा देखे। गीताके (७।४-६), (८।१७-१९), (९।७-१०), (१३।५) तथा (१४।३-५)मे यह बात खास तौरसे लिखी गई है। यो छिट्टफुट्ट एकाध बात प्रसगसे कह देनेका तो कुछ कहना ही नही। आठ और नौ अध्यायोमें कुछ ज्यादा प्रकाश डाला गया है। जीवोके कर्मोकी मजबूरीसे उन्हे बार-बार जनमना-मरना पडता है। प्रलयके बाद भी यही चीज चालू रहती है, यही गोलमोल बाते वहाँ कही गई है। बेशक, चौदहवे अध्यायमें सृष्टिके श्रीगणेशकी खास बात कही गई है और बताया गया है कि यह किस तरह होती है। मगर इसे जब हम सातवे और तेरहवें अध्यायके वर्णनसे मिलाके तीनोका अर्थ एक साथ करते है और चौदहवेके समूचे गुण-वर्णनको भी उसीके साथ ध्यानमे रखते है तभी इस बातपर पूरा प्रकाश पडता है। चौदहवेके ५वे श्लोकमे कहा गया है कि "तीनों गुण प्रकृतिसे निकलते है"—"गुणा प्रकृतिसभवा।" निकलनेका अर्थ तो कही चुके है कि साम्यावस्था छोडके अपनी विषम अवस्थामे—अपनी असली सूरतमे—आते है; न कि पैदा होते है। कैसे बाहर आते है यही बात उससे पहलेके दो श्लोकोमे माँके पेटसे बच्चेके बाहर आनेका दृष्टान्त देकर बताई गई है। उसीका विशेष विवरण सातवे एव तेरहवें अध्यायमें दिया गया है।

यह तो पहले ही कह चुके है कि प्रधान या प्रकृति तो साम्यावस्था है, एक रसता है, अविभिन्नता (homogeneity) है। उसके विपरीत उस अवस्थाको भग करके ही सृष्टि होती है जिसमे अनेकता और विभिन्नता

न तो किसीसे पैदा होता है और न किसीको पैदा करता है। वह न प्रकृति है, न विकृति। प्रकृति कहते हैं कारणको और विकृति कहते हैं कार्यको। वह दोमे एक भी नही है। रह गये ससारके पदार्थ। सो इन्हें तीन दलोमें बाँटा है। पहली है मूल प्रकृति या प्रधान। गीताने इसीको प्रकृति या महद्ब्रह्मके अलावे भूतप्रकृति भी "भूतप्रकृतिमोक्ष च" (१३।३४)में कहा है। अपरा भी कहा है जैसा कि आगे लिखा है। इससे पचभूत पैदा होते है। इसीसे इसे भूतप्रकृति कहा है। यह किसीसे पैदा तो होती नही; मगर खुद पैदा करती है—यह किसीका कार्य नही है। इसीलिये इसे अविकृति भी कहा है। दूसरे दलमे महान् आदि सात आ जाते हैं। इन्हे प्रकृति-विकृति कहा है। ये खुद तो आगेके सोलह पदार्थोंको पैदा करते हैं। इसीलिगे प्रकृति या कारण कहाये। मूल प्रकृतिसे ही ये पैदा होनेकी वजहसे विकृति भी कहे गये। अब इनसे जो सोलह पदार्थ पैदा हुए वह विकृति कहे जाते है। क्योकि वे इनसे पैदा होनेके कारण ही कार्य या विकृति हो गये। मगर उनसे दूसरी चीजे बनती है नही। दस इन्द्रियो या पाँच प्राणोसे अन्य पदार्थ पैदा तो होते नही। अन्त.करण या बुद्धिसे भी नही पैदा होते। चक्षु आदि बाहरी इन्द्रियाँ है और बुद्धि या मन भीतरकी। इसीलिये उसे अन्त करण कहते है। करण नाम है इन्द्रियका। अन्त का अर्थ है भीतरी। गीताने पुरुषको मिलाके यह चार विभाग नही किया है। किन्तु सभी को—चारोको—ही प्रकृति कहके जीव या पुरुषको परा या ऊँचे दर्जेकी और शेष तीनको अपरा या नीचे दर्जेकी प्रकृति "अपरेयमितस्त्वन्या" (७।५) आदिमे कहा है।

दोनोमें यह दो या चार भेदोका होना कोई खास वात नही है। मगर पुरुषको भी प्रकृति कहना जरूर निराला है। क्योकि साख्यने साफ ही कहा है कि वह प्रकृति नही है। असलमे गीता वेदान्तदर्शनको ही मानती है, न कि साख्यको। इसीलिये साख्यकी जो बाते वेदान्तसे मिलती हैं

उन्हें तो माने लेती है। लेकिन जो नही मिलती है वहाँ स्वतत्र वात कहती है। वेदान्तने तो माना ही है कि पुरुष या भगवानने ही पहले सोचा, पीछे ससार बनाया। वेदान्तदर्शनके दूसरे सूत्र "जन्माद्यस्य यत "में साफ ही माना है कि भगवानसे ही आकाशादि पदार्थोका जन्म होता है। इसलिये वही कारण है। यदि वह कारण न होता तो उसे सिद्ध करना असभव था। उसकी तव जरूरत ही क्या थी ? वेदान्तने जीवको भगवानका रूप ही माना है और दोनोको ही पुरुष कहा है। हाँ, व्यष्टि और समष्टिके भेदके हिसावसे पर पुरुष एव अपर पुरुष या पुरुष तथा पुरुषोत्तम यही दो नाम उसने जीव और ईश्वरको अलग-अलग दिये है। गीताने भी "उत्तम पुरुषस्त्वन्य" (१५।१७)में यही कहा है। इसीलिये "मम योनि" (१४।३-४) आदिमें पुरुषको ही सृष्टिका पिता और प्रधान या प्रकृतिको माता कहा है। गीता सृष्टि-रचनाको अन्धेका खेल नहीं मानती। किन्तु सोच-समझके वनाई चीज (Planned creation) मानती है।

## सृष्टिका क्रम

सोचने-समझनेका यह मतलव नही कि चलना, फिरना, उठना, बठना, खेती, गिरस्ती आदि हरेक कामोको हरेक आदमियोंके बारेमें पहलेसे ही तय कर लिया था। यह तो भाग्यवाद (fatalism) तथा 'ईश्वरने जो तय कर दिया वही होगा' (determinism)वाली वात है। फलत इसमें करनेवालोकी जवाबदेही जाती रहती है। वह तो मैशीनकी तरह ईश्वरकी मर्जी पूरा करनेवाले मान लिये जाते है। फिर उनपर जवाबदेही किसी भी कामकी क्यो हो और वे पुण्य-पापके भागी क्यो वनें ? मैशीनकी तो यह बात होती नही और इस काममें वे ठहरे मैशीन ही। सोचने-समझनेका सिर्फ यही आशय है कि मूलस्वरूप

कौन-कौन पदार्थ कैसे बनें कि यह सृष्टि चालू हो, इसका काम चले, यही बात उसने सोची और इसीके अनुसार सृष्टि बनाई। यह तो हमारा काम है कि हममे हरेक आदमी खुद भला-बुरा सोचके अपना रोजका काम करता रहे। इसीलिये तो हमे बुद्धि दी गई है। उसे देकर ही तो ईश्वर जवाबदेहीसे हट गया और उसने हमपर अपने कामोकी जवाबदेही लाद दी।

अब जरा यह देखे कि ईश्वरके सोचने और तदनुसार सृष्टि बनानेके मानी क्या है। वह हमारे जैसा देहधारी तो है नही कि इसी प्रकार सोचे-विचारेगा। यह तो कही चुके है कि प्रलयमे प्रधान या प्रकृति समान थी, एक रूप थी। उसमें अनेकता और विभिन्नता लानेके लिये सबसे पहले क्रिया होना जरूरी है। क्योकि क्रियासे ही अनेकता और विभिन्नता होती है। मिट्टीका एक धोधा है। क्रियाके करते ही उसे अनेक टुकडोमे कर देते या उससे अनेक बर्त्तन तैयार कर लेते है। मगर क्रियाके पहले जानकारी या ज्ञान जरूरी है। यह तो हम कही चुके है कि सोच-विचारके यह सृष्टि बनी है। एक बात यह है कि यदि फिजूल और बेकार चीजे न बनानी हो, साथ ही, सृष्टिकी सभी जरूरते पूरी करनी हो तो जो कुछ भी किया जाय वह सोच-विचारके ही होना चाहिये। कुम्हार सोच-साचके ही बर्त्तन बनाता है। किसान खेती इसी तरह करता है। नही तो अन्धेरखाता ही हो जाय और घडेकी जगह हाडी तथा गेहूँकी जगह मटरकी खेती हो जाय। यही कारण है कि साख्यने ईश्वरको न मानके भी सृष्टिके शुरूमें यह सोचना-समझना या ज्ञान माना है। मगर ज्ञान तो जड प्रकृतिमे होगा नही और जीवका काम साख्यके मतसे सृष्टि करना है नही। इसीलिये वेदान्तने और गीताने भी सृष्टिके मूलमे ईश्वरको माना है। वह है भी परम-आत्मा या श्रेष्ठ-आत्मा।

वह ज्ञान होगा भी हम लोगोके ज्ञान जैसा कुछ बातोका ही नही, छोटा या हलकासा ही नही। वह तो सारी सृष्टिके सम्बन्धका होगा,

व्यापक और वडेसे बडा होगा। इसीलिये उसे महत् या महान् कहा है। उसके वाद जो क्रिया होगी उसीको अहम् या अहकार कहा है। यह हम लोगोका अहकार नही होके सृष्टिके मूलकी क्रिया है। समष्टि या व्यापक ज्ञानकी ही तरह यह भी व्यापक या समष्टि क्रिया है। नीदके वाद जव ज्ञान होता है तो उसके वाद पहले अहम् या मै और मेरा होनेके वाद ही दूसरी क्रिया होती है, और प्रलय तो नीद ही है न ? इसीलिये उसके वादकी समष्टि क्रियाको अहकार नाम दिया गया है। इस अहकार या क्रियाके वाद प्रकृतिकी समता खत्म होके विभिन्नता आती है और आकाश, वायु, तेज (प्रकाश), जल, पृथिवी इन पाचो की सूक्ष्म या अदृश्य मूर्त्तियाँ (शकलें) वनती है। इन्हींसे आगे सृष्टिका सारा पसारा होता है।

इन पाँच सूक्ष्म पदार्थों या भूतोके भी, जिन्हें तन्मात्रा भी कहते है, वही तीन गुण होते है, जैसा कि कह चुके है। उनमे पाँचोके सात्त्विक अशो या सत्त्वगुणोसे क्रमश श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना, घ्राण ये पाँच ज्ञान-इन्द्रियाँ वनती है, जिनसे शब्दादि पदार्थोके ज्ञान होते है। ज्ञान पैदा करनेके ही कारण ये ज्ञानेन्द्रियाँ कहाती है। उन्ही पाँचोके जो राजस भाग या रजोगुण है उनसे ही क्रमश वाक्, पाणि (हाथ), पाँव, मूत्रेन्द्रिय, मलेन्द्रिय ये पाँच कर्म-इन्द्रियाँ वनती है। इन पाँचोसे ज्ञान न होके कर्म या काम ही होते है। फलत ये कर्मेन्द्रियाँ कही गई। और इन पाँचोके रजो-गुणोको मिलाके पाँच प्राण—प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान—वने। ये पाँचोके रजोगुणोके सम्मिलित होनेपर ही वनते है। उसी तरह पाँचोके सत्त्वगुणोको सम्मिलित करके भीतरी ज्ञानेन्द्रिय या अन्त करण वनता है, जिसे कभी एक, कभी दो—मन और वुद्धि—और कभी चार—मन, वुद्धि, चित्त, अहकार—भी कहते है। उसके ये चार भेद चार कामोके ही चलते होते है, जैसे पाँच काम करनेसे ही एक ही प्राण पाँच प्रकारका हो गया। हमें यह न भूलना होगा कि जव हम सत्त्व या रजो-

गुणकी वात करते है तो यह मतलब नही होता है कि खाली वही गुण रहते है। यह तो असभव है। गुण तो तीनो ही हमेशा मिले रहते है। इसीलिये इन्हें एक दूसरे से चिपके हुए—"अन्योन्यमिथुनवृत्तय —" साख्य कारिका (१२)में लिखा है। इसलिये सत्त्व कहनेका यही अर्थ है कि उसकी प्रधानता रहती है। इसी प्रकार रजका भी अर्थ है रजोगुण-प्रधान अश। दोनोमें हरेकके साथ वाकी गुण भी रहते है सही, मगर अप्रधान रूपमे।

अव वचे पाँचो तन्मात्राओके तम प्रधान अश जिन्हे तमोऽश या तमोगुण भी कहते है। उन्हीसे ये स्थूल पाँच महाभूत—आकाश आदि—वने। जो पहले सूक्ष्म थे, दीखते न थे, जिनका ग्रहण या ज्ञान होना असभव था, वही अब स्थूल हो गये। जैसे अदृश्य हवाओ—औक्सिजन तथा हाईड्रोजन—को विभिन्न मात्राओ मे मिला के दृश्यजल तैयार करते है, ठीक वैसे ही इन सूक्ष्म पाँचो तन्मात्राओके तमप्रधान अशोको परस्पर विभिन्न मात्रामे मिलाके स्थूल भूतोको वनाया गया। इसी मिलानेको पचीकरण कहते है। पचीकरण शब्दका अर्थ है कि जो पाँचो भूत अकेले-अकेले थे—एक-एक थे—उन्हीमे चार दूसरोके भी थोडे-थोड़े अश आ मिले और वे पाँच हो गये, या यो कहिये कि वे पाँच-पाँचकी खिचड़ी या समिश्रण वन गये। दूसरे चारके थोडे-थोडे अश मिलानेपर भी अपना-अपना अश तो ज्यादा रहा ही। हरेकमे आधा अपना रहा और आधेमें शेष चारके वरावर अश। इसीलिये अपने आधे भागके करते ही हरेक भूत अलग-अलग रहे। नही तो पाँचोमे कोई भी एक दूसरेसे अलग हो नही पाता। फलत. यह हालत हो गई कि पृथिवीमे आधा अपना भाग रहा और आधेमे शेष जल आदि चार रहे। यानी समूची पृथिवीका आधा वह खुद रही और वाकी आधेमे शेष चारो वरावर-वरावर रहे। इस तरह समूचीमें इन प्रत्येकका आठवाँ भाग रहा। इसीलिये उसे

पृथिवी कहते ही रहे। जल आदिकी भी यही बात समझी जानी चाहिये।

यह ठीक है कि इस विवरणमें साख्य और वेदान्तमे थोडासा भेद है। पाँच प्राणोको साख्यवाले पाँच कर्म-इन्द्रियोंसे जुदा नही मानते। इसलिये उनके मतसे पाँच तन्मात्रा, दस इन्द्रियाँ और अन्त करण यही सोलह पदार्थ अहकारके बाद बने। उनके मतमें पाँच तन्मात्राकी ही जगह पाँच महाभूत हैं। क्योकि तन्मात्राओके तामसी अशोको ही मिलाने से ये पाँच भूत हुए। इसीलिये वे तन्मात्राओ और भूतोको अलग-अलग नही मानते। महाभूतोके बननेके बाद तन्मात्राएँ तो रह जाती भी नही। उनके सात्त्विक तथा राजस भागोसे ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ, प्राण और अन्त करण बने। बचे-बचाये तामस अशसे महाभूत। बाकी ससार तो इन्हीं महाभूतोका ही पसारा या विकास है, परिणाम है, रूपान्तर है, करिश्मा है। इस प्रकार उनके ये सोलह तत्त्व या विकार सिद्ध होते हैं। वेदान्तियोने पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि ये दो अन्त-करण—और कभी-कभी मन, बुद्धि, चित्त, अहकार ये चार अन्त करण—मानके सत्रह या उन्नीस पदार्थ मान लिये। पाँच भूतोको मिला लेनेपर वे चौबीस हो गये। महान् तथा अहकारको जोडनेपर छब्बीस और प्रकृतिको लेके सत्ताईस हो गये। साख्यके मतसे तेईस रहे। मगर यह तो कोई खास बात है नही। यह ब्योरेकी चीज है। ये पदार्थ तो सभी—दोनो ही—मानते ही है।

एक बात और। हम पहले कह चुके है कि गीताके मतसे गुण प्रकृतिसे निकले है, बने है। मगर हमने अभी-अभी जो कहा है उससे तो गुणोंके बजाय बुद्धि, ज्ञान या महत्, अहकार और पचतन्मात्राएँ—यही चीजें—प्रकृतिसे निकली है। भले ही यह चीजे गुणमय ही हो। मगर गुणोका निकलना न कहके इन्हीका निकलना कहनेका मतलब क्या है ? बात तो सही है। गुणोका बाहर आना सीधे नही कहा गया है। लेकिन

ज्ञान या महत् है क्या चीज, यदि सत्त्वगुण नही है ? ज्ञान तो सत्त्वका ही रूप है न ? उसी प्रकार अहकार है क्या यदि रजोगुण या क्रिया है नही ? अहकारको तो समष्टि क्रिया ही कहा है और क्रिया रजोगुणका ही रूप है न ? अब रह गये पचभूत जिन्हे तन्मात्रा कहते है। वह तो तमके ही रूप है। आगे जब पचीकरणके द्वारा वे दृश्य और स्थूल बनते है तब तो उन्हे तमका रूप कहते ही है। फिर पहले भी क्यो न कहे ? यह ठीक है कि तमके साथ भी सत्त्व और रज तो रहेगे ही, जैसे इनके साथ तम भी रहता ही है। इसीलिये तो पचतन्मात्राओके सत्त्व-अशसे ज्ञानेन्द्रियाँ और रज-अशसे कर्मेन्द्रियाँ बनती है। इसलिये यह तो निर्विवाद है कि "गुणाः प्रकृतिसभवा"—प्रकृतिसे गुण ही बाहर होते है।

चौदहवे अध्यायके ३, ४ श्लोकोमे जो गर्भाधानकी बात कही गई है उसका मतलब भी अब स्पष्ट हो जाता है। गर्भाधानके बाद ही गर्भाशयमे क्रिया पैदा होके सन्तानका स्वरूप धीरे-धीरे तैयार होता है। उसके पहले उसमे बच्चेका नाम भी नही पाया जाता। ठीक उसी तरह महान् या समष्टि ज्ञानरूप चिन्तन, सकल्प या सोच-विचारके बाद ही प्रकृतिके भीतर अहकार या समष्टि क्रिया पैदा होके पचतन्मात्रादिकी रचना होती है। जबतक भगवानके इस समष्टि ज्ञानका सम्बन्ध प्रकृतिसे नही होता, जबतक वह खयाल नही करता, तबतक प्रकृतिमे कोई भी क्रिया—मथन—पैदा नही होती जिससे सृष्टिका प्रसार हो सके। प्रकृतिकी शान्ति, समता या एकरसता—घोर गभीरता—भग होती है अहंकार रूप मथन क्रिया हीसे और वह पैदा होती है महत्तत्त्व, महान् या समष्टि ज्ञानके बाद ही। इसीको उपनिषदोमे ईक्षण या सकल्प कहा है, जैसा कि छान्दोग्यमे "तदैक्षत बहुस्या प्रजायेय" (६।२।३)। 'प्रजायेय' शब्दका अर्थ है कि प्रजा या वश पैदा करे। इससे गर्भाधानकी बात सिद्ध हो जाती है। गीताने भी यही कहा है। ीतामे गर्भाधानके बाद 'सभव.'

और 'मूर्त्तय' लिखनेका मतलब भी ठीक ही है। स्वरूप ही तैयार होते है, पैदा होते है, आकृतियाँ बनती है।

हमने जो प्रकृति, महान्, अहकार, पचतन्मात्रा आदिकी बात कही है उसका मतलव अब साफ हो गया। यहाँ सचमुच ही बच्चे या फलकी तरह पैदा होनेका सवाल तो है नही। प्रकृति तो पहलेसे ही होती है। महान्का उसीसे पीछे सम्बन्ध होता है। इसीलिये प्रकृतिके बाद ही उसका स्थान होनेसे प्रकृतिसे उसकी उत्पत्ति अकसर लिखी मिलती है। महान्के बाद ही आता है अहकार। इसीलिये वह महान्से पैदा होनेवाला माना जाता है, हालाँकि वह प्रकृतिकी ही क्रिया है। उसके बाद पच-तन्मात्राये प्रकृतिसे ही बनती है। मगर कहते है कि अहकारसे तन्मात्रायें पैदा हुई। यह तो कही चुके है कि ये तन्मात्रायें महाभूतोके सूक्ष्म रूप है। इसीलिये इन्हें भूत और महाभूत भी कहा करते है।

तेरहवें अध्यायके "महाभूतान्यहकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च। इन्द्रियाणि दशैक च पच चेन्द्रियगोचरा" (१३।५)का अर्थ यह है कि पाँच महाभूत (तन्मात्राएँ), अहकार, समष्टि बुद्धि (महान्), अव्यक्त या प्रकृति (प्रधान), ग्यारह इन्द्रियाँ—दस बाहरी और एक अन्त करण—और इन्द्रियोके पाँच विषय, यही क्षेत्रके भीतर आते है, क्षेत्र कहे जाते है। क्षेत्रका अर्थ है शरीर। मगर यहाँ समष्टि शरीर या सृष्टिकी बुनियादी —शुरूवाली—चीजसे मतलब है। इस श्लोकमें वही बाते है जिनका वर्णन अभी-अभी किया है। श्लोकके पूर्वार्द्धमें तन्मात्राओसे ही शुरू करके उलटे ढगसे प्रकृतितक पहुँचे है। मगर ठीक क्रम समझनेमें प्रकृतिसे ही शुरू करना होगा। श्लोकमे क्रमसे तात्पर्य नही है। वहाँ तो कौन-कौनसे पदार्थ क्षेत्रके अन्तर्गत है, यही बात दिखानी है। इसीलिये उत्तरार्द्धमें ग्यारह इन्द्रियाँ आई है। नही तो उलटे क्रममे इन्द्रियोंसे ही शुरू करते। इन्द्रियोके बाद जो उनके पाँच विषय लिखे है उनका कोई सम्बन्ध सृष्टि-

क्रमसे या उसके मूलपदार्थोंसे नही है। पाँच तन्मात्रा, महान् आदिके अलावे क्षेत्रके अन्तर्गत जो विषय, राग, द्वेष आदि अनेक चीजे आगे गिनाई गई है उन्हीमे ये पाँच विषय भी है।

सातवे अध्यायमे इन्द्रियोका नाम न लेकर शेष पदार्थोंका उल्लेख "भूमिरापोनलो वायु. ख मनो बुद्धिरेव च। अहकार इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा" (७।४) श्लोकमें आया है। जैसा कि पहले कहा गया है, यह अपरा या नीचेवाली प्रकृतिका आठ भेद या प्रसार बताया गया है। तेरहवे अध्यायके "महाभूतानि"की जगह यहाँ पाँचो भूतोका नाम ही ले लिया है "भूमि, जल, अनल (तेज), वायु और आकाश (ख)।" मगर उत्तरार्द्धमे जो "मनो बुद्धिरेव च अहकार" शब्दोमे मन, बुद्धि और अहकारका नाम लिया है उसके समझनेमे थोडी दिक्कत है। जिस क्रमसे तेरहवे अध्यायमे नीचेसे ही शुरू किया है, उसी क्रमसे यहाँ भी नीचेसे ही शुरू है, यह तो साफ है। मगर पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाशके बाद तो क्रम है अहकार, महान् और प्रकृतिका। इसलिये मन, बुद्धि, अहंकारका अर्थ क्रमश. अहकार, महान् और प्रकृति ही करना होगा। दूसरा चारा है नही। इसमें बुद्धिका अर्थ महान् तो ठीक ही है। वे दोनो तो एक ही अर्थवाले है। हाँ मनका अर्थ अहकार और अहकारका प्रकृति करनेमे जरा उलट-फेर हो जाता है। लेकिन किया जाय क्या? इस प्रकार गुणवाद और सृष्टिका क्रम तथा उसकी प्रणाली आदि बातें सक्षेपमे स्पष्ट हो गई। गीताके मतका इस सम्बन्धमे स्पष्टीकरण भी हो गया। इससे उसके समझनेमे आसानी भी होगी।

## अद्वैतवाद

अब अद्वैतवादकी कुछ बाते भी जान लेनेकी है। गीताका क्या खयाल इस सम्बन्धमे है यही बात समझनी है। हालांकि जब वेदान्तके ही अनु-

कूल चलना गीताके वारेमें कह चुके, तो एक प्रकारसे उसका अर्थ तो मालूम भी हो गया। फिर भी गीताके वचनोको उद्धृत करके ही यह वात कहनेमें मजा भी आयगा और लोग मान भी सकेंगे। अद्वैतवादका अभिप्राय क्या है, यह भी तो कुछ न कुछ कहना ही होगा। क्योकि सभी लोग आम तौरसे क्या जानने गये कि यह क्या वला है ?

हमने पहले यह कहा है कि गौतम और कणाद तथा अर्वाचीन दार्शनिक डाल्टनके परमाणुवाद और तन्मूलक आरभवादकी जगह साख्य, योग एव वेदान्त तथा अर्वाचीन दार्शनिक डारविनकी तरह गीता भी गुणवाद तथा तन्मूलक परिणामवाद या विकासवादको ही मानती है। इसपर प्रश्न हो सकता है कि क्या वेदान्त और साख्यका परिणामवाद एक ही है ? या दोनोमे कुछ अन्तर है ? कहनेका आशय यह है कि जव दोनोके मौलिक सिद्धान्त दो है तो सृष्टिके सम्बन्धमें भी दोनोमें कुछ तो अन्तर होगा ही। और जव वेदान्तका मन्तव्य अद्वैतवाद है तव वह परिणामवादको पूरा-पूरा कैसे मान सकता है ? क्योकि ऐसा होनेपर तो गुणोको मानके अनेक पदार्थ स्वीकार करने ही होगे। फिर एक ही चेतन पदार्थ-आत्मा या ब्रह्म—को स्वीकार करने का वेदान्त का सिद्धान्त कैसे रह सकेगा ? यदि सभी गुणोको और उनसे होनेवाले पदार्थोंको प्रकृतिसे जुदा न भी मानें—क्योकि सभी तो प्रकृतिके ही प्रसार या परिणाम ही माने जाते है—और इस प्रकार जड पदार्थोकी एकता या अद्वैत (Monism) मान भी लें, जिसे जडाद्वैत (Material monism) कहते है, साथ ही आत्मा एव ब्रह्मकी एकताके द्वारा चेतनाद्वैत (Spiritual monism) भी मान ले, तो भी जड और चेतन ये दो तो रही जायँगे। फिर तो द्वित्व या द्वैत—दो—होनेसे द्वैतवाद ही होगा, न कि अद्वैतवाद। वह तो तभी होगा जव द्वित्व—दो चीज—न हो। अद्वैतका तो अर्थ ही है द्वैत या दोका न होना।

असलमे वेदान्तका अद्वैतवाद परिणाम और विवर्त्तवादको मानता है। अद्वैतवादको विकासवाद या परिणामवादसे विरोध नही है, यदि उसकी जडमें विवर्त्तवाद हो। इसका मतलब यह है कि अद्वैतवादी मानते है कि यह दृश्य जगत् ब्रह्म या परमात्मा, जिसे ही आत्मा भी कहते है, मे आरोपित है, कल्पित है, यह कोई वास्तविक वस्तु है नही। इसकी कल्पना, इसका आरोप ब्रह्ममे उसी तरह किया गया है जैसे रस्सीमें साँपकी कल्पना अँधेरेमे हो जाती है। या यो कहिये कि नीदकी दशामे मनुष्य अपना ही सर कटता देखता है, या कलकत्ता, दिल्ली आदिकी सफर करता है। यह आरोप ही तो है, कल्पना ही तो है। इसीको अध्यास भी कहते है। किसी पदार्थ मे एक दूसरे पदार्थ की झूठी कल्पना करने को ही अध्यास कहते है। रस्सीमें साँप तो है नही। मगर उसीकी कल्पना अँधेरेमें करते और डरके भागते है। सोनेके समय अपना सर तो कटता नही। फिर भी कटता नजर आता है। विस्तरपर घरमे पडे है। फिर कलकत्ता या दिल्ली कैसे चले गये? मगर साफ ही मालूम होता है कि वहाँ गये है। भर पेट खाके पलगपर सोये है। मगर सपना देखते है कि भूखो दर-दर मारे फिरते है! सुन्दर वस्त्र पहने सोये है। मगर नगे या चिथडे लपेटे जाने कहाँ-कहाँ भटकते मालूम होते है! यही अध्यास है। इसीको आरोप, कल्पना आदि नाम देते है। इसे भ्रम या भ्रान्ति भी कहते है। मिथ्या ज्ञान और मिथ्या कल्पना भी इसको ही कहा है। अद्वैतवादी कहते है कि ब्रह्ममे इस समूचे ससारका—स्वर्ग-नर्कादि सभीके साथ—अध्यास है, आरोप है। जैसे सपनेमे सर कटना, भूखो चिथडे लपेटे मारे फिरना आदि सभी बाते मिथ्या है, झूठी है; ठीक वैसे ही यह समूचे ससारका नजारा झूठा ही ब्रह्ममे दीख रहा है। इसमे तथ्यका लेश भी नही है। यह सरासर झूठा है, असत्य है। केवल ब्रह्म या आत्मा ही सत्य है। ब्रह्म और आत्मा तो एक हीके दो नाम है—"ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या जीवो ब्रह्मैवनापर।"

# स्वप्न और मिथ्यात्ववाद

जो लोग इन बातोमे अच्छी तरह प्रवेश नही कर पाते वह चटपट कह बैठते है कि सपनेकी बात तो साफ ही झूठी है। उसमें तो शककी गुजाइश है नही। उसे तो कोई भी सच कहनेको तैयार नही है। मगर ससारको तो सभी सत्य कहते है। सभी यहांकी बातोको सच्ची मानते है। एक भी इन्हें मिथ्या कहनेको तैयार नही। इसके सिवाय सपनेका ससार केवल दोई-चार मिनट या घटे-आध घटेकी ही चीज है, उतनी ही देरकी खेल है—यह तो निर्विवाद है। सपनेका समय होता ही आखिर कितना लम्बा ? मगर हमारा यह ससार तो लम्बी मुद्दतवाला है, हजारो लाखो वर्ष कायम रहता है। यहाँतक कि सृष्टि और प्रलयके सिलसिलेमें वेदान्ती भी ऐसा ही कहते है कि प्रलय बहुत दिनो बाद होती है और लम्बी मुद्दतके बाद ही पुनरपि सृष्टिका कारबार शुरू होता है। गीता (८।१७-१९)के वचनोसे भी यही बात सिद्ध होती है। फिर सपनेके साथ इसकी तुलना कैसी ? यह तो वही हुआ कि "कहाँ राजा भोज, और कहाँ भोजवा तेली !"

मगर ऐसे लोग जरा भूलते है। सपनेकी बातें झूठी है, झूठी मानी जाती है सही। मगर कब ? सपनेके ही समय या जगनेपर ? जरा सोचें और उत्तर तो दे ? इस अपने ससारको थोडी देरके लिये भूलके सपनेमें जा बैठे और देखें कि क्या सपनेके भी समय वहांकी देखी-सुनी चीजें झूठी मानी जाती है। विचारनेपर साफ उत्तर मिलेगा कि नही। उस समय तो वह एकदम सच्ची और पक्की लगती है। उनकी झुठाईका तो वहाँ खयाल भी नही होता। इस बातका सवाल उठना तो दूर रहे। हाँ, जगनेपर वे जरूर मिथ्या प्रतीत होती है। ठीक उसी प्रकार इस जागृत ससारकी भी चीजें अभी तो जरूर सत्य प्रतीत होती है। इसमें

तो कोई शक है नही। मगर सपनेमे भी क्या ये सच्ची ही लगती हैं ? क्या सपनेमे ये सच्ची होती है, बनी रहती है ? यदि कोई हाँ कहे, तो उससे पूछा जाय कि भरपेट खाके सोनेपर सपनेमे भूखे दर-दर मारे क्यो फिरते हैं ? पेट तो भरा ही है और वह यदि सच्चा है, तो सपनेमे भूखे होनेकी क्या बात ? तो क्या भूखे होनेमे कोई भी शक उस समय रहता है ? इसी प्रकार कपडे पहने सोये हैं। महल या मकानमे ही विस्तर है भी। ऐसी दशामे सपनेमे नगे या चिथडे लपेटे दर-दर खाक छाननेकी बात क्यो मालूम होती है ? क्या इससे यह नही सिद्ध होता कि जैसे सपनेकी चीजे जागनेपर नही रह जाती है, ठीक उसी तरह जागृतकी चीजें भी सपनेमें नही रह जाती है ? जैसे सपनेकी अपेक्षा यह ससार जागृत है, वैसे ही इसकी अपेक्षा सपनेका ही ससार जागृत है और यही सपनेका है। दोनोमे जरा भी फर्क नही है।

सपनेकी बात थोडी देर रहती है और यहाँकी हजारो साल, यह बात भी वैसी ही है। यहाँ भी वैसा ही सवाल उठता है कि क्या सपनेमे भी यहाँकी चीजें थोडी ही देरकी मालूम पडती हैं ? या वहाँ भी सालो और युग गुजरते मालूम पडते है ? सपनेमे किसे खयाल होता है कि यह दस ही पांच मिनटका तमाशा है ? वहाँ तो जाने कहाँ-कहाँ जाते, हफ्तो, महीनो, सालो गुजारते, सारा इन्तजाम करते दीखते हैं, ठीक जैसे यहाँ कर रहे हैं। हाँ, जगनेपर वह चन्द मिनटकी चीज जरूर मालूम होती है। तो सोनेपर इस ससारका भी तो यही हाल होता है। इसका भी कहाँ पता रहता है ? अगर ऐसा ही विचार करनेका मौका वहाँ भी आवे तो ठीक ऐसी ही दलीलें देते मालूम होते हैं कि यह तो चन्द ही मिनटोका तमाशा है ! उस समय यह जागृतवाला संसार ही चन्द मिनटोकी चीज नजर आती है और सपनेकी ही दुनिया स्थायी प्रतीत होती है ! इसलिये यह भी तर्क बेमानी है। इसलिये भुसुडीने अपने सपने या भ्रमके बारेमे

कहा था कि "उभय घरी मँह कौतुक देखा।" हालाँकि तुलसीदासने उनका ही बयान दिया है कि उस समय मालूम होता था कि कितने युग गुजर गये। गौड पादाचार्यने माण्डूक्य उपनिषदकी कारिकाओंमें दोनोकी हर तरहसे समानता तर्क-दलीलसे सिद्ध की है और वहुत ही सुन्दर विवेचनके बाद उपसहार कर दिया है कि "मनीषी लोग स्वप्न और जागृतको एकसा ही मानते है। क्योंकि दोनोकी हरेक वातें बरावर है और यह बिलकुल ही साफ वात है"—"स्वप्नजागरिते स्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिण। भेदाना हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना।"

## अनिर्वचनीयतावाद

ससारके सम्बन्धके इस मन्तव्यको मिथ्यात्ववाद और अनिर्वचनीय-तावाद भी कहते है। अनिर्वचनीयताका अर्थ है कि इन चीजोका निर्वचन या निरूपण होना असभव है। इनकी सत्यता तो सिद्ध होई नही सकती। यदि इनको अत्यन्त निर्मूल मानें और कहें कि ये अत्यन्त असत्य है, जैसे आदमीकी सीग न कभी हुई, न है और न होगी, तो यह भी ठीक नही। क्योकि सीग तो कभी दीखती नही। मगर ये तो प्रत्यक्ष ही दीखते है। इसलिये मनुष्यकी सीग जैसे तो नही ही है। यदि इन्हें सत्य और असत्यका मिश्रण मानें, तो यह और भी बुरा है। क्योकि परस्पर विरोधी चीजोका मिश्रण असभव है। फलत मानना ही पडता है कि इनके वारेमें कुछ भी कहा नही जा सकता है—ये अनिर्वचनीय है। मगर यह सही है कि ये मिथ्या है। मिथ्याका मतलव ही यही है कि मालूम तो हो कि कुछ है, मगर ढूँढनेपर उसका पता ही न लगे। यह विचार कुछ नया और निराला प्रतीत होता है सही। मगर रेखागणितमें जो विन्दुका लक्षण वताया गया है कि उसमें लम्वाई-चौडाई कुछ भी होती नही, या रेखाके वारेमें जो कहा गया है कि उसमें केवल लम्वाई होती है, चौडाई नही,

क्या यह अक्लमे आनेकी चीज है ? जिसमे लम्बाई-चौडाई कुछ भी न हो या जो सिर्फ लम्बाई रखता हो ऐसा पदार्थ दिमागमें कैसे घुसेगा ? फिर भी उसे मानते ही है ।

यह ठीक है कि काम चलानेके लिये—केवल वादविवाद और विचारके लिये—वेदान्तने तीन प्रकारके पदार्थ माने है । एक तो सदा रहनेवाला, वस्तुतत्त्व या परमार्थ पदार्थ, जिसे ब्रह्म कहिये या आत्मा कहिये । इसी-लिये ब्रह्म या आत्माकी हस्ती, उसके अस्तित्व या उसकी सत्ताको परमार्थ सत्ता भी कहते है । दूसरे है सपने या भ्रमके पदार्थ, जैसे रस्सीमे साँप, सीपमे चाँदी या सपनेका सर कटना । ये जबतक प्रतीत होते है तभीतक रहते है । प्रतीति या ज्ञानको ही प्रतिभास भी कहते है । इसीलिये ये पदार्थ प्रातिभासिक है और इनकी सत्ता है प्रातिभासिक सत्ता । तीसरे है हमारे इस जागृत ससारके पृथिवी आदि पदार्थ, जिनसे हमारा व्यवहार चलता है, काम निकलता है । सपनेके सॉपका जहर तो नही चढता । मगर इस साँपका चढता है । यही है व्यवहार या काम-काजका चलना । ये चीजे काम चलाऊ है, व्यावहारिक है । इसलिये इनकी सत्ताको व्याव-हारिक सत्ता कहते है । इस तरह तीन प्रकारके पदार्थ और उनकी तीन सत्ताये हो जाती है ।

## प्रातिभासिक सत्ता

मगर दर हकीकत व्यावहारिक तथा प्रातिभासिक पदार्थ दो नही है । दोनो ही बराबर ही है । यह तो हम अभी सिद्ध कर चुके है । दोनोकी सत्तामे रत्तीभर भी अन्तर है नही । इसलिये दोई पदार्थ—पार-मार्थिक एव प्रातिभासिक—माने जाने योग्य है और दोई सत्ताये भी । लेकिन हम लिखने-पढने और वाद-विवादमे जागृत तथा स्वप्नको दो मानके उनकी चीजोको भी दो ढगकी मानते है । यो कहिये कि जागृतको

सत्य मानके सपनेको मिथ्या मानते है। जागृतकी चीजे हमारे खयालमे सही और सपनेकी झूठी है। इसीलिये खामखा दोनोकी दो सत्ता भी मान बैठते है। लेकिन वेदान्ती तो जागृतको सत्य मान सकता नही। इसीलिये लोगोके सन्तोषके लिये उसने व्यावहारिक और प्रातिभासिक ये दो भेद कर दिये। इस प्रकार काम भी चलाया। विचार करने या लिखने-पढनेमे आसानी भी हो गई। आखिर अद्वैतवादी वेदान्ती भी जागृत और स्वप्नकी बात उठाके और स्वप्नेका दृष्टान्त देके लोगोको समझायेगा कैसे, यदि दोनोको दो तरहके मानके ही शुरु न करे ?

## मायावाद

जो लोग ज्यादा समझदार है वह वेदान्तके उक्त जगत-मिथ्यात्वके सिद्धान्तपर, जिसे अध्यासवाद और मायावाद भी कहते है, दूसरे प्रकारसे आक्षेप करते है। उनका कहना है कि यदि यह जगत् भ्रममूलक है और इसीलिये यदि इसे भगवानकी मायाका ही पसारा मानते है, क्योकि माया कहिये, भूल या भ्रम कहिये, बात तो एक ही है, तो वह माया रहती है कहाँ ? वह भ्रम होता है किसे ? जिस प्रकार हमें नीद आनेसे सपनेमें भ्रम होता है और उलटी बाते देख पाते है, उसी तरह यहाँ नीदकी जगह यह माया किसे सुलाके या भ्रममे डालके जगत्का दृश्य खडा करती है और किसके सामने ? वहाँ तो सोनेवाले हमी लोग है। मगर यहाँ ? यहाँ यह मायाकी नीद किसपर सवार है ? यहाँ कौन सपना देख रहा है ? आखिर सोनेवालेको ही तो सपने नजर आते है। निर्विकार ब्रह्म या आत्मामे ही मायाका मानना तो ऐसा ही है जैसा यह कहना कि समुद्रमे आग लगी है या सूर्य पूर्वसे पच्छिम निकलता है। यह तो उलटी बात है, असभव चीज है। ब्रह्म या आत्मा और उसीमे माया ? निर्विकारमे विकार ? यदि ऐसा माने भी तो सवाल है कि ऐसा हुआ क्यो ?

उनका दूसरा सवाल यह है कि माना कि यह दृश्य जगत् मिथ्या
;, कल्पित है। मगर इसकी वुनियाद तो कही होगी ही। तभी तो ब्रह्ममें
ा आत्मामे यह नजर आता है, आरोपित है, अध्यस्त है, ऐसा माना
ायगा। जब कही असली साँप पडा है तभी तो रस्सीमे उसका आरोप
ोता है, कल्पना होती है। जब हमारा सर सही सावित है तभी तो
पनेमे कटता नजर आता है। जब कोई भूखा-नगा दर-दर सचमुच
ूमता रहता है तभी तो हम अपने आपको सपनेमे वैसा देखते है। ऐसा
ो कभी नही होता कि जो वस्तु कही होई न, उसीकी कल्पना की जाय,
सीका आरोप किया जाय। कल्पित वस्तुकी भी कही तो वस्तु सत्ता
ोती ही है। नही तो कल्पना या भ्रम होई नही सकता। इसलिये इस
सारको कल्पित या मिथ्या मान लेनेपर भी कही न कही इसे वस्तुगत्या
ानना ही होगा, कही न कही इसकी वस्तुस्थिति स्वीकार करनी ही
ोगी। ऐसी दशामे मायावाद बेकार हो जाता है। क्योकि आखिर
च्चा ससार भी तो मानना ही पड जाता है। फिर अध्यासवादकी क्या
जरूरत है ?

लेकिन यदि हम इनकी तहमे घुसे तो ये दोनो शकाये भी कुछ ज्यादा
ीमत नही रखती है, ऐसा मालूम हो जाता है। यह ठीक है कि यह नीद,
ह माया निर्विकार आत्मा या ब्रह्ममे ही है और उसीके चलते यह सारी
ुराफात है। दृश्य जगत्का सपना वही निर्लेप ब्रह्म ही तो देखता है।
ूबी तो यह है कि यह सब कुछ देखनेपर भी, यह खुराफात होनेपर भी
वह निर्लेपका निर्लेप ही है। मरुस्थलमे सूर्यकी किरणोमे पानीका भ्रम
या कल्पना हो जानेपरभी जैसे मरुभूमि उससे भीग नही जाती, या साँपकी
कल्पना होनेपर भी रस्सीमे जहर नही आ जाता, ठीक यही बात यहाँ
है। सपनेमे सर कटनेपर भी गर्दन तो हमारी ज्योकी त्यो ही रहती है—
वह निर्विकार ही रहती है। यही तो मायाकी महिमा है। इसीलिये

तो गीताने उसे "दैवी" (७।१४) कहा है। इसका तो मतलब ही कि इसमें निराली करामातें है। यह ऐसा काम करती है कि अचम्भा होता है। ब्रह्म या आत्मामें ही सारे जगत्‌की रचना यह कर डालती है जरूर। मगर आत्माका दर असल कुछ वनता विगडता नही।

हाँ, यह सवाल हो सकता है कि आखिर उसमें यह माया पिशाची लगी कब और कैसे ? हमें नीद आने या भ्रम होनेकी तो हजार वजहें है। हमारा ज्ञान सकुचित है, हम भूले करते है, चीजोसे लिपटते है, खराबियाँ रखते है। मगर वह तो ऐसा है नही। वह तो ज्ञानरूप ही माना जाता है, सो भी अखड ज्ञानरूप, जो कभी जरा भी इधर-उधर न हो। वह निर्लेप और निर्विकार है। वह भूले तो इसीलिये कर सकता ही नही। फिर उसीमें यह छछुन्दर माया ? यह अनहोनी कैसे हुई ? यह वात तो दिमागमें आती नही कि वह क्यो हुई, कैसे हुई, कब हुई ? कोई वजह तो इसकी नजर आती ही नही।

## अनादिताका सिद्धांत

यही कारण है कि ब्रह्ममे मायाका सम्बन्ध अनादि मानते है। इस सम्बन्धका श्रीगणेश यदि कभी माना जाय तो यह सवाल हो सकता है कि ऐसा क्यो हुआ ? मगर इसका श्रीगणेश, इसकी इब्तदा, इसका आरभ (beginning) तो मानते ही नही। इसे तो अनादि कहते है। अनादिका तो मतलब ही है कि जिसकी आदि, जिसका श्रीगणेश हुआ न हो। फिर तो सारी शकाओकी वुनियाद ही चली गई। ससारमें अनादि चीजे तो हई। यह कोई नई या निराली कल्पना केवल मायाके ही वारेमें तो है नही। यदि किसीसे पूछा जाय कि आमका वृक्ष पहले-पहल हुआ या उसकी गुठली हुई ? पहले वृक्ष हुआ या बीज ? तो क्या उत्तर मिलेगा ? दोमें एक भी नही कहके यही कहना पडेगा कि बीज

और वृक्षकी परम्परा अनादि है। अक्लमे तो यह बात आती नहीं कि पहले बीज कहें या वृक्ष, क्योकि वृक्ष कहनेपर फौरन सवाल होगा कि वह तो बीजसे ही होता है। इसलिये उससे पहले बीज जरूर रहा होगा। और अगर पहले बीज ही माने, तो फौरन ही वृक्षकी बात आ जायगी। क्योकि बीज तो वृक्षसे ही होता है। कब, क्या हुआ यह देखनेवाले हम तो थे नही। हमें तो अभी जो चीजे है उन्हीको देखके इनके पहले क्या था यही ढूँडना है और यही बात हम करते भी है। मगर ऐसा करनेमे कही ठिकाना नही लगता और पीछे बढते ही चले जाते है। यही तो है अनादिताकी बात। इसी प्रकार जगत् और ब्रह्मके सम्बन्धमे मायाकी कल्पना करनेमे भी हमे अनादिताकी शरण लेनी ही पडती है। हमारे लिये कोई चारा है नही। दूसरी चीज मानने या दूसरा रास्ता पकडनेमे हम आफतमे पड जायँगे और निकल न सकेगे। हमे तो वर्त्तमानको देखके पीछेकी बाते सोचनी है, उनकी कल्पना करनी है, जिससे वर्त्तमान काम चल सके, निभ सके। जोई चाहे मान सकते नही। यही तो हमारी परीशानी है, यही तो हमारी सीमा (limitation) है। किया क्या जाय ? इसीलिये मीमासादर्शनके श्लोकवार्त्तिकमे कुमारिलको कहना पडा कि हम तो सिर्फ इतना ही कर सकते है कि दुनियाकी वर्त्तमान व्यवस्थाके बारेमे यदि कोई शक-शुभा हो तो तर्क-दलीलसे उसे दूर करके अडचन हटा दे। हम ऐसा तो हर्गिज कर नही सकते कि बेसर-पैरकी बाते मानके वर्त्तमान व्यवस्थाके प्रतिकूल जायें—"सिद्धानुगममात्र हि कर्त्तु युक्त परीक्षकै। न सर्वलोकसिद्धस्य लक्षणेन निवर्त्तनम्" (१।१।४।१३३)।

## निर्विकारमें विकार

इसीलिये निर्विकारमें विकार या मायाका सम्बन्ध साफ ही है। इसमें झमेलेकी तो गुजाइश हई नही। सारा ससार जब उसीमें है तो

फिर मायाका क्या कहना ? हमे तो यही जानना है कि वह निर्लेप है या नही। विचारसे तो सिद्ध भी हो जाता है कि वह सचमुच निर्लेप है। नही तो भरपेट खाके सोनेपर भूखा क्यो नजर आता ? खाना तो पेटमें मौजूद ही है न ? इसका तो एक ही उत्तर है कि पेटमें खाना भले ही हो, मगर आत्मा तो उससे निर्लेप है। वह उससे चिपके, उसे अपना माने तब न ? जगनेपर ऐसा मालूम पडता था कि अपना मानती है। मगर सोनेपर साफ पता लग गया कि वह तो निराली है, मौजी है। उसे इन खुराफातोसे क्या काम ? वह तो लीला करती है, नाटक करती है। इसलिये जब चाहा छोडके अलग हो गई और निर्लेपका निर्लेप है। सपनेमें भी एकको छोडके दूसरेपर और फिर तीसरेपर जाती है और अन्तमें सबको खतम करती है। वहाँ कुछ नही होनेपर भी सब कुछ बनाके बच्चोके घरौंदेकी तरह फिर चौपट कर देती है। असग जो ठहरी। उसे न किसी मददकी जरूरत है और न सूर्य-चाँद या चिरागकी ही। वह तो खुद सब कुछ कर लेती है। वह तो स्वय प्रकाश रूप ही है। वृहदारण्यक उपनिषदके चौथे अध्यायके तीसरे ब्राह्मणमें यह वर्णन इतना सरस है कि कुछ कहा नही जाता। वह पढने ही लायक है। वहाँ कहते है कि —

"स यत्र प्रस्वपित्यस्य लोकस्य सर्वावतोमात्रामुपादाय स्वय विहत्य स्वय निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपित्यत्राय पुरुष स्वय ज्योतिर्भवति ।९। न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान्रथयोगान्पथ सृजते, न तत्रानन्दा मुद प्रमुदो भवन्त्यथानन्दान्मुद प्रमुद सृजते, न तत्र वेशान्ता पुष्करिण्य स्रवन्त्योभवन्त्यथवेशान्तान् पुष्करिणी स्रवन्ती सृजते सहि कर्त्ता।१०। स वा एष एतस्मिन्सम्प्रसादे रत्वा चरित्वा दृष्ट्वैव पुण्य च पापं च पुन प्रतिन्याय प्रतियोन्याद्रवति स्वप्नायैव स यत्तत्र किञ्चित्पश्यत्यनन्वागतस्तेन भवत्यसङ्गोह्यय पुरुष (१५)।"

अब केवल दूसरी शका रह जाती है कि जबतक कही असल चीज न हो तबतक दूसरी जगह उसकी मिथ्या कल्पना हो नही सकती। इसी-लिये कही न कही ससारको भी सत्य मानना ही होगा। इसका तो उत्तर आसान है। दूसरी जगह उस चीजका ज्ञान होना जरूरी है। तभी और जगह उसकी मिथ्या कल्पना हो सकती है। बस, इतनेसे ही काम चल जाता है। जहाँ उसका ज्ञान हुआ है वहाँ वह चीज सच्ची है या मिथ्या, इसकी तो कोई जरूरत है नही। कल्पनाकी जगह वह चीज प्रतीत होती है, यही देखते है। न कि उसकी सारी बाते प्रतीत होती है या उसकी सत्यता और मिथ्यापन भी प्रतीत होता है। यदि किसीने बनावटी, इन्द्रजालका या इसी तरहका साँप, फल या फूल देख लिया, उससे पहले उसे इन चीजोकी कही भी जानकारी न रही हो, उसीके साथ यह भी मालूम हो जाय कि यह चीजे मिथ्या है, सच्ची नही, तो क्या कही उनका भ्रम होनेपर यह भी बात भ्रमके साथ ही मालूम हो जायगी कि ये मिथ्या है, बनावटी है? यदि ऐसा ज्ञान हो जाय तो फिर भ्रम कैसा? ऐसी जानकारी तो भ्रम हटनेपर ही होती है। यह तो कही नही सकते कि झूठी चीजे ही जिनने देखी है, न कि सच्ची भी, उन्हे भ्रम होई नही सकता। भ्रम होता है अपनी सामग्रीके करते और यदि वह सामग्री जुट जाये तो सच्ची-झूठी चीजके करते वह रुक नही सकता। इसलिये जिस चीजका भ्रम हो उसका अन्यत्र सत्य होना जरूरी नही है, किन्तु उसकी जानकारी ही असल चीज है। जानकारीके बिना सत्य वस्तुका भी कही भ्रम नही होता है। जाने ही नही, तो दूसरी जगह उसकी कल्पना कैसे होगी? इसी प्रकार इस ससारका भी कही अन्यत्र सत्य होना जरूरी नही है। किन्तु किसी एक स्थानपर भ्रमसे ही यह बना है। उसीकी कल्पना दूसरी जगह और इसी तरह आगे भी होती रहती है। एक बार जिसकी कल्पना आत्मामे हो गई उसीकी बार-

बार होती रहती है। यह कल्पित ही ससार अनादिकालसे चला आ रहा है।

मगर हमे इन दार्शनिक विवादोमें न पडके केवल अद्वैतवादका सिद्धान्त मोटामोटी बता देना है और यह काम हमने कर दिया। यहीपर यह भी जान लेना होगा कि जहाँ एक बार इस दृश्य जगत्का अध्यास या आरोप आत्मा या ब्रह्ममे हो गया कि विवर्त्तवादका काम हो गया। चेतन ब्रह्ममें इस जड जगत्के आरोपको ही विवर्त्तवाद कहते हैं। जहाँतक इस दृश्य-जगत्का ब्रह्मसे ताल्लुक है वहीतक विवर्त्तवाद है। मगर इस जगत्की चीजोके बनने-बिगडनेका जो विस्तार या ब्योरा है वह तो गुणवादके आधारपर विकासवादके सिद्धान्तके अनुसार ही होता है। विवर्त्तवादने इन्हें मिथ्या सिद्ध कर दिया। अब परिणाम या विकासवादसे कोई हानि नही। क्योकि इससे इन पदार्थोंकी सत्यता तो हो सकती नही। विवर्त्त-वादने इनकी जड ही खत्म जो कर दी है। उसके न माननेपर ही यह खतरा था, द्वैतवाद आ जानेकी गुजाइश थी। बस, इतनेके ही लिये विवर्त्त-वाद आ गया और काम हो गया।

## गीता, न्याय और परमाणुवाद

आश्चर्यकी बात कहिये या कुछ भी मानिये, मगर यह सही है कि गीतामे गौतम और कणादका परमाणुवाद पाया नही जाता। इसकी कही चर्चा तक नही है और न गौतम या कणादकी ही। विपरीत इसके गुणकीर्त्तन और गुणवाद तो भरा पडा है, जैसा कि पहले बताया जा चुका है। इतना ही नही। जिन योग, साख्य या वेदान्तदर्शनोने इसे मान्य किया है उनका भी उल्लेख है और उनके आचार्योंका भी। यह ठीक है कि योगदर्शनके प्रवर्त्तक पतजलिका जिक्र नही है। मगर योगकी विस्तृत चर्चा पाँच, छे, आठ और अठारह अध्यायोमे खूब आई है। यो तो प्रका-

रान्तरसे यह बात और अध्यायोमे भी मनके निरोध या आत्मसयमके नामसे बार-बार आई ही है। पतजलिने इसी बातको "योगश्चित्तवृत्ति निरोध" (१।२) तथा "अभ्यास वैराग्याभ्या तन्निरोध" (२।१२) आदि सूत्रोमे साफ ही कहा है। गीताके छठे अध्यायमें, मालूम होता है, यह दूसरा सूत्र ही जैसे उद्धृत कर दिया गया हो "अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते" (६।३५)। चौथे अध्यायके "आत्मसयमयोगाग्नौ" (४।२७)मे तो साफ ही मनके सयमको ही योग कहा है। और स्थानोमे भी यही बात है। पाँचवेंके २७, २८ श्लोकोमे, छठेके १०-२६ श्लोकोमें तथा आठवेंके १२, १३ श्लोकोमें तो साफ ही योगके प्राणायामकी बात लिखी गई है। अठारहवेंके ५१-५३ श्लोकोमे भी जिस ध्यानयोगकी बात आई है, उसीका उल्लेख पतजलिने "यथाभिमतध्यानाद्वा"(१।३५), "यमनियमासन प्राणायाम प्रत्याहार ध्यानधारणासमाधयोऽष्टावगानि" (२।२९) तथा "तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (३।२) सूत्रोमे किया है।

## वेदान्त, सांख्य और गीता

साख्य और वेदान्तका तथा उनके प्रवर्त्तक आचार्योंका भी तो नाम आया ही है। साख्यके प्रवर्त्तक कपिलका उल्लेख "कपिलोमुनि"(१०।२६) में तथा वेदान्तके आचार्य व्यासका "मुनीनामप्यह व्यास" (१०।३७)मे आया है। पहले कपिलका और पीछे व्यासका। इन दर्शनोका क्रम भी यही माना जाता है। इसी प्रकार "वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्" (१५।१५)मे वेदान्तका और "साख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि" '(१८।१३) तथा "प्रोच्यते गुणसख्याने" (१८।१९)मे साख्यदर्शनका उल्लेख है। कृतान्त और सिद्धान्त शब्दोका एक ही अर्थ है। इसलिये 'साख्ये कृतान्ते'का अर्थ है 'साख्यसिद्धान्तमे।' साख्यवादी भी तो आत्माको अकर्त्ता, केवल तथा निर्विकार मानते है और यही बात यहाँ लिखी गई है। इसी प्रकार

गुणसख्यान शब्दका अर्थ है गुणोका वर्णन जहाँ पाया जाय। साँख्य शब्दका भी तो अर्थ है गिनना, वर्णन करना। साख्यने तो गुणोका ही व्योरा ज्यादातर वताया है। इसीलिये उसे गुणसख्यानशास्त्र भी कह दिया है। शेष साख्य और योग शब्द ज्ञान आदिके ही अर्थमे गीतामें आये हैं।

## गीतामें मायावाद

यह ठीक है कि मायावादकी साफ चर्चा गीतामे नही आती। मगर मायाका और उसके भ्रममें डालने आदि कामोका वार-वार जिक्र उसमें आया ही है। "सभवाम्यात्ममायया" (४।६), "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" (७।१४), "माययापहृतज्ञाना" (७।१५), "योग-माया समावृत" (७।२५), "यन्त्रारूढानि मायया" (१८।६१)में जिस प्रकार मायाका उल्लेख है, जैसा चौदहवेमें प्रकृतिका वर्णन आया है, "मयाध्यक्षेण प्रकृति" (६।१०)मे जिस तरह प्रकृतिका नाम लिया है, तेरहवे अध्यायके "भूतप्रकृतिमोक्ष च" (१३।३४) आदि श्लोकोमें वार-वार प्रकृतिका उल्लेख जिस प्रसगमें आया है तथा "महाभूतान्य-हकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च" (१३।५)मे जो अव्यक्त शब्द है ये सभी मायाके ही अर्थमे आके वेदान्तके मायावादके ही समर्थक हैं। तेरहवेंके शुरूमे जो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका वार-वार जिक्र आया है और "एतत्क्षेत्र समासेन सविकारमुदाहृतम्" (१३।६) में क्षेत्रका उसके घासपात —विकार—के साथ जो वर्णन आलकारिक ढगसे किया गया है वह भी इसी चीजका समर्थक है। क्षेत्र तो खेतको कहते है और जैसे खेतिहर खेतके घासपातको साफ करके ही सफल खेती कर सकता है, ठीक उसी प्रकार यह क्षेत्रज्ञ—आत्मा—रूपी खेतिहर भी रागद्वेष आदि घासपातो-को निर्मूल करके ही अपने कल्याणका उत्पादन इस खेत—शरीर—में कर सकता है, यही बात वहाँ कही गई है। मगर वहाँ समष्टि शरीर या

मायाको ही क्षेत्र कहनेका तात्पर्य है । व्यष्टि शरीर तो उसके भीतर आई जाते हैं । शुरूमे जो महाभूत, अहकार आदिका उल्लेख है वह इसी बातका सूचक है ।

## ब्रह्मज्ञान और लोकसंग्रह

जहाँतक गीताका ताल्लुक इस मिथ्यात्वके सिद्धान्तसे और तन्मूलक अद्वैतवादसे है उसे बतानेके पहले यह जान लेना जरूरी है कि ससारको मिथ्या माननेके बाद अद्वैतवाद एव अद्वैततत्त्वके ज्ञानका व्यवहारमें कैसा रूप होता है । क्योकि गीता तो केवल एकान्तमे बैठके समाधि लगानेवालोके लिये है नही । वह तो व्यावहारिक ससारका पारमार्थिक दुनियाके साथ मेल स्थापित करती है । उसकी नजरमे तो अद्वैतब्रह्मके ज्ञानके बाद ससारके व्यवहारोमे खामखा रोक होती नही । यह ठीक है कि कुछ लोगोकी मनोवृत्ति बहुत ऊँचे चढ जानेसे वे ससारके व्यवहारसे अलग हो जाते है । मगर ऐसे लोग होते हैं कम ही । ज्यादा तो ऐसे ही होते हैं जो लोकसग्रहका काम करते रहते ही है । गीताकी इसी दृष्टिका मेल अद्वैतवादसे होता है । इसीलिये पहले उस अद्वैतवादका इस दृष्टिसे जरा विचार कर लेना जरूरी है ।

असलमें ब्रह्म ही सत्य है, जगत् मिथ्या है और आत्मा ब्रह्मरूप ही है, उससे पृथक् नही है, इस दृष्टिके, इस विचारके दो रूप हो सकते है । या यो कहिये कि इस विचारको दो प्रकारसे प्रकाशित किया जा सकता है। रस्सीमे साँपका भ्रम होनेके बाद जब चिराग आने या नजदीक जानेपर वह दूर हो जाता तथा साँप मिथ्या मालूम पडता है, तो इस बातको प्रकाशित करते हुए या तो कहते है कि यह तो रस्सी ही है, या साँप-वाँप कुछ भी नही है । यदि दोनोको मिलाके भी बोले तो यही कहेंगे कि यह तो रस्सी ही है और कुछ नही, या रस्सीके अलावे साँप-वाँप कुछ नही है ।

इन दोनो कथनोमें और कुछ बात नही है, सिवाय इसके कि पहले कथनमें विधिपक्ष (Positive side) पर विशेष जोर है, वही मुख्य चीज है। उसमें निषेधपक्ष (Negative side) अर्थ-सिद्ध है। उसपर जोर नही है। यदि वह बात बोलते भी हैं तो विधिपक्षकी मजबूतीके ही लिये। विपरीत इसके दूसरे कथनमें निषेध पक्षपर ही जोर है, वही प्रधान बात है। वहाँ विधिपक्षपर जोर न देके उसे निषेधकी दृढताके ही लिये कहते हैं।

ठीक इसी तरह ससारके बारेमें भी अद्वैत पक्षको लेके कह सकते है कि यह तो ब्रह्म ही है और कुछ नही, या ब्रह्मके अलावे यह जगत् कुछ चीज नही है। यहाँ भी पहले कथनमें ब्रह्मकी ही प्रधानता और उसकी जगद्रूपता ही विवक्षित है—उसीपर जोर है। जगत्का निषेध तो अर्थ-सिद्ध हो जाता है जो उसी ब्रह्मरूपताको दृढ करता है। दूसरे कथनमें जगत्का निषेध ही असल चीज है। विधिपक्ष उसीको पुष्ट करता है। इसी तरह आत्मा ब्रह्म रूप ही है, उससे जुदा नही है ऐसा कहनेमें भी विधि और निषेधपक्ष आ जाते हैं। ब्रह्मरूप कहना विधिपक्ष है और आत्मासे अलग ब्रह्म नही है यह निषेधपक्ष। बात तो वही है। मगर कहने और जोर देनेमे फर्क है और गीताके लिये वह बडे ही कामकी चीज है। गीता इस फर्कपर पूर्ण दृष्टि रखके चलती है। दरअसल यदि पूछा जाय तो गीताने निषेधपक्षको एक प्रकारसे भुला दिया है। उसने उसपर जोर न देके विधिपक्षपर ही जोर दिया है और इसकी वजह है।

## असीम प्रेमका मार्ग

कर्मका मार्ग तो निषेधका रास्ता है नही। वह तो विधिका ही मार्ग है और गीताकर्मसे ही शुरू करके अकर्म या कर्मत्यागपर—सन्यासपर—पहुँचती है। उसके सन्यासकी परख, उसकी जांच कर्मसे ही होती है।

गीतामे कर्म शुरू करके ही सन्यासको आगे हासिल करते और उसे पक्का बनाते है। ऐसी हालतमे निषेधपक्ष उसके किस कामका है? सो भी पहले ही? वह तो अन्तमे खुदबखुद आई जाता है यदि उसका अवसर आये। वह खामखा आये ही यह हठ भी तो गीतामे नही है। जब ब्रह्मको अपनी आत्माका ही रूप मानते है तो अपना होनेसे कितना अलौकिक प्रेम उसमे होता है! दो रहनेसे तो फिर भी जुदाई रही गई यद्यपि वह उतनी दु खद नही है। इसीलिये प्रेममे—उसके साक्षात् प्रकट करनेमे, प्रकट होनेमे—कमी तो रही जाती है, बाधा तो रही जाती है। दोके बीचमे वह बँट जाता जो है—कभी इधर तो कभी उधर। यदि एक ओर पूरा जाय तो दूसरी ओर खाली! यदि इधर आये तो वह सूना! दोनोकी चिन्तामे कही जम पाता नही। किसी एकको छोडना भी असभव है। यह बँटवारेकी पहेली बडी बीहड है, पेचीदा है। मगर है जरूर।

देशकोश, गाँव, परिवार, घर, स्त्री; पुत्र, शरीर, इन्द्रियाँ, आत्मा वगैरहको देखे तो पता चलता है कि जो चीज अपने आपसे जितनी ही दूर पडती है उसमें प्रेमकी कमी उतनी ही होती है। दूरतक पहुँचनेमे समय और दिक्कत तो होती ही है और ताँना भी तो रहना ही चाहिये। नही तो स्रोत ही टूट जाये, सूख जाय और अपने आपसे ही अलग हो जायें। इसीलिये ज्यो-ज्यो नजदीक आइये, दिक्कत कम होती जाती है और ताँता टूटने या स्रोत सूखनेका डर कम होता जाता है। मगर फिर भी रहता है कुछ न कुछ जरूर। इसीलिये जब ऐसा मौका आ जाय कि देश और गाँवमे एक हीको रख सकते हैं तो आमतौरसे देशको छोड देते है और गाँवको ही रख लेते है। प्रेमकी कमी-बेशीका यही सबूत है। इसी तरह हटते-हटते पुत्र, शरीर और इन्द्रियोतक चले जाते है। मगर आत्माकी मौज या आनन्दमे, उसके मजामे किरकिरी डालनेपर, या कमसे कम ऐसा मालूम होनेपर कि शरीर या इन्द्रियोके करते आत्माका—अपना—

मजा किरकिरा हो रहा है, आत्म-हत्या—शरीरका नाश—या इन्द्रियोका नाशतक कर डालते है। क्यो ? इसीलिये न, कि आत्मा तो अपने आप ही है, अपनेसे अत्यन्त नजदीक है ? यही बात याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीसे वृहदारण्यकमे कही है और सभीके साथके प्रेमोको परस्पर मुकाविला करके अन्तमे आत्मामे होनेवाले प्रेमको सबसे वडा—सबसे वढके—यो ठहराया है—"नवा अरे मर्वस्य कामाय सर्व प्रिय भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्व प्रिय भवति" (४।५।६)।

## प्रेम और अद्वैतवाद

यदि ब्रह्म या परमात्मामे असली प्रेम करना है जो सोलह आना हो और निर्बाध हो, अखड हो, एक रस हो, निरन्तर हो, अविच्छिन्न हो, तो आत्मा और ब्रह्मके वीचका भेद मिटाना ही होगा—उसे जरा भी न रहने देकर दोनोको एक करना ही होगा। यदि सच्ची भक्ति चाहते है तो दोनोको—आशिक और माशूकको—एक करना ही होगा। यही असली भक्ति है और यही असली अद्वैतज्ञान भी है। इसीलिये गीताने भक्तोके चार भेद गिनाते हुए अद्वैतज्ञानीको भी न सिर्फ भक्त कहा है, किन्तु भगवानकी अपनी आत्मा ही कह दिया है—अपना रूप ही कह दिया है,—"ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्" (७।१८)। जरा सुनिये, गीता क्या कहती है। क्योकि पूरी वात न सुननेमें मजा नही आयेगा। गीताका कहना है कि, "चार प्रकारके सुकृती—पुण्यात्मा—लोग मुझमें—भगवानमें—मन लगाते, प्रेम करते है। वे है दुखिया या कष्टमें पडे हुए, ज्ञानकी इच्छावाले, धन-सम्पत्ति चाहनेवाले और ज्ञानी। इन चारोमे ज्ञानी तो वरावर ही मुझीमें लगा रहता है। कारण, उसकी नजरोमे तो दूसरा कोई हई नही। इसीलिये वह सवोसे श्रेष्ठ है। क्योकि वह मेरा अत्यन्त प्यारा है और मै भी उसका वैसा ही हूँ। यो तो सभी अच्छे ही है, मगर ज्ञानी तो मेरी आत्मा

ही है न? मुझसे बढके किसी और पदार्थको वह समझता ही नही। इसीलिये निरन्तर मुझीमे लगा हुआ मस्त रहता है"—"चतुर्विधा भजन्ते मा जना सुकृतिनोऽर्जुन। आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ। तेषा ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते। प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमह स च मम प्रिय। उदारा सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्। आस्थित-सहि युक्तात्मा मामेवानुत्तमा गतिम्" (७।१६-१८)।

## ज्ञान और अनन्य भक्ति

इस प्रकार हमने देखा कि जिस भक्तिके नामपर बहुत चिल्लाहट और नाच-कूद मचाई जाती है और जिसे ज्ञानसे जुदा माना जाता है वह तो घटिया चीज है। असल भक्ति तो अद्वैत भावना, 'अह ब्रह्मास्मि'—मै ही ब्रह्म हूँ—यह ज्ञान ही है। इसीलिये "अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना पर्युपासते। तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम्" (९।२२)मे यही कहा गया है कि "भगवानको अपना स्वरूप—अपनी आत्मा—ही समझके जो उसमे लीन होते है, रम जाते है तथा बाहरी बातोकी सुध-बुध नही रखते, उनकी रक्षा और शरीर यात्राका काम खुद भगवान करते है।" यहाँ अनन्य शब्दका अर्थ है भगवानको अपनेसे अलग नही मानने-वाले। इसीलिये अगले श्लोक "येऽप्यन्य देवताभक्ता" (९।२३)मे अपनेसे भिन्न देवता या आराध्यदेवकी भक्तिका फल दूसरा ही कहा गया है। "अनन्यचेता सतत यो मा स्मरति नित्यश। तस्याह सुलभ पार्थ नित्य-युक्तस्य योगिन." (८।१४)मे भी यही बात कही गई है कि "जो भगवानको अपनी आत्मा ही समझके उसीमे प्रेम लगाता है उसे भगवान सुलभ है—कही अन्यत्र ढूँढ़े जानेकी चीज है नही।" यदि असल और सर्वोत्तम भक्ति ज्ञानरूप नही होती, तो "भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत। ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्" (१८।५५) श्लोकमे क्यो

कहते कि "उस भक्तिसे ही मुझे बखूबी जान लेता है और उसके बाद ही मेरा रूप बन जाता है"। जानना तो ज्ञानसे होता है, न कि दूसरी चीजसे। इससे पूर्वके श्लोक "ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा" आदिमे उसे ब्रह्मरूप कहके समदर्शनका ही वर्णन किया है। समदर्शन तो ज्ञान ही है यह पहले ही कहा गया है। यहाँ उसी समदर्शनको भक्ति कहा है। इस सम्बन्धमें और बाते आगे लिखी है।

इससे इतना सिद्ध हो गया कि जब ब्रह्म हमी है ऐसा अनुभव करते है, तो प्रेमके प्रवाहके लिये पूरा स्थान मिलता है और उसका अबाध स्रोत उमड पडता है। क्योकि वह प्रवाह जहाँ जाके स्थिर होगा वह वस्तु मालूम हो गई। मगर निषेधात्मक मनोवृत्ति होनेपर ब्रह्म हमसे अलग या दूसरी चीज नही है, ऐसी भावना होगी। फलत इसमें प्रेम-प्रवाहके लिये वह गुजाइश नही रह जाती है। मालूम होता है, जैसे मरुभूमिकी अपार बालुका-राशिमें सरस्वतीकी धारा विलुप्त हो जाती है और समुद्र-तक पहुँच पाती नही, ठीक वैसे ही, इस निषेधात्मक बालुका-राशिमें प्रेमकी धारा लापता हो जाती और लक्ष्यको पा सकती है नही। यही कारण है कि विधि-भावना ही गीतामें मानी गई है। भक्तिकी महत्ता भी इसी मानीमें है।

## सर्वत्र हमीं हम और लोकसंग्रह

अब जरा जगत्के बारेमे भी देखे। यहाँ भी यह जगत् तो ब्रह्म ही है ऐसा विधिरूप ज्ञान ही गीताको मान्य है। क्योकि इसमे हमारे कर्मोके लिये, लोकसग्रहके लिये पूरी गुजाइश रहती है। निषेधमे यह बात नही रहती। मालूम पडता है कि निठल्ले जैसा बैठनेकी बात आ जाती है। आज जो वेदान्तके अद्वैतवादमें इस निषेध पक्ष या ससारके मिथ्यात्वके ही पहलूपर जोर देनेके कारण लोगोमें अकर्मण्यता आ गई है वह गीताधर्म

और गीताके इस महान् मार्गके छोड देनेका ही परिणाम है। वेदान्तके नामपर आज प्रचलित महान् पतनकी यही वजह है। जब कोई विधानात्मक चीज हुई नही, तो फिर कुछ भी करने धरनेकी जरूरतही क्या है? फलत वेदान्तवाद एव अद्वैतवादको इस पतनके गभीर गर्त्तसे निकालनेके लिए जगत्के मिथ्यात्व पर जोर देनेवाले निषेधात्मक पक्षकी ओर दृष्टि न करके हमे 'जगत् ब्रह्म ही है, हमारी आत्माही है', इस विधानात्मक पक्षकी ओर ही दृष्टि देना जरूरी है। इससे यही होगा कि हम चारो ओर अपनी ही आत्माको देखके उसके कल्याणार्थ ठीक वैसे ही उतावले हो पडेगे, दौड पडेगे जैसे अपने पॉवोमे फोडा-फुसी होने, खुद भूख-प्यास लगने या अपने पेटमे दर्द होनेपर उतावले और बेचैन होके प्रतीकारमे लग जाते है और जरा भी विलम्ब या आलस्य, अपना या गैरोका, बर्दाश्त कर नही सकते।

गीता इसी दृष्टिपर जोर देती हुई कहती है कि "बहुत जन्मोमे लगातार यत्न करके, यह जो कुछ देखा-सुना जाता है सब भगवान ही है, ऐसा ज्ञान जिसे प्राप्त हो जाय वही इस ससारमे अत्यन्त दुर्लभ महात्मा है"—"बहूना जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मा प्रपद्यते। वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ" (७।१९)। ऐसा अद्वैत तत्त्वज्ञानी दूसरेके सुख-दुखको अपनेमे ही अनुभव करता है। यदि किसीको भी एक लाठी मारो तो उसकी चोट उसे ही लगती है। इसीलिये उसका हृदय द्रवीभूत होके दत्तचित्तताके साथ लोकसग्रहमे उसे दिनरात लग जानेको विवश कर देता है। इस बातका कितना मार्मिक वर्णन गीताके छठे अध्यायके ये श्लोक करते है, "सर्वभूतस्थमात्मान सर्वभूतानि चात्मनि। ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शन। यो मा पश्यति सर्वत्र सर्व च मयि पश्यति। तस्याह न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति। सर्वभूतस्थित यो मा भजत्येकत्वमास्थित.। सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते। आत्मौपम्येन

सर्वत्र मम पश्यति योऽर्जुन । सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमोमतः"
(६।२९-३२)।

उनका आशय यह है कि "जिसका मन सब तरफसे हटके आत्मा—ब्रह्म—में लीन हो गया है और जो सर्वत्र समदर्शी है (समदर्शनका पूरा विवेचन पहले किया गया है) वह अपने आपको सभी पदार्थोंमें और पदार्थोंको अपने आपमें ही देखता है। इस प्रकार जो भगवानको भी सर्वत्र—सभी पदार्थोंमें—देखता है और पदार्थोंको भगवानमें, वह न तो भगवान—ब्रह्म—से जरा भी जुदा हो सकता है और न भगवान ही उससे जुदा हो सकता है—दोनो एक ही जो हो गये—जो योगी सभी पदार्थोंमें रहनेवाले—पदार्थोंके रग-रगमे रमनेवाले—एक ही भगवानको अपनेसे जुदा नही देखता, वह चाहे किसी भी हालतमे रहे, फिर भी परमात्मामें ही रमा हुआ रहता है। जो योगी किसी भी प्राणी या पदार्थके दुःख-सुखको अपना ही समझता है, अनुभव करता है, वही सर्वोत्तम है।" इसी ज्ञानके बारेमे पुनरपि गीता कहती है कि "उसे हासिल करके फिर इस प्रकार भूलभुलैयामे हर्गिज न पडोगे। तब हालत यह होगी कि ससारके सभी पदार्थोंको अपने आपमें देखोगे और मुझमे भी—अर्थात् तुममें, हममें—परमात्मामे—और इस जगत्मे कोई विभिन्नता रहेगी ही नही—सभी एक ही बन जायँगे"—"यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव। येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि" (४।३५)।

हमने शुरूमें ही कर्मोंके भेदोके निरूपणके प्रसगमे बता दिया है कि आगे बढते-बढते सभी भौतिक पदार्थों और परमात्माके साथ आत्माकी तन्मयता कैसे हो जाती है। वही बात गीता बार-बार कहती है। इसी-लिये जो प्रत्येक शरीरमे आत्माको जुदा-जुदा मानते है वह तो गीतासे अनन्त दूरीपर है। उनसे और गीताधर्मसे कोई ताल्लुक है नही। सबकी एकता—एकरसता—के पहले सभी शरीरोकी आत्माकी एकता तो

अनिवार्य हैं। ऐसी बुद्धि और भावना सबसे पहले होनी चाहिये। यहींसे तो गीताका श्रीगणेश होता है। इसीलिये "अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ता शरीरिण"(२।१८) आदि श्लोकोमे अनेक शरीरोमे रहनेवाले शरीरी—आत्मा—को एक ही कहा है। जहाँ 'देहा' यह बहुवचन दिया है, तहा "शरीरिण" एक वचन ही रखा है। आगे भी यही बात है। "क्षेत्रज्ञ चापि मा विद्धि सर्वक्षेत्रेपु भारत" (१३।२)मे भी सभी क्षेत्रोमे—शरीरोमे—एक ही क्षेत्रज्ञ—शरीरी—को कहके साफ सुना दिया है कि शरीर और शरीरी—आत्मा—भगवानके ही स्वरूप है। "मयि ते तेपु चाप्यहम्"(९।२९)मे भी यही बात कही गई है कि भक्तजनोमे भगवान है और भगवानमे भक्तजन हैं—अर्थात् दोनो एक हैं। "अनन्येनैव योगेन मा ध्यायन्त उपासते" (१२।६)मे भी दोनोकी अभिन्नता—एकता—ही कही गई है। ऐसे ज्ञानियोकी हालत यह होती है कि न तो उनसे किसीको उद्वेग या जरासी भी दिक्कत मालूम होती है और न उन्हे दूसरोसे। यही बात "यस्मान्नोद्विजते लोक" (१२।१५)मे कही गई है। यही हैं ज्ञानी जनोकी पहचान। "मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी" (१३।१०)मे इसी अद्वैततत्त्वज्ञानको अव्यभिचारिणी भक्ति नाम दिया है। "मा च योऽव्यभिचारेण" (१४।२६)मे इसे ही अव्यभिचारी भक्तियोग भी कहा है।

# ६. "अपर्याप्तं तदस्माकम्"

गीताके प्रथमाध्यायके 'अपर्याप्त तदस्माकम्' (१।१०) श्लोकके अर्थमें बहुत मतभेद है। इसके शब्दो और उनके अर्थोंकी मनमानी खीच-तान की गई है। अत स्पष्टीकरण जरूरी है। सक्षेपमें दो खयालके लोग इस सम्बन्धमे पाये जाते है। एक तो वह है जो मानते है कि दुर्योधन अपनी फौजको कमजोर या नाकाफी कहे, इसकी कोई वजह नही थी। इसके उलटे काफी और अपरिमित कहनेके कई प्रमाण वे लोग पेश करते है। पहली बात यह है कि खुद दुर्योधनने उद्योगपर्व (५४।६०-७०)मे अपनी सेनाकी सब तरहसे तारीफ करके कहा था कि जीत मेरी ही होगी। दूसरी यह कि उसने गीतामे जो श्लोक कहे है प्राय इसी तरहके श्लोक उसके मुँहसे गीताके बाद ही भीष्मपर्व (५१।४-६)मे पुनरपि द्रोणा-चार्यके ही सामने निकले है। तीसरी यह कि यह बयान अपने सैनिकोको प्रोत्साहित करनेके ही लिये तो किया गया है। फिर इसमें अपनी ही कमजोरीकी बात कैसे आयेगी ? तब तो उलटा ही प्रभाव होगा न ? और स्वय दुर्योधन ही इतनी बडी भूल करे, यह कब सभव है ? जो लोग ऐसा खयाल करते है कि दुर्योधन डरके मारे ही ऐसा कह रहा था, वह भूलते है। क्योकि महाभारतकी लम्बी पोथीमें कहीं भी उसके भयभीत होनेका जिक्र है नही। विपरीत इसके भीष्मपर्व (१६।५ तथा २१।१)से पता चलता है कि दुर्योधनकी ग्यारह अक्षौहिणीके मुका-बिलेमे अपनी केवल सात ही अक्षौहणी सेना देखके युधिष्ठिरको ही खिन्नता हुई थी।

इसीलिये इस खयालके लोग इस श्लोकके पर्याप्त और अपर्याप्त शब्दोका आमतौरसे प्रचलित अर्थ काफी और नाकाफी माननेमें दिक्कत

एव ऊपरवाली अडचने देखके इनका दूसरा ही अर्थ मर्यादित या परिमित और अमर्यादित या अपरिमित करते है। इन अर्थोमे भी दिक्कत जरूर है। क्योकि ये प्रचलित नही है। मगर ऊपर लिखी दिक्कतोकी अपेक्षा यह दिक्कत कोई चीज नही है। ऐसी परिस्थितियोमे ही तो शब्दोके दूसरे-दूसरे अर्थ माने जाते है जो आमतौरसे अप्रसिद्ध होते है। इसीलिये शब्दोको पतजलिने महाभाष्यमे बार-बार कामधेनु कहा है "शब्दाः कामधेनव"। क्योकि सकटके समय या मौकेपर जैसा चाहिये इनसे अर्थ (प्रयोजन) प्राप्त कर लीजिये। यही है पहले खयालवालोकी स्थिति।

मगर दूसरे खयालवाले शब्दोके प्रचलित और आमतौरसे मालूम अर्थोंको छोड़नेके लिये यहाँ तैयार नही है। इस सम्बन्धमे जो दलीले पहले खयालवाले देते है उनके विचारसे वे सभी लचर है। शब्दोके अर्थोके बारेमे मीमासादर्शनमे जो यह नियम माना गया है कि शब्दसे आमतौरसे मालूम होनेवाले सीधे अर्थको ही लेना चाहिये उसे छोडनेका कारण कोई भी यहा है नही। बेशक दुर्योधन भयभीत था और इसके लिये दूर न जाके इसी श्लोकमे प्रमाण रखा हुआ है। श्लोकके पूर्वार्द्धमे 'अपर्याप्त'के बाद ही 'तत्' शब्द है जिसके आगे 'अस्माक' है। इसी तरह उत्तरार्द्धमे 'पर्याप्त तु'के बाद 'इदम्' है जिसके बाद 'एतेषां' आया है। 'तत्'का अर्थ है वह या जो सामने न हो। जो पदार्थ केवल दिमागमे हो और सामने न हो साधारणतया उसीको बतानेके लिये 'तत्' आता है। इसके उलटा जो चीज सामने हो उसीका वाचक 'इदम्' है।

अब जरा मजा तो देखिये कि खुद अपनी ही फौजमे खडा होके दुर्योधन द्रोणाचार्यसे बाते कर रहा है और अपने खास-खास योद्धाओके नाम उसने अभी-अभी गिनाके यह श्लोक कहा है—यह बात कही है। पाडव-सेनाकी बात पहले कहके अपनी फौजकी पीछे बोला है और फौरन ही उसीके बाद 'अपर्याप्त' आया है। ऐसी हालतमे तो हर तरहसे अपनी ही सेना

सामने है और पाडवोकी हर तरहसे दूर है। यो भी दूर खडी है और उसकी चर्चा भी पहले हो चुकी है। फिर भी उसीको सामने और प्रत्यक्ष कहता है। 'इदम्' कहता है और अपनीको परोक्ष और दूरकी। क्यो? इसीलिये न, कि उसके भीतर आतक छाया है, उसे डर और घबराहट है और भूतकी तरह पाडवोकी सेना उसकी छातीपर जैसे सवार है? इसी घबराहटमें अपनी फौज जैसे भूलीसी हो। आँखोके सामने और दिल दिमागपर तो पाडवोकी फौज ही नाचती है। फिर कहे तो क्या कहे? अपनी फौज और अपनी शेखी तो भूलसी गई है। यह बात इतनी साफ है कि कुछ पूछिये मत।

दूसरी बात है "भीष्माभिरक्षित" और "भीमाभिरक्षित" शब्दोकी। यह तो सबोको मालूम था ही और दुर्योधन भी अच्छी तरह जानता था कि जहाँ भीम एकतरफा और आँख मूँदके लडनेवाले है, वहाँ भीष्म दो नावपर चढनेवाले और सोच-विचारके लडनेवाले है। इसमे कई बातें हैं। महाभारत पढनेवाले जानते है कि कर्ण और भीष्ममे तनातनी थी जिसके चलते कर्णने कह दिया था कि जबतक भीष्म जिन्दा है मै युद्धसे अलग रहूँगा। इसीलिये तो गीताके बादवाले पहले ही अध्यायमे लिखा है कि युधिष्ठिरने उसे अपनी ओर मिलानेकी बडी कोशिश की थी। फिर भी न आया यह बात दूसरी है। मगर वही वैर बताके वह उसे फोडना चाहते थे। अगर नही फूटा तो इससे पता लगता है कि वह दुर्योधनका पक्का आदमी था। मगर पक्का तो सेनारक्षक हो नही और दुभाषिया हो सेनापति, यह क्या कमजोरीकी बात नही है? इसीसे तो दुर्योधनको डर था। मगर भीमके बारेमे कोई ऐसी बात न थी।

वह यह भी जानता था कि शिखडीसे भीष्मको खतरा है। इसीलिये इस श्लोकके बादके श्लोकमें ही दुर्योधन सबोसे कहता है कि आप लोग सबके सब सिर्फ भीष्मको ही बचायें—"भीष्ममेवाभिरक्षतु भवन्त सर्व

एव हि"। लेकिन यह भी क्या अजीब बात है कि जोई सेनापति और सेनाका रक्षक हो उसीकी रक्षाके लिये शेष सबोको आदेश दिया जाय कि आप लोग 'केवल भीष्म'—'भीष्ममेव'—की रक्षा करे ! मालूम होता है, दूसरा कोई भी इससे जरूरी काम न था। मगर जिस फौजके सेनापतिके ही बारेमे यह बात हो वह फौज क्या जीतेगी खाक ? ऐसा कही नही देखा सुना कि फौजके सभी प्रमुख योद्धा केवल सेनापतिको ही रक्षा करे। मगर भीमके बारेमे तो यह बात न थी। उन्हे कुछ सोचना-विचारना थोडे ही था कि किसपर अस्त्र चलाये किसपर नही। इस मामलेमे तो वे ऐसे थे कि मीनमेख करना जानते ही न थे। बल्कि मीनमेखसे चिढते थे। वे तो युधिष्ठिरको कोसा करते थे कि आपको बुद्धिकी बदहजमी और धर्मकी बीमारी लगी है, जिससे रह-रहके मीनमेख निकाला करते है।

महाभारतमें गीताके बादवाले अध्यायमे ही यह बात लिखी है कि भीष्मने साफ ही कह दिया कि युधिष्ठिर, जाओ, जीत तुम्हारी ही होगी। उनने यह भी कहा था कि क्या करूँ मजबूरी है इसीलिये लडूँगा तो दुर्योधनकी ही ओरसे, हालाँकि पक्ष तुम्हारा ही न्याययुक्त है। इसीलिये तुम्हारे सामने दबना पडता है और सिर उठा नही सकता। क्या ऐसे ही 'आ फँसे'वाले सेनापतिसे जीत हो सकती थी ? और क्या इतनी बात भी दुर्योधन समझता न था ? खूबी तो यह है कि न सिर्फ भीष्म, किन्तु द्रोण, कृप और शल्य भी इसी ढगके थे और यह बात उसे ज्ञात न थी यह कहनेकी हिम्मत किसे है ? विपरीत इसके भीम अपने पक्षके लिये मर मिटनेवाला था, उचित अनुचित सब कुछ कर सकता था। इसीलिये तो दुर्योधनकी कमरके नीचे उसने गदा मारी जो पुराने समयके नियमोके विरुद्ध काम था और इसीलिये अपने चेले दुर्योधनकी कमर टूटनेपर बलराम बिगड खडे भी हुए थे कि भीमने अनुचित काम किया। मगर भीमको इसकी क्या पर्वा थी ?

जरा यह भी तो देखिये कि जहाँ स्वय दुर्योधनने शत्रुओकी सेना और उसके सेनानायकोका वर्णन पूरे चार (३से ७) श्लोकोमे किया है, तहाँ अपनी सेनावालोका सिर्फ एक (८) ही श्लोकमें करके अगले (९वें)में केवल इतनेसे ही सन्तोष कर लिया है कि और भी वहुतेरे है जो मेरे लिये मर मिटेगे ! आखिर वात क्या है ? यह "प्रथमग्रासे मक्षिकाभक्षणम्" कैसा ? अपने ही लोगोका कीर्त्तन इतना सक्षिप्त ? इसमे भी खूबी यह कि जिनके नाम गिनाये है उनमे एकाधको छोड सभी दोतर्फे है, और विकर्ण तो साफ ही युधिष्ठिरकी ओर जा मिला था, यह गीताके वादवाले ही अध्यायमे लिखा है। शत्रु पक्षके वर्णनमें भी यह वात है कि द्रुपद-पुत्रकी वडी तारीफ की है। कहता है कि आपका ही चेला है। वडा काइयाँ है और वही है सेनाको सजाके नाकेपर खडी करनेवाला। सवोको भीम और अर्जुनके समान ही युद्धमे वहादुर भी कह दिया है "भीमार्जुन समायुधि", अन्तमें सभीको यह भी कह दिया कि महारथी ही है—"सर्व एव महारथा"। क्या ये एक वातें भी अपनोके वारेमे उसने कही है ? और अगर कोई यह कहनेकी हिम्मत करे कि शत्रुओकी यह वडाई तो सिर्फ अपने लोगोको उत्तेजित करनेके ही लिये है, तो यही वात "अपर्याप्त" श्लोकके वारेमे भी क्यो नही लागू होती ? दरअसल तो उसके दिलपर पाडवोका आतक छाया हुआ था। फिर वैसा कहता क्यो नही ?

एक वात और देखिये। उसके कह चुकनेपर "तस्य सजनयन्हर्षं" इन वारहवें श्लोकमे यह कहा गया है कि दुर्योधनके भीतर वखूवी हर्ष पैदा करनेके लिये भीष्मने शख वजाया। जरा गौर कीजिये कि "उसके हर्षको वढानेके लिये" कहनेके वजाय यह कहा गया है कि "उसका हर्ष पैदा करनेके लिये"—"हर्षं सजनयन्"। जन धातुका अर्थ पैदा करना ही होता है न कि वढाना। जो चीज पहलेसे न हो उसीको तो पैदा करते है। जो पहलेसे ही हो उसे तो केवल वढा सकते है। इसीसे पता लग

जाता है कि दुर्योधनके भीतर हर्षका नाम भी न था। इसीलिये भीष्मने उसे पैदा करनेकी कोशिश की। 'जनयन्'के पहले जो "सम्" दिया गया है उससे यह भी प्रकट होता है कि काफी मनहूसी थी जिसे हटाके खुशी लानेमे भीष्मको अधिक यत्न करना पडा।

यह भी तो विचित्र बात है कि वह बाते तो करता है द्रोणसे। मगर वह तो कुछ बोलते या करते नही। किन्तु उसे खुश करनेका काम भीष्म करते है जिनके पास वह गया तक नही! वह जानता था कि उनके पास जाना या कुछ भी कहना बेकार है। वह तो सुनेंगे नही। उलटे रज हो गये तो और भी बुरा होगा। इसीलिये सेनापति होते हुए भी उन्हे छोडके द्रोणके पास दुर्योधन इसीलिये गया कि खतरेसे सजग कर दिया जाय। उचित तो सेनापतिके ही पास जाना था। यही तरीका भी है। मगर न गया। इससे भीष्मको भी पता चल गया कि मेरी ओरसे उसे शक है। इसीसे भीतर ही भीतर नाखुश है। उसी नाखुशीको दूर करनेके ही लिये उनने बिना कहे-सुने शख बजाया। नही तो एक प्रकारके इस अकाड ताडवका प्रयोजन था ही क्या? जोरसे सिहगर्जन करना और खूब तेज शख बजाना अपनी सफाई ही तो थी।

द्रोणके पास जानेमे दुर्योधनका और भी मतलब था। युद्धविद्याके आचार्य तो वही थे। इसलिये आगे लडाईकी सफलता और भीष्मादिकी रक्षाका ठीक उपाय वही बता सकते थे। यह काम जितनी खूबीके साथ वह कर सकते थे दूसरा कोई भी कर न सकता था। शत्रुओकी सारी कला और खूबियोको वही जानते थे। उन्हे जरा उत्तेजित भी करना था। जिन्हें सिखा-पढाके उनने तैयार किया वही अब उन्हींसे निपटनेको तैयार है! जिस धृष्टद्युम्नको रणविद्या दी उसीने आप हीके खिलाफ व्यूहरचना की है! कृतघ्नता की हद्द हो गई! इसीलिये जो "तव शिष्येण" यह विशेषण उसने "द्रुपद पुत्रेण"के साथ लगाया है उसके दोनो ही मानी

है। एक तो यह कि सजग रहिये, वह काफी होशियार है। क्योंकि आपका ही सिखाया-पढाया है। दूसरा यह कि चेला होके गुरुके ही खिलाफ लडनेकी पूरी तैयारीमे है, यह उसकी शोखी देखिये।

यह दलील, कि उत्तेजित करने और जोश बढानेके बजाय डरानेवाली कमजोरीकी बात कैसे कहेगा, क्योंकि तब तो सभी लोग डर जायेंगे ही और सारा गुड ही गोबर हो जायगा, भी निस्सार है। वह तो सिर्फ द्रोणसे ही बाते कर रहा था। बाकी लोगोको क्या मालूम कि क्या बाते हो रही है? फिर उनके डरनेका सवाल आता ही कहां से है? और द्रोणसे भी सारी हकीकत और असलियत छिपाई जाय, यह कौनसी बुद्धिमानी थी? वही तो दिक्कतो और खतरोका रास्ता सुझा सकते थे। आखिर दुर्योधन और किससे दिलकी बाते कहता? द्रोणाचार्य इस बातका डका पीटने तो जाते न थे कि सबोके दिल दहलनेकी नौबत आ जाती। और जब आगे "सघोषोधार्त्तराष्ट्राणा" (१६) श्लोकमे साफ ही कह दिया है कि पाडवोंकी शखध्वनियोसे दुर्योधनके दलवालोका कलेजा दहल गया, तो फिर वही बात चाहे एक मिनट आगे हुई या पीछे, इसमें खास ढगका एतराज क्या हो सकता है? जब भीष्मपर्वके पहले ही अध्यायके १८, १६ श्लोकोमें यही बात लिखी जा चुकी है कि केवल कृष्ण और अर्जुनके शखोकी ही आवाजसे दुर्योधनकी सेनाके लोग ऐसे भयभीत हो गये जैसे सिहके गर्जनसे हिरण कांप उठते है, इसीलिये हालत यहांतक हो गई कि सबोकी पाखाना-पेशाब तक उतर आई, तो फिर यहां दुर्योधनकी बातोसे दहलनेका क्या प्रश्न?

अब रही यह दलील कि उद्योगपर्वमें दुर्योधनने स्वय अपनी सेनाकी बडाई करके विजयका विश्वास जाहिर किया था। यह भी वैसी ही है। यो प्रशसाके पुल बांधना और मनोराज्यके महल बनाना दूसरी चीज है। उसे कौन रोके? उसमे बाधा भी क्या है? मगर जब ऊँट पहाडपर

चढता है तो उसका बलबलाना बन्द हो जाता है। उँचाई कैसी है, इसका मजा भी मिलता है। यही बात हमेशा होती है जब ठोस चीजो और परिस्थितियोका सामना करना पडता है। अर्जुनने भी तो बहुत दिनोसे जान-बूझके लडाईकी तैयारी की थी और जब कभी युधिष्ठिर जरा भी आगा-पीछा करते तो घबरा जाते थे और उन्हे कुछ सुना भी देते थे। मगर मैदाने जगमे जब सभी चीजे सामने आई और ठोस परिस्थिति चट्टानकी तरह आ डँटी तो घबराके धर्मशास्त्रकी पोथियोके पन्ने उलटने लगे। क्या उन्हे पहले मालूम न था कि युद्धमे गुरुजनो और कुलका सहार होगा? फिर यह रोना पसारनेकी वजह क्या थी सिवाय इसके कि पहले ठोस चीजे सामने न थी, केवल दिमागी बाते थी, मगर अब वही चीजे स्वय सामने आ गईं? यही बात दुर्योधनकी थी। पहले बडी-बडी कल्पनाये थी। मगर युद्धके मैदानमे सारा रग फीका हो गया!

गीताके बाद भी यदि यही श्लोक आये है तो इससे क्या? अगर इन श्लोकोसे उसकी त्रस्तता सिद्ध होती है तो बादवाले भी यही सिद्ध करेगे। हाँ, यदि इनमे ही उत्साह-उमग हो तो बात दूसरी है। मगर यही तो अभी सिद्ध करना है। इसलिये बादके श्लोक तो गीताके ही श्लोकोके अर्थपर निर्भर करते है। यदि गीतामे ही बादके १२से लेकर १९ तकके आठ श्लोकोको देखा जाय तो पता चलता है कि केवल दो श्लोकोमे दुर्योधनके पक्षवालोके बाजे-गाजे वगैरह बजनेकी बात लिखी है और बाकी ६मे पाडव पक्षकी! खूबी तो यह है कि इन दोनोमे भी पहलेमे सिर्फ भीष्मके गर्जन और शखनादकी बात है। दूसरेमे भी किसीका नाम न लेके इतना ही लिखा है कि उसके बाद एक-एक शख, नफीरी आदि बज पडी। मगर पाडव पक्षका तो इन शेष ६ श्लोकोमें पूरा ब्योरा दिया गया है कि किसने क्या बजाया। इससे इतना तो साफ हो जाता

है कि कमसे कम गीताकार तो पाडव पक्षका ही महत्त्व दिखाते है, दिखाना चाहते है, और हमे गीताके ही श्लोकोका आशय समझना है। महाभारतमें क्या स्थिति थी, इसका पता हमे दूसरी तरहसे तो है भी नही कि गीताके शब्दोको भी खीच-खाँचकर उसी अर्थमें ले जायें। अतएव हमने जो अर्थ इस श्लोकका लिखा है वही ठीक और मुनासिब है।

# ७. "जायते वर्णसंकरः"

गीताके पहले अध्यायके 'अधर्माभिवात् कृष्ण' (१।४१) श्लोकमे वर्णसकरके मानीमे भी अकसेर गडबड हो जाती है। वर्णसकरका शब्दार्थ है वर्णोका सकीर्ण हो जाना या मिल जाना। जब वर्णोकी कोई व्यवस्था न रह जाय तो उसी हालत को वर्णसकर कहा जाता है। बात असल यह है कि हिन्दुओने जो वर्णोकी व्यवस्था बनाई थी वह उस समयके समाजकी परिस्थिति और प्रगतिके अनुकूल ही थी। उनने यह अच्छी तरह देख लिया था कि समाज कहाँ तक उन्नति कर गया, आगे बढ गया और किस हालतमे है—उसकी प्रगति वैसी ही तेज है, रुक गई है या बहुत ही धीरे-धीरे चीटी कीसी चालसे चल रही है। बस, यही बाते देखके इन्हीके अनुकूल वर्णोकी व्यवस्था उस समय बनी थी और यह बनी थी जीवन-सग्राम (Struggle for existence) का खयाल करके ही।

पुराने जमानेमे युद्ध करनेवाली सेनाके चार विभाग होते थे, जिन्हे पैदल, रथवाले, घुडसवार और हाथी सवार कहते थे। तोपखाना आज-की तरह अलग न था, किन्तु इन्ही चारोके साथ आवश्यकतानुसार जुटता था। उनका रथ बहुत व्यापक अर्थमे बोला जाता था। इसी-लिये कहा जाता है कि राम-रावणके युद्धमे रामके पास रथ न होनेके कारण देवताओने भेजा था। वह रथ तो कोई हवाई जहाज जैसी ही चीज होगी। यह भी मिलता है कि वैसे ही रथसे राम जगलसे अयोध्या वापस आये थे। इसीलिये आजका हवाई जहाज भी उसीमे आ जाता है। समुद्री जहाजोकी लडाई तव तो थी नही। फिर भी वे तो रथके भीतर ही आ जाते है। अन्तर यही है कि वह रथ पानीमे चलनेवाला

होता है। पनडुब्बी जहाज पानीके भीतर ही चलते हैं। इसीलिये आज भी पैदल (Infantry), घुडसवार (Cavalry), तोपखाना (Artillery) जहाजी बेडा (Navy) और हवाई सेना (Airforce) इन पाँच विभागोके बावजूद भी हवाई जहाजकी स्वतत्र हस्ती नही है। वह चारोका ही साथी जरूरतके अनुसार बन जाता है, जैसे पहले तोपखानेकी बात थी। इससे यह बात निकलती है कि युद्धके लिये सेनाके साधारणत चार विभाग जरूरी होते हैं।

इसी दृष्टिसे प्राचीनोने जीवन सघर्षको ठीक-ठीक चलाने और मानव समाजको उसमें विजयी बनानेके लिये उसके भी चार विभाग किये थे—समाजको चार हिस्सोमे बाँटा था, जिन्हे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र कहते थे और अब भी कहते हैं। उनने अध्यात्मवाद, पुनर्जन्म और परलोकका भी सिद्धान्त स्वीकार किया था इसीलिये वर्णोंके ही कार्योंकी पुष्टि एव सहायताके लिये चार आश्रम भी बनाये गये थे। ये आश्रम विद्यार्जन, तप, समाधि आदिके जरिये चारो वर्णोंके लौकिक-पारलौकिक हित साधनमें ही मदद करते थे। गृहस्थ आश्रम तो साफ ही है। मगर ब्रह्मचर्यका काम था सभी विद्याये पढना तथा वानप्रस्थका था तप और सर्दी-गर्मीको सहन करके समाधिके लिये अपनेको तैयार करना। सन्यासीका काम था ध्यान और समाधिके द्वारा आत्मज्ञानको पूर्ण बनाना। यही लोग गृहस्थो और दूसरोको भी ज्ञानोपदेशके द्वारा कर्मयोगी बनाते थे।

वर्णोंकी हालत यह थी कि ब्राह्मणका काम था सभी प्रकारके ज्ञानोको पूरा-पूरा हासिल करना। यहाँ तक कि गृहस्थ लोग ही ज्येष्ठ आश्रमी माने जाते थे। ब्राह्मणका ज्ञान पूर्ण होने पर वही सबोमें—शेष क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तीनोमें—उसका पूरा प्रसार करते थे। इसीलिये सभी वर्णोंके गृहस्थ ज्ञान दाता माने जाते थे। अम्बरीषने क्षत्रिय होके भी दुर्वासा

जैसे ब्राह्मण ऋषिको ज्ञान दिया था। जनककी भी यही बात थी। उपनिषदो मे प्रतर्दन आदि राजाओके बारेमे तो यहाँ तक लिखा है कि पञ्चाग्नि विद्या जैसी चीजे वही जानते वे आरुणि जैसे प्रगाढ विद्वान् ब्राह्मणोको भी मालूम न थी। इसी प्रकार तुलाधार वणिक् और जाजलि ब्राह्मणका सम्वाद महाभारतके शान्तिपर्वमे आता है जिसमे ब्राह्मणको वनियेने ज्ञानोपदेश किया है। शूद्रको बात तो इतनी बड़ी है कि साक्षात् धर्म व्याधको ही कथा महाभारतमे है जहाँ सन्यासी तक ज्ञान सीखने जाते थे। इसीलिये मनुने तीसरे अध्यायमे कहा है कि "गृहस्थ ही तो शेष तीन आश्रमवालोको अन्न और ज्ञान देकर कायम रखता है। इस-लिये वही चारोमे वडा आश्रम है"—"यस्मात्त्रयोऽप्याश्रमिणो ज्ञानेनान्नेन-चान्वहम्। गृहस्थेनैव धार्यन्ते तस्माज्ज्येष्ठाश्रमोगृही" फिर भी ब्राह्मणोका ही प्रधान काम रखा गया था विद्या देना और ज्ञानका प्रचार करना।

असलमे जब तक एक दल समाजमे ऐसा न हो जिसका काम ही हो अन्वेषण, जाँच-पडताल, प्रयोग और सोचना-विचारना तब तक ज्ञानका विकास असभव है। खासकर उस जमानेमे जब आजकी तरह ज्ञानके साधनोका विकास हो पाया न था और न ऐसे यत्र ही वन पाये थे जो आज पाये जाते है। यातायातके साधन भी ऐसे न थे कि दुर्गमसे भी दुर्गम स्थानोमे जाया जा सके। उस दशामे सभी प्रकारकी शोध और अन्वेषण वगैरहकी प्रगतिके लिये यह जरूरी था कि समाजका एक भाग हर तरहसे निश्चिन्त करके इसी कामके लिये छोड दिया जाय। उपनिषदो और दूसरे ग्रथोमे जो ऋषियो एव विद्वानोकी गोष्ठियो तथा सभाओके बार-बार वर्णन पाये जाते है वह उन्ही ब्राह्मणोकी वैसीही कान्फ्रेसे थी जैसी आजकल दर्शन, विज्ञान आदिकी कान्फ्रेसे हुआ करती है। अपने-अपने अनुभवोको वहाँ प्रकट करके मिलान की जाती थी और कोई न कोई निष्कर्ष निकाला जाता था।

इसी प्रकार शासन और व्यवस्थाके लिये भी समाजका एक विभाग अलग कर दिया गया था जिसे क्षत्रिय नाम दिया गया। इसमें भी वही बात है जो ब्राह्मणके सिलसिलेमे कही गई है। शासनका काम बडा ही पेचीदा है। अमन एव शान्ति बराबर बनाये रखना ताकि समाज ठीक-ठीक प्रगति कर सके, मामूली काम नही है। युद्ध विद्याको व्यावहारिक रूप देना और उसे पूर्णताको पहुँचाना असभव सी चीज है। सभी दिमागी कामोके बीचमे ब्राह्मणोके लिये गैरमुमकिन था कि युद्ध विद्याको अमली रूपमे शिखर पर पहुँचा दे। द्रोण या कृपकी तरह कोई-कोई ऐसा करें भी तो सभी ब्राह्मणोके लिये यह असभव बात थी। और जब तक सामूहिक रूपसे लाखो लोग यह काम न करे शत्रुओसे सफलतापूर्वक लोहा लेना असभव था। द्रोण वगैरह इस काममे पडे तो दूसरी विद्याओकी उतनी जानकारी उन्हें भी नही रही। इसीलिये क्षत्रिय नामका एक जुदा वर्ण शासन और युद्धके विज्ञानमे पारगत होनेके ही लिये बनाया गया।

मगर जब तक खेती-बारी और रोजगार-व्यापार अच्छी तरहसे न हो न तो ब्राह्मणका ही काम चल सकता है और न क्षत्रियका ही। जैसे फौजके कमिसरियट विभागके बगैर सभी सेना अन्न, वस्त्रादि जरूरी चीजोके बिना ही खत्म हो जाय। ठीक वही बात वर्णोंके बारेमे भी समझना चाहिये। इसीलिये तो वैश्य नामक तीसरा वर्ण बनाया गया जो खेती-बारीके द्वारा अन्न, दूध, घी आदि उपजाये और व्यापारके जरिये वस्त्रादि दूसरी जरूरी चीजे मुहय्या करे। अधिकाश व्यापार तो पहले जमीनसे उत्पन्न चीजोका ही होता था। आजके कारखाने तो पहले थे नही। इसीलिये वैश्यका ही काम खेती और व्यापार दोनो ही रखा गया। फौज आदिके लिये सामूहिक रूपसे भी अन्न-वस्त्र और अस्त्र-शस्त्रादि वही जमा कर सकता था। इसीलिये व्यापार भी उसीके हाथमें था।

अब समाजोपयोगी एक ही तरहका काम बच जाता है जिसे कारीगरी कहते है। इसमे दिमाग और शरीर दोनोके ही पूरे-पूरे सहयोगका सवाल आता है। पहलेके तीनो वर्ण यह कर न सकते थे। उनके काम ऐसे हो गये कि दूसरी बातमे पडने पर उनसे वह काम भी पूरे न हो पाते। एक बात यह भी है कि कारीगरीमे हजारो बाते है। अस्त्र-शस्त्र बनाना, कपडा बनाना, यत्रादि बनाना वगैरह। फिर इनमे भी कितने ही विभाग हो जाते है। इसीलिये इन सबोके लिये एक दल ऐसा ही चाहिये जो बाँटके एक-एक काम ले ले और उसे न सिर्फ पूरा करे, किन्तु उसमे पूर्ण प्रगति करे, नये-नये आविष्कार करे। इसीके साथ मौके ब मौके ब्राह्मणादि तीनो वर्णोके भी काम कर सके। जरूरत आने पर ब्राह्मणका काम करे और आवश्यकता होने पर क्षत्रिय या वैश्य का। साराश यह कि उक्त तीनो वर्णोके लिये सरक्षित शक्ति (Reserve force) का काम दे। इसीलिये चौथा वर्ण बना जिसे शूद्र कहते है और उसमे भी लुहार, बढई आदि सैकडो छोटे-छोटे विभाग हो गये। हमने सभी पुरानी पोथियोको देखा है। उनमे सभी तरहके दस्तकारो और कारीगरोको शूद्र ही कहा है।

शूद्र सभी वर्णोकी कमीको भी पूरा (Supplement) करता था यह बात भी माननी ही होगी। इसीलिये तो ऐसे अनेक आख्यान पुराने ग्रथोमे मिलते है जिनसे पता चलता है कि ब्राह्मण और क्षत्रियको भी कभी-कभी शूद्र कह देते थे। छान्दोग्य-उपनिषदके चौथे अध्यायके पहले दो ब्राह्मणोमे जानश्रुति राजा और रैक्व ऋषिका आख्यान आया है और चौथे मे सत्यकाम जाबाल ऋषिका। रैक्वने जानश्रुतिको दो बार शूद्र कहा है—"तमुह पर प्रत्युवाचाह हारेत्वा शूद्र तवैव सहगोभिरस्तु" (४।२।३) तथा "तस्याह मुखमुपोद्गृह्णन्नु वाचाजहारेमा शूद्रानेनैव मुखेन्त लापयिष्यथा." (४।२।४)। 'रैक्वने दोनो जगह जानश्रुति राजाको

शूद्र कहके पुकारा है। सत्यकामकी बात ऐसी है कि जब अपनी माता जाबालासे आज्ञा लेने लगे कि मैं कहीं ब्रह्मचारी बनके पढ़ूँ लिखूँगा तो उनने पूछा कि मेरा गोत्र तो बता दे, ताकि पूछने पर कह सकूँगा। इस पर माताने कहा कि मैं भी नहीं जानती। मैं तो नौजवानीमें इधर-उधर भटकती थी। उसी बीच तेरा जन्म हुआ और मेरा नाम जाबाला होनेसे तेरा नाम सत्यकाम जाबाल रखा गया। पीछे जब सत्यकाम हारिद्रुमत गौतमके पास गये और उनके पूछने पर अपने गोत्रके बारेमें सारा हाल कह सुनाया तो गौतमने कहा कि तुम जरूर ब्राह्मण हो। क्योंकि जो ब्राह्मण न हो वह ऐसी साफ बात बोल नहीं सकता—"नैतद ब्राह्मणो विवक्तुमर्हति" (४।४।५)। जिसके बापका ठिकाना हो उसे तो वर्ण-सकर और ज्यादेसे ज्यादा शूद्र ही कहते हैं। मगर उनने ब्राह्मण मान लिया। और कारण भी कितना सुन्दर है कि उसने अपना कच्चा चिट्ठा जो कह दिया! ऐसा तो शूद्र या दूसरे वर्णवाले भी कर सकते हैं। करते हैं! इसीसे मानना पडता है कि शूद्र सभी वर्णोंका रिजर्व भी माना जाता था।

इस प्रकार समाजके कार्य-सचालनके लिये और उसकी पूर्ण प्रगतिके खयालसे भी समाजको चार दलोमे बाँटा गया। ऐसा करनेमें, जैसा कि गीताने कहा है (४।१३,१८।४१-४४), आदमियोकी स्वाभाविक प्रवृत्तियो और सत्त्वादि गुणोका भी शुरू-शुरूमे खयाल किया गया। नहीं तो योंही कैसे किसीको ब्राह्मण बना देते तो किसीको शूद्र? यही काम करनेमें उनके शरीरोके रग (वर्ण)से भी मदद ली गई। तीनो गुणोंके रगोकी कल्पना तो उन लोगोने की थी ही। इसीलिये आदमियोके शरीरोंके रगो या वर्णोंको देखनेके बाद उनके गुणो और तदनुसार स्वभावोका निश्चय करके ही उन्हें काम बाँटे गये। फिर वे अलग-अलग कर दिये गये। यदि स्वभाव एव रुचिके अनुसार काम न दिया जाता तो सब गुड

गोवर जो हो जाता। कोई भी वर्ण अपना काम ठीक-ठीक पूरा न कर पाता। इसी वर्ण या रंगका खयाल करके ही चारोको वर्ण कहा। वर्ण विभाग शब्दका भी यही मतलब है। इसीलिये महाभारतके शान्तिपर्व-के मोक्ष धर्मके १८८वे अध्यायमे भृगुका वचन इस प्रकार लिखा गया है, "न विशेषोऽस्तिवर्णाना सर्व ब्राह्ममिद जगत्। ब्रह्मणापूर्व सृष्ट हि कर्मभिर्वर्णता गतम् ।।१०।। कामभोग प्रियास्तीक्ष्णा क्रोधना प्रियसाहसा। त्यक्तस्वधर्मा रक्तागास्ते द्विजा क्षत्रता गता ।।११।। गोभ्यो वृत्ति समास्थाय पीता कृष्युपजीविन । स्वधर्मान्नानुतिष्ठन्तितेद्विजावैश्यता गता ।।१२।। हिंसानृतप्रिया लुब्धा सर्वकर्मोपजीविन । कृष्णा शौचपरिभ्रष्टास्तेद्विजाः शूद्रता गता ।।१३।। इत्येतै कर्मभिर्व्यस्ता द्विजावर्णान्तर गता । धर्मो-यज्ञक्रियातेषा नित्य न प्रतिषिध्यते" ।।१४।। इन श्लोकोका आशय यह है—"शुरू-शुरूमे तो वर्णोका विभेद था ई नही; ससारमे सभी ब्राह्मण ही थे। क्योकि ब्रह्माने ही तो सबको पैदा किया था। मगर पीछे विभिन्न कामोके करते अनेक वर्ण हो गये। जिन ब्राह्मणो (ब्रह्माके पुत्रो)को पदार्थोके भोगमे ज्यादा प्रेम था, जो रूखे स्वभावके और क्रोधी थे और जो बहादुरीकी ओर बहुत ज्यादा झुकते थे ऐसे रक्त वर्णवाले ब्राह्मण ही अपना कर्त्तव्य छोड देनेके कारण क्षत्रिय हो गये। जो पीले शरीरवाले गौ आदि पशुओको पालते और खेतीसे जीविका करने लगे थे, साथ ही जो अपना (ब्राह्मणका) धर्म करते न थे वही वैश्य हुए। जो हिंसा और असत्यकी ओर अधिक झुकते थे, लोभी थे, काले वर्णके थे, सफाईसे नहीं रहते थे और सभी काम करते थे वही ब्राह्मण शूद्र हो गये। इस प्रकार अलग-अलग कर्मोके चलते एक ब्राह्मण समाज ही अनेक वर्णोमे बँट गया। इसीलिये तो सबोके पहचान स्वरूप यज्ञकी क्रिया सभीके लिये जरूरी बताई गई है। किसीके लिये उस यज्ञकी मनाही नही है।"

इन श्लोकोसे कई बाते साफ होती है। एक तो यह कि एक समय

ऐसा भी था जब वर्ण विभाग बिलकुल थाई नही। सभी एक ही थे। पीछे वर्णोका विभाग बना। दूसरी चीज यह कि पहले सभी ब्राह्मण ही थे। क्योकि सभी ब्रह्माके पुत्र थे। ब्रह्मन् शब्दसे ब्रह्मा बनता है और ब्राह्मण भी। ब्राह्मणका अर्थ ही ब्रह्माका पुत्र। द्विज तो उन्हे इसीलिये कहते है कि उनके दो जन्म (द्वि+ज) होते है। एक माता-पितावाला और दूसरा गायत्री सस्कारवाला। तीसरी बात यह कि ये जो वर्ण-भेद हुए वह स्वभाव तथा क्रिया (काम)की विभिन्नता एव शरीरके रग (वर्ण)-की विभिन्नतासे ही। इस तरह जो अनेक वर्ण बने उन्हें अपनी असली हालत (ब्राह्मणता)से पतन माना गया यह चौथी बात है। इससे पता लगता है कि एक समय ऐसा जरूर था जब किसी भी प्रकारके विभागकी जरूरत न थी। इसे ही प्रारम्भिक साम्यवादी अवस्था (Primitive communism)कहते है। पाँचवी बात यह है कि शूद्रोके बारेमे लिखा है कि वे सभी काम करने लगे "सर्वकर्मोपजीविन"। इससे दो बाते सिद्ध हो जाती है, एक तो यह कि शूद्र सभी वर्णोके रिजर्वका काम करते थे। दूसरी यह कि उन्हे कला-कौशल और दस्तकारी वगैरके हजारो काम करने पडते थे। छठी बात यह कि सबोको जो यज्ञ करनेकी छुट्टी है और इसकी रोक न होके करने पर ही जोर दिया गया है उससे पता लगता है कि फिर उसी ओर इन्हे जाना है जहाँसे आये थे। इन्हें यह यज्ञ याद दिलाता है कि पुनरपि उसी साम्यवादी अवस्थाको प्राप्त करना है। यज्ञका अर्थ है भी बहुत व्यापक, जैसा कि पहले ही भाग मे लिखा जा चुका है। इन श्लोकोने सभी वर्णोके स्वभावोका अच्छा चित्र खीचा है।

यही पर एक बात और जाननेकी है जिसका ताल्लुक वर्णसकरसे है। जब एक बार वर्णोका विभाग हो गया तो इस बातकी पूरी व्यवस्था कर दी गई कि फिर खिचडी होने न पाये—फिर ऐसा न हो कि वर्णोकी खिल्लत मिल्लत हो जाय। चाहे इस बात पर कितने ही आक्षेप किये जायँ—

और दुनियामे निर्दोष तो कुछ भी नही है---लेकिन ऐसा करनेमे उनका एक खास मतलब था। वे यह मानते थे और आजके अन्वेषण तथा विज्ञानसे भी यह बात सिद्ध हो चुकी है कि जो काम पुश्त दर पुश्तसे होता रह जाय वह एक प्रकारका स्वभाव बन जाता है। फलत पीछे चलके जो लोग उस वशमे पैदा होते है वह उस काममे क्रमश ज्यादे से ज्यादा विशेषज्ञ होते जाते है। बढ़ईका पेशा जिन वशोमे होता हो उनके बच्चे स्वभावत उस काममे कुशल होते है। वे उसके सबन्धमें नये-नये आविष्कार आसानीसे कर लेते है। कर सकते है। यही बात दूसरे पेशो, दूसरे कामोकी भी है।

यही कारण है कि वर्णोके लिये जो व्यवस्था बनी उसमे विवाह-शादी और खान-पानकी बडी सख्ती रखी गई। असल चीज है रक्तकी शुद्धि जिसका मतलब यही है कि यदि उसी पेशे या कामके माँ-बाप होगे और उनमें जरा भी गडबडी न होगी, जैसीकि पशु-पक्षियोमे पाई जाती है कि एक ही ढगके पशु-पक्षियोके जोडे लगते है, तो उनसे जो बच्चा होगा उसका सस्कार उस पेशेके बारेमे और भी तेज होगा। वह उस काम मे साधारणत और भी कुशल होगा---कमसे कम उसकी कुशलताका सामान तैयार तो होगा ही। विभिन्न वर्णोकी परस्पर विवाह-शादी को सख्तीसे रोकनेका यही अभिप्राय था। जब कही उस रोकमे कुछ ढिलाई भी की तो उसे ठीक न कहके वासना युक्त शादी---कामतस्तु प्रवृत्ताना---कह दी। आखिर ब्राह्मण पिता और क्षत्रिया माता या विपरीत माता-पितासे जो सन्तान होगी वह किसका सस्कार रखेगी ? दोनोके तो सस्कार दो ढगके ठहरे जो मेल खाते नही। अब अगर परस्पर विरोध हो गया तो दोनो ही एक दूसरेको खत्म ही कर देगे। खान-पान वगैरहकी सख्ती भी इसी सस्कार की ही मजबूती और रक्षासे ताल्लुक रखती है और स्वास्थ्यसे भी। उस स्वास्थ्यका आखिरी असर भी सस्कारोकी ही मजबूतीपर पडता है।

जिस प्रकार चित्रमे तीन चीजें होती है। एक तो आधार भूत कागज, दीवार या कपडा वगैर। दूसरा उसी पर रग भरना। तीसरा किसी ढांचे (Frame) के भीतर लगाके रखना। इनमे फ्रेम या ढांचा तो सिर्फ रक्षार्थ है। ताकि बाहरी हवा पानीसे रग फीका न पडे या घिस न जाये। आधारवाले कागज वगैरह भी जरूरी है। अगर वे ठीक न हों तो न रग ठीक भरेगा और न चित्र ठीक उतरेगा। मगर रग भरना यहा असली चित्रकारी है, चित्र है। फिर भी आधार भी जरूरी है और किसी हद तक बाहरी शीशे आदिका ढांचा या फ्रेम भी।

यही बात वर्णोंकी भी समझिये। एक ही काम या पेशेवाले मां-बापका होना आधार स्वरूप कागज या दीवारकी तरह है। आखिर छायाचित्र या फोटो सभी शीशो पर नही उतरता। उसके लिये खास ढगकी शीशेवाली पटरी (Plate) चाहिये। सस्कारकी बात भी कुछ उसीसे मिलती-जुलती है। उसके बाद जो सतान हो उसे उचित शिक्षा आदि देना यही रग भरना है और यही असल चीज है, असल चित्र है। खान-पान आदिका सयम और विवाह शादीकी सरनी तीसरी चीज है जो ढांचे या फ्रेमका काम देती है। इसीलिये प्राचीन स्मृतिकारोने लिखा है कि "तप श्रुत च योनिश्च एतद् ब्राह्मण कारणम्। तप श्रुताभ्या योहीनो जाति ब्राह्मण एव स" (पातजल महाभाष्य ५।१।११५) "सयम, सदाचार आदि तप, विद्या और ब्राह्मणी ब्राह्मणसे जन्म ये तीनो मिलके ब्राह्मण बनाते या पक्की ब्राह्मणता लाते है। इसीलिये जिनमें तप और विद्या न हो वह नाममात्रके—कहनेके ही लिये—ब्राह्मण है।" यही बात क्षत्रियादिके सबधमे भी है। महाभाष्यके शुरूमे ही पतजलिने जो कहा है कि ब्राह्मणका तो बिना किसी कारण या प्रयोजनके ही वेद-वेदागको पढना और जानना कर्त्तव्य है—"ब्राह्मणेन हि अकारणो धर्म. षडगोवेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" उसका भी यही मतलब है। बिना ऐसा किये वह ब्राह्मण होई नही सकता।

इससे वर्णोंके निर्माणकी बुनियादी बातका पता चल गया और मालूम हो गया कि उनकी क्या जरूरत थी। आज तो ऐसा पतन हो गया है कि सारी चीजे धोखेकी टट्टी और मौरूसी बन गई है। ब्राह्मणादि बननेका दावा तो अन्ध परम्पराकी चीज हो गई है। वर्णोंमें छोटे-बडेपनका भूत ऐसा घुस गया है और नीच-ऊँचकी बात हमारे दिमागमे इस कद्र घर कर गई है कि कुछ कहा नही जाता। ये निराधार बाते कहाँसे कैसे घुस गई यह कहना मुश्किल है। मगर पतनके साथ ऐसा होता ही है यह निर्विवाद है। पहले तो विश्वामित्रादिके सम्बन्धमे इस नियमका अपवाद भी होता था। मगर अब तो नियम का मूल मिट्टीमे मिलाकर जब सारी बाते अन्धपरम्परा एव मूर्खताके ही आधार पर बनी है तो वह अपवाद भी जाता रहा। जैसा कि पहले कहा जा चुका है और अभी-अभी कहा है, वर्ण विभागके भीतर नीच-ऊच या छोटे-बडेकी तो बात कभी आई ही नही। यह तो दिल-दिमागकी बनावटके अनुसार स्वाभाविक प्रवृत्ति देखके ही सामाजिक कामोका बँटवारा मात्र था, जिससे समाजकी रक्षा और प्रगति निराबाध रूपसे उस जमानेमे हो सके जब आज जैसी परिस्थिति न थी।

यही कारण है कि वर्णसकरको उस समय बहुत बुरा मानते थे। क्योकि किसी पेशे या वर्णकी माँ और किसीके बापके सयोगसे जो सन्तान होगी वह साधारणत समाजकी प्रगतिमे सहायक हो सकती नही। अपवाद स्वरूप कुछ लोगोमे भले ही कुछ खास बाते हो जायँ। मगर हमे यह नही भूलना चाहिये कि यह व्यवस्था लक्ष-लक्ष लोगोके लिये आम तौरसे थी और यह बात दूसरे ढगसे हो सकती न थी। सभी लोगोके लिए खास ढगकी व्यवस्थाका प्रबन्ध होना असभव था। क्योकि विभिन्न वर्गोंकी जोडी (Cross breeding)बडी ही कठिन चीज है यदि सफलता लानी हो। इसीलिये आम तौरसे उसे चला नही सकते। मगर जब सभी क्षत्रिय मर्द मर जाये तो आखिर होगा क्या? वर्णसकर तो होगा ही या ज्यादेसे

ज्यादा गये गुजरोसे सन्तानें होगी जो वर्णसकरसे भी बुरी चीज होगी। यही कारण है कि अगले श्लोकमें इस वर्णसकर का नतीजा बताया है कि कुलके नाशक और समस्त कुल—दोनो ही—नरकमे जाते है। इसका सीधा मतलब यही है कि सभीका पतन हो जाता है। नरक तो पतन, नीचे गिरने अवनति या फजीती और कष्टकी दशाको ही कहते है और यही बात वर्णसकरके करने होती है। जब सारा समाज ही पतित हो जायगा, नीचे जा गिरेगा तो अकेला आदमी, जिसने कुल क्षयके द्वारा यह दशा ला दी, कहाँ जायगा, कैसे रहेगा ? उसे भी तो आखिर पतितो एव गिरे हुओके साथ ही रहना और व्यवहार करना होगा। समाजमे अकेला तो कोई कुछ कर नही सकता। यह तो लम्बी शृखला है जिसकी एक एक लडी हरेक व्यक्ति है। नतीजा यह होगा कि उन्नतिके सभी मार्गोके अवरुद्ध होनेसे वह भी नीचे जा गिरेगा। पुरानी कहानी है कि किसी राजाका बच्चा दिनरात किरातोमे रहनेसे पूरा किरात ही बन गया था।

यही वजह है कि आगे जातिधर्म और कुलधर्मोका नाश लिखा है। वह रहने कैसे पायेगे। उनकी तो बुनियाद ही जाती रही। एक तो उनके जाननेवाले ही नही रहे। और अगर कोई किसी प्रकार बचे भी तो जब समाजका समाज पथभ्रष्ट हो गया, तो वह भी उसी गढेमे लाचार गिरेगे ही। ऐसी हालतमे कला, कौशल, कारीगरी, हुनर, हिकमतका पता कहाँ होगा ? इन चीजोकी विशेषज्ञता कैसे रह सकेगी और कहाँ ?

जो पुरानी पोथियोमें पिंडदान और तर्पणकी बात कही गई है और जिसका उल्लेख आगे गीतामे भी इसी सिलसिलेमे आया है कि वह भी चीजें चौपट हो जायँगी वह भी ठीक ही है। ये चीजें तो व्यष्टिका समष्टिके साथ—व्यक्तिका समाजके साथ—होनेवाली एकताकी सूचक है। इसीलिये साँप, बिच्छू, अनाथ, अनजानमें मरे आदिका भी तर्पण-श्राद्ध करते है। मन्त्रोमें ऐसा ही लिखा है। इस तरह भूत, भविष्य, वर्त्तमान

सभीके साथ हम अपनी तन्मयता और एकताका अनुभव करते है, अभ्यास करते हैं। यही है गीताधर्म जैसा कि कह चुके है। मगर जब अवनतिके गर्त्तमे जा गिरेगे तो यह बात कैसे होगी। फलत. समाज विश्रृंखलित होके नीचे गिरेगा। फिर तो ऊपरवाले लोग या पितर भी गिरेंगे ही। वे अलग कैसे रहेगे? देव-पितर हमसे जुदा तो है नही।

## ८. "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव"

गीताके "ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव" (१३।४)में बहुतसे लोग ब्रह्मसूत्रका शारीरकसूत्र या वेदान्तदर्शनके सूत्र यही अर्थ करते है। क्योकि ब्रह्मसूत्र शब्द एक प्रकारसे वेदान्तसूत्रोका नाम ही है। मगर शकरने अपने भाष्यमें ऐसा न करके ब्रह्मके प्रतिपादक वचन ही अर्थ किया है। क्योकि वेदान्तसूत्र अर्थ करनेमें एक भारी दिक्कत है। ऐसा अर्थ करनेपर गीतासे पहले ही वेदान्तसूत्रोका अस्तित्व उपनिषदो और वेदोकी ही तरह मानना पड जायगा। तभी तो इन सबोका उल्लेख गीतामें सभव है। किन्तु ऐसा मानने में अडचन यह है कि ब्रह्मसूत्रोमें ही कई जगह स्मृति शब्दसे साफ ही गीताका उल्लेख आया है। खासकर "अशोनानाव्यपदेशात्" (वेदा० २।३।४३)में जीवको परमात्माका अश लिखके उसमें प्रमाण-स्वरूप गीताके "ममैवाशो जीवलोके" (१५।७)का उल्लेख "अपि च स्मर्यते" (२।३।४५) सूत्रमें स्मृति शब्दसे किया है। यहाँ दूसरी स्मृतिकी सभावना हुई नहीं, यह सभी मानते है। इसी प्रकार गीतामें "यत्र काले त्वनावृत्तिम"(८।२३-२७)में जो उत्तरायण-दक्षिणायनका वर्णन है उसीका उल्लेख "योगिन प्रति च स्मर्यते" (४।२।२१)मे आया है। क्योकि गीतामें भी "आवृत्ति चैव योगिन" (८।२३) मे यही 'योगिन' शब्द आया है। इस प्रकार जब गीताका स्पष्ट और असदिग्ध उल्लेख ब्रह्म-सूत्रोमें है, तो मानना पडेगा कि ब्रह्म-सूत्रोंसे पहले ही गीता थी। फिर गीतामें ब्रह्म-सूत्रोका उल्लेख कैसे सभव एव युक्तियुक्त हो सकता है? इसीलिये हमें ब्रह्म-सूत्रका वैसा अर्थ करना पडा है।

लेकिन कुछ लोग फिर भी इसे न मानके वेदान्तसूत्र ही अर्थ कर डालते है। वे इस दिक्कतका सामना करनेके लिये दो महाभारत और

इसीलिये दो गीताये मानते है। उनके मतसे पहले महाभारत न लिखा जाके भारत ही लिखा गया था। उसीमे गीता भी थी। उसीके बाद वेदान्तसूत्र बने और उनमे गीताको प्रमाणके रूपमे उद्धृत किया गया। इसके बाद समय पाके भारत तखड-पखड और छिन्न-भिन्न हो गया। इसीलिये व्यासने उसे फिरसे एकत्र किया और कुछ इधर-उधरसे उसमे जोडा-जाडा भी। इसीसे भारतका अब महाभारत हो गया। आखिर बडा होनेका कोई कारण भी तो चाहिये और जबतक उसमे कुछ और न जुटता तबतक वह भारत ही न कहा जाके महाभारत क्यो कहा जाता ? इस प्रकार तर्क-युक्तिके साथ वे महाभारतका पुनर्निर्माण मानते है। या यो कहिये कि भारतमे ही सशोधन और सबर्धन करके उसे महाभारत बनाते है। गीता भी उसीमे थी। इसलिये स्वभावत. उसमे भी जरा-मरा सशोधन हुआ और यह "ऋषिभिर्बहुधा" श्लोक उसी सशोधनके फलस्वरूप पीछेसे उसमे जुट गया। इस प्रकार यह महाभारत वेदान्त-सूत्रो के बाद ही तैयार होनेके कारण गीतामें वेदान्तसूत्रोका उल्लेख "ब्रह्मसूत्र" शब्दसे होनेमे कोई आपत्ति नही हो सकती है। यही है सक्षेपमें उनके तर्कों और युक्तियोका निचोड।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि महाभारतको भारतका सशोधित एव परिवर्द्धित रूप ही माने और बडा होनेसे ही उसका नाम भी युक्ति-युक्त मानें, तो सामवेदके ताडच महाब्राह्मण और पाणिनीय सूत्रोके पातजल महाभाष्यके बारेमें क्या कहा जायगा ? यह तो सभी सस्कृतज्ञ जानते है कि सामवेदके ब्राह्मणभागको अन्य वेदोके ब्राह्मणभागोकी तरह केवल तैत्तिरीय ब्राह्मण, वाजसनेय ब्राह्मण आदि जैसा न कहके ताडच महा-ब्राह्मण कहते है। इसी तरह व्याकरणके भाष्यको महाभाष्य ही कहते है। इतना बोलनेसे ही और भाष्योको न समझ केवल पातजल भाष्य ही समझा जाता है। तो क्या इसी दलीलसे यह भी माना जाय कि पहले

छोटासा ताण्ड्य ब्राह्मण और छोटा पातंजल भाष्य बना था, पीछे उन्हीं दोनोंका आकार बढ़ाया गया ? लेकिन यह तो कोरी कल्पना ही होगी न ? कहा जाता है कि आश्वलायन गृह्यसूत्र (३।४।४)में भारत और महाभारत दोनों हीका उल्लेख है। इसीलिये इन दोकी कल्पना की गई है। मगर ताण्ड्य या पातंजल भाष्यके बारेमें तो ऐसा कोई आधार नहीं है। यह भी बात है कि भारत एवं महाभारत दो तो मिलते नहीं। महाभारत ही तो मिलता है। और जब उसीमें कुछ और जोड़ा गया है तो दो लिखने या कहनेके मानी क्या ? जबतक जुदे-जुदे पाये न जाये, दो कैसे कहे जा सकते है ? आखिर गृह्यसूत्रोंका समय उपनिषदों, ब्राह्मणों या वेदोंसे पुराना तो है नहीं। फलत यदि उस समय भारत और महाभारत दोनों थे तो और ग्रंथोंकी तरह दोनोंका पता तो चाहिये आज भी। नहीं तो गीता भी दो क्यों न मानी और लिखी जाय, लिखी जाती ? सिर्फ एक सूत्र ग्रन्थमें एक शब्दको लिखा या छपा देखके इतनी लम्बी उड़ान उचित नहीं। लिखने और छपनेमें भूलसे एक ही नाम, एक ही शब्द दो बार लिख या छप जाते है। ऐसा प्राय देखा जाता है। हाँ, यदि विभिन्न समयोंके लिखे और छपे दो-चार सूत्रग्रन्थोंमें ऐसी चीज मिलती, तो शायद कुछ कहा जा सकता था।

यह भी तो जरा सोचे कि महात्मा और महेश्वर शब्द पहुँचे हुए बड़े लोगों या भगवानके लिये प्रयुक्त होते है। मगर इसका यह आशय नहीं होता कि खामख्वा महात्माओंके पहले आत्मा शब्दसे भी किसीको कहा जाता था, या भगवानको महेश्वर कहनेके पहले जरूर ही औरोंको ईश्वर कहते थे। भगवानकी सत्ता तो सबसे पहले मानी जाती है। फिर उससे पहले कैसे कोई हुआ ? "मायिन तु महेश्वरम्" (४।१०)में श्वेताश्वतर उपनिषदने ब्रह्मको ही महेश्वर कहा है। मगर वहाँ ईश्वरका कोई मुकाबिला है नहीं। क्योंकि उसी उपनिषदमें और वेदोंमें भी महेश्वरको

ही ईश्वर भी कहा है। आत्मा नामसे न तो किसीको कभी बोलते ही और न यह विशेषण ही किसीमे लगाते है। स्वभावत ही महान् होनेसे ही महात्मा या महेश्वर कहनेकी परिपाटी पड गई है। इसी प्रकार ताड्य, पातजल भाष्य और महाभारतको भी स्वभावत बहुत वडे होनेके कारण ही महाब्राह्मण, महाभाष्य और महाभारत कहने लग गये। यहाँ बालकी खाल खीचनेकी जरूरत हुई नही। उसीमे उसे कही भारत और कही महाभारत लिखा है।

जरा यह भी तो सोचे कि भारतमे महज थोडा-बहुत जोडनेसे ही तो महाभारत होता नही। इसके लिये तो जरूर ही बहुत ज्यादा जोड-जाड़ करना होगा। जहाँ अपेक्षाकृत महत्ता दिखानी होती है तहाँ पहलेसे दूसरेमें बहुत ज्यादा अन्तरका होना अनिवार्य है। जाल और महाजाल इस बातके मोटे दृष्टान्त है, समुद्रमे डाले जानेवाले महाजालके भीतर जाने दूसरे कितने ही जाल आसानीसे समा सकते है, आ सकते है। अन्य मारक-बीमारियोकी अपेक्षा हैजा या प्लेगको हजार गुना मारक और खतरनाक समझके ही इन्हे महामारी कहते है। ऐसी दशामे भारतकी अपेक्षा महाभारतमे बहुत ज्यादा—कई गुना—पदार्थ घुसानेसे ही उसे महाभारत कह सकते थे। फिर तो दोनोकी पृथक् सत्ता अनिवार्य है। यह असभंव है कि महाभारतके रहते भारत सर्वथा लुप्त हो जाये। बराह-मिहिरके वृहज्जातकके रहते लघुजातक कही गायब नही हो गया और न मजूषाके रहते व्याकरणकी लघुमजूषा कही चली गई। बराहमिहिरकी वृहत् सहिताके मुकाबिलेमे उनकी कोई लघुसहिता या केवल सहिता नही मानी जाती। महान् तथा वृहत्का एक ही अर्थ है भी। सबसे बडी बात यह हो जायगी कि गीतामे भी तब बहुत ज्यादा परिवर्त्तन मानना होगा। यह नही हो सकता कि जो गीता भारतमे थी वही जरा-मरा परिवर्त्तनके साथ महाभारतमे आ गई।

परन्तु गीताके बारेमे ऐसा कह सकते नहीं। यह इतनी लोकप्रिय रही है कि इसमे एक शब्दका प्रक्षेप होना या मिलाना असभव हो गया है। तेरहवें अध्यायमे एक श्लोक घुसेडनेकी कोशिश कभी किसीने की जरूर। लेकिन वह सफल न हो सका। वैदिक मत्रो, ब्राह्मणो या प्रधान उपनिषदोमे जैसे कोई प्रक्षेप होना सभव न हुआ, वही हालत गीताकी भी रही है। मालूम होता है, उन्हीकी तरह इसे भी लोग जबानपर ही रखते थे। इसकी भी 'श्रुति' जैसी ही दशा रही है। प्रत्युत इसमें तो और भी विशेषता है कि वेदो और उपनिषदोको प्राय भूल जानेपर भी इसे लोग भूल न सके। आज भी वैसा ही मानते है, पढते-लिखते है, कद्र करते है जैसा पहले करते थे। इसलिये यदि कभी किसी भी हालतमें इसमे एक भी शब्द या श्लोक जोडा जाता तो खामखा पकडा जाता, यह पक्की बात है। किन्तु "ऋषिभिर्बहुधा" श्लोकके बारेमे ऐसी धारणा किसीकी भी पाई नही जाती। यही कारण है कि सात या ज्यादा श्लोकोकी छोटी-छोटी गीताओके थोडा-बहुत प्रचार होनेपर भी, ऐसी गीता नही पाई जाती जिसमे यह "ऋषिभिर्बहुधा" या ऐसे ही कुछ श्लोक न हो। भारतको ही महाभारत माननेवाले भी तो नही बताते कि कितने श्लोक इसमे पीछे जुटे थे। इसलिये यह सिद्धान्त मान्य नही हो सकता।

एक बात और। छान्दोग्यके सातवें अध्यायमे कई बार इतिहास, पुराण आदिका उल्लेख है। इसी प्रकार बृहदारण्यकके दूसरे अध्यायमें भी इतिहास, पुराण, सूत्र, व्याख्यान आदिका उल्लेख चौथे ब्राह्मणमे आया है। तो क्या इससे यह समझे कि सचमुच वेदान्तसूत्रोकी तरह इनसे पहले भी सूत्रग्रन्थ और आजके इतिहासो और पुराणोकी ही तरह पहले भी इतिहासपुराण थे? क्या पहले भाष्य और व्याख्यान भी ऐसे ही थे यह माना जाय? यह तो सभी मानते है कि पुराणोका समय बहुत इधरका है। सूत्रोका समय भी ब्राह्मण ग्रन्थोके बादका ही है। फिर यह कैसे

माना जाय कि इस प्रकार आमतौरसे सूत्रो और उनके व्याख्यानोका उल्लेख करने मात्रसे वे भी ब्राह्मणग्रन्थोसे पहले थे ? खूबी तो यह है कि जब एक ही तरहका उल्लेख कई उपनिषदोमे मिलता है तो मानना ही होगा कि वे सूत्र और व्याख्यान प्रसिद्ध होगे और ज्यादा सख्यामे होगे। इतिहास पुराण भी काफी होगे। ऐसी दशामे इन शब्दोका रूढ अर्थ न मानके यौगिक ही माननेमे गुजर है। जैसा कि इस श्लोकमे हमने ब्रह्मसूत्र शब्दका अर्थ रूढ़ न करके यौगिक ही है किया है। दूसरा उपाय हई नही। इसलिये हमने जो अर्थ इस श्लोकका लिखा है वह कोई यकायक नई कल्पना नही है। किन्तु ऐसी कल्पना पहले भी होती आई है। शकरने उसीका अनुसरण किया है। वेशक, यह विषय और भी अधिक विवेचन चाहता है। मगर वह यहाँके लिये नही है। किन्तु आगे होगा।

लेकिन दो एक ऐसी बाते और भी यही कह देना जरूरी है जिनके बारेमें विशेष अन्वेषण एव जाँच-पडतालकी जरूरत नही है। सबसे पहिली बात यह है। यह जानते हुए भी कि ब्रह्मसूत्रोने गीताको ही प्रमाण-स्वरूप उद्धृत किया है, गीताकारके लिये यह कब सभव था कि उन्ही ब्रह्म-सूत्रोको प्रमाण के रूपमे स्वय उद्धृत करते ? यह तो विलकुल ही अनहोनी बात है। व्यवहारमे तो यह बात कभी देखनेमे आती नही। चाहे कितनी ही महत्त्वपूर्ण और बडी पोथी क्यो न हो। मगर ज्योही एक बार उसने किसी दूसरीको अपनी बातोके समर्थनमे उद्धृत किया कि उसके सामने उसकी अपनी महत्ता वैसी नही रह जाती। फलत कोई भी समझदार आदमी इस दूसरीके समर्थनमे पहलीकी किसी बातको प्रमाण-स्वरूप पेश नही करता, पेश करनेकी हिम्मत नही करता। फिर गीता जैसे महान् ग्रथमे ऐसी बातका होना कथमपि सभव होगा यह कौन माने ?

दूसरी बात भी इसीसे मिलती-जुलती ही है। जो लोग यह मानते है कि ज्ञानोत्तर कर्म करना गीताके मतसे अनिवार्य है, जिनके मतसे गीताकी

आवश्यकता भी इसीलिये हुई थी, यही यह भी मानते हैं कि उस समय "ज्ञानोत्तर कर्म करना अथवा न करना, हर एककी इच्छापर अवलम्बित था, अर्थात् वैकल्पिक समझा जाता था" (गीतार० पृ० ५५४)। वे इसके सम्बन्धमें उन्हीं वेदान्तसूत्रों या ब्रह्म-सूत्र (३।४।१५)को प्रमाणके लिये उद्धृत भी करते हैं। ऐसी दशामें यह बात तो समझमें आ जाती है कि ब्रह्म-सूत्र गीताको अपने समर्थनमें उद्धृत कर लें। लेकिन गीतामें उन्हीं ब्रह्म-सूत्रोंका हवाला कैसे दिया जा सकता है? क्योंकि ज्योंही यह बात हुई कि गीता पढ़नेवालोंकी नजरमें उन सूत्रोंकी महत्ता आ जायगी। फलतः वे लोग वेदान्तसूत्रोंके उन स्थलोंपर भी स्वभावतः आकृष्ट होंगे ही जिनमें ज्ञानोत्तर कर्म करना जरूरी नहीं माना गया है। परिणाम क्या होगा? यही न, कि गीतामें भी वही चीज माननेकी ओर उनकी प्रवृत्ति हो जायगी? अतएव बड़ी मुसीबत और कठिनाईके बाद गीता-रहस्यमें जो यह सिद्ध करनेकी कोशिश की गई है कि ज्ञानोत्तर कर्म करते-करते ही रहना गीताका मर्म और गीतोपदेश है, उसकी जड़में ही इस प्रकार कुठाराघात हो जायगा। जिस बातकी पुष्टिके लिये यह चीज पेश की गई उसीको कमजोर करने लगेगी! और खुद गीता अपने ही सिद्धान्तको दुर्बल करनेका रास्ता इस तरह ब्रह्मसूत्रका नाम लेकर साफ कर दे, यह असंभव है।

एक तरफ तो यह कहा जाता है कि महाभारतका तथा उसीके भीतर आ जानेवाली गीताका भी निर्माण "बुद्धके जन्मके बाद—परन्तु अवतारोंमें उनकी गणना होनेके पहले ही" हुआ होगा। इसीलिये विष्णुके अवतारोंमें बुद्धकी गणना महाभारतमें कहीं पाई नहीं जाती। गीतारहस्यमें यह भी माना गया है कि यद्यपि महाभारतके युद्धके समय भागवतधर्मका उदय हो गया था। तथापि उसकी प्रधान पोथीके रूपमें इस गीताकी रचना तत्काल न होके प्रायः पाँचसौ वर्ष बाद हुई होगी। क्योंकि किसी

भी सिद्धान्त या धर्मके प्रतिपादक ग्रथ फौरन न बनके पीछे बनते है। इसीसे पाँचसौ साल इसके लिये मान लिया है। मगर ब्रह्मसूत्रो (२।२।१८-२६)का हवाला देके उनने यह भी लिखा है कि "आत्मा या ब्रह्ममे से कोई भी नित्य वस्तु जगत्‌के मूलमे नही है। जो कुछ देख पडता है वह क्षणिक या शून्य है", अथवा "जो कुछ देख पडता है वह ज्ञान है, ज्ञानके अतिरिक्त जगत्‌मे कुछ भी नही है, इस निरीश्वर तथा अनात्मवादी बौद्ध मतको ही क्षणिकवाद, शून्यवाद और विज्ञानवाद कहते है" (गीता र० ५८०)। भला ये दोनो बाते कैसे सभव होगी यदि ब्रह्मसूत्रोको गीताके पहले मान ले ? क्योकि बुद्धधर्मके भीतर इन अनेक मतो और पथोके खडे होने और उनके ग्रन्थोके बननेमे तो कई सौ साल लगे ही होगे और विना प्रामाणिक बातके केवल मौखिक बातोका तो खडन ब्रह्मसूत्र जैसा ग्रथ करता नही।, इस तरह यदि बुद्धके वाद पाँचसौ साल भी इन बातोके लिये मान ले तो ब्रह्मसूत्रोका समय सन् ईस्वीके आरभमे ही माना जायगा। फिर गीताने उन्हे कैसे उद्धृत किया या हवालेमे दिया ?

एक ही बात और। "सुमन्तु जैमिनि वैशपायन पैल सूत्र भाष्य भारत महाभारत धर्माचार्या" (३।४।४) इसी आश्वलायन गृह्यसूत्रमे भारत और महाभारत देखके कल्पना की गई है कि दोनो दो है। इस सूत्रमे पहले जो सुमन्तु आदि नाम आये है उन्हीका सम्बन्ध भारत महाभारतसे जोडते हुए उनने लिखा है कि "इससे, अब यह भी मालूम हो जाता है, कि ऋषितर्पणमे भारत महाभारत शब्दोके पहले सुमन्तु आदि नाम क्यो रखे गये है" (गी० र० ५२४)। मगर हमे अफसोस है कि ऐसा लिखते समय यह बात उन्हे कैसे नही सूझी कि नाम तो चार ही ऋषियोके आये है, मगर ग्रथ हो जाते है सूत्र, भाष्य, भारत, महाभारत और धर्म ये पाँच ! हाँ, यदि यह मान ले कि भारत अलग न होके भूलसे महाभारतका ही 'भारत महाभारत' ऐसा लिखा गया है, तब ठीक हो सकता है। तभी चार

ऋषियोंके लिये प्रायशः चार ग्रंथ आ सकते हैं और उन्हींके आचार्य उन्हें मान सकते हैं। यह तो गीतारहस्यके लेखक भी नहीं मानते कि सभीने पाँचों ग्रन्थ बनाये हैं। यह असंभव भी है। धर्म शब्द शेष ग्रन्थोंके साथ होनेसे पृथक् ही मानव माना जाना भी चाहिये।

इस प्रकार इस विस्तृत विवेचनने गुणवाद और अद्वैतवादके सभी पहलुओंपर संक्षेपमें ही इतना प्रकाश डाल दिया है कि उनके सम्बन्धकी गीताकी सभी बातोंको समझनेमें आसानी हो जायगी। इनके मुतल्लिक गीताकी जो खास दृष्टि है—तत्त्वज्ञान एवं वास्तविक भक्तिमें जो गीताकी दृष्टिसे कोई अन्तर नहीं है, किन्तु दोनों ही एक ही हैं—इस बातके निरूपणने इस चीजपर पूरा प्रकाश डाल गया कि अद्वैतवाद और जगन्मिथ्यात्व-वादके विवादात्मक पहलूपर ही गीताका विशेष आग्रह क्यों है।

## ६. "सर्वधर्मान्परित्यज्य"

अब हमे विशेष कुछ नही कहना है। फिर भी गीताके अठारहवें अध्यायके अन्तमे जो "सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज। अह त्वां मर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच" (६६) श्लोक आया है उसके ही सम्बन्धमें कुछ लिखना हम जरूरी समझते है। इसका यह मतलब नही है कि अबतकके हमारे कथनने उसपर प्रकाश नही डाला है। उसकी चर्चा तो बार-बार आई है। यह भी नही कि हम कोई नई बात खास तौरसे यहाँ कहने जा रहे है। इस सम्बन्धमे इतना कहा जा चुका है कि नई बात मालूम पडती ही नही। यो तो गीता हीरा ठहरी। इसीलिये इसे जितना ही कसो, इसपर जितना ही विचार करो यह उतनी ही खरी निकलती है और इसकी चमक उतनी ही बढती है। बात असल यह है कि एक तो अठारहवे अध्यायको ही गीताका उपसहार-अध्याय माना जाता है। उसमे भी अन्तमे यह श्लोक आया है। इसलिये गीताके उपसहारका भी उपसहार इसे मानके लोगोने अपने-अपने मत और सम्प्रदाय-के अनुसार इसके अर्थकी काफी खीच-तान की है। यदि यह कहे कि यह श्लोक एक प्रकारसे गीतार्थका कुरुक्षेत्र बना दिया गया है तो कोई अत्युक्ति न होगी। इसलिये हम यहाँ यही दिखाना चाहते है कि साम्प्रदायिकताके आग्रहमे गीताको उसके अत्यन्त महान् एव उच्च स्थानसे बेदर्दीके साथ घसीटके गहरे गढेमे गिरानेकी कोशिश बडेसे बडे विद्वान भी किस प्रकार करते है। इसी बातका यह एक नमूना है। इसीसे समूची गीतामें की गई खीच-तान और जबर्दस्तीका पता लग जायगा। हमारा काम यह नही रहा है कि इतने लम्बे लेखमे किसीका भी खासतौरसे खडन-मडन करे। हम इसे अनुचित समझते है। इसके लिये तो स्वतत्र रूपसे लिखने-

का हमारा विचार है। मगर अन्तमें थोडासा नमूना पेश किये विना शायद यह प्रयास अपूर्ण रह जायगा। इसीलिये यह यत्न है।

इस श्लोकका अक्षरार्थ तो यही है कि "सभी धर्मोको छोडके एक मेरी—भगवानकी—ही शरणमे जा। मै तुझे सब पापोसे मुक्त कर दूँगा। सोच मत कर।" गीताको तो उपनिषदोका ही रूप या निचोड मानते है और उपनिषदोमे धर्म-अधर्मके सम्बन्धमे वहुत कुछ लिखा जा चुका है कि उन्हें कैसे, कब और क्यो छोडना चाहिये। "त्यज धर्ममधर्मं च" ये स्मृति वचन धर्म-अधर्म सभीके त्यागकी वात कहते है। कठोपनिषद के भी "अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मात्" (२।१४) तथा "नाविरतो दुश्चरितात्" (२।२३)मे धर्म-अधर्म सभीके छोडनेकी वात मिलती है। वृहदारण्यक (४।४।२२)से धर्मोका सन्यास आवश्यक सिद्ध होता है यह हमने पहले ही सिद्ध किया है। आत्मा और उसके ज्ञानको न सभी झमेलो से वहुत दूरकी वात इन वचनोने कही है। इसके सिवाय गीतामे ही "सर्वभूतस्थित यो मा भजत्येकत्वमास्थित" (६।३१), "एकत्वेन पृथक्त्वेन" (९।१५) आदि वचनोके द्वारा यही कहा गया है कि असली भजन या भक्ति यही है कि हम अपनेको परमात्माके साथ एक समझें और जगत्को भी अपना ही रूप मानें। यहाँ एक शब्दका अर्थ गीताने स्पष्ट कर दिया है। यह भी वात है कि यद्यपि गीताका धर्म कर्मसे जुदा नही है, वल्कि गीताने दोनोको एक ही माना है, तथापि सभी कर्मोका त्याग तो असभव है। गीताने तो कही दिया है कि "यदि सभी कर्म छोड दें तो शरीरका रहना भी असभव हो जाय"—"शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्धयेदकर्मण" (३।८)। इसीलिये इस श्लोकमे कर्मकी जगह धर्म शब्द दिया गया है, हालाँकि इससे पहलेके वीसियो श्लोकोमे केवल कर्म शब्द ही पाया जाता है, धर्म-शब्द लापता है। इसीलिये परिस्थितिवश धर्म शब्द सामान्य कर्मके अर्थमे न वोला जाकर कुछ सकुचित अर्थमे ही यहाँ आया हुआ माना जाना

उचित है। फलत कुछ विस्तृत एव व्यापक रूपमे शास्त्रीय विधि-विधानके अनुसार ही यहाँ धर्म शब्दका अर्थ लिया जाना उचित प्रतीत होता है। दूसरे अध्यायके "स्वधर्ममपि" (२।३१)मे जिस अर्थमे यह प्रयुक्त हुआ है, या खुद अर्जुनने ही "धर्मसमूढचेता" (२।७), "कुलधर्मा सनातना" (१।४०) आदि वचनोमे जिस सकुचित अर्थमे इसे कहा है यहाँ भी वही अर्थ या उसीसे मिलता-जुलता ही मान लेना ठीक है। छान्दोग्योपनिषद्मे "एकमेवाद्वितीयम्" (६।२।१)मे ब्रह्मको एक कहा भी है।

इसीलिये शकरने अपने गीताभाष्यमे धर्मशास्त्रीय बन्धनोको छोडके और उनमे लिखे धर्मों-अधर्मोंसे पल्ला छुडाके 'अह ब्रह्मास्मि'—'मै खुद ब्रह्म ही हूँ' इसी अद्वैतज्ञाननिष्ठाके प्राप्त करनेका प्रतिपादन इस श्लोकमे माना है। हम तो पहले अच्छी तरह बता चुके है कि बिना शास्त्रीय-धर्मोको छोडे या उनका सन्यास किये ज्ञाननिष्ठा गैरमुमकिन है। उसी जगह इस श्लोकका भी उल्लेख हमने किया है। यह भी बताई चुके है कि अठारहवे अध्यायके शुरूमे जिस सन्यास और त्यागकी असलियत और हकीकत जाननेके लिये अर्जुनने सवाल किया है वह सन्यास इसी श्लोकमे स्पष्ट रूपसे बताया गया है। इससे पहले ४६वे श्लोकमे सिर्फ उसका उल्लेख आया है। उससे पहले तो त्यागकी ही बातको लेके बहुत कुछ कहा गया है। इसी श्लोकमे जो 'परित्यज्य' शब्द आया है और जिसका अर्थ है 'परित्याग करके या छोडके', उससे ही साफ हो जाता है कि अद्वितीय या जीवसे अभिन्न ब्रह्मकी शरण जाने और उसका ज्ञान प्राप्त करनेके पहले धर्मोंको कतई छोड देना पडेगा। क्योकि "समान कर्त्तृकयो पूर्वकाले क्त्वा" (३।४।२१) इस पाणिनीय सूत्रके अनुसार पहले किये गयेके मानीमे ही 'क्त्वा' और 'ल्यप्' प्रत्यय हुआ करते है। परित्यागमे त्यागके अलावे जो 'परि' शब्द है वह यही बतानेके लिये है कि धर्म-अधर्मके झमेलेसे अपना पिंड कतई छुडा लेना होगा। विपरीत इसके अगर धर्मका अर्थ

धर्मोंका फल लेते है तो उसका त्याग तो भगवानकी शरणमें जानेपर भी होता ही रहेगा। क्योकि ऐसा अर्थ करनेवाले तो श्रवण, कीर्त्तन आदि नौ प्रकारकी भक्तिको ही असल चीज मानते है। उनके मतसे शरण जानेका अर्थ ही है यही नवधा—नौ प्रकारकी—भक्ति करना। अन्य धर्मोंको भी करते रहना वे मानते ही है। ऐसी दशामे उनके फलोका त्याग तो बादमे भी होता ही रहेगा। फिर यह कहनेके क्या मानी कि सभी धर्मोसे अपना पिंड पहले ही छुडा लो, अगर धर्मोका अर्थ है उनका फलमात्र ?

अब जरा दूसरोका अर्थ भी देखे। मध्वसम्प्रदायके आचार्य अपने इसी श्लोकके भाष्यमे लिखते है कि "यहाँ धर्मोके त्यागका अर्थ है उनके फलोका ही त्याग, न कि खुद धर्मोका ही। क्योकि तब युद्ध करनेकी जो आज्ञा दी गई है वह कैसे ठीक होगी। इसके अलावे खुद गीताके १८वें अध्यायके ११वे श्लोकमें तो कही दिया है कि जो कर्मोके फलोका त्याग करता है उसे ही त्यागी कहते है—"धर्मत्याग फलत्याग। कथमन्यथा युद्धविधि ? 'यस्तुकर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयत' इति चोक्तम्।"

रामानुज-सम्प्रदायके आचार्य स्वय रामानुजके भाष्यमे भी कुछ इसी तरहकी बात लिखी गई है। वह कहते है कि "मुक्तिके साधनके रूपमें जितने भी काम कर्मयोग, ज्ञानयोग एव भक्तियोगके नामसे प्रसिद्ध है वे सभी भगवानकी आराधना ही है। इसलिये प्रेमके साथ जिसे जो धर्म करनेको शास्त्रोने कहा है उसे करते हुए ही पूर्व बताये तरीकेसे उनके फलो एव कर्त्तृत्वके अभिमानको छोडके केवल हमीको सबका कर्त्ता तथा आराध्यदेव मानो"—"कर्मयोग ज्ञानयोग भक्तियोगरूपान्सर्वान्धर्मान् परमनि श्रेयससाधनभूतान् मदाराधनत्वेनातिमात्रप्रीत्या यथाधिकार कुर्वाण एवोक्तरीत्या फलकर्मकर्त्तृत्वादिपरित्यागेन परित्यज्य मामेकमेव कर्त्तारमाराध्य प्राप्यमुपाय चानुसन्धत्स्व।" "एष एव सर्वधर्माणा शास्त्रीय

परित्याग:"—"यही—फलादिका त्याग ही—सब धर्मोंका शास्त्र रीतिके, अनुसार त्याग माना जाता है, न कि स्वय धर्मोंका त्याग ही।"

ये दो तो पुराने आचार्योंके अर्थ हुए। अब जरा हाल-सालके लोकमान्य तिलकके हाथो लिखे गये गीतारहस्यमें माने गये अर्थको भी देखे। वह पहले यह लिखते है कि "यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अपने व्यक्त स्वरूपके विषयमे ही कह रहे है। इस कारण हमारा यह दृढ मत है कि यह उपसहार भक्तिप्रधान ही है।" फिर कहते है कि "परन्तु इस स्थानपर गीताके प्रतिपाद्य धर्मके अनुरोधसे भगवानका यह निश्चयात्मक उपदेश है कि उक्त नाना धर्मोंके गडबडमे न पडकर मुझ अकेलेको भज, मै तेरा उद्धार कर दूँगा, डर मत।" मगर आखिर मे कहते है कि "मेरी दृढ़ भक्ति करके मत्परायण बुद्धिसे स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्म करते जानेपर इहलोक और परलोक दोनो जगह तुम्हारा कल्याण होगा; डरो मत'।" इसे पढनेसे तो एक अजीब झमेला खडा हो जाता है। एक ओर सब धर्म करते रहनेकी बात और दूसरी ओर उन्हें छोडनेकी बात! लेकिन तिलकने कुछ खास धर्मोंको यहाँ गिनाके कहा है कि इन अहिंसा, दान, गुरुसेवा, सत्य, मातृपितृसेवा, यज्ञयाग और सन्यास आदि धर्मोंको, जो परमेश्वरकी प्राप्तिके साधन माने जाते है, छोडके साकार भगवानकी ही भक्ति करो। इस श्लोकके धर्मसे उनका मतलब उन्ही चन्द गिनेगिनाये धर्मोंसे ही है। उनने धर्म शब्दका अर्थ धर्मोंका फल करना मुनासिब न समझ यह नवीन मार्ग स्वीकार किया है। कुछ नवीनता भी तो आखिर चाहिये ही।

हमने साम्प्रदायिक अर्थोंकी वानगी दिखा दी। यह ठीक है कि तिलकने अपने अर्थको साम्प्रदायिक नही माना है। बल्कि उनने शकर, रामानुज आदिके ही अर्थोंको साम्प्रदायिक कहके निन्दा की है। मगर साम्प्रदायिकताके कोई सीग-पूँछ तो होती नही। जो बात पहलेसे चली

आती हो उसीका समर्थन करना यही तो साम्प्रदायिकता है। तिलकने यही किया है भी। भक्तिमार्ग तो पुराना है। व्यक्त या साकार भगवान-की उपासना करना ही भक्तिमार्ग माना जाता है। तिलकने न सिर्फ इसी श्लोकमे, वल्कि गीतारहस्यमें सैकडो जगह इसी भक्तिमार्गपर जोर दिया है। वह तो गीताका विषय ही मानते है "तत्त्वज्ञानमूलक भक्ति प्रधानकर्मयोग।" उनने भक्तिमार्गियोके ज्ञानकर्म-समुच्चयके समर्थनमे भी वहुत ज्यादा जोर दिया है। यदि और नही तो गीतारहस्यके "भक्ति-मार्ग" तथा "सन्यास और कर्मयोग" इन दो प्रकरणोको ही पढके और खासकर रहस्यके ३५८-३६५ पृष्ठोको ही देखके कोई भी कह सकता है कि उसमें घोर साम्प्रदायिकता है। भक्तिमार्गकी आधुनिक वकालत तो ऐसी और कही मिलती ही नही। श्लोकोके अर्थ करनेमे प्राचीन लोगोकी अपेक्षा कुछ नई बात कह देनेसे ही साम्प्रदायिकतासे पिंड छूट नही सकता। हरेक सम्प्रदायके टीकाकारोमे पाया जाता है कि वे लोग शब्दार्थमे कुछ न कुछ फर्क रखते ही है। वे प्रतिपादनकी नई शैली भी निकालते है। आखिर पुराने अर्थों एव तरीकोमे जो दोष विरोधी लोग निकालते है उनका समाधान भी तो करना जरूरी होता है।

हाँ, तो इन अर्थोंपर विचार कर देखे कि ये कहाँतक युक्तिसगत और सही है। सबसे पहले तिलककी बात ले। उनके अर्थमें दो बाते है। एक तो वे कृष्णके साकार या व्यक्त स्वरूपकी ही उपासना, पूजा या भक्तिका निरूपण इस श्लोकमे मानते है। दूसरे धर्मका अर्थ कुछ खास धर्ममात्र करके सन्तोष कर लेते है। अब जहाँतक व्यक्त कृष्णकी उपासनाकी बात है वह तो कुछ जँचती नही। चाहे और बाते कुछ हो या न हो, लेकिन क्या कृष्ण जैसे महान् पुरुषके लिये कभी भी उचित था कि अपने व्यक्त स्वरूपकी पूजा और उपासनाकी बात कहें? यह कितनी छोटी बात है! यह उनके दिमागमे आ भी कैसे सकती थी? वे ठहरे महान्

विभूति। फिर इतनीसी मामूली बातको भी क्या वे समझ न सके कि खुद अपनी पूजा--प्रशसाकी बाते कितनी बुरी और निन्दनीय होती है ? वे इतने नीचे उतरनेकी बात सोच भी कैसे सकते थे ? उनकी ऐसी हिम्मत हो भी कैसे सकती थी ? यदि यह मान ले कि उनने अपने साकार स्वरूप-की उपासनाकी बात नही कहके भगवानके ही वैसे रूपकी भक्तिका उप-देश किया, तो फिर यह लिखनेका क्या अर्थ है कि "यहाँ भगवान श्रीकृष्ण अपने व्यक्त स्वरूपके विषयमे ही कह रहे है ?" इस वाक्यमे "श्रीकृष्ण अपने" इन शब्दोकी क्या जरूरत थी ? इनसे तो कृष्णकी अपनी ही प्रशसाका प्रतिपादन सिद्ध होता है।

अच्छा, यदि यही मान ले कि भगवानके ही व्यक्तरूपकी उपासना है और कृष्ण अपनेको भगवान समझके ही ऐसा उपदेश करते है, इसी-लिये उन्हें अपनी व्यक्तिगत बडाईसे कोई भी मतलब नही है; तो दूसरी ही दिक्कत आ खडी हो जाती है। यदि गीतारहस्यमे लिखे इस श्लोकका शब्दार्थ पढे तो वहाँ लिखा है कि "सब धर्मोको छोडकर तू केवल मेरी ही शरणमे आ जा। मै तुझे सब पापोसे मुक्त करूँगा, डर मत।" यहाँ जो "आ जा" लिखा गया है वह श्लोकके "व्रज"का ही अर्थ है। मगर 'व्रज'का तो अर्थ होता है 'जा'। व्रज धातु तो जानेके ही अर्थमे है, न कि आनेके अर्थमे। इसलिये जबतक श्लोकमे 'आव्रज' नही हो तबतक 'आ जा' अर्थ होगा कैसे ? यह तो उलटी बात होगी। हमने पहले भी यह लिखा है और बताया है कि उस दशामे इस श्लोकका क्या रूप बन जायगा। जबतक 'आ जा' या 'आओ' अर्थ नही करते तबतक अर्जुनके सामने खडे कृष्णके व्यक्त स्वरूपकी शरण जानेकी बात इस श्लोकसे सिद्ध हो सकती ही नही। क्योकि जब कृष्ण खुद सामने खडे है तो अर्जुनसे अपने बारेमे 'मेरी शरण आ जा' यही कह सकते है। अगर 'मेरी शरण जा' कहे तब तो प्रत्यक्ष साकार रूपको छोडके अपने किसी और या निराकार रूपसे

ही उनका मतलब होगा। जो चीज सामने नही हो, किन्तु परोक्षमें या दूर हो, उसीके सम्बन्धमें यह कहा जा सकता है कि उसकी शरणमें जाओ। परन्तु ऐसी चीज—कृष्णका ऐसा परोक्ष स्वरूप—तो केवल वही निर्गुण निराकार ब्रह्म ही हो सकता है और यही अर्थ शकरने किया भी है। तो फिर इसीलिये शकरपर तिलकके बहुत ज्यादा बिगडने और उन्हे खरी-खोटी सुनानेका मौका ही कहाँ रह जाता है ?

दूसरी दिक्कत भी सुनिये। धर्म शब्दका इतना सकुचित अर्थ करनेके लिये कारण क्या है ? यदि इस प्रकार अर्थ किया जाने लगे तो क्या यह भद्दी खीच-तान न होगी ? जिस खीच-तानका आरोप तिलकने खुद शकरपर बार-बार लगाया है उसके शिकार तो वे इस प्रकार स्वय हो जाते है। इतना ही नही। स्वय गीतारहस्यके ४४० और ८४८ पृष्ठोमें महाभारतके अश्वमेध पर्वके ४९ और शान्तिपर्वके ३५४ अध्यायोका हवाला देके जिन खास-खास धर्मोंको गिनाया है और जिनमें "क्षत्रियोका रणागणमें मरण", "ब्राह्मणोका स्वाध्याय", मातृ-पितृसेवा, राजधर्म, गार्हस्थ्य धर्म आदि सभीका समावेश है, उन्हीके त्यागनेकी बात इस श्लोकमे कही गई है ऐसी मान्यता तिलककी है। तो क्या इससे यह समझा जाय कि अर्जुनको युद्ध करनेसे भी उनने रोका है ? गृहस्थ धर्मसे भी उन्हे हटाया है ? माता-पिताकी सेवा और क्षत्रियके धर्म—राजधर्म—से भी उसे उनने रोका है और इन सबोको झझट कहा है ? यह तो अजीब बात होगी। युद्ध करनेका आदेश बार-बार देते है, यहाँतक कि उस श्लोकके पहलेतक उसीपर जोर दिया है, और "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट" (४।१३) तथा "ब्राह्मणक्षत्रियविशा" (१८।४१-४४)में न सिर्फ वर्णोंके धर्मोपर ही जोर दिया है, बल्कि उन्हें स्वाभाविक, 'स्वभावज' (natural) कहा है। तो क्या अन्तमें सब किये-करायेपर लीपा-पोती करते है ? और अगर स्वाभाविक धर्मोंके छोडनेकी बातका कहना माना जाय तो

सिंहको अहिंसक होनेकी भी शिक्षा व्यावहारिक मानी जानी चाहिये। शंकरके अर्थमे तो यह दिक्कत नही है। क्योकि वह तो ज्ञानोत्पत्तिके ही लिये धर्मोका त्याग कुछ समयके लिये जरूरी मानते है। वे ज्ञानके बादका त्याग सबके लिये जरूरी नही मानते। मगर जो लोग ऐसा नही मानके धर्म करनेकी बातके साथ ही इन धर्मोके झमेलेसे छुटकारेकी बात बोलते है उनके लिये ही तो आफत है। और अगर अर्जुन इस प्रकारके धर्मोंको छोड ही दे तो फिर वह करेगा कौनसे "स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्म ?"

और भी तो देखिये। यदि कुछ इने-गिने धर्मोका ही त्याग करना इस श्लोकमे बताया माना जाय, तो फिर धर्म शब्दके पहले सर्व शब्दकी क्या जरूरत थी ? 'धर्मान्' यह बहुवचन शब्द ही तो काफी है। उन धर्मोको इसीसे समझ ले सकते है। ऐसी हालतमे सर्व कहनेका तो यही मतलब हो सकता है कि कही ऐसा न हो कि बहुवचन धर्म शब्दसे कुछी धर्मोंको लेके बस कर दे। इसीलिये सर्वधर्मान् कह दिया। ताकि गिन-गिनके सभी धर्मोंको ले लिया जाय। पूर्व मीमासाके कपिंजलाधिकरण नामक प्रकरणमे "कपिंजलानालभेत"—"कपिंजल पक्षियोको मारे", इस वचनमे बहुवचनके खयालसे तीन ही पक्षियोकी बात मानी गई है। जब तीन पक्षी भी बहुत हुई और उतने ही लेनेसे 'कपिंजलान्', बहुवचन सार्थक हो जाता है, तो नाहक ज्यादा पक्षियोका सहार क्यो किया जाय ? यही बात वहाँ मानी गई है। वही यहाँ भी लागू हो सकती थी। इसी-लिये 'सर्व' विशेषण सार्थक हो सकता है। मगर तिलकके अर्थमे तो यह एकदम बेकार है। उनने खुद गीतारहस्यमे शब्दोके अर्थमे जगह-जगह बालकी खाल खीची है और दूसरोको नसीहत की है। मगर यहाँ ? यहाँ तो वही "खुद रा फजीहत, दीगरे रा नसीहत" हो गई। यहा "अन्यहिं राह दिखावही आप अँधेरे जाहिं" वाली बात हो गई।

सबसे बडी बात यह है कि गीताके उपदेशका यही आखिरी श्लोक है। इसके बाद जो बातें कही गई हैं वे तो शिष्टाचार वगैरहकी है कि गीता-की ये बातें किन्हें सुनाई जायँ, किन्हें नही आदि-आदि। मगर इस श्लोकमें जो पेचीदगी आ जाती है उससे बातकी सफाईके बदले घपला और भी बढ जाता है। यहाँ धर्म कहनेसे सभी धर्मोंको ले, या कुछेकको ही। यदि कुछेकको ही लेनेकी बात कहें तभी गडबड होती है। सभीके लेनेमें तो रास्ता एकदम साफ है—कही रोक-टोक नही। कुछेकके लेनेमें किन्हें लें, किन्हे नही, यह सवाल खामखा खडा हो जाता है। यदि यह भी लिखा होता कि शान्ति पर्व या अश्वमेध पर्वके उन दो अध्यायोमें लिखे धर्मोंको ही ले सकते हैं, दूसरोको नही, तो भी काम चल जाता और घपला न होता। मगर ऐसा तो लिखा है नही। यहाँ तो धर्म शब्दसे ही अटकल लगाना है कि किनको ले, किनको न लें। ऐसी हालतमे यदि कुछ ऐसे धर्म छूट गये जिन्हें लेना जरूरी है, या कुछ ऐसे लिये गये जिनका लेना ठीक नही, तो क्या होगा? तब तो सारा मामला ही गडबडीमे पड जायगा। ऐसा नही होगा यह कैसे कहा जाय? आखिर अटकलपच्चू बात ही तो ठहरी। फलत अर्जुनका दिमाग साफ होनेके बजाय और भी आगा-पीछामे पड जायगा—अगर ज्यादा नही तो कमसे कम उतना आगा-पीछामे तो जरूर, जितना गीतोपदेशके शुरूमें था। ऐसी हालतमे इनके बाद ही अर्जुनका यह कहना कैसे ठीक हो सकता है कि "आपकी कृपासे मेरा मोह दूर हो गया, मुझे सारी बाते याद हो आई और अब मुझे जरा भी शक किसी भी बातमें नही है, इसलिये आपकी बात मान लूँगा"—'नष्टोमोह स्मृतिर्लब्ध्वा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मिगतसदेह करिष्ये वचन तव" (१८।७३)? यह तो उलटी बात हो जाती है। अन्तमे कृष्णकी आज्ञा क्या हुई इसका पता भी लगता नही। फिर उनकी किस बातको माननेका वादा अर्जुनने किया? और जब रणागणमें मरनेवाला

धर्म आखिरमे छोड देनेको ही कहा गया था तो अर्जुन कृष्णकी बात मानके लडने क्यो लगा ?

गीतारहस्यमे लिखे अर्थके बारेमे जो कुछ कहा गया है उससे शेष दो अर्थोंकी भी बहुत कुछ बातोपर प्रकाश पड़ जाता है। असलमे रामानुज-भाष्यमे आगे एक दूसरा भी अर्थ किया गया है जो तिलकके अर्थसे बहुत कुछ मिलता-जुलता है। वहाँ धर्मका अर्थ कृच्छ्र, चान्द्रायण, वैश्वानर आदि अनेक यज्ञ-याग और व्रत विशेष ही किया गया है। इसीलिये जो बाते इस तरहके अर्थमे गीतारहस्यपर लागू है वही उस अर्थपर भी। यह ठीक है कि तिलकने एक ही धर्म शब्दके दो अर्थ कर डाले है। क्योकि एक ओर तो वह कुछ गिनेचुने धर्मोंको ही धर्म-शब्दार्थ मानके उनका त्याग चाहते है। लेकिन दूसरी ओर उसी शब्दका यह भी अर्थ करते है कि "स्वधर्मानुसार प्राप्त होनेवाले कर्म करते जानेपर।" इसीलिये उनके यहाँ ज्यादा गडबड है। मगर धर्म शब्दका जो कुछ इने-गिने धर्मोंसे ही अभिप्राय माना गया है और उसके सम्बन्धमे जो आपत्ति हमने अभी-अभी बताई है वह तो दोनोपर ही लागू है।

एक बात और भी दोनो हीमे समान रूपसे पाई जाती है। यदि इस श्लोकके मध्व एव रामानुज भाष्योको उनके उन भाष्योके साथ पढे जो गीताके अन्यान्य श्लोकोके ऊपर और खासकर ग्यारहवे तथा बारहवे अध्यायके ऊपर लिखे गये है, तो पता लग जाता है, कि वे लोग सगुण ब्रह्म या साकार कृष्ण भगवानकी उपासनाको ही इस श्लोकका विषय मानते है। ऐसी दशामे जो भी आपत्ति तिलकवाले अर्थमे 'व्रज'को लेके या और तरहसे उठाई गई है वह तो इनमे भी अक्षरश लागू है। यह कहना कि गीताका पर्यवसान साकार भगवानकी शरणागतिमे ही है, दूसरा मानी नही रखता और इसमे घोरसे घोर आपत्ति बताई जा चुकी है। हम तो पहले ही 'अहम्', 'माम्' आदि शब्दोके अर्थोंको समझाते हुए बता

चुके है कि उन शब्दोसे साकार या व्यक्त कृष्णको समझना असभव है—ऐसी कोशिश करना भारीसे भारी भूल है। जो कुछ हमें इस सम्बन्धमें कहना था वही कह चुके हैं। उसे इन भाष्योके भी सम्बन्धमें पूरा-पूरा लागू किया जा सकता है।

रह गई इन दोनो भाष्यकारोकी यह दलील कि धर्मका अर्थ उसका फल और कर्त्तृत्वादि है, न कि धर्मका स्वरूप, क्योकि गीताके इसी अठारहवें अध्यायके शुरूमे ही त्यागका यही अर्थ माना गया है। हमने पहले योग या कर्म तथा फलमे अनासक्ति एव बेलगावकी बातपर विचार करते हुए गीताके श्लोकोके बीसियो दृष्टान्त दिये हैं। उनके देखनेसे साफ हो जाता है कि ीताने बार-बार कर्म और उसके फलका साथ-साथ वर्णन करके दोनो हीकी आसक्तिको मना किया है। यही नही। "सुखदु खे समेकृत्वा" (२।३८) जैसे अनेक श्लोकोमे कर्मका जिक्र न भी करके उसके फलोको ही साफ-साफ लिखा और उनमे आसक्तिको सख्तीसे रोका है। जैसा कि पहले विस्तारके साथ समदर्शनकी बात कही जा चुकी है, यह समदर्शन कर्मोके सम्बन्धमे न होके अनेक स्थानोपर कर्मके फलोंसे ही ताल्लुक रखता है। "यदृच्छालाभसतुष्ट" (४।२२), "न प्रहृष्येत्प्रिय प्राप्य" आदि (५।२०-२२), "सुहृन्मित्रार्युदासीन" (६।९), "अद्वेष्टा सर्वभूताना" आदि (१२।१३-१९) तथा "उदासीनवदासीन" आदि (१४।२३-२५) श्लोकोको यदि गौरसे देखा जाय तो कर्मोका जिक्र न भी करके फलोसे ही अलग रहनेकी बातपर जोर देते हैं। दूसरे अध्यायके स्थितप्रज्ञ, बारहवेंके भक्त और चौदहवेंके गुणातीत—ये तीनो ही—हैं क्या यदि कर्मोके फलोसे कतई निर्लेप रहनेवाले लोग नही है ?

इस प्रकार गीताने असल चीज फलको ही माना है और उसीसे बचने, उसीके त्याग और उसीकी अनासक्तिपर खास तौरसे जोर दिया है।

यही कारण है कि कर्मोके साथ तो फलोको अलग लिखा ही है, मगर स्वतत्र रूपसे भी जगह-जगह लिखा है। दूसरे अध्यायमे जब गीताकी अपनी चीज—योग—का स्वरूप उसने "कर्मण्येवाधिकारस्ते" (२।४७-४८)मे बताया है, तो फलको अलग कहनेकी जरूरत पडी है। उसके बिना काम चली नही सकता था। यदि उसे अलग नही कहते तो योग ही चौपट हो जाता। उसकी असली शकल बन सकती न थी। गीता तो कर्मको न देख उसकी आसक्तिको ही देखती और उसीको रोकती है। उसीके साथ उसके फलकी इच्छा और आसक्तिको भी हटाती है। यह बात हम बहुत अच्छी तरह सिद्ध कर चुके है। यह भी बखूबी बता चुके है कि अठारहवे अध्यायके "निश्चय शृणु मे तत्र" (१८।४)से लेकर "स त्यागीत्यभिधीयते" (१८।११) तकके श्लोकोमे साफ ही उसी कर्मासक्ति तथा फलासक्तिका त्याग कहा गया है। फिर भी हमे आश्चर्य होता है कि उन भाष्योके रचयिता महापुरुष इन्ही ४से ११ तकके श्लोकोके आधारपर "सर्वधर्मान्"मे धर्मका अर्थ उसका फल और धर्मके करनेका अभिमान यह अर्थ कर डालते है। दोनोकी आसक्ति अर्थ करते तो एक बात थी।

यदि उन श्लोको या गीताके योग—कर्मयोग—की बात यहाँ होती और उसीका उपसहार इस श्लोकमे माना जाता तो क्या कभी यह बात सभव थी कि कर्म और फल या धर्म और फलको साफ-साफ न कहते और दोनोकी आसक्तिका अत्यन्त साफ शब्दोमे निषेध न करते? गीताकी तो यही रीति है और इसे उसने कही एक जगह भी नही छोडा है। यह बात हम दावेके साथ कह सकते है। बीसियो जगह यह बात गीता भरमे आई है। मगर सभी जगह नियमित रूपसे कर्मासक्ति और फलासक्तिका त्याग साथ कहा है। फिर उपसहारमे भी वही बात क्यो न की जाती? ऐसा न करनेसे तो अर्जुनके लिये साफ ही शकाकी गुजाइश रह जाती

# १०. शेष बातें

गीताधर्मसे सम्बन्ध रखनेवाली सभी प्रमुख बातोपर जहाँतक हो सका हमने अबतक प्रकाश डाला और इस तरह गीतार्थ समझनेका रास्ता बहुत कुछ साफ कर दिया। अब हमे समाप्त करनेके पहले कुछ और भी कह देना है। जो बाते हम अब कहेगे उनका भी ताल्लुक गीताधर्मसे ही है। उनसे भी गीताका आशय समझनेमे बहुत कुछ सहायता मिलेगी, हालाँकि ये बातें इतनी महत्त्वपूर्ण नही है जितनी अबतक लिखी गई है। बात असल यह है कि केवल आशय समझना ही जरूरी नही होता। श्लोको और पदोके अर्थोंको ठीक-ठीक हृदयगम करना भी आवश्यक होता है। इसके बिना आशय आसानीसे समझमे आ नही सकता। कभी-कभी तो शब्दार्थ अच्छी तरह जाने बिना आशय और भावार्थ कतई समझमें आते ही नही। शब्दार्थके सिवाय भी कुछ बाते होती है जिनसे श्लोकार्थ और श्लोकका आशय समझनेमे आसानी हो जाती है। उन बातोको जाने बिना बडी दिक्कत होती है। कभी-कभी तो चीज उलटे समझी जाती है। एकाध ऐसी भी बाते है जिनसे और कुछ न भी हो तो आशयकी गभीरता जरूर मालूम पडती है। इसलिये उनका जानना भी जरूरी है। यही सब बाते लिखके और अन्तमे दो-चार शब्दोमें गीता-धर्मका उपसहार करके यह वक्तव्य पूरा करेगे। इसीलिये इसमे छोटी-मोटी छुटी-छुटाई बातोका ही समावेश पाया जायगा।

## उत्तरायण और दक्षिणायन

गीताके आठवें अध्यायके "यत्र काले त्वनावृत्ति" आदि २३से २७ तकके श्लोकोमे उत्तरायण और दक्षिणायन या शुक्ल और कृष्ण मार्गोंका

वर्णन आता है। इसके बारेमें तरह-तरहकी कल्पनायें होती हैं। पुराने टीकाकारो और भाष्यकारोने तो प्राय' एक ही ढगसे अर्थ किया है। हाँ, शब्दोके अर्थोंसे किन चीजोका अभिप्राय है इसमें कुछ मतभेद उनमें भी पाया जाता है। उनने इन दोनो मार्गोंको देवयान और पितृयान (याण) भी कहा है। यान रास्तेको भी कहते हैं और सवारी या लेचलनेवालेको भी। घोडा, गाडी वगैरह यान कहे जाते हैं। मगर जो पथदर्शक हो वह भी सवारीसे कम काम नही करता। इसलिये उसे भी यान कहते हैं और वाहक भी। इन मार्गोंको अर्चिरादि मार्ग और धूमादि या धूम्रादि मार्ग भी कहा है। पहलेमें अग्निसे ही शुरू करते हैं। और उसके बाद ही तो ज्योति, अर्चि या प्रकाश है। इसीलिये उसे अर्चिरादि कह दिया है। अग्नि ही यद्यपि शुरूमें है और उसके बाद ही ज्योति शब्द और कही-कही अर्चि शब्द आता है, मगर अग्न्यादि मार्ग न कहके अर्चिरादि इसलिये कहते हैं कि अग्नि तो दोनोमें है। उसके बाद ही रास्ते बदलते हैं। दूसरेमें धूमसे ही शुरु करनेके कारण धूमादि नाम उसका पडा। इसी धूमको किसी-किसीने धूम्र कहा है। धूम्रके मानी है मलिन या अँधेरेवाला। इस मार्गमें प्रकाश नही होनेसे ही इसे धूम्रादि कह डाला। कुछ नये टीकाकारोने यही कहके सन्तोष कर लिया कि हमे इन श्लोकोका तात्पर्य समझमें नही आता। असलमे पुराणोकी तो बात ही जाने दीजिये। छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदोमें भी जो इन दोनो मार्गोंका वर्णन है उसपर भी उन्हें या तो विश्वास नही है, या उसे भी वे एक पहेली ही मानके ऐसा कह देते हैं।

वेशक यह चीज पुरानी है। यहाँ तक कि ऋग्वेद (१०।८८।१५)में भी इसका जिक्र है। यास्कके निरुक्त (१४।६)मे भी यह बात पाई जाती है। महाभारतके शान्तिपर्वमे तो हई। वेदान्तदर्शनके चौथे पादके दूसरे और तीसरे अधिकरणोमें भी यह बात आई है। इसपर वाद-विवाद भी पाया जाता है। कौषीतकी उपनिषदके पहले अध्यायके शुरूके २, ३

आदि मन्त्रोमे भी यह बात आई है। वहाँ बहुत विस्तृत वर्णन है जो अन्य उपनिषदोमे नही है। बृहदारण्यक उपनिषदके पाँचवे अध्यायके दसवे ब्राह्मणमे थोडीसी और छठे अध्यायके दूसरे ब्राह्मणके कुल सोलह मन्त्रोमे यही बात आई है। हालाँकि कौषीतकीवाली कुछ ब्योरेकी बाते इसमे नही लिखी है, फिर भी बहुत विस्तृत वर्णन है। छान्दोग्योपनिषदके पाँचवे अध्यायके तीनसे लेकर दसतकके आठ खडोमे भी यह वर्णन पूरा-पूरा पाया जाता है। उसके चौथे अध्यायके १५वे खडमे भी यह बात आई है। जब ऋग्वेद जैसे प्राचीनतम ग्रन्थसे लेकर महाभारततकमे यह चीज पाई जाती है तो मानना ही होगा कि उस समय इसका पूरा प्रचार था। इसपर पूरा मनन, विचार और अन्वेषण भी उस समय जारी था। इसीलिये इस प्रश्नका महत्त्व भी बहुत ज्यादा था। यदि छान्दोग्य आदि उपनिषदोमे इस विषयका निरूपण पढे तो पता लगता है कि आरुणि जैसे महान् ऋषिको भी इसका पता न था। इसे वहाँ पचाग्नि-विद्या कहा है। साथ ही छान्दोग्य उपनिषदमे ही नक्षत्र विद्या आदि कितनी ही विद्याये (Science) गिनाई है, जिनका नाम भी हम नही जानते। छान्दोग्योपनिषदके सातवे अध्यायके पहले और दूसरे खडोमे नारदने सनत्कुमारसे कहा है कि ऋग्वेदादि चारो वेदो, वेदोके वेद, पाँचवे इतिहासपुराणके सिवाय, अनेक विद्याओके साथ देव-विद्या, ब्रह्मविद्या, भूतविद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या, सर्पविद्या, जनविद्या और देवविद्या जानता हूँ। ये विभिन्न वैज्ञानिक अध्ययन नही तो और क्या है? मगर अन्यान्य बातोमे पतनके साथ ही इस बातमे भी हमारा पतन कुछ ऐसा भयकर हो गया कि हम ये बाते पीछे चलके कतई भूल गये। आज तो यह हालत है कि इन्हे हम केवल धर्म, बुद्धिसे ही मानते है, सो भी इसीलिये कि हमारी पोथियोमे लिखी है। मगर इनके बारेमे न तो सोच सकते और न कोई दार्शनिक युक्ति ही दे सकते है।

लेकिन यदि थोडा भी विचार किया जाय तो पता चलेगा कि इन वातोका उसी कर्मवादसे ताल्लुक है जिसका निरूपण हम वहुत ही विस्तारके साथ पहले कर चुके है। जव हमारे पुराने ग्राचार्य, ऋषिमुनि ग्रौर दार्शनिक पुनर्जन्मको स्वीकार करने लगे तो उनने उसके मूलमे इस कर्मवादको ही माना। सद्गति ग्रौर दुर्गति या मनुष्य से लेकर कीट-पतग एव वृक्षादिकी योनियोमे जाने ग्रौर वैसा ही शरीर ग्रहण करनेका कारण वह कर्मको ही मानते थे। ग्राज हम यहाँ मनुष्य शरीरमें है। कुछ दिन वाद मरके हजार कोसपर पशु या किसी ग्रौर योनिमें जायेगे। सवाल होता है कि वहाँ हमें कौन, क्यो पहुँचायेगा ग्रौर कैसे ? हमने यहाँ वुरा-भला कर्म किया। उसका फल हमें हजारो कोसपर कौन पहुँचायेगा ? जव व्यष्टि ग्रौर समष्टि दोनो ही तरहके कर्मो से हमारे शरीर वनते या वुरी-भली वाते होती है, तो यहाँके गैरके द्वारा किये गये कर्मोसे हमारा शरीर कही दूर देशमें कैसे वनेगा कि हम उस गैरको वही उसी शरीरसे सतायेगे या ग्राराम देंगे ? श्राद्ध, यज्ञयागादि हमारे लिये कोई भी करे ग्रौर उसका नतीजा हमें भी मिले—क्योकि एकके कर्मका फल दूसरेको भी मिलता ही है, यह वता चुके है—इसकी व्यवस्था कैसे होती है ? किसीने हमारे मरनेपर पिडदान या तर्पण किया ग्रौर हम वाघ या साँपकी योनिमें जनम चुके है, तो उस श्राद्ध या तर्पणका फल मास या हवा ग्रादि के रूपमे हमें कौन पहुँचायेगा ? वाघको मास ही चाहिये न ? भात या ग्राटेका पिड तो उसके किसी कामका नही। वह तो यही रह जाता है भी। साँपको भी तो हवा चाहिये। ऐसी ही वातोपर सोच-विचार करके उनने कर्मवादकी शरण ली। साथ ही सवकी व्यवस्थाके लिये एक व्यापक चेतन शक्तिको मानकर उसे ईश्वर नाम दिया। ईश्वर कहते है शासन करनेवालेको।

इसी कर्मवादके सिलसिलेमें यह उत्तरायण ग्रौर दक्षिणायनवाली वात भी ग्रा गई। हम तो कही चुके है कि हरेक पदार्थोसे ग्रनन्त परमाणु

प्रत्येक क्षणमे निकलते ही रहते और उनकी जगह दूसरे आते रहते है। यह भी बात अच्छी तरह लिखी गई है कि ठीक समयपर ये परमाणु निकलते है, इनके कोष (stock) हजारो ढगके बने होते है, नये भी बनते जाते है, उनमेसे ही दूसरे परमाणुओके चावल वगैरहमे शामिल होते है और उनसे जो निकले थे वे या तो पहलेसे बने परमाणु-कोषमे जा मिलते है या उनसे नये कोष बनते है। यह बात दिनरात चालू है। हमारी बाहरी आँखे इसे नही देखती है सही। मगर भीतरी आँखे माननेको मजबूर होती है। फिर भी यह सारी बाते कैसे हो रही है और इनकी क्या व्यवस्था है, हम नही जानते। ब्योरेकी बाते हमारी शक्तिके बाहर-की है। नही तो फिर ईश्वरकी जरूरत ही क्यो हो? तब हमी ईश्वर नही बन जाते? हम भीतरकी धुँधली आँखोसे इन बातोको मोटा-मोटी देखते है। क्योकि इनके बिना काम चलता नही दीखता, अक्ल रुक जाती है, आगे बढ पाती नही और कुठित हो जाती है। जो नये परमाणु आते है वह ऊपर ही ऊपर गर्द-गुब्बारकी तरह नही चिपकते। वे तो चावलोके भीतर घुस जाते, उनमे घुस जाते, प्रविष्ट हो जाते, उनके अग-प्रत्यग बन जाते है।

जिस प्रकार ये बाते भौतिक पदार्थोंके बारेमे उनने इस भौतिक विज्ञान-युगके आनेके बहुत पहले मान ली थी, देख ली थी, हम यह पहले ही कह भी चुके है, ठीक उसी प्रकार कर्म और आत्माके बारेमे भी उन-ने—उनकी सूक्ष्म आँखोने—कुछ बाते देखी, कुछ सिद्धान्त स्वीकार किये। आत्मा या आत्माके साथ ही चलनेवाले सूक्ष्म शरीरके आने-जानेके बारेमे भी उनने कुछ बाते तय की थी। गीताने "ममैवाशो जीवलोके" आदि (१५।७-११) श्लोकोमे जीवात्माके आने-जाने का जो वर्णन करते हुए कहा है कि वह मन आदि इन्द्रियोको साथ लेके जाती है वह उनकी यही कल्पना है। मन आदि इन्द्रियोसे मतलब वहाँ उस सूक्ष्म शरीरसे ही है,

जिसमें पूर्वोक्त पाँच कर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय, पाँच प्राण और मन एव बुद्धि यही सत्रह पदार्थ पाये जाते है—वह शरीर इन्ही सत्रहोसे बना है। मरनेके समय वही निकल जाता है स्थूल शरीरसे, और जन्म लेनेमे वही पुनरपि आ घुसता है। उसीके साथ आत्माका आना-जाना है। खुद तो आ जा सकती नही। आईनेके साथ जैसे किसी चीजका प्रतिविम्ब चलता है वैसे ही सूक्ष्म शरीरके साथ आत्माका प्रतिविम्ब चलता है। आत्मा स्वय तो सर्वत्र व्यापक है। वह कैसे आये जायेगी ? प्राणोका काम है घोडेकी तरह खीचना। उनमे क्रिया जो है। बुद्धि आईना है। उसीमें आत्माका प्रतिविम्ब है। वही अँधेरेमे रास्ता दिखाती है।

यहाँ सवाल यह होता है कि सूक्ष्म शरीरका यह आना-जाना कैसे होता है ? यह किस रास्तेसे, किस सवारी या पथदर्शककी मददसे ठीक रास्तेपर जाता है और चौराहेपर नही भटकता ? रास्तेमे पडाव है या नही। पथदर्शक (guide) भी तो अनेक होगे। क्योकि एक ही कहाँतक ले जायगा ? और यदि एक ही जीवात्माके सूक्ष्म शरीरको ले जाना हो तो यह भी हो। मगर यहाँ तो हज़ारो है, लाखो है, अनन्त है। रोज ही लाखो प्राणी मरते है। फलत रास्तेमें भीड तो होगी ही। इसीलिये कुछ दूर वाद ही एक पथदर्शक अपनी थाती (charge) को दूसरेके जिम्मे लगाके फौरन लौट आता होगा। फिर दूसरेको ले चलता होगा। इस प्रकार सबकी ड्यूटी वँटी होगी, वँधी होगी। कितनी दूरसे कितनी दूरतक हरेकका चार्ज रहेगा यह भी निश्चित होगा, निश्चित होना ही चाहिये। जैसा यहाँ भौतिक दुनियामे हो रहा है उसीके अनुसार ही उस दुनियामें भी, जिसे आध्यात्मिक या परलोककी दुनिया कहते है, उनने सोच निकाला होगा। दूसरा करते भी क्या ? दूसरा तो रास्ता है नही, उपाय है नही। यही है उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गके मानने-की दार्शनिक वुनियाद। यही है उसका मूल सिद्धान्त।

मरनेके बाद शरीरको तो जलाई देते थे। कमसे कम अग्नि सस्कार करते थे। यह भी कहा जाता है कि जलाने या अग्नि सस्कारके ही समय समान नामक प्राण इस शरीरसे निकलता है। तबतक चिपका रह जाता है। यह खयाल अत्यन्त पुराना है। इसीलिये मृतकका जलाना और अग्नि-सस्कार हिन्दुओ के यहाँ जरूरी माना गया है। यही कारण है कि जो लोग किसी वजहसे मृतकको जला नही सकते वह भी अग्निसस्कार अवश्य करते है। जलानेसे बिगडते-बिगडते यह बात हो गई। मगर इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि जलानेके बाद ही जीवात्माकी अतिम बिदाई यहाँसे होती है, ऐसी ही मान्यता थी। यही कारण है कि गीता (८।२४) मे अग्निसे ही शुरू किया है—उत्तरायण मार्गको लिखते हुए अग्निसे ही शुरू किया है। हालाँकि जब इस मार्गको ज्योतिरादि या अर्चिरादि कहते है तब तो अग्निके बाद जो ज्योति शब्द आया है उसे ही शुरूमे आना चाहिये था। इसीलिये अगले श्लोकमें धूमसे ही शुरू किया है। मगर अग्नि देनेका अभिप्राय यही है कि अग्निसे सम्बन्ध तो सभीका होता है। उसके बाद ही दो रास्ते अग्निकी ज्वाला और उसके धूमसे शुरू हो जाते है। यही वजह है कि अगले श्लोकमे अग्नि शब्दकी जरूरत न समझी गई। उसका काम तो पहले ही श्लोकसे चला जाता है। उस एक ही अग्नि शब्दसे और दोनो मार्गोके ज्योतिरादि एव धूमादि नाम होनेसे ही लोग यह आसानीसे समझ जायँगे कि अग्निमे जलानेके बाद ही ज्योति और धूमसे सम्बन्ध होगा, न कि पहले।

"यत्रकाले त्वनावृत्ति" (८।२३) मे कालका उल्लेख है। उससे यह भी पता चलता है कि दोनो मार्गोमे काल हीकी बात आती है। लेकिन यहाँ तो शुरूमे अर्चि और धूम ही आये है। उनके बाद अह, रात्रि, कृष्ण-पक्ष, शुक्ल, उत्तरायणके छे महीने और दक्षिणायनके छे महीने जरूर आये है, ये काल या समयके ही वाचक है भी। लेकिन आगेके श्लोकोमे

'गती' और 'सृती' शब्द मार्ग या रास्तेके ही मानीमे आये है। इसलिये, एव छान्दोग्य, वृहदारण्य तथा निरुक्त आदिमे भी उत्तरायणमे आदित्य, चन्द्र, विद्युत् और मानस या अमानव आदिका तथा दक्षिणायनमें पितृलोक, आकाश, चन्द्रमा आदिका भी जिक्र है इसलिये भी, वहुतोका खयाल है कि यहाँ काल या समयकी बात न होके कुछ और ही है। इसके विपरीत महाभारतके भीष्म पर्व (१२०) और अनुशासनपर्व (१६७)से पता चलता है कि आहत होनेके बाद भीष्म वाण-शय्यापर पडे-पडे उत्तरायण-कालको देख रहे थे कि जब सूर्य उत्तरायण हो तो शरीर छोडे। इसीलिये जवतक दक्षिणायन रहा वह प्राणत्याग न करके लोगोको उपदेश देते रहे। इससे तो कालकी ही महत्ता उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गोंमें प्रतीत होती है। गीताने शुरूमे काल ही नाम इन दोनोको दिया भी है।

इस उलझनको सुलझानेके लिये शकरने कहा है कि प्रधानता तो कालकी ही है। इसीलिये दूसरोके आ जानेपर भी काल ही कहा गया है। क्योकि जिस वनमे ज्यादा आम हो उसे आम्रवन और जहाँ ब्राह्मण ज्यादा हो उसे ब्राह्मणोका गाँव कहते है—"भूयसातुनिर्देशो यत्रकाले त कालमित्याम्रवणवत्।" कुछ लोगोने इससे यह भी अर्थ लगाया है कि जव किसी समयमे वैदिक ऋषियोका निवास उत्तर ध्रुवके पास था, जहाँ छे मासके दिनरात होते है, उसी समय उत्तरायणका समय मृत्युके लिये प्रशस्त माना गया। वही वात पीछे भी चल पडी। इसलिये शकर आदिने जो ज्योति, अह आदि शव्दोसे तत्सम्वन्धी देवताओको माना है उसपर उनने आक्षेप भी किया है, हालाँकि काल तो शकरने साफ ही स्वीकार किया है। हमारे जानते तो शकरका लिखना सही है। इसकी सुलझन भी हमे थोडा विचार करनेसे मिल जाती है। हमें इस वातके विवादमे नही पडना है कि उत्तर ध्रुवके पास कभी आर्य लोग या वैदिक

ऋषि थे या नही। सभव है, वे रहे भी हो। मगर यहाँ वह बात नही है, हमारा यही खयाल है।

असलमे एक बात सोचनेकी यह है कि प्रत्येक पदार्थके परिपक्व होनेमे सबसे बडा हाथ काल या समयका ही होता है यह तो मानना ही होगा। कम-बेश समयके चलते ही चीजे पक्व तथा अपक्व होती है। यह ठीक है कि युक्तिसे हम समयमें कमी बेशी कर दे सकते है। मगर समयकी अपेक्षा तो फिर भी रहती ही है। काल और दिशाको जो प्राचीन दार्शनिकोने माना वह इसी जरूरतको पूरा करनेके लिये। काल और दिशामे कोई बुनियादी फर्क नही है। दोनो एक जैसे ही है और एक दूसरेके सहायक है। इसीलिये वस्तुगत्या एक ही है। हम देखते है कि पदार्थोंमे परमाणुओंका आना या वहाँसे जाना भी समयकी अपेक्षा करता है। कैसा परमाणु कब निकले या आये यह बात भी कालकी अपेक्षा रखती है। यहाँ उत्तरायण और दक्षिणायन मार्गोंमे क्रमश उपासना या अपरिपक्व ज्ञान तथा कर्मके परिपाककी ही जरूरत है भी, ताकि आगे वे अपना परिणाम या फल दिखला सके। इसीलिये जो भी परिणाम होनेवाला हो उससे पहले एक लम्बा या विस्तृत काल होगा ही, फिर वह लम्बाई चाहे बहुत ज्यादा हो या अपेक्षाकृत कम हो। ऋषियोने उसी कालकी कल्पना करके उसके विभाग वैसे ही किये जैसे हमने यहाँ कर रखे है—जैसे यहाँ पाये जाते है। इस विभागके बाद जब ज्यादा लम्बा काल आ गया तो उसे हमारी अपनी तराजूसे नाप-जोख और बँटवारा न करके दिव्य या देवताओंकी ही तराजूसे बँटवारा किया। आखिर हमारी नन्ही तराजूसे कबतक बाँटते रहते ? यही रहस्य है दैवी या दिव्य वर्ष माननेका जिसमे हमारे छे महीनेका दिन और उतनेकी ही रात मानी गई। यह तो मामूली दिव्यतराजू हुई। मगर इससे भी लम्बी है आखिरी तराजू, जिसे हिरण्यगर्भ या ब्रह्माकी तराजू कहते है। इसमे हमारे हजार युगोके दिनरात

माने जाते है। यही बात गीताने इस उत्तरायण-दक्षिणायन-विवेचनके पहले उसी अध्यायमे "सहस्रयुगपर्यन्त" (८।१७-१९) श्लोकोमे लिखी है। उसका भी इसीसे ताल्लुक सिद्ध हो जाता है। क्योकि उसीके बाद उत्तरायण आदिकी बात पाई जाती है।

भीष्मकी उत्तरायणवाली प्रतीक्षा भी इसी बातको पुष्ट करती है। जब उपासना या कर्मके परिपक्व होनेमे समय सहायक है तो उत्तरायण-काल क्यो न होगा ? वह तो थे उपासक। इसलिये उन्हें जाना था उसी मार्गसे। उसमे जो परिपाक होनेमे देर होती और इस तरह उनका वह उपासना रूप ज्ञान देरसे पकता, उसीकी आसानीके लिये उनने उत्तरा-यणकी प्रतीक्षा की। यह आमतौरसे देखा जाता है कि लोग रातमें ही मरते है। आम लोग वैसे ही होते है। उन्हें ज्ञानसे ताल्लुक होता ही नही। इसीलिये उनका रास्ता अँधेरेका ही होता है। दक्षिणायन कुछ ऐसा ही है भी। वहाँ धूम, रात वगैरह सभी वैसे ही है। यह ठीक है कि बडे-बडे कर्मी लोगोके बारेमे ही दक्षिणायन मार्ग लिखा है। जो ऐसे उपासक, ज्ञानी या कर्मी नही है उनके बारेमे छान्दोग्यके "अथैतयो पथोर्न" (५।१०।८)में यह मार्ग नही लिखा है। लेकिन इसका इतना ही अर्थ है कि ऐसे लोग स्वर्ग या दिव्यलोकमे नही जाके बीचसे ही अपना दूसरा मार्ग पकड लेते है। क्योकि मरनेपर आखिर ये भी तो दूसरे शरीर धारण करेगे ही और उन शरीरोमे इन्हें पहुँचानेका रास्ता तो वही है। दूसरा तो सभव नही। यह ठीक है कि उत्तरायण और दक्षिणायन शुरूमें ही अलग होनेपर भी सम्वत्सरमें जाके फिर मिल जाते है। मगर तीसरे दलवाले जनसाधारणके मार्गको वहाँ मिलने नही दिया जाता। साथ ही दक्षिणायनवाले सम्वत्सर या सालके छे महीनोके बाद पितृलोकमें सीधे जाते है और इस प्रकार ऊपर जाके दो रास्ते साफ हो जाते है जैसा कि छान्दोग्य (५।१०।३)से स्पष्ट है। वैसे ही कर्मी लोगोके रास्तेसे

भी कुछी दूर जाके जनसाधारण अपना दूसरा रास्ता पकड लेते है। उत्तरायणवाले ब्रह्मलोक जाते है। दक्षिणायनवाले स्वर्ग जाते है। शेष लोग दोनोमे कही न जाके मरते-जीते रहते है। यही तो वहाँ साफ लिखा है। स्वर्गसे लौटते हुए चन्द्रलोकमे आके आकाशमे आते और वायु आदिके जरिये मेघमे प्रविष्ट होके उन अन्नोमे जा पहुँचते है जिन्हे उनके भावी माता-पिता खायेगे। पानीसे तो अन्न होता ही है। गीताने भी यह कही दिया है। इसीलिये वृष्टिके द्वारा अन्नमे जाते है। यही बात छान्दोग्य (५।१०।५-६)मे पाई जाती है। पाँच आहुतियोके रूपमे इसीका विस्तार इसीसे पहलेके ४से ६तकके खडोमे किया गया है। मगर साधारण लोग आकाशके बाद चन्द्रमा होते स्वर्गमे नही जाते, किन्तु वहीसे वायुमे होके वृष्टिके क्रमसे अन्नमे आ जाते है। बस, यही फर्क है।

अत कुछ इस तरहका सम्बन्ध इस रातकी मौतसे मालूम होता है कि वह साधारणत दक्षिणायन मार्ग और उस अँधेरे रास्तेसे ही जुटी है—रात्रिकी मौतका दक्षिणायन या अर्द्ध दक्षिणायनवाले अँधेरे रास्तेसे ही सम्बन्ध आमतौरसे है। इसमे केवल अपवाद ही होता है—हो सकता है। यह बात अस्वाभाविक या आकस्मिक मृत्यु वगैरहमे ही पाई जाती है जो दिनमे होती है। कमसे कम यही खयाल उस समयके दार्शनिको और विवेकियोका था। इसीलिये भीष्मने दिन और उत्तरायणकी मौतको ही पसन्द किया। इसीलिये उत्तरायणकी प्रतीक्षा करते रहे। उनने और दूसरे लोगोने माना कि इस तरह उनके ब्रह्मलोक पहुँचने या उपासना-के परिपक्व होनेमे आसानी होगी। हमारे जानते यही तात्पर्य इस समस्त वृत्तान्त और वर्णनका है। इसमें सबका समावेश भी हो जाता है। मार्ग या रास्ता कहनेसे तो कोई अन्तर आता नही है। मार्ग तो वह हई। आखिर जमीनका रास्ता तो वहाँ है नही। वह तो दिशा तथा समयका ही है। ऊँचे, नीचे, पूर्व, पच्छिम कही भी जाना हो उसका कालसे सम्बन्ध

हुई और पूर्व आदि दिशाको कालसे जुदा मानते भी नही यह कही चुके है।

उत्तरायण प्रकाशमय है और दक्षिणायन अँधेरा। इसीलिये पथ-दर्शकोके नाम भी दोनोमे ऐसे ही है। मालूम होता है, जैसे चावलके परमाणु निकलनेके रास्ते और साधन है जिन्हें हम देख न सकनेपर भी मानते है, नही तो व्यवस्था न होके गडबडी हो जाती, वैसे ही शरीर-दाहके वाद उत्तरायण मार्गमे चिताग्निकी ज्योति और दक्षिणायनमें उसका धुआँ मृतात्माकी सूक्ष्म देहको ले चलनेका श्रीगणेश करते है। कमसे कम प्राचीनोने यही कल्पना की थी कि सूक्ष्म शरीरको यही दोनो यहाँसे उठाते और ले चलते है। आगे दिन और रातको सौंप देते है। वह शुक्ल और कृष्ण पक्षको। यही क्रम चलता है। ज्योति, धूम आदिको देवता तो इसीलिये कहा कि इनमे वह अलौकिक—दिव्य—ताकत है जो हम औरोमें नही पाते। सूक्ष्म शरीरको ले जाना और पहुँचाना असाधारण या अलौकिक काम तो हुई। वैदिक यज्ञयागादि कर्मोका ज्ञान या विवेकसे ताल्लुक है नही यह तो गीताने "यामिमा" (२।४२-४६) आदिमें कहा ही है और उन्हीका फल है यह दक्षिणायन। इसीलिये यहाँ प्रकाश नही है। जैसेका तैसा फल है। उधर उपासना कहते है अपूर्ण ज्ञानकी अवस्थाको ही। इसलिये उसमे प्रकाश तो हुई। यही बात उत्तरायणमें भी है। ज्ञानके अपूर्ण होनेके कारण ही मृतात्माकी, ब्रह्मलोकमें पहुँचनेके उपरान्त समय पाके ज्ञान पूर्ण होनेपर, ब्रह्माके साथ ही मुक्ति मानी गई है। इसीको क्रम मुक्ति भी कहते है। जैसे जनसाधारणके लिये इन दोनो-की अपेक्षा जीने-मरनेका एक तीसरा ही रास्ता कहा गया है, उसी तरह अद्वैततत्त्वके ज्ञानवालेका चौथा है। वह तो कही जाता है न आता है। उसके प्राण यहीं विलीन हो जाते और वह यहीं मुक्त हो जाता है।

गीताने एक ओर तो यह चीज कही है। दूसरी ओर "त्रैविद्या मा" (९।२०-२१)मे अस्थायी स्वर्ग सुखका भी वर्णन किया है। उसे भी कर्म-फल ही बताया है। वह यही दक्षिणायनवाली ही चीज है। यो तो ब्रह्मज्ञान और आत्मानन्दका गीतामे सारा वर्णन ही है। स्थित प्रज्ञ, भक्त और गुणातीतकी दशा उसी आत्मज्ञान और ब्रह्मानन्दकी ही तो है। सवाल होता है कि स्वर्ग और ब्रह्मानन्दके अलावे उत्तरायण-दक्षिणायनके पृथक् वर्णनकी क्या जरूरत थी ? इससे व्यावहारिक लाभ है क्या ? गीता तो अत्यन्त व्यावहारिक (Practical) है। इसीलिये यह प्रश्न होता है।

असलमे कर्मोंके सिलसिलेमे कर्मवादकी बात आते-आते यह भी आनी जरूरी थी। इससे साधारण कर्मोंकी तुच्छता, अपूर्ण ज्ञानकी त्रुटि एव पूर्ण तत्त्वज्ञानकी महत्ता सिद्ध हो जाती है। स्वर्गके वर्णनमे केवल स्वर्गकी बात और उसकी अस्थिरता आती है। मगर ब्रह्मलोककी तो आती नही। एक बात और है। उपनिषदोमे दक्षिण यानके वर्णनमे कहा गया है कि चन्द्रलोकमे जाके जीवगण देवताओके अन्न या भोग्य बन जाते है। देवता उन्हे भोगते है। देवताका अर्थ है दिव्यशक्तियाँ। वहाँ भी गुलामी ही रहती है। दिव्यशक्तियाँ जीवसे ऊपर रहती है। फिर वह वहाँसे नीचे गिरता है। इसीलिये उसे यह खयाल स्वभावत. होगा कि हम ऐसा क्यो न करे कि कमसे कम ब्रह्मलोक जाये, जहाँ कोई देवता हमपर न रहेगा; या आत्मज्ञान ही क्यो न प्राप्त कर ले कि सभी आने-जानेके झमेलोसे बचे और खुद देवता बन जायँ। क्योकि नौ, दस, ग्यारह अध्यायोमे तो सभी देवताओको परमात्माका अश या उसकी विभूति ही कहा है और ज्ञानी स्वय परमात्मा बन जाता ही है— वह खुद परमात्मा है। बस, इससे अधिक लिखनेका यहाँ मौका नही है।

# गीताकी अध्याय-संगति

गीताका अर्थ समझनेमे एक जरूरी बात यह है कि हम उसमे प्रतिपादित विषयोको ठीक-ठीक समझें और उनका क्रम जाने। इसीका सम्बन्ध ज्ञान और विज्ञानमे है जिसका उल्लेख गीता (७।२-९।१)मे दो बार स्पष्ट आया है। इस दृष्टिसे हम गीताके अध्यायोको देखे तो ठीक हो।

पहला अध्याय तो भूमिका या उपोद्घात ही है। वह गीतोपदेशका प्रसग तैयार करता है जो अर्जुनके विषादके ही रूपमें है। यही सबसे उत्तम भूमिका है भी। इसके करते जितना सुन्दर प्रसग तैयार हुआ है उतना और तरहसे शायद ही होता।

दूसरे अध्यायका विषय है ज्ञान या साख्य। इसमें उसीकी मुख्यता है।

तीसरेमे कर्मका सवाल उठाके उसीपर विचार और उसीका विवेचन होनेके कारण वही उसका विषय है।

चौथेमे ज्ञानका कर्मोके सन्याससे क्या ताल्लुक है यही बात आई है। इसीलिये उसका विषय ज्ञान और कर्म-सन्यास है।

स्वभावत, जैसे दूसरे अध्यायमे ज्ञानके प्रसगसे कर्मके आ जानेके कारण ही तीसरेमें उसका विवेचन हुआ है, उसी तरह चौथेमें सन्यासके आ जानेसे पाँचवेमे उसीका विवेचन है, वही उसका मुख्य विषय है।

छठेमे अभ्यास या ध्यानका विवरण है। यह ज्ञानके लिये अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। इसे ही पातजल योग भी कहते है। चौथेके ज्ञान और कर्म-सन्यासके मेलको ही ब्रह्मयज्ञ भी कहा है और वही उसका मुख्य अर्थ शकरने लिखा है। ठीक ही है। पाँचवेके मुख्य विषय—सन्यास—को उनने प्रकृतिगर्भ नाम दिया है। बाहरी झमेलोसे पिंड छुडाके किस प्रकार प्राकृतिक रूपमे ब्रह्मानन्दमे मस्त हो जाते है यही बात उसमे सुन्दर ढगसे लिखी है। सन्यासीके सम्बन्धमें प्राचीन ग्रन्थोमें लिखा

भी है कि वह जैसे माताके गर्भसे बाहर आनेके समय था वैसा ही रहे—"यथाजातरूपधर ।" इसलिये इस सन्यासको प्रकृतिगर्भ कहना सर्वथा युक्त है ।

इस प्रकार छठे अध्यायतक जो बाते लिखी गई है उनके अलावे और कोई नवीन विषय तो रह जाता ही नही । यही बाते आवश्यक थी । इन्हीसे काम भी चल जाता है । शेष बात तो कोई ऐसी आवश्यक बच जाती है नही, जो गीताधर्मके लिये जरूरी हो और इसीलिये जिसका स्वतत्र रूपसे विवेचन आवश्यक हो जाय । हाँ, यह हो सकता है कि जिन विपयोका निरूपण अवतक हो चुका है उनकी गभीरता और अहमियतका खयाल करके उन्हीपर प्रकारान्तरसे प्रकाश डाला जाय । उन्हे इस प्रकार वताया जाय, दिखाया जाय कि वे हृदयगम हो जायँ। इस जरूरतसे इनकार किया जा सकता नही । गीताने भी ऐसा ही समझके शेष १२ अध्यायोमे यही काम किया है । अठारहवेमे इसके सिवाय सभी बातोका उपसहार भी कर दिया है । इसीलिये सातवे अध्यायमे कोई नया विषय न देके ज्ञान और विज्ञानकी ही बात कही गई है । मगर कही लोग ऐसा न समझ ले कि यह बात केवल सातवे अध्यायका ही प्रतिपाद्य विषय है, इसीलिये नवेके शुरूमे ही पुनरपि उसीका उल्लेख कर दिया है ।

यहाँ पर ज्ञान और विज्ञानका मतलब् समझ लेनेपर आगे बढनेमे आसानी होगी । पढ-सुनके या देखके किसी बातकी साधारण जानकारी-को ही ज्ञान कहते है । विज्ञान उसी बातकी विशेष जानकारीका नाम है । इसके दो भाग किये जा सकते है । एक तो यह कि किसी बातके सामान्य (general) निरूपण, जिससे सामान्य ज्ञान हो जाय, के वाद उसका पुनरपि ब्योरेवार (detailed) निरूपण हो जाय। इससे पहलेकी अपेक्षा ज्यादा जानकारी उसी चीजकी जरूर होती है। दूसरा यह कि जिस ब्योरेका निरूपण किया गया हो उसीको प्रयोग (expe-

riment) करके साफ-साफ दिखा-सुना दिया जाय। इस प्रकार अपनी आँखो देख लेने, छू लेने या सुन लेनेपर पूरी-पूरी जानकारी हो जाती है, जिससे वह वात दिल-दिमागमे अच्छी तरह वैठ जाती है। हमने किसीको कह दिया, उसने सुन लिया या कही पढ लिया कि सूतमे कपडा तैयार होता है। इस तरह जो उसे जानकारी हुई वही ज्ञान है। उसके वाद सामने कपडा रखके उसके सूतोको दिखला दिया, तो उसको विज्ञान हुआ—विशेष जानकारी हुई। मगर सूतका तानावाना करके उसके सामने ही यदि कपडा वुन दिया तो यह भी विज्ञान हुआ और इसके चलते उसके दिल-दिमागमे यही वात पक्की तौरसे जम जाती है।

गीतामे भी शुरूके छे अध्यायोमे जिन वातोका निरूपण हुआ है वह तो ज्ञान हुआ। मगर उन वातोके प्रकारान्तरसे निरूपण करनेके साथ ही सातवेमे सृष्टिके कारणो आदिका विशेष विवरण दिया है।

आठवेमे अधिभूत आदिके निरूपणके साथ ही उत्तरायण आदिका विशेष वर्णन किया है।

नवेमे फिर प्रकृतिमे सृष्टि और प्रलयके निरूपणके साथ क्रतु, यज्ञ, मत्र आदिके रूपमे इस सृष्टिको भगवानका ही रूप कहा है।

दसवेमे इसी वातका विशेष व्योरा दिया है कि सृष्टिकी कौन-कौनसी चीजे खासतौरसे भगवानके स्वरूपमे आ जाती है।

इस तरह जिस तत्त्वज्ञानकी वात दूसरे अध्यायसे शुरू हुई उसीको पुष्ट करनेके लिये इन चारो अध्यायोमे विभिन्न ढगसे वाते कही गई है। सृष्टिके महत्त्वपूर्ण पदार्थोकी ओर तो लोगोका ध्यान खामखा ज्यादा आकृष्ट होता है खुदवखुद। अव यदि उन पदार्थोको भगवानका ही रूप या उन्हीसे साक्षात् वने हुए वताया जाय तो और भी ज्यादा ध्यान उधर जाता है। हम तो कही चुके है कि आत्मा, परमात्मा और पिंड, ब्रह्माड इन चारोमे एक ही वुद्धि—सम वुद्धि ही—तत्त्वज्ञान है। इस निरूपणसे

उसी ज्ञानमे मदद मिलती है। इस प्रकार ब्योरेवार निरूपणके द्वारा विज्ञानमे ही ये चारो अध्याय मदद करते है। ७वे का विषय जो ज्ञान-विज्ञान कहा है वह तो कोई नई चीज है नही। इसमे ज्ञान या विज्ञानका स्वरूप बताया गया है नही कि वही इसका विषय हो। सिर्फ पहलेके ही ज्ञानकी पुष्टि की गई है। इसी प्रकार नवेका विषय राजविद्या-राजगुह्य लिखा है। मगर उसके दूसरे ही श्लोकमे ज्ञान-विज्ञानका ही नाम राजविद्या-राजगुह्य कहा गया है। इसलिये यह भी कोई नई चीज है नही। आठवेका विषय जो तारक ब्रह्म या अक्षरब्रह्म है वह भी कोई नई चीज नही है। अविनाशी ब्रह्म या आत्माके ही ज्ञानसे लोग तर जाते है—मुक्त होते है और उसका प्रतिपादन पहले होई चुका है। ओंकारको भी इसीलिये अक्षर या तारक कहते है कि ब्रह्मका ही वह प्रतीक है, प्रतिपादक है। दसवेको तो विभूतिका अध्याय कहा ही है और विभूति है वही भगवानका विस्तार। इसलिये यह भी कोई स्वतंत्र विषय नही है।

इस प्रकार ब्योरेके प्रतिपादनके बाद पूरी तौरसे दिमागमे बैठानेके लिये प्रत्यक्ष ही उसी चीजको दिखाना जरूरी होता है और ग्यारहवे अध्यायमे यही बात की गई है। भगवानने अर्जुनको दिव्य दृष्टि दी है और उसने देखा है कि भगवानसे ही सारी सृष्टि कैसे बनती और उसीमे फिर लीन हो जाती है। यदि प्रयोगशालामे कोई अजनबी भी जाय तो यन्त्रो तथा विज्ञानके बलसे उसे अजीब चीजे दीखती है जो दिमागमे पहले नही आती थी। कहना चाहिये कि उसे भी दिव्य-दृष्टि ही मिली है। दिव्य-दृष्टि के सीग पूछे तो होती नही। जिससे आश्चर्यजनक चीजे दीखे और बाते मालूम हो वही दिव्य-दृष्टि है। इसलिये ११वेमे विज्ञानकी ही प्रक्रिया है।

ग्यारहवेके अन्तमे जिस साकार भगवानकी बात आ गई है उसकी और उसीके साथ निराकारकी भी जानकारीका मुकाबिला ही बारहवेमे है। यदि उसके अन्तवाले भक्तनिरूपणको १४वेके अन्तके गुणातीत

तथा दूसरेके अन्तके स्थितप्रज्ञके निरूपणसे मिलायें तो पता चलेगा कि तीनो एक ही है। इसीसे मालूम होता है कि बारहवेंकी भक्ति तत्त्वज्ञान ही है जो पहले ही आ गया है। यहाँ सिर्फ ब्योरा है उसीकी प्राप्तिके उपायका।

१३वेमे क्षेत्रक्षेत्रज्ञका निरूपण भी वही विज्ञानकी बात है।

१४वेका गुणनिरूपण सृष्टिके खास पहलूका ही दार्शनिक ब्योरा है।

पन्द्रहमे पुरुषोत्तम या भगवान और जन्ममरणादिकी बाते, १६वेंमें आसुर सम्पत्तिकी बात और १७वेकी श्रद्धा विज्ञानसे घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है।

इसमें तथा १८वेमे गुणोके हिसाबसे पदार्थोंका विवेचन गुण-विभागमें ही आ जाता है। अन्तमे और शुरूमे भी १८वेंमें कर्म, त्याग आदिका ही उपसहार एव सन्यासकी बात है जो पहले आ चुकी है। ध्यानयोग भी पहले आया ही है। उसीका यहाँ उपसहार है।

## योग और योगशास्त्र

गीताके योग शब्दको लेके कुछ लोगोने जानें क्या-क्या उडाने मारी है और गीताका अर्थ ही सन्यास-विरोधी योग उसीके बलपर कर लिया है। इतना ही नही। ज्ञानमार्गके टीकाकारो और शकर वगैरहपर उनने काफी ताने-तिश्ने भी कसे है और खडन-मडन भी किया है। उनने इस योग, हर अध्यायके अन्तके समाप्ति सूचक "इतिश्री" आदि वचनोमें "योगशास्त्रे" तथा "भगवद्गीतासु" शब्दोको बार-बार देखके यही निश्चय किया है कि एक तो गीतामें केवल प्रवृत्ति रूप योग या सन्यास-विरोधी कर्मका ही निरूपण है—यह उसीका शास्त्र है, दूसरे यह योग भागवत या महाभारतवाला भागवतधर्म या नारायणीय धर्म ही है। उन्होने उसे ही गीताका प्रतिपाद्य विषय माना है। इसीलिये जरूरत

हो जाती है कि इन बातोपर भी चलते-चलाते थोडा प्रकाश डाल दिया जाय।

हम कुछ भी कहनेके पहले साफ कह देना चाहते है कि गीताका विषय न तो भागवतधर्म है और न कुछ दूसरा ही। उसका तो अपना ही गीता-धर्म है जो और कही नही पाया जाता है। यही तो गीताकी खूबी है और इसीलिये उसकी सर्वमान्यता है। दूसरोकी नकल करनेमे उसकी इतनी कद्र, इतनी प्रतिष्ठा कभी हो नही सकती थी। तब उसकी अपनी विशे-षता होती ही क्या कि लोग उसपर टूट पडते ? यह बात तो हमने अबतक अच्छी तरह सिद्ध कर दी है। यह भी तो कही चुके है कि गीताने यदि प्रसगवश या जरूरत समझके दूसरोकी बाते भी ली है तो उनपर अपना ही रग चढ़ा दिया है। मगर भागवत धर्मपर कौनसा अपना रग उसने चढ़ाया है यह तो किसीने नही कहा। अगर रग चढ़े भी तो जब गीताका मुख्य विषय दूसरोका ही ठहरा, न कि अपना खास, तब तो उसकी विशेषता जाती ही रही। शास्त्रो और ग्रन्थोकी विशेषता होती है मौलि-कतामें। उनकी जरूरत होती है किसी नये विषयके प्रतिपादनमे। यही दुनियाका नियम एव सर्वमान्य सिद्धान्त है। लेकिन और भी सुनिये।

सबसे पहले सभी अध्यायोके अन्तमे लिखे "योगशास्त्रे" और "भगवद्-गीतासु"को ही ले। जब इस बार-बार लिखे योग शब्दसे कोई खास अभिप्राय लेने या इसे खास मानी पिन्हानेका यत्न किया जाता है तो हमे आश्चर्य होता है। गीताका योग शब्द तो इतने अर्थोमे आया है कि कुछ कहिये मत। अमरकोषके "योगः सहननोपायध्यानसगतियुक्तिषु" (३।३।२२) मे जितने अर्थ इस शब्दके लिखे गये है और उनके विव-रणके रूपमे जो बीसियो प्रकारके अर्थ पातजलदर्शन, महाभारत, या ज्योतिष ग्रन्थोमे आते है प्राय. सभी अर्थोमे गीताने योगशब्दको लिखके ऊपरसे कुछ नये मानी भी जोडे है। उसने अपना खास अर्थ

भी इस शब्दको पिन्हाया है। यदि गीताके १८वे अध्यायके अन्तके ७४-७६ श्लोकोको गौरसे देखा जाय तो पता चलेगा कि गीताके समूचे सवादको भी योग ही कहा है। यह तो हम पहले बता चुके है कि गीताका अपना योग क्या है। और भी देखिये कि पहले अध्यायमें जिस अर्जुनके विषादकी ही बात मानी जाती है उसे भी "विषादयोगोनाम प्रथमोऽध्याय" शब्दोमे साफ ही योग कह दिया है। भला इसका क्या सम्बन्ध है भागवत धर्मके साथ ? अध्यायोके अन्तमे जो योग शब्द आये है वह तो अलग-अलग प्रत्येक अध्यायमे प्रतिपादित बातोंके ही मानीमे है। जबतक यह सिद्ध न हो जाय कि सभी प्रतिपादित बातें भागवतधर्म ही है तबतक उन योग शब्दोसे यह कैसे माना जाय कि वे भागवतधर्मकेही प्रतिपादक है ? ऐसा माननेमें तो अन्योन्याश्रय दोष हो जायगा। यही कारण है कि हर अध्यायमे लिखी बातोको ही अन्तमें लिखके आगे योग शब्द जोड दिया गया है। इसलिये उन शब्दोसे ऐसा अर्थ निकालना सिर्फ बालकी खाल खीचना है।

रह गई बात "भगवद्गीतासु" या "श्रीमद्भगवद्गीतासु" शब्दकी। हम तो इसमे भी कोई खास बात नही देखते। इससे यदि भागवतधर्मको सिद्ध करने की कोशिश की जाती है तो फिर वही बालकी खालवाली बात आ जाती है। यह तो सभी मानते है कि गीता तो उपनिषदोका ही रूपान्तर है—उपनिषद ही है। फर्क सिर्फ यही है कि उपनिषदोको भगवानने खुद अपने शब्दोमे जब पुनरपि कह दिया तभी उसका नाम भगवद्गीतोपनिषद पड गया। गीता शब्द जिस गै धातुसे बनता है तथा उसका अर्थ जो गान लिखा है उसके मानी वर्णन या कथन है। फिर वह कथन चाहे तान-स्वरके साथ हो या साधारण शब्दोमे ही हो। गान भी तो केवल सामवेदमेही होता है। मगर "वेदै सागपदक्रमोपनिषदैर्गायति य सामगा"-में तो सभी वेदोमें और उपनिषदोमे भी गानकी बात ही लिखी है।

यहाँतक कि वेदके अग व्याकरणादिमे भी गान ही कहा गया है। मगर वहाँ तो गान—ताल-स्वरके साथ—असभव है। हम आपका गुण गाते रहते है, ऐसा कहनेका अर्थ केवल बयान ही होता है, न कि राग और तालके साथ गाना। यही बात गीता या भगवद्गीतामे भी है। उपनिषद स्त्रीलिंग तथा अनेक है। इसीलिये 'गीतासु'मे स्त्रीलिंग और बहुवचन प्रयोग है, जैसा कि बहुवचन 'उपनिषत्सु'मे है। आमतौरसे गीता शब्द भी इसीलिये स्त्रीलिंग हो गया। नही तो 'गीत' होता। यदि गौरसे देखा जाय तो गीतामे मौके-मौकेसे कुल २८ बार "श्रीभगवानुवाच" शब्द आये है। इनमे केवल ग्यारहवे अध्यायमे चार बार, दूसरे और छठेमे तीन-तीन बार, तीसरे, चौथे, दसवे और चौदहवेमे दो-दो बार तथा शेष अध्यायोंमे एक-एक बार आये है। इनका अर्थ है कि "श्रीभगवान् बोले।" चाहे श्रीभगवान कहे या श्रीमद्भगवान् कहे, दोनोका अर्थ एक ही है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि गीतामे जो कुछ उपदेश दिया है या वर्णन किया है वह श्रीमद्भगवान्ने ही। बस, इसीलिये इसका नाम श्रीमद्भगवद्गीता हो गया, न कि किसी और कारणसे। इतनेसे ही जाने कहाँसे नारायणीयधर्मको यहाँ उठा लाना और गीताके माथे उसे पटकना बहुत दूरकी कौडी लाना है।

योग शब्दके बारेमे जरा और भी कुछ जान लेना अच्छा होगा। गीतामे केवल योग शब्द प्राय १३५ बार आया है। प्राय. उसीके मानीमे उसी युज् धातुसे बने युञ्जन्, युक्त्वा, युक्त आदि शब्द भी कई बार आये है। मगर उन्हे छोडके सीधे योग शब्द हर अध्यायके अन्तके समाप्ति सूचक सकल्प वाक्यमे दो-दो बार आये है। इस प्रकार यदि इन ३६को निकाल बाहर करे तो प्राय सौ बार गीताके भीतरके श्लोकोमे यह शब्द पाया जायगा। इनमे चौथे, पाँचवे, छठे तथा आठवे आदिमे कुछ बार पातजल योगके अर्थमे ही यह शब्द आया है, या ऐसे अर्थमे ही जिसमे पातजल

योग भी समाविष्ट है। तीसरे अध्यायके "कर्मयोग" (३।१)में और "योगिन कर्म" (५।११)मे भी योग शब्द साधारण कर्मके ही मानीमें आया है। इसीलिये वहाँ कर्मयोग शब्दका वह विशेष अर्थ नही है जो उसपर कर्मयोग-शास्त्रके नामसे लादा जाता है। इसी तरह "यत्रकाले त्वनावृत्तिम्" आदि (८।२३-२७) श्लोकोमे कई वार योग और योगी शब्द साधारण कर्म करनेवालोके भी अर्थ—व्यापक अर्थ—मे आया है। "योगक्षेम" (९।२२) और "योगमाया समावृत" (७।२५)का योग शब्द भी अप्राप्तकी प्राप्ति आदि दूसरे ही अर्थोंमे है। दसवें अध्यायमें कई वार योग शब्द विभूति शब्दके साथ आया है और वह भगवानकी शक्तिका ही वाचक है। वारहवें में भी कितनी ही वार यह शब्द अभ्यास वगैरह दूसरे अर्थमे ही प्रयुक्त हुआ है। तेरहवेंके "अन्ये साख्येन योगेन" (१३।२४)मे तो साफ ही योगका अर्थ ज्ञान है।

इस प्रकार यदि ध्यानसे देखा जाय तो दस ही वीस वार योग शब्द उस अर्थमें मुश्किलसे आया है, जिसका निरूपण "कर्मण्येवाधिकारस्ते" (२।४७-४८)मे किया गया है, हालाँकि उस योगका भी जो निरूपण हमने किया है और जिसे गीताधर्म माना है वह ऐसा है कि उसके भीतर कर्मका करना और उसका सन्यास दोनो ही आ जाते हैं। मगर यदि यह न भी मानें और योगका अर्थ वहाँ वही माने जो गीतारहस्यमें माना गया है, तो भी आखिर इससे क्या मतलव निकलता है? गीताके श्लोकोमें जो सैंकडो वारसे ज्यादा योग शब्द आया है उसमे यदि दस या वीस ही वार असदिग्ध रूपसे उस अर्थमे आया है और वाकी दूसरे-दूसरे अर्थोंमें, तो योग शब्दके वारेमे यह दावा कैसे किया जा सकता है कि वह प्रधानतया गीतामें उसी भागवतधर्मका ही प्रतिपादक है? चाहे आवेशमें आके औरोको भले ही कह दिया जाय कि वे तो शब्दोका अर्थ जवर्दस्ती करके अपने सम्प्रदायकी पुष्टि करना चाहते हैं। मगर यह इलजाम तो उलटे

इलजाम लगानेवालोपर ही पड जाता है। यो तो चाहे जो भी दूसरोपर दोष मढ दे सकता है। मगर हम तो ईमानदारीकी बात चाहते है, न कि खीचतान।

# सिद्धि और संसिद्धि

योग शब्द जैसी तो नही, लेकिन सिद्धि और ससिद्धि शब्दो या इसी अर्थमें प्रयुक्त सिद्ध एव ससिद्ध शब्दोको लेकर भी गीताके श्लोकोके अर्थोमे और इसीलिये कभी-कभी सैद्धान्तिक बातोतकमे कुछ न कुछ गडबड हो जाया करती है। आमतौरसे ये शब्द जिस मानीमे आया करते है वह न होके गीतामे इन शब्दोके कुछ खास मानी प्रसगवश हो जाते है, खासकर ससिद्धि शब्दके। मगर लोग साधारणतया पुराने ढगसे ही अर्थ लगाके या तो खुद घपलेमे पड जाते है, या अपना मतलब निकालनेमें कामयाब हो जाते है। इसीलिये इनके अर्थका भी थोडासा विचार कर लेना जरूरी है।

सिद्धि और सिद्ध शब्द अलौकिक चमत्कार और करिश्मोके ही सम्बन्धमे आमतौरसे बोले जाते है। साधु-फकीरोको या मत्रतत्रका अनुष्ठान करके जो लोग कामयाबी हासिल करते एव चमत्कारकी बाते करते है उन्हीको सिद्ध और उनकी शक्तिको सिद्धि कहते है। इसी सिद्धि-की अणिमा, महिमा आदि आठ किस्मे पुराने ग्रथोमे पाई जाती है। अणिमाके मानी है छोटेसे छोटा बन जाना और महिमाके मानी बडेसे बडा। लकाप्रवेशके समय हनुमानकी इन दोनो सिद्धियोका बयान मिलता है जब वे लकाराक्षसीको चकमा देके भीतर घुस रहे थे। पातजल योग-सूत्रोके "ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धय" (३।३७) मे इसी सिद्धिका जिक्र है जिसके चलते योगी भूत भविष्यकी बाते जान लेता, दूसरोके दिलकी बाते समझ लेता और पक्षि-पशुओके शब्दोका भी अर्थ जानता है। इसी

"यज्ज्ञात्वामुनय सर्वे परासिद्धिमितो गता" (१४।१), "स्वेस्वे कर्मण्यभिरत ससिद्धि लभते नर । स्वकर्मनिरत. सिद्धि यथाविन्दति तच्छृणु" (१८।४५), "स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव" (१८।४६), "नैष्कर्म्यसिद्धि परमा सन्यासेनाधिगच्छति" (१८।४९) और "सिद्धि प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे" (१८।५०) श्लोकोमे ही यह दिक्कत होती है ।

इनपर कुछ भी विचार करनेके पूर्व यह जान लेना होगा कि कर्मोके अनेक नतीजोमे एक यह भी है कि उनसे हृदय, मन या अन्त करणकी शुद्धि होती है । "योगिन कर्म कुर्वन्ति सग त्यक्त्वात्मशुद्धये" (५।११)मे आत्मशुद्धिका मनकी शुद्धि ही अर्थ है । इसीलिये वहाँ योगी शब्दका अर्थ है साधारण कर्मी, न कि गीताका योगी । क्योकि उसका तो मन पहले ही शुद्ध हो जाता है । वह मनकी शुद्धिके लिये कर्म क्यो करेगा ? विना मन शुद्धिके वह योगी होई नही सकता । इसीलिये योगी हो जानेपर मन शुद्धिका प्रश्न उठता ही नही । फलत यदि पूर्वापरका विचार किया जाय तो "मदर्थमपि" (१२।१०)मे भी सिद्धिका अर्थ है मन शुद्धि ही । इसी प्रकार (१८।४५-४६)मे भी सिद्धि और ससिद्धिका अर्थ मनकी शुद्धि ही है और वह है उसकी चचलताकी निवृत्ति या रागद्वेषसे छुटकारा । "तत्स्वय योगससिद्ध" (४।३८)मे भी यही अर्थ है ।

इसके सिवाय (८।१५), (१४।१) और (१८।४९) इन तीन श्लोकोमे सिद्धि तथा ससिद्धि शब्दमे एक विशेषण लगा है जो दो जगह 'परमा' है और एक जगह 'परा' । मगर दोनोका अर्थ एक ही है और है वह 'ऊँचे दर्जेकी या सर्वश्रेष्ठ' यही । इनमे जो (१४।१)का सिद्धि शब्द है उसीका विशेषण 'परा' है । फलत परासिद्धिका अर्थ है परम कल्याण या मुक्ति ही । परके साथ जुटनेसे सिद्धि शब्द उस प्रसगमे सिवाय मुक्ति या चरमलक्ष्यसिद्धिके अन्य अर्थका वाचक होई नही सकता है ।

ताजीसे ताजी अग्रेजीकी किताबोमे देखा है कि कठिन वातोको लेकर उन्हें बीसियो वार दुहराते है। यह दूसरी बात है कि अनेक ढगसे वही वाते कहके ही दुहराते है। गीतामे भी एक ही बात प्रकारान्तर और शब्दान्तरमे ही कही गई है, यह तो निर्विवाद है। अतएव गीताके उपदेश—गीताधर्म—की गहनताका खयाल करके पुनरावृत्ति उचित ही मानी जानी चाहिये।

## गीताकी शैली पौराणिक

दूसरी वात यह है कि गीताका विषय और उसके तर्क वगैरह जरूर दार्शनिक है, मगर विषय प्रतिपादनकी शैली पौराणिक है और गीताकी यह एक खास खूबी है। दार्शनिक रीति रूखी और सख्त होती है, नीरस होती है। फलत सर्वसाधारणके दिमागमे वह बात जँचती नही, जिससे लोग ऊब जाते है। फिर भी दार्शनिक इसकी पर्वा करते नही। उन्हे तो सत्यका प्रतिपादन करना होता है। वे उपदेशक और प्रचारक तो होते नही कि लोगोके दिल-दिमागको देखते फिरे। मगर गीता तो उपदेशकका काम करती है। उसका तो काम ही है सार्वजनिक जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले कामोका विवेचन करना और उनके रहस्यको लोगोके दिल-दिमागमे पहुँचाना। इसीलिये उसने पौराणिक शैली अखतियार की है। इसकी विशेषता यही है कि सवाद, प्रश्नोत्तर या कथनोपकथनके रूपमे यह बाते इसमे रखी गई है। इससे प्रसग रुचिकर हो जाता है, उसमे सरसता आ जाती है। बच्चोके लिये यह सवादकी ही प्रणाली ज्यादा हितकर मानी जाती है। हितोपदेशमे यही वात पाई जाती है और पुराणोमे भी। इसके चलते कठिनसे कठिन विषय भी आलकारिक ढगसे प्रतिपादित होके सहज बन जाते है। चौदहवे अध्यायमे गर्भधारणके रूपमे सृष्टिका निरूपण कितना सुन्दर है! अर्जुनको दूसरे अध्यायमे जो डाँटा गया

है कि मुँह कैसे दिखाओगे वह कितना अनूठा है ! पन्द्रहवेंमें, मरणके समय जीव सभी सस्कारोको लेके साथ ही जाता है, इसका कितना सुन्दर वर्णन वायुके द्वारा फूलोकी गन्ध ले जानेकी बातसे किया गया है !

## गीतोपदेश ऐतिहासिक

हमें एक ही बात और कहके उपसहार करना है। गीताके प्राचीन टीकाकारोमें किसी-किसीने गीताके वर्णनको केवल आलकारिक मानके अर्जुन, कृष्ण आदिको ऐतिहासिक पुरुषोकी जगह कुछ और ही माना है। उपदेश और उपदेश्य—गुरु तथा शिष्य—आदिको ही कृष्ण, अर्जुन आदिका रूप उनने दिया है और इस तरह अपनी कल्पनाका महल उसी नीवपर खडा किया है। मगर हमे उससे यह पता नही चल सका था कि ऐसा करके वे लोग सचमुच महाभारत, गीता, उस युद्ध और कौरव-पाडव आदिको ऐतिहासिक पदार्थ नही मानते। क्योकि इस बातकी झलक उनकी टीकाओमें पाई नही जाती।

परन्तु कुछ आधुनिक लोगोने यह कहके गीताको ही ऐतिहासिकतासे हटाना चाहा है कि प्राय बीस लाख फौजो—क्योकि १८ अक्षौहिणियाँ वहाँ मानी जाती है और एक अक्षौहिणीमे प्राय एक लाख आदमी अलावे घोडे, हाथी, तोप आदिके होते थे—के बीचमे, जब वह प्रहार करने हीको थी, यह गीतोपदेश असभव था। इसके लिये समय कहाँ था ? इसलिये कविने पीछेसे कृष्ण और अर्जुनके नामपर उसे रचके महाभारतमे घुसेड दिया है।

मगर यदि वह जरा भी सोचे तो पता चले कि इस गीतोपदेशके लिये दो-चार घटेकी जरूरत न थी। सात सौ श्लोकोका पाठ तेजीसे एक घटेमें पूरा हो जाता है। किन्तु वहाँ श्लोक बोले गये, सो भी ठहर-ठहरके, यह बात तो है नही। कृष्णने अर्जुनको प्रचलित भाषामें उपदेश किया।

एक घटेके लेक्चरको लिखनेमे पोथा बन जाता है। गीतोपदेशमे तो कुछ ही मिनटोकी या ज्यादेसे ज्यादा आधे घटेकी जरूरत थी। विश्वरूपका लेक्चर तो हुआ भी नही। वह तो दिखा दिया गया। अर्जुन ऐसा कुन्द थोडे ही था कि समझता न था और बार-वार रगड-रगडके पूछता था। अत. उस मौकेपर भी दस-बीस मिनटका समय निकाल लेना कुछ कठिन न था।

फिर भी हमारे ही देश के कुछ महापुरुषो ने जब यह कह दिया कि महाभारतकी बाते ऐतिहासिक नही, किन्तु कविकल्पित है, इसीलिये गीताका सवाद भी वैसा ही है, तो हमे मर्मान्तिक वेदना हुई। केवल हमीको नही। हमारे जैसे कितनोको यह कष्ट हुआ। उसी समय कइयोने हमसे अनुरोध किया कि आप इसका प्रतिपादन समुचित रूपसे करे। वे हमारे गीता-प्रेमको जानते थे। इसीसे उनने ऐसा कहा। यदि गीतामे किसीका अपना सिद्धान्त और उसकी हिसा-अहिंसा न मिले तो इसमे गीताका क्या दोष ? वह तो रत्नाकर सागर है। गोते लगाइये तो कुछ मोती-मूँगे कभी न कभी उसमेसे ऊपर लाइयेगा ही। मगर आप जो चाहे सोई उसमेंसे लाये यह असभव है, और ऐसा न होनेपर रत्नाकरके मूलमे आघात करना उचित नही। गीताके अपने सिद्धान्त है—गीताधर्म एक खास चीज है जो उसीका है, न कि किसी औरका।

ऐतिहासिकताकी बात यो है। आजसे हजारो साल पूर्व कुमारिल भट्टने मीमासादर्शनकी टीका, तन्त्रवार्त्तिकमे, सदाचारके प्रसगसे अर्जुनादि पाडवो और कृष्णके कामोपर आक्षेप करके पुन उसका समर्थन किया है। दूसरेकी दृष्टिमे हमारे सत्पुरुषोका काम खटका था। इसलिये वे उन्हे सत्पुरुष नही मानते थे। कुमारिलने खटका हटाके सत्पुरुष करार दिया और कृष्णका ननिहाल पाडवोके यहाँ माना।

ब्राह्मणग्रन्थो और उपनिषदो—खासकर छान्दोग्य वृहदारण्यक

आदि—में बीसियो बार कुरुक्षेत्र और कुरुदेशका जिक्र आया है और वहाँ अकाल एव पाला-पत्थरकी बात लिखी गई है। कुरुक्षेत्रका कुरु तो पाडवो तथा कौरवोका पूर्वज ही था। हस्ती भी उनका पूर्वज था। इसीसे हस्तिनापुर नाम और स्थान पाये जाते है। कुरुक्षेत्रके युद्धकी स्मृति अभीतक वहाँ पाई जाती है और स्थान याद किये जाते है। छान्दोग्य उपनिषदके चौथे अध्यायके १७वे खडमे देवकीपुत्र कृष्णका उल्लेख है और ये थे पाडवोंके नातेदार यह अभी कहा है। सबसे बडी बात यह है कि भीष्मके मरणके समय माघमें कृत्तिका नक्षत्रका सूर्य लिखा मानके और तैत्तिरीय आदि सहिताओमे भी यही देखके महाभारतके युद्धका समय ईसासे पूर्व १४००से लेकर २५०० सालके बीचमें गणितके आधारपर ठीक किया गया है। तिलकने ओरायनमें इसका बडा प्रामाणिक विवेचन किया है। इसके सिवाय बीसियो भारतीय तथा पाश्चात्य देशीय पुरातत्त्वज्ञोने भी यह बात मानी है। तिलकने गीतारहस्यमें साफ ही लिखा है कि "सभी लोग मानते हैं कि "श्रीकृष्ण तथा पाडवोके ऐतिहासिक पुरुष होनेमें कोई सन्देह नही है", "चिन्तामणिराव वैद्यने प्रतिपादन किया है कि श्रीकृष्ण, यादव, पाडव तथा भारतीय युद्धका एकही काल है।" फिर निराधार बात क्यो कही जाय? तब तो रामायण आदि हमारा सभी इतिहास इसी तरह खत्म होगा। महाभारत पुस्तकको पुराण न कहके इतिहास कहते है और पचमवेद भी। उपनिषदमें भी ऐसा ही कहा है। तो क्या अब उसे निरा उपन्यास माना जाय?

## गीताधर्मका निष्कर्ष

जो कुछ कहना था कहा जा चुका। गीतार्थ और गीताधर्मको समझने के लिये, हमारे जानते, इससे ज्यादा कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इससे कमसे भी शायद ही काम चलता। इसीलिये इच्छा रहते हुए भी हम

इस विवेचनको सक्षिप्त कर न सके। उसमे हमे खतरा नजर आया। मगर अब हमे आशा है कि हमने जो कुछ लिखा है उसीकी कसौटीपर कसने पर गीताधर्मका हीरा शानदार और खरा निकलेगा। हम जानते है कि उसके लिये सैकडो तराजू और कसौटियाँ अबतक बन चुकी है जो एकसे एक जबर्दस्त है। मगर हमारा अपना विश्वास है कि उनमे कही न कही कोई खामी है, त्रुटि है। जब सभीको अपने विश्वासकी स्वतत्रता है तो हमे भी अपने विचारके ही अनुसार कहने और लिखनेमे किसीको उज्र नही होना चाहिये। हम दूसरेके विचारोको उनसे छीनने तो जाते नही कि कलह हो। हम तो कही चुके है कि गीता तो इसी बातको मानती है कि हर आदमी ईमानदारीसे अपने ही विचारोके अनुसार बोले और काम करे। इसीलिये हमने पुरानी कसौटियोकी त्रुटियोका खयाल करके ही यह कसौटी तैयार की है। हमे इसमें सफलता मिली है या विफलता, यह तो कहना हमारे वशके बाहरकी बात है। मगर "कर्मण्येवाधिकारस्ते"के अनुसार हम इसकी पर्वा करते ही नही। हमारी इस कसौटीमे भी त्रुटियाँ होगी, इसे कौन इन्कार कर सकता है ? लेकिन गीतार्थ हृदयगम करनेमे यदि इससे कुछ भी सहायता मिली तो यह व्यर्थ न होगी।

महाभारतकी उस बडी पोथीमे जनकपुरके धर्मव्याधका वर्णन मिलता है, जो कसाईका काम करके ही अपनी जीविका करता था। उसीके सिलसिलेकी एक सुन्दर कहानी भी है जो गीताधर्मको आईनेकी तरह झलका देती है। कोई महात्मा किसी निर्जन प्रदेशमे जाके घोर तप और योगाभ्यास करते थे। दीर्घ कालके निरन्तर प्रयत्नसे उन्हे सफलता मिली और योगसिद्धि प्राप्त हो गई। फिर क्या था ? उनने वह काम बन्द कर दिया और गाँवकी ओर चल पडे। लेकिन जाने क्यो योगसिद्धिकी प्राप्ति के बाद भी उन्हे सन्तोष न था, भीतरसे तुष्टि मालूम न होती थी। खैर, रास्तेमे

एक वृक्षके नीचे विश्राम करी रहे थे कि ऊपरसे किसी वगुलेने उनके ऊपर विष्ठा गिरा दिया। उन्हें वडा गुस्सा आया और आँखें लाल करके जो वगुलेको देखा तो वह जलके खाक हो गया! अव महात्माको विश्वास हो गया कि उन्हें अवश्य योगसिद्धि प्राप्त हो चुकी है।

फिर वह आगे चले। उनने भोजनका समय होनेसे गाँव में एक गृहस्थके द्वारपर पहुँचके "भिक्षा देहि"की आवाज लगाई। देखा कि एक स्त्री भीतर है, जिसने उन्हे देखा भी और उनकी आवाज भी सुनी। मगर वह अपने काममे मस्त थी। इधर महात्माको द्वारपर खडे घटो हो गये! उस स्त्रीकी धृष्टतापूर्ण नादानीपर उन्हे क्रोध आया। ठीक भी था। सिद्ध पुरुषका यह घोर तिरस्कार एक मामूली गृहस्थकी स्त्री करे! मगर करते क्या? आँखोसे खून उगलते खडे रहे और दाँत पीसते रहे कि सहार ही कर दूँ। इतनेमे भोजन लेके जो स्त्री आई तो आते ही उसने वेलाग सुना दिया कि आँखे क्या लाल किये खडे है? मै वृक्ष-वाला वगुला थोडे ही हूँ कि जला दीजियेगा! अब तो उन्हें चीरो तो खून नही। सारी गर्मी ठडी हो गई यह देखके कि इसे यह वात कैसे मालूम हो गई जो यहाँसे वहुत दूर जगलमें हुई थी! फिर तो उन्हें अपनी तप-सिद्धि फीकी लगने लगी। खाना छोडके उनने उस मातासे पूछा कि तुझे यह कैसे पता चला? उसने कहा कि लीजिये भोजन कीजिये और जनकपुरमे धर्मव्याधके पास जाइये। वही सब कुछ वता देगा!

महात्मा वहाँसे सीधे जनकपुर रवाना हो गये। परीशान थे, हैरतमें थे। जनकपुर पहुँचके धर्मव्याधको पूछना शुरू किया कि कहाँ रहता है। समझते थे, वह तो कहीं तपोभूमिमें पडा वडा महात्मा होगा। मगर पूछते-पूछते एक हाटमे एक ओर एक आदमीको देखा कि मास काटता और वेचता है और यही धर्मव्याध है! सोचने लगे, उफ, यह क्या? यही धर्मव्याध मुझे धर्म-कर्मका रहस्य वतायेगा? मगर कौतुक-

वश खडे रहे। धर्मव्याधने एक बार उन्हें देखके मुस्कुरा दिया सही; मगर वह अपने काममें घटों व्यस्त रहा। जब कामसे छुट्टी हो गई और दूकान समेट चुका तो उसने उनसे पूछा कि महात्मन्, कैसे चले ? क्या आपको उस स्त्रीने भेजा है ? सिद्ध महात्मा तो और भी हैरान थे कि यह क्या ? स्त्री तो भला गृहस्थ का काम करती थी। मगर यह तो निरा कसाई है। फिर भी उसको भी नाक काटता है ! खैर, हाँ कहके उसके साथ उसके घर गये ! उन्हें बैठाके पहले घटों वह अपने वृद्ध माँ-बापकी सेवा करता रहा, जैसे वह स्त्री अपने पतिकी सेवा कर रही थी ! माँ-बापसे फुर्सत पाके उसने उन्हे भी खिलाया-पिलाया ! पीछे उसने वार्त्तालाप शुरू करके कहा कि मैंने पहले हजार कोशिश की थी कि इस हिंसासे बचूँ और दूसरी जीविका करूँ। मगर विफल रहा। तब समझ लिया कि चलो जब यही भगवानकी मर्जी है तो रहे। बस, केवल कर्त्तव्यबुद्धिसे यह काम करता हूँ। सफलता-विफलता और हानि-लाभकी जरा भी पर्वा नही करता। उसके बाद जो साग-सत्तू मिलता है उसीसे पहले अपने प्रत्यक्ष भगवान—माँ-बाप—की सेवा-शुश्रूषा करके उन्हे तृप्त करता हूँ। फिर यदि कोई अतिथि हो तो उसका सत्कार करके खुद भी खाता-पीता हूँ। यही मेरी दिनचर्या है, यही योगाभ्यास है, यही तपश्चर्या और यही भगवानकी पूजा है। वह स्त्री भी पतिके सिवाय किसी और को जानती ही नही। उसके लिये भगवान और सब कुछ वही एक पति ही है। यही उसकी योगसाधना है और यही न सिर्फ हम दोनोंके बल्कि सारे ससारके कर्मोंका रहस्य है, उनकी कुंजी है और वास्तविक सिद्धिका असली मार्ग है।

इस आख्यानमें गीताधर्मका निचोड पाया जाता है। जबतक हम भगवानको, स्वर्ग, वैकुं, नर्क और मुक्तिको अपनेसे अलग समझ उन्हें पानेके लिये कर्म-धर्म करेंगे और उनमें भी बुरे-भलेका भेद करेंगे कि यह

कर्म भला और यह बुरा है तबतक हम भटकते ही रहेंगे। तबतक कल्याण हमसे लाख कोस दूर रहेगा—दूर होता जायगा। हमें तो अपनी आत्माको ही, अपने आपकोही, सबमें वैसे ही देखना है जैसे नमक के टुकडे में नीचे-ऊपर चारो ओर एक ही चीज होती है—नमक ही नमक होता है। यही बात गीता कहती है, यही उसका और उपनिषदोका अद्वैत-तत्त्व है। नमकका ही दृष्टान्त देकर आरुणिने अपने पुत्र श्वेतकेतुको यही बात छान्दोग्योपनिषद्के छठें अध्यायके तेरहवे खडके तीसरे मत्रमें इस तरह कही है, "स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिद सर्व तत्सत्य स आत्मा तत्त्वमसिश्वेत-केतो।" यह अत्यन्त कठिन होते हुए भी निहायत आसान है, यदि हममें इसकी आग हो, लगन हो। यही बात सूफियोने यो कही है कि "दिलके आईनेमे है तस्वीरे यार। जब जरा गर्दन झुकाई देख ली" और "बहुत ढूँढा उसे हमने न पाया। अगर पाया पता अपना न पाया"। इसीके हासिल होनेपर यह उद्गार निकली है कि "हासिल हुई तमन्ना जो दिलमे थी। मगर। दिलको आरजू है कोई आरजू न हो।" उपनिषदोमें इसी उद्गार-को "येन त्यजसि तत्त्यज" कहा है।

यही गीताधर्म है और यही उसका योग है। यही वेदान्तका रहस्य है, जिसके फलस्वरूप लोकसग्रह और मानव-समाजके कल्याणोके लिये छोटे-बडे सभी कामोके करनेका रास्ता न सिर्फ साफ हो जाता है, बल्कि सुन्दर, रमणीय और रुचिकर हो जाता है, अत्यत आकर्षक बन जाता है। इसीके करते लोकसग्रहार्थ कर्म करनेसे तबीअत ऊबनेके बजाय उसमे और भी तेजीसे लगती जाती है। कितना भी कीजिये, फिर भी सन्तोष होनेके बजाय और करे, और करे यही इच्छा होती रहती है। साथ ही, यदि दृढ सकल्प एव पूर्ण प्रयत्नके बाद भी किसी कारणसे कोई काम पूरा न हो, छूट जाय या और कुछ हो जाय, तो जरा भी बेचैनी या परीशानी नही होती। मस्ती हमेशा बनी रहती है। यही स्थितप्रज्ञ, भक्त और

गुणातीतकी दशा है। इसके चलते ही यदि कर्म सोलहो आने छूट जाय, जैसे पेड़से पका फल गिर जाय, तो भी मस्ती ज्योंकी त्यों रहती है। इसी मस्तीको हासिल करनेके ही लिये पहले धर्मोंका सन्यास आवश्यक होता है, ऐसी गीताकी मान्यता है।

दूसरा

# गीता भाग

# पूर्वापर सम्बन्ध

गीताहृदयका अन्तरग भाग या पूर्व भाग लिख चुकनेके वाद, जैसा कि उसके शुरूमें ही कहा जा चुका है, उसके मध्यके गीताभागका लिखा जाना जरूरी हो जाता है। जिस जानकारीकी सहायताके ही लिये वह भाग लिखा गया है और इसीलिये अन्तरग भाग कहा जाता भी है, उसके वाद उसी वातका लिखना अर्थसिद्ध हो जाता है। अन्तरग भागके पढ लेनेपर गीताहृदयके इस दूसरे भागके पढ़नेकी आकाक्षा खुदवखुद हो जायगी। लोग खामखा चाहेगे कि उसके सहारे गीतासागरमें गोता लगाये। उसके पढनेसे इसके समझनेमें—गीताका अर्थ और अभिप्राय हृदयगम करनेमें—आसानी हो जायगी। इसीलिये इसे भी पूरा किया जाना जरूरी हो गया।

हमने कोशिश की है कि जहाँतक हो सके श्लोकोंके सरल अर्थ ही लिखे जायँ जो शब्दोंसे सीधे निकलते है। बेशक, गीता अत्यन्त गहन विषयका प्रतिपादन करती है, सो भी अपने ढगसे। साथ ही, इसकी युक्ति दार्शनिक है, यद्यपि प्रतिपादनकी शैली है पौराणिक। इसलिये शब्दोके अर्थोके समझनेमें कुछ दिक्कत जरूर होती है, जबतक अच्छी तरह प्रसग और पूर्वापरके ऊपर ध्यान न दिया जाय। हमने इस दिक्कतको बहुत कुछ अन्तरग भागमें दूर भी कर दिया है। फिर भी उसका आना अनिवार्य है। अत. ऐसे ही स्थानोमे श्लोकोंके अर्थ लिखनेके बाद छोटी या बडी टिप्पणी दे दी गई जिससे उलझन सुलझ जाये और आशय झलक पडे।

आशा है, यह भाग पूर्व भागके साथ मिलके लोगोको—गीता-प्रेमियोको—सन्तुष्ट कर सकेगा। गीतार्थ-अवगाहनके लिये उनका मार्ग तो कमसे कम साफ करी देगा।

# प्रवेशिका

जिनने ज्यादा गौर नही किया है, या जो ध्यानसे गीता नही पढते, लेकिन इतना जानते है कि गीता महाभारतमें ही लिखी है और उसी बडी पोथीमेसे अलग करके इसका पठन-पाठन तथा प्रचार होता है, वह आमतौरसे ऐसा ही समझते है कि महाभारतके युद्धके आरभ होनेके पहले ही उसका प्रसग आनेके कारण वह महाभारतकी पोथीमे भी उद्योग पर्वके बाद ही या भीष्मपर्वके शुरू होनेके पहले ही लिखी गई होगी। यदि और नही तो इतना तो खयाल उन्हे अवश्य होता होगा कि गीतोपदेशको सुननेके बाद ही लड़ाईकी बात धृतराष्ट्रको मालूम हुई होगी और भीष्म आदिकी मृत्युकी भी।

मगर दरअसल बात ऐसी है नही। यह सही है कि युद्धारम्भके पहले ही कृष्ण और अर्जुनके बीच गीतावाला सम्वाद हुआ, जिसे आजकी भाषामे एक तरहका चखचुख भी कह सकते है। यदि देखा जाय तो गीताके दूसरे अध्यायके शुरूमे, गीताके असली उपदेशके पहले, जो बाते कृष्ण एव अर्जुनके बीच हो गई है वह चखचुख जैसी ही है। कृष्ण कहते है कि भई, ऐन लडाईके समयपर ही यह बडी बुरी कमजोरी तुममे कहाँसे आ गई? राम, राम, इसे दूर करो और फौरन कमर बाँधके तैयार हो जाओ। नामर्दकी तरह कमर तोडके यह बैठ क्या गये हो? इसपर अर्जुन अपने इस कामके, इस मनोवृत्तिके समर्थनके लिये दलीले करता और कहता है कि पूजनीय गुरुजनोके चरणोपर चन्दन, पुष्पादि चढानेके बदले उनके कलेजेमे तीर बेधूँ? यह नही होनेका। इन्हे मारके इन्हीके खूनसे रँगे राजपाट जहन्नुम जायें। मै इन्हें हर्गिज नही मारनेका। यही

न होगा कि न लडनेपर राजपाट न मिलेगा ? तो इसमें हर्ज ही क्या है ? इन्हें न मारनेपर तो भीख माँगके गुजर करना भी कही अच्छा है। यह राजपाट ठीक है या वह भिक्षावृत्ति, इसका भी निर्णय तो हो पाता नहीं। मै तो घपलेमें पडा हूँ। यह भी तो निश्चय नही कि हमी लोग खामखा जीतेंगे ही। ऐसी दशामें मुझे तो भिक्षावाला पक्ष ही अच्छा मालूम होता है।.

यह प्रश्नोत्तर चखचुख ही तो है। असली चखचुख तो ऐसे सकटके ही समय हुआ करती है। फर्क यही है कि अर्जुन और कृष्णकी बातोका तरीका अत्यन्त परिमार्जित था, गभीर था, जैसा कि गीताके शुरूके श्लोकोसे पता चल जाता है। हाँ, इसके बाद अर्जुनने यह जरूर किया कि अपनी ही बातपर अडे न रहे। किन्तु कृष्णसे साफ ही कबूल किया कि मेरी अक्ल इस समय काम नही कर रही है। इसीलिये कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका ठीक-ठीक फैसला कर पाता हूँ नही। आप कृपा करके मेरी भलाईके लिये जो बात उचित हो वही कहिये। मै आपकी शरण आया हूँ। नहीं तो मेरे हृदयमें जो महाभारत इस समय हो रहा है और जिसके करते सारी इन्द्रियाँ शिथिल होती जा रही है, वह मुझे मार डालेगा। उसकी शान्ति भूमडलके चक्रवर्त्ती राज्यकी तो क्या स्वर्गकी भी गद्दी मिलनेसे नही हो सकती है। इतना कहनेके बाद, मै तो लडूँगा हर्गिज नही, ऐसा बोलके अर्जुन चुप्प हो गये। उसीके बाद कुछ मुस्कराते हुए कृष्णने दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे गीतोपदेश शुरू किया।

बात यह है कि भीष्मके आहत हो जाने, किन्तु मरनेके पूर्व, वीर क्षत्रियोचित शरशय्यापर उनके पडजानेकी खबर जब धृतराष्ट्रको सजयने दी, तो धृतराष्ट्रके कान खडे हुए। उसने समझा कि रग बदरग है। तभी उसने सजयसे घबराके पूछा कि बोलो, बोलो, क्या हो गया ? यह हालत कैसे हो गई, लडाईका श्रीगणेश कैसे हुआ, पहले किसने क्या किया

श्रौर यह नौबत श्रानेतक दूसरी बाते क्या-क्या हो गई? शुरूमे बात यो हुई कि लडाईकी सारी तैयारी देखके श्रौर श्रवश्यम्भावी सहारका खयाल करके व्यास धृतराष्ट्रके पास आये। यह तो मालूम ही है कि धृतराष्ट्र उनके पुत्र थे। इसलिये भी श्रौर सान्त्वना देनेके साथ ही आगाह कर देनेके लिये भी उनका श्राना जरूरी था। वही तो श्रब पथप्रदर्शक वच गये थे। बाकी लोग तो लडाईके मैदानमे ही डँटे थे। उनने समझा कि शायद श्रन्धे धृतराष्ट्रको यह देखनेकी इच्छा हो कि श्रन्तिम समय तो भला पुत्रो श्रौर सम्बन्धियोको देख लूँ। भीष्मपर्वके पहले श्रध्यायमें लडाईकी तैयारी देखने श्रौर सहारका लक्षण जाननेकी बात कहके दूसरेमें धृतराष्ट्रके साथ व्यासका सम्वाद लिखा गया है। वहाँ व्यासके यह कहनेपर कि चाहो तो श्राँखें ठीक कर दूँ श्रौर सब कुछ देख लो, धृतराष्ट्रने यही उत्तर दिया कि जिन्दगी भर तो कुछ देख न सका। तो श्रब श्राँख लेके भला यह वशसहार देखूँ? इसकी जरूरत नही है। हाँ, कृपया ऐसा प्रबन्ध कर दें कि पूरा वृत्तान्त श्रक्षरश जान सकूँ।

इसपर व्यासने धृतराष्ट्रके मत्री सजयको बताके कहा कि श्रच्छा, तो इस सजयकी ही श्राँखोमे ऐसी शक्ति दिये देता हूँ कि यह रत्ती-रत्ती समाचार तुम्हें सुनायेगा। इसे हरेक बातकी जानकारी बैठे-बैठे ही हो जाया करेगी। दिनमे या रातमें, प्रत्यक्ष परोक्ष जो कुछ भी होगा, यहाँतक कि लडनेवाले लोग मनमें भी जिस बातका खयाल करेगे, सभीकी पूरी जानकारी इसे हो जाया करेगी। लेकिन इसीके साथ व्यासने एक बार श्रौर भी धृतराष्ट्रको समझानेकी कोशिश की कि वह दुर्योधनको समझाके श्रब भी रोक दे, श्रभी कुछ बिगडा नही है। व्यासको तो पता था ही कि धृतराष्ट्र श्रौर दुर्योधनकी एक ही राय है। मगर धृतराष्ट्र पर तो इसका श्रसर होने जानेका था नही। यही बाते दो श्रौर तीन श्रध्यायोमें श्राई हैं। जब उनने देखा कि धृतराष्ट्रके मनमे उनकी बात घुस नही रही है,

प्रत्युत अभीतक उसे दुर्योधन आदि अपने ही पुत्रोकी जीतकी आशा लगी है, तब उनने उसका यह भ्रम मिटानेके लिये इतना ही वता दिया कि जो जीतता या हारता है उसकी हालत पहलेसे ही कैसी होती है। इसे ही शुभ-अशुभ लक्षण भी कहते है। फिर व्यास चले गये। इसके वाद धृतराष्ट्रने सजयसे पूछा कि आखिर यह भूमि कितनी वडी है जिसे जीतनेके लिये यह मारकाट होनेवाली है। भीष्मपर्वके चौथेसे लेकर वारहवें अध्यायतक उसी भूमडलके सभी विभागोका वर्णन किया गया है। इसके वाद सजय कुतूहलवश कुरुक्षेत्रकी ओर चले गये। फिर वहाँसे लौटके धृतराष्ट्रको सुनाया कि लो, अव तो भीष्म आहत होके पडे है। यह वात तेरहवें अध्यायसे शुरू होती है और यहीसे गीतापर्वका श्रीगणेश होता है।

उसके बाद धृतराष्ट्रका रोना-गाना शुरू हुआ। फिर तो उसने भीष्मके आहत होनेके सारे वृत्तान्तके साथ ही युद्धकी सारी बातें पूछी और सजयने वताईं। दोनो पक्षोकी तैयारीकी भी वात सजयने कही। जिस प्रकार आज भी फौजोकी नाकेबदी होती है और अनुकूल जगहपर लडनेवाले आदमियो, घुडसवारो या तोपखाने आदिको रखा जाता है। ठीक उसी प्रकार पहले भी रखा जाता था। इसीको व्यूह-रचना कहते थे। आजकी ही तरह यह रचना कई तरहकी होती थी। मगर उस समयकी परिस्थिति तथा अस्त्र-शस्त्रकी प्रगतिके अनुसार गाडीके गोल चक्केकी सूरतमें जब लोगोको खडा करते थे तो उसे चक्रव्यूह कहते थे। इसमें दुश्मन चारो ओरसे घिर जाता था। इसे ही आज घेरना (encirclement) कहते है। जब कछुवेकी सूरतमें रखते जहाँ बीचमें तोप आदि ऊँची जगहपर रहें तो उसे कूर्मव्यूह कहते थे। गीताके पहले अध्यायमें इन्ही व्यूहोका जिक्र है। ज्यादा फौज कम फौजोंके अगल-बगल (flank)में भी खडी हो जाती और आसानीसे विजय पाती थी। इसीलिये धृतराष्ट्रने सजयसे पूछा था कि हमारी फौज तो ग्यारह अक्षौहिणी—प्राय ११-१२

लाख—है, उसे उनकी सात ही अक्षौहिणी कैसे घेरेगी, या उसका सामना करेगी ? सजयने इसीके उत्तरमे कहा कि कौन, कहाँ, कैसे खडे है और किसे कैसे खडा किया गया था। पश्चिम ओर पूर्व रुख पाडवोकी और पूर्व ओर पश्चिम रुख कौरवोकी सेना खडी थी। सारी तैयारी कैसे पूरी हुई, यह बात भी उसने कही। अन्तमे कह दिया कि दोनो फौजे इस प्रकार आके आमने-सामने डँट गई। शुरुमे दुर्योधन पक्षके सेनापति भीष्म और पाडव पक्षके भीम थे, यह भी बताया।

इस प्रकार तेरहवेंसे शुरू करके चौवीसतकके अध्यायमे ये बाते कहके गीतापर्वकी एक तरहकी भूमिका पूरी की गई है। फिर पचीसवे से लेकर बत्तीसवेतकमे गीताके कुल अठारह अध्याय पूरे हुए है। पूरी तैयारी और आमने-सामने डँट जानेकी बात सुनके ही गीताके पहले श्लोकमे धृतराष्ट्रने पछा कि उसके वाद फौरन मारकाट ही शुरू हो गई या कुछ और भी बात हुई ? उसके उत्तरमे ही समूची गीता आ गई। इसी सिलसिलेमे एक और भी मजेदार बात हो गई थी।

गीतोपदेशके बाद जब अर्जुन लडनेको तैयार हो गये तो एकाएक देखते है कि युधिष्ठिर कवच वगैरह उतारके नगे पाँव कौरवोकी सेनाकी ओर तेजीसे बढे जा रहे है। देखते ही अर्जुन आदि सभी घबरा गये। हालत यह हो गई कि ये पाँचो भाई कृष्णके साथ उनके पीछे-पीछे दौडे जा रहे है और कहते जा रहे है कि राम, राम, यह क्या कर रहे है ? ऐन वक्तपर आप यह कहाँ चले ? जब युधिष्ठिर न रुके, तो कृष्णने ताड लिया और लोगोको समझा दिया कि भीष्म आदि गुरुजनोंसे लडनेके पहले आज्ञा लेने जा रहे है। यही शिष्टाचार है। उधर कौरव सेना वालोको बडी खुशी हुई कि लो, बिना मारे ही दुश्मन मरा। सचमुच युधिष्ठिर नामर्द है। नही तो ऐसे वीरबाँकुडे भाइयो और कृष्णकी मददके होते हुए भी क्यो दुर्योधनके पाँव पडने आता ?

इसी बीच युधिष्ठिर सबोंके साथ ही पहले भीष्मके पास और पीछे क्रमश द्रोण, कृप और शल्यके पास गये और चारोको प्रणाम करके लडने-की आज्ञा तथा सफलताकी शुभेच्छा चाही। पहलेके तीन तो हर तरहसे माननीय थे। शल्य भी था माद्रीका भाई और भीम आदिका मामा। वह मद्रदेशका राजा था। उसने युधिष्ठिरको आज्ञा दी और शुभेच्छा भी जाहिर की। मगर सबोने एक बात ऐसी कही जो विचारणीय है और जिसका जिक्र हम पूर्व भागमें कर चुके है। चारोके मुखसे एक ही श्लोक निकला, जो इस प्रकार है, "अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्। इति सत्य महाराज, वद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवै।" यही श्लोक भीष्मपर्वके ४३वें अध्यायका ४१वाँ, ५६वाँ, ७१वाँ तथा ८२वाँ है। इसका सीधा अर्थ यही है कि "महाराज, अन्नधनका गुलाम आदमी होता है, न कि आदमी-का गुलाम पैसा, यह पक्की बात है। इसीलिये कौरवोने हमें गुलाम बना लिया है।"

जिन्हें मौतपर भी कब्जा हो और जो अपनी मर्जीके खिलाफ न तो हार सके और न मर सकें उन लोगोने जब ससारका पक्का नियम ऐसा बता दिया और हिम्मतके साथ तदनुकूल ही अपनी स्थिति कबूल कर ली, तो मानना ही पडेगा कि यह बडी बात है। इसीलिये इस अप्रिय सत्यपर पूरा ध्यान न देके जो लोग कोरे अध्यात्मकी राग अलापते रहते है वे कितने गहरे पानीमें है यह बात स्पष्ट हो जाती है। भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य और कृपाचार्य तो ऐसा कहें और हम अध्यात्मसे जरा भी नीचे न आयें यह विचित्र बात है! लेकिन जैसा कि हम दिखला चुके हैं, गीता इस कठोर सत्यको खूब मानती है। वह इसे स्वीकार करके ही आगे बढी है। शायद कोई ऐसा समझ ले कि उन महानुभावोने योही ऐसा कह दिया है। इसलिये उसीके बाद जो श्लोक चारो जगह आये है वे सोलहो आने एकसे न होनेपर भी अभिप्रायमें एकसे ही है। वह इस बातको और भी खोल

देते हैं। हम द्रोणके कहे श्लोकको लिखके उसीका अर्थ बता देना काफी समझते हैं। एक श्लोक यो है, "ब्रवीम्येतत्क्लीबवत्त्वा युद्धादन्यत् किमिच्छसि। योत्स्येऽहं कौरवस्यार्थे तवाशास्योजयो मया" (५७)। इसका भावार्थ यह है कि "यही कारण है कि आज मै तुम्हारे सामने दब्बूकी तरह बाते करता हूँ। लडूँगा तो दुर्योधनके ही पक्षमे। मगर विजय तुम्हारी ही चाहूँगा।" उनने साफ मान लिया कि युधिष्ठिरके सामने अन्नधनके ही लिये दबना पडा।

उसके बाद युधिष्ठिर सदल वापस आ गये और कुछ अन्य राजनीतिक चालोके बाद महाभारतकी भिडन्त शुरू हुई जिसका वर्णन ४४वें अध्यायसे शुरू हुआ है। इस प्रकार अबतक जो कुछ कहा गया है उससे गीताके उपदेशकी परिस्थितिका पूरा पता लग जानेसे उसका तात्पर्य सुगम हो जाता है। इसीलिये गीताके प्रतिपादित विषयमे प्रवेशके लिये और कुछ कहनेकी आवश्यकता नही रह जाती।

हाँ, कुछ नाम शुरूमें आये है उन्हे यही जान लेना अच्छा है। धृतराष्ट्र दुर्योधनका पिता था और सजय धृतराष्ट्रका मत्री यह तो कही चुके है। भीष्म, द्रोण और कृपको भी लोग जानते ही है। भीष्म बडे बूढे और सबके पितामह थे। इसीलिये उन्हे भीष्मपितामह भी कहते है। शेष दो व्यक्ति आचार्य थे। उनने शिक्षा दी थी। अश्वत्थामा द्रोणका पुत्र था और विकर्ण था दुर्योधनका भाई। युयुधान एव सात्यकि एक ही व्यक्तिके नाम है। भूरिश्रवाको ही सौमदत्ति (सोमदत्तका पुत्र) कहते थे। धृष्टद्युम्न द्रुपदका बेटा था और द्रुपद था द्रौपदीका पिता तथा पचाल देशका राजा। विराट मत्स्यदेशका राजा था। धृष्टकेतु शिशुपालके लडकेका नाम था। चेकितान यदुवशियोमे एक योद्धा था। वसुदेव यदुवशी ही थे, जिनके पुत्र कृष्ण थे। युधामन्यु और उत्तमौजा भी पचालदेशके ही निवासी थे। शिविदेशके राजा को ही शैब्य लिखा

है। कुन्ती जिस राजाको गोदमें दी गई थी उसके वशका नाम ही कुन्तिभोज था। उसी राजाका पुत्र पुरुजित् नामवाला था। इसीलिये पुरुजित् और कुन्तिभोज ये दो नाम न होके एक ही है। पुरुजित्के ही वशका नाम कुन्तिभोज है। सुभद्रा कृष्णकी बहन थी। उसकी शादी अर्जुनसे हुई थी। इसीलिये सुभद्राके पुत्र अभिमन्युको ही सौभद्र कहा है। द्रौपदेय कहा है द्रौपदीके प्रतिविन्ध्य आदि पाँचो बेटोको। काश्य और काशिराज एक ही आदमी—काशीके राजा—को कहा गया है। शिखडी-को तो सभी जानते है। वह नपुसक था और उसीकी ओटमें भीष्म मारे गये। क्योकि नपुसकपर वार वह करते न थे। हृषीकेश एव गोविन्द कृष्णका ही नाम है। गुडाकेश, पार्थ, सव्यसाची अर्जुनको ही कहते है। भारत अर्जुनको भी कहा है और धृतराष्ट्रको भी। कृष्णके ही कुलको वृष्णिकुल और इसीलिये कृष्णको वार्ष्णेय भी कहते है। गोविन्द, अरि-सूदन, मधुसूदन, माधव नाम भी उनका है और भगवान या श्रीभगवान् भी। अर्जुनको परन्तप भी कहा है और पार्थ भी। पार्थका अर्थ पृथा (कुन्ती)का पुत्र। कुन्तीके पुत्र होनेसे ही अर्जुन कौन्तेय कहे गये है।

गीताके शुरूमे ही जो व्यूढ शब्द आया है उसका अर्थ है व्यूहके आकारमें बनी या खडी फौज। व्यूहका अर्थ पहले ही बताया जा चुका है। वही महारथ शब्द भी आया है। यह भी फौजी शब्द है। जैसे जो दस या ज्यादा शत्रुके हवाई जहाजोको खत्म कर दे उसे फ्रेंच या अग्रेजी भाषामें एस (ace) कहते है। उसी तरह ये महारथ आदि शब्द भी पहले बोले जाते थे। योद्धा लोगोकी ही यह सज्ञाये थी और थी ये चार—अर्द्धरथ, रथ, महारथ और अतिरथ। जो एकसे भी अच्छी तरह न लड सके वह अर्द्धरथ, जो एकसे लड सके वह रथ, जो अकेले दस हजार योद्धाओंसे भिडे वह महारथ और जो असख्य लोगोंसे भिड जाये वह अतिरथ कहा जाता था—"एको दश सहस्राणि योधयेद्यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्रप्रवीणश्च

स वै प्रोक्तो महारथ । अमितान्योधयेद्यस्तु सप्रोक्तोऽतिरथस्तु स । रथस्त्वेकेन योद्धा स्यात्तन्न्यूनोऽर्द्धरथ स्मृत ।"

अब एक ही बात जाननेके लिये रह जाती है और है वह कुरुक्षेत्रकी बात। छान्दोग्य और बृहदारण्यक जैसे प्राचीनतम उपनिषदोमे बार-बार कुरुदेश और कुरुक्षेत्रका नाम आता है। मनुस्मृतिमे भी ब्रह्मर्षिदेशको बताते हुए दूसरे अध्यायमे उसके अन्तर्गत कई प्रदेशोका नाम गिनाके कहा है कि "कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पाचाल और शूरसेन इन्ही चार देशोको मिलाके ब्रह्मर्षिदेश कहा जाता है—कुरुक्षेत्र च मत्स्याश्च पाचाला शूरसेनका । एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्त्तादनन्तर ।" उसी ब्रह्मर्षिदेशका नाम पीछे कान्यकुब्ज हो गया। वर्त्तमान गुडगाँव, रोहतक आदि जिले कुरुक्षेत्रके ही भीतर है। उनसे पश्चिम बहुत दूरतकका प्रदेश ब्रह्मावर्त्त कहा जाता था। जाबालोपनिषदके पहले ही मत्रमे कुरुक्षेत्रका नाम आया है। परशुरामके बारेमे यही माना जाता है कि उसी मैदानमें उनने बार-बार क्षत्रियोका सहार किया। दिल्लीके पासका पानीपतका मैदान इधर भी कितनी ही लडाइयोका केन्द्र रहा है। वह कुरुक्षेत्रका ही मैदान है। उसीमे महाभारतका महायुद्ध भी हुआ था। भारतके लिये यह कत्लगाह है।

महाभारतके शल्यपर्वके कुल छब्बीस श्लोकोमे इस कुरुक्षेत्रकी चौहद्दी, इसके मुख्य स्थान आदि दिये गये है जो पुराने जमानेके नाम है। वही यह भी लिखा है प्रजापतियोकी यह पुरानी यज्ञशाला है। यहीपर देवताओने भी बडे-बडे यज्ञ किये थे। इसीलिये इसकी धूलतक पापनाशक मानी गई है। कुरुक्षेत्रका शब्दार्थ है कुरुका क्षेत्र या खेत। कुरु था कौरव-पाडवोका मूरिस या पूर्वज। वही लिखा है कि इस जमीनको वह बराबर जोतता रहता था। इन्द्रने उसे बार-बार रोका। पर उसने न माना। जोतनेका मतलब कुछ साफ नही है सिवाय इसके कि

कहा गया है कि भविष्यमें जो यहाँ मरें उन्हें स्वर्ग मिले इसीलिये जोतना जारी था। अन्तमें इन्द्रने जब यह वरदान दिया कि जाइये यहाँ तप करने या लडनेमें जो मरेंगे वह जरूर स्वर्गी होंगे, तब उसने जोतना छोडा। इसीलिये कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र या धर्मभूमि कहते हैं।

आगे श्लोकोके अर्थमें आवश्यकतानुसार बाहरसे जोडे गये शब्द कोष्ठक में दिये हैं, यह याद रहे।

इसके अलावे कही-कही श्लोकार्थके बाद छोटी-बडी टिप्पणियाँ भी दी गई हैं। वे साफ हैं।

पुराने समयमें हाथसे पकडके जिन तलवार आदि हथियारोंसे हमला करते थे उन्हे शस्त्र कहते थे और जिन तीर आदिको फेंकते थे उन्हें अस्त्र कहते थे। उस समय फौजको भी बल कहते थे।

# पहला अध्याय

## धृतराष्ट्र उवाच

धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः ।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत संजय ॥१॥

धृतराष्ट्रने पूछा—सजय, धर्मकी भूमि कुरुक्षेत्रमे जमा मेरे और पाण्डु-पक्षके युद्धेच्छुक लोगोने क्या किया ? १।

## संजय उवाच

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा ।
आचार्यमुपसंगम्य राजा वचनमब्रवीत् ॥२॥

सजयने कहा—उस समय पाडवोकी सेना व्यूहके आकारमें (सजी) देखके राजा दुर्योधन द्रोणाचार्यके पास जाके बात बोला (कि)—२।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम् ।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता ॥३॥

आचार्य, पांडुके बेटोकी इस बडी सेनाको (तो) देखिये । इसकी व्यूह रचना आपके चतुर चेले द्रुपद-पुत्र (धृष्टद्युम्न)ने की है ।३।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि ।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः ॥४॥

इसमे शूर, बडे धनुर्धारी (और) युद्धमे भीम एव अर्जुन सरीखे सात्यकि, विराट, महारथी द्रुपद—४।

धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान् ।
पुरुजित् कुंतिभोजश्च शैब्यश्च नरपुंगवः ॥५॥

धृष्टकेतु, चेकितान, वीर्यवान् काशिराज, कुन्तिभोज पुरुजित्, नरश्रेष्ठ शैव्य—५।

**युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान् ।**
**सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः ॥६॥**

पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, अभिमन्यु और द्रौपदीके बेटे—ये सबके सब महारथी है ।६।

**अस्माकं तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम ।**
**नायका मम सैन्यस्य सज्ञार्थं तान्ब्रवीमि ते ॥७॥**

द्विजवर, हमारे जो चुने-चुनाये लोग है उन्हें भी (अब) गौरसे सुनिये । मेरी फौजके जो सचालक है उन्हे आपकी जानकारीके लिये बताता हूँ ।७।

**भवान्भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिंजयः ।**
**अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिस्तथैव च ॥८॥**

(वे है), आप, भीष्म, कर्ण, युद्धविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण और भूरिश्रवा ।८।

**अन्ये च बहव. शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः ।**
**नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः ॥९॥**

दूसरे भी बहुतसे वीर है जिनने मेरे लिये प्राणोकी बाजी लगा दी है, जो अनेक तरहके शस्त्र चलानेमे कुशल है और सभी युद्धविद्यामे निपुण है ।९।

**अपर्याप्तं तदस्माक बल भीष्माभिरक्षितम् ।**
**पर्याप्त त्विदमेतेषा बलं भीमाभिरक्षितम् ॥१०॥**

भीष्मके द्वारा रक्षित (सचालित) हमारी वह सेना काफी नही है। (लेकिन) इन (पाडवो)की यह भीमके द्वारा सचालित सेना तो काफी है।

इस श्लोकके अर्थके सम्बन्धमे विशेष विचार पहले ही के पृष्ठोमें किया जा चुका है ।१०।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः ।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि ॥११॥

(इसलिये) जिसकी जो जगह ठीक हुई है उसीके अनुसार आप सभी लोग नाकोपर डँटे रहके केवल भीष्मकी ही रक्षा करे ।११।

तस्य संजनयन्हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः ।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शंखं दध्मौ प्रतापवान् ॥१२॥

(इतने हीमे) दुर्योधनको खुश करनेके लिये सभी कौरवोमें बडे बूढे और प्रतापशाली भीष्मपितामहने सिहकी तरह जोरसे गर्जकर (अपना) शख फूँका (शख फूँकना युद्धारम्भकी सूचना है) ।१२।

ततः शंखाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः ।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत् ॥१३॥

उसके बाद एक-एक शख, नफीरी (शहनाई), छोटे-बड़े नगाड़े और गोमुखी (ये सभी बाजे) बज उठे (और) वह आवाज गूँज उठी ।१३।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ ।
माधवः पांडवश्चैव दिव्यौ शंखौ प्रदध्मतुः ॥१४॥

उसके बाद सफेद घोडे जुते बडे रथमे बैठे हुए कृष्ण और अर्जुनने भी अपने दिव्य—अलौकिक या असाधारण—शख (प्रतिपक्षियोके उत्तरमे) फूँके ।१४।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनंजयः ।
पौंड्रं दध्मौ महाशंखं भीमकर्मा वृकोदरः ॥१५॥

कृष्णने पाचजन्य, अर्जुनने देवदत्त और भयकर काम कर डालनेवाले भीमसेनने ौड्र नामक बडा शख फूँका ।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ ॥१६॥

कुन्तीके पुत्र राजा युधिष्ठिरने अनन्तविजय, और नकुल एव सहदेवने (क्रमश) सुघोष तथा मणिपुष्पक (नामके शख बजाये)।१६।

**काश्यश्च परमेष्वास· शिखडी च महारथ·।**
**धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजित·॥१७॥**

महाधनुर्धारी काशिराज, महारथी शिखडी, धृष्टद्युम्न, विराट, अजेय सात्यकि—१७।

**द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वश· पृथिवीपते।**
**सौभद्रश्च महाबाहुः शखान्दध्मुः पृथक् पृथक्॥१८॥**

द्रुपद, द्रौपदीके सभी बेटे और लम्बी बाहोवाले अभिमन्यु इन सबने हे पृथिवीराज (धृतराष्ट्र), अलग-अलग शख फूंके।१८।

**स घोषो धार्त्तराष्ट्राणा हृदयानि व्यदारयत्।**
**नभश्च पृथिवीं चैव तुमुलो व्यनुनादयन्॥१९॥**

आकाश और जमीनको वार-वार गुजा देनेवाले उस घोर शब्दने दुर्योधनके पक्षवालोका हृदय चीर दिया।१९।

**अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान्कपिध्वज·।**
**प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाडव॥२०॥**

उसके बाद दुर्योधनके पक्षवालोको बाकायदा तैयार देखके (और यह जानके कि अब) अस्त्र-शस्त्र छूटने ही वाले है, महावीरकी चिह्नयुक्त ध्वजावाले अर्जुनने,—२०।

## अर्जुन उवाच

**हृषीकेश तदा वाक्यमिदमाह महीपते।**
**सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥२१॥**

हे महीपति, कृष्णसे यह बात कही कि अच्युत, दोनो फौजोके (ठीक) बीचमें मेरा रथ खडा कर दीजिये।२१।

यावदेतान् निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे ॥२२॥

ताकि लडाईके मसूबेवाले इन तैयार खडे लोगोको देखूँ (तो कि आखिर) इस लडाईकी दौरान्मे मुझे किन-किनके साथ लडना है ।२२।

योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः ॥२३॥

ये जो युद्धमे नालायक दुर्योधनके खैरखाह बनके यहाँ आये है और लडेगे उन्हे (जरा मैं) देखूँगा (कि आखिर ये है कौन लोग) ।२३।

## संजय उवाच

एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम् ॥२४॥

सजयने कहा कि हे धृतराष्ट्र, अर्जुनके ऐसा कहनेपर कृष्णने दोनो सेनाओके बीचमे सर्वश्रेष्ठ रथ खडा करके—।२४।

भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषां च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति ॥२५॥

भीष्म, द्रोण तथा सभी राजाओके सामने ही कहा कि अर्जुन, जमा हुए इन कुरुके वशजोको देख ले ।२५।

यहाँ कुरुवशियोसे तात्पर्य दोनो पक्षके सभी लोगोसे है। इसीलिये आगे "सेनयोरुभयो" लिखा है।

तत्रापश्यत्स्थितान्पार्थः पितृनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातृन्पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ॥२६॥
श्वशुरान्सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।

वहाँ अर्जुनने देखा (कि ये तो अपने) पिता, पितामह, आचार्य, मामा,

भाई, पुत्र, पोते, मित्र, ससुर और स्नेही (लोग ही) दोनो ही सेनाओंमें खडे है ।२६।२७।

त'न्समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान्बन्धूनवस्थितान् ॥२७॥
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत् ।

उन अपने ही सगे-सम्बन्धियोको खडे देख अर्जुनको परले दर्जेकी दयाने घेर लिया (और) विषादयुक्त होके वह ऐसा बोला ।२७,२८।

## अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेम स्वजन कृष्ण युयुत्सुं समुपस्थितम् ॥२८॥
सीदन्ति मम गात्राणि मुख च परिशुष्यति ।
वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते ॥२९॥

अर्जुन बोला—हे कृष्ण, इन अपने ही लोगोको युद्धकी इच्छासे यहाँ जमा देखके मेरे अग शिथिल हो रहे हैं, मुंह बहुत सूख रहा है, मेरे शरीरमे कँपकँपी हो रही है और रोयें खडे हो रहे हैं ।२८।२९।

गांडीवं स्रसते हस्तात्त्वक् चैव परिदह्यते ।
न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः ॥३०॥

गाडीव धनुष हाथसे गिरा जा रहा है, त्वचा (समस्त शरीर)में आगसी लगी है, खडा रह सकता हूँ नही और मेरा मन चक्करसा काट रहा है ।३०।

निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥३१॥

हे केशव, लक्षण उलटे देख रहा हूँ । अपने ही लोगोको युद्धमें मारके खैरियत नहीं देखता ।३१।

न कांक्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च ।
किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा ॥३२॥

हे कृष्ण, (मैं) विजय नही चाहता, न राज्य ही चाहता हूँ और न सुख ही। हे गोविन्द, राज्य, भोग और जिन्दगी (भी) लेकर हम क्या करेंगे ? ३२।

**येषामर्थे कांक्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च ।**
**त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणास्त्यक्त्वा धनानि च ।।३३।।**

जिनके लिये हमें राज्य, भोग और सुखोंकी चाह थी ये वही लोग (तो) प्राणों और धनों (की माया-ममता) को छोडके युद्धमे डॅटे है। ३३।

**आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः ।**
**मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा ।।३४।।**

आचार्य, बडे बूढे, लडके, दादे, मामू, ससुर, पोते, साले और सम्बन्धी (लोग)—३४।

**एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन ।**
**अपि त्रैलोक्यराजस्य हेतोः किं नु महीकृते ।।३५।।**

(यदि) हमें मारते भी हो (तो भी) हे मधुसूदन, मैं इन्हे त्रैलोक्य (ससार)के राज्यके लिये भी मारना नही चाहता, (फिर इस) पृथ्वीकी (तो) बात ही क्या ? ३५।

**निहत्य धार्त्तराष्ट्रान्नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन ।**
**पापमेवाश्रयेदस्मान्हत्वैतानाततायिनः ।।३६।।**

हे जनार्दन, धृतराष्ट्रके सम्बन्धियोंको मारके हमें क्या खुशी होगी ? (उलटे) इन आततायियोंको मारके हमें पाप ही लगेगा।३६।

स्मृतियोमे छे तरहके लोगोको आततायी कहा गया है। "जो आग लगाये, जहर दे, हाथमें हथियार लिये डॅटे हो, किसीकी धन-सम्पत्ति छीनते हो, जमीन (खेत) छीनते हो और दूसरोकी स्त्रीको हरें—यही छे—आततायी कहे जाते है"—"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापह । क्षेत्रदारापहर्त्ता च षडेते ह्याततायिन" (वसिष्ठस्मृति ३।१६)।

तस्मान्नार्हा वय हन्तु धार्त्तराष्ट्रान्स्वबाधवान् ।
स्वजन हि कथं हत्वा सुखिन· स्याम माधव ॥३७॥

इसलिये हमें अपने ही बन्धु-बान्धव कौरवोको मारना ठीक नहीं है। हे माधव, भला अपने ही लोगोको मारके हम सुखी कैसे होगे ? ३७।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः ।
कुलक्षयकृत दोष मित्रद्रोहे च पातकम् ॥३८॥

यद्यपि लोभके चलते चौपट बुद्धिवाले ये (दुर्योधन वगैरह) कुलके सहारके दोष और मित्रोकी बुराई करनेके पापको समझ नही रहे है ।३८।

कथ न ज्ञेयमस्माभि· पापादस्मान्निवर्त्तितुम् ।
कुलक्षयकृत दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन ॥३९॥

(तथापि) हे जनार्दन, कुलके सहारके दोषको जानते हुए भी हम इस पापसे बचनेके लिये (यह बात) क्यो न समझें ? ३९।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्मा· सनातनाः ।
धर्मे नष्टे कुल कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत ॥४०॥

कुलके क्षय होनेसे सनातन—चिरन्तन या पुराने—कुलधर्म चौपट हो जाते है और धर्मोके नष्ट हो जानेपर समूचे कुलको अधर्म दबा लेता है ।४०।

यहाँ धर्म और अधर्म शब्द सकुचित धर्मशास्त्रीय अर्थमें नही आये है । इसीलिये कुलधर्म कहनेसे ऐसी अनेक बाते, अनेक कलायें और बहुतेरी हिकमतें भी ली जाती है जिनके बारेमें कही कोई लेख नही मिलता। किन्तु जो परम्परासे व्यवहारमें आती है। क्योकि पूजा-पाठ आदि बातें तो पोथियोमे लिखी रहती है। फलत उनके नष्ट होनेका सवाल तो उठता ही नही। वह कायम रही जाती है और किसी न किसी प्रकार उनका अमल होई सकता है। मगर जिनके बारेमें कुछ भी कही लिखा-

पढा नही है उनका तो कोई उपाय नही रह जाता। जब उन्हे जानने और उनपर अमल करनेवाले ही नही रहे तो वे बचें कैसे? हमने साँपके जहर उतार देने और मृतप्राय आदमीको भी चगा करनेका ऐसा तरीका देखा है जो न लिखा गया है और न लिखा जा सकता है। वह तो अजीब चीज है जो समझमे भी नही आती है। मगर उसपर अमल होते खूब ही देखा है। इसी तरहकी हजारो बाते होती है। इस श्लोकमे जो कुछ कहा गया है उसका आशय यही है कि जब किसी वशका वश ही खत्म हो जाता है और केवल नन्हे-नन्हे या गर्भके बच्चे एव स्त्रियाँ ही बच रहती है तो नादानी और अज्ञानके गहरे गढेमे वह वश डूब जाता है। फलत. बचे बचाये प्राणी जान पाते ही नही कि क्या करे। इसीलिये अधर्म शब्द उसी अन्धकारके मानीमे आया है।

**अधर्माभिभवात्कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।**
**स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसकरः ॥४१॥**

हे कृष्ण, अधर्मके दबानेपर कुलीन स्त्रियाँ बिगड जाती है (और) स्त्रियोके बिगड जानेपर, हे वार्ष्णेय, वर्णसकर हो जाता है।४१।

इसपर विशेष विचार पहले ३१७–३२९ पृष्ठोमे हो चुका है।

**सकरो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।**
**पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिडोदकक्रियाः ॥४२॥**

(और यह) वर्णसकर कुलघातियोको और (समूचे) कुलको (भी) जरूर ही नरक ले जाता है। क्योकि इनके पितर या बडे बूढे पिंड और तर्पणकी क्रियाओके लुप्त हो जानेसे पतित हो जाते है—नीचे जा गिरते है (और जब बडे बूढे ही पतित हो गये तब तो अधोगति एव अवनतिका रास्ता ही साफ हो गया)।४२।

इस श्लोकके उत्तरार्द्धमे जो 'हि' आया है—हि ऐषा (ह्येषा)—वह कारणका सूचक है। साधारणतया यह शब्द कारण सूचक ही होता

है । इसका मतलब यह है कि पूर्वार्द्धमें जो नरक और पतनकी वात कही गई है उसीकी पुष्टिमें हेतुस्वरूप आगे बातें लिखी गई है । यही कारण है कि 'पितर' शब्दको व्यापक अर्थमें लेके हमने बड़े बूढे अर्थ कर लिया है । पहले भी ३४वें श्लोकमें 'पितर' का यही अर्थ है । इसीलिये सिर्फ किसी स्थान या लोक विशेषमे, जिसे स्वर्ग या पितृलोक कहते है, रहनेवालो के ही अर्थमें हमने उस शब्दको नही लिया है। हमारे अर्थमें वे भी आ जाते है । इसीलिये पिंड और उदक क्रियाका भी व्यापक ही अर्थ है। फलत अन्न जल आदि से आदर सत्कार एव अतिथि पूजा वगैरह भी इसमें आ जाती है । साधारणत समझा जानेवाला पिंडदान एव तर्पण तो आता ही है ।

**दोषैरेतै. कुलघ्नानां वर्णसकरकारकै ।**
**उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वता. ॥४३॥**

वर्णसकर पैदा करनेवाले कुलघातियोंके इन दोषोंके करते सनातन जातिधर्मों और कुलधर्मोका नाश हो जाता है ।४३।

**उत्सन्नकुलधर्माणा मनुष्याणां जनार्दन ।**
**नरकेऽनियत वासो भवतीत्यनुशुश्रुम ॥४४॥**

हे जनार्दन हम ऐसा सुनते है कि जिन लोगोंके कुल धर्म (आदि) निर्मूल हो जाते है उन्हे जरूर ही नरकमें जाना पडता है ।४४।

**अहो बत महत्पाप कर्त्तु व्यवसिता वयम् ।**
**यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यता. ॥४५॥**

ओह, अफसोस, हम बहुत बडा पाप करने चले है । क्योकि राज्य और सुखके लोभसे अपने ही लोगोको मारनेके लिये तैयार हो गये है ।४५।

**यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः ।**
**धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतर भवेत् ॥४६॥**

(विपरीत इसके) अगर मै शस्त्र-रहित होके अपने बचनेका भी कोई उपाय न करूँ (और ये) शस्त्रधारी दुर्योधनके आदमी मुझे मार (भी) डाले तो भी मेरा भला ही होगा ।४६।

## संजय उवाच

**एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत् ।**
**विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः ॥४७॥**

सजय बोला—चिन्ता और अफसोससे उद्विग्न चित्त अर्जुन ऐसा कहके (और) धनुष बाणको छोडके युद्धके मैदानमें ही रथमे बैठ गया ।४७।

**इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे अर्जुनविषादयोगो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥१॥**

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमें उपनिषद रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योगशास्त्रमे जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सम्वाद है उसका अर्जुन-विषाद-योग नामक पहला अध्याय यही है ।

अर्जुनका विषाद, यद्धकी हानियाँ और फलस्वरूप लडनेमे अर्जुनका जो विराग इस अध्यायमे दिखाया गया है वह सभी युद्धोकी समाज-घातकताको बताके उनकी निन्दा करता है। जिनने बीसवी शताब्दीके साम्राज्यवादी युद्धोको देखा और जाना है वह बखूवी समझ सकते है कि इनसे कुल, जाति, देश और उनके धर्मोका कितना भयकर सहार होता है और सभी प्रकारके पतनका सामान वे किस कद्र जमा कर देते है। उनके चलते समूचे देशके देशकी हर तरहकी प्रगति किस प्रकार रुक जाती और समाज अवनतिके अतलगर्त्तमे जा गिरता है यह वात उन्हे साफ विदित है। इसीलिये अर्जुनकी वाते वे आसानीसे समझ सकते है। फलत इनमे उन्हे कोई अलौकिकता मालूम न होगी।

# दूसरा अध्याय

पहले अध्यायमे जो कुछ कहा गया है वह अर्जुनके अपने विचार थे जो वेरोक बाहर आये थे। उनसे उसकी मनोवृत्तिपर पूरा प्रकाश पडता है। कृष्णने देखा कि यह तो अजीव वात है। लडाईके मैदानमें ऐन मौकेपर यह ज्ञान-वैराग्यकी वात और तन्मूलक कर्त्तव्यविमूढता, या यो कहिये कि निठल्ले बैठ जाना तो निराली चीज है। सो भी युद्धमें सबके अग्रणी और नेता—पेशवा—का ही बैठ जाना। अतएव वह कुछ घवराये सही। मगर फिर खयाल किया कि आखिर अर्जुन भी तो आदमी ही ठहरा और आदमियोको ऐसे मौकोपर मानवसुलभ कमजोरियाँ दवाती ही है। मालूम होता है, यही वात अर्जुनकी भी है। वह कुछ दयार्द्र हो जानेके कारण ही कमजोरी दिखा रहा है। हिसाका भीषण रूप यहाँ आँखोंके सामने नाच रहा है। इसीलिये यह कमजोरी स्वाभाविक है। उनने यह भी खयाल किया कि इसी भावोद्रेक और प्रेमप्रवाहके करते वह अपने आपको शायद भूल गया है कि उसे वहाँ क्या करना है—वह इस युद्ध-क्षेत्रमें क्या लक्ष्य और कौन मिशन (mission) लेके आया है। वह यह भी इसीलिये नही सोच रहा है कि इसमें उसकी कितनी वदनामी है। इसलिये यदि यह वात उसे याद दिला दी जाय और इसके चलते होनेवाली हानि सुझा दी जाय तो शायद फिर तैयार हो जाय। आखिर ऐन लडाईके समयका यह आगा-पीछा अवतक सब किये-करायेपर पानी जो फेर देगा। इसीलिये दूसरे अध्यायका श्रीगणेश कृष्णकी इन्ही वातोसे ही हुआ। इसीलिये सजयने यही बात धृतराष्ट्रसे कही भी। फलत इस अध्यायके शुरूमे ही—

## संजय उवाच

**तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम् ।**
**विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः ॥१॥**

सजयने कहा——इस तरह कृपासे ओतप्रोत, आँसूभरी बेचैन आँखोवाले और विषादयुक्त उस अर्जुनसे मधुसूदनने आगेवाली बात कही ।१।

## श्रीभगवानुवाच

**कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम् ।**
**अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ॥२॥**

श्रीभगवान बोले——अर्जुन, ऐसे सकटके समयमे——लडाईके मैदानमे——तुममे यह गन्दगी कहाँसे आ गई ? गन्दगी भी ऐसी कि जिसे भले लोग कभी अपनाते नही, जो उन्नतिकी ओर तो ले जानेवाली नही । (हाँ,) बदनामी फैलानेवाली (जरूर) है ।२।

**क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते ।**
**क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥३॥**

पार्थ, नामर्दी मत दिखाओ । यह तुम्हे शोभा नही देती । ओ दुश्मनोको तपानेवाले, हृदयकी (इस) नाचीज कमजोरीको छोडके खड़ा हो जाओ ।३।

अब अर्जुनने देखा कि कृष्णको मेरे दिलकी बातोका ठीक-ठीक पता नही है । वह समझते है कि मै केवल माया-ममताकी कमजोरीसे ऐसा कर रहा हूँ । इसलिये जरूरत इस बातकी है कि सारी बाते खोलके उनके सामने रख दी जायँ, ताकि परिस्थितिका पूरा पता उन्हे लग जाय । इससे यह भी होगा कि यदि सभव होगा और उचित समझेगे तो कोई रास्ता भी सुझायेगे । नही तो युद्धमें तो अब पड़ना हई नही । इसीलिये——

अर्जुन उवाच

**कथं भीष्ममहं सख्ये द्रोण च मधुसूदन।**
**इषुभिः प्रति योत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन ।।४।।**

अर्जुन कहने लगा—हे मधुसूदन—मधुदैत्यके नाशक—, हे अरिसूदन—शत्रुनाशक—, (चन्दन, पुष्पादिसे) पूजा करने योग्य भीष्मपितामह तथा द्रोणाचार्यके साथ इस युद्धमें वाणोसे लडूँ कैसे ?४।

**गुरूनहत्त्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।**
**हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुजीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान् ।।५।।**

गुरुजनो—बडे बूढो—को न मारके इस दुनियामें भीखसे भी गुजर करना कही अच्छा है। अर्थलोलुप गुरुजनोको मारकर तो यहीपर (उन्हीके) खूनसे रँगे पदार्थोंको भोगना होगा।५।

**न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।**
**यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः ।।६।।**

यह भी तो नही मालूम कि हमारे लिये (दोनोमे) कौनसी चीज अच्छी है (और यह भी नही जानते कि) हम (उन्हें) जीतेंगे या वे लोग ही हमें जीतेगे। जिन्हीको मारके हम जीना नही चाहते वही धृतराष्ट्रके बेटे सामने ही डँटे हैं।६।

इस श्लोकके उत्तरार्द्धके बारेमे तो कोई विवाद नही। उसका अर्थ तो सभी लोग एक ही समझते है। मगर पूर्वार्द्धमें गडबड है और कुछ लोग भटकके दूसरा ही अर्थ कर डालते है। असलमे यदि इससे पूर्वके श्लोकसे इसे जोडके उसी प्रसगमें इसे भी मान लें तो यह दिक्कत न हो। इसीके साथ एक बात और भी करनी होगी। हमे इस श्लोकके 'कतरत्' और 'गरीयस्' शब्दोका भी खयाल करना होगा। हमारे जानते तो इसका सीधा अर्थ इस तरह है। पहले श्लोकमें जो कहा गया है कि

गुरुजनोको न मारके भिक्षावृत्तिसे गुजर करना कही अच्छा है, क्योकि उन्हे मारनेपर तो परलोककी कौन कहे यहीपर खूनमे सने पदार्थोंको ही भोगना होगा, उससे दो पक्ष सिद्ध होते है। एक तो है युद्ध न करके भिक्षावृत्ति तकके लिये तैयारी और दूसरा है लडकरके इसी शरीरसे खूनी पदार्थोंका भोग। इनमें पहले पक्षको यद्यपि अर्जुनने अच्छा ठहरा दिया हैं। फिर भी इस बातकी पूरी जानकारी तो उन्हे है नही। इसीलिये अगले श्लोकमे इसी जानकारीकी बात जाननेके लिये "विद्म" शब्द बोलते है। जिस विद धातुसे यह शब्द बना है उसीसे वेद, वेत्ता, विद्वान् आदि शब्द बनते है। उसका अर्थ है पूरी जानकारी और वही हमे नही है यही बात "न चैतद्विद्म"—"यही तो नही जानते"—शब्दोमे कहते है। इसीलिये आगेके भी सातवे श्लोकमे पाँचवे जैसा ही "श्रेय." शब्द कहके कहते है कि जो मेरे लिये अच्छा हो सो कहिये।

एक बात और भी है। पाँचवेंमे सिर्फ इतना ही कहा है कि गुरुजनोको न मारके भीख माँगना भी अच्छा है और यह सर्वसाधारण बात है। इसका यह मतलब तो हर्गिज नही होता कि यह चीज सभीके लिये अच्छी है। हो सकता है क्षत्रियके लिये ठीक न होके भी औरोके ही लिये ठीक हो। यह चीज अच्छी है यह आम लोगोकी धारणा ही तो उनने कही है, न कि अपने लिये भी उसे खामखा अच्छा कह दिया है। इसीलिये सातवे श्लोकमें 'मे' शब्द देकर साफ कहते है कि मेरे लिये जो बात 'श्रेय' हो, ठीक हो वही कहिये। यही वजह है कि पाँचवेके उत्तरार्द्धमे जो दलील देते है कि रोटी-पैसेके ही लिये दुर्योधनके यहाँ फँसे गुरुजनोको मारके उन्हीके खूनसे रँगे पदार्थ यही भोगने होगे, उससे यह झलकता है कि यदि मरनेके बाद नर्क आदिकी बात होती तो एक बात भी थी। तब देखा जाता। तब सोचते कि चलो, यहाँ तो आराम कर लें, आगे देखा जायगा। मगर यह तो कुछ ऐसी चीज हो जाती है कि उन्हीके खूनसे रँगे पदार्थ ही हमे

यहाँ मिलते है। उसमें एक बात और भी हो जाती है कि ये बेचारे हमारे बडे बूढे जिन्ही चीजोको लेके एक प्रकारसे पथभ्रष्ट हुए वही चीजें आखिर उनसे हम छीन ही लें, सो भी उनका खून करके, यह कैसा तो लगता है। यह तो कुछ ऐसा मालूम होता है कि वे लोग तो पथभ्रष्ट हुए ही थे। मगर अब हम भी ऐसा करके वैसे ही हो जायँगे और यह ठीक नही लगता। गुरुजनोको 'अर्थकाम' कहनेका यही मतलब है। इसी अर्थमें "कामकामी" (२।७०) शब्द आया है।

इस प्रकार अर्जुनका मन कुछ अजीब पशोपेश और घपलेमें पडा है। क्या वह इन बातोको कहते हुए भी यह नही जानता कि आखिर क्षत्रियका ही धर्म तो लडना है, दूसरेका नही ? फिर वह यो ही निश्चय कैसे कर लेता कि भीख माँगना ही अच्छा है ? मगर इतनेपर भी उसके पशोपेशकी गुजाइश सिर्फ इसीलिये रह जाती कि आखिर युद्धमें सीधे अपने ही लोगो एव गुरुजनोको ही मारना पडे यह तो कोई जरूरी नही है। लडाई तो ऐसी भी हो सकती है जिसमें यह कुछ भी न करना पडे। ऐसी दशामें वैसी ही लडाई क्षत्रियका धर्म क्यो न माना जाय, न कि ऐसी ? यह शका तो स्वाभाविक थी। उधर कृष्ण इसीमें प्रोत्साहित कर रहे थे। रोकते तो थे नही। इसलिये यह भी खयाल होता था कि यदि यह बुरी होती तो वह ऐसा कदापि नही करते। यही था पूरा घपला। अर्जुन इसीकी सफाईके लिये कहता है कि हमें यह भी तो पता नही कि इन दोनो पक्षोमें कौनसा हमारे लिये उत्तम है, अच्छा है।

'गरीयस्' और 'कतरत्' शब्द भी यही अर्थ ठीक है ऐसा सूचित करते है। पहले 'गरीयस्' शब्दको ही लें। यह शब्द, गुरु शब्दसे बना है और गुरु शब्दका अर्थ है भारी, वजनी, बडा, श्रेष्ठ, अच्छा। इसलिये 'गरीयस्' शब्दका अर्थ हो जाता है ज्यादा अच्छा, ज्यादा वजनदार, और भी अच्छा, और भी श्रेष्ठ। अर्जुनके कहनेका यही आशय है कि यो तो दोनो ही

पक्ष अच्छे है, वजनी है, श्रेष्ठ है। क्योकि तर्क-दलीले दोनो ही पक्षोमे है जिन्हें मै दे भी चुका हूँ। मगर दोनोमे भी ज्यादा वजनदार, ज्यादा अच्छा, ज्यादा श्रेष्ठ कौन है इसका पता मुझे नही लगता। मेरे लिये यही तो बड़ी दिक्कत है। मेरी हालत तो "दोलाचल-चित्तवृत्ति" है, मेरा दिमाग तो झूलेकी तरह दोनो ही ओर बराबर जा रहा है—कभी इधर और कभी उधर। फलत. निर्णय नही कर सकता है।

अब इसीके साथ 'कतरत्' शब्दको भी मिलाके देखे। ये दोनो ही शब्द यहाँपर नपुसक-लिगी ही है। पुल्लिग होनेपर 'कतर' और 'गरीयान्' होते। 'कतर' शब्द दोमेंसे एकको चुन लेने, अलग कर लेनेके मानीमे आता है। इसका अर्थ है दोमे कौनसा ? दोसे ज्यादेमेंसे चुनना हो तो 'कतम' शब्द बोलते है। इसी तरह 'न' शब्दका अर्थ है हमारा या हमारे लिये। सब मिलाके अर्थ हो जाता है कि हमारे लिये इन दोनो पक्षोमे कौनसा पक्ष ज्यादा अच्छा है। जहाँ कोई निश्चित लिंग न हो वहाँ नपुसक ही बोला जाता है। यहाँ भी वही बात है। दो पक्ष, दो बाते, दो चीजे है और इनके लिंगका कोई ठिकाना है नही। मगर जब 'न'का अर्थ करते है 'हम लोगोमे' या 'हम लोगोमेंसे', तो वह साफ ही पुलिंग हो जाता है। तब तो साफ ही पता चलता है कि अर्जुन अपना और दुर्योधनका खयाल करके ही कहता है कि हम दोनोमे कौन वजनी है, कौन जीतेगा, यह मालूम नही। मगर उस दशामे उसे "कतरो नो गरीयान्", ऐसा ही कहना उचित था। श्लोक भी ठीक ही रह जाता है। इसलिये मानना पडता है कि यह बात नही है। साफ ही पुलिगकी जगह नपुसक देनेसे निस्सन्देह वही अर्थ ठीक है जो हमने माना है।

जो लोग इस नपुसकवाली बातको मानके भी आगेके "यद्वा जयेम" आदिको इसीके साथ मिलाते हुए यह अर्थ करते है कि "हम जीते या हमें

वे लोग जीत ले---इन दोनोमे श्रेयस्कर कौन है, यह भी समझ नही पडता", उनका भी कहना ठीक नही है। पहलेकी सारी दलीले ऐसे अर्थके विरुद्ध जाती है। शायद 'जयेम' और 'जयेयु'का विधिलिङ् देखके वे लोग इस भ्रममे पड गये है। मगर यहाँ तो चाहे विधिलिङ् हो या भविष्यकी क्रिया हो हर हालतमे भविष्य ही अर्थ होगा 'जीतेगे'। पहलेके श्लोकमे 'भुजीय' क्रिया भी तो ऐसी ही है। मगर वहाँ उनने भी भविष्य ही अर्थ किया है। फिर यहाँ भी वही क्यो न किया जाय ? विधिलिङ् और आशीलिङ्का भविष्य भी अर्थ होता है यह तो "भविष्यति लिट्लोटौ" (३।३।१७३) सूत्रमें पाणिनिने खुद माना है। अर्जुनका तो यही कहना है कि हम यह भी तो नही जानते कि हम जीतेगे या वे लोग। इस पूर्वार्द्धमें अर्जुनने एक तो यही कहा है। इसके पहले दूसरा यह कि इन दोनो बातोमें कौन ज्यादा अच्छी है यह भी नही जानते।

इन दोनोको एक साथ घोलमट्ठा करके ऐसा कहना कि हम जीते या वह जीते इन दोनोमे हमारे लिये कौन बात अच्छी है यह मालूम ही नही है, कुछ अच्छा जँचता भी नही। भविष्यकी अनिश्चित बातको अभी तौलना ठीक नही लगता। मारना और मरना तो निश्चित है, चाहे जीते कोई। इसलिये उसके बारेमें अच्छे-बुरेका खोद-विनोद ठीक हो सकता है। मगर जो चीज अनिश्चित है उसके भले-बुरेका क्या विचार ? उसीमेसे किसी एकको पहले ही चुन लेनेका क्या प्रसग ? और जीत-हारमे किसी एकको चुननेका तो यो भी प्रश्न नही उठता। हार तो कोई भी नही चाहता। फिर अर्जुन क्यो चाहने लगा ? यह तो परले दर्जेकी नादानी ही होगी। हाँ, उस सिलसिलेमे मरने-मारनेका प्रश्न और उसे चुनने या पसन्द करने न करनेकी बात जरूर उठती है। हमने उसे माना भी है। अर्जुनने वही बात "यानेव हत्वा"में कही भी है। श्लोकमे 'यद्वा' और 'यदिवा' शब्द भी जीतकी सदिग्धता हीको सूचित करते है। उनका

ऐसा ही अर्थ होता है। 'यदि' शब्द तो खामखा शककी सूचना करता है। उसीका साथी 'यद्वा' शब्द भी यहाँ यही काम करता है।

इस श्लोकमे तो अर्जुन साफ-साफ कहता है कि एक तो यही पता नही कि भिक्षावृत्ति ही हमारे लिये ठीक है, या मारकाटके बाद मिलनेवाला राजपाट। दूसरे, अगर हम राजपाटकी ही बात ठीक मान भी ले तो यह भी तो पता नही कि हमी जीतेगे या वही लोग। इसलिये यह तो "गुनाह बेलज्जत" सी ही बात लगती है। मारकाट भी करे और राजपाट भी न हाथ लगे, यह तो और भी बुरा होगा। यह भी नही कि लडनेमे अपने लोगोकी मारकाट न होगी। यहाँ तो साफ ही देखते है कि जिन्हे मारनेसे हटना चाहते है वही दुर्योधनादि ही सामने डँटे है। यह अर्थ इतना स्वाभाविक और मौजूँ है कि इसमे ननु नच करनेकी जगह रही नही जाती।

**कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसम्मूढचेताः।**
**यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मा त्वा प्रपन्नम् ॥७॥**

कुछ भी निश्चय न कर सकनेके फलस्वरूप मुझे कुछ सूझता ही नही और धर्मके निर्णयके बारेमे मेरी बुद्धि घपलेमे पड गई है। (इसीलिये) आपसे पूछता हूँ। मेरे लिये जो ठीक हो वही पक्का-पक्की कहिये। मैं आपका शिष्य हूँ। मुझ शरणमे आयेको—शरणागतको—सिखाइये—रास्ता बताइये।७।

यहाँ धर्मका अर्थ है कर्त्तव्य और वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य दोनोका ही वाचक है। अर्जुनका कहना यही है कि मै कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निश्चय कर सकता नही। मेरी अक्ल काम करती ही नही। वह चकरा उठी है। इसका कारण वह बताता है कार्पण्यरूपी दोष। कृपण शब्दसे कार्पण्य बनता है और इसका अर्थ है कृपणता। उसके जानते कृपणता ही वह दोष वा बुराई है जिसने बुद्धिको घपलेमे डाल दिया है। शराब या भाँगके

नशेमें जैसे दिमाग चकराता है वैसे ही यहाँ कृपणताके नशेसे बुद्धि चकरा गई है। यहाँ नशा और दोष एक ही चीज है। कृपण और कृपणता किसे कहते है इसके सम्बन्धमे बृहदारण्यक उपनिषदके तीसरे अध्यायके आठवें ब्राह्मणका दसवाँ मत्र इस तरह है—"यो वा एतदक्षर गार्ग्यविदित्वा-स्माल्लोकात्प्रैति स कृपणोऽथ य एतदक्षर गार्गिविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मण ।" इसका आशय यही है कि "गार्गि, इस अविनाशी आत्माको जाने बिना ही जो मर जाता है वही कृपण है, और जो इसे जानके मरता है वही ब्राह्मण है।"

गीताको जब उपनिषदका ही रूप मानते है तव तो कृपण और कृपणताके अर्थके सम्बन्धमें उपनिषदके उक्त वचनका सहारा लेना ही होगा। आमतौरसे कजूसके अर्थमे कृपण शब्द वोला जाता है। मगर वह मतलब तो यहाँ है नही। अर्जुनकी कजूसीका यहाँ सवाल ही है क्या ? उसे कुछ खर्चना तो है नही। यह भी नही कि युद्धमें शक्ति खर्चनेसे डरता हो। उसके सामने तो मरने-मारनेवाला सवाल चट्टानकी तरह खडा है। उसीको लेके स्वर्ग, नर्क और धर्मनाश, कुलनाशादिकी समस्याएँ उठ पडी है। फिर खर्चकी कजूसीकी क्या वात ? वह यह खुदबखुद कहता भी कैसे कि मै कजूसी कर रहा हूँ ? और अगर कजूसी होती तो फिर कृष्णका जवाब दूसरे ढगका क्यो होता ? वह तो आत्माकी अजरता, अमरता और अविनाशितासे ही शुरू करते है। इससे भी पता चलता है कि आत्माके यथार्थ स्वरूपके न जाननेको जो बृहदारण्यकमे कृपणताके नामसे पुकारा है उसीसे यहाँ अभिप्राय है। नही तो प्रश्न कुछ और उत्तर कुछ दूसरा ही हो जायगा न ? मर्ज दूसरा और दवा निरालीवाली बात जो हो जायगी। इसलिये कृपण शब्दका वास्तविक अर्थ तो यही है। कजूसके अर्थमें तो वह इसीलिये वोला जाता है कि वैसा आदमी भी अज्ञानी होता है। वह अपनी चीजका ठीक उपयोग या खर्च जानता नही।

इसीलिये तो मुनासिब मौकेपर ही उलटा खिंच जाता और काम बिगाड देता है जिसके फलस्वरूप दूसरे ढगसे कही ज्यादा खर्च हो जाता है। आत्माको ठीक-ठीक न जाननेवाले भी उलटा ही काम करते रहते है। इसीलिये अर्जुन जानना चाहता है कि आत्मतत्त्व क्या है, आत्माका असली रूप क्या है, बुरे-भले कर्मोका क्या रहस्य है, आदि बातें उसे अच्छी तरह समझा दी जायँ। ताकि उसके दिमागका अँधेरा दूर होके कर्त्तव्यपथ प्रशस्त हो सके। इसीलिये "उपहतस्वभाव"मे जो स्वभाव शब्द है और जिसका अर्थ पहले ही आत्माका असली रूप या हस्ती किया जा चुका है वह भी ठीक ही है। अज्ञानके चलते आत्माके स्वरूपका उपहत, विकृत या मरने-मारनेवाला मालूम होना ठीक ही है।

**न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।**
**अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम् ॥८॥**

क्योकि भूमडलका निष्कटक समृद्ध राजपाट और देवताओका आधिपत्य—इन्द्रका पद—मिल जानेपर भी मुझे तो (ऐसी चीज) नजर नही आ रही है जो इन्द्रियो(तक)को सुखा डालनेवाले मेरे इस शोकको दूर कर सके।८।

## सजय उवाच

**एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।**
**न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णी बभूव ह ॥९॥**

सजय कहने लगा—शत्रुको तपानेवाला अर्जुन हृषीकेश—कृष्ण—से इस तरह कहके और (उन्ही) गोविन्दसे (यह भी) कहके कि (हर्गिज) न लडूँगा, चुप्प हो गया।९।

**तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।**
**सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिद वचः ॥१०॥**

(इसपर), दोनो फौजोंके बीच (खडे) शोकाकुल अर्जुनसे कृष्ण (उसका) कुछ उपहास करते हुएसे कहने लगे।१०।

यहाँ यह जान लेना होगा कि अर्जुनकी इन आखिरी वातोंसे कृष्ण-को पता चल गया कि यह मर्ज बहुत गहरा है। उनने वखूबी समझ लिया कि उनका पहला खयाल कि अर्जुन सिर्फ माया-ममतामें पडके ही मानव स्वभाव सुलभ कमजोरियोके करते आगा-पीछा कर रहा है, गलत है। यदि यह बात होती तो पहली ही ललकारसे काम चल गया होता। मगर यहाँ तो बात ही दूसरी मालूम हुई। अर्जुन तो बहुत गहराईमें घुस चुका था। आमतौरसे धर्मशास्त्रोंके आदेशो और धर्मके अनुशासनोका अब उसपर तबतक असर नही हो सकता था जबतक उसकी असली कमजोरी दूर न कर दी जाय। जबतक उसे यह पता न लग जाय कि आत्मा अवि-नाशी है, वह किसीको मारती नही और न खुद मरती है, तबतक उसमें युद्धकी मुस्तैदी आ नही सकती।

असलमे जो साधारण समझके या बिना समझवाले लोग होते है उन्हें तो पशुओकी तरह नीति एव धर्मशास्त्रोंके वचनोकी लाठीसे ही हाँक ले जाते है और जहाँ चाहे भिडा दे सकते है। उनके लिये यही वात काफी होती है। मगर जो आगे बढ गया और भले-बुरेका विचार स्वतत्र रूपसे खुद ही कर सकता है उसके सामने ये आदेश और वचन बेकार होते है। इतना ही नही। गुरुजनोकी आज्ञा भी उसपर कोई असर डाल नही सकती, जबतक उसके दिमागमे वह बात जँच न जाय। यही कारण है कि कृष्ण जैसे महापुरुषकी भी वातका प्रभाव अर्जुनपर जरा भी न पड सका और वह टससे मस न हो सका।

इसीलिये कृष्णको भी गहराईमें जाना पडा। इस प्रकार जिस सूक्ष्म एव दार्शनिक दिमागसे वह दलीलें कर रहा था उसीका आश्रय लेके उसे निरुत्तर करना और मनाना पडा। वह बारबार भीष्म, द्रोण आदिके

मरने और अपने मारनेकी बाते करता था। इसलिये लाचार होके कृष्ण-को सबसे पहले इस मरने-मारनेका रहस्य बताना एव भडाफोड करना ही पडा। उनने साफ ही देखा कि इसे तो आत्माके ककहरेका भी ज्ञान नही है—यह जानता ही नही कि वह क्या चीज है। यह तो समझता है कि सचमुच वह मरने-मारनेवाली कोई चीज है। यही कारण है कि वह धर्म-अधर्म, हिंसा-अहिंसा, पुण्य-पाप और स्वर्ग-नर्कका ताल्लुक आत्मासे ही जोडके हिचकता है। क्योकि युद्धमे जब आत्माने हिंसाकी तो पाप-भागी होके खामखा नर्क जायगी ही। इसीलिये वह हिसासे बचना चाहता है। फलत कुलसहारके भयकर दोषोसे उसकी आत्मा कॉपती है। क्योकि वह उसमे अपनी और दूसरोकी भी—सबोंकी—अधोगति देखता है।

इस प्रकार आत्माके वास्तविक स्वरूपको जाने बिना ही यह सारी बला है, यह कृष्णको साफ नजर आया। उनने देख लिया कि उस स्वरूपके जानते ही यह सारा पर्दा कुहासेकी तरह फट जायगा। इसीलिये उनने आत्माके ही स्वरूपको लेके गीतोपदेश आरभ किया। यदि आत्मा अकर्त्ता और अविनाशी सिद्ध हो जाय तो फिर स्वर्ग-नर्क और पाप-पुण्यका सवाल उठता ही कहाँ है? इसलिये पहले जडको ही साफ करना उनने उचित समझा और जरूरी भी। क्योकि आगे चलके जो कर्मो और कर्मयोगका विवेचन उनने किया है वह भी आत्मज्ञानके बिना नही समझा जा सकता और न वह योग ही हासिल हो सकता है। यह बात पहले विस्तारके साथ बताई जा चुकी है। कर्मयोगका भी मूलाधार आत्मविवेक ही माना गया है। इसीलिये आत्मविवेक पहले और कर्मका विवेक पीछे इसी दूसरे ही अध्यायमे आया है। शेष अध्यायोमे तो उसीका प्रकारान्तरसे स्वतत्र रूपसे स्पष्टीकरण किया जाकर एक-एक चीजपर काफी प्रकाश डाला गया है।

यहाँ जो प्रहास या उपहासकी बात कही गई है उसका भी मतलब

समझ लेना होगा। 'इव' शब्द देकर पूरा प्रहास रोका गया है। कहनेका मतलब यह हो जाता है कि ऐसा मालूम पडता था कि कृष्ण अर्जुनका उपहास कर रहे हैं—उसकी मखौल उडा रहे हैं। अगले श्लोकमें उनके कहनेका जो तरीका है उससे भी ऐसा ही प्रतीत होता है। वह कहते हैं कि बाते तो बडी अक्लकी करते हो। मगर अफसोस ऐसे पदार्थोका करते हो जिनका करना चाहिये ही नही। यह एक तरहका परिहास ही तो है। यदि किसी विपक्षीसे बातें करनी हो तो यही बात परिहास हो जायगी। मगर अर्जुन तो शिष्य बनके शरणमे आ चुका है। वह इहलोक तथा परलोकके सुखोंसे पूरा विरागी भी हो चुका है, जिससे साफ हो जाता है कि वह आत्मज्ञानका पूर्ण अधिकारी बन चुका है। भला ऐसे आदमीका उपहास कृष्ण जैसा विवेकी महापुरुष कैसे कर सकता है ? यह तो उनकी महत्ताके विपरीत अत्यन्त छोटी बात और विवेकशून्यता हो जायगी। उपहास तो प्रतिवादी, प्रतिपक्षी या शत्रुका करते हैं, या उसका जो समानताका दावा करे। जो शरणागत हो, शिष्य हो, ससार और स्वर्गादिके सुखोंसे विरागी हो, उन्हें कुछ न समझता हो और ज्ञानप्राप्तिकी ही जिसे भूख हो उसका उपहास कैसा ? इसीलिये कह दिया है कि कृष्ण अर्जुनका उपहास करते जैसे मालूम हुए। जिस तरह उनने उपदेश देना शुरू किया उसे बाहरसे देखके सारी बातोको न जाननेवाला कोई भी आदमी उपहास ही मान सकता है। यही वैसा कहनेका आशय है।

असल बात यह है कि उस समय कृष्णकी भावभगी अजीब और मनोवृत्ति निराली थी। उनकी विलक्षण दशा थी। वैसे सकटके समय एकाएक अर्जुनकी वैसी हालत देखके, जिसका उन्हे या किसीको जरासा आभास भी पहले न मिला था, उन्हें आश्चर्यसे दग हो जाना पडा कि यह क्या हो गया ! इस लडाईको लेके वह काफी दौडे-धूपे। परीशान भी पूरे हो चुके थे। इसीके करते उनके सगे भाई बलराम एक तरहसे

विरागी भी हो गये थे। दुर्योधनके साथ न सिर्फ उनकी, बल्कि औरोकी भी, काफी तनातनी हो चुकी थी और मामला बहुत दूरतक पहुँच चुका था। ऐसी दशामे जिस चीजकी जरा भी आशा-आशका न थी वही हो जानेसे एक तो उन्हे महान् आश्चर्य हुआ। अर्जुनकी ये अचानक बाते उन्हे लडकपन जैसी जँची भी। आखिर वह बच्चा तो था नही। उसकी तर्क-दलीलोसे ही साफ झलकता है कि काफी समझदार और दूरदेश था। फिर उसने मैदानेजगमें आनेके जरा भी पहले इसका क्यो न इशारा तक किया ? आखिर जो बातें वह वहाँ कह गया वह कोई नई तो थी नही। उन्हीके लिये तो वर्षोसे सारी तैयारी हो रही थी। इसीलिये अर्जुनका लडकपन समझके उन्हे कुछ क्रोध भी आया। हँसी भी आई ! साथ ही, उन्हे एकाएक भारी अन्देशा भी हो गया कि कही सचमुच सारा गुड गोबर ही न हो जाय। क्योकि ऐसी आकस्मिक घटनाओके चलते जो न हो जाय उसीमे आश्चर्य हो सकता है। अर्जुनका वह बच्चो जैसा रोना-धोना, उसकी वह परीशानी और बेचैनी, उसकी वह निराली मनोवृत्ति वगैरह देखके उन्हे दया भी हो आई। उनका बहुत पुराना प्रेमी तो वह था ही और उसीकी यह दशा ! इसके सिवाय जब इतनी गभीर बातोका उपदेश करना था और बारीकियोकी तहमे अच्छी तरह घुसना एव उसे भी घुसाना था, तो गभीरताका होना भी जरूरी था।

इस प्रकार उनमें आश्चर्य, क्रोध, हँसी, दया, अन्देशा और गभीरता आदि अनेक बातो तथा भावनाओका एकही साथ जमघट हो गया। उन्हीके साथ आगे-पीछेकी जानें कितनी ही घटनाओकी स्मृति भी आ धमकी। ऐसे मौकेपर तो स्वभावत हजारो बाते याद आई जाती है। ऐसी दशामे कृष्णका उस समयका, जब उनने गीतोपदेश शुरू किया, स्वरूप, चेहरा और भावभगी—ये सभी—निराले ढगके थे, अजीब थे, अलौकिक थे। आधे दर्जनसे ज्यादा खयालो और भावनाओका, जो

प्राय एक साथ कभी पाई जाती ही नही और परस्पर विरोधी सी है, एक साथ सम्मिलन एक अलौकिक चीज थी, जिसका ठीक-ठीक वर्णन किया जा सकता नही। इसीलिये यहाँ यद्यपि "परिहास करते हुएकी तरह" कहके ही खत्म किया। तथापि अन्तमे अठारहवें अध्यायके ७७वे श्लोकमें तो उस रूपको—कृष्णकी उस दशा और भावभगीको—अत्यन्त अद्भुत, अत्यन्त निराला, न भूतो न भविष्यति, कह दिया है। वहाँ सजय साफ ही कहता है कि "कृष्णके उस अद्भुत रूपको बार-बार बखूबी याद करके मुझे महान् आश्चर्य हो रहा है—मै आश्चर्यमें डूब रहा हूँ और रह-रहके मुझमे आनन्दका प्रवाह भी बह रहा है—"तच्च सस्मृत्य सस्मृत्य रूपमत्यद्भुत हरे । विस्मयोमे महान् राजन् हृष्यामि च पुन पुन"। सचमुच ही वह अकथनीय, अनिर्वचनीय आकृति थी।

कुछ लोगोने 'इव' देखकर ही प्रहासका अर्थ मुस्कुराहट करके सन्तोष किया है। मगर यह तो प्रहास शब्दके साथ ज्यादती है। प्रहास, परिहास और अवहास ये शब्द प्राय एक ही मानीमे आते है। अवहासमे कुछ अपमानकी बात भी साफ मालूम होती है जो शेष दोमे पाई नही जाती। किन्तु अर्थात् आती है। केवल मुस्कुरानेका सवाल तो वहाँ था नही। वहाँ तो पेचीदा पहेली खडी थी जिसे सुलझाना था। इसीलिये तो सारी दलीले दी गई है। केवल मुस्कुराहटकी बात कहनेपर सारी परिस्थितिका अनादर करना हो जायगा।

अब रही एक ही बात। आत्माको अविनाशी, अजन्मा और अकर्त्ता सिद्ध करनेके पर्व यह प्रश्न हो सकता है कि जब भीष्मादिका मरना-मारना सामने है तो देखना चाहिये कि भीष्मादि कहनेसे कौनसी चीज समझी जाती है। भीष्म शब्दसे दोई वस्तुओका बोध हो सकता है—या तो शरीरका या उसमें रहनेवाली आत्माका। इन दोनोको ही मानके कृष्णने उत्तर देना उचित समझा और दिया भी है। मगर पहले आत्माकी

ही बात उठाके पीछे देहकी इसीलिये उठाई है कि आमतौरसे लोग भीष्म आदि शब्दोसे आत्माको ही समझते है, न कि देहको। अर्जुनने भी स्वर्ग, नर्क आदिकी बाते उठाके खुद मान लिया है कि भीष्मका अर्थ है आत्मा। क्योकि शरीर तो यही रह जाता, सड-गल या जल जाता है। वह तो स्वर्ग या नर्कमे जाता है नही। वहाँ जानेवाली चीज तो शरीरसे जुदा आत्मा ही है। इसीलिये उसी आत्माकी बात लेके पहले कृष्णने कहना शुरू किया। मगर जो लोग भीष्मादि कहनेसे उनके भौतिक शरीरो या इन्द्रियादिको ही समझते है उन्हे भी मुँहतोड उत्तर देना ही चाहिये, इसीलिये आगे "मात्रास्पर्शा" (२।१४) "अन्तवन्त इमे" (२।१८) तथा "अथ चैन" (२।२६)मे उनकी बात भी आई है। इसीलिये पहले—

श्रीभगवानुवाच

अशोच्यानन्वशोचस्त्व प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पंडिताः ॥११॥

श्रीभगवानने कहा—(यह अजीब बात है कि एक ओर तो) तू उन्हीकी चिन्ता करता है जिनकी करना न चाहिये और (दूसरी ओर) अक्लकी बाते बोलता है! (क्योकि) पडित लोग (तो) मरे-जियोकी चिन्ता करते ही नही। (शोक या चिन्ताके मानी है यहाँ पर्वा करना)।११।

न त्वेवाहं जातु नास न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥१२॥

ऐसा तो हो सकता नही कि हम पहले कभी न भी थे, तुम्ही न थे (या) ये राजे ही न थे और यह भी नही कि, इसके बाद भी हम सभी न होगे।१२।

आत्माको अविनाशी सिद्ध करनेमे कृष्णकी जो दलील यहाँ है उसका आशय यही है कि सभी आत्माओके तीन विभाग हो सकते है—कहने-वाली (कृष्णकी), सुननेवाली (अर्जुनकी) और शेष उन सबोकी जो या तो वहाँ लडनेको मौजूद थे या और जगह थे। लेकिन मरने-मारनेका प्रसग होनेके कारण ही और जगह वालोका नाम न लेके सिर्फ रणक्षेत्रमें मौजूद तीन तरहके लोगोकी ओर इशारा किया है। इसीलिये 'ये राजे'—'इमे जनाधिपा'—कहनेका अभिप्राय केवल राजा लोगोसे ही न होके जो वहाँ मौजूद थे सभीसे है। यह ठीक है कि कुछको छोड सभी राजे या क्षत्रिय ही थे—उन्हीकी प्रधानता थी। इसीलिये सबोको राजे—"जनाधिपा" कह दिया। जैसे जहाँ ब्राह्मण अधिक हो उस गाँवको ब्राह्मणोका गाँव कह देते है। क्योकि आखिर कुछ और लोग तो गाँवमें खामखा होगे। नही तो काम कैसे चलेगा?

जो कुछ तर्क युक्ति दी है उससे यह साफ हो जाता है कि जब सभी आत्मायें मौजूद ही है तो वर्त्तमानके लिये तो कोई बात हुई नही। रह गई भूत और भविष्यकी बात। सो तो साफ ही कह दिया है कि न तो पहले ही ऐसा कोई समय था जब हम सभी मौजूद न थे और न आगे ही ऐसा वक्त होगा जब हम न रहें। नतीजा यह हुआ कि जो पदार्थ सभी समयोमें रहे वह तो नित्य एव अविनाशी ही हुआ। नित्य या अविनाशीका लक्षण ही यही है कि जो तीनो कालोमें—सदा—रहे। फिर आत्माके मरनेका सवाल आता ही कहाँसे है? मरनेका अर्थ ही है न रहना, और आत्मा को तो आगे भी सदा रहना ही है।

यदि किसीका खयाल हो कि पहलेवाली आत्मा दूसरी थी, वर्त्तमान-वाली और ही है और आगे तीसरी ही होगी। भूत, वर्त्तमान, भविष्यमें एक ही कैसे रहेगी? भूत, वर्त्तमान और भविष्यकी शरीरे तो निश्चय ही

तीन है। फिर उनमे रहनेवाली आत्माये भी तीन क्यो न हो ? तो उसका उत्तर यह है कि—

देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति ॥१३॥

जिस तरह आत्मा या जीवके इस शरीरकी लडकपन, जवानी, बुढापा (ये तीन दशाये होती हैं), ठीक उसी तरह दूसरी देहो—जन्मो—की प्राप्ति भी है। (इसलिये) उस बातमे समझदार (कभी) धोकेमे नही पडता है।१३।

इसके सम्बन्धमें ज्यादा बाते पहले ही कही जा चुकी है और यह बात खूब साफ की जा चुकी है। कहने का निचोड यही है कि जिस प्रकार इस जन्ममे बालपन, बुढापा और जवानीके तीन विभिन्न एव भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य कालवर्त्ती शरीरोमे एक ही आत्मा सभी मानते है, जरा भी शक नही करते और न धोकेमे पडते हैं। ठीक उसी प्रकार तीन या ज्यादा जन्मोकी भूत, वर्त्तमान और भावी देहोमे भी एक ही आत्मा क्यो न मानी जाय ? तर्क-युक्ति तो दोनो जगह एक ही है। एक शरीरकी तीनो अवस्थाये भूत, वर्त्तमान और भविष्यकी तो हुई। बाल्यावस्थाकी अपेक्षा यद्यपि जवानी एव बुढापा भविष्यकी चीजे है। फिर भी बाल्यके गुजरने पर जवानी ही वर्त्तमान होती है, बालपन भूत और बुढापा भावी। श्लोकमे तीन अवस्थाये जो शरीरकी दिखाई गई है वह एक दूसरेसे बिल्कुल ही जुदी है और उन्हीमे सारा शरीर गुजर जाता है। इन तीन अवस्थाओंसे यहाँ कोई खास मतलब यह नही है कि कितने वर्ष तक कौनसी रहती है। यहाँ बालकी खाल खीचना है नही।

इस प्रकार तर्क दलीलोसे आत्माकी अमरता सिद्ध तो हो गई। मगर ससारका काम सिर्फ तर्क दलीलोसे ही तो नही चलता। यहाँ तो कुछ ठोस बाते है जिनसे इनकार किया जा सकता है नही, और उन्हीके अनुसार

यह बराबर देखा जाता है कि प्रियजनोंके सयोग-वियोगसे सुख-दु ख होते ही है। चाहे आत्मा अमर हो या उससे भी वढके हो। मगर शरीरान्त होने पर सगे-सम्वन्धियोको अपार कष्ट होता ही है, और यही वात इस युद्धके चलते विस्तृत रूपमे होनेवाली है। फिर क्यो न इससे किनारा-कशी की जाय ? भीष्मादि कहनेसे शरीर भी तो लिये ही जाते है और उनका नाश होता ही है। इसी वातका उत्तर यो देते है—

**मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदु·खदा.।**
**आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ॥१४॥**

हे कौन्तेय, भौतिक पदार्थोंके सम्वन्ध सर्दी-गर्मीकी तरह कभी सुख और कभी दु ख देते रहते है (जरूर)। मगर यह ठहरे तो आने जानेवाले ही और इसीलिये चन्दरोजा ही। (अतएव) इन्हें तो वर्दाश्त करना ही होगा हे भारत! १४।

मात्रा स्पर्श ही गीता (५।२१-२२)मे वाह्य स्पर्श कहा है। स्पर्श नाम है सम्वन्धका। वाह्य कहते है भौतिकको। वही देखनेसे यह साफ हो जाता है।

**य हि न व्यथयन्त्येते पुरुष पुरुषर्षभ।**
**समदु.खसुख धीर सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥१५॥**

क्योकि हे पुरुषश्रेष्ठ, सुख-दु खमे एक रस रहनेवाले जिस पुरुषको ये पदार्थ उद्विग्न नही कर पाते वही अमृतत्व—मुक्ति—प्राप्त करता है।१५।

'सम दु ख-सुख'का यह मतलव नही कि दोनोको एक बना दे। ऐसा तो होना असभव है। दोनो दो चीजें है। फिर एक कैसे होगी ? यह भी न कि दु ख या सुख जरा भी मालूम ही न हो। चेतन पुरुषके लिये यह भी अनहोनी चीज है। किन्तु जैसे पानीकी लकीर वनते ही वनते मिट जाती है ठीक वैसे ही दिल-दिमाग पर जव ये दोनो नाम मात्रका ही असर करें तभी मनुष्य सम दु ख-सुख कहा जाता है। साराश यह कि दिल-दिमागकी

गभीरता (serenity or balance) को ये बिगाड न सके। यही गीताका साम्यवाद है जो अभी पहली बार आया है।

इस प्रकार आत्माको अविनाशी या नित्य और शरीरादिको अनित्य तो बता दिया। इससे काम भी चल गया। मगर कौन-सा पदार्थ नित्य और कौन-सा अनित्य है इसे कैसे जाने ? हरेक पदार्थको गिन-गिनके देखना और समझना तो असभव है। क्योकि पदार्थ ठहरे अनन्त। फिर सबोको जाना कैसे जाय ? और अगर किसीको न जान सके तो उसीको लेकर भ्रम और गडबड हो सकती है कि यही आत्मा तो नही है ? इस तरह अनिश्चयका वायुमडल बना रह सकता है। फलत पूर्वके प्रतिपादनसे पूरा काम चलता दीखता नही। इसीलिये एक तो नित्य और अनित्य या सत्य और मिथ्याके बारे मे कोई दार्शनिक नियम, लक्षण तथा परिभाषा चाहिये। ताकि बेखटके पहचान हो सके। दूसरे, आत्माकी पहचान भी पक्की होनी चाहिये कि वह कौन है। नही तो शायद घपला हो जाय। ऐसे मामलेमे जितनी ही सफाई हो जाय उतना ही अच्छा।

एक बात और भी है। ऐसी शका कर सकते है कि यह क्यो न माना जाय कि इस शरीरमे जो आत्मा है उसका अस्तित्व इससे पहले न था ? वह अस्तित्व तो पहले-पहल इसी शरीरमे ही आया है, हुआ है। इसी तरह यह भी क्यो न मान लिया जाय कि इसी शरीरके अन्तके साथ आत्माका भी अन्त हो जाता है और आगे उसे पा नही सकते ? यह भी प्रश्न हो सकता है। अतएव इसका पूरा-पूरा समाधान हो जाना जरूरी है। आगेके १६वेंसे लेकर २५वे श्लोक तक यही बात समझाई गई है। उसमे भी पहले शुरू किया है इस आखिरी शकाको ही लेकर कि इस शरीरमे जो आत्मा है वह पहले न थी।

**नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।**
**उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभि. ॥१६॥**

जो पदार्थ पहले न हो उसका अस्तित्व होई नही सकता—वह बनी नही सकता, (और) जो मौजूद है—सत्तावाला है—उसका नाश या खात्मा भी नही हो सकता। इन दोनो बातोका निर्णय तत्त्वदर्शी लोगोने (ही) कर दिया है।१६।

यहाँ अन्त शब्द तत्त्वदर्शी शब्दके साथ होनेसे निश्चय या निर्णयके ही अर्थमे आया है। क्योकि तत्त्वदर्शी तो दार्शनिक होते है। जिस बातका आखिरी फैसला वाद-विवादके बाद कर लेते है उसे ही सिद्धान्त, राद्धान्त तथा कृतान्त भी कहते है। इन तीनो शब्दोका एक ही अर्थ है। वह यह है कि जिन पदार्थोंके बारेमे अन्त या अन्तिम बात हो चुकी, फैसला हो चुका वही सिद्धान्त है। "साख्ये कृतान्ते" (१८।१३)मे कृतान्त शब्द और उसके अन्त शब्दका यही अर्थ है।

इस तरह सिद्ध हो जाता है कि यदि आत्मा नामका कोई पदार्थ पहले न होता तो उसका अस्तित्व इस शरीरमें होता ही नही। इसी तरह जब यहाँ वह है तो आगे भी रहेगा। क्योकि जो चीज है वह खत्म हो नही सकती। इसलिये आत्मा अनित्य है। उसकी पहचान यो है—

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिद ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति ॥१७॥

अविनाशी तो वही वस्तु—आत्मवस्तु—जानो जो इस समूचे जगत्को फैलाती, बनाती है और जो इसमे व्याप्त है—इसकी रगरगमे घुसी है। इस अविनाशी—निर्विकार—का नाश कोई भी कर नही सकता।१७।

जो सभी पदार्थोका स्व है, निजी रूप है, अपना रूप है, स्वरूप है वही तो उसकी आत्मा है, सबकी आत्मा है। यह स्व कहाँ नही है? यह तो सभी जगह है, सबोमे है। आखिर अपना तो सबोका कुछ न कुछ होता ही है। इसीलिये वह आत्मा अविनाशी है। क्योकि स्व तो रहेगा ही। और नही, तो जो पदार्थ नष्ट होगा उसके नाशकी हस्ती, सत्ता तो

रहेगी ही और वह भी तो स्व है। कभी पदार्थके रूपमे वह स्व, वह आत्मा नजर आती है तो कभी पदार्थके नाशके रूपमे। कभी विधि रूपमे (positively) तो कभी निषेध रूपमे (negatively)। इसलिये तो उसे अविनाशी और नित्य मानना ही होगा। ऐसा तो होई नही सकता कि कभी यह स्व, यह आत्मा रहेई न। क्योकि जब कुछ न होगा, तो और नही तो न होनेका स्व या अस्तित्व तो रहेगा ही। कमसे कम उसे तो उस समय मानना ही होगा। नही तो यह कहेगे कैसे कि कुछ नही रह गया है? इसीलिये उसे नाशकी आत्मा मानके नित्य और अविनाशी मानते है। जब विधि और निषेध उसीके रूप है और सभी पदार्थ भी उसीके है तो यह भी ठीक ही है कि उसीने सबका प्रसार किया है, जगत्का यह ताना बाना फैलाया है।

मगर शरीर, घडा, कपडा, रोटी, जमीन वगैरहकी क्या हालत है? ये तो सर्वत्र फैले है नही। शरीरमे कपडेका, कपडेमे शरीरका पता कहाँ है? दोनोमे घडेका और घडेमे भी दोनोकी सत्ता है कहाँ? इसी प्रकार सभी पदार्थोको एक एक करके देख सकते है। यहाँ तो अपनी अपनी डफली बज रही है। किसीका किसीसे ताल्लुक नही है, नाता-रिश्ता हई नही। सभी अपने ही तक सीमित है। यह तो घोर विभिन्नता है, अजीब जुदाई है, निराली फूट है। यह अनोखा गृहयुद्ध (civil war) है, भयकर गृहकलह है। यही तो वास्तविक कौरव-पाडवका महाभारत है। यहाँ कोई किसीको पूछता नही। फलत सभी आपसमे एक दूसरेसे टकराके खत्म हो जाते है। कभी घडेसे टकराके शरीर खत्म होता है, तो कभी शरीरसे टकराके घडा और दोनोसे टकराके कपडा। यही हालत सभी पदार्थोकी है। ठीक ही है। मेलमे, ऐक्यमे जीवन है, जिन्दगी है, सृष्टि है। परमाणुओका परस्पर या प्रकृतिका पुरुषसे सयोग होनेसे ही, मेल होनेसे ही तो सृष्टि होती है। विपरीत इसके उनकी जुदाई

या पार्थक्य होनेसे ही प्रलय होती है, विनाश होता है। जब गुण आपसमें मिलते है तभी सृष्टि होती है और ज्योही तन गये कि प्रलय आ धमकी। यही बात जगत्के सभी पदार्थोंकी है। मगर इन सबोंके भीतर मालिक बनके स्व बैठा है, आत्मा मौजूद है और इन बच्चोके घरौदोंके बनने-बिगडनेका तमाशा देख रही है। वह निरन्तर न रहे तो आखिर यह तमाशा देखे कौन ? यही बात इस तरह कहते है—

**अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।**
**अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत ॥१८॥**

इन शरीरोके मालिक अविनाशी तथा अचिन्त्य (आत्मा)के ये शरीर तो विनाशी ही कहे गये है—माने गये है—। इसलिये युद्ध करो हे अर्जुन ! १८।

जब इन शरीरोका नाश होना ही है तो फिर युद्धमे आनाकानी क्यो ? ये शरीर अगर लडाईमे खत्म न हुए तो कही और ही जगह दूसरी ही चोट खाके या बीमारीसे ही खत्म होगे ही। और नही तो बिजली गिरने, पानीमे डूबने या हिसक जानवरोंके आक्रमणसे ही खत्म होगे। तब हर्ज ही क्या कि यही रणागणमे खत्म हो ? फर्क इतना ही है कि यहा "समर मरण अरु सुरसरि तीरा। राम काज क्षणभग शरीरा।" है। यहाँ मरनेसे यश है, शान है, कर्त्तव्य पालनका सन्तोष है, मनस्तुष्टि है और अन्तमे सद्गति है। मगर और जगह दूसरी तरह मरनेमें यह बात नही होनेसे जबर्दस्त घाटा है। इसलिये जरूर लडो।

आत्माको जो अप्रमेय कहा है और जिसका अर्थ है कि बुद्धि या दिमाग भी जिसे पकड नही सकता, जो उसकी भी पहुँचके बाहरकी चीज है, उसका मतलब साफ है। यदि वह किसीकी पकड या कब्जेमें आ जाय तो एक तो उसका स्वातत्र्य जाता रहे। दूसरे पराधीन होने पर वह जिसके अधीन होगी उसके हाथो उसका सब कुछ किया जा सकता है, यहाँ तक कि खात्मा

भी। दिमाग या वुद्धि आदि भी तो शरीर आदिकी तरह भौतिक पदार्थ ही ठहरे, जिनकी अपनी अपनी खिचडी अलग पकती रहती है। इसीलिये उनका खात्मा भी होता है। और अगर आत्मा भी उनकी मातहतीमे आ जाय तो वह कैसे बच पायेगी ? तब तो उसकी खैरियत न होगी। लेकिन यहाँ तो बात ही दूसरी है। वुद्धि भले ही चली जाय, खत्म हो जाय। मगर उसके स्वको निषेध रूपमे रहना ही है और वही स्व है आत्मा। फिर आत्मा वुद्धिके पजेमे कैसे रहे ? वह तो साफ ही उसकी पहुँचसे वाहर है। यही कारण है कि उसके बारेमे तरह-तरहके खयाल होते है। कोई उसे मरणशील मानता है, तो कोई उसे मारनेवाली ही कहता है। कोई नित्य मानता है, तो कोई अनित्य। जब वुद्धि ठोकरें खाके वहाँ तक पहुँची नही सकती, तो आखिर और होई क्या सकता है ? जब वहाँ तक वुद्धि पहुँचती ही नही तो उसे मारने मरनेवाली कहना केवल नादानी है, उलटी बात है। क्योकि इससे तो ऐसा हो जाता है कि बुद्धिने उसे पहचान लिया है, उसकी हकीकत जान ली है, वह उस तक पहुँच चुकी है। मारने मरनेकी बात तो शरीरादिमे ही है और यह है आपसी टक्कर, जैसा कि अभी कहा है। आत्मामे यह बाते मानना कोरा अज्ञान है, मूर्खता है। यही बात आगे यो लिखी है—

**य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।**
**उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ॥१९॥**

(इसलिये) जो इस आत्माको मारनेवाली मानता है और जो इसे मरनेवाली समझता है उन दोनो ही को असलियत मालूम नही है। क्योकि यह तो न मारनेवाली है (और) न मरनेवाली ।१९।

**न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।**
**अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२०॥**

(क्योकि) यह (आत्म वस्तु) न तो कभी जनमती है और न मरती है

(और यह भी इसीलिये कि) यह पहले न रहके पीछे होती जो नही और होके उसके वाद नही रहती भी नही । इसीलिये यह जन्मरहित, नित्य--कालसे जो घिरी न हो--, हमेशा रहनेवाली और प्राचीन (से भी प्राचीन) चीज है (जो) शरीर नष्ट होने पर भी नष्ट नही होती ।२०।

इसमे एकाध वाते कुछ समझनेकी है, हालाँकि वह नई नही है। जो वात "नासतो विद्यते"में कही जा चुकी है वही यहाँ दूसरे शब्दोमे कही गई है । श्लोकके पूर्वार्द्धके आधेमें आत्माके जनमने-मरनेका निषेध है । शेष आधेमे उसका कारण दिया गया है । जन्म लेने का मतलव ही है पहले न रहके पीछे होना या अस्तित्वमें आना । परन्तु आत्मामें यह बात नही है । वह तो पहले भी थी ही । फिर उसका जन्म हो कैसे ? इसी तरह मरनेके मानी है कभी रहके बादमे न रहना । मगर आत्माम‍े तो यह भी वात नही है । उसके कभी भी न रहनेका तो सवाल ही नही है। तब उसका मरना कैसे सभव है ?

आत्माको बुद्धि पकड तो सकती नही । फिर भी उधर जानेकी कोशिश करती रहती है । उसके लिये आत्मा तक पहुँचनेकी सीढी यही है कि जो चीजे उसकी पकडमें आती जायँ उन्हें छाँटती चली जाय। इसीको उपनिषदोमे 'नेतिनेति'की रीति या निषेध प्रक्रिया कहा है। इस तरह सब भौतिक पदार्थोंको छाँटते-छाँटते जो सबोका मूलाधार बच रहेगा आत्मा वही पदार्थ होगा । क्योकि निराधार तो कोई चीज होती नही। इस श्लोकके उत्तरार्द्धमे यही निषेधवाली रीतिका अनुसरण है । इसीलिये अजका अर्थ है जन्मरहित या जन्म लेनेवालोंसे निराला । नित्यका अर्थ है जो समयसे बँधा न हो । अनित्य पदार्थोंको समय घेरे रहता है, वह समयके ही पेटमें, उसके ही भीतर रहते है । मगर आत्माके बारेमें यह वात नही है । नित्य शब्द यद्यपि निषेध रूपमें मालूम नही होता, तथापि ऐसा ही अर्थ करना ही होगा । शाश्वतका भी यही अर्थ है ।

जब समयसे घिरा नही है तब उसे हमेशा रहनेवाला कहनेके मानी क्या है ? इसका सीधा अर्थ है कि वह समूचे समयसे घिरा है। मगर यह बात पहले कथनके विरुद्ध हो जाती है। जो समयसे घिरा न हो वही समूचे समयसे घिरा हो, यह कुछ अजीब-सी बात हो जाती है। बात दरअसल यह है कि हरेक भौतिक पदार्थ कुछ न कुछ समयसे घिरे रहते है—किसी वक्त जनमके कभी खत्म हो जाते हैं। यह भी बात है कि समय तो उनके जन्मके पहले भी था और खत्म होनेके बाद भी रहता ही है। इसीलिये प्रत्येक भौतिक पदार्थोंकी यही बात है कि किसी न किसी समयके ही भीतर रहते है। समूचे समयके भीतर कोई भी नही रहता है। मगर आत्मा तो उनसे भिन्न है। क्योकि निषेधकी बात कह चुके है। इसीलिये उसे समूचे समयसे घिरी वस्तु या हमेशा रहनेवाली कह देते है। नकि सचमुच समयका अधिकार उस पर है। इसीलिये शाश्वत शब्द भी निषेधात्मक ही है। यही हालत पुराणकी भी समझिये। पीछे जितने पदार्थ मिलते जाते है सबोका निषेध करते है कि यह आत्मा नही है, यह आत्मा नही है। इस तरह पीछे बढते जाने पर जो पुरानीसे भी पुरानी चीजे मिले उनका भी निषेध करनेके बाद अर्थत यह कह दिया जाता है कि वह तो पुरानो से भी पुरानी है। जब जन्म होता ही नही तो खामखा उसे पुरानेसे भी पुरानी कहना ही पडता है।

इस तरह अज और पुराण शब्द पीछेकी तरफ जाके आत्माको ढूँढते और उसकी ओर इशारा करते है। उत्तरार्द्धका 'न हन्यते' आगेकी तरफ जाके ढूँढता और इशारा करता है और नित्य एव शाश्वत शब्द बीचमे रहके वही काम करते हं। जैसे आवश्यकता पडने पर यदि कोई चूहा किसीको बिल्लीका परिचय कराना चाहे तो बिल्लीके निकट तो वह जा सकता नही, किन्तु दूरसे ही इशारा करता है कि देखा वह है, वह, या जैसे उल्लूपक्षी सूर्यकी ओर इशारा करे; ठीक उसी तरह बुद्धि आत्माकी ओर

सिर्फ इशारा करती है कि देखो वह है, वह । वह उसे ठीक-ठीक बता नही सकती ।

**वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम् ।**
**कथ स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम् ॥२१॥**

(इसलिये) हे पार्थ, जो पुरुष—मर्दाना—इस आत्माको जन्मरहित, विकार शून्य, अविनाशी और कालके घेरेसे बाहर जानता है—मानता है, समझता है, अनुभव करता है—वह (भला) किसे मरवाता (और) किसे मारता है ? २१।

अब यह प्रश्न होता है कि तो मरना, मारना आखिर कहते है किस चीज को ? दुनियामें मरने मारने जैसी चीज नही है, यह तो कही नही सकते है । यह तो आये दिनकी चीज है, हमारे रोजके व्यवहारकी बात है । हम हमेशा ही यह मरा, वह मरा, इसने मारा, उसने मारा, फलाँने मरवाया, की बातें करते ही रहते है । सभी लोग ऐसी ही बातें करते है । यह तो कही नही सकते कि सबके सब पागल है । इसलिये इतना तो मानना ही होगा कि यह कोई चीज है । अब रही बात कि वह क्या चीज है ? और अगर यह कुछ भी है तो फिर उसके लिये चिन्ता-फिक्र करना मुनासिब ही है । फिर भी इसकी चिन्ता न करके खुशीकी चीज इसे कैसे मानें ? इसका उत्तर इस तरह देते है—

**वासासि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।**
**तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि सयाति नवानि देही ॥२२॥**

जिस तरह पुराने कपडोको (खुशी-खुशी) छोडके (कोई भी कपडा पहने) आदमी दूसरे नये कपडे पहनता है । ठीक उसी तरह देह धारण करनेवाली—देही—आत्मा पुराने शरीरोको छोडके दूसरे नये शरीरोमे पहुँचती है—उन्हे स्वीकार करती है ।२२।

यहाँ कई बातोका खयाल करना होगा । पहली बात तो यह कि

जन्म-मरण नये-पुराने कपडे बदलने जैसी ही बातें हैं। जब ताजेसे ताजे कपडोको भी खुशी-खुशी छोडके एकदम नये कपडे पहननेमे लोग आनन्द मनाते हैं तो मरनेमे गम क्यो मनाया जाय ? यह तो उलटी बात होगी। इस श्लोकमें 'जीर्ण' शब्दका फटा-पुराना अर्थ नही है। नये शरीरोका भी तो त्याग होता ही है और नये कपडोका भी। महाभारतमे अभिमन्यु जैसा कोरा जवान भी तो मारा गया था। तो क्या उसके बारेमे कोई और सिद्धान्त लागू होगा ? या कि उसके सम्बन्धमे गम मनाना ही ठीक था ? यह बातें तो ठीक नही। इसलिये जीर्ण शब्दका अर्थ है त्यागनेके योग्य या जिसके त्यागनेका समय आ गया हो। 'जॄ' धातु, जिससे यह शब्द बना है, का अर्थ भी वयकी हानि ही है, यानी अवस्था---उम्र---का पूरा हो जाना। जिसे छोडेगे उसकी अवस्था तो छोडनेवालेके लिहाजसे पूरी होई जाती है। या नही तो, यो समझे कि अधिकाश लोग तो पुराने ही थे। इसीलिये जीर्ण शब्द प्रयुक्त हुआ है। मगर पहली ही बात ज्यादा युक्तिसगत लगती है।

दूसरी बात है नये शरीरके ग्रहण करने या जन्म लेनेकी। कोई ऐसा मान सकता है कि पुरानेके छोडने और नये कपडेके पहननेमे तो देर नही लगती। किन्तु छोडनेके बाद फौरन ही नया पहन लेते है। बीचमे समय गुजरने पाता ही नही। जब यही उदाहरण दिया गया है मरने और जनमनेका, तब तो नया जन्म भी फौरन ही होना चाहिये। बीचमे जरा भी समय नही लगना चाहिये। लेकिन यह समझ गलत होगी। कपडेका दृष्टान्त केवल इसी मानीमे दिया है कि एक तो कपडे-वालेकी ही तरह शरीरवाला---देही---जीव शरीरसे जुदा है। दूसरे वह पुराने शरीरको छोडके नयेको खुशीसे स्वीकार करता है। बस। इससे आगे दृष्टान्तका कोई भी मतलब नही है। नही तो हमे यह भी मानना पड़ जायगा कि जैसे धोती वगैरहके बदलनेमे ऐसा होता है कि

नई धोतीको पहले ऊपरसे पहन लेते और पीछे पुरानीको हटाते है, शायद उसी तरह जीव भी नये शरीरोको धारण करके ही पीछे पुराने शरीरोको छोडता हो। और अगर इतनी दूर जानेकी या तो जरूरत नही है, या जानेमे अडचन है, क्योकि यह बात सरासर असभव है, तो फौरन ही शरीर ग्रहण करनेकी बाततक जानेमें भी वही अडचन है। इसीलिये वहाँतक जानेकी जरूरत नही है।

हमने जो यह कहा है कि नये शरीरोको धारण करनेके बाद ही पुरानोंके छोडनेकी भी कल्पना की जा सकती है, वह केवल कल्पना ही नही है और न गीताके इस श्लोकसे ही उसकी सभावना मानी जाती है। बृहदारण्यक उपनिषदके चौथे अध्यायके चौथे ब्राह्मणके तीसरे मत्रमें जोक या कीडेका दृष्टान्त देकर कहा गया है कि जिस प्रकार एक तृणपर रेंगनेवाला कीडा जब उसके आखिरी सिरेपर पहुँचता है तो जबतक दूसरे तृणका सहारा उसे न मिल जाये पहले तृणसे अपने शरीरको कभी नही समेटता है, हटाता है। ठीक उसी तरह इस शरीरके त्यागके बारेमे भी आत्माकी हालत है। मगर यह बात कोई अक्षरश लागू न कर ले, इसीलिये आगे फौरन कह दिया है कि इस शरीरको छोडनेके बाद अविद्या—सूक्ष्म और कारण-शरीर—का आश्रय लेके आत्मा दूसरे शरीरमे जाती है—"तद्यथा तृण-जलायुका तृणस्यान्त गत्वाऽन्यमाक्रममाक्रम्यात्मानमुपसहरत्येवमेवायमा-त्मेद शरीर निहत्याऽविद्या गमयित्वाऽन्यमाक्रममात्रम्यात्मानमुपसहरति।"

इसी कथनसे समाधान भी हो जाता है। इस स्थूल शरीरके छोडने-पर भी अविद्या नामक अज्ञान तो रहता ही है। वही तो जन्म-मरणका कारण है। उसी अविद्यासे बना सूक्ष्म शरीर भी तो रहता ही है। उसीके आधारसे आत्मा इस स्थूल शरीरसे बाहर जाती है और समय पाके दूसरे स्थूल शरीरमे प्रवेश करती है। गीताके पन्द्रहवें अध्यायके "ममैवाशो जीवलोके" (१५।७-८) आदि दो श्लोकोमें साफ ही यह बात कही भी

गई है कि चक्षु आदि इन्द्रियो और मन आदिको ही लेके वह जीव शरीर छोडता और नये शरीरमे जाता है। यही उसकी सवारी है अपने लक्ष्य स्थान दूर देशमे पहुँचनेके लिये। हम भी यह चीज पहले ही अच्छी तरह समझा चुके है। असलमे फौरन ही दूसरे शरीरका मिलना असभव भी तो है। कोई बने-बनाये शरीरमे घुसा तो देते नही, जैसे बनी-बनाई कोटमे शरीर घुसाते है। शरीर तो गर्भमे बनता है। सो भी पूरे दस महीनेतक लग जाते है। मगर इन दस महीनोके पहले भी तो यह मानना ही होगा कि यह जीव माता और पिता दोनोके ही रज-वीर्यमे रहता है। तभी तो दोनोके सयोगसे बच्चेके शरीरका श्रीगणेश होता है।

फिर भी इतनेसे ही काम चलता नही। रज और वीर्य तो अन्नसे बनता है। इसलिये यह भी मानना ही होगा कि रज-वीर्यमे जानेके पहले वह जीव अन्नमे था जिसे स्त्री-पुरुष दोनोने खाया था। अब प्रश्न है कि अन्नमे कहाँसे कैसे आया? इसका उत्तर छान्दोग्य, बृहदारण्यक और कौषीतकि उपनिषदोमे लिखी पचाग्निविद्याके प्रकरणमे मिलेगा। वही लिखा गया है कि जीव मेघमे होके वृष्टिके द्वारा अन्न या फलादिमे आता है। मेघमें भी क्रमश: चन्द्रलोक, आकाश, वायु और धूममे होता हुआ आता है। यह बात भी पहले कर्मवादके प्रकरणमे विस्तारसे लिखी जा चुकी है कि वह चन्द्रलोकमे कैसे पहुँचता है। गीतामे भी उत्तरायण-दक्षिणायन मार्गोंका जो वर्णन (८।२४-२५) आया है उसमे लिखा है कि अग्नि, धूम आदिके जरिये ही वहाँ पहुँचता है। यह तो बडी ही गभीर और अलौकिक बात है। मगर है यह सही। इसी प्रकार कर्मोंके चलते एक जगह शरीर छोडनेके बाद वही जीव हजारो कोसपर जाके जन्म लेता है। तब फौरन कैसे शरीर ग्रहण करेगा? बीचमे तो काफी समय जरूर ही लगेगा।

प्रश्न हो सकता है कि आत्माका भी अन्त क्यो न हो जाय? जब

और चीजें खत्म होती है तो वह भी खत्म हो जाय, नष्ट हो जाय। पानीमें डूबके, सडके, आगमे जलके, हवासे सूखके या अस्त्र-शस्त्रादिकी चोटसे सभी पदार्थ नष्ट होते ही है। तब यह क्या बात है कि आत्मा भी इसी तरह नष्ट नही हो जाती ? इसका उत्तर देते है कि ऐसा नही हो सकता। क्योकि—

**नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।**
**न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुत ॥२३॥**

इसे शस्त्र काटते ही नही, न अग्नि जलाती है। पानी भी भिगोता नही और न हवा सुखाती है।२३। (क्यो ? इसीलिये कि,—)

**अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।**
**नित्य. सर्वगतः स्थाणुरचलोऽय सनातनः॥२४॥**

यह काटा जा सकता नही, जलाया भी नही जा सकता। यह न (तो) भिगोया ही जा सकता है और न सुखाया जा सकता ही है। (इसीलिये) यह (आत्मा रूप पदार्थ) समयके घेरेसे बाहर, सर्वत्र मौजूद, सबोका आधार, अचल और हमेशा रहनेवाला है। २४।

यहाँ सनातन शब्दका वही अर्थ है जो पहले शाश्वतका कह चुके है। इसी प्रकार जो "येन सर्वमिद ततम्" (२।१७)मे आत्माका सब पदार्थोंमे घुसा रहना कहा गया है वही सर्वगतके मानी है। सबोके आधार-की बात जो पहले आई है वही स्थाणुका अर्थ है। सिर्फ अचल शब्द नया है। मगर अव्यय शब्द पहले आ चुका है। उसके ही मानीमें अचल आया है। विकार या गडबड होनेके लिये पूरी वस्तुको या उसके कुछ हिस्सेको ही हिलाना-डुलाना जरूरी हो जाता है। जबतक उसमे चाल या क्रिया (action) न हो, किसी तरहकी भी गडबड या खराबी—विकार—का होना असभव है। परन्तु जो सर्वत्र मौजूद है उसमें क्रिया होगी कैसे ? क्रियाका अर्थ ही है एक स्थानसे दूसरेमे पहुँचना या जाना।

श्लोकमे जो अच्छेद्य आदि शब्द आये है उनका अर्थ हमने किया है काटा जा सकता नही, आदि। इन शब्दोके बननेमे व्याकरणका जो 'ण्य' प्रत्यय लगा है उसे कृत्य प्रत्यय कहते है और पाणिनिके "शकि लिङ् च" (३।३।१७२) सूत्रके अनुसार कृत्य और लिङ् प्रत्यय 'सकने' अर्थमे भी आते है। यहाँ यही अर्थ ठीक बैठ जाता है भी। जब हथियार वगैरह काट सकते ही नही, जब उनकी ताकत ही नही कि आत्माको काट सके, तो फिर काटें कैसे? इस तरह पहले श्लोकमें नही काटने आदिकी जो बात कही गई है उसका कारण इस श्लोकमें स्पष्ट कर दिया है। आखिर ये शस्त्रादि काट या जला भी सके तो कैसे? जब यह आत्मा ही है तो जैसे हमारी और आपकी, अर्जुन और कृष्णकी आत्मा है, वैसे ही अस्त्र-शस्त्र, आग, पानी, हवा वगैरहकी भी। यह तो सबोकी स्व है, सबोका स्व-भाव है, सबोका अस्तित्व है, सत्ता है। तब यह कैसे हो कि अग्नि अपने आपको ही जलाये? क्योकि तब तो खुद अग्नि ही खतम हो जायगी न? फिर औरोको जलायेगी कैसे? जब वह रही ही नही, जब उसका अस्तित्व रही नही गया तो वह जलाये किसे? यही बात पानी, हवा आदिकी भी है। भला अपने आपको ही ये खतम करे! यह हिम्मत किसे होगी? यह तो सोचना भी भूल है।

पहलेके ६ और ७ श्लोकोमे जो 'भुजीय', 'जयेम' आदिमे लिङ् आया है उसका भविष्यके अलावे यह 'सकना' भी अर्थ हो सकता है। उसका तब यह मतलब होगा कि इन गुरुजनोको मारके ज्यादेसे ज्यादा खूनसे रँगे पदार्थोंको भोग ही तो सकते है। और कौन कहे कि कौन जीत सकता है? हम जीत सकते है या वही लोग, अभीसे यह कौन बताये?

हाँ, तो इस श्लोकमे जो आत्माको अचल कहा उसकी तो वजह साफ ही है। जब वह स्थूल, या व्यक्त पदार्थ नही है जो इन्द्रियोंके कब्जेमे आ सके तो उसे हिलाये-डुलायेगे कैसे? और जब वह बुद्धिकी भी पकड़के

वाहर है तो यह वात और भी असभव है। इसलिये उसे निर्विकार—विकारशून्य—ही मानना पडेगा। यही वात आगे इस तरह कहते है,—

अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि ॥२५॥

यह आत्मा व्यक्त (स्थूल पदार्थ—दृष्टिमे आनेवाली—तो) है नही और न वुद्धिकी ही पकडमे आ सकती है। (इसीलिये) यह निर्विकार कही जाती है। अतएव इसे इस तरह जान लेनेपर तुम्हारा वार-वार रोना-धोना ठीक नही है।२५।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महावाहो नैवं शोचितुमर्हसि ॥२६॥

और अगर तुम इसे वरावर जनमने और मरनेवाली ही मानते हो, तो भी ओ वहादुर—शक्तिशाली भुजावाले—तुम्हारा इस तरह अफसोस करना अच्छा नही है।२६।

पहले श्लोकमे अनुशोचितुम्मे जो अनु शब्द आया है उसीकी जगह यहाँ उत्तरार्द्धमे एवं आया है। उसका भी वही अर्थ है कि वार-वार शोक करना या रोना-धोना ठीक नही है।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि ॥२७॥

क्योकि पैदा होनेवालेकी मौत ध्रुव—अवश्यभावी—है। मरे हुएका जन्म भी ध्रुव है। इसलिये जिन वातोमे किसीका वश हई नही उन्हीके वारेमे तुम्हारी यह चिन्ता-फिक्र कभी मुनासिव नही हो सकती है।२७।

जव जन्म और मरणको कोई भी शक्ति रोक नही सकती—जव ये दोनो वाते अनिवार्य हैं—तो उनके वारेमे हाय-हाय कैसी? यदि आसमानके तारे टूटें और इससे हम लोगोका भारी नुकसान हो जाय,

या अगर भूकम्पसे चारो ओर हडकम्प पड जाय तो भी कोई समझदार हाय-हाय क्यो करेगा, कि उफ, हम ये बाते रोक न सके ?

इतना ही नही । जिन शरीरोके मरने या नष्ट होनेका खयाल करके हायतोबाका यह पँवारा फैला रहे हो आखिर उनकी हकीकत भी तो देखो और विचारो । ये चीजे तो सिर्फ "चार दिनोकी चाँदनी" है, सपनेकी सम्पत्ति है, जादूगरके तमाशे है । क्या यह नही होता कि सपनेमे भी हम बन्धु-बान्धवोसे मिलते-जुलते, बाते करते और मौज करते है ? हम हजार कोस दूर कही पडे है, या जेलके भीतर बन्द है । फिर भी सपनेमे स्वजनोके साथ हमारा मधुर मिलन तो होई जाता है और उससे आनन्द भी होता ही है । मगर एकाएक नीद खुली और सब मजा किरकिरा ! सभी प्रेमी, स्वजन और गुरुजन गायब ! ऐसी बेमुरव्वती कि कुछ पूछिये मत ! लेकिन क्या इसके लिये हम माथा पटकते, छाती पीटते या हाय-हाय करते है ? क्यो ? इसीलिये न, कि यह मिलन कुछी देर पहले लापता था, सपनेमे मिलनेवाले ये स्वजन लापता थे, नजरके ओझल थे, दीखते न थे । फिर बीचमे कुछी देरके लिये आ गये, दिख गये, मिल गये ! और फिर ? फिर थोडी ही देर बाद एकाएक गायब हो गये, लापता हो गये, कही दीखते ही नही, हजार ढूँढो सही, मगर मिलते ही नही ! मालूम पडता है, जिस अदर्शनसे, अव्यक्त दशासे व्यक्त हुए थे, आये थे, दीखने लगे थे, पुनरपि उसी हालतमे चले गये, उसी अव्यक्त और अदर्शनमे जा मिले !

इसीलिये महाभारतके अन्तके स्त्रीपर्वमे अव्यक्त न कहके अदर्शन शब्द ही आया है—"अदर्शनादापतिता पुनश्चादर्शन गता । न ते तव न तेषा त्व तत्र का परिदेवना" (२।१३) । इसका आशय यह है कि ये सभी अदर्शनसे ही आये थे और पुनरपि वही चले गये । न तो वाकईमे ये तुम्हारे है और न तुम इनके । फिर इसमे अफसोस क्या ? इसी श्लोकका

"तत्रकापरिदेवना" गीताके अगले श्लोकमें भी है। हर्वर्ट स्पेन्सर (Herbert Spencer) नामक पश्चिमी दार्शनिकने अपनी पुस्तक "मूल सिद्धान्त" (First Principles)मे यही वात यो लिखी है कि यदि किसी पदार्थका पूरा परिचय प्राप्त किया जाय तो पता लगेगा कि वह किसी अदृश्य दशासे निकलके कुछ दिनो वाद फिर उसी दशामे चला जाता है—"An entire history of anything must include its appearance out of the imperceptible and its disappearance into the imperceptible" (page 253) यही वात स्वय कृष्ण इस तरह कहते हैं,—

**अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।**
**अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना ॥२८॥**

हे भारत, सभी भौतिक पदार्थ आरम्भमे—पहले—अव्यक्त ही होते हैं, अदृश्य ही रहते है, बीचमे व्यक्त और दृश्य होते है और अन्तमे फिर खामखा अदृश्य होई जाते है। तव इसमे चिन्ता क्या ? २८।

इसपर अव एक ही वात उठती है और वह यह है कि—कहना-सुनना और तर्क-युक्ति तो यह सव कुछ ठीक है और बात भी दरहकीकत, यही है। मगर दिक्कत यही है कि हमे ऐसी मालूम होती नही। अगर हमारे नित्यके अनुभवमें यह चीज आ जाय तभी न हम समझे कि दुरुस्त है ? नही तो जगलमें पका फल हमारे किस कामका ? उसतक हमारी पहुँच हो तभी न हमारी भूख वुझे ? ये सभी वातें तो सपनेके साम्राज्य या वच्चोके खिलवाडकी मिठाई जैसी ही है। इसीलिये इनसे असली काम तो होता नही, पेट तो भरता नही और यही है ठोस चीज। निगी वातोसे तो कुछ होता जाता नही।

और नही तो कमसे कम पढे-लिखोको तो इन वातोका अनुभव हो। नही तो कैसे जाने कि यह चीजें सही है, सत्य हैं ? वडे वूढे वताये तो भी

मान सकते है। मगर सो भी तो नही है। और यह वात भी क्या है कि ऐसी खाँटी और पक्की चीज जनसाधारणकी समझमे न आये ? वह सौदा ही कैसा जो आम लोगोकी पहुँचके वाहर हो ? वह उनके किस कामका, यो चाहे वह सोना ही क्यो न हो, लाख अच्छा-भला क्यो न हो ? आखिर किसी वस्तुकी सचाई-झुठाईकी तराजू भी तो यह जनसाधारणका अनुभव ही है और इस आत्माके वारेमे वही अनुभव लापता ठहरा ! और हमे समझाना भी तो जनसाधारणको ही है न ? तब इसे क्योकर माना जाय ? इसीका उत्तर आगे देते हुए कहते है कि यह कुँजड़ेकी साग-भाजी नही है कि दर-दर मारी फिरे। यह तो जौहरीका अमूल्य रत्न है जिसे विरले ही परख पाते है—

**आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद्वदति तथैव चान्यः।**
**आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥२९॥**

इस (आत्मा)को जाननेवाला कोई विरला ही होता है। (जानकर भी दूसरोको इसे) वतानेवाला तो (और भी) विरला होता है। (यदि कोई वतानेवाला हुआ भी तो) इसके सम्वन्धमे वात सुननेवाला (तो उससे भी) विरला होता है। (खूवी तो यह है कि) इसे पढ-सुनके भी कोई जानता ही नही—शायद ही कोई मुश्किलसे जाने।२९।

**देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।**
**तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ॥३०॥**

(इसलिये जव) हे भारत, सवोंके देहकी मालिक यह (आत्मा) कभी भी मारी जा सकती है नही, तो (नाहक) किसी भी भौतिक पदार्थके वारेमे तुम्हारा अफसोस करना अच्छा नही है।३०।

**स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।**
**धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥३१॥**

अपने धर्मका खयाल करके भी तुम्हारा (युद्धसे) डिगना उचित

नही है। क्योकि क्षत्रियके लिये (तो) धर्म-युद्धसे वढके कोई चीज होई नही सकती।३१।

धर्मशास्त्रकी वात पहले तो चला सकते न थे। क्योकि अर्जुन स्मृतियोके कोरे विधानो और आदेशोको आँख मूँदके माननेको तैयार न था। वह तो कोई अनाडी या साधारण आदमी था नही कि स्मृतियाँ अपनी लाठीसे उसे हाँक सके। वह तर्क-दलीलकी कसौटीपर कसके ही किसी चीजको भली-बुरी माननेको तैयार था। इसीलिये कृष्णने पहले यही किया और दार्शनिक युक्तियोसे उसे माकूल किया। उसके वाद स्मृतियोके आदेश भी मजबूतीके साथ काम कर सकते थे। इसीलिये पीछे उनकी चर्चा भी दो श्लोकोमे आ गई है। मगर यह योही है। इसका कोई स्वतत्र महत्त्व नही है। इसीलिये गीताधर्म या गीताकी अपनी चीजोके भीतर इसकी गिनती नही। यह वैसी ही वात है जैसी अपयश और मान-अपमानवाली ३३-३७ श्लोकोमें कही वातें। वह तो गीताधर्मम आती हुई नही, यह निर्विवाद है। वे कही गई है व्यावहारिकताकी दृष्टिसे ही अर्जुनमे केवल गर्मी लानेके लिये। गीता व्यावहारिक मार्गको ही पकडके अपने लक्ष्यकी ओर अग्रसर होती है और यश-अपयशकी वात सबसे ज्यादा चुभनेके कारण ही व्यावहारिक है।

धर्म-युद्ध कहनेका मतलब यह है कि युद्धके समय क्या किया जाय क्या न किया जाय, आदि वातोके लिये कुछ सर्वसम्मत नियम-कायदे हमेशासे माने जाते रहे। हेगकी परम्परा (Hague Convention)के नामसे वर्त्तमान समयमें भी ऐसी अनेक वाते सर्वमान्य समझी जाती है। इन्हीमे घायलोकी सेवा-शुश्रूषा, युद्धवन्दियोंके साथ सलूक, जो स्थान खुले (open) घोषित कर दिये गये उनपर आक्रमण न करना, आम जनता (Civil population) पर प्रहार न करना, जहरीली गैसका प्रयोग न करना आदि वाते आ जाती है। हालाँकि अपनी-अपनी गर्जसे आज

कभी इन नियमोमे किसीको कोई तोडता है, तो किसीको दूसरा ही। फलत नात्सी जर्मनीके इस युद्धमे उसके पक्षके सबोने ही इन्हे तोड-ताडके खत्म कर दिया है। महाभारतके भीष्मपर्वके देखनेसे पता चलता है कि युद्धारम्भके पहले ऐसे सभी नियम दोनो पक्षोने साफ-साफ स्वीकार कर लिये थे। अतएव इन्ही नियमोके अनुसार होनेवाले युद्धको धर्मयुद्ध और इन्हे तोड-ताडके होनेवालेको अधर्मयुद्ध कहा है। यहाँ धर्म शब्दका-दूसरा अर्थ असभव है। धर्मशास्त्रमे लिखा युद्ध ही धर्मयुद्ध है यह भी मतलब यहाँ नही है। सभी युद्ध तो धर्मशास्त्रमे ही लिखे रहते है। इस-लिये जबतक उनके सम्बन्धमे लागू पूर्वोक्त नियमोको नही कहते तबतक धर्मयुद्ध कहना बेकार है। और जब स्वधर्म कही चुके है, तो फिर दुहरानेका क्या प्रयोजन ?

जो लोग यहाँ स्वधर्मकी बात लिखी देखके इसकी मिलान आगेके "कर्मण्येवाधिकारस्ते' (२।४७)से करते है वह भी भूलते है। यह प्रकरण ज्ञानका ही है। "एषा तेऽभिहिता" (२।३६)से ही कर्मयोगका प्रकरण शुरू होता है। इसलिये बीचमे ही उसकी बात यहाँ कैसे आ सकती है ? इसी प्रकार "श्रेयान् स्वधर्म." (३।३५ तथा १८।४७)मे भी स्वधर्म शब्द स्मृतियोके धर्मोके लिये ही नही आया है। वह तो व्यापक अर्थमे कर्ममात्रका ही वाचक है। यह बात हम पहले ही अच्छी तरह लिख चुके है। इन नियमोके साथ लडी जानेवाली लडाई भी धर्मशास्त्र-सम्मत होनी चाहिये, यही आशय यहाँ है। 'श्रेयस्' शब्दके बारेमे भी जान लेना चाहिए कि मोक्षके अर्थमे उसका खासतौरसे प्रयोग गीतामे कही शायद ही हुआ हो, जैसा कि कठोपनिषदके "अन्यच्छ्रेयोऽन्यदुतैव", तथा "श्रेयश्च प्रेयश्च" (१।२।१-२)मे आया है। तीसरे अध्यायके शुरूके दूसरे श्लोकके 'श्रेय' शब्दको कल्याण या मोक्षके अर्थमे ले सकते है और इसका कारण भी आगे लिखा है कि कहाँ ऐसा अर्थ होता है। मगर यहाँ कल्याण ही

अर्थ उचित लगता है। इसीलिये आगे "श्रेय परमवाप्स्यथ" (३।११)में श्रेय का विशेषण पर हो जानेसे परमश्रेय या परमकल्याणका अर्थ मोक्ष ठीक लगता है। क्योकि वही तो आखिरी कल्याण है। असलमे प्रशस्य शब्दसे ही यह श्रेयस् शब्द "प्रशस्यस्य श्र" (५।३।६०) पाणिनिसूत्रकी सहायतासे बनता है। इसमें प्रशस्यका अर्थ है प्रशसनीय या प्रशसाके योग्य अर्थात् अच्छा। उसीसे बने श्रेयस् शब्दका प्रयोग करते है ऐसी ही जगह जहाँ कइयोमे एकको अच्छा समझके चुन लेना हो। इससे स्वभावत- ज्यादा अच्छा, सबोसे अच्छा इसी मानीमें श्रेयस् शब्द आता है और हमने यही लिखा है। जब दोमें एकको अच्छा लिखते है तो उतने ही से यह बात अर्थात् सिद्ध हो जाती है कि वह बहुत अच्छा है। दूसरेकी अपेक्षा कहनेका यही अर्थ होता है। गीतामें आमतौरसे ऐसा ही पाया जाता है भी। इसीके अर्थमें 'विशिष्यते' शब्द आया है। दोनोका ठीक-ठीक एक ही अर्थ है। हाँ, जहाँ किसीका मुकाबिला न हो, या दोमें एकको चुनना न हो वहीपर मोक्ष आदि अर्थ आते हैं, जैसा कठोपनिषदका दृष्टान्त दिया गया है। वहाँ श्रेयस् शब्दका स्वतत्र प्रयोग है।

**यदृच्छया चोपपन्न　　स्वर्गद्वारमपावृतम्।**
**सुखिन. क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम् ॥३२॥**

हे पार्थ, अकस्मात् या आप ही आप खुले स्वर्गके द्वारके रूपमें हाजिर इस तरहका युद्ध तो खुशकिस्मत क्षत्रियो को ही मुयस्सर होता है।३२।

**अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं सग्रामं न करिष्यसि।**
**ततः स्वधर्मं कीर्त्ति च हित्वा पापमवाप्स्यसि ॥३३॥**

और अगर तुम यह धर्मयुद्ध न करोगे तो अपने धर्म और कीर्ति दोनोको गँवाके (केवल) पाप बटोरोगे।३३।

**अकीर्त्ति चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।**
**सभावितस्य　　चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते ॥३४॥**

(इतना ही नही), लोग तुम्हारे अखड अपयश—हमेशा रहनेवाली बदनामी—की चर्चा भी करते रहेगे। और प्रतिष्ठित (पुरुष)के लिये (यह) अपयश तो मौतसे भी बढकर (बुरा) है।३४।

**भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः ।**
**येषां च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम् ॥३५॥**

(यही नही), महारथी लोग भी समझेगे कि तू डरके मारे ही युद्धसे भाग गया है। (फलत.) जो लोग (आज) तुझे ऊँची नजरसे देखते है उन्हीकी नजरोमे तू गिर जायगा।३५।

**अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः ।**
**निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम् ॥३६॥**

(इसी प्रकार) तेरे दुश्मन भी तुझे बहुतसी गालियाँ देगे (और) तेरी ताकतकी भी शिकायत करेंगे। भला, उससे बढके बुरा और क्या हो सकता है? ३६।

**हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ।**
**तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः ॥३७॥**

(यह भी तो देख कि) यदि युद्धमे मर जायगा तो स्वर्ग जायगा और अगर जीतेगा तो राजपाट मिलेगा। (इस प्रकार तेरे दोनो ही हाथोमे लड्डू है।) इसलिये ओ कौतेय, लडनेका निश्चय करके खडा हो जा—डँट जा।३७।

**सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ ।**
**ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि ॥३८॥**

जय-पराजय, हानि-लाभ और सुख-दु खमे एक रस रहके युद्धमे डँट जा। ऐसा होनेपर तुझे पाप छूएगा भी नही।३८।

इसी श्लोकके साथ ही अध्यात्म विवेकके प्रकरणका इस अध्यायमे अन्त होके आगे कर्मयोगका प्रसग शुरू होता है। उसके शुरूके आठ श्लोक

भूमिकाकी तरह है। नवें या गीताके ४७वें श्लोकमें कर्मयोगका निरूपण शुरू हुआ है। इस श्लोकमे भी समत्व या समताकी बात कही गई है जिसे समदर्शन भी कहते है। यह दूसरी बार समदर्शनकी बात आई है। पहली बार, जैसा कि कह चुके है, १५वें श्लोकके "समदु खसुख"मे आ चुकी है। इसलिये इस श्लोकका अर्थ समझनेमें उसे भी दृष्टिके सामने रखना पडेगा, खासकर उसके पूर्वार्द्ध "यहि न व्यथयन्त्येते" आदिको। नही, तो बहुत गडबड-घोटाला हो सकता है।

बात यह है कि जब कम पानीवाले तालाब या गढेमें मछुए मछली मारना चाहते है, तो उसके पानीको नीचे-ऊपर इतना ज्यादा हिला, डुला, चला और मथ देते हैं कि पानी और कीचड मिलके एक हो जाते है। इससे मछलियाँ घबराके ऊपर आ जाती या थक-थकाके ढीली पड जाती है। फलत पहलेकी तरह तेजीसे इधर-उधर भाग-फिर सकती है नही। इस तरह उनके पकडनेमें आसानी हो जाती है और बातकी बातमे वे मछुओंके कब्जेमे आ जाती हैं। नही तो उन्हे पकडनेमें मछुओको बहुत परीशानी होती है। इसी तरह दहीको भी मथानीसे ऐसा मथ देते है कि पानी और दही एक हो जाते है। बन्दर जब किसी पेडपर पहले-पहल चढता है तो अकसर उसकी डालोको पकड-पकडके झकझोर देता है और सारे पेडको कँपा देता है, बेचैन कर देता है। जब छोटा-सा शिकार जबर्दस्त शिकारी कुत्तेके हाथ लगता है तो उसे पकडके शुरूमें ही वह ऐसा झंकझोरता है कि शिकारके होश ही गायब हो जाते है और कुत्ता उसे आसानीसे खा जाता है।

यही दशा मनकी है। वह आत्माको अपनी मर्जीके मुताबिक नचानेके पहले उसे अपने कब्जेमें सोलहो आना करना चाहता है और उसीकी तरकीब करता रहता है। मात्रास्पर्श या भौतिक पदार्थोंके सम्बन्धकी जो बात पहले कही जा चुकी है वह उसी तरकीबका एक भाग है। मन

इन्द्रियोकी पीठ ठोकता है और वह भले-बुरे सभी पदार्थोके साथ जुट जाती है। यही तो है मात्रास्पर्श। गुरुजनो, इष्ट-मित्रो, बन्धु-बान्धवो एव पुत्र-कलत्र आदिका ताल्लुक और है क्या यदि मात्रास्पर्श नही है ? जो सहृदय न हो, जड-पत्थर हो या पत्थर जैसा हो, पागल हो उसमें या तो इन्द्रियाँ होती ही नही, या वह काम करती ही नही। इसीलिये वैसोको क्या सुख-दु.ख होगा ?

इस प्रकार मात्रास्पर्श होनेके बाद ही बुरी-भली चीजोका अनुभव होता है, उनकी जानकारी होती है, शत्रु-मित्र, शीत-उष्ण, अपने-पराये आदिकी जानकारी होती है। जैसा कि आगको छूते ही गर्मीका अनुभव हुआ करता है और बर्फको छूते ही सर्दीका। उसीके बाद हाथ-पाँव जलते या ठिठुरते है और फौरन तकलीफ या आरामका, दु:ख और सुखका अनुभव होता है। फिर तो इन्सान या तो आनन्दमे विभोर हो जाता है, या कलेजा पीटके बेहोश। यदि सुख-दु:ख हलके रहे तो यह बात कम हुई। मगर अगर काफी हुए तो यह हालत भी परले दर्जेकी हो गई ! मनके जालकी बातको लेकर हम आनन्द-विभोरता या तकलीफवाली बेसुधीको ही यहाँ ले रहे है। इस तरह जब यही बात बार-बार होने लगी तो मनने समझ लिया कि आत्मारामपर हमारा पूरा कब्जा हो गया। वह ताड जाता है कि अब तो बन्दर अच्छी तरह फँस गया, इसलिये इसे जैसे चाहे नचा सकेगे। युद्धमे भी पहले जय-पराजय, बादमे लाभ-हानि और अन्तमे सुख-दु:ख होता है जिसका जिक्र श्लोकमे आया है।

मगर ऐसा भी होता है कि किन्ही मस्तराम फकीरके पास चाहे आप अच्छीसे अच्छी या बुरीसे बुरी चीजे लाये, उनपर उनका कोई असर होता ही नही ! क्यो ? असलमें वहाँ उलटी बात जो है। कहाँ तो दूसरोके मनीराम—मन—आत्मारामको नचाने और फँसानेकी कोशिशमे रहते तथा सफल भी होते है और कहाँ मस्तरामके आत्मारामने ही उलटके

मनीरामपर मुसक चढा दी है। यहाँ तो मन ही मस्तरामके कब्जेमें पडा रो रहा है। उसकी आई-वाई ही हजम है। इसीलिये उसके सभीके-सभी चेले-चाटी और दूत—इन्द्रियाँ—भी मनहूस है, वेकारसी पडी है। तव मात्रास्पर्श कैसे हो और आगेकी लीला भी कैसे खडी हो ? यहाँ तो सारा नाटक ही वन्द है। यह भी नही कि मस्तराम पत्थर है या मुर्दा, जिससे सुख-दु ख आदि जानते ही नही। वह तो सव कुछ जानते ही है। मगर जान लेना दूसरी चीज है और उसमे चिपक जाना निराली वात है। स्त्रीको विरागी भी देखता है और लम्पट भी। मगर दोनोके देखनेमें फर्क है—वहुत वडा वुनियादी फर्क है। यही वात सुख-दु खादिके मुतल्लिक भी है।

पन्द्रहवे श्लोकमें जो 'व्यथयन्ति' लिखा है वही इस फर्कको ठीक-ठीक वताता है। उसका अर्थ गढेके पानी या दहीके मथने और वन्दर या कुत्तेके झकझोरनेके दृष्टान्तमें वताया जा चुका है। भौतिक पदार्थोंके ससर्ग जिसे व्यग्र, उद्विग्न, परीशान या वेचैन नही कर सकते, नही कर पाते वही सुख-दु खमें सम है, एकरस है, समदु ख-सुख है, समदर्शी है। उसके दिल-दिमागकी गभीरता, स्थिरता और एकरसता विगड पाती नही। वह इन अन्धड-तूफानोके हजार आनेपर भी पर्वतकी तरह अचल, अटल रहता है, न कि घास-पात या पेड-पल्लवकी तरह काँपता और वेचैन हो जाता है। उसके दिल-दिमागकी समता और गभीरता (Serenity and balance) कभी विगडती (upset) नही। फिर पाप-पुण्यका क्या सवाल ? ये तो वहुत नीचे दर्जेकी चीजे है और वह इतना ऊँचा उठा है कि जैसे चाँदको कोई छू नही सकता चाहे हजार कोशिश करे, वैसे ही उसे पुण्य-पाप छू नही सकते, उसके निकट फटक नही सकते। वह तो मस्त है। वेशक, दुनियाकी वेचैनी देख-देखके मुस्कुरा उठता है, कभी-कभी हँस देता है। इस चीजका ज्यादा विचार पहले ही हो चुका है। यहाँ अधिक लिखनेकी आवश्यकता नही है।

**एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगेत्विमा शृणु ।**
**बुद्धया युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि ॥३९॥**

यहाँतक (तो) आत्मतत्त्वकी जानकारी—अध्यात्मज्ञानकी खूबी और बारीकी—तुम्हे बताई जा चुकी। अब योगकी भी जानकारी—कर्मकी पूरी जानकारी और उसकी बारीकी—वाली वह बात भी सुन लो जिसके करते कर्मोंके बन्धनसे अपना पिंड छुडा लोगे।३९।

इसपर वहुत अधिक बाते लिखी जा चुकी है। इसका स्पष्टीकरण भी बखूबी किया जा चुका है। इसलिये यहाँ या आगे कुछ भी लिखना बेमानी है। फिर भी जिस कर्मयोग का निरूपण आगे चलके ४७वे श्लोकमे शुरू करेंगे वह सचमुच निराली चीज है, गीताकी अपनी खास देन है। इसीलिये और कही वह पाई जाती नही। अधूरीसी कही मिले भी तो क्या ? सर्वांगपूर्ण कही भी नही मिलती। इसीलिये उसके पूर्व अर्जुनका दिमाग उसके अनुकूल कर लेना जरूरी था। सर्वसाधारण परम्पराके अनुसार वह वैसी बात एकाएक सुनके चौक उठता कि यह क्या चीज है ? यह तो अजीब बात है जो न देखी न सुनी गई ऐसा खयाल करके वह उस बातसे हट सकता था। कमसे कम यह तो जरूर हो जाता कि उसका दिल-दिमाग उसमे पूरी तौरसे लगता नही। उसमे उसे चस्का तो आता नही, मजा तो मिलता नही। फिर तो वैसे गभीर विषयको हृदयगम करना असभव ही हो जाता। इसीलिये उससे पहलेके सात श्लोकोमे उसीका रास्ता साफ कर रहे है।

कर्मकाड एव धर्माधर्मके निर्णय तथा अनुष्ठानका सारा दार-मदार सिर्फ मीमासाशास्त्र और मीमासकोपर ही है। उनका अपना यही खास विषय है। इसीलिये उनने इस सम्बन्धकी बहुतसी बाते लिखते हुए लिखा और माना है कि कर्मोंके करनेमे कौन-कौनसे विघ्न होते है, कैसा हो जाने-पर सारा किया-कराया चौपट हो जाता है, क्या हो जानेपर पुण्यके वदले

पाप ही पाप हो जाता है और सागोपाग कर्म पूरा न हो जानेपर उसका फल नही मिलता। इस तरहकी हजारो बातें और बाधाये कर्ममार्गमें बताई गई है, खतरे खडे किये गये हैं। यदि इनसे बचनेका कोई भी रास्ता हो तो कितना अच्छा हो? तब तो लोग आसानीसे मीमासकोका मार्ग छोडके वही मार्ग पसन्द करें। गीताने लोगोकी इस मनोवृत्तिका खयाल करके पहले तो यही किया है कि कर्मयोगमे इन खतरोका रास्ता ही बन्द कर दिया है। वहाँ थोडा बहुत या अधूरा काम होनेपर भी न तो पापका डर है, न विफलताकी परीशानी और न दूसरी ही दिक्कत।

मीमासकोके मार्गमें दूसरी दिक्कत यह होती है कि उन्हें परीशानी बडी होती है। पहले तो हजारो तरहके उद्देश्योको लेके कर्म किये जाते हैं। फिर एक-एक उद्देश्यकी शाखा-प्रशाखाये होती हैं और शाखा-प्रशाखाओकी भी शाखा-प्रशाखाये। लोभ-लालचका कोई ठिकाना भी तो होता नही। ज्योही सफलता हुई या उसकी आशा नजर आई कि नई-नई कामनाये पैदा होने लगती हैं। यह भी होता है कि शक-शुभेमें कभी मन इधर जाता है और कभी उधर—कभी आगे बढनेको मुस्तैद होता है, तो कभी पीछे खिसक पडता है। इस तरह हजारो तरहकी आशा-आकाक्षाओ, कल्पनाओ एव उमग-मनहूसियोंके घोर जगलमें भटकता रहता है और कभी भी चैन मिलता नही। गीताने इस सारी बलासे भी बचनेका रास्ता कर्मयोगको ही माना है। उसने साफ कह दिया है। फिर तो लोग उधर उत्सुक होगे ही।

मीमासकोकी एक तीसरी चीज यह है कि वह स्वर्ग, धन, राज्य आदि सुख साधनोकी गारटी करते है। वे कहते हैं कि विविध कर्मोके अलावे दूसरा उपाय हई नही कि ये सभी चीजें हासिल की जा सकें। यह भी नही कि इन्हें कोई चाहता न हो। ये सभी लोगोकी अभिलषित हैं इसमें कोई भी शक नही। परन्तु हजार युद्धादिके सकटोको पार करने पर भी

इन सबोकी गारन्टी है नही। स्वर्गादि तो युद्धसे शायद ही मिल सके। यह तो कर्म मार्ग ही ऐसा है कि इन सभी पदार्थोको प्राप्त करवा देता है। उससे आसान रास्ता, सभी-बातो पर गौर करनेके बाद, दूसरा रही नही जाता।

बेशक उनकी यह बात काफी मोहनी रखती है। मगर गीताने कह दिया है कि ये पदार्थ बडी दिक्कतसे यदि मिलें भी तो इनके लिये, और इनके परिणाम स्वरूप भी, जन्म-मरणका सिलसिला निरन्तर लगा ही रह जाता है। जन्म-मरणके कष्ट किसे पसन्द है? यह भी बात है कि मनोरथोमे जब इस तरह मनुष्य फँस जाता है तो उसे कोई और बात सूझती ही नही। स्वर्गादिकी हाय-हायके पीछे एक तरहसे वह अन्धा हो जाता है। उसे चैन तो कभी मिलता नही। यह करो, वह करो, यह क्रिया बिगडी, उस कर्ममें विघ्न, इसकी तैयारी, उसकी पूर्त्तिकी हाय तोबा दिनरात लगी ही तो रहती है। अगर इतनी बेचैनीके वाद यदि ये चीजें मिली भी तो किस काम की? यह भी बात है कि मिलने पर चस्का लग जानेसे फिर जन्म, पुनरपि क्रिया, फिर मरण, यह ताँता टूटता ही नही। मनुष्य विषयासक्त होके विवेक मार्गसे जाने कितनी दूर जा पहुँचता है और कोई निश्चय कर पाता नही। मगर कर्मयोग इन सभी झंझटोसे पाक साफ है।

चौथी बात उनकी यह है कि वेदोकी आज्ञा जब यही है तो किया क्या जाय? उनके आदेशोको कौन टाले? हिम्मत भी ऐसी किसकी हो सकती है? इसलिये चाहे हजार दिक्कत मालूम हो, फिर भी इसमें आना ही पडेगा। इसका उत्तर गीता साफ ही देती है कि ये तो सासारिक झमेले हैं, दुनियाकी झझटे है जिनमे ये कर्म हमे फँसाते है। हमे चैन लेने तो ये देते नही। वेदोका काम भी तो यह आफत ही है न? वह भी तो इस त्रिगुणात्मक ससारमे ही हमे फँसाते है। आखिर वह भी तो त्रिगुणके

भीतर ही है। इसीलिये तो "मियांकी दौड मस्जिद तक" ही है। लेकिन जिसे दुनियाकी, सासारिक पदार्थोंकी पर्वा न हो वह क्या करे? वह इन वेदोके झमेलेमें क्यो पडे? वेदोसे अभिप्राय है उसके कर्मकाड भागसे ही। क्योकि वही वेदोका प्रधान भाग है—प्राय सब कुछ है। ज्ञान काड तो बहुत ही थोडा है—एक लाखमे सिर्फ चार हजार! वेदोके एक लाख मत्रोमें पूरे छयानवे हजार कर्मकाडके और केवल चार हजार ज्ञान काडके माने जाते हैं। "लक्ष तु वेदाश्चत्वार" कहा है। गृहस्थोंके यज्ञोपवीतके छयानवे चतुरगुलोका अभिप्राय उन्ही छयानवे हजारसे है। सन्यासीको यज्ञोपवीत नही है। उसका ताल्लुक चार ही हजारसे जो है और है वह छयानवेके वाहर! वस, गीताने कह दिया कि—"रहे वांस न वाजे वांसुरी"। ससारकी, त्रैगुण्यकी पर्वा छोड दो और वेदोंके दायरेसे वाहर आ जाओ। फिर तो कर्मयोगका रास्ता साफ है।

ऐसी दशामे आखिरी और पांचवां सवाल यही हो सकता है कि इस प्रकार ससारके भौतिक पदार्थोंसे लापर्वाह होनेसे काम कैसे चलेगा? वेदोका आश्रय लेते हैं क्या उन पर रहम करके, या किसीकी मुरव्वतसे? उनके विना हमारा काम चलता जो नही। वेदोमें तो छोटे-वडे सभी कर्म आते है और उनके विना हमारी रोजकी जरूरतें भी पूरी हो पाती नहीं। जव हम ससारसे विरागी हो जायँगे तो वेदोकी पर्वाह नही करेंगे, यह कहना जितना आसान है इस पर अमल करना उतना सहज नही है। क्योकि तव हमारी जरूरतें कौन पूरा करेगा? हमारी चीज-वस्तुकी रक्षा भी कौन करेगा? एक यह वात भी है कि वैदिक कर्मकाडके सकटोंसे तो हम जरूर वच जायँगे। मगर उनके चलते जो आनन्द मिलता है उसकी कमी कैसे पूरी होगी? वह तो रही जायगी न? कर्मयोगके आनन्दसे स्वर्गका आनन्द कैसे मिलेगा? यह तो असभव है।

इसका सीधा उत्तर गीता यही देती है कि इसमे सभी चीजे आ जाती

है। कुएँ, तालाब नदी वगैरह सबोका काम एक अकेला समुद्र जैसा लम्बा चौडा जलाशय ही दे सकता है। फिर इन चीजोकी अलग जरूरत नही रह जाती। उसी प्रकार जिसने कर्मयोगका रहस्य जान लिया उसे सभी वैदिक कर्मोके फलो की—आनन्द की प्राप्ति होई जाती है। उसके भीतर अमृत-समुद्रकी जैसी गभीरता होती है, मस्ती रहती है। फिर और चीजोकी जरूरत ही क्यो हो? जरूरतकी चीजोकी प्राप्ति और रक्षा—योग-क्षेम—भी होता ही रहता है। यह तो आगे "योगक्षेम वहाम्यहम्" (६।२२) मे कहा ही है।

यही पाँच बाते, या यो कहिये कि मीमासकोकी पॉच मुख्य दलीलोके उत्तर क्रमश ४० से ४६ तकके सात श्लोकोमे दिये जाके कर्मयोगकी पूरी भूमिका तैयार कर दी गई है। इनमे पहले दो (४०,४१) श्लोकोमे क्रमश पहली दो बाते आती है। फिर बादके तीन (४२-४४) श्लोकोमे तीसरी आती है। अनन्तर ४५वे चौथी और ४६वेमे पाँचवी आ जाती है।

**नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।**
**स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात् ॥४०॥**

इस (योग) मे (किसी भी) कदम—काम—का नाश तो होता नही—कोई भी कदम बेकार नही जाता, इसमे पाप (का सवाल) हई नही और इस (महान्) धर्मका थोडा भी (अनुष्ठान) (इसके करनेवालेको) महान भयसे बचा लेता है। अर्थात् इसमे कोई खतरा भी नही है कि कही अधूरा रह जानेमे उलटा ही परिणाम हो जाय। इसका परिणाम सदा ही सुन्दर होता है।४०।

यहाँ अभिक्रमका अर्थ हमने कदम किया है और यही अर्थ उस शब्द का दरअसल है भी। कोई भी काम शुरू करनेके मानीमे कदम उठाना या बढाना बोलते है। अग्रेजीमे इसीको स्टेप (step) कहते हैं। कहने-का आशय यहाँ यही है कि इस कर्मयोगके सिलसिलेमे उठाया गया कोई

भी कदम बेकार नही जाता। इसी प्रकार महान् भयसे रक्षाका भी यही अभिप्राय है कि जैसे और कामोमें खतरे हुआ करते है और अगर किसी आफतसे बचनेके लिये कोई उपाय किया जाय तो जब तक वह पूरा न हो जाय उस आफतसे छुटकारा नही होता, सो बात यहाँ नही है। न तो यहाँ कोई खतरा है और न यही बात कि काम पूरा न हुआ तो आफतसे पिंड न छूटेगा। यहाँ तक कि आवागमन जैसे बडीसे बडी बलासे भी छुडा लेता है इस चीजका थोडा भी अनुष्ठान। फिर तो निर्वाणमुक्ति ध्रुव हो जाती है।

**व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन!**
**बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम् ॥४१॥**

हे कुरुनन्दन (अर्जुन), इसमें तो एक ही (तरह) की बुद्धि रहती है (सो भी) निश्चयात्मक। (विपरीत इसके और मार्गमें) अनिश्चयात्मक बुद्धिवालोकी बुद्धियाँ (एक तो) असख्य होती है। (दूसरे उनमें भी हरेककी) अनेक शाखा प्रशाखाये होती है।४१।

**यामिमा पुष्पिता वाच प्रवदन्त्यविपश्चितः।**
**वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिन ॥४२॥**
**कामात्मानः स्वर्गपरा जन्मकर्मफलप्रदाम्।**
**क्रियाविशेषबहुला भोगैश्वर्यगति प्रति ॥४३॥**
**भोगैश्वर्यप्रसक्ताना तया पहृतचेतसाम्।**
**व्यवसायात्मिका बुद्धि समाधौ न विधीयते ॥४४॥**

हे पार्थ, वेदके कर्म-प्रशसक वचनोको ही सब कुछ मानके उनके अलावे असल चीज दूसरी हई नही ऐसा कहनेवाले, वासनाओमें डूबे हुए मनवाले और स्वर्गको ही अन्तिम ध्येय माननेवाले नासमझ लोग इस तरहके जिन लुभावने (वैदिक) वाक्योको दुहराते रहते है उन (वचनोका तो सिर्फ यही काम है कि) भोग और शासनकी प्राप्तिके लिये ही अनेक

तरहके बहुतसे कर्मोंको बताये। (इस तरह) उनका नतीजा यही है कि लोग वारबार जनमते तथा कर्म करते रहें। जिन भोग एव शासनके लोलुप लोगोकी बुद्धि वैसे ही वचनोमे फँस चुकी है उनके दिमागमे तो (कभी) निश्चयात्मक बुद्धि पैदा ही नही होती ।४२।४३।४४।

इन तीन श्लोकोमे जिन लोगोका सुन्दर चित्र खीचा गया है वही कर्मकाडी मीमासक लोग है। उन्हे नासमझ कहके फटकार सुनाई गई है। "अपाम सोमममृता अभूम" —"सोमयागमे सोमका रस पीके हम लोग अमर बन गये," स्वर्गमे देवताओकी इस तरहकी गोष्ठी और बात-चीतका उल्लेख ब्राह्मण ग्रथोमे पाया जाता है। कठोपनिषदके प्रथमाध्यायकी द्वितीयवल्लीके शुरूके पाँच मत्रोमे कल्याण या मोक्षके मुकाबिलेमे स्वर्गादि पदार्थों तथा उनके इच्छुकोकी घोर निन्दाकी गई है। इसी प्रकार मुडकोपनिषदके प्रथम मुडकके दूसरे खडके शुरूके दस मत्रोमे विस्तारके साथ लिखा गया है कि कर्मकाडी लोग किन-किन कर्मोंको कैसे करते और उन्हे कौन-कौनसे फल कैसे मिलते है। वही दसवे मत्र "इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठा"मे "प्रमूढा" शब्द आया है जो गीताके इन श्लोकोके "अविपश्चित" के ही अर्थमे बोला गया है। उस मत्रमें जो बाते लिखी है उनका उल्लेख भी कुछ-कुछ इन तीन श्लोकोमें पाया जाता है। इनके सिवाय "दर्श पूर्णमासाभ्या स्वर्गकामो यजेत", "ज्योतिष्ठोमेन स्वर्गकामो यजेत", तथा "वाजपेयेन स्वाराज्यकामो यजेत" आदि ब्राह्मण वचनोमे कर्मठोके कर्मों एव उनके फलोका पूरा वर्णन मिलता है। वहाँ इनकी प्रशसाके पुल बाँधे गये है। इन्ही प्रशसक वचनोको वेदवाद और अर्थवाद कहते है। इन्हे पढके लोग कर्मोमे फँस जाते है। इसीका निर्देश इन श्लोकोमे है। पूर्वोक्त मुडकके वचनोमे एकने "प्लवाह्येते अदृढा यज्ञरूपा"(१।२।७)के द्वारा इन यज्ञयागोको कमजोर नाव करार दिया है, जिस पर चढनेवाले अन्तमे डूबते है। गीताने भी इसीलिये इनकी निन्दा की है।

इनमे चसक जाने पर मनुष्यको दूसरी बात सूझती ही नही। एक बार इन्हें करके जब इनके रमणीय फलोको भोगता है, या ऐश्वर्य—शासन और इन्द्र आदिकी गद्दी—प्राप्त कर लेता है तो फिर बारबार इन्हींके करने पर उतारू होता है। यही चस्का है। इसका नतीजा यही होता है कि जन्म लेके इन्हे करता, मरके फल भोगता और चसकके स्वर्गादि फल भोगनेके बाद पुनरपि जनमता और कर्म करता है। यही चक्कर चलता रहता है। एक कोढी और गन्दे स्वभावके आदमीकी कहानी है कि वह साल भरमें कभी शायद ही नहाता हो। जाडोमे तो हर्गिज नही। मगर घोर जाडेमें मकरकी सक्रान्तिके दिन तडके ही जरूर नहा लेता था। क्यो? क्योकि उसने सुना था कि माघके महीनेमें सूर्योदयके ठीक पहले पानी बहुत तेज चिल्लाता है कि यदि महापापी भी हममे एक गोता लगा ले, तो उसे फौरन पवित्र कर दें—"माघमासि रटन्त्याप किञ्चिदभ्युदिते रवौ। महापातकिन वापि क पतन्त पुनीमहे।" यही है वेदवादो और अर्थवादोकी मोहनीशक्ति जिसका उल्लेख यहाँ है।

इस श्लोकमे समाधि शब्दका अर्थ दिमाग या अन्त करण लिखा गया है। अनेक माननीय भाष्यकारोने यही अर्थ किया है और यह घटता भी है अच्छी तरह। मगर समाधि का अर्थ योग करना भी ठीक ही है। "समाधिस्थस्य" (२।५४) के व्याख्यानमें हमने इस ओर भी इशारा किया है। यहाँ "समाधिके लिये" यही अर्थ "समाधौ"का है जैसा कि "यतते च ततो भूय ससिद्धौ" (६।४३)में 'ससिद्धौ'का अर्थ है "ससिद्धिके लिये"। यहाँ अभिप्राय यही है कि आगे जिस योगका निरूपण है उसके लिये जो मूल-भूत जरूरी बुद्धि है वह ऐसे लोगोको होती ही नही।

**त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।**
**निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान् ॥४५॥**

हे अर्जुन, वेद तो (प्रधानतया) त्रैगुण्य या सासारिक बातोंके ही

प्रतिपादक है। तुम इन बातोको छोडो, राग द्वेषादि द्वन्द्व —जोडे— दो दो—से रहित हो, हमेशा सत्त्वगुणकी ही शरण लो, योग-क्षेमकी पर्वा छोड दो, मनको वशमे करो और आत्मतत्त्वमे रम जाओ ।४५।

यहाँ कुछ बाते जान लेनेकी है। साधारणतया खयाल हो सकता है कि जब त्रैगुण्य शब्द यहाँ आया है जिसका अर्थ है तीनो गुणोसे बना या त्रिगुणात्मक, तो यहाँ तीनो ही गुण बुरे बताये गये है। मगर सत्त्वगुण तो प्रकाशमय होनेसे ज्ञानवर्द्धक है। इसलिये उसे क्यो बुरा कहा ? इतना ही नही। आगे उत्तरार्द्धमे लिखते है कि बराबर सत्त्वगुणकी शरण लो—"नित्यसत्त्वस्थ"। यदि बुरा होता तो सत्त्वकी शरण जाने की बात कहते क्यो ? तब तो परस्पर विरोध हो जाता न ? इसलिये सत्त्वको बुरा कहना ठीक नही। हाँ, रज और तम तो बुरे जरूर ही है। उनके बारेमे कोई शक नही।

असलमे तीनो गुणोका क्या स्वरूप है, काम है और यह करते क्या है, इसका पूरा विवरण गीताके चौदहवे अध्यायमे मिलता है। वहाँ देखनेसे पता चलता है कि जीवात्माको बाँधने और फँसानेका काम तीनो ही करते है। इसमे जरा भी कसर नही होती। सत्त्व यदि ज्ञान और सुखमे फँसा देता है तो बाकी और और चीजोमे। मगर फँसाते सभी है। इसलिये 'बध्नाति', 'निबध्नन्ति' आदि बन्धन वाचक पद वहाँ बारबार सबोंके बारेमे समानरूपसे आये है। इसीलिये जो मनुष्य इनके पजेसे छूट जाता है उसे उसी अध्यायके अन्तमे गुणातीत—तीनो गुणोसे रहित, उनके पजेसे बाहर —कहा गया है। इन तीनोंसे अपना पल्ला कैसे छुडाया जाय, यह प्रश्न करके उत्तर भी लिखा गया है। इसी तरह "त्रिभिर्गुणमयैर्भावैः" (७।१३-१४) आदि दो श्लोकोमे, बल्कि इनके पूर्वके १२वेमे भी, यही लिखा है कि त्रिगुणात्मक पदार्थ ही लोगोको मोहमे, भ्रममे, घपलेमे डालते है।

तब सवाल यह जरूर होता है कि आगे इसी श्लोकमे सत्त्वकी शरणकी

बात क्यो कही गई ? बात असल यह है कि आखिर इन तीनोसे पिंड छूटनेका उपाय भी तो होना चाहिये, और जैसा कि चौदहवें अध्यायके अन्तमे कहा है, "विपस्य विपमौपधम्"के अनुसार जैसे जहरको जहरसे ही मिटाते है, और "कण्टकेनेव कटकम्"के अनुसार काँटेसे ही काँटेको हटाते है, ठीक उसी तरह गुणकी ही मददसे गुणोसे पिंड छुडाना होगा। दूसरा उपाय है नही। गुणोमे भी दो तो चौपट ही ठहरे। हाँ, सत्त्वका काम है ज्ञान, प्रकाश, सुभाव, आलस्य त्याग, फुर्ती और मुस्तैदी। इसीलिये कहा गया है कि सत्त्वका ही आश्रय बराबर लेके उक्त विशेषतायें हासिल करो और अन्तमे तीनोसे ही छुटकारा लो। बराबर, निरन्तर, नित्य सत्त्वगुणका आश्रय लेनेको कहनेका आशय यही है। जब जब रज और तम दबाके आलस्य आदिमें फँसाना चाहें तब तब मुस्तैद होके सत्वगुणकी मददसे उनसे लडना और उन्हे भगाना होगा। तभी काम चलेगा। यही बात शान्तिपर्वके धर्मानुशासनके ११०वे अध्यायके "ये च सशान्तरजस सशान्ततमसश्च ये। सत्त्वे स्थिता महात्मनो दुर्गाण्यतितरन्ति ते" (१५), मे भी "सत्त्वे स्थिता" शब्दसे बताई गई है। पहले यह कहा है कि उनके रज और तम एकबारगी दब गये हैं। फिर सत्त्वके कायम रहनेकी बात आई है। इससे साफ हो जाता है कि सत्त्व नित्य रहता है, बराबर रहता है। क्योकि दोनो शत्रु शान्त जो हो गये, खत्म जो हो गये !

शान्तिपर्वके इसी श्लोकका "महात्मान" शब्द गीताके 'आत्मवान्'के ही अर्थको कहता है। महात्मा लोगोकी आत्मा महान् होती है। इसका तात्पर्य यह है कि उनका मन छोटी-छोटी, ससारकी क्षुद्र बातोमें न पडके बहुत ऊपर चला जाता है, बडा बन जाता है, आत्मतत्त्वमे लग जाता है। यही वजह है कि वह द्वन्द्व या राग-द्वेष, शत्रु-मित्र, सुख-दु ख आदिसे अलग हो जाता है। उसे इस बातकी भी फिक्र नही होती कि अमुक चीज नही है, उसे कैसे लाऊँ और मिली हुईकी रक्षा कैसे हो आदि आदि। इसे ही

योग—जोडना या प्राप्त करना और क्षेम—रक्षा करना—कहते है। वह इससे भी मुक्त हो जाता है। हमने यही लिखा भी है।

शान्तिपर्वके ५२वे तथा १५८वें अध्यायोमे जो कुछ भीष्मको आशीर्वाद तथा अर्जुनको उपदेश दिया गया है वहाँ भी वारवार यह 'सत्त्वस्थ' पद आया है। "ज्ञानानि च समग्राणि प्रतिभास्यन्ति तेऽनघ। नच ते क्वचिदासक्तिर्बुद्धे प्रादुर्भविष्यति॥ सत्त्वस्थ च मनो नित्य तव भीष्म भविष्यति। रजस्तमोऽभ्या रहित घनैर्मुक्तइवोडुराट् ५२।१७-१८), "ये न हृष्यन्ति लाभेषु नालाभेषु व्यथन्ति च। निर्ममा निरहकारा सत्त्वस्था समदर्शिन॥ लाभालाभौ सुखदु खे च तात प्रियाप्रिये मरण जीवित च। समानि येषा स्थिरविक्रमाणा बुभुत्सता सत्त्वपथे स्थितानाम्॥ धर्मप्रियास्तान् सुमहानुभावान्दान्तोऽप्रमत्तश्च समर्च्चयेथा (१५८।३३-३५)। इन श्लोकोमे अक्षरश गीताके इस श्लोककी ही वात है।

**यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।**
**तावान्सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः॥४६॥**

(जिस तरह) जितना काम छोटे वड़े जलाशयोसे निकलता है वह सभी केवल एक ही विस्तृत जलराशिवाले समुद्र या जलागयसे चल जाता है; (उसी तरह) वेदोसे जितना काम चलता है आत्मज्ञानी विद्वानका वह सवका सव (योही) चल जाता है—पूरा हो जाता है। ।४६।

इस श्लोकमे जो कुछ कहा गया है उसका निष्कर्ष यही है कि छोटे जलाशयका काम वडेसे, दोनोका उससे भी वडेसे और अन्तमे सवोका काम सवसे वडेसे—वडेसे वडेसे—चल जाता है। अत. उसके मिलने पर वाकियोकी पर्वा नही की जाती। आत्मज्ञान हो जाने पर सासारिक सुखो और भौतिक पदार्थोकी पर्वा नही रह जाती है। क्योकि आत्मा तो आनन्द सागर ही ठहरी। वृहदारण्यकके चौथे अध्यायके तृतीय ब्राह्मणके ३२वे मन्त्रके "एपोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रा-

मुपजीवन्ति"से शुरुकरके समूचे लम्बे ३३वें मत्रमें लोक परलोकके सभी सुखो एव आनन्दोका तारतम्य दिखाते हुए आखिरमें आत्मानन्दको ही सव के ऊपर माना है । कहा है भी कि उसीके भीतर शेष सभी समा जाते है । अन्य उपनिषदोमे भी यही वात आती है । यहाँ इसीकी ओर इशारा है ।

इस श्लोकमें ब्राह्मण शब्दका अर्थ ब्राह्मण जाति न होके आत्मज्ञानी ही है, यह वात पहले ही कृपण शब्दकी व्याख्याके सिलसिलेमें कही जा चुकी है । इसीलिये 'ब्राह्मणस्य'के आगे "विजानत" शब्द आया है जो विज्ञ या विद्वानका वाचक है ।

इस श्लोकका अर्थ करनेमे किसी किसीने उस अर्थ पर तानाजनी की है और उसे खीचतानवाला वताया है जो हमने किया है । ऐसे लोगोका कहना है कि "सर्वत सप्लुतोदके"का अर्थ समुद्र या समुद्र जैसा महान् जलाशय न करके वाढ या जल-प्लावन कर लेना ही ठीक है । इससे श्लोकका यह अर्थ हो जायगा कि जैसे जल-प्लावन होने पर जितना प्रयोजन ताल-तलैयाका रह जाता है, अर्थात् कुछ भी प्रयोजन रह जाता नही, वैसे ही आत्मज्ञानी विद्वानके लिये भी उतना ही प्रयोजन वेदोसे रह जाता है—अर्थात् कुछ भी नही रह जाता है । इस प्रकार आत्मज्ञानीके लिये वेदोकी निष्प्रयोजनताका प्रतिपादन खुले शब्दोमें वे लोग इस श्लोकमे मानते है ।

वेशक, इस अर्थ मे वैसी खीचतान नही है जैसी हमारे अर्थमें है । हालां कि, उनके अर्थमे भी द्रविड प्राणायाम जरूर है । क्योंकि कुछ भी प्रयोजन नही रह जाता यह वात श्लोकके शब्दोसे सिद्ध न होके अर्थात् सिद्ध होती है । लेकिन ऐसा अर्थ माननेमें एक वडी अडचन है । असलमें साफ साफ वेदोको निष्प्रयोजन या वेकार कह देनेकी हिम्मत किसी भी सनातनी ग्रथ या महापुरुषको नही होती । वेदोका स्थान हिन्दू-समाजमे इतना ऊँचा है कि उनके वारेमे स्पष्ट निन्दासूचक शब्द वोला और लिखा

जा सकता नही । ऐसी बात अब तक तो पाई गई है नही । ऐसी दशामे गीता जैसा सर्वप्रिय ग्रन्थ यह बात कहे, सो भी स्वय मर्यादापुरुषोत्तम श्रीकृष्णके ही मुखोसे, यह बात ठीक जँचती नही । इसीलिये तो इससे पहलेके "त्रैगुण्यविषया" श्लोकमे जहाँ मुनासिब था यह कह देना कि तुम तीनो-वेदोकी पर्वा छोडो—"निस्त्रिवेदो भवार्जुन" या "निस्त्रैविद्यो भवार्जुन", वहाँ यही कहा कि तुम त्रैगुण्य-रहित या ससारके पदार्थोंसे अलग हो जाओ—"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"। यदि श्लोकको गौरसे पढा जाय और उसका आशय देखा जाय तो वह यही है कि वेदोके इस जाल से बच जाओ । मगर ऐसा न कहके यही बात घुमाके कही कि सासारिक बातोकी लालसा छोड़ दो । इससे भी अर्थात् वैदिक कर्मकाड छूट ही जायँगे । फिर भी स्पष्टत ऐसा नही कहा । ठीक इसी तरह यहाँ भी कह दिया है कि वेदोका काम आत्मज्ञानसे भी चल जाता है । मगर उस सीधे अर्थमे तो कुछ न कुछ छीटा वेदो पर आई जाता है यदि गौरसे देखा जाय । इसीसे शकरने वह अर्थ नही किया है । हमने भी उन्हीका अनुसरण किया है ।

एक बात और भी है । यदि "सर्वत सप्लुतोदके" शब्दोका सर्वत्र जल-प्लावन अर्थ होता, तो "सप्लुतोदके"की जगह "सप्लुते दके" लिखना कही अच्छा होता । दक और उदक शब्दोका अर्थ एक ही है पानी । मगर उदक शब्द रखने पर सप्लुतके साथ उसका समास करना पडता है, जिसकी जरूरत उन लोगोके अर्थमे कतई रह जाती नही । वह तो तब होती है जब समुद्र अर्थ करना हो । इसीलिये बहुब्रीहि समास करना पडता है । 'सप्लुतोदके' लिखने पर समासकी गुजाइश रह जानेसे लोग वैसा कर डालते है । मगर यदि वैसा अर्थ इष्ट न होता तो साफ-साफ 'सप्लुते दके' लिख देते । फिर तो झमेला ही मिट जाता । इससे भी पता चलता है कि ऐसा अभिप्राय हुई नही ।

शान्तिपर्वके मोक्षधर्मके २४१वे अध्यायवाला "ये स्म बुद्धि परा प्राप्ता

धर्मनैपुण्यदर्शिन । न ते कर्म प्रशसन्ति कूप नद्या पिवन्निव" (१०) श्लोक देखनेसे पता लगता है कि वह भी परमज्ञान या आत्मज्ञानकी ही बात कहता है। उसमे साफ ही कहा है कि इस परा या सर्वोच्च वुद्धि—ब्रह्म-विद्या—क्योकि उपनिषदोमे ब्रह्मविद्याको ही परा विद्या कहा है—को जिनने हासिल कर लिया है वे कर्मोकी वडाई नही करते, उनकी ओर रुजू नही होते। इसमें दृष्टात देते है कि पीने आदिके लिये जो मनुष्य नदीमें पानी पा लेता है वह कूपकी पर्वा नही करता। इससे भी पता लगता है कि जल-प्लावनसे यहाँ अभिप्राय न होके क्रमश छोटे वडे और उनसे भी वडे जलाशयोसे ही मतलव है। इसी मानीमे नदी और कूपका नाम लेना ठीक हो सकता है।

इस प्रकार यहाँतक कर्मयोगकी भूमिका पूरी करके अगले दो श्लोकोमे उसी योगका स्वरूप वताया गया है। कर्मके सम्वन्धकी हिकमत, तरकीव, चातुरी या उपाय होनेके कारण ही इसे कर्मयोग कहते है। इसका वहुत ज्यादा विवेचन और विश्लेषण पहले किया जा चुका है। शान्तिपर्वके राजधर्मानुशासनके ११२वें अध्यायमें भी योग शव्द उपाय या हिकमतके मानीमें यो आया है, "त्वमप्येवविध हित्वा योगेन नियतेन्द्रिय । वर्त्तस्व वुद्धिमूल तु विजय मनुरब्रवीत्" (१७)। यहाँ 'योगेन' शव्दका अर्थ नीलकठने अपनी टीकामे 'उपायेन' ऐसा ही किया है। शान्तिपर्वके ही १३०वे अध्यायमे भी "अविज्ञानादयोगो हि पुरुपस्योपजायते । विज्ञानादपि योगश्च योगो भूतिकर पर" (१२) श्लोकमें नीलकठ लिखता है कि "अयोग उपायाभाव"—"अयोग शव्दका अर्थ है उपायका न होना।" इससे भी योग शव्द उपायवाचक सिद्ध होता है। योगका स्वरूप दो श्लोकोको मिलाके पूरा हुआ है—

**कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।**
**मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सगोऽस्त्वकर्मणि ॥४७॥**

**योगस्थः कुरु कर्माणि संगं त्यक्त्वा धनंजय ।**
**सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥४८॥**

तुम्हारा अधिकार केवल कर्ममे है, (कर्मोके) फलोमे हर्गिज नही । कर्मोंके फलोका खयाल (भी) न करो । कर्मके त्यागमे तुम्हारा हठ न रहे । हे धनजय, योगमे ही कायम रहके, आसक्ति या करनेका हठ छोड़के तथा वे खामखा पूरे हो यह पर्वा छोडके कर्मोको करो । इसी समता या लापर्वाही—बेफिक्री और मस्तागी—को ही योग कहते है ।४७।४८।

पहले दो बार कहे गये समत्वमे और इसमे क्या अन्तर है और इसका मतलब क्या है ये सारी बाते पहले ही अत्यन्त विस्तारके साथ लिखी जा चुकी है । यह तीसरा समत्व कुछ और ही है यह भी वही लिखा गया है।

कर्मयोगमे असल चीज योग ही है, जिसका रूप अभी बताया गया है । वह विवेक या ज्ञानस्वरूप ही है यह बात पहले कही जा चुकी है । ४६वें श्लोकमे इसी योगके सम्बन्धकी भूमिकास्वरूप जो "विजानतः ब्राह्मणस्य" कहा है उससे यह बात निस्सन्देह सिद्ध हो जाती है कि इस योगके मूलमे आत्मतत्त्वका पूर्ण विवेक ही काम करता है । उसके बिना इस योग—कर्मयोग—का स्वरूप तैयार होई नही सकता । इसीलिये जो लोग ऐसा समझते है कि कर्मयोगमे भी वास्तविक चीज एव मूलाधार कर्म ही है और योग या बुद्धि—हिकमत, तरकीब—के रूपमे जो ऊँची मनोवृत्ति काम करती है वह सिर्फ सहायक है, उसके स्वरूपको मार्जित और शुद्ध होनेमें केवल मदद करती है, वह भूलते है । यहाँ तो उलटी गगा बहती है । कर्म तो उसका एक कार्यक्षेत्र जैसा है । असल चीज तो वह बुद्धि ही है । उसके मुकाबिलेमे कर्मको ऊँचा दर्जा देनेका सवाल हुई नही । किन्तु—

**दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनंजय ।**
**बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः ॥४९॥**

हे धनजय, विवेक-बुद्धिरूपी योगकी अपेक्षा कर्म कही छोटी चीज है। (इसलिये) उसी विवेक बुद्धिकी ही शरण जा। क्योकि जो लोग उस विवेक बुद्धिसे रहित होते है वही तो फलकी आकाक्षा करते (और इसीलिये कर्म करते है) ।४९।

यहाँ भी कृपण शब्दका वही अर्थ है जो पहले कहा गया है, अर्थात् विवेकबुद्धि या आत्मतत्त्वके ज्ञानसे रहित।

**बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।**
**तस्माद्योगाय युज्यस्व योग. कर्मसु कौशलम् ।।५०।।**

इस ससारमें (उस) विवेकबुद्धिवाला (मनुष्य ही तो) पुण्य-पाप दोनोंसे पिंड छुडा लेता है। इसलिये (उस) बुद्ध्यात्मक योग(की ही प्राप्ति)के लिये यत्न करो। वह योग ही तो कर्मों(के करने)की चातुरी या विशेषज्ञता है, कुशलता है ।५०।

**कर्मज बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।**
**जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम् ।।५१।।**

क्योकि बुद्धियुक्त मनीषी—पहुँचे हुए—लोग ही कर्मोंसे होनेवाले (सभी) फलोंसे नाता तोडके जन्म(मरण)के बन्धनोंसे छुटकारा पा जाते (तथा) निरुपद्रव पद—निर्वाणमुक्ति—प्राप्त कर लेते है ।५१।

अब सवाल यह होता है कि तो यह बुद्धि प्राप्त होती है कब और इसकी प्राप्तिकी पहचान क्या है? यह तो कोई विचित्रसी चीज है, अलौकिकसा पदार्थ है, नायाब वस्तु है, और जैसाकि पहले दिखलाया जा चुका है, जीते ही मौतके समान असभवसी है। इसलिये इसकी प्राप्ति आसान तो हो सकती नहीं। यह भी नही कि यह कोई स्थूल या साधारण भौतिक पदार्थ हो। यह तो असाधारण चीज है। बाहरी नजरोंसे देखी भी नही जा सकती। तब हम कैसे जानेंगे कि अब यह हासिल हो गई? इसका उत्तर यह है—

**यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति ।**
**तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च ।।५२।।**

जब तेरी अक्ल इस बुद्धिभ्रमके कीचडसे पार हो जायगी (तो) उस समय तुझे सभी बातोसे विराग हो जायगा, (फिर चाहे वह) जानी-सुनी हो या जानने योग्य हो ।५२।

**श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला ।**
**समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि ।।५३।।**

(इस प्रकार वेदशास्त्रोकी सभी बातोसे मनके विरागी हो जानेपर) उनके करते घपले तथा दुबिधेमे पडी तेरी अक्ल जब अन्त करण या दिमागके भीतर ही रुकके वही सदाके लिये जम जायगी तभी (समझना कि) बुद्धिरूपी योग प्राप्त हो गया ।५३।

इन दोनो श्लोकोमें जो बाते कही गई है उनका जरासा स्पष्टीकरण जरूरी है। यह तो पहले ही कर्त्तव्याकर्त्तव्यके विवेचनमे बता चुके है कि वेदशास्त्रोके अनेक वचनो और ऋषि-मुनियोके बहुतेरे उपदेशोके करते लोगोकी अक्ल कर्त्तव्याकर्त्तव्यका निश्चय कर पानेके बदले और भी दुबिधेमे पड जाती है। उसकी हालत ठीक वही हो जाती है जैसी अँधेरी गुफामें पडी कोई चीज अन्दाजसे ही टटोलनेवालेकी। वह कोई निश्चय कर पाता नही और भीतर ही भीतर ऊब जाता है। निश्चयकी जितनी ज्यादा कोशिश वह करता है उतना ही ज्यादा दुबिधा और पचडा बढ जाता है। ठीक "ज्यो-ज्यो भीगै कामरी त्यो-त्यो भारी होय" या "मर्ज बढता गया ज्यो-ज्यो दवा की"की हालत हो जाती है। मगर करे क्या ? वेदशास्त्रोको छोडते भी तो नही बनता। जितना पढ-सुन चुका होता है उसका भी बार-बार खोद-विनोद करता ही जाता है। नये-नये जो भी वचन पढने-सुनने योग्य होते है उन्हे भी पढता जाता है। समझदारीकी यही तो दिक्कत है। यदि अपढ-अजान होता तो यह कुछ

नही होता। तब तो गलत-सही किसी बातको पकडके बैठ रहता कि यही ठीक है। इसीलिये तो नादानीको बहुत हद्दतक दिक्कतोकी ढाल माना है। मगर हो क्या ? यह बेचारा तो समझदार ठहरा।

इसीलिये पहले श्लोकमे कहा है कि जब योगरूपी विवेकबुद्धि मिल जायगी तो यह सभी पढने-पढाने एव विचार-विमर्शकी परीशानी एकाएक जाती रहेगी। तब दिल चाहेगा ही नही कि एक भी पन्ना उलटे या एक बातका भी खोद-विनोद करें। जैसे पका फल डालसे अकस्मात् अलग हो जाता है, वैसे ही ये सभी बाते दिलसे हट जाती है या दिल ही इनसे अलग हो जाता है। वह इन्हे पूछता भी नही। इसीको निर्वेद या वैराग्य कहा है।

जब मन या दिल विरागी बन गया तो फिर वेदशास्त्रके हजार तरहके वचनोके करते जो बुद्धिकी परीशानी थी, बेकली और बेचैनी थी उसपर भी पर्दा पड जाता है, वह भी आप ही आप जाती रहती है—मिट जाती है। जैसे कोई आदमी बडी परीशानीमें चारो ओर दौड-धूप करता-कराता तबाह हो, मगर अन्देशे या परीशानीके मिटते ही शान्त हो जायँ और सुखकी साँस ले। ठीक वही हालत बुद्धिकी हो जाती है। उसकी सारी दौड-धूप बन्द हो जाती है। हमेशाके लिये वह निश्चल एव निश्चिन्त बन जाती है। यही बात दूसरे श्लोकमें कही गई है। यह भी बात योगके प्रतापसे ही होती है। इसीलिये इसे भी योग प्राप्तिकी पहचान बताया है।

यहाँपर अचला और निश्चला ये दो शब्द आये हैं जिनका अर्थ एक ही है। इसीलिये खयाल हो सकता है कि दोमें एक बेकार है। मगर बात यह है कि बुद्धिमें जो स्थिरता आ गई वह दो तरहकी हो सकती है। एक तो तात्कालिक या कुछ समयके ही लिये। दूसरी हमेशाके लिये। कही ऐसा न समझ लें कि तात्कालिक शान्ति और स्थिरतासे ही काम चल जाता है। इसीलिये लिखा है कि निश्चल बुद्धि जब अचल हो जाती

है। निश्चलको अचल कह देनेसे ही उसकी शान्ति एव स्थिरतामे स्थायित्वका अभिप्राय सिद्ध हो जाता है। निश्चलका अक्षरार्थ भी है चलनेसे बरी और अचलका अर्थ है जो कभी न चले। बरी तो थोडे समयके लिये भी रहा जा सकता है।

समाधि शब्दका भी मनमाना अर्थ किया जाता है। अभीतक केवल दोई बार यह शब्द आया है। एक बार इस श्लोकमे। दूसरी बार इससे पूर्व "समाधौ न विधीयते" (४४)मे। हमने दोनो जगह एक ही अर्थ अन्त करण या दिमाग किया है। समाधिका अर्थ है जिस दशामे या जहाँ मन स्थिर हो, बुद्धि स्थिर हो, और दिमाग या अन्त करण ही ऐसी चीज है जहाँसे मन या बुद्धिकी दौड बार-बार हुआ करती है। मगर ज्योही यह दौड रुकी कि वही वे दोनो शान्त हो जाते है। एकाग्रताकी दशामे यही होता है। इसीलिये हमने यही अर्थ मुनासिब समझा है। जहाँके है वही रुक गये, यही तो शान्ति, स्थिरता या निश्चलता है और यही निश्चयात्मकता भी है। क्योकि निश्चय न रहनेपर बीस चीजोमे उनकी दौड जारी ही रहती है।

इतना कह देनेसे यह तो हो गया कि योगीकी पहचान मालूम हो गई। मगर इतनेसे ही तो काम चलता नही दीखता। पहले जब गोलमटोल बात थी तो अर्जुन भी चुप्प थे। कृष्णने भी अपने ही मनसे शका उठाके जवाब दे दिया। मगर कर्मयोगीकी पहचान सुननेके बाद स्वभावत अर्जुनको नई जिज्ञासाये पैदा हुई और उसे पूछना पडा। उसे यह सुनते ही एकाएक खयाल आया कि जो कुछ भी पहचान योगीकी बताई गई है वह तो भीतरी है, बाहरी नही। बुद्धिकी स्थिरता या पढने-लिखनेसे वैराग्य यह तो मनोवृत्ति ही है न ? फिर यह बाहर कैसे हो और दूसरोकी पहचानमे कैसे आये ? अपना काम तो शायद इससे चल जाय। क्योकि हर आदमी अपनी मनोवृत्तिको बखूबी समझ सकता है। मगर बाहरके

लोग कैसे जानें कि कौन योगी है ? यह नही कि दूसरोंके जाननेकी जरूरत ही न हो। यदि दूसरे न जाने तो उन्हे उपदेशक कैसे मिलेगा ? क्योंकि जो खुद योगी न हो वह तो उपदेश कर सकता नही। फलत यदि हमें योगका रहस्य जानना है तो योगीके पास ही जाना होगा। मगर विना पहचाने जायँगे कैसे ? इसीलिये पहचानकी जरूरत है, और इसके लिये बाहरी लक्षण, जो उठने-बैठने, बोलने आदिसे ही जाना जा सके, मालूम होना चाहिये।

इसके सिवाय जो लक्षण, जो पहचान बताई गई है वह बहुत ही सक्षिप्त है। उसमे एक ही बात है, या ज्यादेसे ज्यादे दो बातें हैं। मगर ज्यादा बातें पहचानके रूपमे मालूम हो जायँ तो आसानी हो। इन ज्यादा लक्षणो और बाहरी पहचानोंसे यह भी लाभ होगा कि जो खुद योगी होगा वह भी अपने आपको समय-समयपर तौलता रहेगा। आखिर योगकी पूर्णता एकाएक तो हो जाती नही। इसमें तो समय लगता ही है। इस दर्म्यानमें त्रुटियो एव कमजोरियोका पता लगा-लगाके उन्हें दूर करना जरूरी हो जाता है। इन्ही त्रुटियो और कमजोरियोका आसानीसे पता लगता है बाहरी लक्षणोसे ही। क्योंकि अपनी कमजोरी अपने आपको जल्द मालूम न होनेपर भी दूसरे चटपट जान जाते है। फलत उनकी बातोंसे सजग होके योगी खुद अपनी मनोवृत्तिपर कडी नजर रखता और उसे ठीक करता है। यही सब खयाल करके—

अर्जुन उवाच।

**स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव !**
**स्थितधी किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम् ॥५४॥**

अर्जुनने पूछा—हे केशव, जिसकी बुद्धि स्थिर तथा समाधिमे अचल हो गई है—जो योगी बन चुका है—उसकी परिभाषा—लक्षण—

क्या है? वह किस तरह बोलता, कैसे बैठता और कैसे चलता है?५४।

यहाँ "समाधिस्थ" शब्दका वही अर्थ है जो "योगस्थ कुरु कर्माणि"मे 'योगस्थ'का है। यदि गौरसे देखा जाय, और हम पहले विस्तारके साथ लिख भी चुके है, तो इस योगीकी भी वैसी ही समाधि होती है जैसी पतजलिके योगीकी। हाँ, यह प्राणायाम भले ही नही करे। फिर भी कर्मसे बालभर भी इधर-उधर इसकी दृष्टि, इसकी बुद्धि जाने पाती ही नही। वही जम जाती है, रम जाती है। इसीलिये यह समाधिस्थ और योगस्थ कहा जाता है।

श्रीभगवानुवाच।

**प्रजहाति यदा कामान्सर्वान्पार्थ मनोगतान्।**
**आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते ॥५५॥**

श्रीभगवानने कहा, हे पार्थ, जब मनके भीतर घुसी सभी कामनाओको जडमूलसे खत्म कर देता और आत्मामे ही—अपने आपमे ही—अपनेसे ही—खुदबखुद सन्तुष्ट रहता है तभी उसे स्थितप्रज्ञ या अचलबुद्धिवाला कहते है।५५।

**दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।**
**वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥५६॥**

दु खोसे जिसका मन उद्विग्न न हो सके, सुखो(की प्राप्ति)के लिये जो परीशान न हो और राग, भय एव द्वेष—क्रोध—ये तीनो ही—जिसके बीत गये या खत्म हो चुके हो वही मननशील—मुनि—स्थितप्रज्ञ कहा जाता है।५६।

इन दो श्लोकोमें योगी या स्थितप्रज्ञका लक्षण बताया गया है। इस प्रकार अर्जुनके पहले प्रश्नका उत्तर हो जाता है। बादके ५७वेमे

"किस तरह बोलता है"का और ५८वेंमें 'कैसे बैठता है'का उत्तर दिया गया है। उसके बादके (५९-७०) बारह श्लोकोमें उसी उत्तरके प्रसगमें आई बातोपर विचार करके ७१वेमे 'कैसे चलता है'का उत्तर दिया गया है। इस तरह सभी प्रश्नोके उत्तरके रूपमें कर्मयोगीका पूर्ण परिचय देके उसकी वास्तविक दशाका चित्र खीचा गया है। उसी दशाको ब्रह्म-निष्ठा या ब्राह्मीस्थिति भी कहते है, यही बात अन्तिम श्लोकमें कहके समूचे प्रकरण एव अध्यायका भी उपसहार कर दिया गया है।

यहाँ जो दो श्लोकोमें दो लक्षण कहे गये है उनमें पहला तो नितान्त भीतरी पदार्थ है जिसका पता बाहरसे लगना प्राय असभव है। किसे पता लग सकता है कि दूसरे आदमीकी सभी वासनायें खत्म हो गईं ? अपने ही भीतर वह मस्त है यह भी जानना क्या सभव है ? आसान है ? इसीलिये दूसरे श्लोकवाली बातें कही गई है। इन बातोके जाननेमें आसानी जरूर है। तकलीफोमे सर और छाती पीटना, हाय-हाय करना आसानीसे जाना जा सकता है। इसी तरह आराम पानेके लिये जो बेचैनी होती है उसका भी पता लगे बिना रहता नही। सबसे बडी बात यह है कि राग, भय और क्रोध तो छिपनेवाली चीजें है नही। खासकर भय और उससे भी बढके क्रोध हर्गिज छिप सकता नही। इस प्रकार इन लक्षणोंसे योगीको आसानीसे पहचान सकते हैं। सभी तरहके लोग इन लक्षणोंसे फायदा उठा सकते है, यही इनकी खूबी है।

**य. सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।**
**नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ।।५७।।**

जो किसी भी पदार्थमे ममता नही रखता—चिपका नही होता, इसीलिये जो बुरे-भले (पदार्थों)के मिल जानेपर न तो उनका अभिनन्दन ही करता है और न उन्हें कोसता ही है, उसीकी बुद्धि स्थिर मानी जाती है ।५७।

इसके उत्तरार्द्धमे योगीके बोलनेकी बात अभिनन्दन न करने और न कोसनेकी बातके रूपमे साफ ही आई है। योगीके बोलनेकी यही खास बात है कि वह न तो किसीकी स्तुति करता है और न निन्दा।

**यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।**
**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥५८॥**

जब यह (योगी) अपनी इन्द्रियोको उनके विषयोसे एकबारगी ठीक उसी तरह समेट लेता है जैसे (सकटके समय) कछुवा अपने सभी अगोको, (तब) उसकी बुद्धि स्थिर मानी जाती है।५८।

कछुवेके चलने-फिरनेसे एकाएक रुक जाने और सभी गर्दन, पाँव आदिको खीच लेनेकी बात कहके 'योगी कैसे बैठता है'का उत्तर दिया गया है। वह अपनी सभी इन्द्रियोका दर्वाजा ही बन्द कर देता है। फिर न तो किसी मनोरजक पदार्थके लिये कही आना होता है और न जाना। यो शरीर-यात्रार्थ नित्य क्रियादिके करनेमे आने-जानेपर कोई भी रोक नही होती। ६१वे श्लोकमे भी इन्द्रियोके ही रोकनेकी बात दुहराई गई है और कहा गया है कि इन्द्रियाँ जिसके वशमे हो वही स्थिर बुद्धिवाला है।

इन्द्रियोको विषयोंसे रोक देनेकी बात सुनके सवाल होता है कि यदि योगीकी यही बात है तो हठयोगी तपस्वीको भी क्या कभी गीताका कर्मयोगी कह सकते है? वह भी तो आखिर विषयोसे किनाराकशी करी लेता है। अपनी इन्द्रियोपर वह इतनी सख्तीके साथ लगाम चढाता है कि वे टससे मस होने पाती है नही। सर्दी-गर्मी और भूख-प्यासपर उसका कब्जा साफ ही नजर आता है। मगर ऐसे हठी तपस्वियो और योगियोमे तो जमीन-आसमानका अन्तर है। यह कैसे होगा कि गीताका योगी तपस्वीके साथ मिल जाय—उसी तपस्वीसे जिसका वर्णन स्मृति-ग्रथोमे पाया जाता है? तब तो यह योगी और योग गीताकी अपनी चीज

रह जायगी नही। वह एक प्रकारसे बहुत ही आसान चीज हो जायगी। इसीलिये इसका स्पष्टीकरण आगेके बारह श्लोकोमें करना जरूरी हो गया। क्योंकि यह विषय जरा गहन है। यह भी बात है कि क्या केवल विषयोके रोकनेमात्रकी ही जरूरत होती है, या और कुछ भी जरूरी होता है, यह भी जान लेना आवश्यक है। नही तो धोका हो सकता है, होता है।

**विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।**
**रसवर्जं रसोऽप्यस्य पर दृष्ट्वा निवर्त्तते ॥५६॥**

आहार छोड देनेवाले मनुष्यके विषय तो (स्वय) हट जाते है। (मगर उनके प्रति) रागद्वेष बने रह जाते है। ये भी निवृत्त हो जाते हैं (सही, लेकिन) ब्रह्मरूपी आत्माको देखनेपर ही, आत्मतत्त्वके ज्ञानके बाद ही।५६।

यहाँ आहार शब्द विचित्र है। सर्वसाधारणमें प्रचलित आहार शब्दका अर्थ है भोजन। यह भी माना जाता है कि केवल खाना-पीना—अन्न—छोड देनेसे ही सभी इन्द्रियाँ अपने आप शिथिल होके पस्त और अकर्मण्य हो जाती हैं। फलत विषयोतक पहुँच नही सकती है। हालत यहाँतक हो जाती है कि निराहार या अनशन करनेवालेके कानमें हारमोनियम बजाइये तो भी उसे कुछ पता ही नही चलता है। नासिकाके पास इतर-गुलाब लाइये तो भी उसे गन्धका पता नही चलता। इसीलिये छान्दोग्योपनिषदके सातवे प्रपाठक—अध्याय—के नवें खडमें लिखा भी है कि यदि दस दिन भोजन न करे तो उसके प्राण भले ही न जाये, फिर भी सुनना, सोचना, विचारना वगैरह तो खत्म ही हो जाता है—"यद्यपि दशरात्रीर्नाश्नीयाद्यद्युहजीवेदथवाऽद्रष्टाऽश्रोताऽमन्ताऽबोद्धाऽकर्त्ताऽविज्ञाता भवति" (९।१)।

दूसरी ओर यह माननेवाले भी बहुतसे लोग है कि आहारका अर्थ केवल अन्न न होके इन्द्रियोके पदार्थ या विषयको ही आहार कहना उचित

है । आहार शब्दका अर्थ भी यही होता है कि जो अपनी ओर खीचे । विषय तो खामखा इन्द्रियोको खीचते ही है । पहले श्लोकमे सिर्फ भोजन-की बात न आके विषयोकी ही बात आई है । बादवाले श्लोकमे भी इन्द्रियोके विषयोकी ओर ही खिच जाने और मनको खीच ले जानेकी बात कही गई है । छान्दोग्योपनिषदके सातवे प्रपाठकके अन्तमे यह भी लिखा गया है कि आहारकी शुद्धिसे सत्त्वकी शुद्धि और सत्त्वकी शुद्धिसे पक्की एव चिरस्थायी स्मृति, जिसे स्मरण या तत्त्वज्ञान कहते है, होती है, जिससे सारे बन्धन कटके मुक्ति होती है—"आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धि सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृति स्मृतिलम्भे सर्वग्रथीना विप्रमोक्ष" (७।२६।२) । यदि इस वचनसे पहलेवाले इसी २६वे खडके ही वाक्य पढे जायँ या सारा प्रकरण देखा जाय तो साफ पता चलता है कि यहाँ आहार शब्दका अर्थ इन्द्रियोके विषय ही उचित है, न कि भोजन । यही ठीक भी है । केवल भोजन तो ठीक हो और बाकी काम ठीक न रहे तो सत्त्वगुण या उस गुण-वाले अन्त करणकी शुद्धि कैसे होगी और उसकी मैल कैसे दूर होगी ? तब तो खामखा रज और तमका धावा होता ही रहेगा । फलत वे सत्त्व या सत्त्व-प्रधान अन्त करणको रह-रहके दबाते ही रहेगे । इसीलिये चौदहवे अध्यायके अन्तमे गीतामे भी गुणोसे पिंड छूटनेके लिये ऐसी चीजे बताई गई है जो भोजनसे निराली और विभिन्न विषय रूप ही है ।

यह ठीक है कि जब अनशन करनेवाले लोग कहें कि इन्द्रियोको वशमे करनेके लिये आत्मतत्त्व विवेककी जरूरत है नही, केवल निराहार होनेसे ही काम चल जायगा, तो उनके उत्तरमे इस श्लोकमे यह कहनेका सुन्दर मौका है कि हाँ, इन्द्रियाँ तो रुक जाती है जरूर । मगर रस या चस्का तो बना ही रहता है, जिसे राग और द्वेषके नामसे पुकारते है । इसीलिये तत्त्वज्ञानकी जरूरत है । क्योकि वह रस तो उसीसे खत्म होता है । इस प्रकार श्लोककी सगति भी बैठ जाती है । मगर यह सगति तो विषयो-

की बात मान लेनेपर भी बैठ जाती ही है। क्योकि हठी तपस्वी लोग एकदम निराहार तो नही हो जाते। शरीररक्षार्थ कुछ तो खाते-पीते हई। हाँ, कामचलाऊ मात्र ही स्वीकार करते और शीत-उष्णको सख्तीके साथ सहके इन्द्रियोको बलपूर्वक रोक रखते है। आखिर उनका भी तो जवाब चाहिये। ऐसे ही लोग ज्यादा होते है भी। इसीलिये गीताने उनका और दूसरोका भी उत्तर इसी श्लोकमे दिया है। राग और द्वेषको ही यहाँ रस कहा गया है। इन्हीका दूसरा नाम काम एव क्रोध और भय तथा प्रीति भी है। इसे गीताने खासतौरसे सग कहा है।

इसीके लिये आत्माके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान जरूरी माना गया है। वही योगका मूलाधार है। उसीके लिये सबसे पहले महान् यत्न करना जरूरी है। मगर कुछ लोग ऐसा गुमान कर सकते है कि आत्मज्ञान जैसी दुर्लभ चीजके लिये परीशान होने और मरनेकी क्या जरूरत है? इन्द्रियोके रोकनेका ही ज्यादेसे ज्यादा यत्न और अभ्यास करके यह काम हो सकता है कि वे आगे चलके कभी भी विषयोकी ओर न ताकें। आखिर राग-द्वेष लाठीसे तो मारते नही। होता है यही कि उनके रहते इन्द्रियोंके लिये खतरा बना रहता है कि कभी विषयोमें जा फसेंगी। यही बात न होनेका उपाय अभ्यास है। अभ्यास करते-करते ऐसी आदत पड जायगी कि अन्तमे विषय भूल जायँगे। मगर ऐसे गुमानवाले न तो इन्द्रियोकी ही ताकत जानते है और न राग-द्वेषकी मोहनी और महिमा ही। यह राग-द्वेष ही ऐसी रस्सी है जो विषयोको इन्द्रियोंसे और इन्द्रियोको मनसे जोडती है। जबतक यह रस्सी जल न जाये कोई उपाय नही। तबतक इन्द्रियां खुद तो विषयोमें जायँगी ही। मनको भी घसीट लेंगी। यही बात आगे यो कहते है—

**यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।**
**इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभ मनः॥६०॥**

हे कौन्तेय, पूरा समझदार पुरुषके (हजार) यत्न करते रहनेपर भी (ये) बेचैन कर देनेवाली इन्द्रियाँ मनको (अपनी ओर) बलात् खींच लेती है ।६०।

इस श्लोकमे "पुरुषस्य विपश्चित" कहनेका प्रयोजन यही है कि ऐरे-गैरेकी तो बात ही मत पूछिये। विवेकी और मुस्तैद—मर्दाने—लोगोकी भी दुर्गति ये बदजात इन्द्रियाँ कर डालती है। इसी तरह 'हरन्ति' शब्दका आशय यह है कि हमे पता ही नही लगने पाता और चुपकेसे मन उधर खिच जाता है। हम हजार चाहे कि ऐसा न हो। मगर इन्द्रियाँ तो ललकार के ऐसा करती है और हमे पता तब चलता है जब एकाएक देखते है कि मनीराम गायब है।

इस बातका बहुत ही सुन्दर आलकारिक वर्णन कठोपनिषदके प्रथमाध्यायकी द्वितीयवल्लीमे इस तरह किया गया है। जब कोई भला आदमी घोडागाडीपर चढके पक्की सडकके रास्ते कही जाय तो उसे सजग रहके चलना तो होता ही है। नही तो घोडे कही बहक जाये और गाडी नीचे जा गिरे। उसकी यात्रामे वह खुद होता है। कोचवान, लगाम, घोडे, गाडी ये भी होते ही है। सडक भी होती है और उसके किनारे दोनो ओर अकसर नीचे और गहरे गढे भी होते है। यदि उस नीची जगहमे हरी घास लहलहाती हो तो क्या कहना? घोडे तो घासकी ओर जरूर ही जोर मारते है। उन्हे लक्ष्य स्थानपर पहुँचनेसे क्या मतलब? वह यह भी क्या समझने गये कि यदि नीचे उतरे तो गाडी और गाडीके मालिक वगैरहके साथ खुद भी उन्हे जख्मी होना या मरना होगा? उन्हे तो हरी घासकी चाट होती है, उसका चस्का होता है। बस, बाकी बाते भूल जाती है। ऐसी दशामे यदि कोचवान जरा भी लापर्वा हुआ या ऊँघा और लगाम जरा भी ढीली हुई तो सारा गुड गोबर हुआ। रथ या गाड़ीके मालिकको भी पूरा सतर्क रहना होता है।

इसलिये इस विषयकी विषमताको समझके हमेशा सजग रहना ही होगा। तभी काम चल सकता है। इसीलिये आत्मज्ञानकी भी जरूरत है। यदि रथका मालिक ही जगा न हो तो खुदा ही खैर करे। तब तो सारा मामला ही चौपट। इसलिये—

**तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।**
**वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६१॥**

उन सबो—इन्द्रियो—को रोक—कब्जेमे कर—के आत्मामें ही मनको रमाये हुए डँटा रहे। क्योकि (इस प्रकार) जिसके वशमे इन्द्रियाँ हो वही स्थितप्रज्ञ है। ६१।

यहाँ 'मत्पर'मे 'मत्'का अर्थ साकार कृष्ण नही है। इसका तो प्रसग हई नही। यहाँ तो आत्मज्ञानका ही प्रसग है। इसीलिये ब्रह्म या परमात्मा रूपी आत्मासे ही यहाँ तात्पर्य है। कहते है कि, जिस प्रकार अत्यन्त चचल और क्रियाशील भूतको शान्त करनेके लिये कभी किसी चतुर व्यक्तिने वहुत लम्बे बाँसपर लगातार चढने-उतरनेका काम उसे दिया था—क्योकि वह उससे काम माँगता ही रहता था और इस तरह बेचैन कर डालता था, यहाँतक कि झपकी मारने भी न देता था,—ठीक उसी तरह आत्मामे ही जब मन रम जाय—जब अन्त -करणसे आत्मातक ही आने-जानेकी उसे इजाजत हो, न कि जरा भी इधर-उधर—तभी वह शान्त होता है। तभी इन्द्रियाँ भी कब्जेमे रहती है। इस मामलेमे कितना सतर्क रहनेकी जरूरत है, किस तरह लोग धोका खा जाते है और नीचे जा गिरते है, पद-पदपर इसमे कितना खतरा है और अनजानमे भी जरासी रिआ-यत करनेसे किस तरह सब किये-करायेपर पानी फिर जाता है, इसका बारीकसे बारीक विवेचन और ब्योरा आगेके दो श्लोक यो करते है —

ध्यायतो विषयान्पुंसः सगस्तेषूप जायते ।
संगात्सजायते कामः कामात्क्रोधोऽभिजायते ॥६२॥
क्रोधाद्भवति समोह संमोहात्स्मृतिविभ्रम. ।
स्मृतिभ्रशाद्बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात्प्रणश्यति ॥६३॥

विषयो—इन्द्रियोके विषयो या भौतिक पदार्थों—का खयाल करते ही मनुष्यके (दिलमें उनके प्रति) राग या आसक्ति पैदा हो जाती है। रागसे (उनकी प्राप्तिकी) इच्छा होती है। इच्छासे क्रोध होता है। क्रोधसे जबर्दस्त अन्धकार जैसा मोह पैदा हो जाता है। उस समोहका फल होता है हर तरहकी स्मृति—स्मरण या याद—का खात्मा। स्मृतिके खत्म हो जानेसे विवेक शक्ति जाती रहती है। विवेकशक्तिके चौपट हो जानेपर वह खुद चौपट हो जाता है ।६२,६३।

यहाँ जितनी बातें एके बाद दीगरे कही गई है उनका क्रम क्या है और प्रक्रिया कैसी है, इसे अच्छी तरह समझ लेना आवश्यक है। यह ठीक है कि जबतक किसी चीजका खयाल न हो उससे मन चिपकता नही, उसमें सटता नही। देखते है कि फोटोग्राफके प्लेट या पटरीपर उस हर पदार्थका बहुत बारीक असर (impression) पड जाता है जो उसके सामनेसे गुजरता है। इसीको सस्कार कहते है। यदि किसी सुगधित वस्तुको कही रख दें तो उसके हट जानेपर भी उसका कुछ न कुछ असर रही जाता है। इसी तरह दिमागके सामने जो चीज आती है उसका भी असर उसपर पडता ही है। दिमाग तो भीतर है। इसलिये उसके सामने बाहरी चीजें इन्द्रियोकी खिडकियोंसे ही होकर पहुँचती है। सो भी वे खुद नही, किन्तु अन्त करण या मन हूबहू उन्हीके आकारका बनके भीतर लौटता है। इसी तरह वे दिमागके सामने आती है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि इन्द्रियोकी खिड़कियाँ बन्द रहनेपर भी चीजोंके आकारको मन दिमागके सामने खडा कर देता है। यह इसीलिये होता

है कि पहले इन्द्रियोके रास्ते कभी वे भीतर आई थी और अपना असर छोड गई थी। बस उसी असरके आधारपर मन उनका स्वरूप तैयार कर लेता है। इसीको खयाल, स्मरण या ध्यान कहते है, चिन्तन कहते है। इन श्लोकोमे पहली बात यही कही गई है।

उसका नतीजा यह होता है कि उन चीजोसे मनीराम लिपट जाते है, उनमे आसक्त हो जाते है, फिदा हो जाते है। यह ठीक है कि यह आसक्ति योही नही हो जाती। कितनी ही चीजे रोज दिमागके सामने गुजरा करती है। मगर सबोके साथ सग या आसक्ति कहाँ देखते है ? हाँ, जो चीजे बार-बार सामने आ जायँ, जिनका बार-बार खयाल हो उनमे आसक्ति होती है। या ऐसा भी होता है कि यदि चीजमे कोई विलक्षणता हो तो पहली बार सामने आनेपर ही मनीराम उसपर लट्टू हो जाते है। यह बात वस्तुकी अपनी विशेषता और सामने आनेकी परिस्थितिपर ही अवलम्बित है। यही है दुनियाका तरीका। यही दूसरी बात यहाँ कही गई है।

आसक्ति होनेपर उसे प्राप्त करनेकी इच्छा, आकाक्षा या तमन्ना होती ही है। उसीके लिये रास्ता साफ करना आसक्तिका काम है। इच्छाको ही काम भी कहते है। इसका दर्जा तीसरा है। यह असभव है कि इच्छा होई न और आसक्ति योही रह जाये।

कामके बाद क्रोधका दर्जा आता है—उसीका चौथा नम्बर है। जिसे काम या इच्छा न हो उसे क्रोधसे क्या ताल्लुक ? उसमे तो क्रोधका दर्शन भी न होगा। इच्छासे क्रोध योही नही होता। किन्तु उसके मौके आते रहते है। इच्छित वस्तु न प्राप्त हुई, उसकी प्राप्तिमे देर हुई या बीचमे कोई जरा भी अडगा आ गया, तो चट क्रोध उमड पडता है। इच्छा जितनी ही तेज होगी, क्रोध भी उतना ही तेज होगा और शीघ्र होगा भी। क्योकि तब तो जरा भी बाधा या विलम्ब बर्दाश्त हो सकेगी नही। यह

भी होता है कि मिली हुई चीज किसी वजहसे दूर हो जाती है, हट जाती है और क्रोध भडक उठता है। तात्पर्य यह है कि बलवती इच्छाके बाद इच्छित पदार्थकी जुदाई, उसका पार्थक्य या अलग होना ही इच्छाको क्रोधमे परिणत कर देता है। जैसी इच्छा होगी वैसा ही क्रोध भी होगा।

यहाँ एक बात याद रखनेकी है। बहुत लोग गीताके "कामात्क्रोधो-ऽभिजायते"का सीधा अर्थ "कामसे क्रोध होता है", करनेके बजाय बीचमें अपनी ओरसे पुछल्ला लगा देते है कि काम—इच्छा—की पूर्तिमे बाधा पडनेसे क्रोध होता है। वे यह भी समझते है कि उनने अर्थका स्पष्टीकरण कर दिया। मगर ऐसा करनेमे वह भूल जाते है कि गीताका असली अभिप्राय ही चौपट हो जाता है। गीताके कामसे क्रोधकी उत्पत्ति सीधे ही कहनेका मतलब यही है कि क्रोधकी असल बुनियाद और अनर्थका मूल कामना ही है। इसलिये उसीको दूर करना होगा। उन लोगोंके अर्थमें यह बात—कामनाको ही अनर्थ बतानेकी बात—नही रह जाती है। क्योकि ज्योही उनने बाधाका नाम लिया कि सबने समझ लिया कि असली बला कामना नही है। क्योकि कामना होनेपर भी तो खामखा क्रोध होता ही नही। वह होता तो है तब जब कामनाकी पूर्त्तिमें बाधा आ जाये। और अगर बाधा न आये तो? तब क्रोध क्यो होगा? इस तरह जो महत्त्व कामनाको मिलना चाहिये वही मिल जाता है बाधाको। फलत कामनासे ध्यान हट जाता है—जैसा चाहिये वैसा खयाल कामनाके मुतल्लिक रहता नही। पीछे चाहे हजार कहें कि बाधा तो होती ही है, ऐसा तो सभव नही कि सदा हर हालतमे कामनाये पूरी हो, आदि आदि। मगर वह बात रह जाती नही—वह मजा और स्वारस्य रह जाता नही। और जब बाधायें अवश्यमेव आती ही है, तब उनके जिक्रकी जरूरत ही क्या है? गीताके तीसरे अध्यायके अन्तमें "काम एप क्रोध एप"में तो साफ ही काम और क्रोधको एक ही कहा भी है।

पाँचवी श्रेणीमे मोह या समोह आता है जो क्रोधसे पैदा होता है। मोह तो एक तरहका पर्दा है जो दिमागपर, विवेकशक्तिपर पड जाता है। जब वही पर्दा खूब जबर्दस्त और गाढा हो तो उसे समोह कहते है। हमारी आँखोके सामने हजारो चीजे पडी हो और बीचमे पर्दा न हो तो हम सबको ठीक-ठीक देखते, जिन्हे चाहते उन्हे चुन लेते, उनके बारेमे कुछ दूसरा खयाल करते और सोचते-विचारते है। मगर अगर बीचमे कोई पर्दा आ जाये तो यह सारी बात रुक जाती है। यही हालत दिमागकी भी है। युगयुगातरकी देखी, सुनी और जानी हुई बाते सस्कारके रूपमे उसमें पडी रहती है। उनका एक तरहका सूक्ष्म चित्र पडा रहता है। समय-समयपर दिमाग उन्हे देखता, विचारता, चुनता और उनसे काम लेता रहता है। उन चीजो और उसके बीच कोई पर्दा नही होता। हाँ, नीद, नशा, बीमारी आदिके करते मोटा या महीन पर्दा कभी-कभी आ जाया करता है और ऐसा हो जाता है कि वे ओझल हो गई। यही बात क्रोधके समय भी होती है। कहते है कि क्रोधमे आदमी अन्धा हो जाता है—उसे सूझता ही नही। इसका यही मतलब है। क्रोधका पर्दा बडा खतरनाक होता है। वह बुरी तरह भटकाता और गुमराह करता है जिससे महान अनर्थ हो जाता है। यह बात नीद वगैरहमे नही होती है। क्रोधमे तो इन्सान क्यासे क्या कर बैठता है। इसीलिये उसे समोह कहा है। इसीलिये गीताके तीसरे अध्यायके अन्तके (३६-४३) आठ श्लोकोमे इसी क्रोधको सभी पापोका मूल कारण, महापाप, आवरण, कुभकर्ण जैसा पेटवाला, असली शत्रु, आग और कभी पूरा न होनेवाला बताया है। उससे सुन्दर चित्रण हो सकता है नही। क्रोध होते ही दिमागमे भादोकी घोर अँधेरी छा जाती है। "त्रिविध नरकस्येद" (१६।२१-२२) आदि दो श्लोकोमे काम, क्रोध और लोभको नरकके द्वार तथा आत्माके नाशक कह दिया है।

समोहसे स्मृतिका खात्मा हो जाता है और यही छठी बात है। घोर अँधियालीमें सूझने क्यो लगा ? अँधियालीका तो काम ही है कि किसी चीजका पता लगने न दे। स्मृति या स्मरणके भ्रशका अर्थ इतना ही है कि स्मृति हमेशाके लिये खतम न होके तत्काल जाती रहती है। यह तो कही चुके है कि दिमागमें सारी वातोके सूक्ष्म चित्र है। वह भौतिक या वाहरी कान, आँख आदि तो है नही। इसलिये प्रत्यक्ष अनुभव तो उन वातोका होता नही। किन्तु वह स्मरण हो आती है। यही दिमागका देखना है और क्रोधके चलते यही हो पाता नही; रुक जाता है। जितनी वाते पहले देखी-सुनी, पढी-लिखी या जानी थी एककी भी याद नही हो पाती। सब चौपट !

इसका परिणाम यह होता है कि भले-बुरे, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, आत्मा-अनात्मा आदिका विवेक हो पाता नही—यह विवेक-शक्ति ही कुठित हो जाती है और अपना काम कर पाती नही। यही सातवी चीज होती है। विवेक या विचार है क्या चीज यदि जानी-सुनी बातोका जोड-बटोर और मिलान नही है ? समय-समयपर सभी तरहकी वाते हम जानते रहते है और उनका सस्कार दिमागमें पडा रहता है। कभी कुछ जानते तो कभी कुछ। एक वार एक चीज जानते, तो दूसरी वार दूसरी और कभी-कभी पहलेकी विरोधी। एक लम्बी वातका एक अश आज, एक कल, दो परसो इस तरह भी जानते रहते है। एक दिन जिसे सही जानते है, दूसरे दिन उसीको अशत या पूरा-पूरा गलत जानते है। ये सारी जानकारियाँ—सारी वाते—फोटोकी तख्तीपर के चित्रकी तरह दिमागमें पडी रहती है। दिमागका यही काम है कि समय-समयपर इन्हे जोड-वटोरकर—उन्हे स्मरण करके—एकत्र करके—और काट-छाँटके एक नई वात, नई चीज, नया निश्चय तैयार करे। इसे ही विवेक कहते है। विवेकका अर्थ है काट-छाँट, जोड-बटोर करना, चावलको भूसे से जुदा

करके राशि बनाना। मगर जब जानी-सुनी बाते याद ही नही, उनकी स्मृति ही नही, तो विवेक कैसे होगा ? तब अक्ल और बुद्धि कैसे होगी—समझ क्योकर होगी ? इस तरह भौतिक पदार्थोका ही विवेक जब नही हो पाता, तो फिर आत्माका विवेक और उसका तत्त्वज्ञान कैसे होगा ? वह तो गहन विषय है। इसलिये उसके सम्बन्धकी बातोका जाना सुना जाना तो और भी लापता हो जायगा, उड जायगा, खत्म हो जायगा।

और जब बुद्धि ही नही तो मनुष्य को चौपट ही समझिये। यही आठवी और अन्तिम बात है। अब बाकी रही क्या गया, जब चौपट ही हो गये ? पत्थर, वृक्ष और पशु-पक्षियोसे मनुष्यमे यही तो फर्क है कि यह बुद्धि रखता है, समझदार है—rational being—है और भले-बुरेका विचार करता है, कर सकता है। मगर जब इसमे यही बात न रह गई तो मनुष्य क्या खाक रहा ? तब तो चौपट होई गया।

अब सवाल यह होता है कि तो आखिर किया क्या जाय ? अगर किसी चीजका खयाल न करे तो क्या पत्थर बन जाये ? यो तो खयाल करनेपर पीछे देरसे पत्थर बननेकी नौबत आती है, जैसा अभी कहा है। बल्कि खामखा पत्थर बन जानेकी भी नौबत नही आती है। हाँ, मनुष्यता जरूर चली जाती है। मगर यदि खयाल करे ही न, तब तो सोलहो आना पत्थर बनी चुके। और अगर ऐसा नही करते तो शरीर-रक्षा एव जीवन-यात्रा करते हुए मनुष्यताकी भी रक्षा करनेका कोई बीचका रास्ता नजर आता नही। आखिर विवेकीके लिये भी तो शरीर, इन्द्रियादिकी रक्षा जरूरी है। नही तो विवेक-विचार वह करेगा क्या खाक ? मगर इसके लिये तो पदार्थोका खयाल जरूरी हो जाता है। आखिर भूख लगनेपर ही तो खायेगा और प्यास लगनेपर पानी पियेगा। मल-मूत्रादि का त्याग भी बिना खयालके होगा नही। उधर खयालमे आसक्तिका

खतरा ही ठहरा। तो फिर किया क्या जाय ? इसीका उत्तर—इसी पहेलीका समाधान—आगेके दो श्लोक इस तरह करते हैं—

"रागद्वेषवियुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति ॥६४॥
प्रसादे सर्वदुःखाना हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते ॥६५॥

राग और द्वेषसे शून्य तथा अपने कब्जेमे रहनेवाली इन्द्रियोंके द्वारा (आवश्यक) विषयोको भोगनेवाले पुरुषका तो मन अपने अधीन रहनेके कारण (चित्तकी) प्रसन्नता (ही) प्राप्त होती है। प्रसन्नता होनेपर इस (मनुष्य)की सारी तकलीफें खत्म हो जाती है। क्योकि प्रसन्नचित्त पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही सर्वथा स्थिर हो जाती है। ६४।६५।

यहांपर कई बातें जानने योग्य है। पदार्थोंके खयाल या ससर्ग मात्रसे ही कुछ होता जाता नही। विरागी पुरुष भी तो आखिर खाता-पीता और जीवनयात्रा करता ही है। उसके दिमागके सामने भी पदार्थ आते ही रहते है। मगर वह तो चौपट होता नही ? क्यो ? इसीलिये न, कि पूर्व कथनके अनुसार उसके भीतर पदार्थोंके लिये रस नही है, सग और आसक्ति नही है, राग द्वेष नही है ? वह तो पदार्थोंसे उदासीन रहता है। केवल अनिवार्य आवश्यकतासे ही उनसे काम लेता है। मलमूत्र त्यागका ही दृष्टान्त लें। हर आदमीके लिये यह प्रतिदिन जरूरी बात है। मगर क्या कभी ऐसा भी देखा-सुना गया कि कोई आदमी मल-मूत्र त्यागमे आसक्ति रखता हो ? ऐसा तो कभी होता नही। क्यो ? इसीलिये न कि मजबूरन लोगोको यह काम करना ही पडता है। नहीं तो शरीर रहेई न ? अनिवार्य आवश्यकताके अतिरिक्त इस काममे और कोई वजह होती ही नहीं। इसीलिये उसमें फँसनेका सवाल उठता ही नहीं। वैराग्ययुक्त विवेकी पुरुप ठीक इसी तरह खानपान वगैरह भी

करता है। उसकी नजरमे मलमूत्र त्याग और खानपान आदिमें जरा भी अन्तर नही है—दोनो ही शरीर-रक्षाके लिये अनिवार्य है। उसे न तो मलमूत्रमे राग द्वेष है, आसक्ति है, चस्का है और न खानपान आदिमे ही। फिर वह फँसेगा क्यो ? बस, यही बात हमे करनी होगी यदि हम भी कल्याण चाहते है, चौपट होना नही चाहते और सभी अनर्थोसे बचना चाहते है। "रागद्वेषवियुक्तै"मे जो वियुक्त शब्द है वह यही बात बताता है कि हम इन बातोमे जरा भी चसके न, लिपटे न, जैसा कि मलमूत्र त्यागमे नही लिपटते।

पहलेके ६०वे श्लोकमे "इन्द्रियाणि प्रमाथीनि" आदि उत्तरार्द्धमे यह कहा गया है कि इन्द्रियाँ पुरुषको बेचैन कर देती है, मथ देती है जैसे मथानीसे दही मथा जाय और मनको जबर्दस्ती खीच ले जाती है। मथनेकी बात हम "व्यथयन्ति"की व्याख्यामे बखूबी बता चुके है। उसका उलटा यहाँ कह दिया है कि "आत्मवश्यै"—अर्थात् इन्द्रियाँ अपने काबूमे हो जाती है, अपने मनके अधीन रहती है। आत्माका अर्थ स्वय और मन दोनो ही है। जब चस्का और रागद्वेष नही है, तो इन्द्रियोको यह शक्ति होती ही नही कि मनको खीच सके। क्योकि वही तो रस्सी है जिनके द्वारा उनके साथ मन जुटा है। इसीलिये जब चाहती है उसे अपनी ओर खीच लेती है। मगर वह रस्सी ही अब गई है टूट। फिर हो क्या ? मगर मनीराम कौनसे भले है ? यह हजरत तो खुद इन्द्रियोकी पीठ ठोकते और ललकारते फिरते है कि वाहवाह, खूब किया। ऐसी दशामे यदि इन्द्रियाँ इनके हाथ आ गई तो इन्हे तो मजा ही हुआ। अब पीठ ठोकने-में और भी आसानी जो होगी। इसीलिये कह दिया है कि "विधेयात्मा"। असलमे मनीराम यह काम जरूर करते। मगर वे तो खुद परीशान है। वे आत्माके सोलह आने कब्जेमे जो है। इसीलिये कुछ कर नही सकते। यहाँ तो "आ फँसे"वाली हालत है। असलमे राग-द्वेषके खत्म होते ही

सारी परिस्थिति ही उलट जाती है। कहते है कि किसी ऊँटनीका वच्चा उसके साथ चलते चलते जव थक गया तो माँसे गिडगिडाके वोला कि माँ, जरा ठहर जा। वहुत थक गया हूँ। थोडी दम तो मार लूँ। इसपर ऊँटनीने उत्तर दिया कि वेटे, मै भी क्या कम थकी हूँ? मै भी तो दम मारना चाहती हूँ। मगर मेरी नकेल दूसरेके हाथ जो है और वह दाढीजार रुकना नही चाहता। इसलिये वेवसी है। वस, ठीक यही हालत मन और इन्द्रियोकी है। जव ये मनसे पूछती है कि क्यो भई, हुक्म दो तो जरा मजा लें, तो मनीराम चट कह वैठते है कि वोलो मत वहनो, वडी वेवसी है, सारा मजा किरकिरा है। वह और भी विगड जायगा।

इस तरह पहले श्लोकके स्पष्टीकरणके वाद इसके तथा दूसरेके 'प्रसाद' और सव दु खोकी हानिकी वात रह जाती है। दुनिया का नियम यही है कि कोई भी अच्छेसे अच्छा और वडेसे वडा काम करनेके वाद यदि मनस्तुष्टि या चित्तकी प्रसन्नता न हो तो वह काम वेकार माना जाता है और सारा परिश्रम व्यर्थ ही समझा जाता है। विपरीत इसके अगर उसके वाद प्रसन्नता हो गई, तवीअत खुश हो गई तो सव किया दिया सफल माना जाता है। इससे निष्कर्ष निकलता है कि असली चीज भला-बुरा काम नही है, किन्तु उसके अन्तमे होनेवाली मनस्तुष्टि ही, जिसे यहाँ प्रसाद कहा है और "प्रसन्नचेतस"मे प्रसन्नता भी कहा है। दोनोका अर्थ एक ही है।

वात यो है कि वेदान्त सिद्धान्तके अनुसार हृदयमे या अन्त करणमे आत्माका लहलहाता प्रतिविम्व मानते है। जैसे साफ-सुथरे दर्पणमे मुखका प्रतिविम्व पडता है और उसे देखके हम खुश या रज होते है जैसा मुख प्रतीत हो। ठीक उसी तरह सत्त्वप्रधान अन्त करणका दर्पण भी चमकदार है। उसीमे आत्माका प्रतिविम्व मानते है। आत्माको आनन्द

स्वरूप भी मानते है। वह आनन्दका महान् स्रोत है। इसीलिये आत्माके प्रतिविम्वका अर्थ है उसके आनन्दसागरका प्रतिबिम्ब। जो लोग उसका अनुभव करते है वह आनन्दमे मस्त रहते है—उसीमे गोते लगाते रहते है। वेदान्ती यह भी मानते है कि आनन्द या सुख तो केवल आत्मामे ही है। केवल वही आनन्द रूप है। भौतिक पदार्थोंमे तो सुखका लेश भी नही है, "यो वै भूमा तत्सुख नाल्पे सुखमस्ति" (छान्दोग्य० ७।२३।१।)

लेकिन जिस तरह जलमे पडा प्रतिविम्व तभी दीखता है जब जल निश्चल एव निर्मल हो, जरा भी हिलता डोलता न हो। वैसे ही आत्मानन्दका प्रतिबिम्ब तभी अनुभवमे आता है जब अन्त करण निर्मल और निश्चल हो। आईना मैला और बराबर नाचता हो तो प्रतिविम्व दिखेगा कैसे? इसीलिये योगी और आत्मदर्शी लोग बराबर ही चित्तकी शान्ति और निर्मलताकी कोशिश करते हैं। गीताने भी इस वातपर सबसे ज्यादा जोर दिया है। रागद्वेप आदि ही चित्तकी मैल हैं। उसकी चचलता तो सभीको विदित हैं। क्षण भरमे दिल्लीसे कलकत्ता और वहाँसे तीसरी जगह जा पहुँचता हैं। कही भी टिकना तो वह जानता ही नही। वन्दर या पारेसे भी ज्यादा चचल उसे कहा गया है। विजलीसे भी ज्यादा तेज वह दौडता है।

अब रही विषय सुख या भौतिक पदार्थो से मिलनेवाले सुखकी बात। वेदान्तियोका इसमे कहना यही है कि जब मनुष्यको किसी चीजकी सबसे ज्यादा चाट होती है तो वह दिन-रात उसीका खयाल करता रहता हैं। इस प्रकार उसका मन एकाग्र हो जाता हैं। फलत अन्त करणकी चचलता दूर हो जानेके कारण उसमे आत्मानन्दका लहलहाता प्रतिविम्व नजर आता है। मगर मन निश्चल एव एक ही जगह बँधा होनेपर भी बाहरकी उसी चीजमे लगा है जिसकी चाट या प्रचड अभिलापा है। इसीलिये उस आत्मानन्दको अनुभव कर नही सकता, उसे देख या जान नही सकता।

वह बाहर जो टँगा है। भीतर आ जो नही सकता। मगर ज्योही वह चीज मिली कि चट भीतर लौटा और उस आत्मानन्दका अनुभव करके मस्त हो जाता है। इस तरह उसे जिस आनन्दका अनुभव होता है वह तो आत्मानन्द ही है। फिर भी अभिलषित पदार्थके मिलनेपर ही उसका अनुभव होनेके कारण ऐसा भ्रम हो जाता है, ऐसा माना जाने लगता है कि उस पदार्थमें ही आनन्द है। उस पदार्थके ही चलते मन—अन्त-करण—की एकाग्रता हुई है जरूर। इसीलिये आत्मानन्दका अनुभव भी हुआ है। इसीलिये उस विषयको आनन्दके अनुभवका सहकारी कारण भले ही माना जाय। मगर उसमें आनन्द तो हर्गिज नहीं है। ऐसा मानना तो सरासर भ्रम है। आनन्द तो केवल भूमामे है—महान्से भी महान् पदार्थ रूपी आत्मामे ही है।

यही कारण है कि एक ही चीजसे एक आदमीको आनन्द मिलता है और दूसरेको नही। यदि आनन्द उस वस्तुका स्वभाव होता, उस वस्तुमे ही रहता तो अग्निकी गर्मीकी तरह सबोको समान रूपसे ही उसका अनुभव होता। परन्तु ऐसा होता नही। खूब भूखे आदमीको भरपेट सत्तू या सूखी रोटी खिलाइये तो वह आनन्द-विह्वल हो उठता है। लेकिन अमीरको तो वही चीजे देखके भी कष्ट होता है, खानेकी तो वात ही जाने दीजिये। यदि भौतिक पदार्थमे ही आनन्द होता तो ऐसा कदापि न होता। इसी तरह वही हलवा-पूडी भूखेको खिलाइये और पेटभरोको भी। भूखे तो खाके आनन्दसे लोटपोट हो जायँगे। मगर पेटभरे लोग आनन्द मनाने या खुश होनेके वदले उसमे हजार ऐब ही निकालेगे कि पूडी जरा नर्म सिकी, खर न थी, घी अच्छा न था, सूजी खराव थी, कुछ अच्छी गन्ध आती न थी, मालूम होता है, चीनी खाँटी न थी, घी शुद्ध न था, आदि आदि। क्यो ? इसीलिये न, कि भूखेका मन और अन्तःकरण उस अन्नकी रट लगाये एकाग्र था, निश्चल था, फलत उसे पाते ही उसने

आत्मानन्दका उक्त रीतिसे पूर्ण अनुभव किया ? मगर पेटभरोका मन तो एकाग्र था नही। क्योकि हलवा-पूडीकी रट थी नही। उनका पेट जो भरा था। इसीलिये वह चीजे मिलनेपर भी उनमे कोई फर्क न हुआ। इसीलिये उनका मन आत्मानन्दका अनुभव कर न सका। वह तो बन्दरकी तरह पहले भी दौडता रहा और खानेके समय एव उसके बाद भी। फिर आत्मानुभव हो तो कैसे ? वह आनन्द मिले तो कैसे ?

देखा जाता है कि सूखी हड्डीको कुत्ता चवाता है। उसमें कुछ रस तो होता नही। केवल हड्डीकी महकसे कुत्तेको खयाल होता है कि जिस तरह ताजी और रसीली हड्डीमे खूनका रस मिलता है उसी तरह इसमे भी मिलेगा। इसीलिये खूव जोरसेउसे चवाता है। जब कुछ नही मिलता तो और भी जोर लगाता है। नतीजा यह होता है कि हड्डीकी नोकोसे उसके जवडे छिल जाते है और उनका खून हड्डीमे टपक पडता है। कुत्ता उसीको चाटके खुश होता है। फिर तो पहलेसे भी ज्यादा जोर लगाता है। फलत और भी जख्म होते है जो ज्यादा खून टपकाते है। यही वात देरतक चलती है जवतक वह थकके छोड नही देता। कुत्ता अपने ही खूनको मिथ्या ही हड्डीका समझके खुश होता है। क्योकि अपने खूनका स्वाद उसे उस हड्डीके ही वहाने मिल पाता है। इसीसे उसे भ्रम होता है कि हड्डीमे ही खून है। ठीक इसी तरह हरेक आदमी हमेशा मौका पडनेपर अपने ही आत्मानन्दका अनुभव करता है। मगर स्वतन्त्र रूपसे ध्यान और समाधिके द्वारा वह आनन्द लूटनेका शऊर तो उसे होता नही। वह तो विषयोंके वहाने ही उसे कभी-कभी लूटता है, उसका अनुभव करता है। इसीलिये उसे भ्रम हो जाता है कि विषयो—भौतिक पदार्थों—मे ही सुख है। उसे अनुभव भी उस आत्मानन्दके एक तुच्छ कणका ही हो पाता है। क्योकि जरासी देरके वाद ही उसका मन फिर चंचल जो हो जाता है। वह उसमे डूव तो सकता नही। इसीलिये वृहदारण्यकके

चौथे अध्यायमें लिखा है कि इसी परमानन्दके एक छीटेसे सारे ससारका काम चलता है—"एषोऽस्य परम आनन्द एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (४।५।३२)।

इस लम्बे विवेचनसे यह साफ हो गया कि चित्तकी प्रसन्नता ही असल चीज है। उसके होते ही परमानन्दका अनुभव होने लगता है। फिर तो ससारके सारे कष्ट भाग जाते हैं। मन तो एक ही होता है न? और जब वही आत्मानन्दमे डूब चुका तो दु खोका अनुभव कौन करे? "इक मन रह्यो सो गयो स्याम सग कौन भजै जगदीस"? और जव अनुभव होता ही नही, तो दु ख रही क्या चीज? वह अन्न-वस्त्रादि की तरह कोई स्थायी या ठोस चीज तो है नही? वह एक विलक्षण प्रकारकी मानसिक वृत्ति ही तो है, जिसका अस्तित्व उसके अनुभवके साथ ही रहता है। अनुभवके विना वह लापता रहता है, लापता हो जाता है। इस तरह जव मन आत्मानन्दमें डूबा है तो दु खरूपी उसकी वृत्ति भी हो इसका मौका ही कहाँ रहा? इसकी फुर्सत ही कहाँ रही? जव आत्मज्ञानी या योगी रागद्वेषमे बँधता नही तो उसके मनकी एकाग्रता हमेशा ही वनी रहती है। उसमें वाधा तो कभी पडती नही। वह निरन्तर अविच्छिन्न रहती है। इसीलिये आत्मानन्दका अनुभव भी निरन्तर अविच्छिन्न रहता है। मन वशमे है यह तो 'विधेयात्मा'से स्पष्ट ही है। इसीलिये कह दिया है कि सभी तकलीफोका खात्मा हो जाता है। न तो मानसपटलकी गभीरता कभी भग होती है और न यह वला आती है। इसी अविच्छिन्न गभीरताका ही नाम प्रसाद है।

जिनने गौरसे "ध्यायतो विषयान्" आदि दो श्लोकोको पढके उसी तरह वादके "रागद्वेषवियुक्तैस्तु" आदि दो श्लोकोको भी पढा होगा उन्हे साफ पता लगा होगा कि पहले दो श्लोकोमें जो वात शुरू की गई थी कि रागद्वेषादिके वशीभूत होनेसे कैसी दुर्गति होती है, उसीके वीचमे

ही वादवाले दो श्लोकोके जरिये सिर्फ एक शकाको दूर किया गया है जो उठ खडी हुई थी और जिसका स्वरूप हम अच्छी तरह बता चुके है। वह शका एकाएक उठ गई और मौजूँ भी थी। इसीलिये अपनी बात पूरी न करके पहले उसीका उत्तर देना जरूरी हो गया। तभी तो श्रोता आगेकी उस प्रधान विषयसे सम्बन्ध रखनेवाली बाते अच्छी तरह सुन सकेगा। इसीलिये वादवाले श्लोकोके शुरूवाले शब्दके साथ ही 'तु' जुटा हुआ है। इसका अर्थ 'तो' होता है। यह वही आता है जहाँ बीचमे ही कोई दूसरी या उलटी बात प्रासगिक रूपमे खडी हो जाय और जिसका उत्तर देना जरूरी हो जाय। ऐसी बात आगे भी गीतामे "यस्त्वात्मरतिरेव" (३।१७) आदि श्लोकोमे आई है। इसलिये असली प्रसग अभी पूरा नही हुआ है यह तो मानना ही पडेगा।

जो लोग ऐसा समझते हो कि वह प्रसग तो पहलेके उन दोई श्लोकोमे पूरा हो गया उन्हे जरा भी सोचनेपर अपनी भूल मालूम हो जायगी। देखिये न ? उन दोनोके अन्तमे यही तो कहा गया है कि बुद्धिके नष्ट होनेसे आदमी खुद भी चौपट हो जाता है—"बुद्धिनाशात्प्रणश्यति"। मगर क्या यह बात सही है ? और अगर है भी तो कैसे ? चौपट होनेका क्या अर्थ है ? अगर पत्थरमे बुद्धि नही है तो क्या वह चौपट हो गया ? ऐसा कौन मानता है ? विपरीत इसके बुद्धि न होनेसे ही तो उसे तकलीफ-आराम किसी बातका अनुभव नही होता। यह तो मानते ही है कि यह अनुभव ही तो ससार है, आफत है, वला है, बुरी चीज है। आनन्दका अनुभव तो होता भी शायद ही है। होता तो है अधिकतर कष्टका ही। इसलिये इस दृष्टिसे तो पत्थर अच्छा ही ठहरा। और आत्मा तो सर्वत्र है, सबोकी है यह कही चुके है। फिर पत्थर उससे जुदा कैसे माना जायगा ? इसलिये चौपट होनेका मतलब क्या ?

और क्या पागलोमे मस्ती नही होती ? उनकी समझ चली गई

और वे सभी आफतोंसे अलग हो गये। मौजमें विचरते फिरते हैं। नगे है तो भी फिक्र नही है। गालियाँ पड रही है या आशीर्वाद मिल रहा है। मगर लापर्वाह और बेगम है। फिर यह कैसे कहा जाय कि बुद्धि या समझके चले जानेसे ही मनुष्य नष्ट हो जाता है? यह भी नही कि पागल लोग फौरन मर जायें। वे तो बहुत दिनोतक पडे रहते है, जैसे दूसरे लोग। हाँ, यह जरूर होता है कि सभी रोग-बीमारियाँ लापता हो जाती है। लेकिन यह तो चौपट होनेके बजाय और भी अच्छी चीज है। यह तो मनमाँगा वरदान ही समझिये।

एक बात और भी है। माना कि रागद्वेष छोडके और उनके फदेमें हर्गिज न पडके ही शरीरोपयोगी पदार्थोंका सेवन करना चाहिये। मगर क्या इतनेसे ही सब आफतें खत्म हो जायँगी? जन्म-जन्मान्तरके सस्कार और रागद्वेषोके बीज तो अन्त करणमें पडेही रहते है। वह एका-एक तो चले जाते नही। इस शरीरमें भी अभी अभी हमने आसक्ति छोडके पदार्थोका सेवन शुरू किया है। मगर इससे पहले तो यह बात थी नही। तब तो आसक्ति थी ही। उसीके करते दिमागमें पहलेके पदार्थ बैठे है जो खामखा उमड पडेंगे और दिक करेंगे। आखिर सपनेकी तकलीफे ऐसी ही तो होती है। दिमागमें बीजरूपमें पडे पदार्थ ही तो सपनेमे उभडके जाने कौन कौनसी आफते ढाते रहते है। रागद्वेष रहित होके खानपान करनेवालेके भी ये सपने कायम ही रहते हैं। वे एकाएक तो मिट जाते नही। फिर क्या हो? यह गन्दगी धुले कैसे? मिटे कैसे? किस साबुनसे अच्छी तरह रगडके धोई जाय? यह तो हजारों जन्मोकी पुरानी मैल है न? इसीलिये इसे हटानेमे बहुत ज्यादा मिहनत, बारबारकी लगातार रगड दरकार होगी। सो क्या है यह तो मालूम है नही।

और जो यह कह दिया कि स्मृतिके नाशसे बुद्धिका नाश हो जाता

है—"स्मृतिभ्रंशाद्बुद्धिनाश", इसके क्या मानी है ? क्या सचमुच ज्ञान रही नही जाता और आदमी पत्थर हो जाता है ? यह बात तो ठीक नही। क्रोधके बाद भी आदमी तो आदमी ही रहता है। रोज ही यह बात देखी जाती है। फिर पत्थर होनेकी कौनसी बात ? और अगर यह नही है तो बुद्धिके नाशके मानी भी क्या है ? किस क्रोधीकी बुद्धि खत्म हो जाती है ? थोडी देरतक खास ढगका कोई पर्दासा पडा रहता है। मगर पीछे तो पीछे, उस समय भी समझदारीके दूसरे काम तो वह करता ही रहता है। आखिर उस समय भी उसके सभी काम पागलो जैसे ही होते नही। यह ठीक है कि वह कुछ काम उस समय बेविचारके—विवेकशून्य—कर डालता है जिससे मुसीबतें बढ जाती है। इसी तरह बढती रहती है भी। मगर इसे बुद्धिनाश तो कभी नही कह सकते। उसकी बेचैनी और परीशानी जरूर बढ जाती है, इसमे कोई शक नही है। इसके करते यह भी सभव है, उसे आराम न मिले। ऐसा ही प्राय. होता भी है। बेचैनी और परीशानीकी आग बढ जानेपर चैन कहाँ ? आराम कहाँ ? मगर वह चौपट नही होता। उसे बुद्धि भी रहती ही है।

इस तरहकी अनेक बातोके रहते ही, और सुननेवालेके मनमे इस प्रकारकी शकाओके बनी रहनेपर भी यह कह देना कि मूल प्रसग पहले दो श्लोकोमे ही पूरा हो गया, कोई मानी नही रखता। इसीलिये आगेके श्लोक उसी बातको पकडके यही बाते खुद पेश करते और इनसे बचनेके उपाय सुझाते है। हमे यहीपर यह जान लेना होगा कि जो कुछ अभी कहा गया है अगले श्लोक उसे मानते है। बुद्धिनाशका वही मतलब है जो अभी कहा गया है। उस समय विवेकसे काम लिया जा सकता नही। इस तरह बेचैनी और मुसीबते बढती जाती है। और जो आदमी मुसीबतोमे घिरा है वह तो मरेसे भी बदतर है। उससे तो मरा कही

अच्छा। अशान्त जीवन तो जहर ही समझिये, चौपट ही मानिये। आखिर शान्ति ही तो असल चीज है न ?

आगेके श्लोकोने जन्मजन्मान्तरके पुराने सस्कारो और रागद्वेषके बीजोको जलानेके लिये—इस गहरीसे गहरी गन्दगीको मिटानेके लिये—जिस नये साबुनका नाम लिया है, जिस लगातार चिरकालीन रगड़का आविष्कार किया है उसे भावना कहते है। यही नाम उसे दिया भी है। जैसे रगको गाढा करके कपडेपर् चढानेमें कपडेको रह-रहके रगमें डुवोते और सुखाते है। सोनेको भी रह-रहके गर्म करके पानीमें डुवाते और इस तरह उसे टक बनाते है। मामूली लोहे को भी बार-बार आँच देके पीटते और पानीमे डुवाते है ताकि इस्पात हो जाय। ठीक यही बात रागद्वेषादि मैलोको धो बहानेके लिये भी की जाती है, करनी पडती है। बार-बार सूक्ष्म दृष्टिसे निरीक्षण करके मनको रोकते और आत्मतत्त्वमें ही लगाते है। हर मौकेपर सजग रहके यही करते है। इसे ही पातजल योगमें ध्यान, धारणा और समाधि कहा है। इन तीनोको मिलाके सयम नाम दिया है—"त्रयमेकत्र सयम" (३।४)। गीताने भी आगे "सयमी" (२।६९)मे यही कहा है। इनमें ध्यान नीचे दर्जेकी चीज है। उसके बाद धारणा आती है। ध्यान करते-करते मजबूती आनेपर धारणा और उसकी मजबूती होनेपर समाधिका समय आता है। इन तीनोके पूरा होनेपर—सयमकी पूर्णता हो जानेपर—अन्त करणकी, बुद्धिकी सारीकी सारी युगयुगान्तरकी मैल जल धुल जाती है। फिर तो वह निर्मल हीरेकी ही तरह धप्-धप् हो जाती है। इसके बाद अखड विज्ञानका व्यापक एव सनातन—अचल—प्रकाश होता है। इसीलिये पतजलिने भी कहा है कि—"तज्जयात् प्रज्ञालोक" (३।५)। उस प्रचड प्रकाश—उस द्वादश आदित्य—के सामने अज्ञान और अन्धकारका पता कहाँ ?

इसी सयम, इसी भावनाके करते मन आत्माके ही रगमे रग जाता है—

कभी भी इधर-उधर टससे मस नही होता। उसमे अब ऐसा करनेकी योग्यता एव शक्ति ही नही रह जाती है। इसीलिये निर्वात समुद्रके जलकी तरह एकरस, गभीर और शान्त रहता है। उसकी यह निश्चलता, निष्क्रियता, शान्ति अखड हो जाती है। फलत योगी उसमे लहलहाते आत्मानन्दका अनुभव दिनरात सोते-जागते करता ही रहता है। एक क्षणके लिये भी उसके सामनेसे वह आनन्द—वह मजा—ओझल हो पाता नही, हो सकता नही। मगर जो यह नही कर सकता है, जिसे भावनाका अवसर नही मिला वह हमेशा बेचैन और परीशान रहता है, अत्यन्त अशान्त रहता है। फिर उसे सुख कहाँ ? उसे सुख मयस्सर क्यो हो ?

हमे यह भी जान लेना होगा कि इस भावनाके लिये विवेककी तो जरूरत हुई। वही तो इसके मूलमे है। जबतक हमे बखूबी आत्मतत्त्वका और रागद्वेषादिका पता न चल जाय और यह न मालूम हो जाय कि इनमे कैसे फँसते है तबतक हम मनको रँगेगे कैसे ? तबतक उसे सब आफतोसे खीचके आत्मा या कर्ममे ही लगायेंगे कैसे ? सभी बाते जान लेनेपर ही तो आगे कदम बढायेगे। इसीलिये भावनाके पहले बुद्धि या विवेक जरूरी है। रँगरेज रँगनेकी सारी प्रक्रिया अच्छी तरह जबतक न जाने सुन्दर रग चढायेगा कैसे ?

मगर यही बुद्धि चौपट होती है जिस रीतिसे उसीका वर्णन पहले "ध्यायतो विषयान्"मे किया गया है। इसलिये वहाँ कहे गये विषयोके खयालसे लेकर स्मृति-विभ्रमतककी सारी बाते, जिनका परिणाम बुद्धि-नाश है, एक ही जगह मिलाके योगभ्रष्टता कहते है। छठे अध्यायमे जिस योगभ्रष्ट और योगभ्रष्टताकी बात कही गई है वह भी कुछ इसी तरहकी चीज है। उसमे पातजल योग भी भले ही आ जाय। मगर यह तो हुई, यह बात पक्की है। यदि हम गौरसे उन सभी बातोको देखे जो इन दो

श्लोकोमे लिखी है तो हमे मानना ही होगा कि जो लोग गीतोक्त योगी नही होते है, मुक्त नही होते है, किन्तु उस स्थानसे गिर पडते और पतित हो जाते है—च्युत और अयुक्त हो जाते है, उन्हीमे ये बातें अक्षरश पाई जाती है। फलत उन्हें बुद्धि होती ही नही। फिर भावना कैसी? भावनाके अभावमे शान्ति भी कहाँ? और जब शान्ति ही नही, तो सुख कैसा? आनन्द कहाँ? यही बात आगेके ६६वें श्लोकमे कहनेके उपरान्त बादवाले दो श्लोकोमे इसीका विवरण देके उपसहार किया है।

**नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।**
**न चाभावयत शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥६६॥**

अयुक्तको बुद्धि ही नही होती। जिसे बुद्धि ही न हो उसे भावना भी नही होती। जिसे भावना न हो उसे शान्ति नही मिलती। जिसे शान्ति ही नही उसे सुख कहाँ? ६६।

यहाँ एक जरासी बात सोचनेकी है। श्लोकके देखनेसे पता चलता है कि यहाँ कोई शृखला है जिसकी लडें एकेबाद दीगरे आई है। यदि नीचेसे ही शुरू करें तो सुखके पहले शान्ति तथा उसके पहले भावनाकी तीन लडें मिल जाती है। शुरूमें भी योगके बाद बुद्धिके आनेसे योग और बुद्धिकी भी लडे जुटती है। मगर बीचमे "न चाबुद्धस्य भावना" कहनेके बजाय "न चायुक्तस्य भावना" कह दिया है, जिससे बुद्धिके साथ भावनाकी लडी जुट जानेसे आगे भावनासे शान्तिकी जुटान आदि को लेके पूरी शृखला तैयार हो जानेके बजाय टूटसी जाती है, प्रसग विशृखल हो जाता है। यह कुछ ठीक जँचता भी नही कि योगका बुद्धिसे और बुद्धिका ही भावनासे सीधा सम्बन्ध जोडनेके बजाय योगका ही सीधा सम्बन्ध दोनोसे जुटे। यह असभवसा भी लगता है। क्योकि यदि योग जुट चुका है बुद्धिके साथ, तो फिर भावनासे कैसे जुटेगा? और अगर ऐसा माने भी तो फिर शान्ति और सुखके साथ भी उसीको सीधे

क्यो न जोडा जाय ? इसीलिये हमने दूसरे अयुक्त शब्दका अबुद्ध ही अर्थ किया है और कहा है कि विना बुद्धिके भावना होती ही नही। असलमे, जैसा कि पहले ही कह चुके है, योगमे भी बुद्धि ही वास्तविक चीज है। इसीलिये "बुद्धियोगाद्धनजय" (२।४९)मे बुद्धिको ही योग कहा भी है। इसीलिये जान पडता है, यहाँ भी 'अबुद्धस्य'की जगह 'अयुक्तस्य' कह दिया है। ताकि बुद्धिपर ही जोर दिया जा सके।

**इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनु विधीयते।**
**तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवांभसि ॥६७॥**

क्योकि (विषयोमे) रमनेवाली इन्द्रियोके पीछे जब मन लग जाता—चला जाता—है तो (अपने साथ ही) बुद्धिको भी (विवश करके) वैसे ही खीच लेता है जैसे मझधारमे पडी नावको वायु (विवश करके इधर-उधर खीचता और अन्तमे डुबो देता है) ।६७।

**तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।**
**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥६८॥**

इसीलिये हे महाबाहो, जिसकी सभी इन्द्रियाँ (अपने अपने सभी) विषयोसे पूरी तरह खीच ली गई है उसीकी बुद्धि स्थिर होती है ।६८।

इन दो श्लोकोमे दो बाते है, जिनपर दो शब्द कह देना है। जिस तरह हवाके झकोरेमे पडी नाव विवश होके इधर-उधर भटकती और अन्तमे डूबती या छिन्न-भिन्न होती है, फिर भी नाववाले कुछ कर नही सकते। ठीक उसी तरह इन्द्रियोका साथी मन हो जानेपर हालत होती है। बुद्धिरूपी नावके लिये इन्द्रियोका वेग हवाके झकोरेका काम करता है। उसकी सफलताके लिये जिस मझधारकी जरूरत है उसका काम वही मन पूरा कर देता है। मझधार न होनेपर हवाके तेजसे भी तेज झोके नावका खाक नही बिगाड सकते। इन्द्रियाँ भी मनुष्य का कुछ कर नही सकती है यदि उनका साथी मन न मिल जाय। मनके मिलनेका

अर्थ ही है रागद्वेष-पूर्वक पदार्थोंका भोगा जाना। फिर तो सब ज्ञान-ध्यान खत्म। बुद्धिका भी होश फाख्ता ही समझिये। असल चीज यह मनीराम ही है। यही जिधर चलते है उधर ही सब कुछ होता है। जब ये इन्द्रियोकी ओर चले तो बुद्धिपर भी वारट जारी हुआ और जबर्दस्ती बाँध-छानके उधर ही घसीटी गई। और अगर ये हजरत बुद्धिकी तरफ आ गये तो इन्द्रियाँ बेकारसी हो गई। वे हाथ जोडे बुद्धिकी ही मातहती करती और हुक्म बजाती है। इन्हे तो खीचनेकी भी जरूरत नही होती। खुद हाथ जोडे हाजिर रहती है और बुद्धिके काममें मदद करती है। वह तो अपना काम निर्बाध करती ही रहती है।

इसीलिये विषयोसे इन्द्रियोको बखूबी रोक रखनेका यह मतलब हर्गिज नही है कि *खाना-पीना, देखना-सुनना, पढना-लिखना सब कुछ* बन्द हो जाय। तब तो आफत ही आ जायगी और कोई भी काम होई न सकेगा। आखिर भावनाके लिये भी तो शरीरोपयोगी काम करना जरूरी होता ही है। मर जानेसे तो कुछ होगा नही। जबर्दस्ती करनेमे तो मरनेमे भी फजीती होगी। श्लोकमें 'निगृहीत' शब्द है। निग्रह कहते है दडको। जिस तरह दडित आदमी, बन्दी या कैदी काम-धाम तो सब कुछ करता है, मगर उसकी आजादी जाती रहती है, वह तकुवेकी तरह सीधा बनके शैतानियत छोड देता है। ठीक यही हालत इन्द्रियोकी होती है। ये भी कैदीकी तरह हुक्म बजाती है, सब कुछ करती है, और तकुवा बन जाती है।

परन्तु यह बात असभव जैसी मालूम होती है और साधारण आदमीके दिमागमे घुसती ही नही। विषयोको जरूरत भर काममें इन्ही इन्द्रियोंके द्वारा लायेंगे भी और हमें कुछ पता भी न चलेगा कि इनमें क्या मजा है, यह कुछ अजीब बात है। जिन्ही इन्द्रियोसे विषयोको भोगेंगे, उनका अनुभव करेंगे वही तो उसीके साथ उनका मजा भी बताई देंगी। इसके

लिये उन्हे दूसरा काम, दूसरा यत्न तो करना होगा नही। यह काम एक ही साथ होगा। असलमे भोगका अर्थ ही है मजा लेना, सुख-दुखका अनुभव करना। भोग इसीको कहते ही हैं—"सुखदुखान्यतरसाक्षात्कारो भोग"। फिर यह क्या बात कि मजा न आये, हम चसकें नही, या मनमे ये बातें न आये ?

इसका उत्तर भी सुन्दर है। जिसे फाँसीकी सजा हो, फाँसी दी जानेवाली ही हो उसे आप चाहे सुन्दरसे भी सुन्दर पदार्थ खिलाइये और कोमलसे भी कोमल शय्यापर सुलाइये। मगर जरा पूछिये तो सही कि उसे कुछ भी मजा आता है ? उसे तो पता ही नही चलता कि वह क्या खा-पी रहा है और कहाँ सो रहा है। उसका मन मौतमे जाके अटक जो गया है। उसके सामने तो मौत बराबर खडी है। जरा भी हटती नही। फिर मजा आये तो कैसे ? यहाँ तो मौत आई हुई है और हटती ही नही, दूसरोको जगह देती ही नही। इसी तरह नृत्यकलामे कुशल नटीको खडा कीजिये और उसकी कलाकी जाँच कीजिये तो देखिये क्या होता है। उसके सरपर पानीसे भरा एक पात्र रखके बिना उसे हाथसे पकडे नाचनेको कहिये। वह बराबर बाजे-गाजेके ताल-सुरमे ही ठीक-ठीक नाचेगी, जरा भी फर्क न पडेगा। मगर उसका मन निरन्तर उस जलपूर्ण पात्रमे ही लगा होगा। नही तो जरा भी चूकते ही वह नीचे जा गिरेगा और नटी नृत्यकलाकी परीक्षामे अनुत्तीर्ण हो जायगी।

ठीक यही हालत योगी, समदर्शी और आत्मतत्त्वज्ञ मस्तरामकी भी समझिये। इनके मनीराम तो उधर ही टँगे रहते हैं, फँसे और लटके रहते हैं। दूसरे कामकी इन्हे फुर्सत हुई नही। फिर चस्का लगे तो कैसे ? मजा आये तो कैसे ? नटीके ताल-सुरवाले नृत्यकी तरह मस्तराम भी खाना-पीना सब कुछ करते ही है। मगर मजा नही रहता, रस नही मिलता। उनके लिये सारी दुनिया जैसे अँधेरेकी चीज हो, भादोकी

घोर अँधियालीकी वात हो। इसीलिये जिन चीजोमे दूसरोको मजा आता है उनका उन्हे पता ही नही चलता। अँधियालीकी चीजोका पता किसे चले, सिवाय उल्लूके? मगर जिस तरफ मस्तराम लगे है, जिधर वे जगते है, जिधर उन्हे प्रखर प्रकाश और उजियाली है, जहाँ उनके लिये विना लैम्प, चांद, सूरज और आगके ही खुदबखुद अखड प्रकाश है— 'आत्मैवास्य ज्योतिर्भवति", "अत्राय पुरुष स्वयज्योतिर्भवति" (वृहदा० ४।३।६-८), वहाँ वाकी लोगोंके लिये काली अँधियाली है, भादोकी रात है। फलत वे लोग कुछ भी जान पाते नही। आखिर दोनो मजा मारेंगे कैसे? एकको तो छोडना ही होगा। यही वात आगेका श्लोक कहता है। "पश्यतो मुने"का अर्थ ही यह है कि उसकी भीतरी आँखें वरावर खुली है—

**या निशा सर्वभूताना तस्या जार्गात संयमी।**
**यस्या जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुने. ॥६९॥**

सव लोगोके लिये जो रात है उसमे सयमी—योगी—जागता है (और) जिसमे लोग जगते है निरन्तर भीतरी आँखे खुली रखनेवाले उस मुनि—मननशील—के लिये वही रात है।६९।

इस तरह पदार्थोंके भोगकी वात जो कही गई है उसका निचोड कह देना जरूरी है। क्योकि सभी तो इतने गहरे पानीमें उतर सकते नही कि इन लम्बी-चौडी वातोको समझ सके। साथ ही, ऐसे आदमीकी क्या हालत रहती है जो औरोको भी साफ-साफ मालूम हो जाती है, यह वता देना भी जरूरी है। ताकि योगी भी अपने आपको लोकमतकी तराजूपर वरावर तौलता रहे। दूसरे लोग भी उसकी पहचान करके उससे फायदा उठा सके, कुछ सीख सके। इसीलिये नर्त्तकी या फाँसीवाले-की अपेक्षा एक तीसरा दृष्टान्त, जो सव दृष्टियोसे अनुकूल हो, पेश करके 'कैसे वैठता है' प्रश्नके उत्तरका और इस प्रसगकी सारी वातोका एक

तरहका उपसहार अगले श्लोकमे करते है। वचे-वचाये आखिरी प्रश्न "कैसे चलता है"का उत्तर तो उसके बादवाले श्लोकमे दिया गया है।

**आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।**
**तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥७०॥**

सभी तरफसे निरन्तर पानीके आते रहनेपर भी जिसका पानी जरा भी बढता नजर नही आता और ज्योका त्यो बना रहता है—जिसमे जरा भी उफान नही आता, ऐसे समुद्रमे घुसके उसीका रूप बन जानेवाले पानीकी ही तरह सभी भौतिक पदार्थ जिस(पुरुष)के पास आते है (और उसकी गभीरतामे जरा भी फर्क डाल नही सकते), वही शान्ति प्राप्त करता है, न कि पदार्थोंके लिये हाय-हाय मचानेवाला।७०।

इस श्लोकमे जो खूवी है वह यही कि इससे योगी और आत्मज्ञानीके बाहरी लक्षणका पता लगनेके साथ ही इसमे कही गई बात बहुत मार्केकी है। यहाँ "समुद्रमाप" और "य प्रविशन्ति"मे द्वितीयान्त शब्द आये है 'समुद्र' तथा 'य'। हालाँकि—समुद्रमे पानी जाता है, इस मानीमे 'समुद्रे' जैसी सप्तमी विभक्ति चाहिये और 'य'की जगह भी 'यस्मिन्' चाहिये। किन्तु वैसा कहनेपर कुछ ऐसा मालूम होने लगता है कि चाहे जो हो, फिर भी पानी समुद्रसे निराली ही चीज है। क्योकि वह पानीके पात्रकी तरह आधार बन जाता है। पात्रमे रहनेवाले पानीकी ही तरह वहाँ जानेवाला भी उससे जुदा आधेय बनता है। मगर द्वितीया विभक्तिमे यह बात नही रह जाती है। उससे तो साफ ही मालूम होता है कि पानी समुद्रका ही रूप वन गया—उसीमे विलीन होके तद्रूप बन गया। या यो कहिये कि पानी अपने आपमे ही जा मिला। इसी तरह पदार्थ भी जव योगीके पास जाये तो ऐसा हो जाय कि अपने आपके ही पास आये है। क्योकि आत्मा तो सभीकी है और योगी सभीकी आत्मा बन चुका है, वह "सर्वभूतात्मभूतात्मा" (५।७) बन चुका है। फिर अपने आपसे ही

अपनी लडाई या अपने ही करते अपनेमें उफान और बेचैनी कैसी ? वहाँ तो भेद रही न गया । फिर बेचैनीका क्या सवाल ? वहाँ तो मालूम पडता है, न कोई आया न गया ! जैसी दशा पदार्थोंके मिलनेके पूर्व थी वैसी ही मिलनेपर और बादमें भी रह गई ! जरा भी फर्क नही आया !

**विहाय कामान्यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।**
**निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ।।७१।।**

(इसलिये) सभी पदार्थोंको छोडके—उनकी जरा भी पर्वा न करके—जो पुरुष निःस्पृह विचरता है और जिसमें माया-ममता—अहन्ता ममता—जरा भी नही होती, वही शान्ति प्राप्त करता है—उसीको शान्ति मिलती है ।७१।

अहन्ता और ममता ही तो सारी खुराफातोकी जड है। मैं और मेरा यही तो है अहन्ता और ममता । अहम् और मै, मेरा और मम एक ही अर्थमे आते है और यही है जहर जिससे सभी मरते है । यह खयाल ही है कालानाग जिसके डसते ही सभी मर जाते है । योगीमें यही नही होता । फिर पदार्थोंकी उसे क्या पर्वा ? किसी दण्डी महात्मासे जब एकने, जो बडा मगरूर मालदार था, पूछा कि महाराज, सन्यासी किसे कहते है ? तो उनने चट उत्तर दिया कि तुमसे लेके ब्रह्मातकको जो तृणके बराबर भी न समझे वही सन्यासी है । यही लापर्वाही और बेफिक्री मस्तीकी असली निशानी है । इसीलिये ऐसा आदमी मस्त होके सर्वत्र विचरता है और शान्ति उसके चरण चूमती रहती है । उसका तो मन जही जाता है वही समाधि है—"यत्रयत्रमनोयाति तत्रतत्रसमाधय"। निर्ममके बारेमे पहले ही बहुत कुछ लिखा जा चुका है ।

**एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति ।**
**स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ।।७२।।**

हे पार्थ, यही ब्राह्मी स्थिति (कही जाती) है । इसे हासिल कर लेने-

पर फिर मोह नजदीक फटक सकता नही। अन्त समयमे भी इस दशामे आ जानेवाला (मनुष्य) निर्वाण ब्रह्मको प्राप्त कर लेता है।७२।

यह श्लोक आत्मविवेक और योगके समूचे निरूपणका और इसीलिये दूसरे अध्यायका भी उपसहार है। जिस मस्तीवाली हालतका वर्णन अभी-अभी किया है उसीका नाम यहाँ ब्राह्मी स्थिति कहा गया है। चाहे उसे योगीकी दशा कहिये, स्थितप्रज्ञ और स्थिरबुद्धिकी हालत कहिये, युक्त और मस्तकी मौज कहिये, साम्यावस्था या समदर्शन कहिये। सब एक ही बात है—एक ही चीजके अनेक नाम है। इस मस्तीमे आनेपर प्रियतम, सर्वप्रिय आत्मा या माशूकसे सपनेमे भी जुदाई होती ही नही। फिर मोह या भूलभुलैयाँ कैसी? इसीलिये मस्तराम सदा मुक्त ही है। उसे कही आना-जाना है नही—न बैकुठ, न ब्रह्म लोक। उसका तो शरीर ही उससे अलग होता है, न कि वह किसीसे भी अलग हो सकता है। यह मस्ती यदि पहलेसे ही हो तो सोनेमें सुगन्ध ही समझिये। नही तो शरीरान्तसे पहले भी आ जानेपर निर्वाण मुक्ति धरीधराई है। निर्वाणका अर्थ है जाने-आनेसे रहित। उसकी तो आत्मा ब्रह्म रूप हुई। फिर आना-जाना कहाँ और कैसा?

**इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे सांख्ययोगोनामद्वितीयोऽध्यायः ॥२॥**

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमे (जो) उपनिषद रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योगशास्त्र (है उस)मे जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सम्वाद है उसका साख्य-योग नामक दूसरा अध्याय यही है।

---

# तीसरा अध्याय

तीसरे अध्यायका श्रीगणेश अर्जुनके प्रश्नसे ही होता है। वह प्रश्न भी कर्मके ही वारेमे किया गया है। इससे साफ हो जाता है कि दूसरे अध्यायके ३९वे श्लोकमें जिस योग या कर्मयोगके निरूपणका सूत्रपात किया गया था, वही उस अध्यायके अन्ततक होता रहा है। क्योकि वीचमें यदि कोई दूसरी वात खासतौरसे आनेको होती तो अर्जुनका यह प्रश्न यहाँ न होके वही हो जाता। जव कर्मके ही सम्वन्धमें यह सवाल है तव तो उसका पूरा निरूपण हो जाने और उसके मुतल्लिक सारी वातें सुन लेनेके वाद ही फौरन इसे आना चाहिये। नही तो योही हवाई वात होनेके कारण प्रधान विषयसे इसका ताल्लुक रही न जायगा। इसीलिये और वातोके निरूपणका प्रसग आते ही अर्जुन फौरन खामखा यही प्रश्न पहले ही पूछ वैठता और इस प्रकार कृष्णको मौका ही न देता कि दूसरा विपय छेड दे। क्योकि तव तो कर्मकी वात नीचे पड जाती और वह नया विपय ही ऊपर आ जाता। इसीलिये यह तो निर्विवाद है कि कर्म-योग वाली वात ही इसके पहल या यो कहिये कि दूसरे अध्यायके अन्त तक आई है।

यह भी तो विदित होई चुका है कि इस कर्मयोगके निरूपणके सूत्रपातसे लेकर अन्ततक जो वाते कही गई है उनपर अध्यात्मज्ञान, तत्त्वविवेक, मनोनिरोध और मस्तीकी मुहर कदम-कदमपर लगी हुई है। मालूम होता है कि ये सभी वातें कर्मयोगके प्राणकी तरह, जीवन विन्दुकी तरह है। फलत इनके अलग करते ही कर्मयोग कुछ रही नही जायगा— वह निरा कर्म रह जायगा। क्योकि इन वातोको कर्मयोगमें अलग

करनेका सीधा अर्थ हो जायगा कर्मयोगसे योगको ही निकालके कर्मको उसी रूपमें छोड देना और अकेले रहने देना जिस रूपमे आमतौरसे हमेशासे पाया जाता है। कर्मके उस रूपको ही लेके गीताने अपने निराले करिश्मे और अलौकिक मतर-यतरके रूपमे उसे परिमार्जित एव शुद्ध करनेका उपाय निकाला है। गीताके इस उपायके पहलेका कर्म खाँटी लोहे या पारेके ढगका है जिसका जरा भी प्रयोग मारक बन जाता है, अनेक व्याधियो-को पैदा करता है—जन्म-मरणके चक्र एव उससे उत्पन्न सकटोका अनवरत प्रवाह जारी रखता है। गीताका उपाय उस लोहे या पारेको भस्म करके—मारके—अमृत बना देता है, रस बना देता है, जिसके सेवनसे न सिर्फ व्याधियाँ दूर होती है, किन्तु अपार शक्ति मिल जाती है। इसीलिये कृष्णने इस उपायकी, इस तरकीबकी, इस हिकमत और बुद्धिकी—अक्ल और युक्तिकी—खूब ही प्रशसा की है कि इस बुद्धिरूप योगकी अपेक्षा कर्म अत्यन्त तुच्छ है—"दूरेणह्यवरकर्म" (२।४९।)उसी श्लोकमे इस योग, उपाय या हिकमतको बुद्धि ही कहा भी है। उसके पहलेके "यावानर्थ उदपाने" (२।४६)में भी इस ज्ञान या बुद्धिकी प्रशसा की है और कहा है कि इसीसे सब काम चल जाता है।

इसीके साथ "एषातेऽभिहिता" (२।३९)मे यह साफ ही कह दिया है कि दो मार्ग स्वतत्र रूपसे पाये जाते है—एक है साख्य या साख्ययोगका मार्ग और दूसरा है योग या कर्मयोगका मार्ग। सक्षेपमे इन्हे साख्य और योग या ज्ञान और कर्मके मार्ग भी कहते है तथा ज्ञानयोग एव कर्मयोग भी। यह भी साफ ही है कि कर्मयोगके मार्गमे भी यह ज्ञान लगा ही है। अर्जुन बहुत ज्यादा बारीकी समझ सका भी नही। उसने सीधे और साफ देख लिया कि ज्ञान या बुद्धिवाला साख्य मार्ग हर तरहसे उत्तम बताया गया है। उसके मुकाबिलेमे दूसरे या कर्मके मार्गकी कोई गिनती नही है। यदि कर्म कर्मयोग बन जाता भी है तो इस अध्यात्मज्ञानके करते

ही। फिर तो निस्सन्देह यही सर्वोत्तम और सर्वश्रेष्ठ है, उसने यही निष्कर्ष निकाला। मगर इसीके साथ उसने यह भी देखा कि "तस्माद्युध्यस्व" (२।१८), "उत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चय" (२।३७,) तथा "युद्धाय युज्यस्व" (२।३८)मे साफ ही मुझे युद्ध करनेकी आज्ञा देके इस युद्धात्मक घोर कर्ममे ही लगाया जा रहा है और वार-वार कहा जा रहा है कि सोच फिक्र न कर, चिन्ता मत कर, आदि आदि। वह कृष्णको अपना सबसे वडा हितेच्छु मानता था। इसीलिये वह आगा-पीछामे पड गया कि यह क्या वात है? एक ओर तो ज्ञान मार्ग सर्वोत्तम वताया जा रहा है। दूसरी ओर मेरे लिये हिंसामय युद्ध ही कर्त्तव्य कहा जा रहा है! वह घवरा गया और इसी पशोपेशमे पडके कुछ भी निश्चय न कर सकनेके कारण कृष्णसे—

अर्जुन उवाच।

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।<br>
तत्किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव ॥१॥

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।<br>
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम् ॥२॥

अर्जुनने पूछा—हे जनार्दन, हे केशव, यदि कर्मकी अपेक्षा बुद्धि—ज्ञान—को ही श्रेष्ठ मानते है तो फिर (हिंसात्मक युद्ध जैसे) घोर कर्मंमे मुझे क्यो लगाते है? (असलमें) आपके वीच-वीचमें मिले-जुले वचनोंसे ऐसा मालूम पडता है कि जैसे मुझे घपलेमें डाल रहे हो। इसलिये पक्कापक्की निश्चय करके दोनोमे एकको ही मुझे वताइये, जिससे मैं कल्याण प्राप्त कर सकूँ।१।२।

यहाँ कृष्णपर दो इल्जाम लगे मालूम होते है। पहला यह कि साफ-साफ नही वोलके कभी ज्ञानकी वात और वडाई करते है तो कभी

कर्मकी, और कभी फिर उलटके कर्मकी, तब ज्ञानकी। इससे सफाई तो हो पाती नही। किन्तु उलटे सुननेवाला घपलेमे पड जाता है। इसीलिये दूसरा इल्जाम यही है कि बुद्धिको पशोपेश और घपलेमे डालते है। मगर असलमे तो ये इल्जाम है नही। भला, अर्जुन जैसे शरणागतके साथ कृष्ण ऐसा क्यो करने लगे? वह तो किसीके भी साथ ऐसा नही कर सकते थे। फिर अर्जुनकी तो बात ही जाने दीजिये। इसीलिये—और अर्जुन उनपर यह इल्जाम लगाता भी कैसे? यह तो बडी भारी गुस्ताखी और छोटे मुँह बडी बात हो जाती—इसलिये भी दूसरे श्लोकमे दो बार 'इव' आया है, जिसका अर्थ यही है कि मुझे मालूम होता है कि आप ऐसा कर रहे है। हो सकता है, इसमे मेरी समझका ही दोष हो। अर्जुन वह दोष अपने माथेपर ही लेनेको तैयार भी था। क्योकि वह तो शरणागत शिष्य बन चुका था। फिर दूसरी हिम्मत करता तो कैसे? इसीलिये वह अब ऐसी सफाई चाहता है जिससे बखूबी समझ जाय और सन्देहकी गुजाइश रही न जाय।

श्रीभगवानुवाच।

**लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।**
**ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥३॥**

श्रीभगवानने उत्तर दिया—हे पापरहित (अर्जुन), इस ससारमे दो प्रकारके मार्ग हमने पहले ही—पूर्व समयमें—ही बताये है (एक तो) ज्ञानियोका ज्ञानयोग और दूसरा योगियोका कर्मयोग।३।

यहाँ पुरा शब्दका कुछ लोग 'पहले' अर्थ करके दूसरे अध्यायमे कही गई दो निष्ठाओ या बताये गये दो मार्गोंको ही पुरा शब्दसे लेते है, क्योकि तीसरे अध्यायके पहले वह बात आ चुकी है। मगर यह बात ठीक नही है। पुराका अर्थ है असलमे पूर्व समयमे। यही अर्थ गीतामे

यहाँ निष्ठाका अर्थ है मार्ग या रास्ता, जिसे अग्रेजीमे कोर्स (Course) या प्रोसेस (Process) कहते है। स्कूल्स औफ थाट्स (Schools of thoughts) भी उसीको कहा जाता है। निष्ठाका शब्दार्थ है किसी बातमे अपनेको लगा देना, अर्पित कर देना, उसीमे जीवन गुजार देना। ये दोनो मार्ग और दोनो विचारधारायें ऐसी है जिनमे एक एकमे जाने कितने सहस्र, कितने लक्ष महापुरुषोने अपने जीवन लगा दिये है, अपनेको मिटा दिया है। इसका जिक्र आगे चौथे अध्यायमे है। महाभारत तथा अन्यान्य ग्रन्थो एव उपनिषदोमे भी इसका वर्णन बहुत ज्यादा आया है। कृष्ण अपनी आत्माको सभी ऋषि-मुनियोकी आत्माके रूपमे ही अनुभव करते हुए बोलते है कि मैंने ऐसा कहा है। फलत कृष्णका उपदेश उन सबोका ही उपदेश है। कृष्णकी इस मनोवृत्तिपर हम काफी प्रकाश पहले ही डाल चुके है। साख्य और योगका भी अर्थ बता चुके है।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च सन्यसनादेव सिद्धि समधिगच्छति ॥४॥

(लेकिन कोई भी) आदमी कर्मोको शुरू न करके कर्मत्याग या सन्यास प्राप्त कर सकता नही। (और खामखा) कर्मोके त्यागसे ही सिद्धि नही मिलती—इष्ट या कल्याणकी—मोक्षकी—प्राप्ति नही हो जाती।४।

न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥५॥

(यह भी तो है कि) कोई भी क्षणभर भी विना कर्म किये रही नही सकता। क्योकि प्रकृतिके गुणोसे मजबूर होके सभीको कर्म करना ही होता है।५।

कर्मेन्द्रियाणि सयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥६॥

(इसलिये) जो (हाथ, पाँव आदि) कर्म करनेवाली इन्द्रियोको (जबर्दस्ती) रोकके मनसे इन्द्रियोके विषयोको याद करता रहता है वह ढोगी कहा जाता है ।६।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियै. कर्मयोगमसक्त. स विशिष्यते ॥७॥

(विपरीत इसके) हे अर्जुन, जो तो इन्द्रियोको मनके अधीन करके कर्मेन्द्रियोसे काम करना शुरू कर देता है (और फलादिके लिये) हाय हाय करता नही रहता वही अच्छा है ।७।

नियत कुरु कर्म त्व कर्म ज्यायो ह्यकर्मण. ।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मण. ॥८॥

(इसलिये) तुम अपने लिये निश्चित कर्म (जरूर) करो । क्योकि न करनेसे करना कही अच्छा है । (आखिर) कर्म सर्वथा छोड देनेपर तुम्हारी शरीर-यात्रा भी तो न चल सकेगी ।८।

यहाँपर ४से ८तकके श्लोकोके बारेमे कुछ जरूरी बाते जान लेनेकी है । चौथेका आशय यही है कि बिना कर्म किये कर्मका त्याग या सन्यास असभव है और खामखा कर्म छोड देनेसे ही कुछ होता जाता नही । इसमे दो बाते है । एक यह कि जब कर्म करते ही नही तो उसे छोडनेके मानी क्या होगे ? जो चीज हमारे पास हुई नही उसे त्यागना क्या ? यह तो प्रवचना मात्र है, महज झूठी बात है । इसीको "अशक्त परम साधु" या "वृद्धवेश्या तपस्विनी" कहते है । असलमें जबतक वर्णमाला पढ न ले उससे पिंड छूटता ही नही । जब कभी ग्रन्थोके पढनेका प्रश्न उठता है तो वह वर्णमाला पहाडकी तरह सामने खडी हो जाती है कि हमे पूरा करो—पार करो । बडे ग्रन्थोके पढनेका अर्थ है वर्णमालाके पढनेका त्याग । मगर वह त्याग हो पाता नही जबतक वर्णमाला पढ ली न जाय । ठीक यही बात सन्यास या कर्म-त्यागकी है । निदिध्यासन और समाधि,

जो आत्मविज्ञानके लिये ही नही, बल्कि सभी विज्ञानोके लिये अनिवार्य रूपसे आवश्यक है, बिना कर्मोंके त्यागके होई नही सकते। कर्मोंका तो पँवारा ऐसा है कि चौबीस घटे उनसे फुर्सत होती ही नही। अगर यही रहे तो निदिध्यासन और समाधि कैसी ? उनका मौका ही कहाँ होगा ? इसलिये उनके करनेका अर्थ ही है कर्मोंका त्याग। मगर जबतक कर्म न करे निदिध्यासन आदिकी योग्यता होगी ही नही। फिर कर्मोंके त्यागका प्रश्न ही कहाँ उठता है ? इसकी जरूरत होती है कहाँ ? और अगर इतनेपर भी खामखा त्याग किया जाय तो साफ ही कह देते हैं कि इससे कुछ भी होता जाता नही। यह तो ठगी और प्रवचना है। यह तो अपने आपको और ससारको भी ठगना है। इसीलिये जभी कभी वास्तविक कर्मत्याग या सन्यासकी वात उठे तो उसी समय स्पष्ट हो जाता है कि पहले कर्म करे। पीछे त्यागकी जरूरत होगी और अवश्य होगी। मगर अभी नही।

दूसरी बात यह है कि खामखा योंही कर्म छोड देनेसे काम बननेके बजाय विगडता ही है। श्लोकमे जो सिद्धि शब्द है उसका यही अभिप्राय है कि कोई काम नही बनेगा, वह लक्ष्य सिद्ध नही होगा जिसके लिये कर्म-त्याग करते हैं। वल्कि उलटे बिगडेगा। जब खेत जोत-गोडके तैयार किया ही नही गया है और पानी-वानी देके बीज उगने योग्य वनाया गया ही नही है तो दूसरा होगा ही क्या, सिवाय इसके कि वीज और परिश्रम दोनो ही बेकार जाये ? यह तो निरी बच्चोवाली वात हो जायगी, या पागलोकीसी ही। इसीलिये इस बातपर जोर दिया गया है कि पहले तो हरेक आदमीको कर्म करना ही होगा। कर्मसे ही दरअसल प्रगतिका श्रीगणेश होता है, और सन्यास तो प्रगतिके इसी सिलसिलेकी एक आवश्यक (unavoidable) सीढी (step) है। इसीलिये इस श्लोकके पूर्वार्द्धकी उत्तरार्द्धसे मिलान करनेपर "नैष्कर्म्य"का अर्थ सन्यास ही

है, न कि और कुछ। अर्जुनके दिमागकी सफाई करनी थी। इसीलिये शुरूसे ही क्या कर्त्तव्य है, यही बात उठाके अन्ततक जाना जरूरी हो गया है। नही तो वह फिर भी घपलेमें पड जाता, यदि चुनी-चुनाई बातें ही कही जाती।

इसके बाद पाँचवे श्लोकमें तो यह बात भी खत्म कर दी गई है कि खामखा योही कर्मोका त्याग सभव है। चौथेके उत्तरार्द्धमें यह बात मानकर ही, कि कर्मोंका त्याग सभव है, उत्तर दिया है कि उससे सारा गुड गोवर होनेके अलावे कोई मतलब पूरा नही होता। मगर अब तो जडको ही उडा देते है यह कहके कि कर्मोंका त्याग ही असभव है। प्रकृतिके तीन गुण माने जाते है। इस बातका विस्तृत विवेचन पहले कर चुके हैं। ये परस्पर-मिथुन कहे जाते हैं, जिसका मतलव यही है कि तीनो ही सर्वत्र मिले-जुले रहते हैं। इन तीनोमे रजका तो काम ही है क्रिया या कर्म। उसका तो स्वरूप ही है कर्म या हलचल (action and motion)। फिर यह कैसे सभव है कि कोई भी पदार्थ एक क्षण भी निष्क्रिय रहे। तीनो गुणोंके अलावे तो कोई भी भौतिक पदार्थ है नही। ऐसी दशामें शरीर या इन्द्रियादि यदि क्षणभर भी निष्क्रिय रहे तो इसके साफ मानी है कि उनमे गुण हुई नही। मगर यह तो बात है नही। ससार ही त्रैगुण्य माना गया है। तब अपना स्वभाव कोई कैसे छोडेगा? शरीरादि का तो स्वभाव ही है हिलना-डोलना या हलचल। जब हमारी आँखे इसका पता नही भी पाती है तब भी प्रयोगशालामें जाने या यन्त्रोंके प्रयोगसे पता लगता है कि क्रिया बराबर चालू है। उसे विराम नही। इसीलिये कह दिया है कि कर्म या क्रियाकी तो मजबूरी है। इससे पिंड छूट सकता ही नही। ससारका अर्थ ही है क्रियाशील या चलनेवाला।

इसीलिये जो लोग जबर्दस्ती कर्म करनेवाली इन्द्रियोको रोकते हैं, रोकना चाहते हैं, उनका काम अप्राकृतिक है, प्रकृतिके नियमोंके विरुद्ध

है। क्योकि जवर्दस्ती तो कर्म करनेके लिये खुद प्रकृति कर रही है, पदार्थोंका स्वभाव ही कर रहा है, और हम चले हैं उसे ही रोकने। फलत हमारा यह हठ, हमारी यह जवर्दस्ती अप्राकृतिक—अस्वाभाविक—नही है, तो और है क्या ? और अस्वाभाविक चीज तो चलनेवाली नही, वह तो कभी होनेकी नही। इसीलिये दभ और पाखड चलता है, ठगी होती है। ऊपरसे तो देखनेके लिये कर्मेन्द्रियाँ रुकी है। मगर भीतर ही भीतर उनका काम जारी है। क्योकि ऐसे लोग मनको तो रोक सकते है नही। वह तो ऐसे पामरोके कब्जेके वाहर रहता ही है। उलटे यही लोग मनके कब्जेमे रहते है। उधर मनीरामने सभी इन्द्रियोकी पीठ ठोक दी है। इसलिये भीतर ही भीतर—छिपे रुस्तम—उनका काम जारी है। इसे ही कहते हैं "डूबके पानी पीना", या "खुदामियाँसे चोरी"। ज्ञानेन्द्रियोको तो यो भी ऐसे लोग नही रोकते। वे रोक सकते भी नही। उन्हीके साथ आँख दवाके कर्मेन्द्रियाँ भी मौज करती है। हमने काशीमे ग्रहणके समय एक वार घाटके ऊपर छोटेसे मन्दिरके पास एक सन्यासी वावाको देखा कि आसन मारे मूँडी नीचे किये आँखे मूँदे वैठे है। वगलमे एक कपडा फैला पडा है कि लोग उसपर पैसे चढायेगे। हमने गौर किया तो पता लगा कि वह नीचे-नीचे रह रहके कपडे और पैसोको देखा करते है। इसे ही कहते है, "ऊपर ऊपर राम राम, नीचे नीचे सिद्ध काम।" इसका पता तो सपनेमे लगता है जव यह चोरी खुल जाती और जाने क्या क्या अनर्थ होते है, कौन कौनसा प्रपच फैलता है। सपनेमे तो यह चोरी छिप सकती है नही। इसीलिये ऐसोको पाखडी और मिथ्याचार कहके छठे श्लोकमे दुतकारा है।

यही कारण है कि सातवे श्लोकमे सवका निचोड निकालके कह दिया है कि जो लोग मिथ्याचारी और पाखडी नही वनना चाहते वह उनके विपरीत काम करे। वह यह कि सवसे पहले सभी इन्द्रियोपर

और खासकर ज्ञानेन्द्रियोपर तो जरूर ही, मनका नियत्रण एव अकुश रखे। असलमे मनका इन्द्रियोपर नियत्रण न रहनेसे जहाँ ज्ञानेन्द्रियाँ विषयोमे फँसानेके साथ ही कर्त्तव्य कर्मोसे विमुख करके वाहियात कामोमें लगा देती है, तहाँ कर्मेन्द्रियाँ भी ज्यादती कर बैठती है। फलत किसी भी कामकी सीमा लाँघके उसे भी खराब कर देती है। इस तरह सब किये-करायेपर पानी फिर जाता है। इसीलिये सभीपर मनका नियत्रण जरूरी कहा गया है।

उसके बाद कर्मेन्द्रियोसे सभी कर्मोंको शुरू कर दें। जरा भी आगा पीछा न करें। यहाँ जो 'कर्मयोगमारभते' कहा है उसका सीधा अर्थ यही है कि काम करना शुरू कर दे। यहाँ दूसरे अध्यायवाले कर्मयोगसे मतलब नही है। उसका तो प्रसग हुई नही। यहाँ तो ऐसे लोगोकी बात है जो सबसे नीचे पडे हुए हैं। इस श्लोकमे 'यस्तु'में जो 'तु' है वह भी यही सूचित करता है कि इससे पहले जो कुछ कहा है उसके ही मुकाबिले-में दूसरी बात यहाँ कही जा रही है। और पहले तो पतित या मिथ्या-चारीकी ही बात आई है जो दरअसल कर्म नही करता है। हठी नालायक जो ठहरा और विषय लम्पट भी। उसीके मुकाबिलेमें इस श्लोकमें यह कहना जरूरी हो गया कि उन नही करनेवाले पाखडियोकी अपेक्षा वे कही अच्छे है जो कुछ कर्म करते है और इन्द्रियोपर मनका अकुश भी रखते है। इसीलिये ऐसे आदमीको "स विशिष्यते"—"वह कही अच्छा है" कहा है। इस "विशिष्यते" क्रियाका दूसरा अर्थ हो भी नही सकता है। नही करनेसे करना अच्छा है—"अकरणात्करण श्रेय" (something is better than nothing) यही बात यहाँ कही गई है। न कि पहले कहे गये पतित-पाखडीके साथ इस कर्मीकी तुलना है। ऐसा करना तो इसका भी अपमान करना हो जायगा। इसीलिये उस तुलनाका सूचक कोई 'तत' या 'तस्मात्' आदि पचमी विभक्तिवाला

पद यहाँ है भी नही । आगे यह बात और भी साफ हो जाती है जब खुलके कह देते है कि नही करनेसे करना अच्छा है, "कर्म ज्यायो ह्यकर्मण" (३।८) ।

ऐसी दशामे ऐसा आदमी गीताका वह महान् कर्मयोग कैसे जानने गया कि उसे करेगा ? यह तो गधेको शासनकी गद्दीपर बिठाने जैसी ही बात हो जायगी । यह भी तो जानना चाहिये कि यहाँ जो 'आरभते' क्रिया है और जिसका अर्थ है 'शुरू करता है', वह कर्मयोगमे लागू होती भी नही । वह तो केवल कर्ममे लागू होती है । कर्म ही या कर्मका करना ही शुरू होता है, न कि कर्मयोग । योग तो बुद्धि है यह सभी मानते है । तब उसको शुरू कैसे किया जायगा ? सो भी कर्मेन्द्रियोसे ? वह तो मार्ग है, निष्ठा है, विचारधारा है । उसका आरभ हर आदमी कर सकता नही । उसका आरभ बहुत पहले उसके प्रवर्त्तक आचार्यने किया था । अब आरभ कैसा ? यदि मान भी ले, तो हाथ-पाँव आदि कर्मेन्द्रियोसे उसका आरम्भ कैसे होगा ? यदि आरभका अर्थ है उस मार्गमे प्रवेश, तो भी वह कर्मेन्द्रियोसे होता नही । वह तो मन और बुद्धिसे या अधिकसे अधिक ज्ञानेन्द्रियोसे ही हो सकता है । इसीलिये कर्मयोगका यहाँ अर्थ है कर्मोका योग, जोडना, या करना, और इसका श्रीगणेश कर्मेन्द्रियाँ ही करती है । इसीलिये आत्मा या मनकी शुद्धिके लिये जो कर्म किया जाता है वह भी गीताके कर्मयोगमे आता नही । क्योकि उसमे तो शुद्धि रूप फलकी इच्छा हुई । फिर भी उसे कर्म कहके उसके करनेवालेको भी योगी कह दिया है—"योगिन कर्म कुर्वन्ति सग त्यक्त्वाऽऽत्मशुद्धये" (५।११) । "दैवमेवापरे यज्ञ योगिन" (४।२५)मे भी योगीका अर्थ आत्मज्ञानीसे भिन्न ही है । इसका विचार वही किया है ।

इसीलिये यहाँ जो 'असक्त' शब्द आया है उसका अर्थ उस कर्मयोगीकी ही तरह कर्मासक्ति एव फलासक्तिका त्याग, ऐसा जो लोग करते

है वह भूलते है। "भूखे बगालीके भात भात"की तरह सर्वत्र एक ही बात देखना उचित नही। पूर्वापर और प्रसग भी देखना होगा, और है वह मामूली कर्म करनेवालोका ही। फिर एकाएक वह परले दर्जेकी अनासक्ति यहाँ आ धमकी कैसे ? उसकी तो यहाँ गुजाइश हई नही। यहाँ तो असक्त कहनेका केवल इतना ही प्रयोजन है कि, जैसे इससे पूर्ववाला आदमी कर्मका सोलह आना विरोधी होता है और उसे देखना नही चाहता ठीक उसके विपरीत होनेसे कही यह ऐसा न हो जाय कि दिनरात कर्मो या फलोके लिये हाय-हाय ही करता रहे। क्योकि तब तो यह कुछ करी न सकेगा। यह तो उसी हाय-हायमे इतना व्यस्त रहेगा कि इसके हाथ-पाँव ठीक-ठीक काम करी न सकेंगे। इसीलिये कह दिया कि ऐसा न हो— ऐसी हाय तोबा न रहे। साधारणत फल वगैरहकी इच्छा तो रहेगी ही। क्योकि यह तो साधारण कर्मी ही ठहरा। मगर गीताके कर्मीकी गिनतीमें उसे आनेके लिये इस इच्छा-आकाक्षाको बेलगाम नही छोड देना होगा, बेहद् परीशान होना न होगा। यही अभिप्राय है और यही युक्तिसगत भी है। गीताकी गिनती मे आनेका प्रयोजन भी है। क्योकि आगे ऐसे ही आदमीके लिये १९वें श्लोकमें परमात्माकी प्राप्ति लिखी है। वहाँ भी यही 'असक्त' शब्द कर्मके साथ ही आया है। तात्पर्य यह है कि हाय-हाय छोड देनेसे अन्त करणकी स्थिरता और शान्तिके रूपमें शुद्धि होके परमात्माकी प्राप्तिका रास्तामात्र खुल जाता है। कुछ यह नही होता कि कर्मोसे ही ठेठ परमात्माको प्राप्त कर लेता है।

आगे बढनेके पहले यहीपर उनने आठवें श्लोकमें स्पष्ट ही कह दिया है कि कुछ न करने और निठल्ले बैठ रहनेसे तो कुछ करना कही अच्छा है। इसीलिये तुम अपने लिये पक्का-पक्की ठहराये गये कर्मोंको जरूर ही करो। ऐसे ही कर्मोंको नियत (assigned) नाम गीतामें बार-बार दिया गया है। "नियतस्य तु सन्यास" (१८।७), "नियत क्रियते-

ऽर्जुन" (१८।६), "नियत सगरहित" (१८।२३) आदिमे यह बात पाई जाती है। नियत या निश्चित कहनेका यह मतलब है कि यो तो खानपान आदि कर्म सभी लोग करते ही है। इनमे तो सबोकी मजबूरी है। मगर इनके सिवाय कुछ ऐसे कर्म है जिनमे ऐसी मजबूरी न होनेपर भी उनका करना समाजहितकी दृष्टिसे और अपने अन्तिम कल्याण या उदात्त स्वार्थ (enlightened self-interest) के खयालसे भी जरूरी हो जाता है। ऐसे कर्म या तो समाजके द्वारा ही हरेकके लिये तय कर दिये गये है, या ऋषि-मुनियो, औलिया-पैगम्बरो तथा बडे-बूढोने उन्हे बताया है और समाजने या खुद व्यक्तियोने भी उन्हें अपनाया है। इसीलिये वे नियत और नित्य (assigned and fixed) माने जाते है। आश्रितोकी रक्षा, देश या घरबारके लिये लडना, पीडितोकी सेवा, सन्ध्या, पूजा, नमाज, प्रार्थना (prayer) आदि ऐसे कर्मोमे आते है। जब कर्मोके करने-न करनेकी बात कही भी आती है तो इन्ही से मतलब होता है। न कि सामान्य कर्मोसे। मलमूत्र त्याग, खानपान आदि तो बिना कहे ही मजबूरन करने ही होते है। उनके बारे में करनेका विधान या उसकी ताकीद बेकार है। मगर नियत कर्मोमे आलस्य आदिके चलते लापर्वाही हो सकती है, हो जाती है। इसीलिये इनपर जोर देना और इनके लिये ही नियम-कायदे बनाना जरूरी हो जाता है। जब सन्यास और कर्मत्यागका सवाल आता है तो इन्ही कर्मोके त्यागसे मतलब होता है।

एक बात और भी जान ले तो अच्छा हो। जहाँतक कर्मोके त्याग या सन्याससे ताल्लुक है, गीताने चार सूरते मानी है। (१) मनकी शुद्धि हो जानेपर तत्त्वज्ञानके साधन-स्वरूप निदिध्यासन और समाधिकी सिद्धिके लिये कर्मोका स्वरूपत त्याग। (२) तत्त्वज्ञानके बाद मस्ती आ जानेपर खुदबखुद कर्मोकी ओर मानसिक प्रवृत्ति न होनेसे अल-बुद्धया स्वरूपत कर्मोका वैसे ही छूट जाना जैसे पके फलका डालसे। (३)

मोह और भ्रममे पडके प्रवचना बुद्धिसे या शरीर, इन्द्रियादिके कष्टके खयालसे ही कर्मोको स्वरूपत छोड देना। (४) फलेच्छा, अभिनिवेश, कर्म करनेकी आसक्ति और हठ आदिका ही त्याग न कि स्वरूपत कर्मोका त्याग। इनमे चौथेको तो कर्मका त्याग वस्तुत कही नही सकते। इस दशामें तो कर्म बने ही रहते है। गीताने भी "नियत सगरहित" (१८।२३)में इसे सात्त्विक कर्म ही गिनाया है। इसलिये इसे तो छोड ही देना चाहिये। इसपर विचार करनेका प्रश्न आता ही नही।

रह गये तीन। बेशक इन तीनोमे कर्मका स्वरूपत त्याग है। इसीलिये इन तीनोको कर्मत्याग या सन्यास शब्दसे समझ सकते है जरूर। इनमे जो तीसरा है उसकी बात इसी अध्यायके शुरूमें ही और आगे भी आई है। इसलिये शेष दो या पहले तथा दूसरेको ही पहले देखना चाहिये। "योगसन्यस्तकर्माण" (४।४१), "सन्यासस्तु महाबाहो" (५।६) और "योगारूढस्य तस्यैव शम कारणमुच्यते" (६।३) श्लोकोमे पहलेको यानी समाधि आदिके लिये कर्मोके त्यागको आवश्यक और उचित बताया है। "सर्वधर्मान्परित्यज्य" (१८।६६)मे इसीका उपसहार भी किया है। इसी तरह "यस्त्वात्मरतिरेवस्यात्" (३।१७)से स्पष्ट है कि दूसरा सन्यास या स्वयमेव कर्मोका छूट जाना भी गीताको मान्य है। इसकी आवश्यकता एव महत्ता भी वह समझती है। द्विविध निष्ठाओका जो वर्णन दूसरे, पाँचवें और छठे अध्यायोमें खासतौरसे आया है और दोनोको जो वहाँ परम कल्याण या मोक्षके देनेवाले माना है, उससे भी इसकी कर्त्तव्यता निर्विवाद सिद्ध हो जाती है। इस बातका अधिक विवेचन पहले ही किया गया है।

अब रहा तीसरा या मोह और कष्टके डरसे कर्मोका त्याग। इसीकी बहुत ज्यादा निन्दा तीसरे अध्यायके इन्ही श्लोकोमे बार-बार की गई है। इसका विवेचन हमने अभी किया है। "नियतस्य तु" (१८।७)

और "दु खमित्येव" (१८।८)मे भी तामस और राजस कहके इस सन्यास-को निन्दित बताया है। "न बुद्धिभेद जनयेत्" (३।२६)मे भी इसी बातपर पूरा जोर दिया गया है कि सर्वसाधारण लोग हर्गिज कर्म न छोडे। इस प्रकार इस विवेचनने सन्यासका मार्ग अर्जुनके दिमागमे साफ कर दिया है और कर्म करनेका भी।

अब आगे जो कुछ विवेचन इस कर्मका किया जा रहा है वह इसी दृष्टिसे कि समाजका काम चलाने, उसे कायम रखने और उसकी प्रगतिके लिये कर्म अनिवार्य रूपेण आवश्यक है। इनके बिना एक क्षण भी समाजका काम चल नही सकता है। यज्ञचक्रके रूपमे इन कर्मोका जो वर्णन किया गया है उसका रहस्य तो पहले ही बताया जा चुका है। यज्ञोका सकुचित अर्थ यहाँ अभिप्रेत नही है, यह बात १०से १३तकके श्लोकोसे ही, जो यज्ञ-चक्रके निरूपणके ठीक पहले आये है, सिद्ध हो जाती है। दसवें श्लोकमे जो 'प्रसविष्यध्वम्" तथा "कामधुक्" शब्द आये है उनका अर्थ है फलना, फूलना और विस्तार प्राप्त करना। इनके भीतर तो ससारके सारे काम आ जाते है। कोई भी बचने नही पाता। यह बात सर्वसाधारणके द्वारा आमतौरसे माने गये घृत आदिकी आहुति रूपी यज्ञोसे तो होनेकी नही। यह दावा तो इन यज्ञोके समर्थक भी नही करते कि इन्हीसे सब काम हो जायगा। फलत खेती, गिरस्ती आदिकी जरूरत हई नही। कामधेनु कहनेसे भी यही बात सिद्ध होती है कि यह सब कुछ देने वाली चीज है। "इष्टान् भोगान्" (३।१२)मे यही कह भी दिया है। इसीलिये देव शब्दका अर्थ भी रूढ नही है। यहाँ खास ढगके देवताओसे मतलब न होके दिव्य या अलौकिक शक्ति, प्रतिभा आदि सम्पन्न सभी पदार्थोंको देव कहते है। इसीलिये गीताने यज्ञोका अनेक विस्तृत रूप स्वय बताया है। हमने भी इसपर पूरा प्रकाश डाला है। यज्ञके रूपमे ही कर्मोपर जोर देनेके लिये ही आगेके श्लोक लिखे गये है।

कुछ अर्द्धदग्ध एव अक्षरकट्टू लोग अपनी असली मनोवृत्तिको छिपाके केवल इस दलीलके आधारपर ही कर्मोंसे पिंड छुडाना चाहते है कि ये तो जन्म, मरणादि बन्धनके कारण है। फिर इन्हें क्यो करें ? उनका उत्तर यह है कि—

"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽय कर्मबन्धन ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसग. समाचर ॥९॥

हे कौन्तेय, (जब कि) यज्ञके लिये किये गये कर्मोंके अलावे वाकी कर्मोसे ही लोग वधनमे फँसते है, तो तुम आसक्ति या हाय-हाय छोडके यज्ञार्थ कर्मोको ही ठीक-ठीक करो।९।

सहयज्ञा प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापति· ।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक् ॥१०॥

पूर्व समय—सृष्टिके आरभ काल—में ब्रह्माने लोगो—प्रजा—को यज्ञके साथ ही पैदा करके कह दिया कि इस (यज्ञ)के जरिये खूब फलो फूलो और तरक्की करो (और) यह तुम्हारे लिये कामधेनुका काम दे।१०।

देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः ।
परस्परं भावयन्तः श्रेय. परमवाप्स्यथ ॥११॥

इस यज्ञके द्वारा तुम देवताओको सन्तुष्ट करो, पुष्ट और समुन्नत करो और वे देवता तुम्हे भी वैसा ही करे। (इस तरह) परस्पर एक दूसरेको सुखी-सम्पन्न वनाते हुए परम कल्याण—मोक्ष—प्राप्त करो।११।

इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः ।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः ॥१२॥

क्योकि यज्ञोंके द्वारा तृप्त और प्रसन्न किये गये देवता तुम्हे सभी अभिलषित पदार्थ देंगे। इसीलिये उन्हीके दिये इन पदार्थोंको उन्हें भेंट न करके जो (स्वयमेव) हडप लेता है वह अवश्यमेव चोर है।१२।

**यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।**
**भुञ्जते ते त्वघ पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।।१३।।**

यज्ञके बाद बचे-बचाये पदार्थोंको भोगनेवाले सत्पुरुष सभी पापो और बुराइयोसे छुटकारा पा जाते हैं । (लेकिन) वे पापी लोग तो पापको ही भोगते हैं जो केवल अपने ही लिये (पदार्थ) पकाते हैं—तैयार करते हैं ।१३।

इस श्लोकके "यज्ञशिष्टाशिन"मे अश् धातु भोजनार्थक है। मगर जिस भुज् धातुसे भोजन शब्द बनता है उसीसे भोग भी बनता है। इसीलिये भोजन या अशनका अर्थ केवल पेटमे डालना ही नही है। मार खाने, धोका खानेमे भी तो खाना आता है। मगर ये तो पेटमे रखनेकी चीजे है नही। उसी प्रकार यहाँ भी समझना होगा। यज्ञके बाद जो शेष रहे उसी पदार्थको खाना पहनना या अपने निजी काममे लाना यही 'यज्ञशिष्टाशन'का अर्थ है। उसी तरह 'पचन्ति'मे पच् धातुका अर्थ पकाना है और भात रोटी आदिके पकानेको ही आमतौरसे पकाना कहते हैं। मगर फसल पक गई, घडा पक गया, आम पक गया, फोडा पक गयामे तो तैयार होना ही अर्थ है। महाराष्ट्रमे फसलको ही पाक कहते हैं। यहाँ भी तैयार करना ही अर्थ उचित है। सभी प्रकारके पदार्थोंको तैयार करके पहले उन्हे यज्ञार्थ अर्पण करना चाहिये। इसका अभिप्राय यही है कि उनके कुछ अश यथाशक्ति समाजहित या परोपकारके कामोमे लगाके शेषको ही निजी काममे लाना उचित है। अन्न पकाके भगवान या देव-पितरोको अर्पण करना भी इसीमे आ जाता है।

ऐसा करनेके बाद जो पदार्थोंको भोगता है वही महापुरुष यज्ञशिष्टाशी है। विपरीत इसके जो सब कुछ निजी कामोमे ही खर्च करता है वही पापी है। उसके पदार्थको दरअसल पाप ही कहा है, यद्यपि देखनेमें वह स्थूल पदार्थ प्रतीत होता है। असलमे ऐसे स्वार्थी बननेपर समाज एक

मिनट भी टिक सकता नही। जब हरेकको अपनी अपनी ही सूझी तो समाज रहेगा कैसे ? वह तो उसी क्षण खत्म हो गया। ऐसे स्वार्थी होनेपर कोई भी कायम नही रह सकता। जबतक एक दूसरेकी फिक्र और पर्वा कम-वेश न करे सभी मर मिटेंगे। किसीका भी काम चल सकेगा ही नही। इसीलिये ऐसे कामको पाप और बुराई कहा है। मनुने यज्ञशिष्ट पदार्थको अमृत कहा है। उनका यज्ञ उतना व्यापक नहीं था। केवल देवपितरोंके लिये जो कर्म होते थे उन्हीको उनने यज्ञ माना था। इसीलिये यज्ञके सिवाय दूसरे परोपकारी कामोमें जो चीज लगे उसके शेषको उनने विघस नाम दिया था। "यज्ञशिष्टामृतभुज" (४।३१)में गीताने भी यज्ञशिष्टको अमृत ही कहा है। जो वात गीताके १३वें श्लोकमें लिखी है वही मनुस्मृतिमें भी यो लिखी है कि "अघ स केवल भुक्ते य पचत्यात्मकारणात्। यज्ञशिष्टाशन ह्येतत्सतामन्न विधीयते" (३।११८)। इस श्लोकमे गीताके ही अधिकाशको अक्षरश दे दिया है। पूर्वार्द्ध तो प्राय जैसेका तैसा ही गीताके श्लोकका उत्तरार्द्ध है। पूर्वार्द्धमें भी गीताके उत्तरार्द्धका आधा प्राय ज्योका त्यो और उसके 'सन्त'की जगहपर ही 'सता' दे दिया है। पुराने समयमें इस यज्ञका इतना ज्यादा महत्त्व था कि ऋग्वेदमे भी गीताके "भुजतेतेत्वघ पापा'की ही तरह लिख दिया है कि "नार्यमण पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी" (१०।११७।६)। मन्त्रके देखनेसे यह भी पता चलता है कि ऋग्वेदके समय यज्ञका व्यापक अर्थ गीताकी ही तरह माना जाता था। इसीलिये अर्यमा और सखाकी पुष्टिकी वात इसमे आई है। अर्यमा मेघ सरीखे देवताको और सखा बन्धुबान्धवको कहते है।

आगे जिस यज्ञचक्रका वर्णन है उसका सक्षिप्त रूप प्राय इसी तरहका मनुस्मृतिमें यो पाया जाता है, "अग्नौप्रास्ताहुति सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्न तत प्रजा" (३।७६)। महाभारतके

शान्तिपर्व (३४०।३८-६२)मे भी इस यज्ञकी बात विस्तृत रूपसे आई है। मगर गीताके यज्ञचक्रकी खूबी कही है नही। हमने इसका पूर्ण विवरण पहले ही लिखा है।

**अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।**
**यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः ॥१४॥**
**कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।**
**तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम् ॥१५॥**

अन्नसे प्राणी और सत्ताधारी पदार्थ वनते है—उत्पन्न होते है। वृष्टिसे अन्न पैदा होता है। यज्ञसे वृष्टि होती है। कर्मोसे यज्ञ बनता है—यज्ञका स्वरूप तैयार होता है। कर्म वेद (जैसे ज्ञानभडार)से ही मालूम होते है—जाने जाते है और वेद जैसा ज्ञानभडार अविनाशी (समष्टि महाभूत परमात्मा)से पैदा होता है। इसीलिये सभी बातोको अवगत कराने—जनाने—वाले वेदरूपी ज्ञानभडारका तात्पर्य यज्ञ करनेमे ही है। यज्ञ ही उसका आधार भी है।१४।१५।

**एवं प्रवर्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।**
**अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति ॥१६॥**

(इसलिये) हे पार्थ, इस प्रकार जारी किये गये (यज्ञ)चक्रको इस दुनियामे जो (आदमी) कायम नही रखता (उसका) जीवन पापमय है, वह केवल इन्द्रियोको ही तृप्त करनेवाला है। (इसीलिये) उसका जीना बेकार है।१६।

यहाँ यज्ञचक्रके सिलसिलेमे इतनी सख्तीके साथ इसके चालू रखनेकी बात कही गई है कि सन्देह होने लगता है कि कही ऐसा तो नहीं है कि गीताके मतसे कर्मोका त्याग कभी होई नही सकता। जब कर्म ही ससारकी स्थिति, वृद्धि और प्रगतिके लिये कामधेनु है, जब इन्हीके द्वारा सब कुछ हो सकता है, जब यज्ञचक्रके रूपमे कर्मोका सिलसिला जारी नही रखने-

वालेकी जिन्दगी व्यर्थ है, वह पापमय जीवन ही गुजारता है एव पामर विषयलोलुपोकी तरह एकमात्र इन्द्रियोका ही पोषक है, ऐसा स्वय गीताका आदेश है, तव तो यह खयाल होना स्वाभाविक ही है कि किसी भी दशामें कर्मोसे जिसका ताल्लुक टूटा वह पापी और वदमाश ही माना जायगा। कमसे कम गीताका तो यही सिद्धान्त होगा—वह तो इसीपर मुहर लगायेगी। ऐसी दशामें शुकदेव, वामदेव, जडभरत आदिकी तरह जिनके कर्म खुदवखुद पके फलकी तरह छूट गये है, गिर गये हैं और जो मस्तीकी लापर्वा—वेफिक्र—जिन्दगी गुजारते है, उनका क्या होगा ? वे भी वही "अघायुरिन्द्रियारामो मोघ पार्थ स जीवति"वाले घोर अभिशापके शिकार होगे ? होना तो चाहिये। मगर यह तो असभव, अप्राकृतिक, अस्वाभाविक तथा केवल हास्यजनक वात मालूम पडती है। वह तो इतने ऊँचे है कि उनतक यह अभिशाप कभी पहुँची नही सकता। यह अजीव पहेली है ! यह निराली समस्या है ! जो अपनी आत्मामें ही—आत्मानन्दमे ही—रम गये है, उसीमें तृप्त है और उसीमें सन्तुष्ट है, जिनकी अपनी तृप्तिसे ऐसा हो गया है कि फिर कभी दूसरी ओर जाई नही सकते—जो सदाके लिये सतुष्ट हो चुके हैं, उनके सम्वन्धमें सचमुच यह पेचीदा पहेली ही है जिसका सुलझाना असभव लगता है। मगर गीता इसको—वीचमें ही एकाएक पेश इस समस्याको—आगेके दो श्लोकोमे आसानीसे सुलझाके पुनरपि इस कर्मके यज्ञचक्रकी वातको ही पकडती और आगे वढती है।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते ॥१७॥
नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रय. ॥१८॥

(लेकिन) जो मनुष्य तो आत्मामे ही रम गया है, आत्मा हीमे तृप्त

है और आत्मामें ही सन्तुष्ट है उसका कुछ भी कर्त्तव्य रही नही जाता है। न तो उसके करनेसे कुछ बनता ही है और न नही करनेसे बिगडता ही। सभी भौतिक पदार्थोमे कोई भी ऐसा हई नही जिसका आश्रय वह किसी भी कामके लिये ले।१७।१८।

यहाँ अर्थ शब्द बहुत ही व्यापक अर्थमे आया है जैसा कि बातचीतमे ऐसे मौकेपर आया करता है। आमतौरसे काम, चीज या बात शब्द जिस मानीमे बोले जाते है, ठीक उसी मानीमे यह अर्थ शब्द आया है। यहाँके सभी अर्थ शब्दोका यही मतलब है। इसीलिये सीधा अर्थ यही हो जाता है कि उसके करने-न करनेसे न तो कुछ बनता-बिगडता है और न दुनियाकी कोई भी ऐसी चीज रही जाती है जिसकी प्राप्तिकी कोशिश करनेकी उसे जरूरत हो। फिर उसके लिये कर्म करना जरूरी होगा क्यो ? आखिर कर्मोकी जरूरत होती है अपने या दूसरोके किसी मतलबके ही लिये न ? मगर जिसके कर्मोंसे किसीका कोई भी मतलब सिद्ध होनेवाला होई न, वह क्योकर उन्हे करे ? हॉ, यदि न करनेसे कुछ भी बिगडने वाला हो, किसीका भी बिगडनेवाला हो, तो भी एक बात है। मगर यहाँ तो वह बात भी नही है। सबसे बडी बात, सब बातोकी एक बात यह है कि राईसे लेकर पर्वततक या चीटीसे लेकर भगवानतकसे कोई न कोई काम निकालनेके ही लिये क्रिया या कर्मकी जरूरत पडती है। मगर मस्तरामके लिये तो यह भी बात नही है। उनके कर्मो के फलस्वरूप किसीसे भी कोई काम सधने-बननेका हई नही।

श्लोकमे "कश्चिदर्थव्यपाश्रय" आया है। उसका खास महत्त्व और मतलब है। किसी भी कामके लिये हमे तो किसी न किसी छोटे-बडे पदार्थका आश्रय—सहारा—लेना ही होता है। मगर मस्तरामके लिये ऐसा कोई पदार्थ रही नही जाता। उसके लिये तो सभी अपनी आत्मा ही है—आत्मासे जुदा कोई हई नही। कही चुके है कि वह "सर्व-

भूतात्मभूतात्मा" हो जाता है। तब किसका सहारा ले? किसकी ओर नजर दौडाये? किधर बढे, चले? कोई दूसरा हो तब न? यहाँ तो सब कुछ वही है—"आत्मन्येवात्मान पश्यति सर्वमात्मान पश्यति" (बृहदा० ४।४।२३), "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन क पश्येत्केन क जिघ्रेत् केनक विजानीयात्" (बृह० ४।५।१५)। वह तो अपने आपको ही सर्वत्र देखता है, सुनता है, पढता है, समझता है। क्योकि उसकी नजरोमे दूसरा कोई हुई नही, द्वैत मिट गया, 'दुई' जाती रही, "दुई रा चू बगर करदम यकी दीदम दो आलम रा। यकी जूयम यकी बीनम यकी खानम यकी दानम।" फिर तो बिना कुछ किये ही सब कुछ हाजिर है! शाहशाह जो ठहरा! प्रकृतिको हिम्मत कि उसकी दरबार-दारी न करे? इसीलिये हर चीजें उसीका आश्रय लेती है, अनायास अधीन हो जाती है। महाभारतके "यदा च नाहमिच्छामि गन्धान्घ्राण-गतानपि। तदा मे सर्वदा भूमिर्वशे तिष्ठति नित्यदा" आदि कई श्लोकोमें यही दिखाया है कि सभी चीजें उसके चाहे बिना ही हाजिर रहती हैं! जो लोग उसे खिलाते-पिलाते या शरीर-सेवा करते है उनका मनोरथ और उनकी सभी जरूरतें अकस्मात् पूरी होती रहती है! तब और चाहिये ही क्या?

कुछ लोगोने यह कोशिश की है कि 'तस्य कार्यं' आदिमें षष्ठी विभक्ति-का सम्बन्ध अर्थ लगाके यहाँ यह अभिप्राय बतायें कि उसे अपने लिये कोई कर्त्तव्य नही रह जाता है। इसीलिये जो कुछ करता है वह परोपकार और लोकसग्रहके ही लिये। मगर वह भूल जाते हैं कि "कृत्याना कर्त्तरि वा" (२।३।७१) और "कर्त्तृकर्मणो कृति" (२।३।६५) इन पाणिनीय सूत्रोंके रहते उनका यह मतलब पूरा होनेका नही। यह तो कर्त्ताके ही अर्थमे षष्ठी बताते हैं, न कि सम्बन्धमें। एक बात और भी तो देखे कि पहले तो साधारण कर्मियोकी ही बात कही गई है, जैसा कि बता चुके

है । इसके बाद भी वही बात है । तो फिर बीचमे यह कर्मयोगीकी बात कैसे आगई ? और उसका प्रसग भी कौनसा आ गया ? लोकसग्रहकी बात तो "कर्मणैव हि" (३।२०) श्लोकमे फौरन ही आगे कही गई है । फिर एक श्लोक पहले भी उसे कहनेका क्या मौका ? यही नही । २०से २६तकके श्लोकोमे इस लोकसग्रह और परोपकारकी बात बहुत विस्तारसे लिखी गई है । फिर यहाँ कैसे बेमौके आ गई ? सो भी अधूरी ? किसी-किसीको बारह महीने हरियाली ही सूझनेकी बात ठीक नही । सर्वत्र एक ही चीज को देखने और बतानेकी कोशिश उचित नही है ।

**तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर ।**
**असक्तो ह्याचरन् कर्म परमाप्नोति पूरुषः ॥१६॥**

इसलिये आसक्ति छोडके—पूर्व बताये ढगकी हायहाय छोडके—अपना कर्त्तव्य कर्म ठीक-ठीक करते रहो । क्योकि आसक्ति छोडके कर्मोंको करनेसे मनुष्य परमात्माको प्राप्त कर लेता है ।१६।

लेकिन यदि परमात्माको प्राप्त करना न हो तो ? जो लोग आत्मज्ञानी और जीवन्मुक्त है उन्हे न तो कोई सासारिक-पदार्थ ही प्राप्त करने योग्य रहते है और न परमात्मा ही । वह तो खुद ही परमात्मा—निर्वाण-ब्रह्म—हो जाते है । फिर वह क्यो कर्म करेगे ? वह तो नही ही करेगे न ? नही नही, वह भी करेगे, यदि पूरे मस्तराम परमहस न हो गये हो । यदि पूछे कि क्यो ? तो सुनिये—)

**कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।**
**लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन्कर्त्तुमर्हसि ॥२०॥**

आखिर ससिद्धि—ब्रह्मनिर्वाण—को प्राप्त हुए जनक आदि भी (तो) कर्म करते ही रहे—उनने कर्मको ही अपना साथी बराबर बनाये रखा । इसलिये लोकसग्रह—ससारका पथप्रदर्शन—करनेका ही ख्याल

करके भी (तो) तुम्हें कर्म करना ही होगा—करना ही चाहिये ।२०।

यहाँ जो लोग यह मानते है कि जनकादिको कर्मसे ही मोक्ष मिला, वह एक तो यह भूल जाते है कि मोक्ष ज्ञानसे ही मिलता है। यह वात हम वहुत ही खूबीके साथ वता चुके है। उनने भी दूसरी जगह यही माना है। यदि मान भी ले कि कर्मसे भी मुक्ति होती है, तो भी यह तो वे भी नही मानते कि निरे कर्मसे मुक्ति होती है। वे तो ज्यादेसे ज्यादा यही मानते है कि ज्ञान और कर्म दोनोंके समुच्चयसे—दोनोकी सम्मिलित शक्तिसे—ही मोक्ष मिलता है। मगर यहाँ तो 'कर्मणा एव' लिखा है, जिसका अर्थ है सिर्फ कर्मसे। यह कैसे होगा ? इसीलिये यहाँ कर्मणा इस तृतीयाको "कर्त्तृकरणयोस्तृतीया" (प०२।३।१८)के अनुसार साधन वाचक न मानके 'विनाऽपि तद्योग तृतीया'के अनुसार 'सह' शब्दके न रहने-पर भी उसका अर्थ प्रतीत होनेपर ही तृतीया हो जाती है, यही मानना उचित है। हम इसीलिये, कर्मके साथ ही रहे, वरावर कर्म करते ही रहे, उसे कभी न छोडा यही अर्थ किया भी है।

सबसे मार्केकी बात यहाँ, यह है कि इससे पहले के श्लोकमें 'तस्मात्' कहके एक वातका उपसहार कर लिया है, ऐसा स्पष्ट है। इसलिये इस श्लोकमें कोई दूसरी नई बात शुरू होके आगे चल रही है, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिये इस श्लोकके पूर्वार्द्धकी मिलान उत्तरार्द्धके साथ करनेसे और उसीके अनुसार आगे बढनेसे सब बात ठीक हो जायगी। नही तो यह पूर्वार्द्ध योही वीचमें ही लटका रह जायगा। क्योकि उत्तरार्द्धका तो साफ ही आगेसे सम्बन्ध मानना होगा। जिस लोकसग्रहका इसमें उल्लेख सूत्र रूपसे है उसीका भाष्य आगेके पूरे छे श्लोक करते हैं। जनकको लोकसग्रह करनेवाला और पथदर्शक कर्मयोगी मानते भी है। इसलिये उत्तरार्द्धके साथ मिलाके हमने जो अर्थ किया है वही यहाँपर उचित और ठीक है।

**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः ।**
**स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते ॥२१॥**

बडे लोग जो जो करते है वही वही काम जनसाधारण भी करते है। बडे जितना करते और जिसे सही मानते लोग भी उतना ही करते और उसीको सही मानते है ।२१।

यहाँ 'प्रमाण'का अर्थ प्रमाण या सही भी है और नापजोख भी। 'यत्प्रमाण' शब्द जब समस्त माना जाय तब तो इसका अर्थ है 'जितना'। और अगर यत् तथा प्रमाण अलग-अलग दो शब्द स्वतत्र माने जायँ तब 'जिसे सही' यह मानी है ।

**न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन ।**
**नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि ॥२२॥**

हे पार्थ, तीनो लोक—सारे ससारमे—मेरा कुछ भी कर्त्तव्य रह नही गया है। ऐसा भी नही कि कोई वस्तु मुझे हासिल न हो (और) उसे प्राप्त करना हो। फिर भी (देखो न) कर्ममे लगा ही रहता हूँ ।२२।

**यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।**
**मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥**

क्योकि हे पार्थ, अगर मै (खुद) कभी भी आलस्यरहित होके कर्म करनेसे हिचकूँ तो सभी लोग मेरा ही रास्ता (चट) अखतियार कर लेगे ।२३।

इस सम्बन्धमे यह याद रखना होगा कि श्रीकृष्णकी रासलीला का इस कथन से स्पष्ट विरोध होने के कारण वह प्रक्षिप्त तथा पीछे जोडी गई चीज है। शिशुपालसे बढकर कृष्णका शत्रु कोई न था जो खुले आम गालीगलौज करता और उनके सच्चे-झूठे ऐबोंके बारेमे लेक्चर देता फिरता था। युधिष्ठिरके यज्ञमे जब कृष्णकी पूजाकी गई तो उसे बर्दाश्त न हो सकी। फलत. उसने बहुत कुछ

पटपट बक जाना । उन्हें नीचा दिखानेके लिये यहाँ तक किया कि उनके मुरारि, मधुसूदन आदि नामोंके अर्थ तक उसने बदल दिये, उन्हें खान्दानी भगोड़ा बताया, वगैरह वगैरह । मगर यह हिम्मत तो उसे भी न हुई कि कह डाले कि कृष्ण व्यभिचारी था, उसने गोपियोंके साथ शरारत की, बदमाशी की । यदि उसे जरा भी खबर इस बातकी मालूम होती तो ऐसा कहनेमें वह हर्गिज न चूकता । फिर तो तिलका ताड़ बना छोड़ता । इससे स्पष्ट है कि कृष्णका चरित्र इतना ऊँचा था कि उनके शत्रुमें भी कट्टर दुश्मन तकको यह हिम्मत न थी कि इस बारेमें जबान भी खोले । यदि गोपियोंकी रासलीलाकी गन्ध भी उस समय होती तो शिशुपाल क्या क्या न कह डालता, कह डालता ? इसलिये मानना होगा कि उस समय उसका नाम भी न था, चर्चा भी न थी । यह बात पीछे जुटी है, जोड़ी गई है ।

श्री कुमारिलकी लिखी तन्त्रवार्तिक नामकी मीमांसाकी पोथीकी एक महत्त्वपूर्ण चर्चा भी इस मामलेमें प्रकाश डालती है । मीमांसा-दर्शनके सूत्रों पर जो शबर भाष्य है उसीकी टीकाका नाम तन्त्रवार्तिक है । दरअसल भट्टपाद कुमारिलकी समूची टीका तीन भागोंमें बँटी है । पहले अध्यायके प्रथम पादकी टीकाका नाम है श्लोकवार्तिक । उस अध्यायके शेषको लेकर तीसरे अध्यायके अन्त तककी टीकाको ही तन्त्रवार्तिक कहते हैं । शेषांशकी टीका कही जाती है टुप्टीका । उसी तन्त्रवार्तिकमें प्रथमाध्यायके तीसरे पादके सातवें सूत्र "अपिवा कारणाग्रहणे प्रयुक्तानि प्रतीयेरन्निति"के व्याख्यानमें एक स्थान पर नास्तिककी शंकाके रूपमें लिखा है कि हिन्दू लोग जिस कृष्णको महान् पुरुष मानते हैं उनकी हालत यह थी कि शराब पीते थे । उनने मामाकी लड़कीसे शादी भी की थी । दरअसल रुक्मिणी उनके मामूकी ही तो पुत्री थी । इस प्रकार धर्माचार्यों और अवतारों पर एकके बाद दीगरे दोषारोपण करके सनातन धर्मकी निन्दा की

गई है। किन्तु जहाँ ब्रह्मा, व्यास आदिके बारेमे उसने व्यभिचार आदिकी बाते लिखी है तहाँ कृष्णके बारेमे उसे सिर्फ पूर्वोक्त दोष ही नजर आये है। लेकिन यदि भट्टपादके समयमे रासलीलाकी बात प्रसिद्ध होती तो वह नास्तिक के मुँहसे जरूर ही वही बात कहलवाते। वह साधारण लोगोके समझमें आनेकी बात भी थी। मगर शराब पीने या मामूकी कन्यासे शादी करनेकी बात तो कुछ ऐसी ही है। फलत मानना होगा कि नवी शताब्दी तक, जब कि भट्टपाद हुए, रासलीलाका पता कही न था। यह तो उसके बाद ही पोथियोमे घुसेडी गयी मालूम पडती है। खूबी तो यह है कि कुमारिलने समाधान करते हुए जहाँ लिखा है कि रुक्मिणी सचमुच मामूकी लडकी न थी, वही यह भी लिखा है कि जो कृष्ण ससारके लिये आदर्श-स्थापक थे वही खुद विरुद्ध काम भला कैसे कर सकते थे? फिर उनने गीताके उन्ही श्लोकोको उद्धृत भी कर दिया है कि "मम वर्त्मानुवर्त्तेरन्मनुष्या पार्थ सर्वश। यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन। स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते" (३।२३।२१)। उनका यह उद्धरण बडे कामका है और वस्तुस्थितिको बताता है।

**उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।**
**संकरस्य च कर्त्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः॥२४॥**

(नतीजा यह होगा कि) यदि मै कर्म न करूँ तो ये सभी लोग—सारी दुनिया—ही चौपट हो जायँ। (इस तरह) मै ही वर्णसकर करनेका जिम्मेदार बन जाऊँ (और) इस सारी प्रजाका नाशक हो जाऊँ।२४।

खयाल हो सकता है कि जब सबोको एक ही लाठीसे हाँका जाता है, जब कर्मोका करना विद्वान-अविद्वान या ज्ञानी-अज्ञानीके लिये समान रूपसे ही जरूरी है, तो फिर दोनोमे फर्क रही क्या जाता है? ज्ञानीकी विद्वत्ताने उसे क्या किया? यह तो कुछ उलटीसी बात हो गई। अविद्वान-को आधिभौतिक, आधिदैविक, आध्यात्मिक ये तीन ही कष्ट होते है।

मगर विद्वान होनेपर बडे-बडे पोथोंके अभ्यास करनेका कष्ट, यदि कुछ भूले तो उसका, अगर कही विवादमे हारे तो उसका और न हारनेपर जबर्दस्त साँडकी तरह गर्वका, इस तरह कुल सात कष्ट हो जाते है। कहाँ चले थे तीनोंसे पिंड छुडाने और कहाँ चार और जुट गये! "चौबे गये दूबे बनने तो छब्बे होके लौटे"वाली बात हो गई! इसीलिये नारदने सनत्कुमारसे कहा था कि महाराज, कोई रास्ता बताइये, नहीं तो यह तो बला हो गई और लेनेके देने पड गये! जितना ही पढा और पोथी-पुराण उलटा उतनी ही आफत बढती गई, जैसा कि (छान्दोग्य ७।१।१-३) तथा "वेदाभ्यासात्पुरातापत्रयमात्रेण दु खिता। पश्चात्त्वभ्यासविस्मारभग-गर्वैश्च शोकिता" (पचदशी ११।१९)मे लिखा है। जब दोनो ही गवेकी तरह दिनरात कर्मोंमे खटते-मरते ही रहेंगे, तो सचमुच ही दोनोमें फर्क होगा क्या? इसका उत्तर यह है—

सक्ता कर्मण्यविद्वासो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथाऽसक्तश्चिकीर्षुर्लोकसग्रहम् ॥२५॥

हे भारत, कर्मोंमे लिपटे-चिपटे अनजान लोग जिस तरह उन्हें (पूरा दिल लगाके) करते है विद्वान भी वैसा ही दिल लगाके करे। (मगर फर्क यही रहे कि एक तो वह) उनकी तरह लिपटा-चिपटा न रहे या हाय-तोबा न करे। दूसरे उसका लक्ष्य लोकसग्रह ही रहे।२५।

जो लोग खयाल करते है कि निजी स्वार्थ न रहने और आसक्ति खत्म हो जानेपर कर्म उतनी खूबी और लगनके साथ नही किये जा सकते, उनका उत्तर भी इसीमे आ गया है। विद्वानका अपना तो समस्त ससार ही हो जाता है—उसका परिवार तो बहुत विस्तृत एव व्यापक हो गया। इसीलिये उसकी लगन कर्मोंमे और भी तेज हो जाती है। यह हाय-तोबा न रहनेके कारण उसकी सारी दृष्टि इधर-उधर न बँटके कर्मपर ही रहनेसे कर्म और भी खूबी तथा सुन्दरताके साथ पूरा होता है। यही तो है कर्मके

ऊपर समस्त शक्तिका केन्द्रीभूत (Concentration) होना। हाय-तोबा खत्म हो जानेसे बेचैनी—परीशानी—भी नही रहती। वह बराबर मस्त भी रहता है।

जिनका विचार हो कि विद्वान स्वय तो कर्म लगनके साथ जरूर करे। मगर अज्ञानियोको कुछ समझाता-बुझाता भी रहे कि वे कर्ममे आसक्ति छोडे और अपनी प्रगतिका रास्ता साफ करे, उन्हीके लिये आगेके चार (२६-२६) श्लोकोकी बाते है। दरअसल अविद्वान और अज्ञानी जनोको दो दलोमे बाँट सकते है। एक तो ऐसे लोगोका, जो कुछ न कुछ समझते है सही। फिर भी विद्वानोके समान या उनके समाजके लायक नही होते। उन्हे अक्षरकट्टू कहिये, टुटपुँजिये समझदार कहिये, या अर्द्ध-दग्ध कहिये। मगर उनमे इतनी ही विशेषता होती है कि वे बाते समझते है, समझानेसे कम-बेश समझ सकते है। इसीलिये वे गीताकी गिनतीमे और गीताधर्मकी ओर अग्रसर होनेवालोमे भी आ सकते है, यद्यपि उनका दर्जा सबसे नीचे या बहुत नीचे होता है। ऐसे ही लोगोके बारेमे "असक्त स विशिष्यते" (३।७) कहा गया है। उन्हे समझाना-बुझाना ठीक ही होता है—उसका कुछ न कुछ परिणाम होता ही है, फिर चाहे जल्द हो या देरसे हो।

मगर दूसरा दल ऐसोका होता है जो चीटेकी तरह कर्मोसे लिपटते है, ऊँटकी पकड पकडते है। वे जिस चीजको पकडते है उसे छोडना जानते ही नही। वे इतने सीधे और भोले होते है कि विवेक और अक्लसे उन्हे ताल्लुक होता ही नही। वे तो सिर्फ देखा-देखी करते है। उन्हे समझा-इयेगा तो शायद ही समझे। इसीलिये सीधे कह दीजिये कि यह काम करो और वे उसमे तन-मनसे लिपट पडेगे। सच पूछिये तो उन्हीके लिये कह सुनानेकी अपेक्षा कर दिखानेकी जरूरत कही ज्यादा होती है। पहले जो कृष्णने अपना दृष्टान्त देकर लोकसग्रहका विवरण बताया है वह

ऐसो हीके लिये है। लोकसग्रहके लोक या लोग ऐसेही सीधे जन है। उन्हीका सग्रह या सन्मार्गपर जाना, यही लोकसग्रह है। उन्हें इधर-उधर भटकने न देके एक रास्तेमें बाँध रखा जाता है।

ऐसे ही लोगोके बारेमें एक पण्डितजीके श्राद्ध करवानेकी बात कही जाती है। पडितजीका यजमान इतना सीधा था कि ठीक ही आँख मूँदके चलता था। पिंडदानके समय पहले ही पडितजीने उससे कह दिया कि मैं जो बोलूँ वही तुम भी बोलना। उनका आशय तो था मत्रोंसे, कि मैं जो मत्र जैसे पढूँ तुम भी वैसे ही पढते जाना। मगर वह था इतना सीधा कि उसने ऊँटकी पकड पकड ली। जब पडितने श्रीगणेश करते हुए उससे कहा कि तैयार हो जाओ, तो वह भी चट बोल बैठा कि तैयार हो जाओ। इसपर पडितजीने रज होके कहा कि मैं तुमको पिंडदानके लिये तैयार हो जानेको कहता हूँ। फिर तो वह भी बोल उठा कि मैं तुमको पिंडदानके लिये तैयार हो जानेको कहता हूँ! अजीब बात थी! पडितजी जो बोलते थे वह भी वही दुहराता जाता था। उनने लाख कोशिश की कि उसे समझाके ठीक करें। मगर घटो इस हुज्जतमें लगनेपर भी कुछ नतीजा न हुआ। उसने तो उनकी शुरूवाली बात पकड ली थी। बस, ऐसे ही लोगोंसे यहाँ मतलब है। उन्हें समझानेकी कोशिश करना बला मोल लेना है, जैसी कि पडितजीकी हालत हुई, परीशानी हुई, और अन्त में क्रोधमें पटका-पटकी तक हो गई, जिसमें उसने पडितजीको घर दबोचा। मजबूत तो था ही। खूबी तो यह कि इतनेपर भी वह समझता था कि मैं श्राद्ध ही कर रहा हूँ और यही श्राद्ध है! ऐसे लोगोको समझानेकी कोशिश करनेपर वह कहीके नही रह जाते। वह तो ऊँटकी पकडवाली एक ही अक्ल जानते है, जैसा कि हितोपदेशका मेढक केवल भागनेकी एक अक्ल—एक बुद्धि जानता था। उपदेश देनेमें वह बुद्धि भिन्न हो जाती है, टुकडे-टुकडे हो जाती है, बँट जाती है और वह आदमी कहीका रह जाता नही।

**न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसंगिनाम् ।**
**जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥२६॥**

कर्मोंमे लिपटे-चिपटे भोले अज्ञानी जनोकी (उस ऊँटकी पकडवाली एक) अक्लको छिन्न-भिन्न (हर्गिज) न करे। किन्तु योगी विद्वान स्वय सभी कर्मोको करता हुआ (देखा-देखी) उनसे भी करवाये।२६।

**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।**
**अहकारविमूढात्मा कर्त्ताऽहमिति मन्यते ॥२७॥**

(क्योकि यद्यपि) प्रकृतिके गुणोके द्वारा ही सभी कर्म किये जाते है (न कि आत्मा करती है। तो भी) जिनकी आत्मा अहन्ता-ममता—मै और मेरेके खयाल—के करते बिलकुल ही मोहमे—घोर अँधेरेमे—फँसी है, फलत जिन्हे (कुछ भी नही सूझता,) वह अपने आपको ही करनेवाले माने बैठे होते है।२७।

**तत्त्ववित्तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः ।**
**गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते ॥२८॥**

हे महाबाहो, (इसके विपरीत) जो लोग गुणो और कर्मोंके हिसाब-किताब और ब्योरेको पूर्ण रूपसे जानते है—उसकी असलियतको देखते है—(कि किस गुणके साथ किस कर्मका कैसा ताल्लुक है) वह तो, यही जानकर कि गुणोसे बनी कर्मेन्द्रियाँ ही उन्हीसे बने कर्मोमे लगी है, उन कर्मोंमे लिपटते नही।२८।

**प्रकृतेर्गुणसमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु ।**
**तानकृत्स्नविदो मन्दान् कृत्स्नविन्न विचालयेत् ॥२९॥**

(लेकिन) जो प्रकृतिके गुणोकी इन सभी बातोको कतई जानते ही नही, वे गुणोके कर्मोमे खुद फँस जाते है। (इसीलिये) सारी बातोको पूर्ण रूपसे न जान सकनेवाले उन नादानोको सभी बातोका जानकार आदमी (हर्गिज) घपलेमे न डाले।२९।

हमने पहले गुणवादके प्रकरणमे इन तीनो गुणोके सभी पहलुवोपर पूर्ण प्रकाश डाला है। वही बताया है कि किस तरह गुण आपसमें मिलके चलते और सभी कर्म करते-कराते है। इन्द्रियोका भी विवरण अच्छी तरह दिखाया गया है कि कौनसी इन्द्रियाँ किस गुणसे बनी है। इन्द्रियोको और समूचे ससारको भी—इसीलिये कर्मोंको भी—गुण क्यो कहते है यह भी बताया गया है। ऊपरके तीन (२७-२९) श्लोकोमे यही बातें कही गई हैं। इसीलिये कर्मों और इन्द्रियोको भी गुण कहा है और गुणो तथा कर्मोके बँटवारे या विभागकी भी बात इसीलिये कही गई है।

**मयि सर्वाणि कर्माणि सन्यस्याध्यात्मचेतसा।**
**निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः ॥३०॥**

(इसलिये तुम) आत्मज्ञानके बलसे सभी कर्मोंको मुझमें—भगवान॰में—अर्पण करके (और) सभी तरहकी आसक्तियो एव ममताओंसे रहित होके मस्तीके साथ लडो।३०।

यहाँ जो 'अध्यात्मचेतसा' दिया है, ठीक इसी तरहकी बात "चेतसा सर्वकर्माणि" (१८।५७)मे आई है। गौरसे देखनेसे मालूम होता है कि दोनो जगह एक ही बात कही गई है। मगर अठारहवें अध्यायवाले श्लोकके उत्तरार्द्धमें "बुद्धियोगमुपाश्रित्य" शब्द भी आया है। उससे पूर्वके (५०-५६) श्लोकोमें ज्ञाननिष्ठाकी ही बात आई है। सो भी सबसे ऊँचे दर्जेकी—परा—ज्ञाननिष्ठाकी बात। उसीके सिलसिलेमें छठें अध्यायके ध्यानयोगकी ही तरह वहाँ भी ध्यानयोगका और उसके साधन-स्वरूप नियमित भोजन आदिका वर्णन आया है। इससे स्पष्ट हो जाता है समाधि वगैरहके द्वारा पूर्ण आत्म-साक्षात्कार और आत्मानुभवकी बात वहाँ कही गई है। यही वजह है कि उसी समाधिकी सिद्धिके लिये कर्मोका स्वरूपत त्याग भी जरूरी हो जाता है। यह बात वहाँ भी आई है। मगर आत्म-ज्ञान होनेके बाद भी शायद कर्मोके त्यागपर हठ होने लगे, इसीलिये यह

कहनेकी जरूरत हुई है कि पीछे तो कर्मोके स्वरूपत सन्यासकी जरूरत नही होती। यो स्वयमेव छूट जायँ यह बात दूसरी है। तो फिर होता है क्या? होता है यही कि तत्त्वज्ञानके फलस्वरूप कर्मोको अपनेमे, आत्मामे तो सटने देते नही—कर्म आत्मामे तो रहने पाते नही। वहाँसे तो निकाल बाहर कर दिये गये। फिर वे रहे कहाँ यह सवाल होनेपर उत्तर मिलता है कि जहाँ सारी दुनिया रहती है। यह दुनिया तो भगवानमे ही रहती है यह बात "मयिसर्वमिद प्रोत" (७।७), "यो मा पश्यति सर्वत्र" (६।३०), "वासुदेव सर्वमिति" (७।१६), "यस्यान्त स्थानि भूतानि" (८।२२), "मत्स्थानि सर्वभूतानि" (६।४) आदिमें साफ ही कही गई है। इसीलिये "ब्रह्मण्याधाय कर्माणि" (५।१०)मे भी कर्मोको ब्रह्ममें ही स्थापित कर देनेकी बात कही गई है। वही बात यहाँ भी है। ज्ञानी यही समझता है कि मै तो कुछ कर्त्ता-वर्त्ता नही। सृष्टिका काम चलता है तो चले। इसमे अडगा डालनेवाला मै कौन? मै ऐसा करूँ भी क्यो? जिसकी यह सृष्टि है वह जाने और उसका काम जाने। मुझे इसकी फिक्र कि ये मेरे कर्म कहाँ रहेगे और क्या करेगे? इन सभी वाहियात खुराफातोका भार मेरे ऊपर तो है नही। यही है तत्त्वज्ञानपूर्वक कर्मोका भगवानमे अर्पण, निक्षेप, स्थापना या सन्यास।

**ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।**
**श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यते तेऽपि कर्मभिः ॥३१॥**

जो मनुष्य हमारे इस सिद्धान्तके अनुसार काम करनेकी बराबर कोशिश करेंगे और मेरी वातोमें श्रद्धा रखनेके साथ ही निन्दाकी जरा भी भावना न रखेगे उनका भी कर्मोसे छुटकारा होगा।३१।

इस श्लोकमे यद्यपि 'अनुतिष्ठन्ति' शब्द है, जिसका अर्थ होता है कि मेरे मतके अनुसार अनुष्ठान या काम करते है। फिर भी यह ठीक नही है। क्योकि उत्तरार्द्धमे जो 'वे भी—तेऽपि' लिखा है उससे पता चलता

है कि तत्त्वज्ञानियोके अलावे ये कोई दूसरे ही है। तत्त्वज्ञानियोंके कर्मोसे छूटकारेकी बात तो पहले कही चुके। अब उसका कोई मौका हुई नही। अब तो नई बात कहनी है। तत्त्वज्ञानियोंके लिये श्रद्धा और निन्दा न करने-की बात भी नही आती। वे तो इन सभी बातोंसे बहुत दूर और ऊपर होते है। उनके नजदीक भी कर्म नही फटक पाता। फिर उससे छुटकारे-का क्या सवाल ? इसीलिये अनुष्ठान या काम करनेकी कोशिश करते है, यही अर्थ हमने किया है। यही उचित भी है। इसलिये नित्य या बराबर कहना भी ठीक होता है। क्योकि बराबर कोशिश किये बिना सफलता नही मिलती है। ज्ञानीके लिये तो बराबरकी बात हुई नही। उसके लिये यह कहना बेकार है। उस कोशिशमें ही श्रद्धाका होना और निन्दा-बुद्धिका न होना भी सहायक होता है। इसीलिये जरूरी है। श्रद्धा एव अनसूया का इतना ही अर्थ है कि ईमानदारी के साथ दिलोजान से यत्न किया जाय।

**ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।**
**सर्वज्ञानविमूढास्तान् विद्धि नष्टानचेतसः ॥३२॥**

विपरीत इसके जो लोग मेरे इस सिद्धान्तकी निन्दा करते हुए इसके अनुष्ठानका यत्न नही करते, समझ लो कि उन्हें किसी बातकी जरा भी जानकारी नही है। है वे निर्बुद्धि और चौपटानन्द ही।३२।

**सदृश चेष्टते स्वस्या. प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।**
**प्रकृति यान्ति भूतानि निग्रह. किं करिष्यति ॥३३॥**

ज्ञानी भी (तो) अपनी प्रकृतिके अनुसार ही चलता है। (क्योकि) सबोको प्रकृतिके अनुकूल ही चलना होता है। इसमें रोक-थाम क्या करेगी ?३३।

इस श्लोक और इसके बादके दो श्लोकोको समझनेके लिये एक तो इसके स्थान और प्रसगको ठीक-ठीक जानना होगा। दूसरे पूर्वके

पाँच (२६-३०) श्लोकोके अर्थपर दृष्टि देना पडेगा। यह जाननेमे कुछ दिक्कत नही है कि इस श्लोकका असली स्थान "मयि सर्वाणि" (३।३०)के बाद ही है। क्योकि बीचके दो श्लोक योही प्रासगिक है। कही लोग ऐसा न समझ ले कि कृष्ण किसी प्रकार अर्जुनको युद्धमे प्रवृत्त करनेके ही लिये सारा प्रपच रच रहे और आडम्बर फैला रहे है, इसीलिये "ये मे मतमिद" आदि दो (३१, ३२) श्लोकोमे यह कह दिया गया है कि यह सर्वोपयोगी ध्रुवसिद्धान्त है जो सबोके लिये समान रूपसे लागू है। अत जोई इसके अनुसार चले या चलनेकी कोशिश ईमानदारीसे करे उन्हीका कल्याण हो जायगा। विपरीत इसके जो ऐसा न करेगें वे चौपट भी जरूर हो जायँगे। फलत इन दो श्लोकोका कोई सैद्धान्तिक महत्त्व नही है। ये योही उठी शका या खामखयालीको दूर कर देते है। इसीलिये बीचमे इनके आ जानेपर भी इनके बादके ३३वे श्लोकका सम्बन्ध इनके पहलेके ३०वेके साथ ही रहता है।

अब जरा पीछेवाले उन पाँचोके अर्थोपर गौर करे। उनमे यही कहा गया है कि नासमझ एव सीधे-सादे लोगोके सामने ज्ञान कथना न सिर्फ बेकार है, बल्कि खतरनाक भी है। क्योकि वे दुबिधेमे पड जाते है। उनकी बुद्धि ऐसे घपलेमे आ जाती है कि वे न तो घरके रहते और न घाटके। इतना ही नही। यदि समझदार और बडे-बूढे लोग कर्म न करे तो वह भी देखा-देखी वैसा ही करते है। फलत चौपट हो जाते है। ज्ञानियो और बडे-बूढोकी भीतरी बाते वे क्या जानने गये? वे तो ऊपरसे कर्मोका त्याग देखके खुद भी वैसा ही कर बैठे—कर बैठते है। इसीलिये ज्ञानियोके कर्मत्यागमे यह बडा खतरा है। इसीसे कृष्णने इसे रोका है और कहा है कि परमात्मामे ही कर्मोको छोडके ज्ञानी लोग उन्हे करते चले। वे तो यह समझते ही है कि कर्म तो गुणोमे है, प्रकृतिके भीतर है, हममे तो है नही, हम तो उनसे वेलाग है।

ज्ञानी जनोंके इसी खयालके साथ कि, हममें तो कर्म है नही, किन्तु गुणोमे ही है, यदि यह खयाल भी आ मिले, जो पीछेके सत्रहवें श्लोकमें आ गया है, कि मस्तरामको कुछ भी करना-धरना रह नही जाता, फलस्वरूप वे लोग—आमतौरसे यदि यही मान बैठें कि जब कर्मोंका ताल्लुक हमसे हुई नही तो फिर हम करें ही क्यो ? जब "गुणागुणेषु वर्तन्ते" ही है तो फिर हम नाहक माथापच्ची क्यो करें ? परीशानी क्यो उठायें ? तो क्या होगा ? नासमझ लोग तो प्रकृतिके गुणोके बारेमें निरे कोरे है, कुछ भी नही जानते। इसलिये वे भले ही कर्मोंमें चिपटे। उनके लिये कर्म ठीक भी है। मगर हम ज्ञानीजन उनमें क्यो मरें-पिचें ? हमें तो अपनी बात पहले देखनी है, पीछे दूसरोकी, यदि यह खयाल पक्का हो जाय तो कर्म छूटी जायँगे। कमसे कम कर्मोंके लिये एक भारी खतरा तो खडा होई जायगा और सारा उपदेश बेकार जायगा। बस, इसीका उत्तर आगेके श्लोक देते है।

ये श्लोक तीन बाते कहते हैं। श्लोक भी तीन ही है। इसीलिये क्रमश तीनोकी एक एक बातें है। पहला—३३वाँ—तो इतना ही कहता है कि मस्तरामको देखके दूसरे ज्ञानी कैसे हाथ-पाँव रोक देंगे, यदि वे चाहें भी ? प्रकृतिके गुणोकी जो बात उनके बारेमें कही जाती है उसकी आधी ही बात क्यो ली जाय और पूरी क्यो नही ? एक तो मस्तरामकी प्रकृति निराली और शेष ज्ञानी जनोकी दूसरी ठहरी। प्रकृतिके मानी तो यहाँ शरीर, इन्द्रिय, अन्त करणादि होगे न ? प्रकृतिका कोई दूसरा रूप तो होगा नही, जब हर आदमीके प्रति उसका विचार किया जायगा। ऐसी दशामे मस्तरामके मन आदि दूसरे और शेष जनोंके निराले ही ठहरे। और अगर मस्तरामके मन आदि कर्मोंसे हट भी जायें या कर्म ही पके फलकी तरह उनसे हट जायँ, तो इसका दूसरेंके मन, इन्द्रियादिसे क्या सम्बन्ध ? दूसरेके मन, इन्द्रिय आदि क्यो हटेंगे ? वे तो दूसरे हैं और

अपनी-अपनी प्रकृतिके ही अनुसार सभी चलते है। दूसरी बात यह भी है कि प्रकृतिके गुणोकी जैसी यह बात है कि कर्मोंका ताल्लुक उन्हीसे है, न कि आत्मासे, ठीक वैसी यह बात भी तो है कि गुण कर्मोको कभी छोड नही सकते, मजबूरन कर्म करना ही पडता है—"कार्यतेह्यवश: कर्म सर्व प्रकृतिजैर्गुणै" (३।५)? फिर यदि कोई भी ज्ञानी जन जबर्दस्ती हाथ-पाँव रोकके कर्मसे हटना चाहेगे तो यह कैसे होगा? उनकी यह रोक-थाम क्या कुछ भी कर सकेगी? वह तो महज बेकार साबित होगी।

तब फौरन यह प्रश्न उठता है कि यदि हाथ-पाँव आदि इन्द्रियोकी रोक-थाम होई नही सकती, जब रोक-थाम बेकार है, क्योकि वह कुछ भी कर सकती ही नही, तो ज्ञानेन्द्रियोकी रोक-थाम भी कैसे सभव है? आखिर सभी इन्द्रियाँ तो गुणोसे ही बनी है न? और जब प्रकृति या उसके गुणोपर ही कब्जा नही है, तो फिर इन्द्रियोपर कैसे होगा, चाहे ज्ञानेन्द्रियाँ हो या कर्मेन्द्रियाँ? ऐसी हालतमे इन्द्रियोके निग्रह, रोक-थाम या नियमन-का सवाल ही बेकार हो जाता है। और अगर यही बात मान ले, तो "इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्य" (२।५८), "तानि सर्वाणि सयम्य" (२।६१) तथा "तस्माद्यस्य महाबाहो निगृहीतानि" (२।६८)मे इन्द्रियोके निग्रहपर जो सबसे ज्यादा जोर दिया गया है और जो स्थितप्रज्ञ और योगीके लिये बुनियादी एव मौलिक वस्तु माना गया है वह कैसे ठीक होगा? यही नही। इन्द्रियनिग्रह तो अध्यात्मशास्त्र और योगकी सबसे मुख्य बात मानी जाती है और वही अब झूठी साबित होती है।

इसका उत्तर बादवाला श्लोक यो देता है। आखिर शरीरयात्राके लिये इन्द्रियोकी क्रिया जरूरी है और ज्ञान या विवेकके भी लिये। हाँ, इनके विषयोके साथ जो रागद्वेष है उनपर जरूर ही नियत्रण चाहिये—राग और द्वेषको ही खत्म करना चाहिये। यह बात बराबर सभव भी है। प्रकृतिके ही गुणोमे सत्त्व ऐसा है कि यदि उसकी प्रगति हो, पूर्ण

विकास हो तो रागद्वेषको मिटा दे और हमें उनके चगुलमें कभी फँसने न दे। वह खतरेसे पहले ही आगाह जो कर देता है।

इसीलिये अर्जुनने शुरूमें ही जो कहा था कि मुझे यदि कर्ममें भी लगाते हो, तो लगाओ, मगर हिंसात्मक युद्धमे क्यो खामखा धकेलते हो, उसका भी उत्तर हो जाता है। बादका ३५वाँ श्लोक यही उत्तर देता है कि यद्यपि युद्ध हिंसात्मक है, तो भी क्षत्रियके लिये और खासकर अर्जुनके लिये तो वह स्वधर्म है, उसका निजी कर्त्तव्य है। अठारहवे अध्यायमें तो साफ ही कहा है कि युद्ध क्षत्रियका स्वाभाविक धर्म है, "क्षात्र कर्म स्वभावजम्" (१८।४३)। इसीलिये "स्वे स्वे कर्मण्यभिरत" (१८।४५) तथा "स्वभावनियत कर्म" (१८।४७) में स्पष्ट कह दिया है कि ऐसे स्वधर्मो एव स्वाभाविक कर्मोके करनेमें पाप और बुराईका तो सवाल ही नही। प्रत्युत इन्हीसे कल्याण होता है। "चातुर्वर्ण्यं मया सृष्ट" (४।१३) का भी यही आशय है। प्रकृति कहिये, या स्वभाव कहिये। बात तो एक ही है। अर्जुनको यही कहा गया है कि स्वधर्मको छोड परधर्ममें जाना खतरनाक है। वह तो "देशी मुर्गी विलायती बोल" वाली बात हो जायगी। फिर तो ऐसा करनेवाले कहीके न रह जायँगे।)

**इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।**
**तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ ॥३४॥**

प्रत्येक इन्द्रियके विषयके साथ राग और द्वेष नियमित रूपसे लगे है। इसलिये उनके वशमें कभी न जाये। क्योकि इस आत्माके बटमार और लुटेरे वही दोनो हैं।३४।

**श्रेयान्स्वधर्मो विगुण. परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।**
**स्वधर्मे निधन श्रेय. परधर्मो भयावह. ॥३५॥**

दूसरेके बहुत अच्छी तरह पूरे किये गये धर्मकी अपेक्षा अपना धर्म (देखनेमें) खराब या अधूरा रहनेपर भी कही अच्छा है। (इसलिये)

पने धर्मके पीछे मर मिटना ही अच्छा है। दूसरेका धर्म तो खतरनाक ।३५।

लेकिन यह तो आमतौरसे देखा जाता है कि लोग गलत रास्तेपर ाते है और अपना कर्त्तव्य पालन नही करते। युद्धकी निन्दा करना ौर इसे बुरा ठहराना यह आम बात है। लोग इससे हिचकते और ागते भी है—वही लोग जिनका यह स्वधर्म है। सभी बातोमे यही देखा ाता है कि आमतौरसे लोग पाप या कुकर्मकी ही ओर झुकते है। ऐसा ालूम पडता है कि नाहककी मारकाट, निर्दयता, दुराचार-व्यभिचार मिथ्या भाषण आदि ही स्वाभाविक तथा प्राकृतिक चीजे है। जैसे चटाईके किनारेको पकडके मोडनेमे ऐसा होता है कि जबतक दबाव रहता है तभीतक ुडी रहती है और ज्योही दबाव हटा कि ज्योकी त्यो हुई। ठीक वैसे ही ान और इन्द्रियोपर जबतक दबाव है, कुकर्मसे बचती है। मगर ज्योही बाव हटा कि फिर वही पाप और कुकर्म। कुत्तेकी पूँछकीसी हालत ै। जबतक दबाओ तभीतक सीधी रहती है, नही तो फिर टेढीकी टेढी। ैसा उसका टेढापन या चटाई का सीधापन स्वाभाविक है, वैसे ही, मालूम डता है, बुराई ही इन्द्रियोका स्वभाव है। इसीसे देखते है कि युग-ुगान्तरसे ऋषि-मुनि, अवतार, पीर-पैगम्बर और औलिया हजारो और ाखो हुए। उनने उपदेश भी दिया। मगर ससारमे उसी असत्य, उसी यभिचार, उसी निर्दयता आदिका ही बोलबाला है। मानो कुछ हुआ ी नही। गोया यही असली एव अकृत्रिम बाते है और सत्य आदि ही कृत्रिम है। यही नही, बडे-बडे ऋषि-मुनि भी कभी न कभी इनमे फँसी ाये है। जब समाजके लिये सत्य आदि ही आवश्यक है और ठीक भी है ौर जब प्राकृतिक धर्मोका ही करना जरूरी है, उन्हीको करना ही ाहिये, तो यह उलटी बात क्यो होती है, यही बडीसी पहेली अर्जुनके ामने खडी है। इसीलिये—

## अर्जुन उवाच

**अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापं चरति पूरुष.।**
**अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः ॥३६॥**

अर्जुनने पूछा—हे वार्ष्णेय, भला (बताइये तो सही कि) हजार न चाहनेपर भी यह मनुष्य बुरा कर्म किसके दबावसे—क्यो—कर डालता है ? मालूम पडता है, जैसे किसीने जबर्दस्ती करवाया हो ! ३६।

इसीलिये दुर्योधनके बारेमे कहा जाता है कि उसने कहा था कि, यह जानते हुए भी कि पाडवोका हक देना उचित है, मै दे नही सकता। साथ ही, द्रौपदी आदिके साथवाले दुर्व्यवहारको बुरा समझते हुए भी मै उससे बाज नही आ सकता। मालूम पडता है, कोई बडी भारी शक्ति भीतर बैठी जबर्दस्ती करवा रही है—"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्तिर्जानाम्यधर्मं न च मे निवृत्ति। केनापि देवेन हृदिस्थितेन यथा नियुक्तोऽस्मि तथा करोमि"। क्या चोर नही समझता कि चोरी बुरी है ? क्या व्यभिचारी नही समझता कि यह काम खराब है ? फिर भी सभी वही करते ही है ! प्रश्न होता है कि नही चाहते हुए भी करनेका रहस्य क्या है ?

## श्रीभगवानुवाच

**काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भव।**
**महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम् ॥३७॥**

श्रीभगवानने उत्तर दिया—यह काम—राग—है और यही क्रोध—द्वेष—भी है। इसकी उत्पत्ति रजोगुणसे होती है। इसका पेट कभी भरता ही नही। यह पुराना पापी है। इस दुनियामें इसीको वैरी समझो।३७।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च ।
यथोल्वेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम् ॥३८॥

जैसे धूएँसे आग छिपी रहती है, जिस तरह मैलमे आईना छिपा होता है, (या) जिस प्रकार गर्भकी झिल्लीमे बच्चा छिपा रहता है, उसी तरह उस कामने इस (ज्ञान)को छिपा दिया है ।३८।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा ।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च ॥३९॥

ज्ञानियोके सदाके इस शत्रुने, जिसे काम कहते है, जो कभी पूरा होता ही नही और जिसका अन्त भी नही होता या जो आगकी तरह भीतर ही भीतर जलाता रहता है, ज्ञानको छिपा रखा है ।३९।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते ।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम् ॥४०॥

इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि (यही तीन) इसके अड्डे है । इन्हीके द्वारा ज्ञान या भले-बुरेके विवेकपर पर्दा डालके यह काम आत्माको भटका देता है—किंकर्त्तव्यविमूढ कर देता है ।४०।

तस्मात्त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम् ॥४१॥

इसलिये हे भरतश्रेष्ठ, पहले तुम इन्द्रियोको ही नियत्रणमे लाके ज्ञान और विज्ञानको चौपट करनेवाले इस बदमाशको जडसे जरूर खत्म करो ।४१।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मन. ।
मनसस्तु परा बुद्धिर्यो बुद्धेः परतस्तु सः ॥४२॥

(और पदार्थोकी अपेक्षा) इन्द्रियाँ ऊँची या बडी है, इन्द्रियोसे भी बडा मन है, मनसे ऊपर बुद्धि है और जो बुद्धिके भी ऊपर है वही वह (आत्मा है) ।४२।

**एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना ।**
**जहि शत्रु महाबाहो कामरूप दुरासदम् ।।४३।।**

हे महाबाहो, बुद्धिके भी ऊपर रहनेवाली आत्माको इस प्रकार जानकर और स्वयमेव म नको रोकके, वशमें करके बडी दिक्कतसे पकडे जानेवाले कामरूपी इस शत्रुको खत्म करो ।४३।

यहाँ दो एक जरूरी बातें जाने विना अन्तके चार-पाँच श्लोकोंके अर्थ समझनेमें दिक्कत होगी । इसीलिये वे वाते कह देना जरूरी हैं । यह तो दूसरे अध्यायमे ही कह चुके हैं कि काम और क्रोध एक ही चीजें हैं । उसीकी सफाई यहा की गई है । सोलहवे अध्यायके अन्तमें इन्हीं दोके साथ लोभ भी जुट गया है "काम क्रोधस्तथा लोभ" (१६।२१) । जिस तरह काम और क्रोध एक हैं, उसी तरह लोभ भी कामसे भिन्न नही है । असलमें इस काम, कामना, वासना या इच्छाके ही ये क्रोध और लोभ दो रूप हैं, जो परिस्थितिवश वन जाते हैं—कामको ही क्रोधके रूपमे और लोभके रूपमें परिणत हो जाना पडता है । जिसे कामना नही उसे क्रोध और लोभसे भी कोई ताल्लुक नही है । क्रोधसे कैसे भीतर अन्धकार हो जाता है यह "क्रोधाद्भवति समोह"के अर्थमें स्पष्ट दिखा चुके हैं । उसीको आवरण या पर्देके रूपमें यहाँ कहा है ।

यह काम ही विवेकी जनोका असल शत्रु है । इसका नाश इसीलिये जरूरी है । मगर इसके अड्डेका पता चले तब न इसपर धावा बोले ? इसलिये इन्द्रिय, मन और बुद्धि इन तीनोको ही इसका अड्डा बता दिया है । यह रहता तो है दरअसल अन्त करणमें और उसीके रूप हैं मन और बुद्धि । मगर इन्द्रियोंके बिना बाहर तो मन या बुद्धि जा नही सकती और बाहरी पदार्थोंमे ही रागद्वेष होते हैं । बाहरीसे तात्पर्य है भौतिक पदार्थोंसे । इसीलिये इन्द्रियोको भी अड्डा करार दिया है । बुद्धि यदि ठीक हो, विवेकयुक्त हो तो भी काम रहेई न । इसीलिये उसे भी इसका डेरा कहा है ।

यो तो असली डेरा मन ही है। इस प्रकार तीन अड्डे हो गये। लिखा है भी कि इन तीनोकी मददसे ही देहके मालिक—देही—आत्माको यह काम भटका देता है।

अब रहा इसे खत्म करनेका उपाय। असली वला तो इन्द्रियाँ ही है। न वे वाहर मनीरामको जाने देगी और न कामना होगी। इसलिये यह तो आसानीसे जाना जा सकता है कि इस तरफ पहला कदम जो वढेगा वह इन्द्रियोपर नियत्रण, अकुश या कब्जा रखनेसे ही शुरू होगा। इसीलिये कह दिया है कि इन्द्रियोको सबसे पहले विना सोचे-विचारे ही आँख मूँदके कब्जेमे करो। उसके वाद आगेका उपाय सोचो। ऐसा कहनेका यह अर्थ कभी नही है कि सिर्फ इन्द्रियोको रोक कर ही इसे खत्म करेगे। तव तो आगेके श्लोकोमे कही वाते वेकार हो जायेगी। केवल इन्द्रियोके रोकनेसे यह मर भी नही सकता। इसके दूसरे भी तो अड्डे है और वही असली है—वुनियादी है। विना मन और वुद्धिको वशमे किये इन्द्रियाँ सोलह आने वशमे हो भी नही सकती है। इसीलिये हमने कहा है कि उनका रोकना नीव या श्रीगणेशायनम ही समझिये।

असली उपाय यह वताया है कि इन्द्रियाँ शरीर और अन्य पदार्थोसे वडी या उनके ऊपर है। वही शरीरको दौडाती रहती है। सिनेमा, गान, भोजमे खीच ले जाती है। यद्यपि विषय इन्द्रियोको भी खीचते है। तथापि उन्हे यहाँ छोड दिया है। क्योकि अड्डोको ही पकड़ना था। इन्द्रियोके ऊपर है मन और मनके ऊपर वुद्धि। आत्मा तो सभीका मालिक है। देहमे ही ये सव है और देही वही है। यह वात पहले अच्छी तरह समझाई जा चुकी है। अव काम यो होता है कि पहले आत्माका तत्त्वज्ञान प्राप्त करते है। फिर वुद्धिमे उसके आनन्दका अनुभव करते है। इस तरह वुद्धिको उसमे फँसा देनेपर—क्योकि वह आनन्द है ऐसा कि एक वार मजा आनेपर वुद्धि वहाँसे हट सकती ही नही—मन भी उधर ही

खिचेगा । कोचवानके ही हाथमें लगाम होती है न ? और मन है लगाम और बुद्धि कोचवान । फिर तो इन्द्रियाँ भी खिच गईं और बाहरी पदार्थोंमे न जाके आत्मामें ही लग गईं । तब काम महाराज रहेंगे कहाँ ? कुछ समय इन्तजार करके हमेशाके लिये उन्हें आत्महत्या करनी पडती है जब पूर्ण निराश हो जाते है । फलत ज्ञान और विज्ञानका ही बोलबाला रहता है। इन दोनोका अर्थ बताया जा चुका है ।

इन्द्रिय और मन आदिको जो एक दूसरेके ऊपर कहा है यही बात जरा विषय, महान् और अव्यक्तको जोडके कठोपनिषदमें भी दो बार यो आई है, "इन्द्रियेभ्य परा ह्यर्था ह्यर्थेभ्यश्च पर मन । मनसस्तु परा-बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान्पर ।१०। महत परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुष पर । पुरुषान्नपर किञ्चित्सा काष्ठा सा परागति " ११। (१।३), तथा "इन्द्रियेभ्य पर मनो मनस सत्त्वमुत्तम् । सत्त्वादधिमहानात्मामह तोऽव्यक्तमुत्तमम् ।७। अव्यक्तात्तु पर पुरुषो व्यापकोऽलिगएव । यज्ज्ञात्वामुच्यते जन्तुरमृतत्व च गच्छति" ।८। (२।६) । यहाँ सत्त्वका अर्थ है बुद्धि और महान आत्माका अर्थ है महत् या महत्तत्त्व । अव्यक्त नाम है प्रकृतिका । क्रम तो यही है । मगर गीताको इस विस्तारसे कोई काम नही है । वह तो बुद्धिको ही आत्मामें लगाके मन और इन्द्रियोको अपनी ही ओर खीच लेना और इस तरह काम, राग या अभिलाषाको मार डालना चाहती है । उसने यही बताया भी है ।

आखिरी श्लोकमे जो दुरासद शब्द है उसका अर्थ है बडी कठिनाईसे पकडा जानेवाला । असलमे इस राग या कामके इतने स्थूल, सूक्ष्म और विभिन्न रूप है कि जल्द उनका पता लगना असभव है । कामकी हालत भी यह है कि धोका देके फँसा लेता है और पता ही नही चलता है कि फँस गये है । भक्ति और उपासनाके नामपर जानें कितने ही प्रपच रचे जाते है जो पतनके ही मार्ग है । मगर पता ही नही लगता और लोग

उनमे फँस जाते है, इसीलिये इसे दुरासद कहा है। ताकि लोग सजग रहे।

इस अध्यायमे साधारणसे साधारण कर्मोसे ही शुरू किया है और अन्ततक उसीकी बात कहते आये है। मामूलीसे मामूली कर्मोसे लेकर ऊँचेसे ऊँचे या कर्मयोगतकका वर्णन इसमे आ गया है। "मयि सर्वाणि" (३।३०)मे आखिर है क्या यदि कर्मयोग नही है? इसलिये समूचे अध्यायपर कर्मकी ही छाप लगी है। यही कारण है कि ज्ञानकी जो बात आई है वह गौण या अप्रधान है। वह या तो उसीका साधन है या मस्तीका ही; जैसा कि "यस्त्वात्मरति." (३।१७)मे कहा है। फलत कर्मकी प्रधानताके कारण इस अध्यायका विषय कर्म ही है। जैसे दूसरे अध्यायका विषय साख्य या ज्ञान है। ज्ञानसे ही शुरू करके बीचमे और अन्तमे भी उसीका वर्णन है। कर्म तो बीचमे ही आया है, सो भी अप्रधान रूपसे ही।

**इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे कर्मयोगो नाम तृतीयोऽध्यायः ।।३।।**

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमे उपनिषद रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योग-शास्त्रमे जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सवाद है उसका कर्मयोग नामक तीसरा अध्याय यही है।

---

# चौथा अध्याय

अबतक कृष्णने जो उपदेश अर्जुनको दिया है उससे उसकी आँखोका पर्दा हट गया और उसे नई दुनिया दीख पडी। उसने तो कुछ दूसरा ही समझ रखा था। लेकिन इन दो अध्यायोंके उपदेशोंके बाद पाया कुछ और ही। दूसरे अध्यायके उपदेशोंके उपरान्त अर्जुनके दिमागकी सफाई हो पाई न थी। क्योंकि उसके सामने तो असली मसला था युद्धका। यो तो सारे कर्मोंकी ही समस्या उसे सुलझानी थी। कारण, उसकी तर्क-दलीलने इनके पुराने आधारो और दुर्गोंको ही ध्वस कर दिया था। धर्मशास्त्रीय विधान उसके सामने लापता थे—पस्त थे। तो भी उसका असली सकट था मरने-मारनेवाला यह जघन्य कृत्य जिसे युद्ध कहते है। सामने तत्काल वही था भी। उसीको लेके उसे इतना बडा विराग भी हुआ था और स्वतत्र बुद्धिसे उसने सारे विधानोको तौलके उन्हें कच्चा तथा नाकाफी ठहराया था। इसीलिये तीसरे अध्यायके शुरूमें ही उसने अपना मनोभाव साफ व्यक्त कर दिया था कि, खैर एक तो कर्म ही बुरे और तुच्छ है। फिर उनमें भी यह घोर कर्म! मुझे इसमें फँसानेका क्या काम है यदि ज्ञान ही श्रेष्ठ है, यह उसने साफ कह दिया था। अबतक ज्ञान मार्गकी खूबियाँ वह जान सका था जरूर। मगर कर्मोंकी पेचेदगी उसे विदित हो सकी न थी। यह समस्या अभी उलझी हुई थी।

मगर कृष्णने तीसरे अध्यायमे जो कुछ भी कहा उससे सारी बातें आईनेकी तरह झलक उठी। अब उसके मनमें शक-शुभेकी जरा भी गुजाइश रही नही गई थी। अगर कहे तो कह सकते है कि एक प्रकारसे गीताका

काम इतनेसे ही पूरा हो जाता है। असली और मुख्य जो दो बाते गीताकी है वे इन्ही दोनोमे आ गई है। यह ठीक है कि इनके कुछ पहलू छूटे है और उन्हीका निरूपण आगेके ४, ५, ६ अध्यायोमे हो जानेपर शेष गीतामे इन्ही बातोका स्पष्टीकरण करके १८वेंमे उपसहार किया है। इस दृष्टिसे तीसरे अध्यायके अन्तमे ज्ञानविज्ञान का उल्लेख महत्त्वपूर्ण है। उससे पता चलता है कि जिस ज्ञान और विज्ञानकी बात आगे पुनरपि सातवे अध्यायमे शुरू होती है और नवेमे फिर जिसका जिक्र करते है वही गीताकी असल चीज है। उसके वर्णन दूसरे और तीसरे अध्यायोमे मुख्यतया आ भी चुके है। हाँ, जो कुछ उनके खास पहलू बचे थे उन्हीका आगे छठे अध्याय तक निरूपण है, विवेचन है।

हाँ, तो पिछले अध्यायोके उपदेशोसे अर्जुनको कुछ खास बाते भी मालूम हो गई जिनका उसे स्वप्नमें भी खयाल न था। आत्माकी अजरता, अमरता और अविनाशिताका जो सुन्दर से सुन्दर वर्णन हुआ है और मरण-जीवनको जिस अपूर्व ढगसे बताया गया है कि दरअसल ये क्या है, उनने उसकी आँखे खोल दी। उसने एक नई दुनिया ही सचमुच देखी जिसकी कभी आशा भी न थी। मगर इससे भी निरालापन तीसरे अध्यायमे और दूसरेके मध्यमे भी उसने कर्मके बारेमे पाया। जाने कहाँकी अलौकिक बाते और खूबियाँ मालूम हुई। खासकर कर्मका जो सर्वांग रहस्य उसके सामने पूरे ब्योरेके साथ आ गया उसका तो उसे सारे पोथीपुराणो और वैदिक ग्रथोके मथनसे भी आभास तक न मिल सका था। इस मामूलीसे कर्मके भीतर इतनी बारीकियाँ छिपी है यह जानके स्वभावत वह आश्चर्य-चकितसा हो रहा है यह बात कृष्ण भी ताड गये थे। वह सोचता था कि इसमे अभी जाने और कितने बाते होगी। मगर उसे ताज्जुब था कि इतनी महत्त्वपूर्ण बाते लोगोको अबतक मालूम क्यो न थी! यदि किसी एकको भी मालूम होती तो वह जरूर ही कह-सुन गया होता, लिख-

पढ गया होता । हो न हो, यह एकदम नई वाते कृष्णके ही अलौकिक मस्तिष्ककी उपज है—विल्कुल ही ताजी और नई है ।

इससे जहाँ एक ओर उसे गर्व और फख्र हो सकता था कि भगवान ने मेरे ऊपर बडी ही कृपा की जो सारा रहस्य समझाया, अत मै धन्य हूँ । तहाँ दूसरी ओर इस वातकी भी गुजाइश थी कि कही ऐसा तो नहीं है कि केवल युद्धमे जुझानेके ही लिए नई-नई युक्तियाँ, जो आजतक देखी-सुनी भी न गई, पेश की जा रही है । जब इस तरहकी वातें कहिये-सुनिये तो आमतौरसे ऐसे खयाल अकसर हुआ करते है कि देखो न, कितना गुरु-घटाल है कि युक्तियोके नये जालमे फाँसके अपना काम निकाल लेना चाहता है । यह भी वात है कि यदि धर्मकर्मके मामलेमे लोगोको यह पता लग जाय कि एकदम नई बात कही जाती है जो पहले कभी आई न थी और प्रचलित धारणा या रीति-रिवाजके खिलाफ है, तो लोग एकाएक भडक उठते है । यह चीज हमेशा ही देखी गई है । इसलिये कृष्णके इस अनूठे उपदेशमें भी इसकी सभावना थी और काफी थी । कृष्ण जैसे विज्ञ महा-पुरुषको इसे ताडते देर भी नही लग सकती थी । यदि इससे वचनेके लिये यह कहा जाता कि नही नही, यह तो पुरानी ही वात है, प्राचीनतम है, जिसे कृष्णने फिर दुहराया है, तो शका हो सकती थी कि उन्हें यह मालूम कैसे हो सकी ? जव साधारणत इसका उपदेश होता-जाता ही नही और न चर्चा ही सुनी जाती है—जव यह लापता है, तो एकाएक कृष्णको मालूम कैसे हो गई ? यह भी तो दिमागमे आ सकनेवाली वात नही है कि उन्हे योही विदित हो गई ।

पूर्ण व्यवहारकुशल होनेके नाते, और अर्जुनकी भावभगीको देखकर भी, कृष्णके मनमे स्वयमेव ये सारे खयाल आ जाने जरूरी थे । आ गये भी । इसीलिये उनने अर्जुनको प्रश्न करनेका मौका तक नही देकर स्वयमेव चौथे अध्यायके आरभके दस श्लोकोमे इस वातका पूरा खुलासा कर

दिया। असलमे प्रश्नके उत्तर देनेपर वह मजा नही आता जो बिना पूछे ही अपने मनसे ही ताडके उत्तर देनेमे आता है। इससे एक तो सुननेवाला बाग-बाग हो जाता है। उसकी खुशीका ठिकाना नही रहता कि जो विचार उसे खटक रहे थे उनकी पूरी सफाई हो गई। इसीके साथ इससे उपदेशक की पहुँच और पूर्ण योग्यतापर भी उसे विश्वास हो जाता है। यह भी होता है कि सुननेवालेके मनमे खयाल न भी उठे। ऐसी दशामे इनका उत्तर तत्काल न दिया जानेपर आगे चलके यही प्रश्न उठ सकते और विषयको कमसे कम किरकिरा तो जरूर बना दे सकते है। क्योकि बहुत सभव है कि उस उपदेशकके न रहनेपर दूसरे लोग सारी बातोका रहस्य पूर्णतया हृदयगम न कर सकनेके कारण उन खयालो और प्रश्नोके यथार्थ और दिलमे बैठ जानेवाले उत्तर न दे सके। इसीलिये बिना कहे सुने ही—

श्रीभगवानुवाच

**इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।**
**विवस्वान्मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत् ॥१॥**

श्रीभगवानने कहा—मैने (खुद) विवस्वान्—सूर्य—को (सृष्टिके आरभ कालमे ही) इस चिरस्थायी योगका उपदेश दिया था। (उसके बाद कालान्तरमे) विवस्वान्ने मनुको (इसे) बताया था और मनुने इक्ष्वाकुको।१।

**एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।**
**स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप ॥२॥**

हे परन्तप, इस प्रकार परम्परा—गुरुशिष्यप्रणाली—से चले आनेवाले इस योगको राजर्षि लोग (जरूर) जानते थे। (मगर) वही योग दर्म्यानवाले लम्बे समयके चलते यहाँ लापता हो गया था।२।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः ।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम् ॥३॥

यह वही प्राचीन योग है जिसे आज मैंने तुमसे कहा है। (क्योंकि) तुम मेरे साथी और भक्त (दोनों ही) हो (और) यह भी अत्यन्त गोपनीय चीज है ।३।

यहाँ दो एक जरूरी बातें जानके आगे बढ़ें तो ठीक हो। आज तो कुछ इतना साफ पता चलता नहीं कि बात क्या है। मगर स्मृतिग्रंथों एवं इतिहास-पुराणोंको देखनेसे यही पता लगता है कि भगवानने जो भी सृष्टि की वह आदित्य, सूर्य या विवस्वान्‌से ही शुरू हुई। उनने विवस्वान्‌को बनाया उत्पन्न किया। विवस्वानने मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको। उसके बाद आगेका विस्तार चला। इतना तो सही है, जिसे पहलेके लोग भी मानते थे और आजका विज्ञान भी मानता है, कि सूर्य अपार शक्तियोंका केन्द्र है। वैदिक मंत्रोंमें इसका बहुत कीर्त्तन आता है। गायत्रीमंत्र, जो हिन्दुओंका प्रतिदिन जपनेका सर्वप्रधान मंत्र है, सविता या सृष्टिके विस्तार करनेवालेके रूपमें ही सूर्यका ध्यान करनेकी बात कहता है। सूर्यसे कैसे जीवसृष्टिका विकास हुआ यह बात यहाँ कहनेकी है नहीं। हमें तो गीताकी परम्परासे ही मतलब है।

यह भी रिवाज पहले था कि अपने पुत्रोंको पिता ही आवश्यक एवं गोपनीय बातें बता दिया करता था। इसीलिये पिता-पुत्रका ही नाता गुरु-शिष्यका भी हो जाता था। हाँ, जब किसी कारणसे पिता उपदेश न कर सके, या वह ऐसी बातें न जानता हो जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण और आवश्यक हैं तभी दूसरे गुरुसे वह सीखी जाती थी। बस, यही गुरुशिष्यकी प्रणाली पहले थी जिसे परम्परा शब्दसे यहाँ याद किया है। इसे परम्परा ही कहते भी हैं। इस प्रकार अपने-अपने पुत्रोंको ही जब लोग उपदेश करते थे, तो इसी नियमके अनुसार भगवानने अपने पुत्र विवस्वानको, विवस्वानने

मनुको और मनुने इक्ष्वाकुको उपदेश किया था। इस प्रकार अन्यान्य उपदेशोके साथ ही गीतोक्त इस गीताधर्म या योगका भी उपदेश सृष्टिके आरभमे ही हुआ था। महाभारतके शान्तिपर्वके ३४६, ३४७, ३४८ आदि अध्यायोमे इस बातका विशेष वर्णन पाया जाता है कि प्रत्येक सृष्टिके शुरूमें किस तरह ऐसी बातोकी परम्परा चलती है। वही लिखा है कि सत्ययुगमें भगवानने विवस्वानको इसे बताया था। "उनने उसके बाद त्रेतायुगके शुरूमे ही मनुको बताया, मनुने लोगोके कल्याण तथा फलने-फूलनेके ही उद्देश्यसे अपने पुत्र इक्ष्वाकुको और इक्ष्वाकुने बहुत लोगोको बताया। इस तरह सभी लोगोकी जानकारीमे आ जानेके कारण यह धर्म कायम रहा। मगर प्रलय होनेपर फिर यह चीज नारायणके ही पास वापस चली जायगी"—"त्रेतायुगादौ च ततो विवस्वान्मनवे ददौ। मनुश्चलोकभृत्यर्थं सुतायेक्ष्वाकवे ददौ ।५१। इक्ष्वाकुणा च कथितो व्याप्य लोकानवस्थित । गमिष्यति क्षयान्ते च पुनर्नारायण नृप ।५२।" यह जान लेना होगा कि यह बात किसी एक ही या खास धर्मके ही लिये नही है। प्रसगवश किसी एकके कहनेपर भी प्राचीन ग्रथोंसे यही सिद्ध होता है कि सभी आवश्यक एव महत्त्वपूर्ण बाते इसी परम्पराके अनुसार प्रचलित हुईं। उन्हीमे यह गीताका योग भी एक है। हिन्दुओके दार्शनिक ग्रथो तकमे यह मिलता है कि समाजोपयोगी सभी कलाओका—यहाँ तक कि वर्त्तन, वस्त्रादि बनानेका भी—इसी प्रकार उपदेश किया गया। इसीलिये पतजलिने योगदर्शनमें लिखा है कि भगवान ही सबोका गुरु है—गुरुओका भी गुरु है—"पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्" (१।२६)।

दूसरे श्लोकमे जो लिखा है कि राजर्षि लोग इसे जानते थे—"इम राजर्षयो विदु", यह भी एक निराली चीज है। गीतामें लोकसग्रहके दृष्टान्तके रूपमे कृष्णने अपना और जनकका नाम कहा है। खुद तो क्षत्रिय कुलमे जनमे थे ही। जनक भी ऐसे ही थे। उपनिषदोमे भी

जानश्रुति पौनायण, प्रवाहण, प्रतर्दन आदि क्षत्रियोंका ही विशेष उल्लेख ऐसे मामलोंमे पाया जाता है। प्रवाहणको तो साफ ही राजन्यबन्धु लिखा है। यहाँ तक कि पंचाग्निविद्याके प्रकरणमे छान्दोग्य (५।३।७) तथा बृहदारण्यक (६।२।८) दोनों ही उपनिषदोंमे साफ ही लिखा है कि जब आरुणिने अपने पुत्र श्वेतकेतुसे साफ ही कह दिया कि प्रवाहणके पंचाग्नि-विद्या-सम्बन्धी प्रश्नोंका उत्तर मैं भी नहीं दे सकता, क्योंकि मैं भी यह जानता ही नहीं, और इसके बाद जब दोनों बाप-बेटोंने प्रवाहणके पास जाके साफ ही कह दिया कि हम तो क्या हमारे बापदादे तक भी इसे नहीं जानते थे, इसलिए आप ही बताइये, तो उसे पहले तो बड़ा ताज्जुब और सकोच हुआ। फिर उसने कहा कि यदि ऐसा है तब क्या करूँगा, बताऊँगा जरूर ही, "यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक्त्वत्त: पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति" (छा० ५।३।७), "सहोवाच यथा नस्त्वं गौतम मापराधास्तव च पितामहा यथेयं विद्येत: पूर्वं न कस्मिंश्चन ब्राह्मण उवास" (बृह० ६।२।८)। इतना ही नहीं, वहाँ तो यह भी लिखा है कि कोई भी ब्राह्मण यह विद्या तब तक जानता ही न था। छान्दोग्यमें यह भी लिख दिया है कि शासनकार्य क्षत्रिय ही करते थे और उन्हींको इसकी खास जरूरत भी होती थी। इसीलिये हो शायद दूसरे जान न सके। किन्तु वही लोग जानते थे— "तस्मादु सर्वेषु लोकेषु क्षत्रियस्यैव प्रशासनमभूदिति तस्मैहोवाच" (५।३।७) जो भी हो, बात बड़ी मजेदार है। यह ब्राह्मणोंके इस दावेपर आघात भी करती है कि विद्या उन्हींकी चीज है और वही दूसरोंको सिखाते हैं, सिखा सकते हैं। परन्तु हमे यहाँ केवल इतना ही कहना है कि विद्वान क्षत्रिय राजे ही राजर्षि कहे जाते थे। वही इस योगको भी जानते थे। जनकके बारेमे तो आख्यायिका ही है कि शुकदेव आदि महापुरुष उन्हींसे ब्रह्मविद्या सीखने गये थे।

कृष्णके कहनेका तात्पर्य यही है कि इस लम्बी मुद्दतमें, जिसमे कि

त्रेतायुगका अधिकाश और प्राय सारा द्वापर गुजरा, कोई इस योगका सिखाने-पढानेवाला रही नही गया। इसीलिये धीरे-धीरे लोग इसे भूल गये। जब परम्परा या पठन-पाठन की प्रणाली चालू रहे तभी ऐसी बाते प्रचलित रहती है। जब वही न रही तो इनका मिट जाना या लुप्त हो जाना स्वाभाविक ही है। महाभारतवाले युद्धका समय तो द्वापरका अन्त या द्वापर और कलिका संधिकाल ही माना जाता है और इक्ष्वाकुसे लेकर तब तककी मुद्दत बहुत बडी थी इसमे कोई शक हुई नही। फलत. यह विद्या भूल गई। यह आम लोगोके समझकी तो चीज हुई नहीं। इसे तो विशेषज्ञ और पूरे जानकार ही बता सकते है और वे होते ज्यादा है नही। फिर कौन किसे बतायें? इसीलिये कृष्णने अर्जुनको साथी, श्रद्धालु तथा प्रेमी समझके ही बताया है। यही कह भी दिया है। गोपनीय और दुर्बोध चीज यदि योंही सबोको बताई जाय तो एक तो लोग समझेंगे उसे खाक नही। दूसरे उसकी कीमत भी जाती रहेगी। समझदार लोग भी मान बैठेंगे कि कोई ऐसी ही वैसी चीज है। फलत उस तरह भी खत्म होई जायगी।

पहले तो नही। मगर कृष्णकी यह बात सुनके अर्जुनको चट खयाल आया कि ऐ, यह क्या कह रहे है कि मैंने सृष्टिके शुरूमे विवस्वानको यही बात सिखाई थी? यह तो असभव है, गैरमुमकिन है। कृष्णका तो जन्म-कर्म सब कुछ मै जानता ही हूँ। मेरे तो मामूके पुत्र ही ठहरे। फिर यह कैसे कह दिया कि मैंने विवस्वानको इसका उपदेश दिया? यह कैसे मानूँ? इसी बातको इस तरह—

अर्जुन उवाच।

**अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।**
**कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति ॥४॥**

अर्जुनने पूछा—आपका जन्म तो इधर हालमें ही हुआ है और विवस्वान तो बहुत पहले पैदा हुए थे। (तब) कैसे मानूं कि आपने ही शुरूमें (उन्हें यह चीज) बताई थी? ।४।

श्रीभगवानुवाच ।

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप ॥५॥

श्री भगवानने उत्तर दिया—हे अर्जुन, हे परन्तप, मेरे और तुम्हारे भी बहुतेरे जन्म हो चुके हैं। मैं उन सबोंको ही जानता हूँ। (हां) तुम नहीं जानते ।५।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन् ।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय संभवाम्यात्ममायया ॥६॥

बेशक, मैं जन्म-रहित हूँ मेरी आत्मा निर्विकार है और मैं सभी सत्ताधारियोंका शासन करनेवाला भी हूँ। (ताहम) अपनी प्रकृतिके नियमोंके अनुसार ही मैं अपनी मायासे ही जन्म लेता हूँ ।६।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत ।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥७॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥८॥

हे भारत, जभी-जभी धर्मका ह्रास या खात्मा होता है और अधर्मकी वृद्धि हो जाती है तभी-तभी मैं अपना शरीर बनाता हूँ। (इसीलिये) भले लोगोंकी रक्षा, बुरे लोगोंके नाश और धर्मकी जड़को मजबूत करनेके लिये मुझे समय-समयपर जन्म लेना ही होता है ।७।८।

इस अवतारके सिद्धान्तका क्या दार्शनिक रहस्य है और उसपर "प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय" (४।६), में दिव्य। (४।९) में "दिव्य" तथा "आत्ममायया"

कहनेसे क्या प्रकाश पडता है, आदि बातोका विस्तृत विवेचन कर्मवाद और अवतारवादके प्रकरणमे पहले ही किया जा चुका है। इन श्लोकोका अभिप्राय समझनेके लिए उसे पढ लेना जरूरी है। हाँ, यह बात जुदी है कि अर्जुनके प्रश्न और कृष्णके उत्तरसे यह प्रश्न पैदा हो जाता है कि क्या उस समय तक पुनर्जन्म तथा अवतारवादका सिद्धान्त प्रचलित या सर्व-मान्य नही हुआ था ? क्योकि यदि होता तो अर्जुन भी जानता ही रहता। फिर पूछता क्यो ? और कृष्ण भी अवतार कहके ही आगे बढ जाते। दलीले न देते। मगर यह विषय बडा है और गीता हृदय के तीसरे भागके लिये ही इसे छोडना ठीक है। यहाँ यही कहना है कि "बहूनि मे व्यतीतानि" श्लोकमे कृष्णने अर्जुनको ऐसा ही मुँहतोड उत्तर दिया है जैसा उसका प्रश्न था। उनने साफ ही कह दिया है कि तुम्हें मेरे इस कथनसे बेशक आश्चर्य हुआ होगा। यह बात तुम्हारे माथेमे आई ही न होगी। मगर इसमे आश्चर्य क्या है ? ऐसी हजारो बाते है जो तुम्हारे माथे मे आ न सकी है। तुम्हें क्या पता कि हमारे और तुम्हारे हजारो जन्म हो चुके ? खूबी तो यह कि तुम्हे उनकी जरा भी, यहाँ तक कि अपने जन्मोकी भी, जानकारी तक नही है। फिर मेरे जन्मोको कैसे जानोगे ? मगर मै तो सब कुछ जानता हूँ न ? मै तो अपना भी और तुम्हारा भी शुरूसे आज तक का कच्चा चिट्ठा जानता हूँ। तुम कितनी बार कहाँ कैसे जनमे, तुमने क्या क्या किया, मै भी कब-कब कहाँ कैसे जन्म लेके क्या क्या करता रहा, यह सब कुछ बखूबी जानता हूँ, जैसे आँखोके सामने ही यह बाते नाच रही हो।

जाननेका यह मतलब नही है कि लोगोसे सुनके या किताबे पढके जानकारी हासिल कर ली जाय। ऐसी जानकारी तो अर्जुनको भी हो सकती थी। इतिहास पढ-सुनके तो सभी लोग जाने कितनी ही बाते जान जाते है। फिर अर्जुनमे ही क्या कमी थी कि इतना भी नही जान पाता ?

और वैसे समझदार आदमीके लिये, जिसने स्मृतिकारोकी भी धज्जियां शुरूमें ही उडाई थी और उनके तर्कोको अमान्य कर दिया था, कृष्णका यह कहना कि तुम कुछ नही जानते हो कहाँ तक ठीक हो सकता है, यदि उस जानकारीका यही अभिप्राय हो ? इसीलिये पाँचवे श्लोकमें जो 'वेद' क्रिया लिखी है, उसका अर्थ प्रत्यक्ष अनुभव या साक्षात्कार ही है। इसीलिये आगे के ९वे श्लोकमे इसी जानकारीके मानीमें इसी विद धातुसे बने और वेदके ही अर्थमें प्रयुक्त वेत्ति क्रियाका 'तत्त्वत' विशेषण दिया गया है। इससे तत्त्वज्ञान ही उसका अभिप्राय सिद्ध होता है और तत्त्वज्ञानका अर्थ हमेशा साक्षात्कार ही माना जाता है। वह ऐसा ज्ञात हो जैसे कि आँखोके सामने कोई चीज खडी हो। कृष्णको पूर्ण आत्म-साक्षात्कार रहनेके कारण ऐसा ही ज्ञान था। मगर अर्जुनको न था। उसे अगर कुछ भी थी तो केवल धुँधली स्मृति या पढी-सुनी बातोकी याद मात्र। इसीलिये उसे धीरेसे कृष्णने हँसते-हँसते इन्ही शब्दोमे एक कनेठी दे दी कि तुम्हें क्या मालूम कि मैंने कब कहाँ जन्म लिया था, मैं कब कहाँ मौजूद था ! वेद शब्द उपनिषदोमें ऐसे ही देखनेके मानीमे बराबर आया है।

इसीलिये कृष्णने आगे यह भी कह दिया है कि जिस तरह मैं यही बैठा अपने तमाम अवतारो और तुम्हारे तथा दूसरोके अनेक जन्मोकी सारी बाते जैसे आँखो देख रहा हूँ, वैसा ही अनुभव जिसे हो वही जीवन्मुक्त है। मुझमे और उसमें जरा भी भेद नही रह जाता। अपने भीतर जो कुछ होता हो जैसे उसका करारा और ताजा प्रत्यक्ष अनुभव होता है वैसा ही अनुभव जब सारे ससारके सम्बन्धमे होने लगे, जिसे "आत्मौपम्येन सर्वत्र" (६।३२) में कहा है, तभी "सर्वभूतात्मभूतात्मा" (५।७) कहना चरितार्थ होगा। यो ही बातें करने और पढी-सुनी बातें दुहरानेसे ही नही। अतएव इसी दर्शन एव अनुभवकी कोशिश होनी चाहिए।

**जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।**
**त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ।।९।।**

हे अर्जुन, हमारे इस अलौकिक जन्म और कर्मको जो इसी तरह—मेरी ही तरह—ठीक-ठीक साक्षात् अनुभव करता है वह शरीरको छोडके—मरनेपर—फिर जन्म नही लेता (और) मुझीमे मिल जाता है—मेरा ही रूप वन जाता है ।९।

**वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः ।**
**बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ।।१०।।**

(यह कोई नई बात नही है । पहले भी) जिनके राग, भय एव क्रोध निर्मूल हो गये थे, जो मुझ आत्माके सिवाय औरकी पर्वा न करके आत्मामे ही रम चुके थे (और इस तरह) जो ज्ञानरूपी तप के प्रभावसे पवित्र हो चुके थे ऐसे बहुतसे लोग मेरा स्वरूप—परमात्मा या ब्रह्म—वन चुके है ।१०।

दसवे श्लोकके पूर्वार्द्धके देखनेसे तो और भी साफ हो जाता है कि पूर्व जो जानकारी की वात कही गई है वह आत्मसाक्षात्कार रूप ही है, जिसके होते ही वामदेव एकाएक बोल वैठे कि मै ही तो मनु, सूर्य आदि सव कुछ वना था—"तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेव प्रतिपेदेऽहमनुरभव सूर्यश्च" (बृहदा १।४।१०) । इसीलिये इसी मत्रमे आगे साफ ही कह दिया है कि आज भी जिसे ऐसी दृष्टि मिल जाय वह भी समस्त संसारका रूप वन जाता है—समस्त जगत् को अपना स्वरूप ही देखने लग जाता है—"तदिदमप्येतर्हि य एव वेदाह ब्रह्मास्मीति स इद सर्वं भवति ।" यह भी देखा जाता है कि इसी मत्रमे 'वेद' शब्द आया है और देखने या दृष्टिके मानीमे ही 'पश्यन्' आया है । इसीलिये हमने जो पहले कहा है वही अर्थ वेदका है । ९वे श्लोकमे दिव्य कहनेका यह भी अभिप्राय है कि अवतारोके जन्म और कर्म असाधारण होते है; नकि हम लोगो जैसे । उनकी दृष्टि

और शक्ति देवी न होके व्यापक होती है। पूर्वके ६,७ श्लोकोमें जो आत्मा शब्द वारवार आया है उसका भी यही अभिप्राय है कि आखिर में तो आत्मा ही ठहरा। इसीलिये जो मुझे आत्मा माने-जानेगा वह तो मेरा रूप हई, होई जायगा।

**ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।**
**मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥११॥**

हे पार्थ, जो लोग जिस दृष्टिसे मेरे निकट आते है—मुझे जानते-मानते—हैं मैं (भी) उन्हे वैसा ही मानता-जानता हूँ। (यह समझ लो कि) सभी मनुष्य मेरे ही रास्ते पर चलते हैं।११।

**कांक्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।**
**क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा ॥१२॥**

इस ससारमे जो कर्मोकी सिद्धि चाहते है वह (सभी प्रकारके) देवताओंका यज्ञपूजन करते है। क्योकि इस मनुष्य लोकमे कर्मोके फलोकी प्राप्ति जल्दी ही होती है।१२।

(इन दो श्लोकोमे जो वात कही गई है वह है तो गीताकी अपनी खास चीज ही। इसका वहुत विस्तृत निरूपण भी हमने श्रद्धापूर्वक कर्मोके विचारके समय किया है। मगर इसका ताल्लुक पहलेके श्लोकसे भी है। गीताका यह एक मुख्य मन्तव्य है कि जोई दिल-दिमागमें आये ईमानदारीके साथ वही जवानसे वोले और हाथ-पाँवसे करे तो कल्याण ही कल्याण समझिये। यही स्वधर्म-पालनका वास्तविक अर्थ है और यही बात इन दो श्लोकोमें भी कही गई है। पहले श्लोकसे मिलान करनेपर यह अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है कि जिनको वह दिव्य दृष्टि प्राप्त हो जाती है, जिसे आत्मसाक्षात्कार कहते हैं, वह तो ब्रह्मरूप ही होते, ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाते है "ब्रह्मैव सन्ब्रह्माप्येति" (वृहदा० ४।४।६)। लेकिन जिनको वह दृष्टि न हो वह अनेक प्रकारके होते हैं। कोई तो ईश्वरको आराधना

मानके पूजा-यज्ञ करते, कोई इन्द्र-उपेन्द्रादिके रूपमे उसे पूजते मानते कोई और भी देवी-देवताकी ही सूरतमें उसे याद करते और सतुष्ट करना चाहते, कोई पितरोके रूपमें ही उसको तृप्त करते और कोई भूत प्रेतादि मानकर ही मत्रतत्रादिसे उसे अनुकूल करना चाहते है। इसी दृष्टिकी विभिन्नताके अनुकूल उनके उद्देश्य भी अलग-अलग होते है। यही बात "कामैस्तैस्तै" आदि (७।२०-२३) और "यजन्तेसात्त्विका" (१७।४) मे भी कही गई है।

इस प्रकार भगवानको आत्मा समझनेपर जब मनुष्य भगवानका रूप बन जाता है तो अन्य देवता, देवी आदि जिस किसी रूपमे भगवानको मनुष्य समझे-मानेगा वह वही होगा, इसमे शककी जगह हुई कहाँ ? बेशक ईमानदारीका सवाल है। दिलसे ऐसा ही मानके काम करनेवालोकी ही बात है। श्रद्धाका यही मतलब है। आमतौरसे ऐसी पूजा करनेवाले सचमुच श्रद्धा और विश्वासके साथ ही ऐसा करते है। जो लोग मनमे समझें कुछ और करे कुछ वे ऐसे शायद ही होते है। वे लोग इन पूजापाठके झमेलोमे पडते भी नही। इसीलिये यह कहना भी ठीक ही है कि सभी मनुष्य मेरे ही रास्ते पर चलते है। क्योकि नियम यही है। अपवादमे ही शायद कोई ऐसा न करते हो। भगवान तो सभीकी आत्मा ठहरे। वैसा ही अनुभव वह करते भी थे जब बोल रहे थे। इसीलिये जब मनुष्य किसी भी देव दानवकी पूजा करेगा तो जरूर ही भगवानकी ही ओर जायेगा। उसका रास्ता वही होगा जो भगवानका है—जो उसकी ओर ले जाता है। यह ठीक है कि वह सीधा राजमार्ग न होके पगदडी और टेढा-मेढा रास्ता है, जो चक्कर काटके जाता है। इसीलिये तो महिम्नस्तोत्रमे पुष्पदन्तने साफ ही कह दिया है कि चाहे किसीकी पूजा करे या किसीको जाने-माने; मगर घूम-फिरके सभी भगवानकी ही तरफ जाते है। जैसे वर्षा या बर्फका सभी पानी घूम फिरके समुद्रमे ही जाता है,—"रुचीना वैचित्र्यादृजुकुटिल नानापथजुषाम्, नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।"

मनुष्य-लोकमे सिद्धि, कर्मोंके फलोकी प्राप्ति या कर्मोंमे सफलता जल्दी होती है, यह भी ठीक ही है। जो सुविधायें, जो अनुकूलताएँ मनुष्यको हासिल है वह पशुपक्षी या देवदानव किसीको भी नही मिली है, नही मिल सकती है। यहीकी कमाईसे तो उन शरीरोमे जाया जाता है। इसीलिये उन्हे भोग-योनि या भोगनेवाले शरीर और मानव देहको कर्म-योनि माना है। भला पढने-लिखने, सोचने-विचारने, समाधि आदि करनेकी सुविधाये और किसे प्राप्त है, सिवाय मनुष्योंके ? यहाँ तक कि वह अपने यत्नसे भगवान हो जाता है। मगर दूसरे ऐसा कर नही सकते। देवता लोगोका तो ज्यादेसे ज्यादा यही होता है कि अपनी जगहसे फिर इसी मनुष्य लोकमें आते है। वे यही यत्न करके सब कुछ प्राप्त करते भी है—"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोक विशन्ति" (९।२१)। इसीलिये इसी शरीरमे अलभ्य अवसर मिलता है कि दिव्य दृष्टि तथा आत्मसाक्षात्कार प्राप्त कर लें।

अब यह प्रश्न हो सकता है कि क्यो लोग सीधे भगवानमें न लगके देवी-देवताओमे फँसते है ? वे गलत या चक्करवाले रास्तेमें क्यो पडते है ? सीधा रास्ता क्यो नही पकडते ? यदि कहा जाय कि प्रकृति या स्वभावके अनुसार ही ऐसा होता है और प्रकृति तो हरेक की भिन्न-भिन्न होती ही है, तो प्रश्न होता है कि जुदा-जुदा प्रकृति या विभिन्न स्वभावके शरीर बने ही क्यो ? इनकी जरूरत ही क्या थी ? और इन्हें बनाया किसने ? यदि कहे कि भगवानने बनाया तो उसने ऐसा क्यो किया ? विभिन्नता लानेमे उसका प्रयोजन क्या था ? और अगर उसने ही यह सब कुछ किया तो समूचे करने-धरनेकी जवाबदेही उसी पर आनी चाहिये, न कि किसी और पर। इतना ही नही। इतना बडा पँवारा फैलाने, असख्य प्रकारके शरीरो एव पदार्थोंके बनानेका सकट और इस कामका बुरा-भला नतीजा क्या उसे न भोगना पडेगा ? अगर नही, तो दूसरे लोग

अपने कर्मोका फल क्यो भोगे और वह न भोगे ? नियम-कायदा तो एक ही ढग का होगा न ? होना चाहिये न ?

इन्ही वातोका उत्तर आगे लिखा है। उसका मतलव यही है कि सृष्टिमे अनेक प्रकारके कामोका बँटवारा गुणोके ही अनुसार बने स्वभावके ही अनुकूल हुआ है। जिसके दिल-दिमाग, शरीर और इन्द्रियोमे जिस गुणकी प्रधानता है उसीके अनुसार उसके कर्म होते है। ऐसी गुण विभिन्नता होने ही क्यो पाई, इसका उत्तर भी यही है कि पहले जन्मके कर्मोके अनुसार ही सभी बाते होती है। जो जिस चीजका अभ्यास करेगा उसे वही याद आयेगी और उधर ही वह झुकेगा। इसीलिये कहा गया है कि मरनेके समय उससे पहलेके अभ्यासके अनुसार जो वात, जो चीज याद आयेगी उसी शरीरमे उसीके अनुकूलवाली परिस्थितिमे जन्म लेगा। इस तरह आगे वढते जायँगे। शुरूमे क्यो ऐसा हुआ यह प्रश्न तो होता ही नही; क्योकि ससारका शुरू न मानके इसे अनादि मानते है। यह ठीक है कि कर्मो और गुणोकी सारी व्यवस्था भगवानके बिना नही हो सकती है। इसीलिये वही यह सव कुछ करते है। मगर न तो इसका फल ही वे भोगते और न इनसे परीशानी ही उठाते ! क्योकि उन्हे तो आत्मज्ञान है न ? वह तो अपनेको अकर्त्ता और अभोक्ता—बेलाग—देखते है न ? श्लोकमे जो चातुर्वर्ण्य या चारो वर्णोकी बात है वह दृष्टान्तके रूपमे भारतमे उस समय प्रचलित चीजको ही खयाल करके है। असलमे कर्मोके अनेक विभागो और उनकी व्यवस्थासे ही मतलव है। श्लोकमे कर्म शब्द पूर्वके या प्रारब्ध कर्म और आगे होनेवाले कर्म—इन दोनो—का ही वाचक है। इसका पूरा विवरण कर्मवादमे मिलेगा।

**चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।**
**तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम् ॥१३॥**

चारो वर्णोको मैने ही गुणो और कर्मोके वँटवारेके अनुकूल ही वनाया

है। (लेकिन) इनका वनानेवाला होता हुआ भी मैं निर्विकार और अकर्त्ता हूँ, ऐसा जान लो।१३।

न मा कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते ॥१४॥

(क्योकि) न तो मुझमे कर्म चिपकते ही है और न मुझे उन कर्मोके फलोकी आकाक्षा ही है। (फिर मुझे इनसे ताल्लुक ही क्या ? यही नही,) जो कोई दूसरा भी मुझे इसी तरह साक्षात्कार कर लेता है वह भी कर्मोसे (हर्गिज) वँध नही सकता।१४।

यहाँ उत्तरार्द्धमे जो 'अभिजानाति' क्रिया है उसका पहलेकी ही तरह साक्षात्कार ही अर्थ है। इसीलिये तत्त्वकी जगह 'अभि' शब्द उसमें जुटा है, जिससे उसका अर्थ होता है अच्छी तरह जानना। इसीको विज्ञान भी कहते है। अभिजानातिके ही अर्थमे अभिज्ञान वनता है, जिसका अर्थ है पहचान या परिचय करा देनेवाला। शकुन्तलावाली अँगूठी देखते ही दुष्यन्तकी आँखो के सामने उसकी मूर्त्ति नाच उठी। इसीलिये अभिज्ञान शाकुतलमें उसी अँगूठीको अभिज्ञान माना गया है। जो लोग ईश्वरके अकर्त्तृत्व और नि स्पृहत्वका अपने ही भीतर साक्षात्कार करने लगे, अनुभव करने लगे, वह तो स्वय ईश्वर ही हो गये। फिर उन्हें कर्मोका वन्धन कैसा ?

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात्त्व पूर्वैः पूर्वतरं कृतम् ॥१५॥

(यही कारण है कि) मुक्ति चाहनेवाले पुराने लोगोने भी ऐसा ही समझके कर्म किया था। इसलिये तुम भी पुराने लोगोके द्वारा किये गये इस अत्यन्त प्राचीन कर्मको ही करो।१५।

इस श्लोकमे 'मुमुक्षुभि' के साथ 'अपि'को जोडके यह अर्थ किया है कि मुमुक्षु या मुक्ति चाहनेवाले लोगोने भी कर्म किया था। इसका

आशय यह है कि जो लोग पूर्ण आत्म ज्ञानवाले जीवन्मुक्त थे उनने तो किया ही था। मगर इस दशाकी प्राप्तिकी इच्छा या मोक्षकी कामना-वालोने भी किया था। इसलिये तुम्हे भी हर हालतमे यही करना होगा, चाहे मुक्त हो, या मुमुक्षु—मोक्ष चाहनेवाले। अब इसमे एक ही दिक्कत रह जाती है 'किऐसा ही समझके'—'एवज्ञात्वा'—का मेल दोनो अर्थोंसे कैसे खायगा। ऐसा समझनेके तो मानी है यही समझना कि न तो मुझमे कर्म लिपट सकते और न मुझे उनके फलोंसे कोई काम है। और मुक्त या आत्मज्ञानी भले ही ऐसा समझे और उसका समझना ठीक ही है। फिर भी जो मोक्षकी इच्छावाला है वह ऐसा साक्षात्कार कैसे कर सकता है ? यह तो उसके लिये असभव है। इसीलिये उसके सम्बन्धमे इसका यही आशय है कि ऐसे साक्षात्कारको उद्देश्य करके ही उसने भी कर्म किया। ऐसा उद्देश्य तो ठीक ही है। उससे बन्धन तो हर हालतमें होगा ही नही।

अब यहाँ पर एक नई बात उठ खडी होती है। कृष्णके दिलमे यह खयाल आ सकता था कि कही ऐसा तो नही कि कर्म करो, कर्म करो यही बात रहरहके कहनेसे अर्जुन समझ बैठे कि कृष्णको कोई गर्ज है; तभी तो वारबार ऐसा कहते रहते है, यहाँ तक कि जब तक जो बात पूछता भी नही हूँ तभी तक वह बात भी इस अभागे कर्मके वारेमे कह डालते और चट कह बैठते है कि कर्म करो ही। यह समझना कोई अस्वाभाविक भी नही। खूबी तो यह थी कि कृष्ण एक तो वहुत बाते यो ही बोल गये। दूसरे वाते ही कह जाते तो भी एक बात थी। मगर वह तो कर्म करो, करोका तूफान-सा मचाये हुए थे। इसलिये शक-शुभे और ऐसे खयालोकी गुजाइश जरूर थी और पूरी थी।

इसीके साथ यह वात भी थी कि अव तक कर्म और उसके त्याग या सन्यासकी बात आई जरूर थी और उसे कब मानना और कैसे मानना,

काम नही मानना वगैरह बाते भी कही गई थी जरूर। मगर कर्म और कर्म त्याग या उल्टाकर्म—विकर्म—किस सूरतमे कैसे होता है और क्यो, यह चीज अब तक कही गई न थी। यह बडी बात है। किन-किन हालतोंमें कैसे कर्म ही कर्मका त्याग या विकर्म बन जायगा—क्योकि अकर्म शब्द जो आगे आया है उसका कर्म त्याग और विकर्म—विपरीत कर्म—भी अर्थ है; इसीलिये १७वे श्लोकमे विकर्म शब्द आया भी है—और किस दशामें कैसे अकर्म ही कर्म बन जायगा, इसका जानना निहायत जरूरी था। नही तो कर्मका एक महत्त्वपूर्ण पहलू छूट ही जाता। इसलिये भी कृष्णको आगेकी बातें कहनी पडी है।

जो लोग ऐसा समझते है कि आगेके श्लोकोमे कर्म और अकर्मकी परिभाषा या उनके लक्षण लिखे है वह भूलते है। यदि यह बात होती तो बारबार इन्ही शब्दोका प्रयोग न करके कुछ और शब्द बोलते। तभी तो पता चलता कि कर्म यह है और अकर्म यह है। मगर कृष्णने तो ऐसा नहीं किया है। इसलिये यही मानना पडेगा कि उन्हे परिभाषा नही करनी है। किन्तु यही बतलाना है कि जिसे आमतौरसे लोग कर्म मानते है वही कर्म त्याग और विकर्म भी कैसे बन जाता है और जिन्हे अकर्म—कर्म त्याग या विकर्म—मानते है वही कर्म कैसे बन जाते है। यही वजह है कि पहले (१६वे) श्लोकमें प्रथमान्त और द्वितीयान्त कर्म तथा अकर्म बोलनेके बाद और १८वेंमे ये बाते बतानेके पूर्व १७वेमे 'कर्मण', 'अकर्मण' और 'विकर्मण' इन तीनोको षष्ठ्यन्त रखते है। इससे एक तो पहले या आगेके अकर्म शब्दसे विकर्म भी लेना होगा यह अभिप्राय निकलता है। दूसरा यह कि इन तीनोके स्वरूप या लक्षणको न जानके इनके सम्बन्धमें ही कुछ जानना जरूरी है।

श्लोकमे कवि शब्दका अर्थ है अत्यन्त सूक्ष्म और भूत-भविष्यको भी देख सकने वाला। उसकी भीतरी आंखे ऐसी है कि गहनसे गहन और

वारीकसे भी वारीक बाते देख सके। वेदोमे "कविर्मनीषी परिभू स्वयम्भू" शब्दोमे परमात्माको कवि कहा है।

असलमे चौथे अध्यायका निजी विषय यहीसे शुरू होता है।

**किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।**
**तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१६॥**

कर्म क्या है (और) अकर्म क्या है इस सम्बन्धमे अलौकिक विद्वानोको भी घपलेमे पड जाना पडा है। इसीलिये तुम्हे कर्म (की सारी बाते और बारीकियाँ) बता दूंगा जिन्हे जानकर गलती और बुराईसे बच सकोगे।१६।

**कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।**
**अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः ॥१७॥**

कर्मके सम्बन्धमे भी बहुत कुछ जानना जरूरी है और विकर्मके सम्बन्धमे भी। (इसी तरह) अकर्म—कर्म त्याग—के सम्बन्धमे भी अनेक बाते जाननेकी है। क्योकि कर्मकी बात बडी पेचीदा है।१७।

**कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।**
**स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत् ॥१८॥**

जो आदमी कर्ममे ही अकर्म—कर्म त्याग और विकर्म—(भी) देखता है और अकर्म—कर्म त्याग एव विकर्म—मे ही कर्म (भी), वही सब लोगोमे बुद्धिमान है और योगी है और वही सब कुछ कर सकता है।१८।

यहाँ कई बाते विचारणीय है। सबसे पहली बात तो यही है कि सीधे ढगसे यह हर्गिज नही मान लेना चाहिये कर्ममे बराबर अकर्म ही देखना चाहिये या अकर्ममे कर्म ही। आपातत देखनेसे तो यही प्रतीत होता है कि यहाँ आलकारिक विरोधाभासके रूपमे ही गीताके सिद्धान्तका वर्णन है। इसलिये विरुद्ध या उल्टी ही बाते देखनेका सिद्धान्त इसमे होना चाहिये ऐसा ही मालूम होता है। मगर गीता तो अलकारका ग्रन्थ है नही। यह तो हमारे प्रतिदिनके व्यवहारो, हलचलो, सघर्षों एव कर्मोंके

करने-न करनेके दार्शनिक सिद्धान्त बताके तत्सम्बन्धी कायदे-कानूनका सग्रह (Manual) जैसा ग्रथ है। इसीलिये जो बातें वराबर होती है और जिन्हे व्यावहारिक या अमली बाते कहते है उन्हे मिटा देनें या भुला देनेसे तो गीताका काम चल सकता नही। तब तो यह कीचडमे ही जा फँसेगी और इसका मूल्य भी न रह जायगा। तव गीता वह चमकता हीरा न रह जायगी जैसा मानी जाती है।

इस दृष्टिसे देखने पर इस श्लोकका अर्थ ऐसा हो जाता है कि जो आदमी कर्ममें कर्म तो देखता ही है, या यो कहिये कि कर्मको कर्म तो जानता-मानता हुई; लेकिन उसमें अकर्म यानी कर्मका त्याग और विकर्म भी समझता है। इसी तरह जो अकर्म यानी कर्मके त्यागमें भी कर्मका त्याग तो समझता ही है, मगर कर्म और विकर्म या विरोधी कर्म-निन्दित कर्म---भी देखता है। ऐसे ही जो अकर्म यानी विकर्म या निषिद्ध कर्मको भी विकर्म तो मानता ही है; मगर उसे कर्म-त्याग और कर्म भी जानता है। वह सबोमें बुद्धिमान है, वही युक्त या योगी है और वह बेघडक कोई भी---सभी---कर्म कर सकता है, करता है। उसे कोई काम करनेमें खतरा तो नजर आता नही। फिर हिचक क्यो होगी? इस तरह आत्मज्ञानी या योगीकी दृष्टि या नजरको कर्मके बारेमें वहुत ही व्यापक बन जानेकी बात इस श्लोकमें कही गई है। निचोड यही है कि वह हमेशा यही मानता है कि कोई भी कर्म, जिसे व्यवहार, समाज या शास्त्रने अनुमोदित किया है, कर्म भी हो सकता है, कर्म-त्याग भी और विकर्म, दुष्कर्म या पाप भी। इसी तरह वह यह भी मानता है कि शास्त्रीय या समाज-अनुमोदित कर्मोका त्याग भी त्याग तो रहता ही है। साथ ही साथ वह कर्म और विकर्म भी वन सकता है और विकर्म भी विकर्म होनेके साथ ही कर्म या कर्म-त्याग हो जाता है, हो जा सकता है। मालूम होता है, कोई जादूमतर या करामात है जो इनके रूपोको बदल देती है अगर उसका प्रयोग किया जाय और

अगर न किया जाय तो ये ज्योके त्यो रह जाते है। कोई ऐसी जडी-बूटी, ऐसी औषधि है जिसे गीताने बताया है।

अब इन तीनोका दृष्टान्त ले सकते है। हल जोतनेकी बात लीजिये। एक हलवाहा ईमानदारीसे हल चलाता है। यही उसका कर्म है। यह कर्म बना रहेगा जब तक वह मजदूरी या खेती-गृहस्थीके सफल होनेके खयालसे ही यह काम करता रहेगा। मगर ज्योही इन नतीजो या परिणामो——फलो——की पर्वा उससे जाती रही; फलत. कर्मासक्ति या फलासक्ति छोडके वह हल चलाने लगा; जैसा कि किसीने पकडके जडभरतसे हल चलवाया था। बस वही कर्म अकर्म बन गया। क्योकि पहली——कर्मकी——हालतमे जो उसे डर-भय रहता था या काम बिगडनेका खतरा रहता था वही तो इसे कर्म बनाये हुए था और वही अब जाता रहा। जिससे वह उस कर्मसे बेलाग हो गया। लेकिन ऐसा भी होता है कि हमारे पडोसीसे हमारी कटाकटी चल रही है। पद-पद-पर हम उसे चिढाना और दिक करना चाहते है। ऐसी ही हालतमे उसकी खेती का ऐन मौका बिगड रहा है। हजार कोशिश करके भी वह न तो हल ही पा सकता है और न चलाई सकता है। फलत तिलमिलाया हुआ है। ठीक उसी समय हमने अपना हल उठाया और उसे दिखाके बिना जरूरत ही हम किसी खेतमे चलाने लगे। ऐसा भी हो सकता है कि पडोसीकी जैसी ही अपनी जरूरतको पूरा करनेके बजाय हमने उसके किसी प्रचड शत्रुको ही जान-बूझके अपना हल उसके सामने ही दिया। बस, यह हमारा विकर्म या दुष्कर्म हुआ। क्योकि नाहक दूसरेका दिल दुखाना ही उसका लक्ष्य जो है।

इसी तरह कर्मके त्यागको भी ले। यदि हमारे सामने किसी गरीब या निर्दोषको कोई जालिम पीटता हो तो उसकी रक्षा करनेके लिये दौड पडना हमारा कर्त्तव्य है। मगर हम उसे नही करते है। यही कर्मका त्याग हुआ। मगर इसकी तीन हालते होनेसे इसके भी तीन रूप हो जाते

है। यदि हम जानबूझके उसकी मददको न जायें तो यही कर्म त्याग होगा या विकर्म या पाप। यदि चाहते हुए और भरसक यत्न करने पर भी न जा सके, क्योंकि किसीने हमें कसके पकड लिया या बाँध दिया हो, तो कर्मका त्याग या अकर्म होते हुए भी यही हो गया हमारा कर्म, जिसे अच्छा काम, सत्कर्म या पुण्य कहिये। मगर ऐसा भी हो सकता है कि हम ऐन मौके पर इधर समाधिस्थ हो गये और उधर वह पीटपाट शुरू हुई। हमने सारी तैयारी पहलेसे ऐसी कर ली थी कि रुकना कथमपि सभव न था। या ऐसा भी हो सकता है कि हममे आत्मानन्दकी ऐसी मस्ती हो कि सुध-बुध होई न। ऐसी दशामें उसकी मददके लिये हमारा न जाना सचमुच कर्म-त्याग है।

अब रही विकर्मकी बात। साधारणत हिंसा बुरी है, विकर्म है। फिर भी लोग इसे बराबर करते ही रहते है। इसीलिये वह विकर्मका विकर्म ही रहेगी जब तक हम रोजी-रोजगार, पेट या महज वैरविरोध आदिके खयालसे यह चीज करते रहेगे। मगर आखिर धर्म-व्याध भी तो कसाईका ही काम करता था। हालत यह थी कि एक तो कोशिश करके थक चुका था, फिर भी उससे उसका पिंड छूट न सका। दूसरे उसके करने या न करनेमें—होने या न होनेमे—और उसके परिणाम स्वरूप पैसे मिलें या न मिलें, या और कुछ हो या न हो, उसे किसी बात की जरा भी पर्वा न थी—उसे अव्वल दर्जेकी बेफिक्री थी, मस्ती थी। इसीलिये यह विकर्म उसके लिये अकर्म या कर्मोका सच्चा त्याग था। ऐसा हर समझदार, हर आत्मज्ञानी कर सकता है, करता है। लेकिन मान लें कि वही धर्म-व्याध या दूसरे ही इतनी दूर तक न पहुँचे हो। जीविकार्थ उन्हें कुछ न कुछ खामखा करना भी पडे। इसीके साथ कसाईका काम उनका ख़ान्दानी पेशा होनेके कारण—जैसी कि धर्मव्याधकी बात थी—उन्हें सुलभ होनेपर भी इससे बचनेकी सारी कोशिश उनने कर ली। मगर

मजबूर हो गये और दूसरी जीविका मिली ही नही। ऐसी दशामे केवल जीविकाके खयालसे ही वही विकर्म या हिंसाका काम करनेपर भी वही उनके लिये कर्म या सत्कर्म हो जायगा। मनुस्मृतिके १२वे अध्यायमे लिखा है कि विश्वामित्रादि ऋषियोने कुत्ते आदिका मास खा-खिलाके घोर दुष्कालमे प्राण तथा धर्म वचाये। छान्दोग्य उपनिषद (१।१०।१-७)मे लिखा है कि हाथीके जूठे उडद खाके उषस्ति ऋषिने प्राणो और धर्म दोनोकी ही रक्षा की। इसलिये ऐसा तो होता ही रहता है।

हमने जो कुछ लिखा है वह अक्लमे आनेवाली चीज है। व्यवहारमे भी ऐसा होता आया है, होता है और होता रहेगा भी। इसीलिये गीताके इस श्लोकका भी अर्थ ऐसा ही करना उचित है जो व्यवहारके अनुकूल हो। यह मान लेना कि कर्मको हमेशा अकर्म ही समझते और देखते रहे, निरी नादानी है। वैसी मनोवृत्ति जवतक न हो यह कैसे हो सकता है और यह मनोवृत्ति केवल योगीके वशकी नही है। माना कि उसने खुद ऐसी ही मनोवृत्ति की और वह असग भी है। मगर कर्मोका ताल्लुक तो आखिर दूसरोसे भी होता है न? और अगर वे ऐसा न समझे तो भी क्या उनके लिये भी वह अकर्म ही हो जायगा? यह उलटी वात होगी। एक ही कर्म किसीके लिये सत्कर्म, किसीके लिये दुष्कर्म और किसीके लिये अकर्म या कर्मत्याग हो सकता है अपनी अपनी भावनाके अनुसार। यही वात हरेक कर्ममे निरपवाद लागू है। पूजा-पाठ, समाधि तकमे हिंसा तो होती ही है। और नही तो साँस लेने या शरीरकी रगडसे ही जाने लक्ष-लक्ष कीटाणु खतम हो जाते हैं। इसीलिये अष्टावक्रने अपनी गीतामे कहा है कि नादानकी निवृत्ति या कर्मत्याग भी प्रवृत्ति या कर्म वन जाता है और विवेकीकी प्रवृत्ति भी निवृत्ति वन जाती है, "निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते। प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलभागिनी" (१८।६१)। इसमे 'भी'के अर्थमे जो 'अपि' शब्द है वही हमारे आशयको

व्यक्त कर देता है। २०वें श्लोकके 'प्रवृत्तोऽपि' वगैरह भी यही बात व्यक्त करते है ।

हमने पहले ही कहा है कि चौथे अध्यायका अपना विषय इसी श्लोकसे शुरू होता है। इसके पहले तो दूसरे, तीसरे अध्यायके ही प्रसगकी बातें आई है। यदि कोई भी विवेकी गौर करे तो यह जरूर मानेगा कि कर्म करने और उसके त्याग या सन्यासकी यह बारीकी निहायत जरूरी चीज है जो छूटी थी। इसीलिये गीताके चौथे अध्यायने इसे पूरा किया है। इसमे भी असल चीज है कर्मत्याग या सन्यास ही। इसीके बारेमें तो उलझनें पैदा होती है और लोग अट-सट कर बैठते है, मान बैठते है। लोगोको धोके और भ्रम भी तो सन्यास या कर्मत्यागको ही लेके होते है। इसीलिये उसका खासतौरसे स्पष्टीकरण यहाँ जरूरी था। यह सन्यास ज्ञानका साधन है और ज्ञानके बलसे ही यह होता भी है। इस प्रकार एक तरहसे इन दोनोका परस्पर सम्बन्ध है—ये दोनो अन्योन्याश्रय-वाले है यह बात भी आगे स्पष्ट की जायगी। इस तरह यही चीजें इस अध्यायके मुख्य विषय है। इसीलिये इसे ज्ञानकर्मसन्यासयोगके नामसे ही अन्तमें कहेगे भी।

इस बातका निरूपण इस १८वें श्लोकसे ही शुरू होके ३७वेंतक चला जाता है। बीच-बीचमें एकाध बार ज्ञानकी बात प्रसगसे आई है। अन्यथा आगेके १९ श्लोक इसी एक ही श्लोकके व्याख्यान स्वरूप है। अनेक प्रकारसे उनमें यही बात—इसी श्लोकका अभिप्राय—व्यक्त किया गया है। यह बात उन श्लोकोके अर्थ लिख चुकनेपर ही हम बतायेंगे। तभी समझमें आसानी होगी भी।

**यस्य सर्वे समारंभाः कामसंकल्पवर्जिताः।**
**ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पडितं बुधाः ॥१९॥**

जिस (आदमी)के सभी काम कामना तथा फल आदिकी आसक्तिके

बिना ही होते है, (इसीलिये) जिसने ज्ञानरूपी आगमे सभी कर्म जला दिये है, विद्वान लोग उसीको पडित कहते है ।१६।

**त्यक्त्वा कर्मफलासंगं नित्यतृप्तो निराश्रयः ।**
**कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः ॥२०॥**

(क्योकि) ऐसा आदमी कर्मों और उनके फलोकी आसक्तिको मिटाके बेपर्वाह और हमेशा मस्त रहता है। (इसीलिये) वह कर्मोंको करता हुआ भी (दरअसल) कुछ भी नही करता है ।२०।

**निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः ।**
**शरीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥२१॥**

जो सभी इच्छा-आकाक्षाओको लात मार चुका है, जिसने मन और बुद्धिको अपने काबूमें कर लिया है (और) जिसने सभी डल्ले-पल्लेसे नाता तोड लिया है, (ऐसा आदमी) केवल देह या इन्द्रियोसे ही कर्मोंको करता हुआ भी पाप और बुराईके पास जातातक नही ।२१।

**यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः ।**
**समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वाऽपि न निबध्यते ॥२२॥**

योही जो कुछ भी मिल जाये उसीसे जो सन्तुष्ट हो, रागद्वेष—हर्ष-विषाद—काम-क्रोधादि द्वन्द्वोसे जो बहुत दूर हो गया हो, जिसमे वैर-विरोध या दूसरोकी सफलतासे होनेवाली जलन न हो और जिसके दिलपर कामके पूरा होने या न होनेका कोई प्रभाव न पडे वह आदमी सभी कर्मोंको करके भी बन्धनमे हर्गिज नही पडता ।२२।

**गतसंगस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः ।**
**यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते ॥२३॥**

जो आसक्तिशून्य है, जो सभी बन्धनोसे रहित है, (इसीलिये) जिसकी बुद्धि आत्मज्ञानमें ही डूबी है—जो स्थितप्रज्ञ है—और जो (केवल) यज्ञके ही लिये कर्म करता है उसके कर्म जडमूलसे खत्म हो जाते है ।२३।

**ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम् ।**
**ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना ॥२४॥**

(जिस यज्ञमें ऐसी भावना है कि) आहुति आदिके साधन स्रुव आदि ब्रह्म ही है, घृतादि हवनके पदार्थ भी ब्रह्म है, ब्रह्मरूपी अग्निमें ब्रह्मरूपी यजमान ब्रह्मरूपी हवनक्रिया करता है, उस समूची यज्ञात्मक क्रियाको ब्रह्मका रूप मिल जानेसे वह पूर्ण समाधि ही हो गई। इसलिये उससे ब्रह्मकी ही प्राप्ति होती है ।२४।

**दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते ।**
**ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति ॥२५॥**

दूसरे योगी इन्द्र आदि देवताओंके ही यज्ञका अनुष्ठान करते हैं। कुछ और लोग ब्रह्मरूपी अग्निमे ही देहधारी आत्माका हवन ज्योका त्यों कर देते है ।२५।

**श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति ।**
**शब्दादीन्विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति ॥२६॥**

(चौथे प्रकारके) कुछ लोग श्रोत्र आदि इन्द्रियोका हवन सयमरूपी आगमें करते है। (पाँचवें) दलवाले शब्द आदि विषयोका हवन ज्ञान-इन्द्रियरूपी अग्निमें ही करते है ।२६।

**सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे ।**
**आत्मसंयम योगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते ॥२७॥**

(छठे प्रकारके) लोग सभी इन्द्रियोकी तथा प्राणकी भी सभी क्रियाओं-का हवन मनके सयमरूपी अग्निमें, जो ज्ञानके द्वारा खूब धौंकी जा चुकी है, करते है ।२७।

**द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योग यज्ञास्तथाऽपरे ।**
**स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः ॥२८॥**

दूसरे भी कल्याणार्थ यत्न करनेवाले लोग है जिनके व्रत या यज्ञोंके

नियम बडे ही सख्त है। (ये पाँच दलोमे विभक्त है और वे है) अन्नादि पदार्थोसे यज्ञ करनेवाले, तपरूपी यज्ञके करनेवाले, अष्टाग योगरूपी यज्ञ करनेवाले, सद्ग्रथोके पाठरूपी यज्ञके कर्त्ता और ज्ञान यज्ञके करनेवाले।२८।

**अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।**
**प्राणापानगतीरुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः ॥२९॥**

(तीन तरहके और भी लोग है जो यज्ञ करते है और उनमे) एक तो अपानमे प्राणका ही हवन यानी पूरक करते है। दूसरे प्राणमे ही अपानका हवन यानी रेचक करते है। तीसरे प्राण और अपान दोनोकी क्रिया रोकके कुम्भकमे ही लगे रहते है।२९।

**अपरे नियताहाराः प्राणान्प्राणेषु जुह्वति।**
**सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षपितकल्मषाः ॥३०॥**
**यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।**
**नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥३१॥**

(पन्द्रहवे प्रकारके) कुछ और भी है जो खानपान आदिपर सख्त सयम करके इन्द्रियोकी क्रियाओको प्राणकी क्रियाओमें ही हवन कर देते है। (इस तरह) ये सभी यज्ञ करनेवाले इन्ही यज्ञोके द्वारा (अपने दिल-दिमागकी सभी) गन्दगियोको धो डालते है (और) यज्ञशिष्ट—यज्ञके बाद बचे हुए—अमृतको ही भोगते हुए सनातन—नित्य—ब्रह्मको प्राप्त कर लेते है। हे कुरुसत्तम,—कुरुवशके दीपक,—जो यज्ञ नही करता उसका तो काम यही नही चल सकता। परलोकका तो कहना ही क्या? ३०।३१।

**एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।**
**कर्मजान् विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे ॥३२॥**

इस प्रकार अनेक तरहके यज्ञ वेदमे प्रमुख रूपसे कहे गये है। कर्मोसे

ही वे सभी तैयार होते है ऐसा जान लो; (क्योकि) ऐसा जाननेसे ही मुक्त होगे ।३२।

**श्रेयान्द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञ: परन्तप ।**
**सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते ॥३३॥**

हे परन्तप, घृतादि भौतिक पदार्थोंसे किये जानेवाले यज्ञोकी, अपेक्षा ज्ञानयज्ञ कही अच्छा है । (क्योकि) हे पार्थ, (आखिर) सभी कर्मोका अन्तिम ध्येय ज्ञान ही तो है और ज्ञानसे ही कर्मोंका खात्मा भी होता है ।३३।

**तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।**
**उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥३४॥**

तो यह याद रखो, नम्रतापूर्वक शरणमें जाने, (यथाशक्ति) सेवा करने (और अवसर पाके) पूछनेपर ही तत्त्वदर्शी ज्ञानी जन तुम्हें ज्ञानका उपदेश करेंगे ।३४।

**यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पांडव ।**
**येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥३५॥**

हे पाडव, जिस ज्ञानको हासिल कर लेनेसे तुम्हें ऐसा मोह न होगा (और) जिसके चलते सभी पदार्थोंको अपने आपमें देखोगे और मुझमें भी ।३५।

**अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः ।**
**सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥३६॥**

अगर तुम सभी पापियोसे कही बढ-चढके भी पापी हो (तो भी) सभी पापो—पाप-समुद्र—को इस ज्ञानकी नावसे ही पार कर जाओगे ।३६।

**यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मात्कुरुतेऽर्जुन ।**
**ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ॥३७॥**

हे अर्जुन, जिस तरह धक्धक् जलनेवाली आग समूचा ईंधन (बातकी

बातमे ही) भस्म कर डालती है। उसी तरह ज्ञानरूपी आग भी सभी कर्मोको भस्म कर देती है।३७।

अब आगे ज्ञानकी प्राप्तिके अन्य साधनोका विचार तीन श्लोकोमे करके ४१वेमें पुनरपि इसी कर्म-अकर्मका उपसहार करेगे। फिर अन्तिम श्लोकमे अध्यायके उपदेशका निचोड कहके अर्जुनको तैयार हो जानेकी बात कहेगे। इसलिये उचित है कि यहीपर पीछेके १६ (१९-३७) श्लोको-का सिंहावलोकन करके देखे कि उनसे कहाँतक १८वेके कर्म-अकर्मवाले सिद्धान्तका स्पष्टीकरण होता है और सक्षेपमे उनमे कहा भी क्या गया है।

सबसे पहले शुरूके पाँच (१९-२३) श्लोकोको ही ले। इनमे २१वेंको छोड शेष चारोमे कर्मोके करते रहने पर भी मनुष्य कर्मरहित, अकर्म या कर्मत्यागी कैसे हो जाता है यही बात कही गई है। बेशक, चारोमें कुछ न कुछ नई बाते भी है। फिर भी इन सबोको मिला लेनेपर ही हम इस निश्चयपर पहुँच पाते है कि किस दशामें—कैसी मनोवृत्ति रहनेपर—मनुष्यके कर्म अकर्म बन जाते है और कर्मोके करते रहनेपर भी कर्मत्याग या सन्यासका काम पूरा हो जाता है। सन्यासका भी तो प्रयोजन यही है कि कर्मोके बन्धनोसे छुटकारा हो जाय और वही बात यो भी हो जाती है। इसलिये यहाँ अर्थत सन्यास है, न कि स्वरूपत। क्योकि स्वरूपत तो कर्म करते ही रहते है।

तो अब यह देखे कि इन श्लोकोमे क्या-क्या बाते है जो कर्मको अकर्म बनाती है। तत्त्वज्ञान तो चारोमे ही स्पष्टतया और अर्थात् भी आया ही है। मगर उसके फलस्वरूप जो मनोवृत्ति होती है उसीसे हमारा मत-लब है। पहले श्लोकमे काम और फलादिकी कल्पना या उनकी आसक्ति, इन दोनोका पूर्ण त्याग आया है। मगर इसे वे सकल्पके रूपमे कहा है। दूसरे—२०वे—मे कर्म और फलकी आसक्तिके त्यागके साथ बेपर्वाही

और सदा रहनेवाली मस्ती आई है। २२वेमें कर्मके पूरे होने-न होनेमें बेपर्वाही—समत्व—के साथ शरीरयात्राके लिये बेफिक्री, जोई मिले उसीमें संतोष, हर्ष-विषाद आदिके लेशका भी न होना और दूसरोकी सफलता देखके जलनका न होना यही बाते कही गई है। २३वेमें हर तरहकी असगता, सभी बन्धनोसे छुटकारा और बुद्धिके तत्त्वज्ञानमे डूब जानेके अलावे यह भावना होना कि ये कर्म यज्ञार्थ हो रहे है, यही बाते कही गई है। इन सबोंके मिलानेसे ऐसा हो जाता है कि आत्मसाक्षात्कारसे ही कर्मोंसे छुटकारा होता है—वे जल जाते है। मगर इसकी—साक्षात्कार की—पहचान क्या है' यही देखना है और यही असल चीज है। इस दृष्टिसे पता लगता है कि पहली चीज है बुद्धिका आत्माकी ही ओर टॅग जाना और मनका उसीमे रम जाना। मगर इसका पता लगता है तब जब कामना संकल्प, कर्म तथा फलकी आसक्ति, ये सभी छूट जाते है और हमेशा तृप्ति बनी रहती है। लेकिन ये सभी भीतरी बातें है। इसीलिये इनका पता कैसे लगे ? यही कारण है कि यह कह दिया है कि न तो किसी आदमी या देवता वगैरह की पर्वा हो, न खाने-पीने आदिके लिये हाय-हाय, न किसीसे भी वैर-विरोध, न हर्ष-द्वेष और राग और न किसीमे चिपकना। इसीके साथ यह भी रहे कि काम पूरा हुआ तो क्या, न पूरा हुआ तो क्या ? फलत निश्चिन्त रहे। ये बाहरी पहचान है। अन्तमे इनके साथ यह भी कह दिया कि यज्ञके लिये ही कर्म कर रहे है, कर्म हो रहे है यदि यह भावना हो जाय तो सुन्दर हो। जरूरी नही है कि यह भावना होई। मगर हो तो सुन्दर।

अब रहा बीचका २१वॉ श्लोक। इसमे विकर्मको ही अकर्म या कर्म-त्याग बन जानेकी बात कही गई है। क्योंकि किल्विष या पापका प्रश्न तो वहीं पैदा होता है न ? इसका भी रास्ता साधारणत वही है जो कर्मको अकर्म बनानेका। मगर श्लोकमे कुछ खास बाते कही गई है।

यही इसकी विशेषता है। जो कुछ कहा गया है उसका निचोड यही है कि कोई भी काम करनेमे शरीर, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धिके एक साथ होनेपर ही वह पूरा होता है और उसकी पूर्ण जवाबदेही होती है। लेकिन यदि मन और बुद्धिको उधरसे खीच ले और केवल शरीर या इन्द्रियोको ही—क्योकि बाहरी इन्द्रियाँ या हाथ-पाँव आदि शरीरमे ही आ जाते है; इसीलिये श्लोकमे 'शारीर' कहा है—उसे करने दे, तो जवाबदेही छूट जाती है। यही बात श्लोकमे "यत्तचित्तात्मा" और "केवल शारीर" से कही गई है। 'केवल शरीरसे' यह तो 'यत्तचित्तात्मा' होने या मन और बुद्धिको काबूमे कर लेनेका परिणाम ही है। इसकी पहचानके लिये 'त्यक्तसर्वपरिग्रह' कहा है। सब लवाजिम और डल्ले-पल्लेसे नाता तोड लेना—न कोई आगे हो न पीछे, न घरबार हो और न दूसरी ही कोई जरा भी सम्पत्ति। तभी तो पक्की पहचान होती है कि सचमुच इस आदमीका मन किधर है। कुछ भी घर-गिरस्ती या कपडा-लत्ता होनेपर मन उसीमे जाता ही है।

यहाँ यह भी जान लेना होगा कि यद्यपि सकल्प और आसक्तिको आमतौरसे एक ही मानते है, तथापि दोनोमे कुछ न कुछ फर्क है। सकल्प भी आसक्तिका ही एक रूप है। मगर कोई भी काम शुरू होनेके पहले जो आसक्ति होती है, चाहे उस कामके पूरे होनेकी या फलकी, या दोनोकी ही, उसके फलस्वरूप जो मनमे उसके बारेमे तरह-तरहकी कल्पनाये होती है कि यो करेगे, त्यो करेगे वही सकल्प है। काम शुरू होनेपर उसके खत्म होने-न होनेके बादतक जो कर्म और फलसे मनका चिपकना है वही आसक्ति है। इसीलिये मौलिक भेद न होनेपर भी कुछ न कुछ भेद हुई। इसीलिये दोनोको जुदा-जुदा कहा गया है। गीतामे कई बार ऐसा मौका आया है। यही यह भी जान लेना चाहिये कि यह "सम सिद्धावसिद्धौ" तीसरे अध्यायमे तो आया नही। यहीपर इस अध्यायमे एक बार और

तीन बार द्वितीय अध्यायमे आया है । मगर पहले दो बार ज्ञानके सम्बन्धमें और बादमे एक बार कर्मके सम्बन्धमे । यहाँ भी कर्मके ही सम्बन्धमें है । इसमे और "सिद्धयसिद्धयो समो भूत्वा"में पूर्ण समानता है। ज्ञान और कर्मके समत्वका भेद पहले ही बताया जा चुका है ।

तेईसवें श्लोकमें यज्ञार्थकर्म—यज्ञायकर्म—की बात आ जानेसे २४वेंसे लेकर ३१वेतक ८ श्लोकोमें यज्ञोकी ही बात आ गई है। इनमें भी ३०वेंके पूर्वार्द्धतक साढे छे श्लोकोमें कुल पन्द्रह प्रकारके यज्ञोका वर्णन है । शेष डेढमें उनकी महत्ता बताई गई है । यज्ञ सब पापो और बुराइयो को धो देते है, और यज्ञके बाद ही बचे-बचाये पदार्थोको अमृत समझ उन्हें भोगनेवालोको ब्रह्मकी प्राप्ति भी होती है, यही दो बातें कही गई है । मगर ३१वेंके उत्तरार्द्धमें जो यह कहा है कि यज्ञ न करनेवालेका तो काम यही नही चल सकता, परलोककी बात तो दूर रहे, वह यह सूचित करता है कि गीताका यज्ञ बहुत ही व्यापक है। फलत इसके भीतर समाजोपयोगी कार्य भी एक-एक करके आ जाते है । असलमें जिन पन्द्रह यज्ञोको गिनाया है उनके भीतर दुनियाके सभी काम आ जाते है। खूबी तो यह है कि पन्द्रह तरहके यज्ञोको गिनाके अन्तमें यह कह दिया है कि इस तरहके बहुतेरे यज्ञ वेदोमे आते है—"एव बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे" । इसीसे स्पष्ट हो जाता है कि नमूनेके रूपमें या दल और किस्मके रूपमें ही ये पन्द्रह गिनाये गये है। दरअसल हरेकके पेटमें सैकडो-हजारो तरहके यज्ञ आ सकते है ।

यज्ञोंके बारेमें थोडा और भी विचारें तो अच्छा हो । तीसरे अध्यायमें भी "यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र" (३।९)में यज्ञार्थ कर्मकी बात आई है। वही यहाँ भी है । गौरसे देखनेसे यह भी पता चलता है कि दोनो श्लोकोमें एक ही बात है । इसीलिये सग या आसक्तिका त्याग वगैरह भी दोनोमें ही आये है । अगर वहाँ 'कर्मबन्धन'से छूटनेकी बात है तो यहाँ कर्मोके

समग्र या जडमूलसे खत्म हो जानेकी बात है। मगर दोनोका आशय एक ही है। हाँ, एक अन्तर जरूर है और है वह महत्त्वपूर्ण। यहाँ "ज्ञाना-वस्थितचेतस" कहनेसे बुद्धिका ज्ञानमे या आत्मचिन्तनमे डूबना लिखा है। उसके आगे जो "ब्रह्मार्पण" (४।२४)श्लोक है उससे भी यही सिद्ध होता है। इसमे तो कर्मको समाधिका रूपान्तर बना दिया है और कह भी दिया है। जब ब्रह्मके सिवाय और कोई खयाल हई नही तो समाधि तो पूरी होई गई। मगर जैसा कि वही कह चुके है, तीसरे अध्यायमे यह बात नही है। वहाँ जनसाधारणकी बात ही आई है, हाय-हाय छोडके कर्म करनेकी जरूरत उन्हे बताई गई है और उन्ही कर्मोसे यज्ञके स्वरूपका निर्माण कहा गया है। इस तरह एक पहेलीसी खडी हो जाती है। मगर इसका समाधान भी है।

असलमे तीसरे अध्यायकी स्थितिसे आगेतककी स्थितिको ही दृष्टिमे रखके चौथे अध्यायमे कर्म, अकर्म और यज्ञका निरूपण आया है। यह तो ठीक ही है कि पूर्ण ज्ञानीके कर्मोकी बात यहाँ बार-बार आई है। मगर ३०वेंके "यज्ञक्षपितकल्मषा" और पूरे ३१वे श्लोकसे ही सिद्ध हो जाता है कि पूर्ण ज्ञानीसे नीचे दर्जेके लोगोके लिये भी यज्ञकी बात यहाँ कही गई है। क्योकि ज्ञानीको पापसे ताल्लुक ही क्या? उसका पाप तो ज्ञान ही जला देता है। वही कर्मको भी जलाता है। साथ ही, यज्ञशेष अमृतका भोग करनेवाले सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते है, इस कथनसे भी पता चलता है कि ऐसा करते-करते जब उनका अन्त करण निर्मल हो जाता है तभी पूर्ण ज्ञानके द्वारा ब्रह्मको प्राप्त करते है। क्योकि ज्ञानी तो ब्रह्मरूप हई। फिर खा-पीके ब्रह्मको क्या खाक प्राप्त करेगा? मुमुक्षुओके भी कर्म करनेकी बात इसी अध्यायमे पहले कही गई भी है। "तत्स्वय योग-ससिद्ध" (४।३८)से भी पता लगता है कि कर्मसे अन्त करणकी शुद्धिरूपी ससिद्धि मिलनेपर ही ज्ञान प्राप्त होता है। क्योकि वहाँ 'योगससिद्ध'

शब्दका सिवाय उसके दूसरा अर्थ सभव नही कि "कर्मोंके करनेसे जिसका अन्त करण शुद्ध हो गया है"। उसके आगे "योगसन्यस्तकर्माण ज्ञानसच्छिन्नसशयम्" (४।४१)से भी स्पष्ट है कि कर्म करते-करते अन्त करणकी पवित्रता हो जानेपर ही कर्मोका स्वरूपत सन्यास करना जरूरी हो जाता है, ताकि निदिध्यासन और समाधि यथोचित रीतिसे हो सके और पूर्ण आत्मसाक्षात्कार हो जाये। जबतक कर्म न करे तबतक उसका सन्यास असभव है, यह तो "नकर्मणामनारम्भात्" (३।४)में कही चुके है। इसलिये यहाँ यह कहना कि "योग यानी कर्म करके ही जिसने कर्मोका सन्यास किया है" ठीक ही है। इसीलिये यही बात "आरुरुक्षोर्मुने" (६।३) मे तथा "सन्यासस्तु महाबाहो" (५।६)मे भी कही गई है। हम इसपर विशेप प्रकाश भी डाल चुके है। यही कारण है कि "ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि" (४।३७) और "ज्ञानाग्निदग्धकर्माण" (४।१६)के साथ इस "तत्स्वय योगसंसिद्ध"को मिला देनेपर "सर्व कर्माखिल पार्थ" (४।३३)में "परिसमाप्यते"के पर्यवसानके दोनो ही अर्थ करने जरूरी हो जाते है। एक तो यह कि सभी कर्मोका फल दरअसल ज्ञान ही है। दूसरा यह कि ज्ञानके बाद सभी कर्म जडमूलसे खतम हो जाते हैं। "समग्र प्रविलीयते" और "सर्वं कर्माखिल परिसमाप्यते"का बहुत सुन्दर मेल भी है, यदि शब्दोंके अर्थोपर गौर करें।

इतना ही नही। यदि यज्ञोंके स्वरूपोको भी देखे तो पता चलता है कि आत्मज्ञानीके सिवाय दूसरोके भी यज्ञ उनमे आये है। "ब्रह्मार्पण" आदि श्लोकमे ठीक आत्मज्ञानीका ही यज्ञ है। मगर उसके बाद जो देवयज्ञ आदिका वर्णन है वह तो निश्चय ही आत्मज्ञानियोके यज्ञका नहीं है। वह भला देवताओका यज्ञ क्यो करने लगे ? उनकी नजरोंमें देव-दानव वगैरह तो हुई नही। यज्ञ भी स्वतत्र कोई चीज नही है। शेष चौदह यज्ञोका भी यही हाल है। "ब्रह्माग्नावपरे यज्ञ"मे भी ब्रह्मरूपमें

देही आत्माका चिन्तन चलता है। इसीलिये वह यज्ञ भी आत्मज्ञानके पहलेकी चीज है। इसी प्रकार ज्ञानयज्ञ भी बडा व्यापक है। इसीलिये गीताके अन्त (१८।७०)मे गीताके पढने-पढानेको भी ज्ञानयज्ञ कह दिया है। फलत ज्ञानयज्ञ आत्मज्ञानको ही कहते है यह तो माना जा सकता नही। जव "ब्रह्मार्पण' आदि आत्मज्ञानरूपी यज्ञसे पृथक् ही ज्ञानयज्ञ गिनाया है तो वह जरूर ही दूसरे ही प्रकारका है।

वात असल यह है कि यज्ञमे किसी न किसी पदार्थकी आहुति अग्नि आदिमे दी जाती है। इसी समानताके खयालसे जहाँ एक पदार्थको दूसरेके पास लाके खत्म किया वही यज्ञ नाम दे दिया गया है। आहुतिके वाद उसके पदार्थ खत्म तो होई जाते हैं। विषयोमे जानेपर इन्द्रियोकी परीशानी जाती रहती है। मालूम पडता है कि वह खत्म हो गई। इन्द्रियोके पास आके विषय तो खत्म होते ही है। ब्रह्मके रूपमे आत्माका चिन्तन करनेसे उसका देहयुक्त रूप तो खत्म होई जाता है। मनके रोकनेसे इन्द्रियोकी और प्राणकी भी क्रियाये खत्म होई जाती है। पूरकमे प्राणकी क्रिया होती नही। क्योकि वायु वाहर जाये तव न? वहाँ तो भीतर ही खीचा जाता है और वही है अपानकी क्रिया। रेचकमे वायु वाहर ही निकालते है। इसीलिये वहाँ अपानकी ही क्रिया गायव है। कुम्भकमे दोनोकी ही क्रिया रुक जाती है। यद्यपि प्राणायाम तीनोको ही मिलाके या अलग-अलग भी कहते है। मगर पूरक-रेचकको जुदा गिना देनेके वाद प्राणायामके मानी है केवल कुम्भक। इसी प्रकार सभी यज्ञोके वारेमे जानना होगा। "सर्वेऽप्येते यज्ञविद" (४।३०)मे विदका अर्थ ज्ञान नही, किन्तु लाभ है। अत यज्ञविद का अर्थ है यज्ञ करनेवाले।

यहाँ आत्मज्ञानके सिवाय दूसरे यज्ञोके वर्णन करनेका आशय यही है कि जिनकी मनोवृत्ति वहुत ऊँची नही उठ सकी है वह भी धीरे-धीरे उस दशामे पहुँच जाये। इसीलिये सभी क्रियाओमे यज्ञकी भावनाका

उपदेश है। "यत्करोषि" (६।२७-२८)में जिस प्रकार सभी क्रियाओंमें भगवानकी पूजा या भेंटकी भावनाका उपदेश किया गया है, ठीक वही बात यहाँ है। भगवानकी भेंटकी ओर स्वभावत लोगोका खयाल जा सकता है। इसलिये वह एक आसान उपाय है। मगर जो लोग भगवानको नही मानते या उतनी दूर नही जा सकते—क्योंकि यह भावना आसान नही है—उन्हें यज्ञकी भावनाके द्वारा तैयार करनेका यह रास्ता है। आखिर यज्ञ, सैक्रिफाइस (Sacrifice) या कुर्बानी तो सभी धर्म-मजहबोकी चीज है। समाजहितकी दृष्टिसे तो धर्म न माननेवालोंके लिये भी मान्य है। इसीलिये इस सुगम और व्यापक मार्गका उपदेश यहाँ किया है। इसका परिणाम यह होगा कि पदार्थोंको भोगते हुए भी अलग-अलग खाना, सोना आदि बुद्धि या भावना न करके सर्वत्र यज्ञकी ही बुद्धि करते रहनेसे मनकी एकाग्रता हो जायगी। फिर तो उसे यज्ञसे मोडके आत्मामे लगाना अगला ही कदम होगा। "यथाभिमतध्यानाद्वा" (योग० १।३९)में पतजलिने यही माना है। यही सबसे आसान मार्ग है भी।

इसीलिये "कर्मजान्विद्धितान्सर्वानेव ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे"में जो कहा है कि इन यज्ञोको कर्मोंसे ही होनेवाले माननेसे ही मुक्ति या कर्मोंसे छुटकारा होगा, उसका भी अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। यज्ञोको कर्मजन्य जाननेसे छूटकारेका मतलब यही है कि अलग-अलग कर्मोकी भावना तो रही ही नही। अब तो सभी कर्म यज्ञ बन गये। फिर तो करनेवाले का यह खयाल होगा ही नही कि हम खाते-पीते है, खेती करते है आदि-आदि। किन्तु वह तो बराबर यही समझता रहेगा कि यज्ञ हो रहा है। इस तरह कर्मकी स्वतन्त्रता खत्म हो गई। वे बन गये यज्ञ और यज्ञ बननेका फल अभी बताई गई एकाग्रता ही है। हमने जब यह जान लिया कि कोई और काम तो होता नही कि उसके भले-बुरे फल होगे। यहाँ तो केवल

यज्ञ हो रहा है। तो फिर कर्मोंके फल हमे मिलेगे कैसे ? हाँ, यदि ऐसी भावना न रहती तो भिन्न-भिन्न कर्मोंकी कल्पना करके हम उनके फलोमे फँसते। मगर अब तो यज्ञका ही फल मिलेगा और वह होगी मनकी एकाग्रता। इसीलिये इन कर्मोंसे यज्ञ हो रहा है या इन कर्मोंके रूपमे ही यज्ञ हो रहा है यह ज्ञान कर्मोंसे छुटकारेके लिये आवश्यक है।

एक ही बात और रह जाती है जो इस श्लोकमे आई है। जब यज्ञोके भीतर आत्मज्ञान या ब्रह्मसमाधि भी आ गई, जिसका वर्णन "ब्रह्मार्पण"मे किया है, तो उसे कर्मजन्य कैसे कहा जायगा, यह प्रश्न हो सकता है। परन्तु यहाँ तो साफ ही उस समाधिको उसी श्लोकमे "कर्मसमाधि" कह दिया है। वहाँ तो क्रियामे ही ब्रह्मकी भावना अथसे इतितक है, और अगर कर्म होगा ही नही—क्रिया होगी ही नही—तो यह भावना होगी कैसे ? इसीलिये वह भी कर्मजन्य ही है, इसमे कोई शक नही। इसीसे उसे सभी यज्ञोसे श्रेष्ठ कहा है। २८वे श्लोकवाला ज्ञानयज्ञ यद्यपि व्यापक है और आत्मज्ञानके अलावे बाकियोको ही यहाँ ज्ञानयज्ञ मानना उचित प्रतीत होता है; फिर भी ३३वे श्लोकमे ज्ञानयज्ञ कहने, प्रसगको देखने तथा उत्तरार्द्धमे सिर्फ ज्ञान शब्द होनेसे भी "श्रेयान्द्रव्यमयात्", (४।३३)मे ज्ञान यज्ञशब्दसे केवल आत्मज्ञानका समझा जाना रुक नही सकता। यद्यपि यज्ञोको "यज्ञक्षपितकल्मषा"के द्वारा पवित्र करनेवाले कहा है, तथापि "नहि ज्ञानेन सदृश पवित्रमिह विद्यते" (४।३८)मे ज्ञानको जो सबसे बढके पवित्र करनेवाला कहा है उससे भी उसकी यज्ञरूपता सिद्ध हो जाती है। यह ज्ञान अद्वैत आत्माका ज्ञान ही है यह बात "ये न भूतान्य-शेषेण" (४।३५) श्लोकसे स्पष्ट हो जाती है। क्योकि जब आत्मा और ब्रह्म एक ही होगे तभी तो सभी पदार्थ आत्मामे और ब्रह्मे भी नजर आयेगे।

इस प्रकार ३५वे श्लोक तक कर्मको अकर्म कर देनेकी बात कह दी

गई और विकर्मको ही अकर्म बन जानेकी भी। ३६वेंमें भी विकर्मको ही अकर्म बना दिया है। क्योंकि वृजिन या पापका प्रश्न तो विकर्ममें ही होता है, सुकर्म या कर्म-त्यागमें नहीं। यह ठीक है कि यहाँ समस्त वृजिन कहनेसे जब पापका समुद्र लेंगे—सभी पाप लेंगे—तो सचित और पुराने पाप भी आई जायेंगे। मगर इससे क्या? यह तो और भी सुन्दर हुआ कि भूत और भविष्य कालके विकर्म भी अकर्म बन गये और इस सिद्धान्तकी व्यापकता हो गई। इसी तरह ३७वें श्लोकमें ईंधनोका दृष्टान्त देकर कर्म समूहके जला देनेकी जो बात कही गई है उससे भी यह सिद्ध हो जाता है कि ज्ञानसे न सिर्फ वर्त्तमान कर्म अकर्म बन जाते हैं। किन्तु भूत और भावी कर्म भी, और इस तरह कर्मके अकर्म बन जानेका भी सिद्धान्त व्यापक बन जाता है।

रह गई अकर्म या विकर्मके कर्म बन जानेकी बात। सो तो बडी मोटी है। इसमे ज्यादा कहनेकी जरूरत है नही। "कर्मेन्द्रियाणि सयम्य" (३।६-७) आदि श्लोकोमें ही यह बात साफ-साफ कह भी दी गई है। उससे बढके सफाईके साथ और क्या कहा जा सकता है? इसी प्रकार कर्ममे विकर्म या विकर्ममे कर्मकी भी बात है। वह धर्मशास्त्रोमें भी पाई जाती है और ज्ञानकी अपेक्षा नही करती। असलमें आत्मज्ञानके फल-स्वरूप जो परिवर्त्तन कर्म या अकर्ममे होता है, उसीका निरूपण यहाँ है, न कि और कोई। जो चीजें परिस्थितिके ही करते बदल जाती हैं, न कि ज्ञान-के करने, उनका तारलुक दरअसल गीतासे है नही। इसीलिये गीताने या तो तीसरे अध्यायकी तरह प्रसगवश उनके बारेमें कुछ कह दिया है या छोड दिया है। क्योंकि उनकी बखूबी जानकारी स्मृतियोंसे और अन्य-ग्रथोंसे भी हो सकती है। कर्मयोगका मूलाधार आत्मज्ञान होनेके कारण और इस अध्यायमें ज्ञानका प्रसग होनेके कारण भी ज्ञानसे होनेवाली कर्म-अकर्मकी बातें ही यहाँ कही गई हैं।

सिर्फ ३४वे श्लोककी एक वात रह जाती है। ज्ञानकी प्राप्तिके लिये तत्त्वदर्शी गुरुके पास जाके पहले तो उसके सामने नम्रतापूर्वक आत्म-समर्पण करना होगा। उसके बाद यथाशक्ति सेवा करना जरूरी है। जब नम्रता और सेवासे गुरु महाराज सतुष्ट दीखे तभी मौका पाके आत्मा-परमात्माके वारेमे प्रश्न करना उचित है। यही गीताने माना है। अर्जुन-ने यही किया भी था। ऐसा नही कि चट पहुँचे और पट प्रश्न ही कर दिया। फिर सूखे काठकी तरह तने पडे रहे। जो आत्मज्ञानी और मस्त होगा वह इस पर कभी आँख भी न फेरेगा। प्रश्नका उत्तर देना और समझाना-बुझाना तो दूर रहा। किसी मस्तसे, जो बडे-वडे मिट्टीके ढेलोके बीच पडा रहता था, जब किसी महाराजाने तर्स खाके पूछा कि कहिये कैसी कटती है तो उसने चट उत्तर दिया कि कुछ देर तो तेरी जैसी और कुछ देर तुझसे अच्छी! राजाने समझा था कि ढेलोमे कष्ट होता होगा। मगर यहाँ तो उलटी वात सुननेको मिली! असलमे नीदके समय तो ढेला, काँटा या पलगका पता नही रहता। इसीलिये सभीकी बराबर कटती है। हाँ, जगने पर मस्त तो मस्त ही झूमते हैं। मगर राजे-महा-राजे हजार चिन्तामे मरते है। यही वजह है कि मस्तरामकी उस समय अच्छी कटती है। फिर वे किसीकी पर्वा क्यो करने लगे?

"यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोह" (४।३५) श्लोक महत्त्वपूर्ण है। आत्मज्ञान-की वात यो तो पहले भी वारवार २,३,४ अध्यायोमे आई है। उसके प्राप्त होने पर आत्मज्ञानी योगी या मस्तरामकी क्या दशा होती है यह वात भी कितनी ही वार कितनेही ढगसे कही गई है। मगर अभी तक यह कही नहीं वताया गया कि उस ज्ञानका रूप कैसा होता है। यह एक वुनियादी और मौलिक वात है जो अव तक छूटी है। ज्ञानका एक यह जवर्दस्त पहलू है जिस पर प्रकाश पडना जरूरी था। यह वात इसी श्लोकमे पहले-पहल आई है। यही कारण है कि इस अध्यायके अन्तमे जो समाप्ति-

सूचक वाक्य "इतिश्री" आदि है उसमें इस अध्यायको, इसमें प्रतिपादित मुख्य विषयके कारण ही, "ज्ञान-कर्म-सन्यास-योग" नाम दिया गया है। कर्म-सन्यासकी बात भी इस अध्यायमे आई है यह तो पहले ही कहा है मगर आगे "योगसन्यस्तकर्माण" (४।४१) में साफ ही कर्म-सन्यास आया है न कि अकर्म शब्दके अर्थके रूपमें अप्रत्यक्ष रूपसे आया है। अध्यायके अन्तमें यह सन्यास और इसीके बाद ४२वेंमें "योगमातिष्ठ"के द्वारा कर्मका करना कहके अध्यायको खत्म किया है। इसीलिये आगे अर्जुनको शका करनेका मौका फौरन ही मिल गया है। यह भी कितना अच्छा है कि पहले ज्ञान और पीछे कर्म सन्यास आया है। फलत "ज्ञान-कर्म-सन्यास-योग" नाम देना उचित हो गया।

हाँ, तो उस ज्ञानको जरा देखा जाय। यह तो पहले ही कह चुके है कि इस श्लोकमें अद्वैत ज्ञानका ही प्रतिपादन है। मगर अद्वैतके मानी केवल यही नही है कि जीव और ईश्वर या आत्मा और परमात्माकी एकता है, जैसा कि कह चुके है। यह एकता तो हुई। इसके बिना तो यह सभव होई नही सकता कि सभी भूतो या सत्ताधारी पदार्थोंको—सारे ससारको—आत्मामे और परमात्मामे—दोनोमें ही—देखा जा सके। अगर दोनो दो होते तो यह कैसे सभव था कि जो चीजे आत्मामें दीखती वही एक एक करके परमात्मामें भी नजर आती? दो पृथक् पदार्थोंमे ऐसा होना, ऐसा देखा जाना असभव है। असलमें दोनो एक ही है। मगर मोह, भ्रम या अज्ञानकी भूलभुलैयाँ के चलते अलग-अलग—भिन्न-भिन्न—माने जाते है। किन्तु आत्माका साक्षात्कार होते ही यह ज्ञानी मस्त होके भीतर ही भीतर अपनी पुरानी नादानी पर और दुनियाँकी भी मूर्खता पर हँसता है कि देखिये न, हम इन्हे दो मानते थे! हालाँकि दोनो एकही है! उफ, ऐसी अन्धेर कि एकको दो कर दिया! सो भी ऐसे दो, कि एक दूसरेमें जमीन आसमानका फर्क! क्या गजब है! इसीके साथ

वह सारे ससारके पदार्थोंको अपने ही भीतर—अपनी आत्मामें—अपने आपमें—एक एक करके सिनेमाके चित्रोकी तरह साफ साफ चलते फिरते और काम करते देखता है। उन्हे परमात्मामे भी देखता है। वह तो प्रत्यक्ष ही देखता और मानता है कि मै ही परमात्मा हूँ और मुझीमे यह सारी दुनिया है। ससारके पदार्थोंके रगरगमे अपने परमात्माको—अपने आपको—ओत प्रोत एव विधा हुआ देखके वह आश्चर्य एव आनन्दमे मस्त हो जाता है। यही दशा होने पर ही तो वामदेव बोल उठे कि मै ही, मनु, सूर्य, और सभी कुछ हूँ। यह श्लोक अर्जुनसे कहता है कि ज्ञान होने पर तुम्हारी भी यही हालत हो जायगी, याद रखो। फलत जब तक ऐसी मस्तीकी दशा न आ जाये उसके लिये निरन्तर यत्न करना ही होगा।

लेकिन यह अद्वैत तो तभी पूर्ण और सच्चा होगा जब आत्मा-परमात्माकी एकताके अनुभवके साथ ही यह भी दीखने लगे कि यह जगत्, इस जगत्के सभी पदार्थ हमसे—आत्मासे—पृथक नही है। तभी वास्तविक अद्वैत ज्ञान होगा। यह बात भी इस श्लोकमें है। 'अशेषेण भूतानि' कहनेसे सत्ताधारी हरेक भौतिक पदार्थके बारेमे ऐसा देखनेकी बात साफ हो जाती है। मगर यह कैसे सभव है जब तक आत्माके अलावे अन्य पदार्थोंकी स्वतत्र, जुदी सत्ताका अभाव न माना जाय—उनके पृथक् अस्तित्वका अभाव न माना जाय? सोनेके कडे कगन आदिको देखके कोई भी अनुभव कर सकता है कि इनमे सर्वत्र सोना ही सोना है, ये चीजे सोनेमे ही है, सोनेसे अलग नही है। इसी प्रकार मिट्टीके अनेक वर्तनोके बारेमें भी मिट्टी ही मिट्टीका अनुभव करके कह सकता है कि ये सभी पात्र मिट्टीमें ही है, मिट्टीमय है, मिट्टीसे जुदे नही है। लेकिन यह कभी नही हो सकता कि इन वर्तनोके बारेमे कहा जाय कि ये सोनेमे ही है सोनेसे अलग नही है। या कगन, कडे आदिके बारेमे कहा जाय कि ये मिट्टी ही है, मिट्टीसे अलग नही है। क्योंकि इन दोनोमे—सोने और मिट्टीमे—कोई मेल है

नही। दोनोकी मौलिक विभिन्नता है। मगर श्लोकमें जो अनुभव बताया गया है वह तो ठीक इसी तरहका है, इसी प्रकारका होना चाहिये कि ये सभी पदार्थ आत्मामें ही हैं, आत्मासे अलग नही है।

यहाँ दिक्कत यह पडती है कि ससारमे असख्य आत्माये है और उनकी चैतन्य शक्तिकी समानताको देखते हुए यदि किसी प्रकार कहा जा सके भी कि ये सभी आत्माये मुझमें ही है, मुझसे जुदी नही है; या जब आत्मा-परमात्माकी एकता है तो आत्मा-आत्माकी एकता भी अर्थ सिद्ध है; इसलिये एकताके खयालसे अगर ठीक ही कह सके कि सभी आत्मायें मुझसे जुदी नही है। तो भी जो अचेतन भौतिक पदार्थ है उन्हें कैसे कहें कि ये मेरी आत्मासे—मुझसे—अलग नही है ? किन्तु "भूतानि अशेषेण" कहनेसे तो वे भी आते ही है। भूत कहनेसे ही आत्माके सिवाय शरीरादि सभी आ जाते है। जब अशेषेण कह दिया तब तो कोई छूटी नही सकता। इसलिये उनकी भी तन्मयताका ज्ञान आत्माको, हमें होना ही चाहिये। हाँ, एक ही बात हो सकती है। जैसे सपनेमें देखे पदार्थोंके बारेमें जगने पर अनुभव होता है कि मुझसे अलग या मेरे अलावे और कोई चीज जो दीखती थी, कहाँ थी ? वहाँ सपनेमे भी सब कुछ मैं ही था, मेरे अलावे और तो कुछ था नही। या जैसे रस्सीमे भ्रमसे माने गये साँप के बारेमें उजालेमे यही अनुभव होता है कि यह तो रस्सी ही है, यही साँप मालूम पडती थी, इसके अलावे कोई साँपवाँप तो है नही। ठीक यही बात ससारके बारेमे भी हो कि मुझसे अलग कहाँ कोई चीज है ? मैं ही तो सर्वत्र हूँ, सबमे हूँ। मेरे अलावे तो और कुछ हई नही। तभी श्लोकका अर्थ ठीक-ठीक जँचेगा। तभी वास्तविक अद्वैतवाद भी सिद्ध होगा।

**न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।**
**तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ॥३८॥**

क्योकि (वस्तुत ) इस दुनियामें ज्ञानसे बढके पवित्र—शुद्ध करने-

वाली—चीज दूसरी हुई नही। कर्मोके फलस्वरूप जिसका अन्त करण—मन—शुद्ध हो गया है वही इसे समय पाके अपनेमे ही हासिल कर लेता है। (वाहर जाने या ढूँढनेकी जरूरत नही होती) ।३८।

जो समझते है कि मनकी शुद्धि और स्थिरताके वाद फौरन ही ज्ञान हो जायगा, उन्हीके लिये यहाँ 'कालेन'—समय पाके—कहा गया है। इसे प्राप्त करनेमे समय लगता है, देर होती है। क्योकि भावना, निदिध्यासन और समाधिकी जरूरत जो होती है और उसमे काफी समय लगता है। इसी वातका स्पष्टीकरण अगले दो श्लोक करते है। 'आत्मनि'—आत्मामे—कहनेका अभिप्राय यही है कि आत्माका ही तो ज्ञान होना है और उसीमे तो जगत्को देखना है, भीतर ही ढूँढना है। तीर्थमे या कही और तो जाना-वाना है नही।

**श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।**
**ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥३९॥**

जो श्रद्धावाला है, जिसने अपनी इन्द्रियोको वखूवी कावूमे कर लिया है और जो इस वातमे दिन-रात मुस्तैद है, उसीको ज्ञान होता है। ज्ञान हो जाने पर अखड शातिका अनुभव फौरन ही होने लगता है ।३९।

**अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।**
**नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ॥४०॥**

(विपरीत इसके) जो कुछ जानता ही नही, जिसे श्रद्धा भी नही है और जिसके मनमे सशयने घर कर लिया है वह चौपट ही हो जाता है। (क्योकि) हर वातमे शक करनेवालेका न तो यही काम चल सकता है और न परलोकमे ही। उसे चैन तो कभी मिलता ही नही ।४०।

यहाँ अज्ञ कहनेका अभिप्राय यही है कि आत्मज्ञानके उपायोके वारेमे भी कुछ न जानता हो। इसीलिये न तो उसका इन्द्रियो पर कावू ही हो और न मुस्तैदी ही। पहले श्लोककी यही वाते ज्ञानके लिये मूल

रूपेण आवश्यक है और यही उसमें है नही। वह कोरा ही है, यही तात्पर्य है। श्रद्धा हृदयकी चीज है। केवल तर्क-दलीलो पर ही निर्भर न करके विश्वास करना ही पडता है। तभी ज्ञान होता है। मगर जो श्रद्धालु नही है, उनका हृदय नीरस होता है। फलत केवल दिमागी तर्कोंसे ही वे निश्चय करना चाहते हैं। परिणाम यह होता है कि बात-बातमें शक करते रहते है। क्योकि "तर्कोऽप्रतिष्ठ"के अनुसार तर्कतो कही जाके स्थिर हो नही सकता। वह तो पहरेदार सिपाही है और वह पहरेदार सिपाही क्या जो बराबर चलता न रहे और स्थिर या खडा हो जाय? और जब कही किसी बात पर स्थिरता नही, निश्चय नही, तो सर्वत्र सशयका एकच्छत्र राज्य समझिये। फिर तो मौत ही मौत है। क्योकि खान-पान आदिमे भी सशय हो सकता है कि पाचकने जहर तो नही दे दिया है, बाजारसे मँगाई चीजोमें ही किसी शत्रुने विष तो नही मिला दिया है, आदि आदि। इसीलिये इस दुनियाका काम ही जब नही चल पाता तो ऐसे लोगोका परलोक क्या बनेगा खाक?

**योगसन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।**
**आत्मवन्त न कर्माणि निबध्नन्ति धनंजय ॥४१॥**

हे धनजय, जिसने कर्म करते-करते अन्तमे उसके सन्यासकी दशा प्राप्त कर ली है, जिसने आत्मज्ञानके बलसे सशय को खत्म कर दिया है (और इसीलिये) जिसने आत्माको पा लिया है कर्म उसे बन्धनमें डाल नही सकते।४१।

यहाँ 'आत्मवन्त' कहनेका अभिप्राय यही है कि वह आत्मावाला हो गया है, यानी जो आत्मा खोई थी उसे प्राप्त कर लिया है। उसका प्राप्त करना तो उसे जान लेना ही है। इसीलिये इसके पहले 'ज्ञानसछिन्न-सशय' कहा है। सशयकी अँधियालीमें ही तो आत्मा लापता थी और यह सशय पैदा हुआ था अज्ञानसे, जैसा कि आगे लिखा है। अब ज्ञानके

दीपकने उसीको मिटा दिया। मगर ज्ञानको पक्का और दृढ होनेके लिये समाधिकी जरूरत है। उसके बिना वह मजबूत होई नही सकता। किन्तु कर्मोंको करते रहने पर समाधिके लिये फुर्सत कहाँ ? इसीलिये कर्मोंका सन्यास भी बता दिया है। किन्तु यह सन्यास मिथ्याचार और दभ न हो, नकली न हो, इसीलिये कह दिया कि कर्मोंके करते-करते अन्त - करणकी शुद्धि हो जाने पर जब सन्यासकी योग्यता हो जाय और उसका अवसर आ जाय तभी सन्यास करना ठीक है। यहाँ और आगे योगका अर्थ है कर्म।

**तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।**
**छित्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत ॥४२॥**

इसलिये हे भारत, अज्ञानसे पैदा होनेवाले (और) हृदयमे ही घर बनाके जमनेवाले इस सशय (रूपी प्रचड शत्रु)को आत्माके ज्ञानरूपी तलवारसे कत्ल करके उठ खडे हो (और युद्धात्मक) कर्म करो।४२।

यहाँ ज्ञानको तलवार कहनेका आशय यही है कि जैसे तीखी तलवार-से ही जबर्दस्त शत्रुको मार सकते है, कमजोर या भोथी तलवारसे कोशिश करने पर उलटे खतरा रहता है। वैसे ही ज्ञान खूब दृढ और शक-शुभेसे बिल्कुल ही अछूता जब तक न हो जाय इस अज्ञानका और तन्मूलक सशय-का भी खात्मा होता ही नही। इसीलिये दीर्घकाल तक यत्न करके पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना निहायत जरूरी है। उपनिषदोकी आख्यायिकाये इस बातके प्रबल प्रमाण है कि कच्चे ज्ञानवालेका सशय उसे कैसे परीशान करता है।

**इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सुब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे ज्ञानकर्मसंन्यासयोगो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥४॥**

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमे उपनिषद् रूपी ब्रह्मज्ञान प्रतिपादक योग-शास्त्रमे जो श्री कृष्ण और अर्जुनका सम्वाद है उसका ज्ञान-कर्म-सन्यास-योग नामक चौथा अध्याय यही है।

# पाँचवाँ अध्याय

चौथे अध्यायमे जो कुछ भी कहा गया है वह अर्जुनके और दूसरोंके भी बडे ही कामका है। इसमे शककी जगह नही है। अर्जुन चुपचाप ध्यानपूर्वक इसीलिये सुनता भी रहा। कर्म-अकर्मके विशद निरूपण और ज्ञानके स्वरूपके प्रतिपादनने उसे मुग्ध कर दिया था। अन्तमें जो यह कहा गया है कि कर्मोंके करते-करते सन्यास प्राप्त कर लेने पर ही ज्ञान होता, आत्माकी प्राप्ति होती और कर्मोंके बन्धनसे छुटकारा मिल जाता है, उससे भी उसे पूरा सन्तोष हुआ। फलत भीतर ही भीतर अपने तात्कालिक कर्त्तव्यकी उधेडबुन वह करने ही लगा था कि एकाएक निराली बात अध्यायके आखिरी श्लोकमें कह दी गई। उसे तो यह देखना था कि मै किस दशामें हूँ। आया मुझे अभी कर्म ही करना चाहिये, या अब मेरी योग्यता ऐसी हो गई है कि सन्यास ले लूँ। क्योकि उपदेश सुननेके बाद उसे सोचना-विचारना और परिस्थितिके अनुसार ही काम करना था। वह इसी उधेडबुनमें लगा भी था। तब तक चटपट आज्ञा हुई कि खडे हो जाओ और युद्धात्मक कर्ममें जुट जाओ।

इससे उसके मनमें खलबली मचना और सन्देह होना जरूरी था। क्योकि कृष्ण को क्या पता कि वह किस दशामें है, उसकी योग्यता क्या है? उसका पता तो आत्मनिरीक्षणके बाद अर्जुनको ही लग सकता था। निरीक्षणकी कसौटी भी उसे चौथे अध्यायमे मिली ही थी। फिर कृष्णको यह कहनेकी क्या जरूरत थी कि तुम्हे तो कर्म ही करना है, न कि सन्यास लेना? तब तो उपदेशकी कोई जरूरत थी ही नही। किन्तु सीधे आज्ञा देनी थी, फौजी फर्मान जारी कर देना था कि लडना होगा। मगर जब

उपदेश हो रहा है और तर्क-दलीलके साथ बारबार कहा जा रहा है कि जानो, समझो, सोचो, विचारो, 'बोद्धव्यम्, विद्धि', तब यह क्यो हुआ ? तब यह आज्ञा कैसी कि लडो ? तब तो यह उपदेशका नाटक ही माना जायगा न ? कमसे कम इस प्रकारका खयाल उसके दिमागमे बिजलीकी तरह एकाएक दौड जाना स्वाभाविक था। फलत कृष्णसे उसका चटपट प्रश्न करना जरूरी हो गया कि एक ही साँसमे दोनो बाते क्यो कहते है ? या तो कर्म ही कहिये और बात खत्म कीजिये; या सन्यासकी ही बात कहिये और सोचने दीजिये कि आया मै उसका अभी अधिकारी हो पाया हूँ या नही। यह झमेला ठीक नही। साफसाफ बोलिये। इसीलिये—

## अर्जुन उवाच

**संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगं च शंससि।**
**यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम् ॥१॥**

अर्जुनने पूछा—हे कृष्ण, आप (पहिले तो) कर्मोके सन्यासकी बात कहते है और (फौरन ही) उन्हे करनेको कहते है ! (यह क्या ?) इन दोनोमे जो अच्छा हो वही मुझे पक्का-पक्की बताइये।१।

यहाँ 'कर्मणा' इस षष्ठी विभक्तिके बाद सन्यास' और 'योग' लिखनेसे स्पष्ट हो जाता है कि सन्यास कहते है कर्मोके त्यागको और योग कहते है उनके करनेको। इसीलिये हमने 'कर्मेन्द्रियै कर्मयोग' (३।७) आदिमे 'करना' यही अर्थ किया है। यही वहाँ जँचता भी है। ऐसी दशामे यहाँ, चौथे अध्यायके अन्तमे या ऐसी ही और जगहोमें भी योगका दूसरे अध्यायवाला कर्मयोग अर्थ जो लोग कर डालते है, फिर भी अपने अर्थमे खीचातानी देख पाते नही, उनसे हमे इतना ही अर्ज करना है कि खीचतान किसीकी मौरूसी नही है। इसलिये वे खुद अपने बारेमे ही सोचनेका कष्ट करे।

अर्जुनके पूछनेका यह भी अभिप्राय है कि यदि ज्ञानके लिये सन्यास जरूरी न हो और कर्म से ही काम चलता हो, तो साफ-साफ कहते क्यो नही ? आखिर आत्मज्ञान तो आवश्यक है। उसके बिना तो काम चलनेका नही। अब अगर उसके लिये खामखा सन्यास जरूरी न हो, तो यही बात साफसाफ कह दीजिये। क्योकि अबतकके कथनसे तो पता चलता है कि दोनोकी जरूरत है। मैंने समझी है भी दोनोकी जरूरत समानरूपसे ही। इसीलिये किसीको भी अपने मौके पर छोडा नही जा सकता। दोनोके ही अलग-अलग मौके आते भी है। लेकिन अगर आप ऐसा मानते हो कि मेरी समझ गलत है और दोनोकी जरूरत समान नही है, किन्तु कर्मकी ही आवश्यकता अनिवार्य है, इसलिये वही हर हालतमें अच्छा है—कर्तव्य है, तो यही बात निश्चित रूपसे साफ-साफ कह दीजिये। या अगर आप यह मानते हो कि जरूरत तो दोनोकी एक सी ही है, दोनोंके ही अपने अपने अवसर भी आते है, फिर भी कर्मकी विशेषता इसलिये है कि वही पहली सीढी है, फलत उसपर पाँव दिये बिना सन्यासकी दूसरी सीढी पर या तो पहुँची नही सकते या पहुँचनेमें खतरा है, साथ ही, कर्मोंके करनेमें दिक्कतें और परीशानियाँ जो होती है, उन्हीके करते लोग जी चुराके उनसे भागना चाहते है, यही कारण है कि कर्म पर जितना जोर देना जरूरी हो जाता है उतना सन्यास पर नही, यही नही, कर्म पर ही जोर देने और उसीको अच्छा बताने पर जब लोग उसमें पड जायेंगे तो सन्यासका मौका तो स्वय आई जायगा और उसे लोग करी लेंगे, तो यही बात स्पष्टतया कह दीजिये।

कृष्ण खासतौरसे इसी आखिरी अभिप्रायसे ही बातें कर रहे थे। उनके कहनेका आशय भी यही था। इसीलिये उसीको स्पष्ट करनेके लिये पुनरपि—

श्रीभगवानुवाच

**सन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ ।**
**तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते ॥२॥**

श्रीभगवानने उत्तर दिया—(बेशक), कर्मोका सन्यास और उनका करना (ये दोनो ही) परम कल्याण—मोक्ष—के देनेवाले है। लेकिन इनमे सन्यासमे योग—कर्मोका करना—ही अच्छा है।२।

**ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न कांक्षति ।**
**निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते ॥३॥**

हे महाबाहु, उसीको सदा सन्यासी मानना चाहिये जिसे न राग है, न द्वेष—जो न कुछ हटाना चाहता है, न कुछ लेना। क्योकि जो (इस प्रकार) राग-द्वेषादि द्वन्द्वोसे रहित है वही आसानीसे बन्धनोसे छुटकारा पा जाता है।३।

**साख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः ।**
**एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥४॥**

साख्य—सन्यास (और) योगको—दोनोको—दो चीजे ना समझ लोग (ही) मानते है। (क्योकि) यदि एक पर भी अच्छी तरह कायम रहे तो दोनोका फल मिली जाता है।४।

**यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।**
**एक साख्य च योग च यः पश्यति स पश्यति ॥५॥**

जो स्थान सन्याससे मिलता है वही योगसे भी। (इसलिये इस तरह) सन्याम तथा योगको जो एक ही समझता है (दरअसल) वही समझदार है।५।

**संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः ।**
**योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति ॥६॥**

हे महावाहु, विना योगके सन्यासकी सिद्धि—प्राप्ति—असभव है। (विपरीत इसके) जो योगयुक्त है अर्थात् कर्म करता है उसे सन्यास-की प्राप्ति शीघ्र ही होती है।६।

आगे वढनेके पहले इन पाँच श्लोकोके सम्वन्धमे कुछ वातें क देना जरूरी है। एक तो यह कि दूसरे श्लोकमे जो कुछ कहा गया है उस आशय वही है जो उससे पहले हमने अर्जुनके प्रश्नके अभिप्रायके विवेचनके सिलसिलेमे आखिरमे कह दिया है। कर्मके खतरोको ध्यानमे रखके ही उस पर जोर देना कृष्ण जरूरी समझते है। उनके जानते वास्तविक सन्यासमें कोई खतरा है नही और कच्चे सन्यासको रोकनेके लिये कर्मों पर ही जोर देना जरूरी हो जाता है। मगर सर्व साधारणके सामने हर वात इतनी सफाईके साथ कही तो जा सकती नही। क्योकि सव लोग इसे समझ पाते नही और भटक जाते है। इसीलिये यही वाते दूसरे तरीकेसे कही जाती है जिन्हे वेदवाद या अर्थवादका तरीका गीताने भी माना है और पुराने लोगोने भी। कृष्णने भी यही तरीका यहाँ अपनाया है।

असलमें सन्यासकी सीढी कर्मोके वाद आनेके कारण ऊँची तो हुई। उसकी जवावदेही भी वडी है। इसीलिये शास्त्रोने उसकी प्रशसा काफी की है। मगर दिक्कत यह होती है कि जन-साधारण प्रशसाके कारणो और रहस्योको न समझ सकनेके कारण उसके वाहरी रूप पर ही लट्टू होके उसी ओर झुक पडते है। फलत कर्मोसे हटनेका खतरा वरावर रहता है। इसीलिये तीसरे श्लोकमे यह दिखाया गया है कि असली सन्यासी वही है जो रागद्वेष एव काम-क्रोधसे शून्य हो, जिसमें वैर-विरोध आदि होई नहीं। उसे ही मुक्ति मिलती भी है। अव यदि यही काम-क्रोधादिका त्याग कर्म करनेवालेमे आ जाय तो उसके तो दोनो ही हाथमें लड्डू है। वह योगीका योगी—कर्मी—तो ठहरा ही। साथ ही, यदि देखा जाय तो सन्यासी भी हो गया और इस तरह उसने मुक्तिका रास्ता

साफ कर लिया। इससे फायदा यह होता है कि एक तो पाखड और मिथ्याचारके रूपमे सन्यासको प्रश्रय नही मिलता। दूसरे जन-साधारण उससे हिचक जाते और सोचने लगते है कि तब तो कर्म ही अच्छा है। क्योकि हम कामक्रोधादिसे शून्य तो हो सकते नही और इसमे ऐसा होना जरूरी भी नही है, जब कि सन्यासमे नितान्त आवश्यक है। इसलिये आइये, कर्म ही करे, और यथासभव कामक्रोधादिको भी रोके, ताकि आगेका भी रास्ता धीरे-धीरे साफ होता चले।

एक बात और भी है। यदि यह निश्चय हो कि सन्यास और योगके फल-स्वरूप जो स्थान या पद मिलते है, या मुक्ति होती है वह दो चीजे है, तो स्वभावत खयाल होगा कि सन्यासके ऊँचे दर्जेकी चीज होनेके कारण उसके फल-स्वरूप जिस वस्तुकी प्राप्ति होगी वह अवश्य ही श्रेष्ठ होगी, और श्रेष्ठ पदार्थ कौन नही चाहता ? इसलिये उसीकी आतुरता और लोभके चलते बहुत लोग फिर भी सन्यास पर जोर मार सकते है और असमय ही उस ओर पाँव बढा दे सकते है। अतएव यह बतानेकी जरूरत है कि दोनोके दो फल न होके दोनोका सम्मिलित फल एक ही है। चाहे सन्यासी हो या कर्मी हो, या आगे-पीछे दोनो ही हो, जायँगे हरहालतमे एक ही स्थान पर। एक ही स्थानके रास्तेके ये दो विभाग है, न कि और कुछ। ऐसी दशामे एक तो बेचैनी और लोभ जाता रहेगा। दूसरे यह खयाल होगा कि जब रास्तेको पूरा ही करना है और पहले भागके पूरा करने पर ही दूसरा आयेगा तो जल्दबाजी क्यो करे ? ऐसा करनेसे मिलेगा भी क्या ? यही बात आगेके दो—४,५—श्लोकोमे स्पष्ट की गई है।

कुछ लोगोको भ्रम हो सकता है और हो भी गया है कि श्लोकोके अनुसार यद्यपि फल है एक ही; तथापि दोनो मार्ग उसकी प्राप्तिके लिये स्वतन्त्र है, न कि एक ही लम्बे मार्गके ये दो पडाव है। मगर बात ऐसी नही है। चौथे श्लोकके पूर्वार्द्धके देखनेसे यह खयाल जरूर हो जाता है

कि दोनो—सन्यास और योग—को जो एक कहा है वह इसीलिये
इन दोनो स्वतत्र मार्गोसे एक ही जगह पहुँचते है। मगर जब उसीके
उत्तरार्द्ध पर गौर करते है तो यह खयाल मिट जाता है और दोनो मिलाके
एक ही रास्ता पूरा होता दीखता है। उत्तरार्द्धका अर्थ यह है कि "यदि
एक रास्ते पर भी ठीक-ठीक चले तो भी दोनोंके फल मिल जाते है।"
इसमें दो बाते है। पहली है दोनोके फलके मिलनेकी। यदि दोनोका
फल स्वतत्र रूपसे एक ही होता तो इतना ही कहना काफी था कि "वही
फल मिलेगा"—"तदेव विन्दते फलम्।" यह कहनेकी क्या जरूरत
कि एक पर चलने पर भी दोनोका फल मिलता है? दोनो कहनेसे तो
दोनोका सम्मिलित फल मिलता है, यही अर्थ निकलता है। एक कहनेके
बाद दोनोका—उभयो—कहने पर दूसरा अर्थ होई नही सकता। नही
तो इतना ही कहना पर्याप्त था कि चाहे किसी रास्ते पर चलिये नतीजा
एक ही होगा।

लेकिन "एक पर भी ठीक-ठीक चले"—"एकमप्यास्थित सम्यक्"
यह भाग तो और भी सफाई कर देता है। इसमें जो 'ठीक-ठीक' विशेषण
लगा है वह यही बताता है कि रास्तेकी पाबन्दी अच्छी तरह होना जरूरी
है। जल्दबाजीमें एक रास्तेको छोडके दूसरे पर जानेमे खतरा है। यह
तो सभव नही कि तीसरा भी रास्ता हो जिसमे भटक जायें और दोमें
एक पर भी चल न सकें। क्योकि जब दोईका नाम लेते है और तीसरेकी
चर्चा भी नही करते तब उसका प्रश्न आता ही कहाँ है? और जब तीसरा
यहाँ उपस्थित हुई नही तब तो इतना ही कहना काफी है कि एक पर या
किसी पर भी चलने पर वही पहुँचेगे। भटकनेकी बात हुई नही। हो
भी क्यो? जो लोग मोक्षमार्गी है उनके भटकनेकी बात गीता क्यो कहे?
वह तो सारी बाते जानते है। उनने तो जान लिया है कि दो रास्ते है।
जानना शेष यही है कि आया ये दोनो ही एक दूसरेसे स्वतत्र है, या एक ही

रास्तेके दो पडाव और विभाग है। अगर पडावकी बात नही है तो इतना ही कहना काफी था कि चाहे किसी पर भी चलिये वही पहुँचियेगा। ठीक ठीक चलना तो हुई। गलत जानेकी तो बात हुई नही है।

मगर जब 'ठीक-ठीक' या 'सम्यक्' कहा है तो इससे कृष्णका यही आशय जाहिर होता है कि हरेक पडावको पूरा कर लेना होगा। नही तो जल्दबाजी करनेमे रास्ता पूरा न होगा। लक्ष्य स्थान पर पहुँच भी न सकेंगे। अनजान या आतुरतामे कोई जल्दी ही सन्यासी बन जानेकी कोशिश न करे, इसीलिये यह चेतावनी है। क्योकि ऐसा करने पर रास्ते पर ठीक-ठीक चलना नही हो सकेगा। पाँचवे श्लोकमे स्पष्ट भी कर दिया है कि सन्यास और योगसे जब एक ही जगह पहुँचना है तब घबराहटकी क्या बात ? योगमें भी तो रास्ता तय करी रहे है। उसके पूरा होते ही सन्यास वाला पडाव या वह स्थिति भी अपने आप आयेगी ही। तब अधीर क्यो हो ?

अब आखिरी बात यही रह जाती है कि एक ही मार्गके दो पडाव होनेपर भी पहले सन्यास आता है, या योग, कौन कहे ? पहले सन्यास ही क्यो न माना जाय ? ऐसा सोचना असभव नही। असलमे आलस्य और अकर्मण्यताके करते स्वभावत लोग सोचते रहते है कि मुक्ति भी मिल जाय और विशेष कुछ करना न पडे तो अच्छा हो। यह भी खयाल होता है कि जभीतक कर्मोके फन्देसे बचे तभीतक सही। पीछे देखा जायगा। इसीलिये ऐसा खयाल होना जरूरी है कि पहले सन्यास ही क्यो न हो। तीसरे अध्यायके शुरूमें ही यह खयाल दिखाया भी गया है। इसीका उत्तर छठें श्लोकमे दिया है कि सन्यास बादकी चीज है। पहले तो योग ही आता है। इसीलिये योगके बिना सन्यासका होना असभव है। यदि सच्चा सन्यास चाहते है तो पहले योग या कर्म करना आवश्यक है। इसपर तीसरे अध्यायके शुरूमे ही हमने काफी प्रकाश डाला है।

इसीलिये अपने काबूमे हो गया है (और उसके फलस्वरूप) इन्द्रियाँ भी काबूमें हैं वह खुद सभी सत्ताधारी पदार्थोंकी आत्मा ही हो जाता है। (इसीलिये) कर्म करते हुए भी वह उसमे सटता नही।७।

**नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।**

**पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन्गच्छन्स्वपन्श्वसन् ॥८॥**

**प्रलपन्विसृजन्गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।**

**इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् ॥९॥**

(इस प्रकार) पूर्ण अवस्थाको प्राप्त योगी तत्त्वज्ञानी हो जानेपर देखता, सुनता, छूता, सूँघता, खाता, चलता, सोता, साँस लेता, बोलता, मलमूत्र त्यागता, पकड़ता और पलकें मारता हुआ भी यही धारणा रखता है कि यह तो इन्द्रियाँ ही अपने कामोमे लगी है, मै तो कुछ भी करता-कराता हूँ नही।८।९।

**ब्रह्मण्याधाय कर्माणि संगं त्यक्त्वा करोति यः।**

**लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवांभसा ॥१०॥**

(लेकिन जो इस तरह पहुँचा हुआ न भी हो ऐसा भी) जो कोई भगवानको समर्पण करके और हाय-हाय तथा आसक्ति छोडके कर्मोंको करता है वह (भी) पापसे वैसे ही नही सटता जैसे कमलका पत्ता पानीमे रहके भी पानीसे नही सटता।१०।

**कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।**

**योगिनः कर्म कुर्वन्ति संगं त्यक्त्वात्मशुद्धये ॥११॥**

(क्योकि) कर्म करनेवाले समझदारीसे काम लेके और आसक्ति-एव हाय-तोबाको छोडके मनकी शुद्धिके लिये केवल शरीरसे, केवल इन्द्रियोसे और केवल मनसे कर्म करते रहते है।११।

**युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।**

**अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते ॥१२॥**

(इस तरह) समझदार और मनपर काबू रखनेवाले कर्मोंके फलोंसे नाता तोडके ब्रह्मनिष्ठा—जीवन्मुक्ति—की शान्ति हासिल कर लेते हैं। (विपरीत उनके) जो लोग समझदार और मनको दबानेवाले नही हैं वे फलोमे लिपटके जन्ममरण आदिके वन्वनोमे फँसते हैं ।१२।

ऊपरके तीन—१०-१२—श्लोकोको देखने और एक साथ मिलानेसे स्पष्ट हो जाता है कि इनमें जो वातें कही गई है वह आत्मज्ञानीकी नहीं है। किन्तु सावारण कर्मियोकी ही है, जिन्हें योगी भी कहा है और युक्त भी। यह ठीक है कि वह गीताकी गिनतीमे आनेवाले है, न कि लम्पट। लम्पटोकी तो उलटे १२वें श्लोकके उत्तरार्द्धमें निन्दा की है, उनकी दुर्दशा लिखी है। इसीलिये १०वे श्लोकवाले "ब्रह्मण्याधाय"—"ब्रह्ममे स्थापित करके"का अर्थ हमने "यत्करोषि" (९।२७-२८)के अनुसार भगवानको समर्पण रूप पूजा ही किया है। ज्ञानियोको तो पहले ही कह दिया कि वह कर्मसे अपना ताल्लुक मानते ही नही है। फिर वे क्या उन्हे ब्रह्ममें रखेंगे ? उन्हे कर्मोंसे लिपटनेका सवाल भी कहाँ आता है ? असलमें ये तो वही लोग है जो या तो भगवानकी पूजाकी ही भावनासे कर्म करके मनकी शुद्धि प्राप्त करते है, या सीधे इसी खयालसे कि कर्मसे मन शुद्धि हो। मगर यो तो निराधार कर्म होगा नही। मन शुद्धिके लिये करनेके भी तो कोई मानी नही जवतक कर्मोको कही एक जगह बाँधा या एक ही लक्ष्यमें लगाया न जाय। फिर चाहे वह ईश्वर-पूजा हो, यज्ञ हो, या ऐसी ही और कोई चीज। इसीलिये पहले—१०वें—से मिलाकर ही ११वेंका अर्थ करना जरूरी हो गया है। वारहवेमे भी जो कर्मके फलके त्यागसे ब्रह्मनिष्ठावाली शान्तिकी प्राप्ति कही गई है वह भी क्रमश मनकी शुद्धि आदिके द्वारा ही होती है, न कि सीधे कर्मोंसे ही। क्योकि केवल फलके त्यागनेपर भी कर्म तो रही जाता है, और जबतक दोनो न छूटे वह शान्ति मिलेगी कैसे ? मगर वह तो छूटेंगे ज्ञानके वाद ही और वह प्राप्त

होगा मनकी शुद्धि आदिके द्वारा ही। जब अध्यायके शुरूमें ही सभी प्रकारके कर्मोंकी बात आई है तब तो ऐसे मन शुद्धयर्थ कर्मोका यहाँ निरूपण ठीक ही है।

अब रह जाती है ११वे श्लोकके उत्तरार्द्धकी एकाध बात। एक तो बुद्धिसे कर्म होते नही है। वे तो होते है सिर्फ शरीर या इन्द्रियोसे ही और दोनोका मददगार होनेके कारण मन भी उसी दलमे आ सकता है। मगर अगर बुद्धि या अक्ल ठीक हो, समझदारीसे काम लेके कर्मों या उनके फलोकी हाय-हायको छोड दे और फलोमे भी आसक्ति छोड दे, तो उन कर्मोंसे यज्ञकी पूर्त्ति या भगवानकी पूजाकी भावनाके द्वारा मनकी शुद्धि हो जाती है। फिर तो वे कर्म केवल शरीर, मन या इन्द्रियोके ही रह जाते है। अर्थात् मन उनके करनेमे मददगार होनेपर भी फलमें नही सटता। बुद्धि भी नही चिपकती। ऐसी दशामें सबोकी सम्मिलित चीज वे रहें तो कैसे ? सम्मिलित होनेके लिये तो आसक्ति और हाय-तोबा जरूरी है। "केवलै" कहनेका यही मतलब है। यह "केवलै" विशेषण "कायेन, मनसा"का भी है। हमने ऐसा ही अर्थ लिखा भी है।

अब आगे अध्यायके अन्ततक जो कुछ कहा गया है वह आत्मज्ञानियोके ही कर्मोंके सम्बन्धमे है। उनकी क्या भावना होती है, किस प्रकार सर्वत्र उनकी समदृष्टि होती है, इत्यादि बाते अत्यन्त विशद रूपमे आई है।

**सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।**
**नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन् ॥१३॥**

मन और इन्द्रियोको अपने अधीन रखनेवाला देहका मालिक जीव मनके द्वारा विवेकसे सभी कर्मोका सन्यास करके नौ दरवाजेवाले पुरमे आरामसे रहता है (और) न कुछ करता है, न करवाता है।१३।

जैसे कोई महाराजा या बडा आदमी किसी गढमें रहता है जिसके

दरवाजे होते हैं, वही दशा यहाँ रूपकके रूपमें वताई गई है। शरीर ही वह गढ है। चक्षु, श्रोत्र, नासिकाके छे छिद्र, मुख और मल-मूत्र त्यागके छिद्र यही नौ दरवाजे है। जीवात्मा गढका मालिक है और मन उसका मत्री है। इन्द्रियाँ नौकर-चाकर हैं। वशी कहनेके मानी यही है कि वह सभी नौकर, मत्री आदिपर अकुश रखता और सतर्क रहता है। इसीलिये विवेकसे काम लेके मनसे ही कर्मोका सन्यास कर डालता है। क्योकि इन्द्रियाँ ही तो दरअसल कर्म करती है। विवेक न होनेसे सभी कर्मोको अपने आपमे मानता था। अव विवेक होनेसे मनने उन कर्मोको आत्मासे अलग करके जहाँ वे वस्तुत है वही मान लिया। यही हुआ सन्यास। देही कहनेके मानी है कि जीते जी यह काम करना पडता है। नही तो मरनेपर छुटकारा हो न सकेगा। पुर या गाँवमें रहनेकी वातका मतलव यह है कि जव शरीरादिके कर्मोको अपनेमे मानता था तो शरीरके साथ अपने-आपको एक करके कहता और समझता था कि घरमे हूँ, पलगपर हूँ, गाडीमे हूँ, आदि-आदि। अव जव शरीरादिसे अपनेको जुदा समझ गया तो कहता और समझता है कि शरीर भले ही घरमें, वाहर या मवारीमें वैठे; लेकिन मै तो शरीरमे ही वैठा हूँ।

न कर्तृत्व न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोग स्वभावस्तु प्रवर्त्तते ॥१४॥

(ऐसी दशामे) यह जीव सवका मालिक वन जानेपर न तो अपने आपमे कर्म करनेकी भावना लाता है, न लोगोसे ही कर्म करवाता या करवानेका खयाल करता है और न कर्मोके फलोसे सम्वन्ध या ताल्लुक ही पैदा करता है। (किन्तु) यह सव कुछ प्रकृतिके गुणोका ही पसारा है।१४।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृत ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः ॥१५॥

(इसलिये) सर्वत्र फैला हुआ वह जीव न तो किसीके पुण्यका साथी या भागीदार है और न पापका। (दरअसल बात यह है कि) अज्ञानने ज्ञानको छिपा दिया है (जिससे लोग बात समझ सकते नही। फलत सभी) जीव भ्रममे पडके ही ऐसा मानते है कि (हम पुण्य-पापके भागी हैं)।१५।

इन दो श्लोकोमे कुछ लोग प्रभु और विभु शब्दोका अर्थ परमात्मा कर डालते है। मगर उसका तो कोई भी प्रसग यहाँ हुई नही। जब जीवात्माको वशी कह दिया तब तो "एकोवशी" (श्वेता० ६।१२)के अनुसार उसीको प्रभु और विभु मानना ही होगा। श्वेताश्वतरमें यह लिखा भी है साफ ही। प्रभुका अर्थ भी मालिक या शासक और विभुका सर्वत्र रहनेवाला है, और आत्मा ऐसा ही पदार्थ है। "शरीर यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर." (१५।८) तथा "परमात्मेति चाप्युक्त." (१३। २२)मे भी यह बात साफ लिखी है।

**ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।**
**तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ॥१६॥**

(लेकिन) जिनकी आत्माका वह अज्ञान ज्ञानने मिटा दिया है उन्हें तो वही ज्ञान उस शुद्ध आत्माको सूर्यकी तरह प्रकाशित कर देता है। (फलत वे अपनेको पुण्य-पापके भागी नही मानते)।१६।

**तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।**
**गच्छन्त्यपुनरावृत्ति ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः ॥१७॥**

जिनकी बुद्धि उसी आत्मामे लग चुकी है, मन भी वही लगा है, उसीमे जो खुद रम गये है और उससे अन्य किसीकी पर्वा नही करते, ऐसे ही लोग ज्ञानसे समस्त पापोको बखूबी धोके जन्म-मरण-रहित पद—मुक्ति—प्राप्त कर लेते है।१७।

**विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।**
**शुनि चैव श्वपाके च पंडिताः समदर्शिनः ॥१८॥**

**इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः ।**
**निर्दोष हि सम ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः ॥१६॥**

पण्डित लोग विद्या एव सदाचरणसे युक्त ब्राह्मण, गौ, हाथी, कुत्ते और कुत्ता खा जानेवाले प्राणीमें (केवल) सम नामक वस्तुको ही देखते हैं—समदर्शी होते हैं। (इस तरह) जिनका मन इस साम्यावस्थामें डँट गया—जम गया—वह तो जीते ही जी सृष्टि—जन्म-मरण—पर विजय पा जाते हैं—इससे छुटकारा पा जाते हैं। क्योंकि निर्विकार एकरस ब्रह्म ही सम है। इसलिये वे ब्रह्मनिष्ठ हो जाते है। १८।१६।

**न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम् ।**
**स्थिरबुद्धिरसमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः ॥२०॥**

(इसीलिये) स्थिर वुद्धिवाला, हर तरहके मोहसे रहित (जो) ब्रह्मनिष्ठ आत्मज्ञानी है (वह) न तो प्रिय पदार्थ मिलनेसे खुशीके मारे लोट-पोट होता है और न अप्रिय मिलनेसे घबराता है—सर पीटता है।२०।

**बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विदत्यात्मनि यत्सुखम् ।**
**स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षय्यमश्नुते ॥२१॥**

भौतिक पदार्थोंमे (इस तरह) मन न रमनेपर ब्रह्ममें ही जिसका मन जम जाता है वह पुरुष जब आत्मामे ही सुखका अनुभव करने लगता है (तो) अक्षय सुखको प्राप्त कर लेता है।२१।

**ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते ।**
**आद्यन्तवन्त. कौन्तेय न तेषु रमते बुधः ॥२२॥**

क्योकि भौतिक पदार्थोंसे जो आनन्द मिलता है वह (तो) आने-जानेवाला—अस्थायी—होनेसे (अन्तमें) दु खका ही कारण बन जाता है। इसीलिये समझदार लोग उसमें कभी नही फँसते हे कौन्तेय।२२।

**शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात् ।**
**कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्त' स सुखी नरः ॥२३॥**

ही क्यो न किये जायँ। उसी श्लोकमे प्रभु भी भगवानको कहा है। वही बाते इस श्लोकमें लिखी गई है। लिखनेका आशय यही है कि वास्तविक सन्यासी इधर-उधर न भटकके वस्तुत भगवानके ही खयालसे सब कुछ करता है, न कि देवी-देवताओके लिये। यह भी नही कि भगवान तानाशाह है। वह तो सबका सुहृद है, कल्याणकामी है। इसीलिये उसे अपनी आत्माका स्वरूप जान लेनेकी पहचान यही होगी कि हम भी सबके सुहृद बन जाये, हम भी "सर्वेऽपि सुखिन सन्तु"का अमली पाठ करने लगे। भागवतमे भी कहा है कि हम सभी भगवानके आदेशोमे, अपने स्वाभाविक कर्मोके द्वारा, इस तरह बँधे है जैसे बनियेके लादनेका बैल। इसीलिये जो कुछ भी हम करते है वह भगवानकी भेटके ही रूपमे, "यद्वाचि तत्यागुणकर्मदामभि सुदुस्तरैर्वत्स वय सुयोजिता । सर्वे वहामो बलिमीश्वराय प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पद." (५।१।१४)।

पूर्वके दो श्लोकोमें जो ध्यान और प्राणायाम है वह योगदर्शनके ही अनुसार है। योगी लोग भी मानते है कि दोनो भौ और नासिकाकी जडकी सन्धिमें नजर टिकानेसे मन एकाग्र होता है। प्राणायाम उसीमे सहायक होता है। यह भी माना जाता है कि प्राणायामसे जैसे मन एकाग्र होता है उसी तरह मनकी एकाग्रतासे प्राणोकी क्रिया भी स्वय बन्द हो जाती है। यहाँ दोनोको मिला दिया है।

पचीसवे श्लोकमे जो "सर्वभूतहितेरता" कहा है उसका कुछ विवरण प्रकारान्तरसे पहले आ गया है। विशेष विवेचन आगे मिलेगा। इस अध्यायमे चार बार 'सम' आया है। उनमे आखिरी बार २७वें श्लोकमे मिलानेके अर्थमे है। शेष तीन बार १८-१९ में समदर्शनके मानीमे है, जिसे आत्मज्ञान कहते है।

इस अध्यायमे सन्यासकी ही बात शुरू करके अन्ततक उसीका विवेचन होनेसे यही इसका विषय माना गया है। शकरने इस अध्यायका विषय

यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो य. सदा मुक्त एव स. ॥२८॥

बाहरी विषयोको बाहर ही रोकके, दोनो दृष्टियोको भौंके बीचमें ही टिकाके और नासिकाके रास्ते बाहर-भीतर जाने-आनेवाले प्राण-अपानको मिलाके—कुम्भक करके—एकमात्र मोक्ष यानी आत्मामे ही खयाल जमाये हुए जो मननशील सन्यासी अपने मन और बुद्धिको बखूबी काबूमें रखता तथा इच्छा, भय और क्रोधसे सर्वथा नाता तोड लेता है वह हमेशा ही मुक्त है ।२७।२८।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम् ।
सुहृदं सर्वभूताना ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ॥२९॥

सब यज्ञो और तपस्याओंके भोगनेवाले, सब लोगोंके बडेसे बडे शासक और सबोके कल्याण चाहनेवाले मुझ परमात्माको जानकर ही (वह) शान्ति प्राप्त करता है ।२९।

इससे पूर्वके दो श्लोकोमे ध्यान, समाधि या पातजल योगका सक्षिप्त वर्णन किया है । उसके फलस्वरूप जो ज्ञान होता है और जिससे मुक्ति होती है उसीका जिक्र इस श्लोकमें है । इस श्लोकका आशय यही है कि आत्मा और परमात्माको एक ही देखना यही आत्मज्ञान है । समाधिस्थ सन्यासी यही अनुभव करता है कि मै ही खुद सब चीजोका करने-धरनेवाला हूँ, सारे ससारके कार-बारका चलानेवाला हूँ । असलमें "अह हि सर्व-यज्ञाना भोक्ता च प्रभुरेव च" (९।२४) आदिमें जो कुछ कहा गया है उसीका यहाँ उल्लेख है । जिन कर्मोंका वर्णन इस अध्यायमें आया है वह तो नीचेसे लेकर ऊँचे दर्जेतकके सभी है । नवे अध्यायमें स्पष्ट ही कहा है कि लोग भगवानको ठीक-ठीक न जानके औरोकी पूजा आदि करनेके कारण ही पतित हो जाते हैं, हालाँकि सब पूजा, यज्ञादिका फल भगवान ही देते हैं, फिर चाहे वह देवी-देवता आदि किसीके निमित्त

ही क्यो न किये जायँ। उसी श्लोकमे प्रभु भी भगवानको कहा है। वही बाते इस श्लोकमे लिखी गई है। लिखनेका आशय यही है कि वास्तविक सन्यासी इधर-उधर न भटकके वस्तुतः भगवानके ही खयालसे सब कुछ करता है, न कि देवी-देवताओके लिये। यह भी नही कि भगवान तानाशाह है। वह तो सबका सुहृद है, कल्याणकामी है। इसीलिये उसे अपनी आत्माका स्वरूप जान लेनेकी पहचान यही होगी कि हम भी सबके सुहृद बन जाये, हम भी "सर्वेऽपि सुखिन सन्तु"का असली पाठ करने लगे। भागवतमे भी कहा है कि हम सभी भगवानके आदेशोमे, अपने स्वाभाविक कर्मोंके द्वारा, इस तरह बँधे है जैसे बनियेके लादनेका बैल। इसीलिये जो कुछ भी हम करते है वह भगवानकी भेंटके ही रूपमे, "यद्वाचि तत्यागुणकर्मदामभि सुदुस्तरैर्वत्स वय सुयोजिता। सर्वे वहामो वलिमीश्वराय प्रोता नसीव द्विपदे चतुष्पद" (५।१।१४)।

पूर्वके दो श्लोकोमें जो ध्यान और प्राणायाम है वह योगदर्शनके ही अनुसार है। योगी लोग भी मानते है कि दोनो भौ और नासिकाकी जडकी सन्धिमें नजर टिकानेसे मन एकाग्र होता है। प्राणायाम उसीमे सहायक होता है। यह भी माना जाता है कि प्राणायामसे जैसे मन एकाग्र होता है उसी तरह मनकी एकाग्रतासे प्राणोकी क्रिया भी स्वय बन्द हो जाती है। यहाँ दोनोको मिला दिया है।

पचीसवें श्लोकमें जो "सर्वभूतहितेरता" कहा है उसका कुछ विवरण प्रकारान्तरसे पहले आ गया है। विशेष विवेचन आगे मिलेगा। इस अध्यायमे चार वार 'सम' आया है। उनमें आखिरी वार २७वें श्लोकमे मिलानेके अर्थमे है। शेष तीन वार १८-१९ मे समदर्शनके मानीमे है, जिसे आत्मज्ञान कहते है।

इस अध्यायमे सन्यासकी ही वात शुरू करके अन्ततक उसीका विवेचन होनेसे यही इसका विषय माना गया है। शकरने इस अध्यायका विषय

'प्रकृतिगर्भ' लिखा है। इसका अभिप्राय बता चुके हैं और कह चुके हैं कि इसका भी अर्थ सन्यास ही है। हमने पहले जो उल्लेख अमेरिकाके रक्त आदिवासियोका किया है उससे स्पष्ट है कि प्राकृतिक दशा (back to the nature)मे माया-ममताका स्वत त्याग रहता है, और सन्यासमें यही चाहिये।

इति श्रीमद्भगवद्गीता सूपनिषत्सु ब्रह्मविद्याया योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुन सम्वादे सन्यास योगो नाम पञ्चमोऽध्याय ॥ ५ ॥

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमें उपनिषद्रूपी ब्रह्मविद्या प्रतिपादक योग शास्त्रमें जो श्रीकृष्ण और अर्जुन का सम्वाद है उसका सन्यास नामक पाँचवाँ अध्याय यही है।

---

# छठाँ अध्याय

पाँचवे अध्यायमे जिस सन्यासका विशेष निरूपण आया है और सच्चे सन्यासीकी मनोवृत्तियोका जो विशेष विवरण दिया गया है उसीको कुछ आचार्योने प्रकृतिगर्भ या प्राकृतिक अवस्था भी कहा है। काम-क्रोध, राग-द्वेषादिका सर्वथा त्याग, भीतर ही मस्तीका अनुभव, सबके-हितकी कामना आदि बहुतसे लक्षण पूर्ण सन्यासीके बताये गये है। माया-ममताका तो उनमें नाम भी नही होता है। मिट्टीसे लेकर हीरेतक एव कुत्तेसे लेकर विद्या-सदाचार-सम्पन्न ब्राह्मणतकमें उन्हे कोई विभेद नजर नही आके सर्वत्र एकरस आत्मा और ब्रह्मका ही दर्शन होता है, यही नजारा दीखता है। यह तो आसान बात है नही, ऐसा खयाल किसीको भी हो सकता है जिसने गौरसे सारी बाते सुनी हो। इसीलिये उसके मनमे स्वभावत यह जिज्ञासा पैदा हो सकती है कि ऐसा आदर्श सन्यास कैसे प्राप्त होगा? वह यह बात जरूर ही जानना चाहेगा।

अन्तके २७, २८ श्लोकोमे जो दिग्दर्शनके रूपमे इस सन्यासावस्थाकी प्राप्तिके साधनोका वर्णन आया है उससे यह जिज्ञासा और भी तेज-हो सकती है, न कि शान्त होगी। एक तो यह बात अत्यन्त सक्षिप्त रह गई। दूसरे बहुत ही कठिन है। प्राणायाम या दृष्टिको टिकानेकी बात कहनेमे जितनी आसान है समझने और करनेमे उतनी ही कठिन। जबतक इसका पूरा ब्योरा न मालूम हो जाय और यह भी ज्ञात न हो जाय कि इस साधनमे सफलता होनेकी पहचान क्या है, तबतक काम चल सकता भी नही। यह काम कब, कहाँ, कैसे किया जाय और करनेवालोकी रहन-सहन वगैरह कैसी हो, आदि बाते भी जानना निहायत जरूरी है। इन्हीके

साथ यह भी जानना आवश्यक है कि आया किसी भी दशामें कर्मोंका स्वरूपत त्याग या सन्यास भी जरूरी है या नही। यह इसलिये कि छठेंमें सभी साधनोके वतानेके समय यदि उन्हीके साथ नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके वन्द कर देने—सन्यास लेने—की वात न आये तो समझेंगे कि यह कोई वैसी जरूरी चीज नही है। कर्मोंके स्वरूपत त्यागकी जरूरत किस दशामें कैसे है, यह वात व्योरेके रूपमें पाँचवें अध्यायमे आई भी नही है। परन्तु कर्म-अकर्मके इस महान झमेलेमे है यह निहायत जरूरी चीज। इसलिये इसकी भी जिज्ञासाका अर्जुनके मनमें पैदा होना जरूरी था।

किन्तु अर्जुन प्रश्न करे यह मौका खुद कृष्ण देना नही चाहते थे। क्योकि ये वातें कुछ ऐसी-वैसी तो नही है कि ध्यानमें न आयें। जिस चीजका उपदेश वह कर रहे थे ये बातें उसके प्राणस्वरूप ही कही जायँ तो भी कोई अत्युक्ति नही हो सकती है। जबतक इनपर पूरा प्रकाश न डाला जाय, आत्मब्रह्मदर्शन, आदिका निरूपण अधूरेका अधूरा ही रह जायगा। इसीलिये कृष्णने बिना पूछे ही स्वयमेव इनकी सख्त जरूरत महसूस करके इन्हें उपदेश करना शुरू कर दिया। फलत यदि छठें अध्यायका विषय ध्यानयोग माना गया है तो ठीक ही है। समूचेका समूचा अध्याय हरेक पहलूसे इसी चीजपर प्रकाश डालता है। पातजलयोग और समाधि भी ध्यानके भीतर ही आ जानेवाली चीजें है। लेकिन कृष्ण यह अनुभव भी कर रहे थे कि यदि अथसे इतितक इसी ध्यान और स्वरूपत कर्मत्यागकी ही वात करेगे तो लोगोको धोका हो सकता है। परिणामस्वरूप इसके सामने कर्म करनेकी महत्ता वे भूल सकते हैं। क्योकि ध्यान-वानके वारेमे लोगोकी कुछ ऐसी ही ऊँची धारणा पाई जाती है कि और वाते इसके सामने तुच्छ मानते है। इसीलिये शुरूमें कर्मोंके करनेपर जोर देके ही आगे वढते है। इस तरह वहुत वडे धोके तथा खतरेसे जन-साधारणको बचा लेते है। इन्ही सब विचारोंसे—

श्रीभगवानुवाच

**अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः ।**
**स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्नचाक्रियः ।।१।।**

श्रीभगवान बोले—जो कोई भी कर्मों और उनके फलोकी पर्वा न करके (केवल) कर्त्तव्य समझ उन्हे करता रहता है वही सन्यासी भी है और योगी भी। (न कि कर्मोके साधन) अग्नि (आदि)को और (खुद) कर्मोंको ही छोड देनेवाला ।१।

**यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पांडव ।**
**न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन ।।२।।**

हे पाडव, जिसे सन्यास कहा गया है उसे योग ही जानो। क्योकि जो कोई सभी सकल्पोको त्याग न दे वह योगी हो नही सकता है ।२।

यहाँ कुछ बाते जान लेनेकी है। इन दोनो श्लोकोमे जो सन्यास और योगको एक कह दिया है वह ठीक वैसा ही है जैसा कि इसी अध्यायमे आगे "त विद्याद्दु खसयोगवियोग योगसज्ञितम्" (६।२३)में वस्तुत वियोगको योग कहा है। सिर्फ इसीलिये यह बात है कि यद्यपि नाम तो उसका योग ही है, तथापि काम उसका उलटा है, वियोग है। क्योकि वह दु खोके सम्बन्धका वियोग कर देता है, दु खोको कभी पासमे फटकने नही देता है। यहाँ भी सन्यास और योग है तो दो चीजे और है परस्पर विपरीत भी। मगर इनका काम मिल जाता है, एक हो जाता है। इसीलिये नामसे नही, किन्तु कामसे ही, दोनोकी एकता बताई गई है। इसका प्रयोजन कही चुके है कि जनसाधारण कही कर्मोसे विमुख न हो जायँ, इसीलिये कह दिया है कि भई, तुम तो कर्म करते हुए भी सन्यासी ही हो। फिर चिन्ता क्या ?

इसीके साथ एक निहायत जरूरी बात भी कर्म करनेवालोके सामने

बडी ही कुशलतासे रख दी गई है। जहाँ यह कहा गया है कि तुम तो योगीके योगी और सन्यासीके सन्यासी हो और इस तरह दुहरा फायदा उठाते हुए "आमके आम और गुठलीके दाम"को चरितार्थ करते हो। फिर पर्वा नाहक ही किसकी करते हो? तहाँ उन्हें चढाने-बढानेके साथ ही धीरेसे यह भी कह दिया गया है कि हाँ, योगी बननेके लिये भी इतना तो करना ही होगा कि सभी सकल्पोको त्याग दिया जाय। इसके बिना तो काम चली नही सकता। इस तरह ठीक-ठीक योगी बननेकी शर्तें भी रख दी गई और जल्दबाजीके खतरेसे भी बचा लिया गया। इसीके साथ यह भी ज्ञात हो गया कि सच्चे सन्यासी बननेके लिये सकल्पोका त्याग आवश्यक है। यह न हो, तो सिर्फ कर्मोंको या उनके साधन अग्नि आदिको ही छोड देनेसे कोई भी सन्यासी नही बन जाता। ऐसे लोग तो वचक ही होते है। यहाँ सब सकल्पोका त्याग और कर्मफलकी पर्वा न करना ये दोनो एक ही चीज है। दोनोमें जरा भी फर्क नही है। इसीलिये हमने 'कर्मफल' शब्दका कर्म और उनके फल यह दोनो ही अर्थ माना है और लिखा भी है। इसके लिये या तो कर्म और फलको दो जुदे—असमस्त—पद मान ले, या अगर दोनोका समास मानें तो समुच्चय द्वन्द्व मानके काम चलायें, जैसे करपादम् आदिमें होता है। सकल्प कर्मों और उनके फलो—दोनो—का ही होता है, और जबतक दोनोंके बारेमें बेफिक्र न हो जायँ सकलपत्याग असभव है।

दूसरे श्लोकमे जो 'असन्यस्तसकल्प" शब्द आया है उसमें भी एक खूबी है। सन्यासके बारेमे जब विवाद ही है तो ऐसे मौकेपर 'सन्यस्त' शब्द न देके 'सत्यक्त' शब्द देना ही उचित था। क्योकि सन्यास शब्दके अर्थके बारेमें जब झमेला ही है और यह तय नही हो पाया है कि उसमें किसी चीजका स्वरूपत त्याग भी आता है या नही, तो ऐसी दशामें उसे लिखनेसे शक तो रही जायगा और अर्थकी सफाई हो न सकेगी। इसीलिये

'सत्यवत' शब्द देना ही ठीक था। मगर ऐसा न करके सन्यस्त शब्द देनेसे यह आशय टपकता है कि सन्यासके भीतर स्वरूपत त्याग आता है। क्योकि सकल्पोका तो स्वरूपत. त्याग ही विवक्षित है। अब बात रही यह कि वह स्वरूपत त्याग कर्मोका है या संकल्पोका या और चीजोका। यदि यह माना जाय कि सन्यासका अर्थ केवल सकल्पोका ही स्वरूपत त्याग है, तो 'सन्यस्तसकल्प'मे सकल्प शब्द देनेकी क्या जरूरत थी ? उसका काम तो सन्यस्त शब्दसे ही हो जाता है। इससे पता चलता है कि सन्यासका अर्थ केवल सकल्पत्याग नही है। अब यदि और चीजोका भी त्याग मानें तो वे चीजे कौन-कौनसी है, यह कैसे जाना जाय ? इसलिये मानना ही होगा कि सामान्यत सभी कर्मो, सकल्पो और रागद्वेषादिके स्वरूपत. त्यागको ही सन्यास कहते है। इनमे सकल्पत्यागको सबसे जरूरी समझ और उसके विना कर्मोका त्याग कोरा ढोग मानके ही यहाँ 'सन्यस्त सकल्प.' लिखा गया है।

इसी सकल्पत्यागको लेके आगे बढनेमे सबसे पहले यह बताना आवश्यक हो जाता है कि सकल्पत्यागके होते हुए भी कर्मोके स्वरूपतः त्यागका असली अवसर कब और किसलिये आता है। कर्मकी आवश्यकता कहाँतक है, उसका काम है क्या, तथा उसके त्याग अर्थात् सन्यासकी भी आवश्यकता कब और किसलिये है यही बाते आगे कहते है—

**आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।**
**योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते ॥३॥**

(कोई भी) मननशील योग—ज्ञान या समाधि—में जाने एव उसे प्राप्त करनेकी इच्छावाला बन जाय इसका कारण कर्म है—इसीके लिये कर्म करनेकी जरूरत है। उसीको (आगे चलके) ज्ञान तथा समाधिमे आरूढ—पक्का—बना देनेके लिये ही कर्मोके त्यागकी जरूरत है।३।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते ।
सर्वसंकल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते ॥४॥

क्योकि जब सभी सकल्पोका त्याग कर देनेवाला मनुष्य न तो इन्द्रियोंके विषयोमें और न कर्मोमे ही चिपकता है तभी वह योगारूढ माना जाता है ।४।

इन श्लोकोंके अर्थोंके बारेमें बहुत कुछ बातें पहले ही लिखी जा चुकी है । उन्हे जाने विना इनका आशय समझना असभव है । यहाँ इतना ही कहना है कि जो लोग शमका अर्थ मनकी शान्ति मानते है उन्हें भी अगत्या कर्मोंका स्वरूपत त्याग मानना ही होगा । क्योकि आखिर मनकी शान्तिका अर्थ क्या है ? यही न, कि उसकी हलचलें, क्रियायें बन्द हो जायँ, उसकी चचलता जाती रहे ? उसकी चचलताका भी यही अर्थ है न, कि बिजलीकी तरह बडी तेजीसे एके बाद दीगरे हजारो पदार्थोंपर पहुँचता है ? और अगर यह चीज बन्द हो जाय तो होगा क्या ? यही न, कि मन किसी एक ही पदार्थमें जम जायगा, वही स्थिर हो जायगा ? एक पदार्थ भी वह कौनसा होगा ? जब योगी और योगारूढकी बात है तब तो मानना ही होगा कि वह एक पदार्थ आत्मा ही होगी । उसीको परमात्मा कहिये या ब्रह्म कहिये । बात एक ही है । अब जरा सोचें कि जब मनीराम आत्मामें ही रम गये, जम गये, टिक गये तो फिर सन्ध्या-नमाजकी तो बात ही नही, क्या कोई भी क्रिया हो सकती है ? क्या पलक भी मार सकते या शरीर भी हिला सकते हैं ? क्या प्राणकी भी क्रिया जारी रह सकती है ? यह तो मन शास्त्रका नियम ही है कि जबतक मन किसी पदार्थमें न जुटे उसमे कोई क्रिया होई नही सकती । यह तो दर्शनोकी मोटी और पहली बात है । फिर शम माननेवाले क्रिया कैसे करेंगे यह समझसे बाहरकी चीज है । खूबी तो यह कि यह ध्यानका ही अध्याय है और ध्यान-समाधिके साथ नित्यनैमित्तिक क्रियायें भी होगी यह तो उलटी गगाका बहना है । यह भी नही कि मिनट दो मिनट या घटे दो

घटेकी समाधिसे ही काम चल जायगा। यहाँ तो लगातार दिनो, हफ्तो, महीनो और बरसो करनेकी नौबत आयेगी। तब कही जाके सफलताकी आशा कर सकते है। बीचमे बहुत ही थोडा विराम कभी-कभी मिलेगा। आगे जो "अनेकजन्मससिद्ध" (६।४५) और "यतचित्तेन्द्रियक्रिय" (६।१२) लिखा है उसका आखिर दूसरा अर्थ है क्या ? इसी छठे अध्याय-को पढके भी जो यह कहनेकी हिम्मत करे कि ध्यान और समाधिके साथ ही वर्णाश्रमादिके धर्मोका पालन भी हो सकता है उन्हे कुछ भी कहना बेकार है।

तीसरे श्लोकके पूर्वार्द्धमे ज्ञानकी इच्छा और कामनाकी बात कही गई है। इसका पता आसान है और सबोको लगा सकता है। इसीलिये इसके बारेमे ज्यादा कुछ भी कहनेकी जरूरत नही। मगर योगारूढ होना और उसे पहचानना अत्यन्त कठिन है। बल्कि एक प्रकारसे यह बात असभव ही समझिये। यही कारण है कि चौथे श्लोकमें योगारूढका लक्षण, उसकी पहचान बताई गई है। इसका दूसरे शब्दोमे मतलब यह है कि जबतक वैसी दशा पूरी तौरसे न हो जाय तबतक ध्यान एव समाधि करते रहना और तदर्थ सभी कर्मोका पूर्णत सन्यास करना ही होगा। दूसरा रास्ता है नही। जबतक आत्मज्ञानकी इच्छा या आत्माकी जिज्ञासा नही पैदा होती तभी तक कर्म करना होगा। उसीसे वह जिज्ञासा होगी। मगर ज्योही यह जिज्ञासा पैदा होके दृढ हो गई कि कर्मोका स्वरूपत· त्याग करके ध्यान, धारणा, समाधिके द्वारा आत्मसाक्षात्कारकी सिद्धिमे फौरन लग जाना होगा। साक्षात्कार पूरा-पूरा होनेतक यह काम जारी रखना ही होगा, यही दोनो श्लोकोका तात्पर्य है।

शायद यह खयाल हो कि इस प्रकार जीतेजी मुर्दा बननेकी क्या जरूरत है ? योगारूढ होना और मुर्दा बन जाना तो बराबर ही है। फर्क यही है कि मुर्देको कुछ मालूम नही पडता, चाहे जो कीजिये। मगर

योगारूढको तो होश होता है, ज्ञान होता है। फिर भी किसी सुख-दुःखादि-को जरा भी अनुभव न करना यह असाधारण बात है जो असभव जैसी है। इसीलिये तो जीतेजी मुर्दा बन जाना पडता है। फलत दूसरे ढगसे काम चल जाय तो इस योगारूढ होनेके मार्गको दूरसे ही सलाम कर लेना चाहिये। यह तो हो नही सकता कि परम कल्याण और मोक्षका कोई दूसरा रास्ता होई न। इसीलिये दूसरे ही मार्गका अवलम्बन क्यो न किया जाय ? नाहक ही इन्द्रियो और मनको सकटमें डालके उन्हींके द्वारा अपने आपको—आत्माको—भी विपदामें डालना, सकटके अतल गर्त्तमे डुबाना मुनासिब नही है। इस तरहके विचार जनसाधारणके लिये बहुत सभव है। इसीलिये इस प्रसगको आगे बढाने और योगारूढकी अवस्थाका पूर्ण विवेचन करनेके पहले दो श्लोकोमे इस खयालको हटाते हुए कहा गया है कि इसके सिवाय मोक्षका और मार्ग हई नही। इसीलिये लाचारी है कि यही मार्ग अपनाया जाय। इससे आत्माको गर्त्तमें गिरानेके बदले उलटे उसका उद्धार है।

उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मन. ॥५॥
बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनात्मैवात्मना जित.।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत् ॥६॥

अपना उद्धार खुदबखुद करना चाहिये। आत्माको—अपने आपको—सकटमें कभी न डालना—कभी नीचे न गिराना—चाहिये। क्योकि अपना मददगार या दुश्मन स्वय हर आदमी ही होता है। जिसने अपने मनको स्वय जीत लिया वही अपना मददगार है। जिसने मनपर काबू नही किया शत्रुताके मौकेपर (वही) मन (उसके) शत्रुका काम करता है।५।६।

जितात्मन' प्रशान्तस्य परमात्मा समाहित.।
शीतोष्णसुखदु.खेषु तथा मानापमानयो. ॥७॥

जिसने मनको जीत लिया है (और इसीलिये) जिसका अन्त करण अत्यन्त शान्त है, उसे शीत-उष्ण, सुख-दु ख और मान-अपमानकी दशामे (भी) बराबर समाधिमे परमात्माका ही साक्षात्कार होता रहता है—उसकी मस्ती बराबर बनी रहती है, चाहे कुछ हो ।७।

**ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः ।**
**युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।।८।।**

ज्ञान और विज्ञानकी प्राप्तिसे जिसका मन तृप्त है—मस्त है, जो किसी भी दशामे विचलित नही होता, जिसकी (सभी) इन्द्रियाँ अपने वशमें है (और इसीलिये) जिसके लिये मिट्टीका ढेला, पत्थर (और) सोना सभी एकसे ही है, ऐसा ही योगी युक्त या योगारूढ कहा जाता है ।८।

कूट नाम है लोहारकी निहाईका। हजारो लोहे उसपर आके टेढे-सीधे और नष्ट-भ्रष्ट हो जाते है। मगर वह ज्योकी त्यो अचल बनी रहती है। इसीलिये विकार-शून्य और अचलको ही कूटस्थ कहते है—अर्थात् जो कूटकी तरह बना रहे। जाल-फरेबको भी कूट कहते हैं। ससार का प्रपच ही मायाजाल है और उसमे ही आत्माका रहना है। मगर उनसे उसका स्पर्श नही है।

**सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।**
**साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते ।।९।।**

सुहृद्, मित्र, शत्रु, तटस्थ, मध्यस्थ, प्रत्यक्ष-अपकारी, सम्बन्धी, साधु और पापी—सबो—मे जिसकी समबुद्धि है—इनमे किसीकी ओर जो खिच जाता नही—वही श्रेष्ठ है ।९।

अकारण ही जो सबका हित चाहे वह सुहृद् कहा जाता है, परिचय होनेपर जो हित चाहे वह मित्र, जो बुराई करे वह अरि, जो किसीका पक्ष न ले वह उदासीन, जो दोनोका पक्ष लेकर कलह मिटाना चाहे वह मध्यस्थ, जिसके प्रति बहुत ज्यादा जलन हो वह द्वेष्य, जो सम्बन्धके करते

ही हित चाहे वह बन्धु, जो सबका उपकार करे वह साधु और बुरा काम करनेवाला पापी कहाता है। उदासीन और मध्यस्थका फर्क यही है कि जहाँ मध्यस्थको दोनो पक्षोंकी पर्वा होती है तहाँ उदासीनको किसीकी भी नहीं होती। अरि और द्वेष्यमें यही अन्तर है कि जहाँ द्वेष्यके प्रति दिलमे प्रचड जलन होती है तहाँ अरिके प्रति इसका होना जरूरी नहीं है। इसलिये अरि शब्द व्यापक है। मित्र और बन्धुमें यही फर्क है कि जहाँ बन्धुके साथ घनिष्ठता तयशुदा बात है तहाँ मित्रके साथ घनिष्ठता न होते हुए भी परिचय मात्र ही काफी है। सुहृद् स्वभावत परहित चाहता है, चाहे कर सके या न कर सके। मगर साधुका तो यह काम ही है। वह परहित करता ही है। ये दोनो ही बदलेमे कुछ नही चाहते।

यहाँ तक युक्त, योगारूढ, आत्मज्ञानी या सन्यासीका स्वरूप और लक्षण बताके अप्रत्यक्ष रूपमे यह भी कह दिया कि ऐसा होनेके लिये किस तरहके लोहेके चने चबाने जरूरी हैं। अब अगले आठ श्लोकोंमें उन उपायोंको विस्तारके साथ बताते है जिनपर अमल करनेपर ही इन लोहेके चनोके चबानेकी योग्यता होती है। इनमे भी शुरूके पाँचमें ध्यान और समाधिके उपाय बताके और छठेंमे उसीपर जोर देके शेष दोमें खतरों और नियमोके बारेमे सावधान किया है। उसके बादके छे (१८-२३) श्लोकोमे ध्यान और समाधिमे लगे चित्तकी तौल बताई है कि उसकी क्या हालत समाधिके दर्म्यान रहती है। क्योकि उसी समय उसे आसानीसे पकड सकते और गलती सुधार सकते है। उस समय लोग पूरे तैयार और सतर्क भी रहते है। यह अभ्यास धीरे-धीरे कैसे शुरू किया जाय और यह कमजोरी और गलती कैसे चटपट पकडी जाके दूर की जाय, यह बात उसके बादके तीन (२४-२६) श्लोकोंमें कहके तदनन्तर छे (२७-३२) श्लोकोमे योगारूढ पुरुषका पूरा चित्र खीच दिया है और यह बताया है कि उसकी मनोवृत्ति कैसी होती है। उसके आत्मज्ञान

या साक्षात्कारका स्वरूप क्या होता है यह बात पुनरपि यहाँ दूसरी बार इन्ही श्लोकोमेंसे दो (२९-३०) मे कही गई है। पहली बार पाँचवे अध्यायमे आई है, यह वही कहा जा चुका है।

**योगी युजीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।**
**एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः ॥१०॥**

ध्यान करनेवाला सन्यासी निरन्तर एकान्त स्थानमे अकेला ही रहके बुद्धि और मनपर कब्जा रखे हुए, बेफिक्र सारा लवाजिम छोडके ही मनको एकाग्र करनेका यत्न करे।१०।

**शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।**
**नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरम् ॥११॥**

जो न तो बहुत ऊँचा और न बहुत नीचा हो, जिसमे क्रमश कुश, मृगचर्म और वस्त्र एकके ऊपर एक पडे हो और जो हिले-डोले न ऐसा निजी आसन (वहाँ) किसी पवित्र स्थानपर बिछाके—।११।

**तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।**
**उपविश्यासने युंज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥१२॥**

मन और इन्द्रियोकी बाहरी क्रियाओको रोके हुए मनको एकाग्र करके उसे शुद्ध करनेके ही लिये उसी आसनपर बैठे (तथा) ध्यान (एव) समाधिका अभ्यास करे।१२।

**समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।**
**सप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥१३॥**
**प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।**
**मनः सयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥१४॥**

धड, सर और गर्दन तीनो ही सीधे—तने—और निश्चल रखे हुए घबराहट छोडके बैठे, अपनी नासिकाके अग्र भागपर ही दृष्टि जमाये रहे और इधर-उधर न देखे। मनकी बेचैनी बिल्कुल ही न हो, डर-भय

जरा भी न हो, (खान-पान आदिमें) ब्रह्मचारीके ही नियमोका पूरा पालन करे। मुझमें ही मन लगाये तथा मुझको ही सब कुछ समझे हुए मनको भरपूर काबूमे करके समाधिमे बैठे।१३।१४।

यहाँ जो दसवें श्लोकमें 'यतचित्तात्मा' कहके 'आत्मान युञ्जीत' भी कहा है इससे दोनोमें परस्पर विरोध जैसा लगता है। जब मन और बुद्धिको काबूमें कर लिया तो फिर मनके एकाग्र करनेका क्या सवाल ? यह या तो पुनरुक्ति जैसी हो जाती है, या यो कहिये कि एकका कहना बेकार है। मगर दरअसल मन-बुद्धिको सयत कहनेका यही अभिप्राय है कि पहले जैसी चचलता और घबराहट उनमें न रह गई है। वे कुछ ठडे पड गये है। तभी समाधिकी सफलता हो सकती है। या यह कि यतचित्तात्माका अर्थ है मन-बुद्धिकी क्रियाका रोकना मात्र। उसके बाद होनेवाली एकाग्रता "आत्मान युजीत"के द्वारा बताई गई। इसी तरह १२वेंमे मनकी एकाग्रता और उसकी तथा इन्द्रियोकी क्रियाके रोकनेकी बात है। प्रश्न होता है कि मनकी एकाग्रताके बाद फिर उसकी क्रियाके रोकनेके क्या मानी ? बात असल यह है कि पहले जब मन कहीं एक चीजमें बँधेगा तभी तो उसकी तथा इन्द्रियोकी क्रिया भी रुकेगी। वस्तुत क्रिया रुकनेसे एकाग्रता और एकाग्रता से क्रियाका रुकना ये दोनो ही एक दूसरेके आश्रित है, ठीक वैसे ही जैसे प्राणके रोकनेसे मनका रुकना और मनके रुकनेसे प्राणका रुक जाना। आगे ३५वे श्लोकके व्याख्यानमें इसपर और भी लिखा गया है।

अथवा "यत्तचित्तेन्द्रियक्रिय"में चित्तका अर्थ बुद्धि ही है, जैसा कि १०वेंमे। बुद्धिकी चचलताका भी रुकना आवश्यक है। इसीलिये जो अन्तमें पुनरपि "युज्याद्योगम्" लिखा है वह यद्यपि व्यर्थसा प्रतीत होता है, तथापि उसका अभिप्राय यही है कि योगकी पूर्णता और स्थायित्व प्राप्त करे। ऐसा न हो कि मनकी एकाग्रता चन्दरोजा ही हो। "आत्मान

युजीत" और "योग युज्यात्"का यह भी अभिप्राय है कि आत्मामे ही मनको लगाये, न कि और पदार्थमे। इसीलिये आगे जो "मच्चित" और "मत्पर." में (मत्) कहा है उसका भी अर्थ आत्मा ही है। नही तो आत्मासे अलग परमात्माका खयाल हो सकता था। 'मच्चित' और 'मत्पर' कहनेका आशय यही है कि एकमे चित्त लगाके कभी-कभी दूसरेका भी खयाल करनेकी बात यहाँ नही होगी। आत्माके सिवाय और किसीका भी खयाल न रहेगा। इसे ही अनन्य-चिन्तन भी कहते है।

१३वे श्लोकमे एक बार तो धड, गर्दन और सरको अचल और तना हुआ रखना कहा है। फिर स्थिर होना भी बताया है। यह तो पुनरुक्ति ही हुई। इसीलिये हमने घबराहट और बेचैनी छोडनेकी बात लिखी है। ऐसी भी तो बेचैनी होती है कि शीघ्र ही काम पूरा हो जाय। वह न रहे इसी मानीमे स्थिर शब्द आया है। यो भी इस मानीमें बोला जाता है। इसी प्रकार जहाँ यहाँ नासिकाके अग्र भागमें नजर जमानेको लिखा है तहाँ पाँचवे अध्यायके अन्तमे भौओके बीचमें जमानेकी बात है। असलमे योगियोके यहाँ ये दोनो ही बाते पाई जाती है। कोई एक करता है तो कोई दूसरी। इसीलिये दोनो ही लिखी गई है। भौओकी बात आगे भी "भ्रुवोर्मध्ये" (८।१०)मे आयेगी। जिसकी जब जैसी रुचि, प्रवृत्ति या अनुकूलता हो तब वह वैसा ही करता है। किन्तु परिणाम एक ही होता है।

**युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।**
**शान्ति निर्वाणपरमा मत्संस्थामधिगच्छति ॥१५॥**

इस प्रकार निरन्तर आत्मामे मनको जोडता हुआ उसे सोलह आने काबूमे कर लेनेवाला योगी उस ब्रह्मनिष्ठा रूपी शान्तिको प्राप्त कर लेता है, जिसका अन्तिम परिणाम आवागमनसे छुटकारा है।१५।

**नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकांतमनश्नतः।**
**न चाति स्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन ॥१६॥**

हे अर्जुन, निश्चित परिमाणसे अधिक खानेवालेकी समाधि हो नही सकती, और न बिल्कुल ही न खानेवालेकी ही। (इसी तरह) बहुत ज्यादा सोनेवाले या अधिक जागनेवालेकी भी (नही होती) ।१६।

**युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।**
**युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दु खहा ॥१७॥**

(किन्तु) उचित मात्रामे जो खान-पान और घूमघाम करता है, दूसरी क्रियाये भी निश्चित परिमाणमे ही करता है और सोता-जागता भी है नियमित रूपसे ही, उसीकी समाधि सब कष्टोकी नाशक होती है—पूर्ण या सफल होती है ।१७।

सोने-जागने वगैरहकी बात तो सभी जानते है। हालाँकि योगी लोगोने इनमे भी बहुत नियम—कायदे—बनाये है। खानपानका नियम ऐसा ही है कि पेटका आधा अन्नसे और एक चौथाई जलसे भरके शेष चौथाई खाली रखे,—"अन्नेन पूरयेदर्धं चतुर्थं तु जलेन वै। मारुतस्य प्रचारार्थं चतुर्थमवशेषयेत्"। नही तो परिपाक ठीक नही होता और आलस्य रोगादि बढते है। क्या खाना, कब खाना आदिके भी नियम है।

**यदा विनियत चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते ।**
**निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा ॥१८॥**

जब काबूमे बखूबी आया हुआ मन आत्मामे ही जाके टिक जाता (तथा) अन्य सभी पदार्थोंसे नि स्पृह (हो जाता है) तभी कहा जाता है कि (मनुष्य) युक्त या योगारूढ हो गया ।१८।

**यथा दीपो निवातस्थो नेंगते सोपमा स्मृता ।**
**योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मन. ॥१९॥**

मनको आत्मामें टिकानेका अभ्यास करनेवाले योगीका मन काबूमें आ जानेपर ठीक वैसे ही हिलता-डोलता नही जैसे बहनेवाली हवासे रहित स्थानमें दियाकी शिखा नही हिलती है ।१६।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥२०॥
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम् ।
वेत्ति यत्र न चैवाय स्थितश्चलति तत्त्वतः ॥२१॥
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः ।
यस्मिन् स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥२२॥
तं विद्याद् दुःखसयोग-वियोगं योगसंज्ञितम् ।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा ॥२३॥

जिस दशामें योगके अभ्यासके फलस्वरूप काबूमे आया हुआ मन शान्त और निश्चल हो जाता है, जिस दशामे अपने भीतर ही स्वयमेव अपनेको देखके पूर्ण सन्तोष हो जाता है, इन्द्रियोकी पहुँचके बाहर केवल बुद्धिसे अनुभव किया जानेवाला अपार सुख जिस दशामे जाना जाता है, जिस दशामें जम जानेपर मनुष्यकी आपा बिसर जाती है और उस वास्तविक दशासे फिर वह च्युत भी नही होता है, जिसे पा जानेके बाद उससे बढके दूसरा कोई भी लाभ माना नही जाता और जिस दशामे स्थिर हो जानेपर बडेसे बडा भी कष्ट मनुष्यको विचलित नही कर सकता, दु:खके सम्बन्धको सदाके लिये मिटा देनेवाली उस दशाको ही योग शब्दसे समझना चाहिए। जो मन कभी ऊबना जानता ही नही उसीके द्वारा दृढ निश्चयके साथ उस योगकी सिद्धिका अभ्यास किया जाना चाहिये। २०।२१।२२।२३।

यहाँ मनके न ऊबनेके बारेमे दृष्टान्त देते हुए गौडपादाचार्यने माडूक्योपनिषदकी कारिकाओमें लिखा है कि एक ही कुशकी नोक डुबो-डुबोके बाहर छिडकते हुए ही समुद्रको सुखा डालनेकी हिम्मत जिसे हो वही मनको काबूमे कर सकता है, "उत्सेकउदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकविन्दुना । मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदत" (३।४१)। टिट्टिभ पक्षीके नर-

मादेका अपनी चोंचोंमे ही उलीचते-उलीचते समुद्रको सुखाके अपने अडे उसमेसे वाहर निकालनेके दृढ सकल्पका भी दृष्टान्त दिया जाता है।

संकल्पप्रभवान्कामास्त्यक्त्वा सर्वानशेपतः।
मनसैवेन्द्रियग्राम विनियम्य समन्तत. ॥२४॥
शनै. शनैरुपरमेद्‌वुद्धया धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मन कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत् ॥२५॥
यतो यतो निश्चरति मनश्चचलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत् ॥२६॥

सकल्पसे पैदा होनेवाली सभी कामनाओको निर्मूल करके तथा मनसे ही सभी इन्द्रियोको चारो ओरसे रोकके धैर्य-सहकृत वुद्धिके वलसे धीरे-धीरे हर चीजसे मनको हटाये और आत्मामे टिकाके दूसरा कोई खयाल न करे। चचल होनेके कारण कही भी टिक न सकनेवाला मन जिस-जिस चीजको लेके वाहर भागे उस-उससे उसे हटाते हुए केवल आत्मामें ही लगाके कावूमें करे। २४।२५।२६।

यहाँ धीरे-धीरे सव ओरसे हटाना और फिर भी यदि मन उधर भागे तो वहाँसे वार-वार लौटाना वताया गया है। असलमे समाधिके लिये यही वुनियादी वात है। जो ऊवना जानता ही नही वही यह काम कर सकता है, ऐसा कहनेकी जरूरत इसीसे स्पष्ट हो जाती है। एकाएक न तो अन्य चीजोसे यह मनीराम हटी सकते और न हटनेपर भी फिर उनमें जानेसे वाज आई सकते है। यह तो नटखट वन्दर है। वडी हिम्मत और वडे भारी दृढ सकल्पसे ही इन्हें कावूमें किया जा सकता है। इसीलिये "स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा" कहा है।

प्रशान्तमनसं ह्येन योगिन सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम् ॥२७॥

क्योंकि विल्कुल ही शान्त मनवाले, शान्त या दवे-दवाये रजोगुणवाले,

निर्दोष (और इसीलिये) ब्रह्म स्वरूप हो जानेवाले इस योगीके पास सर्वोत्तम सुख—आत्मानन्द—खुद आ जाता है ।२७।

**युंजन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः ।**
**सुखेन ब्रह्मसस्पर्शमत्यन्त सुखमश्नुते ।।२८।।**

इस प्रकार सदा आत्मामे मनको लगाता हुआ (उसके फलस्वरूप) पापशून्य योगी आसानीसे ही ब्रह्मरूपी अखड सुख—निरतिशय ब्रह्मानन्द—प्राप्त करता है ।२८।

यदि गौरसे देखा जाय तो पूर्वके "शनै शनैरुपरमेद्" श्लोकका ही एक तरहका व्याख्यान बादके इन तीन श्लोकोमे है । इसमे भी उसके पूर्वार्द्धका "यतोयत"मे, उत्तरार्द्धके पहले आधेका "प्रशान्त-मनस"मे और शेष चतुर्थांशका "युजन्नेव"मे स्पष्टीकरण है ।

आगेके चार श्लोक उस आत्मसाक्षात्कारके बादकी हालत बताते है । खासकर पहले दो तो उस साक्षात्कारका रूप स्पष्ट करते है । शेष दो ज्ञानीकी व्यावहारिक दशा बताते है कि ससारके साथ उसका सलूक कैसा होता है । इन आखिरी दोमे भी पहला है दूसरेकी एक तरहकी भूमिका ही । दूसरा—३२वाँ—ही उसका बाहरी व्यवहार चित्रित करता है ।

**सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।**
**ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः ।।२९।।**
**यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पश्यति ।**
**तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति ।।३०।।**

जिसका मन पूर्ण योगयुक्त हो गया है उसकी सर्वत्र समदृष्टि—ब्रह्म या आत्म दृष्टि—होती है । (इसीलिये वह) सभी पदार्थोमे अपने आपको और अपनेमे सब पदार्थोको देखता है । (इसी तरह)

जो मुझ परमात्माको (भी) सबोंमे और सबोको मुझ परमात्मामें देखता है उससे जुदा न तो कभी मैं होता हूँ और न वह मुझसे अलग होता है। २६।३०।

ये दोनो ही श्लोक "येनभूतान्यशेषेण" (४।३५)से एकदम मिल जाते। फलत उसीके विवरण रूप ही है। इन दोनोने अद्वैत या जीव, ब्रह्म और जगत्‌की एकताका चित्र खीच दिया है।

सर्वभूतस्थित यो मा भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते ॥३१॥

सभी पदार्थोंमे ओत-प्रोत—मौजूद—मुझ परमात्माको जो योगी इस प्रकारकी एकताकी दृष्टिसे देखता है वह चाहे किसी भी दशामें रहने पर भी बराबर मुझमे ही डूबा रहता है।३१।

आत्मौपम्येन सर्वत्र सम पश्यति योऽर्जुन।
सुख वा यदि वा दु.खं स योगी परमो मत. ॥३२॥

हे अर्जुन, चाहे सुख हो या दु ख, (दोनोको ही) सभी पदार्थोंमें जो अपने जैसा ही अनुभव करता है—जो अपने सुख-दु ख जैसे ही दूसरोंके सुख-दु खका अनुभव करता रहता है—वही परले दर्जेका योगी माना जाता है।३२।

अब अर्जुनने देखा कि ओ बाबा, यह तो बीहड बात है—यह सन्यास तो आसान नही है। क्योकि सन्यासका जो असली प्रयोजन ध्यान और समाधिकी सिद्धि है वह मेरे पहुँचके बाहरकी चीज है। मेरे मनीराम तो ऐसे भयकर है, चचल है कि न तो कही टिकना ही जानते और न आत्मामें जुटना ही चाहते। फिर यह साम्यबुद्धि और समदर्शन रूपी समाधि पूर्ण होगी कैसे ? ऊँहूँ। यह नही होने की, असभव है। इसी भावसे वह—

### अर्जुन उवाच

**योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधूसूदन ।**
**एतस्याहं न पश्यामि चंचलत्वात् स्थितिं स्थिराम् ॥३३॥**
**चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम् ।**
**एतस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥३४॥**

अर्जुन कहने लगा—हे मधुसूदन, यह जो समदर्शन रूपी योग आपने (अभी अभी) वताया है, मनकी चचलताके करते इसकी मजबूतीका होना मै (सभव) नही समझता । क्योकि हे कृष्ण, यह मन तो चचल है, बुरी तरह मथ देने, बेचैन कर देने वाला है, बलवान है और बडा मजबूत है । (इसीलिये) मै तो इसे बाँध रखनेको हवाको बाँध रखनेकी ही तरह कतई नामुमकिन मानता हूँ ।३३।३४।

### श्रीभगवानुवाच

**असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।**
**अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ॥३५॥**

श्रीभगवान बोले—हे महाबाहु, वेशक मन चचल (और इसीलिये आमतौरसे) कावूमे नही आनेवाला है। फिर भी हे कौन्तेय, अभ्यास और वैराग्यके वलसे ही कावूमें आता है ।३५।

इस श्लोकके उत्तरार्द्धमे जो कुछ लिखा है ठीक वही वात 'अभ्यासवैराग्या तन्निरोध" (१।१२) योगसूत्रमे अक्षरश पाई जाती है। इसका व्याख्यान करते हुए व्यास भाष्यमे लिखा है कि "चित्तनदीनामो-भयतोवाहिनी, वहति कल्याणाय, वहति पापाय च । यातुकैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा । ससारप्राग्भाराऽविवेकविषय निम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोत खिलीक्रियते । विवेक दर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोतउद्घाटयतइत्युभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोध ।"

यहाँ उपाय तो कुछ बताये गये है नही। इसलिये पहले ही बताये उपाय लेने चाहिये।

हाँ, तो इतना सुनने पर अर्जुनकी निराशा जाती रही जरूर। मगर इसकी कठिनाईका विचार करके उसे खयाल आया कि एक जन्ममे तो यह पूरा होनेका नही। यदि दूसरे-तीसरे आदि जन्मोमे पूरा करनेका खयाल करे तो ठीक नही। क्योकि एक जन्ममे जो कुछ भी किया-दिया और पढा-लिखा होता है वह तो अगले जन्ममे भूली जाता है। आखिर इसके पहले भी तो हमारा जन्म हुआ था। मगर हमे उसकी एक भी बात कहाँ याद है? हमे तो उसका कुछ भी पता नही। ऐसी दशामे फिर भी वही असभव-सी बात आ जाती है। यही ठीक है कि शायद किसी सौभाग्यशाली पुण्यात्माकी समाधि इसी जन्ममे पूर्ण हो जाय। मगर आमतौरसे त॰ लोग अत्यन्त चचल मनवाले ही होते है। फलत उनके यत्नसे इसी शरीरमें सफलता होगी तो नही ही। फिर उनकी क्या गति होगी? वे तो दोनो ओरसे गये। एक तो कर्म-धर्म छोडा। इसीलिये उससे जो सद्गति होती सो तो हो पाई नही। दूसरे योग भी पूरा हुआ ही नही कि इसीका मजा मिलता। इसलिये उनकी तो वही दशा हुई कि "दोनो ओरसे गये पाड़े। न मिला हलवा न मिला माडे।" लेकिन फिर मनमे दूसरा खयाल आया कि आखिर यह भी तो एक महान् कार्य ही है। तो क्या इसके पूरा न होने पर भी इसका कुछ न कुछ सुन्दर फल नही होना चाहिये? इसी पेशोपेश और दुविधेमें पड़े हुए——

## अर्जुन उवाच

**अयति· श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।**
**अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति ॥३७॥**

कोई बुरी गति होती है। क्योकि, ओ मेरे प्यारे, कल्याणके मार्ग पर चलनेवाले किसीकी भी दुर्गति हो नही सकती।४०।

**प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।**
**शुचीना श्रीमता गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥४१॥**

योगभ्रष्ट—समाधिकी सिद्धि न प्राप्त कर सकनेवाला—(मनुष्य) उत्तम कर्म करनेवालोके लोकोमे जाके (और वहाँ) बहुत वर्ष—मुद्दत तक—रहके पवित्राचरणवाले श्रीमानोके घर जनमता है।४१।

**अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।**
**एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम् ॥४२॥**

या नही तो योगियोके ही समाजमे जा पहुँचता है। असलमे इस प्रकारका जो जन्म है वह ससारमे अत्यत दुर्लभ है।४२।

यहाँ श्रीमानोके घरमें जन्म लेनेकी बात कहके फिर योगियोके कुलमे जानेकी बात कही गई है। ऐसे जन्मको बहुत ही दुर्लभ भी कहा है। प्रश्न यह होता है कि श्रीमानके घर और योगीके कुलमे क्या फर्क है? कुछ लोगोने उत्तर दिया है कि धनियोके घरमे सम्पत्तिके चलते योगाभ्यासमे बाधा होती है। वहाँ आराममे ही फँसनेका मौका ज्यादा रहता है। विपरीत इसके योगी कहनेका अर्थ गरीबके घरमें जन्म लेना है। फलत वहाँ अभ्यासका मौका पूरा रहता है। इसीलिये यह जन्म पहलेकी अपेक्षा दुर्लभ है। यह बात इस चीज पर निर्भर है कि मरनेसे पूर्व उसकी क्या दशा थी। यदि अभ्यासमे ज्यादा प्रगति कर चुका था, तब तो उसीकी चिन्ता करते-करते ही शरीरान्त होने से "य य वापि" (८।६)के अनुसार खामखा योगियोके ही घर जनमेगा। योगी से मतलब जनकादि जैसे गृहस्थसे ही है। अन्तर यही है कि जनक थे श्रीमान और यहाँ वह बात न होगी। मगर प्रश्न होता है कि मन्दालसा तो राजाकी पत्नी थी। फिर भी उनके बच्चे आत्मज्ञानी ही होते थे। बचपनसे वह

यही शिक्षा देती जो थी। इसलिये ज्ञानी होनेके लिये श्रीहीन या दरिद्र होना तो जरूरी नही है, अस्तु। और अगर उसकी प्रगति ऐसी ही तैसी थी, तब तो इस योगकी धुन होगी नही। फलत धनियोंके यहाँ ही जनमेगा।

अच्छा, अब यदि श्रीमानका अर्थ "समाधि और योगके साधनोंसे सम्पन्न" यही करे तो क्या बुरा होगा? तब श्लोकका सीधा अर्थ यही होगा कि या तो जनक, मन्दालसा आदिके घर जन्म लेके वही अपना काम पूरा करता है, या अगर किसी वजहसे वहाँ ऐसा न हो सका तो प्रह्लाद आदिकी तरह वहाँसे भागके योगियोके समाजमे जा पहुँचता है और वही काम पूरा करता है। यहाँ कुल शब्द गुरुकुलके कुल जैसा ही मान ले तो क्या अच्छा हो—गुरुकुल और योगिकुल। क्योकि तब योगके अभ्यास करनेवालोका ही समाज होनेसे आसानी भी हो जाती है। इस श्लोकमें 'जायते' न लिखके 'भवति' लिखा है। यहाँ इसका भी अभिप्राय "जा पहुँचना" अच्छी तरह मेल खा जाता है। दो जन्म जुदा-जुदा मानके केवल दूसरेकी बडाई करनेकी अपेक्षा एक ही जन्म मानके उसीकी प्रशसा भी ठीक ही जँचती है। क्योकि अर्जुनका तो प्रश्न था योगभ्रष्टके ही बारेमें। अगर इसमें दो भाग करें तो पहले भागमे आनेवालेकी दशाका ठीक-ठीक पता कैसे चलेगा? ऐसा होने पर उत्तर भी अधूरा ही रह जायगा। अगर आगेवाले श्लोकोमे समान तौर पर दोनोकी ही बात मान लें तो बीचकी यह विभिन्नतावाली बात कुछ यो ही रह जाती है। ठीक जँचती भी नही। यदि ४४वें श्लोक पर गौर करें तो यह पता चलता है कि उसका मन पूर्व जन्मके अभ्यासके करते ही खिचके इस जन्ममे भी योगमें ही जा लगता है। ऐसी दशामें तो श्रीमानोके यहाँ जनमने पर भी योगमें ही लगेगा। फिर वह अपेक्षाकृत हल्के दर्जेका कैसे माना जाय? बल्कि खिच जानेका मतलब हमारे ही बताये अर्थमे यो मेल भी खा जाता

है कि वहाँ गडबड होनेपर वहाँसे भागके योगियोके समाजमे जा पहुँचता है। समाज भी कोई बडा हो यह जरूरी नही है, जिससे बिघ्न बाधाकी बात उठ खडी होगी। वहाँ तो ऐसे ही लोग होगे जो योगकी ही धुनवाले है और वे होगे थोडे ही।

यही पर प्रसगवश एक बात और भी कहे देते है। अर्जुनके प्रश्न और उसके उत्तर हमारे ढगसे तो ठीक मिल जाते है। जब वर्णाश्रमके सभी कर्म-धर्म उसने छोड रखे है तो उसके उभयभ्रष्ट होनेकी बात स्वय आ जाती है। कारण वे तो छूटे ही थे, अब योग भी छूट गया। परन्तु जो लोग यह बात नही मानते और बराबर यही चिल्लाते है कि गीताके मतसे धर्म-कर्मोंको किसी भी दशामे छोड नही सकते वे इन प्रश्नोत्तरोको कैसे ठीक कहेगे ? उनके मतके अनुसार दोनो ओरसे भ्रष्ट होने या गिर जानेका सवाल आता ही कहाँ है ? वह जब मानते ही है कि योगके अभ्यास-के समय भी नित्य-नैमित्तिक आदि धर्मोंको वह योगी करता ही रहता है, तो फिर उनका फल कौन रोकेगा ? वह तो अवश्य ही मिलेगा। इसलिये योगका फल न भी मिला तो क्या मुजायका ? कर्मों का फल तो मिलेगा ही—एक तो मिलेगा ही। ऐसी दशामे दोनों तरफसे चौपट होने या भ्रष्ट होनेका प्रश्न उठता ही नही। यदि मान भी ले कि अर्जुनने भूलसे ही ऐसा कह दिया था, तो कृष्णको तो भूल सुधार लेना था। उन्हे चटपट पहले यही कहना था कि उभयभ्रष्टताकी बात तो गलत है। पीछे और बाते भी कह सकते थे। मगर ऐसा न कहके उनने भी तो मानी लिया कि यही बात है। इसलिये अगत्या कबूल करना ही होगा कि जो सन्यासी या योगी समाधिका अभ्यास करता है उसे कर्म-धर्म छोडना ही पडता है। उसके लिये कोई चारा हई नही।

**तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।**
**यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥४३॥**

हे कुरुनन्दन, वहाँ उसे पूर्व जन्मवाली बुद्धि ही मिल जाती है। इसी-लिये योग-सिद्धिके लिये और भी ज्यादा यत्न करता है।४३।

**पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि स· ।**
**जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते ॥४४॥**

उस पूर्व जन्मके अभ्यासके ही फलस्वरूप वह जबर्दस्ती उधर ही खिच जाता है। (यही कारण है कि) योगकी जानकारी एव प्राप्तिकी इच्छावाला भी शास्त्रीय विधि-विधानकी पर्वा नही करता।४४।

असलमे पहले श्लोकमे यह कहने पर कि वह इस जन्ममें और भी ज्यादा यत्न योग-सिद्धिके ही लिये करता है, यह प्रश्न स्वयमेव पैदा हो जाता है कि कैसे ? दूसरे लोग ऐसा नही करते, वही क्यो करता है ? इसका उत्तर इस श्लोकके पूर्वार्द्धमे दिया गया है कि पूर्व जन्मका वह प्रबल सस्कार ही उसे योगकी ओर बलात् घसीट ले जाता है। फलत इच्छा न रहने या परिस्थियोके विपरीत होने पर भी उसे उसी काममें लगना ही पडता है।

इसपर जो जबर्दस्त प्रश्न पैदा होता है वह यह कि, माना कि सस्कार जबर्दस्त है और उधर घसीटता भी है सही। मगर जब उसने कही जन्म लिया तो ब्रह्मचर्यादि आश्रमोसे ही होके तो सन्यासी बनेगा और समाधि-का अभ्यास करेगा। यह तो सभव नही कि एकाएक सन्यासी ही बन जाय। क्योकि वेदशास्त्रोके विधि-विधान इस सम्बन्धमे मौजूद ही रहते है, जो इन आश्रमोको क्रमश पूरा करने पर ही पूरा जोर देते है। ऐसी दशामे जब ये इधर खीचेंगे और पूर्व सस्कार उधर, तो ज्यादेसे ज्यादा यही हो सकता है कि दोनोकी खीचतानमे वह किसी ओर या तो झुकेही नही, या थोडा-बहुत दोनोके अनुसार करे। वह सिर्फ पूर्व जन्मके सस्कारो-के अनुसार योगाभ्यास ही करेगा, यह कैसे होगा ?

इसीका उत्तर इस श्लोकके उत्तरार्द्धमें है कि जब योग-सिद्धिकी

लगन उसमे पैदा हो गई, तो फिर वह शास्त्रीय-विधि-विधानकी पर्वा क्यो करेगा ? कर्मकाडका तो प्रयोजन ही यही है कि यह लगन, यह उत्सुकता, यह धुन और यह जिज्ञासा पैदा हो जाय। यह तो पहले ही कहा जा चुका है। यह भी बताया जा चुका है कि शब्द ब्रह्मका अर्थ वेदशास्त्रादि ही है। और जब यह धुन और लगन पैदा हो गई, तो फिर उन कर्मों या कर्मोंके प्रतिपादक वचनो और तन्मूलक आश्रमोकी पर्वा वह करेगा क्यो ? आत्मज्ञानी तो नही ही करता है। वह भी नही करता है यह मानी हुई बात है। यही कारण है कि उन वचनो पर अमल करनेके लिये जोर देनेवाले पिता, आचार्य आदि शासकोंकी भी पर्वा वह नही करता। प्रह्लाद आदिके बारेमे यही बात पाई जाती है। उस पूर्व-अभ्यास और उससे उत्पन्न सस्कारकी यही तो अपूर्व शक्ति है।

**प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः।**
**अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥४५॥**

(इस तरह) बहुत मुस्तैदीसे योगकी सिद्धिके लिये यत्न करनेवाला विशुद्धान्त करण योगी (लगातार) अनेक जन्मोके प्रयत्नसे ही वह सिद्धि (और) उसके फलस्वरूप परमगति प्राप्त कर लेता है।४५।

**तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।**
**कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥४६॥**

हे अर्जुन, यह योगी तपस्वियोसे भी श्रेष्ठ है, ज्ञानियोसे भी बडा माना जाता है और कर्मियोसे भी ऊँचा स्थान रखता है। इसलिये तुम (जरूर ही) योगी बनो।४६।

यहाँ बहुत गहरे पानीमे उतरनेकी जरूरत नही है, हालाँकि कुछ लोगोने इसकी बडी कोशिश की है। यहाँ खीचतानकी अपेक्षा सीधा अर्थ ही ठीक जँच जाता है। सत्रहवे अध्यायके "देवद्विजगुरुप्राज्ञ" आदि (१७।१४-१६) श्लोकोमे जिन तीन प्रकारके तपोको गिनाया है

उन्हींके करनेवाले तपस्वी हुए। ज्ञान और विज्ञानका विभेद वताते हुए पहले ही कह चुके है कि सिर्फ पढ-सुनके जो जानकारी किसी वातकी हो जाती है वही है ज्ञान और उसे जिनने प्राप्त कर लिया वही हुए ज्ञानी। सभी प्रकारके श्रौत-स्मार्त्त या दूसरे ही सत्कर्मोंके करनेवाले हो गये कर्मी। मगर इन तीनोंसे ही तो काम पूरा होता नही। आत्माके साक्षात्कारके लिये, जिसे विज्ञान भी कहते हैं, कुछ और भी विशेष यत्न और उपाय करने होते हैं, जिन्हे निदिध्यासन, ध्यान, योग या समाधि कहते है। इन्हें करनेवाले ही योगी कहे गये है। इससे साफ है कि योगी का काम है इन तीनोकी कमियोको पूरा करना। ये तीनो योगीके लिये मार्ग साफ करते है, योगकी तैयारी करते है। यह तो योगी हीका काम है कि उस योगको पूरा करे। वही आखिरी सीढी है। उस पर चढना ही होगा। तभी लक्ष्य स्थान पर पहुँच सकेंगे। इसलिये योगीको सबोंसे श्रेष्ठ कहना सर्वथा युक्ति सगत एव उचित है।

इस तरह कहनेके लिये तो योगीको सबसे ऊँचा बना दिया। मगर आखिर योगी भी तो सभी प्रकारके होते है। पूर्णयोग या योगकी सिद्धिके पहले जाने कितनी ही छोटी-मोटी सीढियोंसे उसी योगकी दशामें ही गुजरना पडता है, जैसा कि "शनै शनै" और "अनेकजन्मससिद्ध"से स्पष्ट है। इसलिये इन सब हालतोंसे सफलतापूर्वक गुजरते हुए यदि ब्रह्मानन्दमें गोते लगाने है तो दो वातें अनिवार्य रूपसे आवश्यक है। एक तो अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमे अटल विश्वास, जिसे श्रद्धा कहते है। यह विश्वास जब किसी भी हालतमें जरा भी डिग न सके तभी लक्ष्य-सिद्धि हो सकती है। यही वात पहले "योगोऽनिर्विण्णचेतसा"में कही गई है। दूसरी यह कि वह लक्ष्य अद्वैत ब्रह्मका साक्षात्कार ही है, अपनी ही आत्माको सबमें ओत-प्रोत देखना ही है, इसी निश्चयके साथ शुरूसे ही पूरी लगन और धुनके साथ मनको उसीमें लगाया जाय। इसीको भजन कहते हैं।

साक्षात्कार या प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहते है। उनके उपदेशक तथा आचार्य तो यह करते नही। क्योकि उन्हे तो पहलेसे ही साक्षात्कार होता है। लेकिन वह शिष्योको, जिन्हे उनने श्रवण, मनन कराया है, इतनी मदद दे सकते है जिससे उनका निदिध्यासन आसानीसे हो सके। इसीको आजकी भाषामे प्रयोग (experiment) कहते है। इससे सुनने और विचारनेवालोको इतनी आसानी हो जाती है कि पीछे यही काम वह खुद भी कर सकते और दूसरोको सिखा सकते है। इस प्रयोगके बिना उन्हे दूसरोको उपदेश देनेकी पूर्ण योग्यता शायद ही हो सके। जिसे पहले कहा था उसीको पीछे कर दिया—कह सुनायेको कर दिखाया। इसपर पहले भी लिखा गया है।

सातवेंसे लेकर दसवे और बारहवेंसे लेकर अठारहवे अध्याय तक मननका ही काम किया गया है। हाँ, अठारहवेमे सभी बातोका उपसहार भी किया है। अधिकाशमे उसे उपसहारका ही अध्याय कहना चाहिये। यो तो उपसहार करनेमे भी पूरा मनन होई जाता है। केवल ग्यारहवे अध्यायमे निदिध्यासनके सहायतार्थ उन्ही बातोका प्रयोग (experiment) करके अर्जुनको साफ-साफ दिखा दिया गया है। आत्मासे जुदा परमात्मा है नही और यह जगत् भी परमात्मासे पृथक् न होके उसीका स्वरूप है, यही बात अर्जुनको उस अध्यायमे प्रत्यक्ष दिखाई गई है। फलत यह प्रयोग नही है तो और है क्या ? मालूम होता है, किसी प्रयोगशालामे बैठके कोई पक्का जानकार चेलेको प्रयोगके द्वारा चीजे दिखा रहा है। मननकी सबसे ज्यादा जरूरत पडती है, सो भी निरन्तर। इसीलिये प्रयोगके बाद भी मनन जारी रखा गया है। यदि मनन न रहे तो सारा प्रयोग बेकार हो जाय और भूल जाय। यह भी भूलना न चाहिये कि श्रवणकी तरह मननके समय भी ज्ञान होता ही है। उसके बिना मनन होगा कैसे ? इसीलिये आगे जो विज्ञानके लिये मननके

यहाँ "इद वक्ष्यामि"का "वक्ष्यामि" पाणिनिके "वर्त्तमान सामीप्ये वर्त्तमानवद्वा" (३।३।१३१)के अनुसार फौरन कहनेके ही मानीमे बोला गया है। ऐसे मौके पर 'लो, जाता हूँ' आदिके ही अर्थमे "एष गच्छामि, एष गमिष्यामि, इद गमिष्यामि" आदि बोलनेकी पुरानी रीति है। और इसके वाद ही चौथे श्लोकसे वही वात फौरन शुरू भी तो हो गई है। बीचमे जो तीसरा श्लोक आया है वह तो इस विज्ञानकी दुर्लभता और कठिनाईको ही वताता है, ताकि उधर पूर्ण रूपसे लोगोका ध्यान आकृष्ट हो सके और हम गौरसे सारी वाते सुन सके, विचार सकें।

मनुष्याणा सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धाना कश्चिन्मा वेत्ति तत्त्वतः ॥३॥

(एक तो) हजारो आदमियोमे (शायद ही कोई) योगसिद्धि और ज्ञानप्राप्तिके लिये कोशिश करता है (और) योगकी सिद्धिको प्राप्त हुए इन यत्न करनेवालोमे भी (शायद ही) कोई मुझ परमात्माको यथार्थतः जानता—मेरा साक्षात्कार करता—है।३।

भूमिरापोऽनलो वायुः ख मनो बुद्धिरेव च।
अहकार इतीय मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा ॥४॥

भूमि, जल, अग्नि, वायु, आकाश, अहकार, महत्तत्त्व और प्रधान या मूल प्रकृति—इस प्रकार यह मेरी प्रकृति—माया—हीके आठ विभाग है।४।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूता महाबाहो ययेदं धार्यते जगत् ॥५॥

हे महाबाहु यह तो अपरा या नीचे दर्जेवाली मेरी प्रकृति है। (लेकिन) इससे निराली जीवरूपी मेरी उस परा या श्रेष्ठ प्रकृतिको भी तो जान लो, जो इस (समूचे) जगत्को कायम रखती है।५।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय ।
अहं कृत्स्नस्य जगत. प्रभव. प्रलयस्तथा ॥६॥

इन्ही (दोनो प्रकृतियो)से ही सभी पदार्थ बनते है ऐसा निश्चय कर लो । (अन्ततोगत्वा तो इस तरह)मुझसेही सारा ससार पैदा होता है और मुझीमे समा जाता है ।६।

मत्त· परतर नान्यत् किंचिदस्ति धनजय ।
मयि सर्वमिद प्रोत सूत्रे मणिगणा इव ॥७॥

(क्योकि) हे धनजय, मुझसे बडा (तो) कोई हई नही । यह सब कुछ (दृश्य जगत्) मुझमे उसी तरह पिरोया हुआ है जैसे मालाके दाने सूतमे ।७।

यहाँ चौथे श्लोकका अर्थ समझनेके लिये पूर्व का गुणवाद प्रकरण पढ लेना जरूरी है । वही इसका पूर्ण स्पष्टीकरण मिलेगा । परमात्माके सिवाय इस दृश्य तथा अदृश्य जगत्के मूलमे दो पदार्थ है, जिन्हें जीव और माया या प्रधान कहते है । प्रधानको ही प्रकृति भी कहते है । प्रकृति-का अर्थ है मूल कारण । यहाँ पर जीव और प्रधान दोनोको ही प्रकृति कहा है, जिनमे प्रधान नीचे दर्जेकी और जीवात्मा ऊँचे दर्जेकी है । इन्ही दोसे सारे जगत्का पसारा हुआ है । मगर इन दोनोका भी पसारा अन्तमें ब्रह्म या परमात्मासे ही है । फलत उसके सिवाय और कोई सत्य पदार्थ हई नही । इन दोनोमे जीवात्मा तो परमात्माका रूप ही है । किन्तु प्रकृति, माया या प्रधान अनिर्वचनीय, अनादि और मिथ्या है । इस तरह ब्रह्म-आत्माके अलावे सत्य वस्तु जब कोई हई नही तो द्वैत या विभिन्नताका प्रश्न उठता ही कहाँ है ? ये सारी बातें भी गुणवादके ही प्रसगसे वही लिखी है । मालेके दाने और सूतका दृष्टान्त देकर इतना ही कहा है कि जैसे सूतके बिना दाने अलग हो जायँगे और माला रही न जायगी, साथ ही, जैसे हर दानेके भीतर सूत मौजूद है, ठीक उसी तरह परमात्मा

या आत्माके विना सभी पदार्थ विखर जायँगे और यह जगत् रही न जायगा। सूतकी तरह परमात्माने ही सब पदार्थोंको पकड रखा है, रोक या धर रखा है। आखिर आत्मा तो सभीकी होती है न ? फलत उसके विना कोई चीज रहेगी ही कैसे ? इसलिये वही सबोको जरूर ही धारण करनेवाली है। यह वात भी पहले खूब वता चुके है।

आगेके पाँच (८-१२) श्लोकोमे थोडा-सा नमूनेके तौर पर इस बातका विवरण दिया गया है कि परमात्मा या आत्मा सूतकी तरह पदार्थोमे कैसे व्याप्त है, पदार्थ उनमे पिरोये हुए है। इसका विशेष विवरण कुछ तो नवे (१६-१९) और बहुत अधिक दसवे अध्यायमे दिया गया है। जो भी हो, इस विवरणके पढनेसे मालूम पडता है कि या तो कोई विशेषज्ञ और पूरा जानकार आदमी किसी पाठशालेमे बैठके अपने शिष्योको यह वात समझा रहा है कि किस प्रकार औक्सीजन और हाईड्रोजनके मिलानेसे, सयोगसे ही पानी बनता है, इसीलिये इन दो अदृश्य वायुवोके अलावे पानीकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है, हस्ती नही है, या कोई वेदान्ती जिज्ञासुओ एव मुमुक्षुओको वता रहा है कि सपनेमे जितनी चीजे नजर आती है, जो भी पदार्थ देखे जाते है, वह देखनेवालेसे वस्तुत जुदा है नही, हालाँ कि जुदा तो साफ ही मालूम होते है। इसीलिये जागने पर देखनेवालेके सिवाय और कुछ भी पाया जाता नही। सिर्फ नीदके ही करते यह सारा तूफान और प्रपच बन गया होता है। क्योकि दर असल नीदके ही चलते उस देखनेवाले को होश नही रहता, उसे अपनी सुधबुध नही रहती। इसीलिये दुनिया भरकी अटसट चीजे वातकी वातमे यो ही रच-बनाके देखता-सुनता है। ठीक उसी तरह भगवानकी मायाके ही करते उसे भी आपा बिसर जैसा गया है। फलत सपनेकी तरह सारे जगत्को यो ही वातकी वातमे वनाके देख रहा है। नहीं तो दरअसल उसके अलावे और कुछ है वै नही। इसीलिये जैसे नीदके पहले कोई चीज न रहने पर

पाये जाते हैं सबके सब मुझ परमात्मासे ही बने हैं। (लेकिन याद रहे कि) मैं उनमें नहीं हूँ, (किन्तु) वही मुझमें हैं।१२।

ऊपरके इन पाँच श्लोकोंमें इस सृष्टिके मूलकारणका जो उल्लेख आया है वह कई दृष्टियोंसे महत्त्वपूर्ण है। यह ठीक है कि सृष्टिके कुछी पदार्थोंको चुनके उन्हींके बारेमें चार श्लोकोंमें कह दिया है कि उनकी आत्मा, उनका हीर, उनकी असलियत मैं ही हूँ, आत्मा ही है, परमात्मा ही है। किन्तु पाँचवें श्लोकमें तो सात्त्विक, राजस, तामस शब्दोंमें त्रैगुण्य या सभी पदार्थोंको सामान्य रूपसे लेकर वही बात कह दी गई है। कुछ चुनेचुनाये पदार्थोंके बारेमें ऐसा करनेका एक खास प्रयोजन अन्तमें इसी अध्यायमें कहेंगे। यहाँ यही देखना है कि उनमें भी पाँच भूतोंमें पृथ्वी, जल, तेज और आकाश इन चारको ही पृथक्-पृथक् गिनाया है और वायुको इस रूपमें छोड़ दिया है। इन चारोंके जो असली गुण या परिचायक हैं, उनकी जो विशेषतायें (characteristics) हैं, और इसीलिये जिन्हें उनकी आत्मा कह सकते हैं, उन्हींको परमात्माका रूप बना दिया है। सचमुच ही यदि भूमिसे गन्धको, आकाशसे शब्दको, अग्निसे तेजको और जलसे रसको निकाल लें तो उन पदार्थोंका अपना क्या रह जायगा? उन्हें फिर भी पृथ्वी, जल आदिके नामसे कोई पुकारेगा भी क्या? तब तो वे लापता ही होंगे। उनके अस्तित्वका कोई भी प्रमाण रही न जायगा। भूमिमें दार्शनिकोंने गन्ध ही सब कुछ माना है। जहाँ वह न भी मालूम हो वहाँ भी रहता ही है। लोहे, पत्थर वगैरहमें मालूम न होने पर भी उनके भस्ममें स्पष्ट ही मालूम होता है।

रह गया वायु। असलमें यदि देखा जाय तो इस भौतिक सृष्टिके मूलमें जो पाँच भूत हैं उनमें वायुका ही महत्त्व सबसे ज्यादा है। अन्य पदार्थोंके बिना तो सभी पदार्थ कुछ देर टिक भी सकते हैं। मगर हवाके बिना एक मिनट भी टिकना असम्भव हो जाता है। इसे प्राण भी इसीलिये

कहा है कि वह सबोको कायम रखता है, उनमें हलचल या क्रिया जारी रखता है। असलमे क्रिया ही तो अस्तित्वका लक्षण है और वह है वायुकी ही चीज। इसीलिये छठें अध्यायमे कहा है कि वायुको रोक देना या उसकी क्रिया वन्द कर देना असभव है। तब तो दुनिया ही खत्म हो जायगी। शरीरके भीतर खूनका सचार क्षण भर भी रुका कि मरे। पदार्थोंके भीतरसे नये-पुराने परमाणुओका जाना-आना रुका कि वे खत्म हुए। यही कारण है कि वायुके हीरको—सारको—लेनेकी अपेक्षा समूचे वायुको ही "जीवन सर्व भूतेषु" (७।९) में जीवन शव्दसे ले लिया है। जीवनका सीधा अर्थ है प्राण। मगर दरअसल उसके मानी है अस्तित्व जिससे कायम रहे, या स्वय अस्तित्व ही। वायुको जीवन भी कहते है। पानी भी तो दो वायुवोके समिश्रणसे ही बनता है। इसीलिये उसे भी कही-कही जीवन कहा गया है। वायुको भूतोमे न गिननेका एक और भी कारण अन्तमें इसी अध्यायमे हमने दिखाया है।

इस प्रकार जगत्के मूल भूत पचभूतोको ही आत्माका रूप वना दिया है। इसके वाद कुछ खास-खास चीजे चुन ली है। इनमें सूर्य और चन्द्र भी आये है। सचमुच ही ये दोनो जगत्के बडे कामके है। चन्द्रके वारेमें तो पन्द्रवे अध्यायमें कह दिया है कि अमृत या रसके रूपमें सभी अन्नादिको पुष्ट करता है, जिन्हें खाके सभी पुष्ट और जीवित रह सकते है। इसी प्रकार सूर्य समस्त शक्तियोका भडार, सभी शक्तियोका देनेवाला पहले भी माना गया है। आजके विज्ञानने भी ऐसा ही माना है। अब यदि इन दोनोके प्रकाशको हटा लें तो इनमे रहेगा ही क्या? असलमें सूर्यको तो "प्रकाशका पुज ही" कहा है, "तेजसागोलक सूर्य"। चन्द्रमामें भी सूर्यका ही प्रकाश माना जाता है। उसे प्रकाशका स्वतत्र पुज नही माना है। यही कारण है कि दोनोका सार प्रकाश ही वनाया गया है। यदि प्रकाशके अलावे इन दोनोमें और भी स्थूल पदार्थ मानें, जैसा कि आजके

वैज्ञानिक बताते है, तो भी क्या ? प्रकाश निकाश लेने पर इन दोनोको चन्द्र और सूर्य तो कोई भी न कहेगा। बस यहाँ यही आशय है।

हिन्दू लोग वेदोको सर्वमान्य और सर्वश्रेष्ठ कहते है। उन्हे ज्ञानागार भी मानते है। असलमे वेद शब्दका अर्थ ही है ज्ञान या ज्ञान देनेवाला। इसीलिये वेद कहनेसे सभी सद्ग्रन्थो और ज्ञान देनेवाली पोथियोसे मतलब होता है। फिर चाहे वह किसी धर्मकी हो, या उन्हे धर्मसे कोई वास्ता न भी हो, और केवल औषधियो आदिकी हजारो वैज्ञानिक जानकारियाँ कराये। पुराने लोग प्रणव या ॐकारको ही सब वेदोका निचोड मानते थे, "ॐकार सर्ववेदाना सारस्तत्त्वप्रकाशक"। ॐमे भी अ, उ, म् ये तीन अक्षर माने गये है, जिनमे प्रधानता अकारकी ही है। अकार ही समस्त व्यजनोके उच्चारणका सहायक माना गया है। ऐसा भी लगता है कि सभी स्वर अक्षरोके मूलमे यह अकार ही है। क्योकि उनके उच्चारण-मे पहले अकारका ही आभास होता है। अब तो नई वर्णमालामे इस प्रकारसे ही शेष स्वरोको बनाने भी लगे है। इस प्रकार सभी अक्षरोके मूलमे अकारके होनेसे और सभी ग्रन्थोके इन अक्षरोसे ही बने होनेके कारण सबोके मूलमे यह अकार आ जाता है, और वही है आत्माका रूप।

पुरुषोमे पौरुष या मर्दोमे मर्दानगी, तपस्वियोमे तप, बलवानोमे बल, तेजस्वियोमे तेज और बुद्धिमानोमे बुद्धि यही पाँच चीजे और भी ली गई है। असलमे अर्जुन जैसे तेजस्वी, बली बुद्धिमान और मर्दका खयाल करके ही ये बाते कही गई है। वह तो तप करनेके लिये भी जगलकी शरण लेनेको तैयार ही था। इसीलिये तप भी आ गया है। इन पाँचोकी दुनियामे भी बडी कद्र है। अर्जुन भी कही समझता हो कि मै भी कुछ हूँ। इसलिये साफ ही कह दिया कि ये सभी चीजे परमात्मा रूपी ही है। फिर तुम्हारी अलग हस्ती हई क्या ? तुम स्वतत्र करी क्या सकते हो ?

इन सभी पदार्थोके सिलसिलेमे दोई बाते और आई है। एक तो

पृथ्वीके गन्धको पुण्य या सुन्दर गन्ध कहा है, जिससे पता लगता है कि दुर्गन्ध परमात्माका रूप नही है। दूसरे काम या कामनाको भी कहा है कि वह धर्म-विरोधी न हो तो भगवानका रूप ही है। फलत धर्म-विरोधी कामना या अभिलाषा उसका रूप नही है। इससे सिद्ध होता है कि गीताने दुर्गन्धकी स्वतत्र सत्ता न मानके उसे विकार या खरावी ही माना है, और सृष्टिके प्रसगमे विकार या खरावीके कहनेके मानी हो जाते है सृष्टिके नाशके। इसीलिये उसे छोड दिया। इसी तरह "धर्मो धारयतेप्रजा"के अनुसार धर्म उसीको कहते है जो सृष्टिको कायम रखनेमें सहायक हो। फलत धर्म-विरोधी चीज सृष्टिका नाशक वन जायगी। यही कारण है कि सृष्टिकी वातें गिनानेमे प्रलयके सामानोको छोड दिया है।

अन्तमे तो "वीज मा सर्वभूताना"में यह भी कह दिया है कि यह तो नमूनेके रूपमे कुछी पदार्थोंको गिनाया है। असलमे तो सभी पदार्थोंका सनातन वीज परमात्मा ही है। आमका वीज गुठली भले ही हो। मगर वह तो सनातन नही है। वह तो खुद भी नष्ट हो जाती और पैदा होती है। फलत उसका भी वीज कोई न कोई हुई। इस तरह वढते-वढते अन्तमे ऐसी जगह पहुँचना होगा जिस वीजका नाश नही होता, जो सदा रहता है और जिससे सभी पदार्थ क्रमश. वनते है, पैदा होते है। वही है मूल कारण या सनातन वीज और वह आत्माके सिवाय और कुछ नही है।

आखिरी श्लोकमे जो यह कहा है कि सभी पदार्थ मुझ परमात्मामें ही है, न कि मै ही उनमे हूँ, उसका कुछ मतलव है। अव तक रस, गन्ध आदिके रूपमे सभी पदार्थोंके जिन मूल कारणोंको वताया है उन्हे देखनेमे पता चलता है कि वे उन्ही पदार्थोंमे रहते है। सप्तमी विभक्ति लगा-लगाके यही कहा भी गया है। मालाके दानेका जो दृष्टान्त दिया है उसमे भी सूत दानोंके भीतर ही है, न कि दाने सूतके भीतर। इससे कोई ऐसा न समझ ले कि परमात्माके आधार ये भौतिक पदार्थ ही है, इसीलिये कहना

पडा कि मैं उनमें नहीं हूँ, किन्तु वही मुझमे है—वे मेरे आधार नही है, किन्तु मैं उनका आधार हूँ। पदार्थोंको आधार माननेसे अन्ततोगत्वा उनका स्वतन्त्र अस्तित्व मानना ही पडता और इस तरह अद्वैतवाद या सर्वभूतात्मभूतात्मावाला गीताधर्म लागू हो पाता नही। इसलिये ऐसा कहना जरूरी हो गया। इस कथनका तात्पर्य यही है कि इस प्रकार हर पदार्थोंका विश्लेषण करते-करते अन्तमें इनका पता कुछ नही लगता। एक आत्मरूपी परमात्मा ही सबोके मूलमे रह जाता है। उसीमे इनकी कल्पना सपनेकी तरह हुई है। इसीलिये इन्हे देखके इनके मूलका अन्वेषण करनेसे ही काम चलेगा जो इनमे न होके इनसे स्वतन्त्र है। इसका विस्तृत विवेचन छान्दोग्योपनिषदके छठे अध्यायके आठवे खडमे आया है। वहाँ बार-बार लिखा है कि "अन्नेन शुगेनापोमूलमन्विच्छाद्भि सोम्य शुगेन तेजो मूलमन्विच्छतेजसा सोम्य शुगेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूला सोम्येमा प्रजाः सदायतना सत्प्रतिष्ठा"।

अन्तमें सात्त्विक आदि शब्दोसे जो भौतिक पदार्थोंको याद किया है उसका दूसरा प्रयोजन भी है। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि ऐसी जानकारी सबोको क्यो नही होती? इसका समाधान जरूरी है। यो तो तीनो गुणोके भीतर जगत् आई जाता है। फिर भी इन त्रिगुणात्मक पदार्थोंकी यह खूबी है कि ये अपने भीतर ही लोगोको फँसा लेते है। इनके फँसानेके कौन-कौनसे तरीके है यह बात गुणवादमे विस्तृत रूपसे कही जा चुकी है। नतीजा यह होता है कि इनसे आगे हम बढने पाते ही नही। इनका फन्दा ऐसा ही जो ठहरा। लोभी बनिये की तरह हम बारह महीने, तीस दिन और जीवनभर यही सोचते रह जाते है कि बच्चोंके लिये थोडा यह कर लें, वह कर ले, तो फिर भगवानको याद करने कही अलग चलेगे। जरा मन्दिर बना के तीर्थ कर ले, दान-पुण्य कर ले, कथा-वार्ता सुन ले, तो फिर विरागी बनेगे। ऐसा ही सोचते-सोचते और करते-करते जीवन खत्म

हो जाता है और आगे वढ पाते नही । इसीलिये कह दिया है कि इन पदार्थोमें मै नही हूँ, यही मुझमे है । इन्हे छोडो तो मुझे पाओगे । बिना ऐसा किये आत्मा-परमात्माको पहचानना असभव है । ये मायाके ही गुण और पदार्थ है और माया तो ठगनेवाली ही ठहरी न ? उसने उसी रस्सीमें फाँस लिया है । उसकी हजार चालें है । जवतक इनसे हटके परमात्माकी ओर बिल्कुल ही लग न जाये तवतक न तो मायासे—इस वडी नीदसे—पिंड ही छूटेगा, न जगेंहीगे और न इन पदार्थोका पूर्वोक्त रहस्य समझ सकेगे । यही बात आगेके श्लोकोमे कही गई है । वहाँ इस जगनेका, इस ज्ञानका महत्त्व सुझाया गया है । यह भी वताया गया है कि परमात्मा-की ओर मुखातिब होनेवाले भी लोग भटक जाते है । इसलिये मजग रहना होगा ।

**त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत् ।**
**मोहित नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम् ॥१३॥**

इन त्रिगुणात्मक पदार्थोमें ही फँसके भूला हुआ यह ससार इनमे निराले और अविनाशी मुझ भगवानको ठीक-ठीक समझ पाता नहीं ।१३।

**दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।**
**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेता तरन्ति ते ॥१४॥**

(ऐसा इसीलिये होता है कि) विलक्षण चमत्कारवाली, जिसमे पार न पाया जा सके ऐसी (तथा) अनेक गुणो—फँसानेके साधनो—वाली मेरी माया ही तो आखिर यह सब कुछ है । (इसीलिये) जो लोग केवल मुझ परमात्मामे ही लग जाते है वही इस मायासे पार पाते है ।१४।

**न मां दुष्कृतिनो मूढा. प्रपद्यन्ते नराधमा ।**
**माययापहृतज्ञाना आसुर भावमाश्रिता ॥१५॥**

(विपरीत इसके) जो मनुष्योमे अधम, दुष्कर्मी, आसुरी प्रकृतिवाले

(और) मूढ है—विवेकशून्य है (और) जिनका ज्ञान मायाने हर लिया है वह तो मुझमे कभी लगते नही ।१५।

**चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन ।**
**आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ ॥१६॥**

हे अर्जुन, हे। भरतर्षभ, (जो) सुकर्मी जन मुझ परमात्मामे लगते है वे चार प्रकारके होते है—धन चाहनेवाले, कष्टमे पडे हुए, ज्ञानकी इच्छावाले और ज्ञानी ।१६।

यहाँ यद्यपि श्लोकमे क्रम दूसरा है तथापि असली क्रम इन चारोका वही है जो हमने लिखा है। श्लोकमे छन्द रचनाके लिये ही उलट-फेर करना पडा है। दरअसल भगवानकी ओर मुखातिब होनेवाले भी पहले धन-सम्पत्तिमे ही फँस जाते है, वहीतक रह जाते है। यदि कोई आगे बढा भी तो एकाध भारी सकट आते ही उसीसे त्राण चाहके वही फँस जाता है। हाँ, जो इन दो फन्दोसे पार हो जाते है उनमे पहले तो यही भावना होती है कि मुझे आत्मज्ञान प्राप्त हो। यह ठीक भी है। भटकना तो यह है नही। क्योकि यही असली सीढी है। इसी इच्छासे भगवानकी तरफ जाने और उसमे लग जानेवाले ही पीछे ज्ञानी होते है, जो समस्त जगत्को अपना स्वरूप ही देखते है। इस तरह यदि देखा जाय तो परमात्मा-की ओर जानेवाले सभीके सभी लोग पामरोसे तो अच्छे ही है।)

**तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते ।**
**प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः ॥१७॥**

एक—अद्वैत ब्रह्मात्मा—हीमे लीन ज्ञानी उन (चारो)में (भी) श्रेष्ठ है। क्योकि मै ज्ञानीका सबसे प्यारा हूँ और वह भी मेरा सबसे प्यारा है।१७।

आखिर आत्मासे—अपने आपसे—बढकर अपना प्यारा होगा कौन? और ये ब्रह्म एव ज्ञानी तो परस्पर एक दूसरेकी आत्मा होई

चुके है। वे एक दूसरे से जुदा नही है, पृथक् नही है। एककी हस्ती—सत्ता—दूसरे से जुदा हुई नही। ज्ञान के यही मानी है।

**उदाराः सर्व एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।**
**आस्थित स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमा गतिम् ॥१८॥**

(यो तो) सभी अच्छे ही है। (लेकिन) ज्ञानी तो मेरी (अपनी) आत्मा ही है। क्योकि वह मुझीमें मनको जोडता तथा मुझसे बढ़के दूसरा कुछ भी मानता ही नही।१८।

**बहूना जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मा प्रपद्यते।**
**वासुदेव सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ ॥१९॥**

बहुत जन्मो(मे यत्न करते-करते तब कही सब)के अन्तमें ज्ञान प्राप्त करके 'यह सब कुछ भगवान ही है' इस प्रकार मुझ परमात्मामें जो लग जाता है वही अत्यन्त दुर्लभ महात्मा है।१९।

लेकिन कोई ऐसा न समझ बैठे कि इस प्रकार चार ही ढगके लोग भगवानकी ओर बढते है, इसीलिये गीताके श्रद्धावाले सिद्धान्तके अनुसार, जिसका पूरा वर्णन पहले ही किया जा चुका है, यह बताना जरूरी हो गया कि और भी लोग है जो घूमघामके भगवानकी ओर जाते है, न कि सीधे। फर्क यही है कि ये चार सीधे जाते है। इसलिये इन्हे वहाँ औरोकी अपेक्षा शीघ्र पहुँचनेका मौका है। बेशक, इन चारोकी अपेक्षा शेष लोग भूले हुए जरूर माने जाने चाहिये। क्योकि वे यह समझते है कि भगवान तो केवल मुक्ति देता है, बाकी पदार्थ तो दूसरे देवता लोग ही दे सकते है, देते है। अपनी अनेक प्रकारकी कामनाओके करते वे अन्धे हो जाते है और सोचने लगते है कि भला ये तुच्छ चीजें भगवान क्या देगे। इसीलिये भटकते भी तो है। क्योकि उन्हें जानना चाहिये था कि जो कुछ भी देना-दिलाना या करना-कराना हो केवल भगवान ही करते है। औरोकी ओर नजर करना ठीक वैसा ही है जैसा कुत्तेका खून-मासके लिये सूखी

हड्डी चबाना। वे बिचारे ऐसा इसीलिये करते है कि गुण-कर्मके अनुसार उनकी प्रकृति ही ऐसी होती है।

**कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।**
**तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया ॥२०॥**

अनेक प्रकारकी कामनाओके चलते समझ खराब हो जानेसे (बहुतेरे लोग) अपनी-अपनी रुचिके अनुसार विभिन्न देवताओकी शरणमे उन्ही-उन्हींके नियमोके अनुसार जाते है।२०।

यहाँ प्रकृतिका स्वभाव अर्थ है। उसमे दो बाते आती है। एक तो उसीके अनुसार भगवानको छोडके सामान्यत राजस, तामस आदि खयालसे दूसरे देवताओकी ओर झुकते है। दूसरे विशेष रूपसे कौन किस देवताकी ओर झुकेगा इसमे भी उसी प्रकृतिसे पैदा हुई रुचि कारण है। इसपर विशेष प्रकाश पहले ही डाल चुके है।

**यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।**
**तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥२१॥**
**स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।**
**लभते च ततः कामान्मयैव विहितान् हितान् ॥२२॥**

जो-जो भक्त जिस-जिस देवताकी पूजा श्रद्धासे करना चाहता है उस-उसकी उसी श्रद्धाको मैं—परमात्मा—अचल बना देता हूँ (और) वह उसी श्रद्धाके साथ उस (देवता) की आराधना करता भी है। (मगर) उसके बाद अपनी इच्छाके अनुकूल मेरे ही दिये पदार्थोंको पाता है।२१।२२।

इन श्लोकोके श्रद्धा और भक्त शब्द महत्त्व रखते है। इन दोनोसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जबतक अपने लक्ष्यमे पूर्ण विश्वासके साथ सच्चे दिल और ईमानदारीसे कोई काम न करे तबतक सफलता नही मिलती है और अगर ये बाते है तो वह चाहे कुछ भी करे सब ठीक ही है। जो

श्रद्धा-भक्ति भगवानके सम्बन्धमे होती है वही यहाँ भी है। फर्क यही है कि लक्ष्य और रास्ता बदल गया है। लेकिन यदि श्रद्धा-भक्तिमें कमी हो गई तो सब चौपट ही समझिये। तब तो कोई भी लक्ष्य सिद्ध होगा नही। श्रद्धाके अचल होनेके यही मानी है।

**अन्तवत्तु फलं तेषा तद्भवत्यल्पमेधसाम्।**
**देवान्देवयजो याति मद्भक्ता यान्ति मामपि ॥२३॥**

(फर्क यही होता है कि) उन नासमझोको जो फल मिलता है वह अचिरस्थायी होता है। (क्योकि) देवताओके पूजक (ज्यादेसे ज्यादा) देवताओ तक ही पहुँच पाते है। (लेकिन) मेरे भक्त तो मुझ तक भी पहुँच जाते है—मेरा स्वरूप भी हो जाते है।२३।

यहाँ 'मामपि'मे जो अपि शब्द है उससे 'मुझे भी' ऐसा अर्थ हो जाता है। अर्थात् भगवानके भक्त भगवान तक तो पहुँचते ही है। लेकिन दूसरे पदार्थों तक भी उनकी पहुँच होती है—उन्हें दूसरे पदार्थ भी प्राप्त होई जाते है। न कि वे भूखे-प्यासे मरते है। इसीलिये कह दिया है कि "योगक्षेम वहाम्यहम्" (९।२२)। "आर्त्तो जिज्ञासु" (७।१६)में भी कही दिया है कि भगवानकी भक्ति दूसरे-दूसरे उद्देश्योंसे भी होती है। इसीलिये यहाँ यह कह देना जरूरी था कि मेरी भक्तिसे दूसरी चीजे भी मिलती है। मै तो मिलता ही हूँ। मगर "मियाँकी दौड मस्जिद तक"के अनुसार देवताओके पूजक अधिकसे अधिक उन्ही तक जा सकते है।

यदि यह प्रश्न हो कि वह लोग ऐसा क्यो करते है? सभी भगवानको ही क्यो नही भजते? क्योकि यहाँ तो दोनो हाथोमें लड्डू है, तो इसका उत्तर पहले ही दे चुके है "हृतज्ञाना" और "प्रकृत्या नियता स्वया" इन्ही शब्दोंसे। उसीका विवेचन आगेके दो श्लोकोमे है। असलमें ऐसे लोग चाहते तो है कि भगवानकी ओर चले। चलते भी है। लेकिन समझ तो होती नही। इसीलिये भौतिक वायुमडलमें पैदा होके उसीमे

पले ये लोग उस परिस्थितिको डाँक सकते नही। फलत इन्ही भौतिक स्थूल पदार्थोंको ही देवी-देवताओंके रूपमे भगवान समझके पूजने लगते है। उनका भगवान कोई दूसरा तो होता नही। वैसा निराकार और अविनाशी भगवान तो उनकी नजरोसे ओझल है। वीचमे वह ठगनेवाली एव अनेक युक्ति फैलानेवाली माया जो आगई है और उसीमे वे फँस गये है।

**अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।**
**परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम् ॥२४॥**
**नाहं प्रकाश सर्वस्य योगमायासमावृतः।**
**मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम् ॥२५॥**

मेरे निर्विकार, सर्वोत्तम एव सवसे वढे-चढे अदृश्य स्वरूपको नासमझ लोग नही जानते। (फलत )मुझे स्थूल या भौतिक रूप ही मान लेते है। (क्योकि) मै तो अनेक हिकमतवाली मायासे छिपा होनेके कारण सर्व-साधारणकी नजरमें आता नही। (इसीलिये) ये मूढ लोग मुझ अजन्मा (और) अविनाशीको ठीक-ठीक समझ पाते नही।२४।२५।

इसपर प्रसगवश फौरन ही यह प्रश्न उठता है कि जव भगवान और जनसाधारणके वीच मायाका वहुरगा पर्दा है और वही भगवानको छिपाये हुए है, जिससे लोग उसे देख नही सकते, तो वह भी लोगोको, इस वाहरी दुनियाको कैसे देख सकेगा? वह पर्दा तो समानरूपसे दोनोकी ही दृष्टि रोकेगा। प्रत्युत जव भगवान मायासे घिरा है, आवृत है, वल्कि समावृत है, अच्छी तरह घिरा है, तव तो उसकी दृष्टि और भी सकुचित होनी चाहिये। विपरीत उसके जनसाधारण तो उसके सिवाय वाकी सभी पदार्थोको वखूवी देख सकते है। क्योकि उनके लिये तो केवल भगवान ही पर्देमे है न? इसका चटपट उत्तर देके ही आगे वढते है। उत्तर यो है—

**वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन।**
**भविष्याणि च भूतानि मा तु वेद न कश्चन ॥२६॥**

हे अर्जुन, मैं तो पुराने गुजरे हुए, वर्त्तमान एवं भविष्य सभी पदार्थोंको देखता हूँ। लेकिन मुझीको कोई नही देखता।२६।

**इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।**
**सर्वभूतानि संमोहं सर्गे यान्ति परन्तप ॥२७॥**

हे भारत, हे परन्तप, रागद्वेषसे पैदा होनेवाले द्वन्द्वके झमेलेके चलते सभी प्राणियोको जन्मसे ही भूल-भुलैयांमे पड जाना होता है।२७।

**येषान्त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।**
**ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः ॥२८॥**

(लेकिन) जिन पुण्यकर्मा लोगोके पाप खत्म हो चुके है, वे द्वन्द्वोंके झमेलेसे छुटकारा पाके मुझ परमात्माको ही बडी मुस्तैदीसे पकड लेते है।२८।

बीचमे प्रसगवश जो इन तीन श्लोकोमे लिखी बातें आ गई है उनके बारेमे कुछ और भी जान लेना आवश्यक है। यह ठीक है कि भगवानपर पर्दा होनेसे उसकी भी दृष्टि सकुचित होनेका प्रश्न पैदा होता है। उसका उत्तर देना भी इसीलिये जरूरी हो जाता है। इसीसे कह भी दिया है कि भगवान तो त्रिकालदर्शी है और सब कुछ जानता है। मगर लोग ही उसे जान नही सकते। इसका कारण भी यही है कि इस मायाकी नीदने भगवानको सुलाया तो है नही कि उसकी जानकारी जाती रहे और वह सपने देखने लगे। यह तो जीवो या जनसाधारणकी ही नीद है, जिससे उनकी आँखें बन्द है। फलत वे परमात्माको, जो उन्हींकी आत्मा है, देख नही सकते। इसीलिये जरूरत भी इस बातकी है कि भगवानमें लगन लगाके इस नीद एव मायाको मिटाया जाय, जैसा कि पहले इसी अध्यायमें कह दिया है।

लेकिन इस प्रश्नकी जरूरत ही क्या थी, यह पूछा जा सकता है। यदि भगवानकी दृष्टि भी तग हो जाय तो हमारा क्या बिगडता है? अर्जुनका क्या घटता था? उसका काम तो वैसे ही चलता रहता। आखिर उसकी दृष्टि सकुचितसे विस्तृत तो हो गई नही। यह बात पहले कही जा चुकी ही है।

दरअसल अर्जुनकी और दूसरे लोगोकी भी हानि जरूर ही थी यदि भगवानकी नजर भी तग हो। क्योकि तब तो गीताका जो उपदेश है और खासकर सृष्टिके सम्बन्धमे जो बाते कृष्ण कह रहे थे उनपर अविश्वास करनेकी ही नौबत आ जाती। जब साधारण लोगो जैसी ही या उनसे भी गई गुजरी समझ उपदेशकके पास हो तो उसकी बातका क्या ठिकाना? उसमे विश्वास करेगा ही कौन? इसलिये ही यह कहना पडा।

लोगोकी दृष्टि ऐसी क्यो होती है और भगवानकी नही यह बात २७वाँ श्लोक बताता है। यह ठीक है कि जीव और परमात्मा एक ही है। दोनोमे वस्तुगत्या कोई भी फर्क नही है। फिर भी जीवोके साथ अनादिकालसे काम-क्रोध तथा रागद्वेषका भारी पचडा लगा है और यही सब गुडगोबर करता है। यह बात बार-बार कही गई है। तीसरे अध्यायके अन्तमे तो इसपर बहुत ज्यादा प्रकाश भी डाला गया है कि इन रागद्वेषोके चलते क्या-क्या अनर्थ होते है और इन्हे खत्म कैसे किया जा सकता है। किन्तु ये दोनो भगवानमे है नही। इसलिये वहाँ कोई गडबड हो पाती नही। इन रागद्वेषोके चलते अपने-पराये, सुखदु ख, शत्रुमित्र आदि द्वन्द्वोके बखेडे उठ खडे होते है। फिर तो मनुष्यका मानस पटल पक्का अखाडा ही बन जाता है, उसकी गर्द उड जाती है, धज्जियाँ उड जाती है और चारो ओर अँधेरा जैसा छा जाता है। यही है द्वन्द्वसे होनेवाला मोह। इसीको दूसरे अध्यायमे क्रोधके भीतर ही शामिल कर दिया है। उसके बादवाले समोहको ही यहाँ मोह कह दिया है। यही है किकर्त्तव्य-

विमूढता या भ्रम या अज्ञान। यह बात जन्मके साथ ही होती है। फिर तो ये रागद्वेप जरा भी मौका नही देते कि हम सँभल सकें। यही बात 'सर्गे याति' (७।२७)में कही गई है। इसीलिये शुरूसे ही इससे पिंड छूटनेपर मन भगवानमें जा सकता है यह बात २८वें श्लोकमें आई है। ताकि इन्हें खत्म करनेमे हम जनमते ही लग पडे।

अब फिर पुराने प्रसग यानी २५वें श्लोककी बातको पकडके आगे बढते है। क्योकि बीचके तीन श्लोक प्रसगवश ही आये थे। हाँ, तो यह समस्त ससार ब्रह्मरूप ही है यही बात चलती थी। अगर शुरूके चार (८-११) श्लोकोपर, जिनमे खास पदार्थोका वर्णन आया है, गौर करे तो पता चलेगा कि उन्हें तीन दलोमें बाँट सकते है, जिन्हें पुराने लोगोने आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक कहा है। पृथिवी, जल, अग्नि और आकाश तो भूत है। इसीलिये इनके गन्ध, रस आदिका वर्णन आधिभौतिक हुआ। क्योकि गन्ध, रसादि भूतोमे ही रहते है। अत अधिभूत हो गये। इसी प्रकार चन्द्र और सूर्यकी बात आधिदैविक हो गई और बुद्धि, बल, तेज, तप, जीवन और काम ये छे हो गये आध्यात्मिक। शरीरके भीतर ही तो ये पाये जाते है। यह भी एक कारण है कि वायुको भूतमे न रखके जीवनके रूपमें यही रख दिया है। नही तो दो बार कहना पडता। क्योकि अध्यात्ममे प्राण जैसी प्रसिद्ध चीजको छोड नही सकते थे। उपनिपदोमे भी उसे कही नही छोडा है। चन्द्र-सूर्यमे चमक और दिव्यतेज होनेसे उनका दल आधिदैविक हुई। इन आध्यात्मिक आदि चीजोपर विशेष प्रकाश पहले ही डाला जा चुका है। वही यह भी बताया गया है कि अधियज्ञ नामकी चौथी चीज क्यो और कैसे आई है। यह भी बता चुके है कि किस प्रकार सुख-दु ख, बल, बुद्धिसे बढते-बढते आत्माको ही अन्तमे अध्यात्म मानने लगे। ब्रह्मकी बात तो बार-बार सर्वत्र आई ही है और कर्मकी भी। "प्रणव सर्ववेदेपु" कहनेसे भी इस कर्मकी तरफ

इशारा होता है। क्योंकि "ब्रह्मणोमुखे" कहके वेदोमे कर्मोकी ही प्रधानता मानी है।

इस प्रकार अधिभूत, अध्यात्म, अधियज्ञ, अधिदैव आदिके रूपमे जो लोग ब्रह्मका निरन्तर मनन करते है वही विज्ञानके अधिकारी होते है। इसीलिये इस सातवे अध्यायमे सक्षेपसे अध्यात्म आदिका उल्लेख नमूनेके तौरपर ही हुआ है। मनन करनेवाले इसी नमूनेको वढाके हजारो पदार्थोमे इस बातका मनन-चिन्तन कर सकते है और अन्तमे अद्वैत आत्माका साक्षात्कार भी कर सकते है। यो कहिये कि उन्हीको पूर्ण ब्रह्मका ज्ञान या ब्रह्मका पूर्ण साक्षात्कार होता है। जिनने ऐसा कर लिया है उनकी वुद्धि चक्कर या भ्रममे—समोहमे—पड नही सकती। यहाँतक कि मरणकालकी अपार वेदनाके समय भी वह विचलित नही हो पाती। क्योंकि वह जिधर ही जाती है अध्यात्मादिके रूपमे आत्मा ही आत्मा पाती है। यही है वहुत वडी विशेषता इस विवेचनकी। सक्षेपमे यही वाते कहते हुए दो श्लोकोमे अध्यायका उपसहार इस प्रकार करते है—

> जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
> ते ब्रह्म तद्विदु. कृत्स्नमध्यात्म कर्म चाखिलम् ॥२९॥
> साधिभूताधिदैव मा साधियज्ञ च ये विदुः।
> प्रयाणकालेऽपि च मा ते विदुर्युक्त चेतसः ॥३०॥

(फलत.) जन्म और मरणसे छुटकारेके लिये जो मुझमे ही मन लगाके यत्न करते है वही उस पूर्ण ब्रह्मको, अध्यात्मको और समस्त कर्मोको जानते है। (इसी तरह) अधिभूत, अधिदैव एव अधियज्ञके रूपमे भी जो मुझ परमात्माको साक्षात् अनुभव करते है, पूर्ण समाधिमे मन लगानेवाले वही लोग मरणके समय भी मुझ परमात्माका ही साक्षात्कार करते है।२९।३०।

यहाँ जरासे जन्म समझना ही ठीक है। वही मरणकी साधिनी

है और सर्वत्र आया करती है। असलमें जन्मके कष्टका तो अनुभव रहता नही। इसीलिये कष्ट दिखानेके लिये जरा लिखा है। मरणका कष्ट खुद देखते ही हैं। जन्मका कष्ट माँ अनुभव करती है, न कि बच्चा। जन्म कहनेसे जीवनभरके कष्ट आ जाते हैं। इसी प्रकार कर्मका अर्थ केवल यज्ञयागादि न होके सृष्टिका सारा व्यापार ही है, जैसा कि आठवें अध्यायमें लिखा है। आत्मज्ञानीको सृष्टिके समस्त व्यापार नजर आने लगते हैं कि कैसे क्या बनता है, जमीन आदि कैसे बनती है, बनी है। तभी तो उसे निस्सन्देह अद्वैत ज्ञान होता है।

इस अध्यायका विषय ज्ञान-विज्ञान है यह तो कही चुके हैं।

**इति श्री० श्रीकृष्णार्जुनसम्वादे ज्ञानविज्ञानयोगो नाम सप्तमोऽध्यायः ॥७॥**

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमें० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सवाद है उसका ज्ञान-विज्ञान योग नामक सातवाँ अध्याय यही है।

# आठवाँ अध्याय

सातवे अध्यायके अन्तमे जो बाते दो श्लोकोमे कही गई है उनके ही करते अर्जुनको प्रश्न करनेका मौका लग गया और आठवेका श्रीगणेश उसी प्रश्नसे होता है। अर्जुनने क्यो प्रश्न किया और उसका आशय क्या है, आदि बातोपर पूरा प्रकाश, इन श्लोकोकी विस्तृत व्याख्या एव उत्तरका पूर्ण विवेचन पहले ही किया जा चुका है। सारी बाते ठीक-ठीक समझनेके लिये वह विवेचन समझ लेना निहायत जरूरी है। यहाँ इतना ही कह देना है कि अन्तके दो श्लोकोमे जो बाते कही गई है वह शास्त्रप्रसिद्ध है। पुराने दार्शनिक इन्हे बखूबी जानते थे। इतना ही नही। जैसा कि सातवे अध्यायके अन्तमे हमने इन श्लोकोके ही प्रसगमे कह दिया है, ये बातें स्वय सातवें अध्यायमे भी आई है। यह भी ठीक है कि वहाँ उनके प्रसगमे अध्यात्म, अधिभूत आदि शब्द नही आये है। इसीलिये अर्जुनको यह खयाल होना जरूरी था कि यह कौनसी भाषा बोलते और क्या बाते कह रहे है। उसके लिये जैसे यह एकदम निराली चीज थी। इसीके साथ कर्मकी बात भी कुछ खटकी। क्योकि कर्म-अकर्मकी बात बहुत बार बडी सफाईसे कहके चौथे अध्यायमे ही यह भी कह दिया है कि कर्ममे अकर्म तथा अकर्ममे कर्म देखनेवाला ही योगी है और वह सभी कर्म करता है, कर सकता है "स युक्त कृत्स्नकर्मकृत्" (४।१८)। फिर यह क्या बला आई कि जरामरणसे छुटकारेके लिये जो लोग यत्न करते है और अधिभूतादिको जानते है वही सभी कर्मोंको जानते है? उसे यह कुछ अजीबसी बात लगी। इसीलिये खटकी भी।

ब्रह्मकी बात यद्यपि कोई नई न थी, तथापि ब्राह्मी स्थितिकी जो

वात दूसरे अध्यायमें कही जा चुकी है और "लभन्ते ब्रह्मनिर्वाण" (५।२५) तथा "सुखेन ब्रह्मसस्पर्शं" (६।२८)में जो ब्रह्म या ब्रह्मानन्दकी प्राप्ति कही गई है, उसकी अपेक्षा यह कोई नई चीज ब्रह्म शब्दसे तो नही कही जा रही है, यह शका उसे हो सकती थी । क्योकि समाधिके द्वारा ब्रह्मज्ञान-की वात कहनेके वाद यहाँ एकाएक यह कह देना कि पूर्ण या कृत्स्न ब्रह्मको ऐसे ही लोग जानते है, जरूर घपलेमे डालनेवाला प्रतीत होता है। यह कृत्स्न रूपसे जानने योग्य कोई और ही ब्रह्म है क्या, यह खयाल इसीलिये हो आया । ब्रह्म है भी अनेक यह कह चुके है । इसलिये भी ऐसा खयाल अनुचित नही कहा जा सकता है ।

मरणकालके वारेमें भी शकाका होना जरूरी था । भला उस अपार वेदनाके समय किसीका चित्त एकदम एकाग्र कभी रह सकता है ? यह तो निराली वात होगी । जवतक वह मनुष्य दुनियासे न्यारा कोई अलौकिक पदार्थ न माना जाय तवतक यह नही हो सकता । ऐसा होना तो ठीक वैसा ही है जैसा लपटके वीचमे वर्फकी ठडकका अनुभव ! इसीलिय खासतौरसे जोर देके पूछना पडा कि प्रयाणके समय कैसे यह वात होगी ? कैसे मन कावूमें रहेगा ? अधियज्ञ सम्वन्धी प्रश्नपर तो विशेप प्रकाश पहले ही डाला गया है कि इसका क्या आशय है । इन्ही सव वातोंको मनमें रखके—

## अर्जुन उवाच

किं तद्ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुपोत्तम ।
अधिभूतं च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते ॥१॥
अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन्मधुसूदन ।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः ॥२॥

अर्जुनने पूछा—हे पुरुपोत्तम, हे मधुसूदन, वह ब्रह्म क्या (चीज)

है ? कर्म क्या है ? अधिभूत भी कौन कहा गया है ? अधिदैव किसे कहा जाता है ? इस शरीरमे अधियज्ञ कौन है और क्यो है ? मरणकालमें भी मनको काबू रखके लोग आपको कैसे देखते है ? ।१।२।

## श्रीभगवानुवाच

अक्षरं ब्रह्म परमं स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते ।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसञ्ज्ञितः ॥३॥
अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चाधिदैवतम् ।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ॥४॥

श्रीभगवान बोले—हे देहधारियोमे श्रेष्ठ, जो किसी भी दशामे नष्ट नही होता वही ब्रह्म है, पदार्थोंका जो अपना रूप है वही अध्यात्म कहा जाता है, पदार्थोंकी उत्पत्ति, स्थिति (आदि) जिससे हो उसी त्याग या क्रियाको कर्म नाम दिया गया है, पदार्थोंकी विनाशिता ही अधिभूत है और व्यापक परमात्मा ही अधिदैवत है । इस शरीरमे अधियज्ञ तो मै ही हूँ ।३।४।

प्रश्नोके जो उत्तर दिये गये है उनपर भी पहले ही प्रकाश डाला गया है जरूर । मगर एक चीज स्पष्ट नही हुई है । इसीलिये उसीके सम्बन्धमे कुछ कहना आवश्यक हो जाता है । प्रश्नोके देखनेसे पता चलता है कि कुल आठ प्रश्न किये गये है । यद्यपि सातवे अध्यायके अन्तमे कही गई जिन बातोको लेके ये प्रश्न हुए है वह सात ही है, तथापि अधियज्ञके बारेमे दो प्रश्न होनेके कारण ही इनकी सख्या आठ हो जाती है । अधियज्ञके बारेमे औरोकी ही तरह सीधे ही यह सामान्य प्रश्न करनेके बजाय कि अधियज्ञ क्या है या कौन है, उसने एक तो यह पूछ दिया कि इस शरीरके भीतर अधियज्ञ कौन है ? दूसरे यह कि यदि है तो कैसे है, क्योकर है ? इसके बाद ही प्रयाणकालवाली बात आनेके कारण अर्जुन सोचता था

कि शरीरमे ही अधियज्ञका जानना जरूरी है। क्योकि यज्ञचक्रका सम्बन्ध सृष्टिसे होनेके कारण उसका अनुष्ठान हर हालतमें अनिवार्य होनेसे मरणके समय वह वाहर तो हो सकता नही। इसलिये शरीरमें ही यदि उसका पता लग जाय तो यह वडा लाभ हो जाय कि मरणकालमें भी यज्ञक्रिया निर्विघ्न होती रहे। इसीलिये उसने यह भी प्रश्न कर दिया कि यदि ऐसा कोई अधियज्ञ है तो कैसे ? इसका अभिप्राय इतना ही है कि पूरा इत्मीनान हो जाय। कभी शक-शुभा न हो सके।

अभीतक दो श्लोकोमे जो उत्तर दिये गये है वह तो सिर्फ छे प्रश्नोंके ही है। जो अधियज्ञ शरीरमे है वह कैसे है, का उत्तर अभी वाकी ही है और प्रयाणकालमे परमात्माके साक्षात्कारका उपाय भी अभीतक नहीं वताया गया है। इनमें प्रयाणकालवाले प्रश्नका उत्तर आगेके आठवे श्लोकसे शुरू होके तेरहवे श्लोकमें पूरा हुआ है। वात बहुत वडी है। वह केवल जाननेकी ही चीज न होके करने या अनुष्ठानकी वस्तु है। इसीलिये उसकी रीति वतानेमे कुछ विस्तार करना ही पडा है। रह गये वीचके ५से ७ तकके तीन श्लोक। वस, इन्हीमे कथं या कैसेका उत्तर आया है। अर्जुनने तर्क-दलील पूछी थी। इसीलिये कृष्णको युक्तियाँ देनी पडी। फिर तो उत्तर लम्बा होना ही था। उत्तरका निचोड यही है कि मनुष्य जब अन्त समयमें मुझीको स्मरण करता हुआ शरीर छोडता है तभी मुक्ति पाता है, तो फिर अधियज्ञ इस देहमे नहीं तो और कहाँ है ? अन्तकालमें वाहर तो जाना-आना हो सकता नही। अन्तमे जिस चीजमे मन टिकता है मरनेके बाद वही वनना पडता है यह भी नियम है। इसलिये मरणके समय मुझमें ही मनको टिकाना जरूरी हो जाता है। नही तो सब किये-करायेपर पानी जो फिर जायगा। परन्तु यह तो हो सकता नही, यदि यज्ञपुरुष या परमात्मा कही वाहर हो। इसलिये मानना पडता है कि शरीरके भीतर ही यज्ञपुरुष या अधियज्ञके

रूपमे परमात्मा मौजूद है, जिससे उसमे मन आसानीसे जोडा जा सकता है। जो लोग यह माननेको तैयार न हो उन्हे तो यह स्वीकार करना ही होगा कि आत्मज्ञानी मरनेके समय यज्ञचक्रको छोड देनेसे पापी और इन्द्रियोका पोषक हो गया। इसीलिये उसका जीवन व्यर्थ गया, "अघायुरिन्द्रियारामो मोघ पार्थ स जीवति" (३।१६)। हमारा मतलब उन लोगोसे ही यहाँ है जिनके अत्मज्ञानका पूर्ण परिपाक मरणके पूर्व नही हो सका है, जिनमे मस्ती नही आई है। क्योकि वैसे मस्तोके लिये तो कोई कर्त्तव्य रही नही जाता है।

यह भी बात है कि व्यष्टि और समष्टि या पिंड और ब्रह्माड दोनोमें ही हर चीजको देखते तथा मानते है। "द्वाविमौ पुरुषौ" (१५।१६)के अनुसार पुरुष तो शरीरमे हई तथा अध्यात्म और अधिभूत भी। सिर्फ अधियज्ञका पता लगना बाकी है। और वही पूछा भी गया है।

**अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम्।**
**यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥५॥**
**यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।**
**तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥६॥**

हे कौन्तेय, अन्तकालमे—मरनेके समय—शरीर त्यागते हुए मुझको ही स्मरण करता हुआ शरीरको छोडके जो प्रयाण करता है—मर जाता है—वह मेरा ही स्वरूप हो जाता है, इसमे सशय नही है। (क्योकि) शरीरान्तके समय जिसी-जिसी पदार्थको स्मरण करता हुआ शरीर छोडता है—कारण हमेशा उसी पदार्थकी भावना उसके भीतर रही है—उसी-उसीका रूप बन जाता है।५।६।

**तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।**
**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयम् ॥७॥**

इसलिये हर समय मुझीको लगातार याद करो और लडते भी रहो।

(इस तरह) मुझमें ही मन और बुद्धिको लिपटा देनेपर निस्सन्देह मुझको ही प्राप्त होगे ।७।

इन तीन श्लोकोमें जो सिद्धान्त बताया गया है कि अन्त समयमें मन जिसमें जम जाता है, फलत जिसकी स्मृति प्रबल हो उठती है, मरनेके बाद आत्माको वैसा ही शरीर मिलता है, यह पुनर्जन्मका सिद्धान्त है। लेकिन यह बात योंही अकस्मात् नहीं हो जाती। मरनेके समय कथा-वार्त्ता सुन-सुनाके ही जो लोग काम निकालना चाहते हैं वह भूलते हैं। इसीलिये तो गीताने "सदा तद्भावभावित" और "मय्यर्पितमनोबुद्धि" कह दिया है। जिस बातका निरन्तर अभ्यास किया है, जिसकी भावना प्रबल है, जिसमें मन और बुद्धि दोनो हीको लगा दिया है, या यो कहिये कि इन दोनोको जिसके हवाले कर दिया है, उसीकी प्रबल स्मृति अन्तकालमें होगी और मरनेपर वही पदार्थ, स्थान या शरीर प्राप्त होगा। आगेके (८-१३) श्लोकोमे भी यही बात विस्तारके साथ कही गई है। 'प्रयाणकाले' प्रश्नका उत्तर भी इन्हीमें है।

**अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना ।**
**परम पुरुष दिव्य याति पार्थानुचिन्तयन् ॥८॥**

हे पार्थ, (इसीलिये) अभ्यास रूपी उपायसे एकाग्र तथा अन्य किसी भी पदार्थमें जा नही सकनेवाले मनसे दिव्य परमपुरुष—पुरुषोत्तम परमात्मा—का निरन्तर चिन्तन करता हुआ (मनुष्य) उसीको प्राप्त करता है ।८।

**कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयां समनुस्मरेद्यः ।**
**सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥९॥**
**प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव ।**
**भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥१०॥**

जो (आदमी) प्रयाण—मरण—कालमें योगके बलसे भौंओंके

मध्यमे प्राणको दृढतासे टिकाके भक्तियुक्त एकाग्र मनसे दूरदर्शी—सर्वज्ञ— पुरातन, अनुशासन करनेवाले, परमाणुसे भी परमाणु—अत्यन्त सूक्ष्म— सब पदार्थोंके आधार, अचिन्तनीय स्वरूपवाले, सूर्य सदृश प्रकाशमान और अज्ञानसे दूर रहनेवाले दिव्य परम पुरुषको निरन्तर याद करता है वह उसीको प्राप्त होता है ।९।१०।

**यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः ।**
**यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये ॥११॥**

वेदोके ज्ञाता जिसे अक्षर—अविनाशी—कहते है, रागद्वेषादिसे रहित सन्यासी जिस रूपमे मिल जाते है (और) जिसकी (प्राप्तिकी) इच्छावाले (आजन्म) ब्रह्मचर्यका पालन करते है उसी पद(की प्राप्ति कैसे होती है यह बात) तुम्हे सक्षेपमे अभी बताता हूँ ।११।

**सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुद्ध्य च ।**
**मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम् ॥१२॥**
**ॐ इत्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।**
**यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥१३॥**

सभी (इन्द्रियोके) छिद्रोको रोकके, मनको हृदयमे ही अँटकाके और अपने प्राणोको मस्तकमे ले जाके योगकी धारणामे लगा हुआ जो (आदमी) ओंकार रूपी एकाक्षर ब्रह्मका (मनसे ही) उच्चारण करता और मुझ परमात्माको ही निरन्तर याद करता हुआ शरीर छोडके प्रयाण करता है वही परमगति—मुक्ति—प्राप्त करता है ।१२।१३।

यहाँ इन चार श्लोकोके बारेमे कुछ बाते जानने योग्य है। पहली बात यह है कि यहाँ योगबलका अर्थ पातजल योग ही है, जिसमे प्रधानरूपसे प्राणायाम आ जाता है। इसीलिये योगधारणाका भी उल्लेख है। योगके आठ अग यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार ध्यान, धारणा, समाधिमें सातवाँ अग धारणा है, जैसा कि "यमनियमासन

प्राणायाम प्रत्याहार ध्यान धारणा समाधयोऽष्टावंगानि" (पात० २।२६) मे स्पष्ट है। इसके विना मरणकालमे यह वात असभव है।

दूसरी वात यह है कि १०वे श्लोकमे जो भौंओंके वीचमे प्राणो टिकानेकी वात कही गई है वह आगे १२वें श्लोकमें लिखी धारणाकी पहली सीढी है। योगियोने प्राणके टिकानेके कई अड्डे माने है जिनमे घूमता हुआ वह अन्तमे मस्तकमे पहुँचके वहीं रुक जाता है। इस तरह समाधि पूर्ण हो जाती है। इन्ही अड्डोको वे लोग चक्र कहते है। नाभिसे ही प्राणको ऊपर ले चलते है। प्राणका सनातन अड्डा नाभिको ही मानते है। इसीसे उसे मूलाधार चक्र भी कहते है। यहाँसे आखिरी स्थान मस्तक या ब्रह्मरन्ध्रमे पहुँचनेके पहले और भी चार स्थानोसे उसे गुजरना होता है। इन चारोमें आखिरी स्थान भौंओंके वीच है। अभ्यासकी पुष्टिके ही लिये यह एक तरहकी कसरत ही समझिये। यहींसे ब्रह्मरध्रमे जाके काम पूरा होता है। यही कारण है कि भौंओकी वात कहके आगेकी वात कहनेसे पूर्व ११वे श्लोकमे सजग कर दिया है कि लो, उसे भी सुनाये देता हूँ। असलमें वह सूक्ष्म और कठिन वात है। इसीलिये सजग कर दिया है। यहाँ 'प्रवक्ष्ये'का भी वही अर्थ है जो सातवें अध्यायमें कहा है। यानी अभी कहे देता हूँ। न कि भविष्यकाल इसके मानी है।

जो लोग दसवे श्लोककी वातसे वारहवेंवालीको स्वतन्त्र मानते है वह दरअसल यह चीज जानते ही नही। ये दोनो ही एक दूसरेसे मिली-जुली आगे-पीछेकी सीढियाँ है। इसीलिये ११वेंमे पदका अर्थ ॐकार अक्षर या पद करना भी ठीक नही है। अक्षर ब्रह्म तो इस अध्यायके शुरूमें ही आया है। आगे जो ॐकारके उच्चारणकी वात कही गई है उससे लोगोको कुछ भ्रम हो जाता है जरूर। मगर वहाँ भी समझनेकी वात है। एक तो यही वात वुद्धिमे नही समाती कि प्रयाणकालमें ॐकार का जवानसे उच्चारण कैसे होगा। उस समय यह शक्ति रहती ही है

कहाँ ? यदि शक्ति रहे भी तो दूसरी बात यह है कि जब प्राणको भौंओंके बीच दृढतासे टिकानेके बाद ब्रह्मरन्ध्रमे पहुँचा देते है, धारणा या समाधि-की दशामे मनको भी वही टिकाये अचल रखते है और इसीके लिये इन्द्रियो-के सभी द्वार बन्द कर दिये जाते है, तो फिर जबान हिलेगी कैसे ? इसीलिये वहाँ बात ही दूसरी है ।

दरअसल बात यो है कि योगियोका यह कहना है कि मूर्द्धा या ब्रह्म-रध्रमे निरन्तर ओ ओकी गभीर ध्वनि होती रहती ही है । किन्तु हमलोग उसे सुन पाते नही । कान मूँदने पर घर्र-घर्रकी जो आवाज मालूम होती है वह उसीका विकृतरूप माना जाता है । हाँ, प्राणको ब्रह्मरन्ध्रमे पहुँचाके समाधि करने पर वह अखड ॐकारनाद सुनाई पडता रहता है । यही उसका उच्चारण है । उच्चारण तीन प्रकारका माना भी जाता है—बोलके, केवल जबान हिलाके और केवल मनसे । सो वहाँ मानसिक ही है । मन वही एकाग्र है और वह नाद उसीको सुनाई देता है । इतनेसे ही उसे मानसिक उच्चारण कहते है । योगी यह भी मानते है कि वह नाद इतना मधुर है कि मन और प्राण दोनो ही उसीमें भूल जाते है, लुब्ध हो जाते, रम जाते है । उस ॐकारको ब्रह्मका प्रतीक या सूचक मानके उसे तथा ब्रह्मको एक भी कह देते है, जैसा कि विष्णुके प्रतीक शालग्रामको ही विष्णु कह देते है ।

लेकिन ये सारे काम उन्हीके लिये है जिनके ज्ञानका परिपाक नही हुआ है । फलत जिन्हे मस्ती नही आई है । क्योकि जब तक कोर-कसर न रहे यह प्रपंच करनेकी जरूरत ही क्या है ? इसीलिये पूर्ण ज्ञान और आत्म-साक्षात्कारवालेको यह सब नही करना होता है । यही बात आगेके श्लोकमे यो लिखी है—

**अनन्यचेताः सतत यो मां स्मरति नित्यशः ।**
**तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः ॥१४॥**

हे पार्थ, अनन्य चित्तसे—मनको अन्य पदार्थोंमें जाने न देकर—जो मुझ परमात्माको नित्य ही याद करता है उस सदा योगारूढ योगीके लिये तो मै सुलभ ही हूँ ।१४।

**मामुपेत्य पुनर्जन्म दु.खालयमशाश्वतम् ।**
**नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः ॥१५॥**

परम संसिद्धि—जीवन्मुक्ति—की दशावाले महात्मा जन मुझ परमात्माका ही रूप होके दु खके घर (और) वारवार होनेवाले (इस) पुनर्जन्मसे रहित हो जाते है ।१५।

**आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन ।**
**मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ॥१६॥**

हे अर्जुन, हे कौन्तेय, ब्रह्मलोक तकके सभी स्थानोंसे पुन लौटना—जन्म लेना—पडता ही है । केवल मुझे प्राप्त होने पर ही पुनर्जन्म नहीं होता ।१६।

यहाँ यह न भूलना चाहिये कि गीतामे जो वारबार स्मरण या याद करनेकी वात आती रहती है और भक्तिकी भी, वह माला जपने और नाचने-कूदनेवाली नही है । ज्ञानीको भी भक्त ही कहा है और वही सर्वोत्तम है । मगर वह तो नाचता-कूदता नही । भक्तिका तो अर्थ ही है समाधि या मनको आत्मामें ही डुवो देना, टिका देना । इसीलिये स्मरणका भी अर्थ है तदाकार वृत्ति या मनके सामने आत्माके अलावे और किसीका न होना ही ।

यहाँ जो कह दिया कि ब्रह्मलोक तक भी जाके वापिस आना और जन्म लेना पडता है वह कुछ नई-सी बात हो गई । क्योंकि साधारणतया यही माना जाता है कि ब्रह्मलोक जानेवाले मुक्त हो जाते है । इसीलिये अब जरूरत पड गई कि जरा विस्तारसे यह वात समझा दी जाय । फलत खुद ब्रह्माकी भी आयुकी ओर इशारा करते हुए इस वातका स्पष्टीकरण

आगेके तीन श्लोक करते हैं। ब्रह्माको ही हिरण्यगर्भ और प्रजापति भी कहते हैं। यहाँ अव्यक्त शब्द आया है, जो ब्रह्माकी ही नीदकी अवस्थाके अर्थमें है---अर्थात् जब ब्रह्मा कुछ करते दीखते नही। जो लोग अव्यक्तका यहाँ प्रकृति या प्रधान अर्थ करते हैं वह भूल जाते हैं कि रोज-रोजके प्रलयमे आकाशादि महाभूत, महान् तथा अहकार तो रहते ही है। महान् इसी ब्रह्माका ही दूसरा नाम है। अव्यक्तका अर्थ है जो दीखे नही। इस तरह अदृश्य ब्रह्माकी वह निद्रावस्था, प्रधान या प्रकृति और स्वय अविनाशी ब्रह्म तीनो ही अव्यक्त कहे जाते हैं। आगेके श्लोक यह बात स्पष्ट दिखाते है कि ब्रह्माका तो यह टकसाल ही है दिन भर कुम्हारके बर्त्तनोकी तरह सृष्टि बनाना और रातमें उसका खात्मा हो जाने पर पुन प्रात वही काम करना। ब्रह्माके दिनरात बडे है यह भी बताया है। यह ठीक है कि यहाँ ब्रह्माकी मृत्युकी बात नही कही गई है और न ब्रह्मलोकसे लौटनेकी ही। मगर जब उनकी भी दिनरात है तो इसका अभिप्राय अर्थत वही है। आखिर दिनरातका तो काम ही है आयुका हिसाब लगाना-बताना, और जब आयु पूरी होगी तो ब्रह्मलोकसे हटना तो होगा ही। यह हटना ही हुआ वहाँसे लौटना। क्योकि ब्रह्माको फिर शरीर नही मिलता। आयुके अन्तमें ज्ञानके द्वारा वह मुक्त हो जाते है और उन्हीके साथ दूसरे भी, जो वहाँ रहते हैं। यह बात आगे "यत्रकालेत्वनावृत्ति" (८।२३-२६) आदि चार श्लोकोमें लिखी है। फिर नये ब्रह्मा आते और नया कारबार चलता है। ब्रह्माकी आयु पूरा होनेको महाप्रलय और रोज रोज रातमे उनके सोनेको खड प्रलय कहते है। कहा जाता है, इस तरह पूरे सौ साल तक ब्रह्मा भी कायम रहते है। तब कही जाके मुक्त होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मलोकमे जाने पर तत्काल मुक्ति न होके देरसे होती है। इस देरके करते ही उसे लौटना मानते है। लौटनेमे भी तो आखिर देर ही होती है न ?

सहस्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो विदुः ।
रात्रिं युगसहस्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः ॥१७॥

ब्रह्माकी दिनरात(का हिसाब) जाननेवाले जानते हैं कि (सत्य, त्रेता, द्वापर, कलि इन चार) युगोंके हजार बार गुजरने पर ब्रह्माका एक दिन और उतने हीकी रात होती है ।१७।

यहाँ "तेऽहोरात्रविद"में 'ते'का 'वे' अर्थ नहीं है। यह तो यों ही आ गया है। जब किसी खास व्यक्तिको न कहके अनिश्चित रूपसे कहते हैं तभी ऐसा बोलते हैं। अंग्रेजीमे भी 'दे से' (they say) बोलते हैं "ऐसा कहते हैं" इसी अर्थमें।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे ।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसञ्ज्ञके ॥१८॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते ।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे ॥१९॥

दिनके आते ही—शुरू होते ही—अव्यक्त—ब्रह्माकी निद्रावस्था—से ही सारे व्यक्त पदार्थ पैदा होते हैं। रात आने पर फिर उसी अव्यक्त नामक दशामे विलीन हो जाते हैं। हे पार्थ, भौतिक पदार्थोंका यह वही समूह बारबार पैदा होके रात आते ही मजबूरन नष्ट हो जाता और दिन आते ही फिर बन जाता है ।१८।१९।

पहले भी "अव्यक्तादीनि" (२।२८)में यही बात कही जा चुकी है। यहाँ भी वही आशय है।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः ।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति ॥२०॥

उस अव्यक्त या स्वापावस्थावाले ब्रह्मासे भी परे—बढकर—जो अव्यक्त है वही सभी पदार्थोंके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता है ।२०।

**अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम् ।**
**यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥२१॥**

इसी (दूसरे) अव्यक्तको ही अक्षर या अविनाशी कहा गया है। वही परमगति (भी) है, जिसके प्राप्त हो जाने पर लौटना नही होता। वही मेरा परम धाम (भी) है।२१।

**पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया ।**
**यस्यान्त.स्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम् ॥२२॥**

हे पार्थ, जिसके ही भीतर ये सभी पदार्थ मौजूद है और जो इन सबोमे व्याप्त है वह परम पुरुष केवल अनन्य भक्तिके द्वारा प्राप्त हो सकता है।२२।

यहाँ पर हम यदि गौरसे देखे तो पता चलेगा कि ब्रह्मलोकसे लौटनेकी जो बात चली थी उसीके प्रसगमे पुनरपि निर्वाणमुक्तिकी बात तीन (२०-२२) श्लोकोमे कह दी गई है। ताकि लोग दोनोका आमने-सामने मुकाबिला करके देखे कि कौनसी चीज अच्छी है—आया ब्रह्मलोकका मार्ग पकडके वहाँ जाना और लम्बी प्रतीक्षाके बाद ब्रह्माके साथ मुक्त होना, जो वस्तुगत्या पुनर्जन्मके बाद मुक्त होनेके समान ही है, या आत्मसाक्षात्कारके द्वारा तत्काल मुक्त होना, जिसमे यह आनाजाना और लम्बी प्रतीक्षाकी गुजाइश नही है।

इसलिये फिर उसी ब्रह्मलोकवाली बात पर ही आके उसके सम्बन्धकी शेष बाते आगेके श्लोकोमे बताते और अध्यायका उपसहार करते है। यहाँ पर अब तक जो कुछ गीताके श्लोकोमे कहा गया है उससे तो यही पता चलता है कि ब्रह्मलोकमे भी जाके लोग वापिस ही आते है, जन्म लेते है। मगर परम्परासे जो बात मानी जाती है उसके साथ इस कथनका कुछ विरोध हो जाता है। माना तो यही जाता है कि स्वर्गादि लोकोमें जाके वहाँसे वापिस आना और जन्म लेना पडता है। गीतामें भी "त्रैविद्या

मा सोमपा" (६।२०-२१) आदि दो श्लोकोमें यही माना गया है। विपरीत इसके ब्रह्मलोकके बारेमें कुछ और ही धारणा पाई जाती है। ऐसा माना जाता है कि वहाँ बडे-बडे तपस्वी, उपासक आदि ही जाते है, जिनका ज्ञान पूर्णतया परिपक्व नही हुआ रहता है। छान्दोग्य, बृहदा रण्यक प्रभृति उपनिषदोमें जो पचाग्नि विद्याका प्रकरण है, जिसका विचार हम पहले कर भी चुके है, उसमें भी यही लिखा है कि ऐसे लोगोको कोई मानस या अमानव पुरुष ब्रह्मलोकमे ले जाता है, जहाँसे वे फिर वापिस नही आते, "पुरुषो मानस एत्य ब्रह्मलोकान्गमयति तेषु ब्रह्मलोकेषु परा परावतो वसन्ति तेषा न पुनरावृत्ति" (बृह० ६।२।१५)। इस प्रकार पुरानी परम्परा एव उपनिषदोंके साथ गीताका साफ ही विरोध हो जाता है।

इसीलिये पूर्व कथनका स्पष्टीकरण करते हुए यही बात आगेके श्लोक स्वीकार करते है। वे मानते है कि ब्रह्मलोक जाके मुक्त होनेमें देर होती है और लम्बा रास्ता तय करना पडता है। इसीलिये उसे साक्षात् मुक्ति न मानके क्रम-मुक्ति कहते है। क्रमश अर्थात् देरसे मुक्ति होती जो है। यही आशय है वहाँसे लौटनेकी बात कहनेका भी। आगे जो उत्तरायण-दक्षिणायन या शुक्ल-कृष्ण मार्ग कहे गये है उनका पूरा विवरण कर्मवादके विवेचनमे दिया जा चुका है। श्लोकोका अर्थ भी वही समझाया गया है।

**यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिं चैव योगिनः।**
**प्रयाता यान्ति त काल वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥२३॥**

हे भरतर्षभ, योगीजन जिस कालमें मरने पर—प्रयाण करने पर—नही लौटते और लौटते भी है वह काल अभी बताये देता हूँ।२३।

यहाँ भी वक्ष्यामिका अर्थ पहले जैसा ही है, न कि भविष्यकाल।

**अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।**
**तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जना ॥२४॥**

अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष और उत्तरायणके छे महीने, इनमें प्रयाण करनेवाले ब्रह्मके उपासक जन (क्रमश.) ब्रह्मको प्राप्त करते है ।२४।

यहाँ 'ब्रह्मविद 'का अर्थ ब्रह्मज्ञानी न होके ब्रह्मके उपासक और अपूर्ण ज्ञानी ही है । इसीलिये ब्रह्मकी प्राप्तिमे क्रमश लिख दिया है ।

**धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम् ।**
**तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते ॥२५॥**

धूम, रात, कृष्णपक्ष और दक्षिणायनके छे महीने, इनमे प्रयाण करनेवाला योगी चन्द्रमाकी ज्योति तक पहुँचके वापिस आता है ।२५।

**शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते ।**
**एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः ॥२६॥**

इस प्रकार जगत्के ये शुक्ल और कृष्ण मार्ग चिरन्तन माने जाते है । (इनमे) एकसे (जानेपर) आना जाना पुन नही होता है । (मगर) दूसरेसे होता है ।२६।

इन श्लोकोमे योगी उसे कहते है जो पूर्ण तत्त्वज्ञानी न हो और या तो कर्ममार्गमे ही दत्तचित्त हो या उससे आगे बढके ज्ञानकी ओर झुका हो एव तदनुकूल ही उपाय करता हो । ये दोनो रास्ते चिरन्तन है । सृष्टिके साथ ही इनका ताल्लुक है यह बात बखूबी बता चुके है ।

**नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन ।**
**तस्मात्सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन ॥२७॥**
**वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफल प्रदिष्टम् ।**
**अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम् ॥२८॥**

हे पार्थ, जो कोई भी योगी इन मार्गोंको भीतरी दृष्टिसे देख लेता है वह (कभी फिर)मोहमे नही फँसता । इसीलिये हे अर्जुन, तुम हमेशा ही योगयुक्त हो जाओ । (क्योकि) वेदो(के पढने), यज्ञो(के करने),

तपस्याओ और दानोके जितने उत्तम फल कहे गये है, उन सबोसे बढकर फल इस बातके पूर्ण जानकार योगीको मिलता है। (वह तो) मूल—लक्ष्य—स्थान पर ही पहुँच जाता है।२७।२८।

इन श्लोकोके योगयुक्त, विदित्वा, जानन् आदि शब्दोके अर्थोपर गौर करनेसे योगीका अर्थ है पूर्ण आत्मज्ञानी और आत्मसाक्षात्कारवाला मस्तराम। जिसे ऐसा ज्ञान हो जाता है वही तो हस्तामलककी तरह इन सभी मार्गोको रत्ती-रत्ती देखता है। उसकी दृष्टिके सामने ये सारी चीजे झलक जाती है। भीतर ही भीतर हँसता हुआ वह यह भी सोचता है कि हमने यह क्या पँवारा फैला दिया है। हम तो मकडी या रेशमके कीडेकी ही तरह अपने ही बनाये तारमें खुद बखुद अबतक फँसे छटपटा रहे थे।

पोथी-पत्रा पढके या दूसरोसे सुनके जो भी जानकारी इन मार्गोकी होती है उससे यहाँ तात्पर्य हुई नही। क्योकि उस जानकारीसे मूल स्थान या परब्रह्मकी प्राप्ति कैसे होगी? ऐसा जाननेवाला मोहसे छुटकारा कैसे पा जायेगा? अगर क्रममुक्ति ही इसका भी मतलब माना जाय तो वह तो कही जा चुकी ही है। फिर दुहरानेका क्या प्रयोजन? उसमें मोहकी निवृत्तिका भी क्या सवाल? जब पहले मोहसे छुटकारेकी बात नही कही गई जब कि उसका पूरा निरूपण किया गया है, तो यहाँ कहनेका क्या अवसर? इसके अलावे हमेशा योगयुक्त होनेका भी तो उपदेश यहाँ दिया गया है। ठीक इसी प्रकार "तस्मात्सर्वेषु कालेषु" (८।७)में भी आया है और वहाँ तो निर्विवाद रूपसे मनको आत्मामें ही लीन करनेकी बात है, जिसका अर्थ आत्मसाक्षात्कार ही है। इसीलिये यहाँ भी वही अर्थ उचित है।

अन्तिम श्लोकमे वेदेषु प्रभृति शब्दोका अर्थ वेदोका पढना आदि मानके हमने वैसा ही लिखा है। केवल वेदोसे तो कोई पुण्य होता नही,

जबतक उन्हे पढा न जाय। नही तो कोई उन्हे पढेगा क्यो ? वेद तो हुईं और सभी लोगोको महान् पुण्य यो ही मिल जायगा !

इस अध्यायका श्रीगणेश ही हुआ है सातवे अध्यायके अन्तकी बातको लेकर। वह बात ब्रह्मसे ही शुरू होकर कइयोको शामिल कर लेती है। उसी ब्रह्मको अक्षर भी कहा है। समूचे अध्यायमे प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे अक्षर ब्रह्मका ही निरूपण है। उसीके ज्ञानका अन्तमें उपसहार भी है। अतएव ठीक ही अक्षर ब्रह्म ही इस अध्यायका विषय है। उसी अक्षर ब्रह्मको तारक ब्रह्म भी कहते है। तारनेसे ही तारक कहा जाता है।

**इति श्री० अक्षरब्रह्मयोगो नामाष्टमोऽध्यायः ॥८॥**

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमें० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सवाद है उसका अक्षरब्रह्मयोग नामक आठवाँ अध्याय यही है।

# नवाँ अध्याय

सातवें अध्यायमे ज्ञान-विज्ञानका निरूपण शुरू करके जिन पचभूत आदिका उल्लेख किया था उन्हीको अध्यात्म, अधिभूतादिके रूपमें कहके उस अध्यायका उपसहार किया गया है। यो कहिये कि अध्यात्म आदिके रूपमे हजारो पदार्थोमेंसे कुछ एकको ही नमूनेके तौर पर वहाँ दिया गया है। शेपका अन्वेपण विचार एव मनन करनेवाले उसी तरह कर सकते है। इसी सिलसिलेमे अर्जुनने अध्यात्म आदिके वारेमें शका उठा दी कि यह क्या चीजे है और शरीरमे इनका पता है या नही ? उसीके उत्तरमें समूचा आठवाँ अध्याय पूरा हो गया। इससे अर्जुनको सन्तोष भी हो गया कि दरअसल वात है क्या।

ऐसी दशामे आठवे अध्यायके वाद हम फिर सातवे अध्यायके ही मुख्य विषय ज्ञान-विज्ञान पर स्वभावत पहुँच जाते है। क्योकि प्रासगिक वात पूरी हो जाने पर मूल विषयका मौका खुदवखुद आ जाता है। यही कारण है कि नवाँ अध्याय इसी वातको लेके ही शुरू होता है। फलत उसके पहले ही श्लोकमे ज्ञान-विज्ञान पुनरपि आ गया है। शायद उसका महत्त्व अर्जुनके दिमागमे अच्छी तरह न आया हो। अतएव इस सम्बन्धमें वहुत ज्यादा माथा-पच्ची करना भी वह पसन्द न करे। इसी वजहसे इसी ज्ञान-विज्ञानको राजविद्या और राजगुह्य नाम देके इसकी महत्ता दिखानी पडी। विद्याओके राजाको राजविद्या और गुह्यो या गोपनीय (secret) पदार्थोके राजाको राजगुह्य कहते है। राजाका अर्थ है सर्दार या शिरोमणि। इसका मतलव यह है कि जितनी भी गुप्तसे गुप्त वाते जानी जा सकती है उन सवोकी अपेक्षा यह चीज कही महत्त्व रखती

है। इसीलिये इसकी जानकारी सबोसे बढके जरूरी है। यदि इस अध्यायका विषय राजविद्या-राजगुह्य बताया गया है तो इसका यह आशय कदापि नही है कि यह कोई और ही चीज है। यह तो उसी ज्ञान-विज्ञानका ही दूसरा नाम है। यह नाम उसी चीजकी महत्ताके पहलूपर जोर देनेके ही लिये उसे दिया गया है, यह तो अभी-अभी कहा है। नामान्तर और प्रकारान्तरसे एक ही बातका प्रतिपादन उसमे सरसता लानेके साथ ही आकर्षक भी होता है।

अगर हम इसमे प्रतिपादित विषयकी जानकारीके लिये खास तौरसे नजर डाले कि कौन-सी बात कब और कैसे कही जा रही है तो पता चलेगा कि शुरूके तीन श्लोक तो भूमिकाके ही रूपमे है। वे इसी बातको दिलमे बैठा देनेके लिये है कि इसका बारबार विमर्श और मनन अत्यत आवश्यक है। उसके बादके तीन (४-६) श्लोकोको भी देखनेसे पता लग जाता है कि वे सातवे अध्यायके शुरूके दो (६,७) श्लोकोके ही स्थानमे आये है। फलत इनमे कुछ तो वही बाते ज्योकी त्यो है और कुछ उन्हीका विवरण एव स्पष्टीकरण है। उनके बादके आठ (७-१५) श्लोकोपर ध्यान देनेसे स्पष्ट हो जाता है कि वे भी एक प्रकारसे सातवे अध्यायके ही सात (१३-१९) श्लोकोके रूपान्तर है। प्राय वही बाते इनमे प्रकारान्तर-से कही गई है। इसी प्रकार २०वेसे २५वे तकके छे श्लोक भी सातवेके २०से २६ तकके सात श्लोकोके ही रूपान्तर है और यह बात बहुत साफ है। इसी तरह और भी बची-बचाई बाते मिलती-जुलती है, हालाँकि कहने और प्रतिपादनकी रीति नई है, विलक्षण है और यही इसकी खूबी है। मननमे इसीकी जरूरत होती भी है।

अब आइये जरा विज्ञानके मुख्य विषयको भी देखे। सृष्टिके विभिन्न पदार्थोको लेके उनका विश्लेषण करना और इस प्रकार उन्हे आत्मा-परमात्माका रूप सिद्ध करना यही तो मुख्य बात है। सातवे अध्यायके

शुरूमे यही आई है भी। नवे अध्यायके चार (१६-१९) श्लोकोमे यह बात पाई जाती है। सातवे अध्यायके पाँच (८-१२) श्लोकोमे भी इसी तरहकी बात आई है। उस अध्यायके "अह कृत्स्नस्य जगत" (७।६)तथा "ये चैव सात्त्विका" (७।१२)के ही स्थान पर "गतिर्भर्ता" (९।१८,१९) आदि दो श्लोक प्रतीत होते है। इनमे कुछ ज्यादा व्योरा भी नही मिलता है, सिवाय इसके कि उन्नीसवेके पूर्वार्द्धमे सूर्यकी बात 'तपामि'—तपता हूँ—कहनेसे प्रतीत होती है। शेष श्लोकोमे अधिकाश वेदके ही क्रतु, यज्ञ, मत्र आदि तथा ऋक्, साम, यजु मत्रोको ही कहा है। ऐसा प्रतीत होता है कि सातवे अध्यायके पृथ्वी आदि सभी पदार्थोको तो अध्यात्म, अधिभूतादिके रूपमे उसी अध्यायमें और आठवेंमे भी ले लिया है। वही उस पर प्रकाश भी काफी डाला है। उसका केवल "प्रणव सर्ववेदेषु"(७।८) बच गया है जरूर। इसीलिये उसीका विशेष विवरण और विश्लेषण इस अध्यायमे करके उस बातको अच्छी तरह समझाया है। ऐसा लगता है कि "प्रणव सर्ववेदेषु" सूत्र है। वेद तो आखिर शब्द ही है न ? और शब्दके बिना अर्थका पता नही लगता। फलत शब्द अर्थमे व्याप्त है। यहाँ तीसरे श्लोकमे उसी व्यापक वस्तुका उल्लेख है, न कि दूसरेका। अत उससे ही शुरू करनेका मतलब यही प्रतीत होता है। इसीके साथ यज्ञो पर भी कुछ विशेष प्रकाश दूसरे रूपमें इसी अध्यायमे पड गया है, जब कि "त्रैविद्या मा"मे यज्ञोंके स्वर्गादि फलोके साथ ही और बाते भी कही गई है। यह पहलू पहले उठाया नही गया था। फिर भी अधियज्ञ कहनेसे बात तो दिमागमे थी ही। इन्ही सब बातोका खयाल करके—

श्रीभगवानुवाच

इद तु गुह्यतम प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।<br>
ज्ञानं विज्ञानसहित यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात् ॥१॥

श्रीभगवान कहने लगे—दोष दृष्टि तथा निन्दा बुद्धिसे रहित तुम्हे अत्यन्त गोपनीय ज्ञान-विज्ञान अभी और भी बताता हूँ। इसे जानके बुराईसे छुटकारा पा जाओगे ।१।

**राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम् ।**
**प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम् ॥२॥**
**अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परंतप ।**
**अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि ॥३॥**

यह सभी विद्याओ एव गोपनीय वस्तुओका राजा है, पवित्र है, उत्तम है, प्रत्यक्ष अनुभव योग्य है, धर्मके अनुकूल है, अविनाशी है (और) आसानी-से ही इसे प्राप्त किया जा सकता है ।२। हे परतप, इस धर्मयुक्त बातमे श्रद्धा नही रखनेवाले मनुष्य मुझ तक पहुँच न सकनेके कारण जन्म-मरण रूपी ससारमे निरन्तर चक्कर काटते रहते हैं ।३।

यहाँ 'प्रत्यक्षावगम' और 'कर्त्तु सुसुख' विशेषण बडे कामके है। पहला विशेषण तो विज्ञानके अत्यन्त अनुकूल है। विज्ञानकी बाते जबतक प्रत्यक्ष न हो उनकी कोई कीमत होती ही नही और यह उसी प्रत्यक्षकी तैयारी ठहरी। इसी प्रकार 'कर्त्तु सुसुख'के मानी हैं जो आसानीसे किया जा सके, समझा जा सके। उसमे दुविधेकी गुंजाइश नही है। वह तो हीरेकी तरह चमकनेवाली प्रत्यक्ष चीज है। इसीलिये उसकी पहचान स्वर्गादि पदार्थोकी अपेक्षा कही आसान है। जबतक उसे जान पाते नही तभी तक दिक्कत है। जानते ही सारी परीशानी चली जाती है। तेज धारावाली नदीके पार दस साथी उतरे। फिर इस ख्यालसे कि कही तैरनेमे कोई बह तो नही गया, गिनती करने लगे। नतीजा यह हुआ कि पहली गिनतीमे एककी कमी प्रतीत हुई! घबराके दूसरे, तीसरे आदि सभीने गिना और सबोने नौ ही सख्या पाई! अब तो आफत थी! छाती पीटके लगे सभी रोने कि दसवाँ गायब है, अब क्या करें!

सुनते ही कुछ लोग दौड आये और पूछा तो पता लगा कि इनका दसवाँ साथी ही वह गया। पूछनेवालोमे जब एकने गिना तो दसके दस ठहरे। इसपर उनने उनमे एकसे कहा कि गिनो तो, कहाँ दसवाँ गायब है? उसने एक एक करके नौको गिना और अपनेको न गिनके चट कहा कि देखिये न, नौ ही तो है? इसपर पूछनेवालेने कहा कि तू अपनेको तो गिनता ही नही। वस, सबोकी आँखे खुल गई। दसवाँ तो हरेक खुद था और इतना नजदीक था कि कुछ पूछिये मत। मगर दूरसे भी दूर हो गया था। किन्तु चतुर उपदेशकके बताते ही फिर ऐसा निकट, ऐसी पहुँचके भीतर हो गया कि वैसा कोई भी नही रहा। यही बात यहाँ भी है। भूला हुआ अर्जुन कृष्णके उपदेशसे आसानीसे अपने आपको समझेगा। स्वर्ग-नरकको क्या इतना जल्द देख सकते है? क्या खेती या रोजगारमें भी इतनी शीघ्र सफलता हो सकती है?

जो लोग 'आचरण करनेमे सुखकारक' ऐसा अर्थ इस 'सुसुख कर्तुं 'का करते है वे या तो सस्कृत समझते ही नही, या नाहक खीचतान करते है। वैसे अर्थमे ऐसा प्रयोग सस्कृतके विद्वान कभी नही करते, उनसे मेरा यही नम्र निवेदन है।

मया ततमिद सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाह तेष्ववस्थित.॥४॥
न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावन॥५॥
यथाकाशस्थितो नित्य वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय॥६॥

मुझ अव्यक्त—अदृश्य—मूर्त्तिने ही इस समूचे जगत्को व्याप्त कर रखा है। सभी पदार्थ मुझीमे है, मैं उनमे (हर्गिज) नही हूँ। (लेकिन) मेरा ईश्वरी करिश्मा तो देखो कि ये पदार्थ मुझमे (वस्तुत) है भी नही।

सभी पदार्थोको कायम रखनेवाली मेरी आत्मा पदार्थोका भरण-पोषण भी करती है (और) उनमे रहती भी नही । जिस तरह सभी जगह फैली विस्तृत हवा हमेशा आकाशमे ही रहती है उसी प्रकार सभी पदार्थ मुझमे है यही समझो ।४।५।६।

इन तीन श्लोकोमे जगत्के विस्तारके निरूपणकी भूमिकाका श्रीगणेश होता है, जैसा कि सातवे अध्यायके भी शुरूके सात श्लोकोमे पाया जाता है । वहाँ भी आठवे श्लोकसे विस्तृत निरूपण शुरु होता है । इनमे आखिरी श्लोकमे जो दृष्टान्त दिया है उसका आशय यह है कि वायुकी उत्पत्ति आकाशसे ही मानते है । इसलिये आकाशमे ही हवा रहती भी है । ऐसा ही कहते भी है कि आकाशमे हवा है या हुई नही, आदि आदि । वह हवा विस्तृत है और चारो ओर फैली है । उसे कोई रोक नही है और न उसके फैलने या चलनेसे आकाशका कुछ भी बिगडता बनता है । पदार्थो-की भी ठीक यही दशा है । परमात्मासे ही बने और सर्वत्र फैले है । टूटते-फूटते भी रहते है और आते-जाते भी । मगर इससे परमात्माका कोई भी बनाव बिगाड नही है, वह निर्लेप है । असलमे सूतसे कपडा तैयार होने पर ऐसा होता है कि कपडेके फाडने, जलाने या हटाने पर सूत भी टूटता, जलता या हटता है । कही यही बात परमात्मामे भी न हो, इसी-लिये उसे निर्लेप बताना जरूरी हो गया। सूतने ही कपडेको धर रखा है । उसीसे वह कायम भी है। तब उसकी खराबीसे सूतमे भी खराबीकी बात देखके परमात्मामे भी वही खयाल होना जरूरी था ।

चार और पाँच श्लोकोमे जो कुछ कहा है वह परस्पर विरोधी जैसा प्रतीत होता है । मगर वह विरोध हट जायगा यदि जगत्को परमात्मामे कल्पित या मायामय मान ले । जब मरुभूमिमे सूर्यकी किरणे बालूपर चमकती है तो दूरसे मालूम पडता है कि कोई नदी या पानीकी धारा मरु-भूमिमे बह रही है । फिर प्यासा आदमी उधर ही बढता भी है । मगर

वह ज्यो-ज्यो बढता है धारा भी त्यो-त्यो आगे बढती जाती है। वह धारा मरुभूमिमे है भी और नही भी है। यदि उस भूमिमें न होती तो वहाँ प्रतीत क्यो होती ? दूसरी जगह तो नही दीखती है। किन्तु अगर सचमुच होती तो पहुँचनेपर चाहे वह दूर भले ही चली जाती, फिर भी वह भूमि भीगी तो जरूर रहती है। लेकिन सो तो होता नही। पथिक चाहे कितनी ही दूर चला जाय। फिर भी मरुभूमि वही सूखीकी सूखी ही मिलती है! बस, यही हालत इन पदार्थोंकी है। ये भी परमात्मामे मरुभमिकी धाराकी ही तरह हैं, दीखते है। किन्तु वस्तुत नही है।

यहाँपर एक प्रश्न उठता है कि यदि सभी पदार्थ परमात्मासे ही उत्पन्न होते है तो उसमे रहते है कैसे और कहाँ ? और अगर रहते हैं तो इनके करते कितना उपद्रव और तूफान होता होगा! अनन्त प्रकारकी भली-बुरी चीजें है। फिर तो जहाँ ये रहें उसकी दुर्दशा किये बिना छोडेंगी थोडे ही। यह तो दिमागमे आनेकी बात ही नही कि योही निर्लेप और निर्विकार छोड दें। यह शका कोई नई नही है। छान्दोग्य उपनिषदके समूचे छठें अध्यायमे आरुणि ऋषिका अपने पुत्र श्वेतकेतुके साथवाला सवाद आत्माके ही बारेमे पाया जाता है। उसके १२वे खडमे श्वेतकेतुकी भी ऐसी शकाके उत्तरमें आरुणिने वटवृक्षका बीज मँगवाके फोडनेको कहा था। फोडनेपर पूछा कि देखो तो उसके भीतर है क्या ? पुत्रने कहा कि कुछ भी नही। इसपर आरुणिने कहा कि उस बीजके भीतर जहाँ कुछ भी नही देखते हो वही बडेसे बडा वटवृक्ष मौजूद है। तभी तो उसीमेंसे बाहर निकलता है। बालूके कण, चने या गेहूँके भीतरसे तो कभी वह निकलता पाया गया नही। यदि वटबीजमे न रहनेपर भी वहाँसे वह वृक्ष निकलता, तो गेहूँ, चना या बालूमें भी तो नही ही है। फिर वहाँसे भी क्यो नही निकलता ? अगर मानें कि उसी नन्हेसे बीजमें वह महान् वृक्ष मौजूद है, तो कैसे कहाँ समाया है ? इतना बडा पेड उस बीजको

बुरी तरह छिन्न क्यो नही कर छोडता ? उसे लापता क्यो नही कर देता ? जव इन प्रश्नोका उत्तर श्वेतकेतु दे न सका और आश्चर्यचकित हक्काबक्का-सा रह गया, तो आरुणिने कहा कि पुत्र, तर्क-दलीलोसे ही सर्वत्र काम नही चलता। किन्तु श्रद्धा भी करनी होती है, विश्वास भी करना होता है। इसलिये श्रद्धा करो और कोरी दलीलके पीछे परीशान मत हो—"य वै सोम्यैतमणिमान न निभालयसे एतस्य वै सोम्यैषोऽणिम्न एव महान न्यग्रोधस्तिष्ठति। श्रद्धत्स्वसोम्य" (६।१२।२-३)।

प्रकारान्तरसे गीतामे इसी बातका उत्तर "सर्वभूतानि" आदि आगेके श्लोक देते है। जिसे प्रकृति कहा है उसीको दैवी माया भी तो कही दिया है। वह दिव्य एव अलौकिक शक्ति रखती है, चमत्कार रखती है जो बुद्धिमे समा न सके। पहलेके श्लोकके "योगमैश्वरम्" शब्दोमे जो ईश्वरी योग या चमत्कार—करिश्मा—कहा है वह भी इस मायाका ही चमत्कार है। प्रलयके समय वह अपने करिश्मेसे वटबीजमे वृक्षकी तरह सारे जगत्को अपने भीतर हजम कर लेती है। वहाँ तो पता भी नही लगता है कि किस कोनेमे है, या कि नही ही है। फिर सृष्टिके समय महान् वटवृक्षकी तरह सारे जगत्का प्रसार वही प्रकृति खुद करती है। यह बात बराबर चलती रहती है। यदि वह प्रकृति, वह ईश्वरी माया न रहती तो यह बात असभव थी। वटके बीजमे भी उसीका करिश्मा है।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम् ॥७॥
प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात् ॥८॥

हे कौन्तेय, सृष्टिके नाश—प्रलय—के समय सभी पदार्थ मेरी प्रकृतिमे ही विलीन हो जाते है। फिर सृष्टिके आरभमे मै उन्हे रचता हूँ। अपनी प्रकृतिका सहारा लेकर ही मै बार-बार इस समूचे पदार्थ-समूह—जगत्—

को बनाता रहता हूँ जो प्रकृतिके कब्जेमे आनेके कारण मजबूर है (कि पैदा हो और नष्ट हो) ।७।८।

न च मा तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनजय ।
उदासीनवदासीनमसक्त तेषु कर्मसु ॥९॥
मयाऽध्यक्षेण प्रकृति सूयते सचराचरम् ।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते ॥१०॥

हे धनजय, सृष्टि-प्रलयके उन कामोमे आसक्ति-शून्य और तटस्थकी तरह रहनेवाले मुझको वे कर्म बन्धनमे नही डालते है । मेरे अध्यक्ष होने (मात्र)मे ही प्रकृति स्थावर-जगम जगत्की रचना कर डालती है । इस जगत्का (इस तरह) बार-बार बनना-बिगडना—सृष्टि-प्रलयका यह चक्र—(भी) इसीलिये चालू रहता है ।९।१०।

यहाँ कल्प शब्द देखकर कुछ लोगोको भ्रम हो गया है कि आठवें अध्यायके "अव्यक्ताद्व्यक्तय" (८।१८)मे जो सृष्टि एव प्रलयकी बात आई है उसीसे यहाँ भी मतलब है, क्योकि पौराणिक भाषामें ब्रह्माके दिनको ही कल्प कहते है । मगर बात दरअसल यह नही है । क्लृप धातुसे यह कल्प शब्द बनता है । उसका अर्थ है जो वस्तु पहलेसे न हो उसे तैयार करना या बनाना । यह दूसरी बात है कि यह बनाना केवल दिमागी हो, या ठोस हो या दोनो ही तरहका । इस तरह इसका वही अर्थ हो जाता है जो सृष्टि, विसृष्टि आदि शब्दोका है । यह शब्द पौराणिक अर्थमें आया है इसमे कोई प्रमाण नही है । कल्पादिका अर्थ है सृष्टिकी आदि या आरम्भ । कल्पक्षयका अर्थ है उसीका प्रलय या सहार । हमने तो अभी-अभी कहा है कि सातवे अध्यायके इसी प्रसगमें जो सृष्टिकी रचना आदि कही गई है और प्रकृतिका भी उल्लेख है वही बात यहाँ भी है । यही बात तेरहवे अध्यायके क्षेत्रनिरूपणके अवसरपर "महाभूतान्यहकार" (१३।५)मे भी कही गई है । गीतामें जब-जब भगवानने स्वय सृष्टि

रचनाकी बात कही है, तब-तब यही बात ज्योकी त्यो आती गई है। आठवे अध्यायमे तो ब्रह्माके द्वारा सृष्टिरचना और उसके मिटाने या प्रलयकी बात प्रसगवश आई है। वह साक्षात् भगवानके द्वारा रचनाका प्रसग तो है नही। फिर उसे यहाँ दुहरानेका क्या सवाल ?

सबसे बडी बात यह है कि यहाँ सृष्टि-रचनाके सिद्धान्तका दार्शनिक विश्लेषण एव विवेचन तथा निरीश्वर सृष्टिवादका खडन है, जैसा कि "मयाध्यक्षेण" और "हेतुनानेन" (९।१०)से स्पष्ट प्रतीत होता है। प्रकृतिका सहारा लेके किस प्रकार क्यो यह विश्वका सारा पसारा किया जाता है, इस मामलेमे सृष्टिके समस्त पदार्थोंकी क्या मजबूरी है, वह प्रकृतिके वशमे किस प्रकार है, ईश्वरकी क्यो क्या जरूरत इसमे पडी, आदि सारी बातोपर पूरा प्रकाश कर्मवादके प्रकरणमे डाला जा चुका है। अन्ततोगत्वा सबोके कामोको मिलाने और सभीका लेखा-जोखा ठीक रखने (for coordination and super regulation)के लिये ही ईश्वरका मानना जरूरी हो जाता है, यह बात वही हमने लिखी है। इतनेपर भी किस प्रकार इन सारे कामोमे वह नही फँसता और निर्लेप रहता है यह भी वही तथा दूसरे स्थानोमे कही चुके है। यदि इनमेसे ईश्वर ही हटा दिया जाय या प्रकृतिको ही हटा दे तो यह जो बाकायदा ससारका चक्र चल रहा है, खत्म हो जायगा। कमसे कम अनियमित तो होई जायगा। प्रकृति और उसके गुण तो बहुत बडे नियामक (regulator) है। इन्हीसे प्राणियोके स्वभाव बनते है, जिनके अनुसार कर्म—काम—किये जाते है और वही काम ईश्वरके व्यापक नियमन (Super regulation)मे उसके सहायक बनते है। अनादि कालसे यह चक्र चालू है। इसीलिये किसीके ऊपर इसके शुरू करनेकी जवाब-देही हुई नही। ऐसा क्यो हुआ यह प्रश्न भी उठता ही नही।

यहाँ पुन एक प्रश्न वैसा ही उठता है जैसा चौथे अध्यायके शुरूमे

ही सम्बन्धमे भगवानका प्रश्न खामखा आनेसे उसके लिये यही मौका मौजूँ भी था। ऐसा मौका फिर शायद ही आता। इसीलिये उनने कहना शुरू किया कि—

**अवजानन्ति मां मूढा मानुषी तनुमाश्रितम् ।**
**पर भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम् ॥११॥**
**मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः ।**
**राक्षसीमासुरीं चैव प्रकृति मोहिनीं श्रिताः ॥१२॥**

मेरे विलक्षण, निराले, निर्विकार (तथा) सर्वोत्तम स्वरूपको नही जान सकनेके कारण ही मूर्ख लोग मानव शरीरधारी मेरा तिरस्कार करते है—मुझे भगवान नही मानते है। (ये लोग) फिजूल आशाये बाँधते, फिजूल कर्म करते, फिजूल पढते-लिखते (एव) उलटी समझ रखते है। (क्योकि) भुलावेमे डालनेवाली राक्षसी एव आसुरी—राजसी एव तामसी—प्रकृति—स्वभाव—से मजबूर है।११।१२।

**महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः ।**
**भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम् ॥१३॥**
**सतत कीर्त्तयन्तो मा यतन्तश्च दृढव्रताः ।**
**नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥१४॥**

हे पार्थ, इनके विपरीत दैवी—सात्विक—प्रकृतिवाले महात्माजन मुझे ससारका मूल कारण मानके अनन्य मनसे मुझीको भजते है। (वे लोग) सदा भक्तिपूर्वक दृढ सकल्पके साथ मेरा कीर्त्तन करते हुए, प्रकारान्तर से (भी) यत्न करते हुए और मेरा नमस्कार करते हुए निरन्तर मुझीमे लगके मेरे ही निकट पडे रहते है—मेरी ही उपासना करते है।१३।१४।

**ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते ।**
**एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम् ॥१५॥**

दूसरे (महात्माजन) ज्ञानयज्ञसे ही मेरी पूजा करते हुए उपासना

करते है। (यह ज्ञानयज्ञवाली उपासना तीन प्रकारकी होती है—) एक ही परमात्माके रूपमे, भिन्न-भिन्न पदार्थोके रूपमे अनेक तरहकी और विराट्के रूपमे।१५।

ज्ञानयज्ञ तो बहुत ही व्यापक है। उसके भीतर सद्ग्रथोका पाठ भी आ जाता है, जैसा कि पहले कह चुके है। मगर यहाँ ज्ञानरूपी यज्ञसे ही अभिप्राय है। वह तीन तरहका है। एक तो यही है कि समस्त जगत् अद्वितीय ब्रह्मसे जुदा नही है और वह ब्रह्म मै ही हूँ। इस प्रकार अपनी आत्मा ही सर्वत्र नजर आती है। दूसरी कोई भी चीज नही। दूसरा यह कि जब पृथ्वी, जल, सूर्य, चन्द्र आदि पदार्थोको देखते है, तो ये पदार्थ नजर तो आते है। मगर इन सबोमे भगवानकी और आत्माकी ही भावना की जाती है। इस प्रकार बहुत रूपमे भगवानका अलग-अलग खयाल करके अभ्यास किया जाता है। या यो कहिये कि इनके रूपमें ही अनेक देवताओकी ही पूजा की जाती है। तीसरा यह कि समस्त जगत् भगवान ही है। इसमे जगत्को देखते है जरूर। मगर अलग-अलग चन्द्र, सूर्यादिके रूपमे नही। किन्तु भगवानके रूपमें ही। हरा चश्मा लगानेपर पदार्थ नजर तो आते है। मगर सबका रग एक ही हरा दीखता है। इसमें और विराट् दर्शनमे केवल इतना ही अन्तर है कि जहाँ चश्मेवालेको पृथक्-पृथक् पदार्थ नजर आते है तहाँ विराट्दर्शी सभी पदार्थोको एक ही विस्तृत वस्तुके रूपमे देखके उनमे भगवानकी ही सूरत देखता है। वे उसके इस काममे आईनेका काम करते है। सब मिलके एक आईना है जिनमें वह आत्मा-परमात्माको देखता है। साथ ही, आईनेको भी देखता है। पहले प्रकारके ज्ञान-यज्ञवालोकी नजरमे आईना-वाईना कुछ नही है। केवल आत्मा ही आत्मा है। यही दोनोमे फर्क है।

अब इसी विश्वदर्शन, ज्ञानयज्ञ या विराट्दृष्टिके प्रसगसे यह कहनेका मौका आ गया कि कौन-कौनसे मुख्य-मुख्य पदार्थ भगवानके रूप है।

बेशक, यहाँ भी अधिक पदार्थोंको नही गिनाया है। फिर भी पहले——सातवे अध्याय——की अपेक्षा ज्यादा जरूर है। किन्तु सातवेंसे यहाँ जो सबसे बडी विशेषता है वह यही है कि जब कि वहाँ पदार्थोके रस आदिको ही सत——सार——के रूपमे खीचके भगवानका रूप बताया है, तब यहाँ वैसा न करके समूचे पदार्थोंको ही उसका रूप कह दिया है। इस प्रकार सातवेकी अपेक्षा एक कदम आगे बढे है। एकाएक ऐसी भावना कठिन थी, असभव थी। इसलिये पहले पदार्थोके निचोडसे ही शुरू करके यहाँ ठेठ पदार्थोतक पहुँच गये। यह ठीक है कि यहाँ भी गिने-चुने पदार्थ ही है। फलत. कमी रह जाती है जो आगे पूरी होगी। यहाँ पदार्थोको चुननेमे यह बुद्धि-मत्ता की गई है कि मामूली पदार्थ न लेके यज्ञ, मत्र, वेद, ॐकार आदि ऐसे ही विलक्षण पदार्थोंको लिया है जिनके बारेमे ईश्वर-बुद्धि होनेमे कोई आनाकानी आमतौरसे हो न सके। यदि प्रतिदिनके प्रयोगके मामूली पदार्थ लिये जाते तो खामखा अर्जुनको और दूसरोको भी आश्चर्य होता कि ऐ, यह क्या कह रहे है!

**अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।**
**मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम् ॥१६॥**

मै ही क्रतु हूँ, मै ही यज्ञ हूँ, मै ही स्वधा हूँ, औपधियाँ (यज्ञीय अन्नादि) मै ही हूँ, मत्र मै ही हूँ, घी मै ही हूँ, अग्नि मै ही हूँ (और) आहुति (भी) मै ही हूँ।१६।

क्रतु कहते है वैदिक या श्रौत यज्ञयागोको। यज्ञ नाम है स्मार्त्त यज्ञो या कर्मोका। श्राद्धादि पितृकर्मोको स्वधा कहते है। पितरोके कर्मोका भेद न करके देवताओके कर्मोंके ही दो भेद किये है——श्रौत और स्मार्त्त। श्रुतियो या वेदोमे लिखे कर्म श्रौत कहे गये। पीछे जब स्मृतियाँ और सूत्र-ग्रथ बने तो उनने जिन नये कर्मोंका प्रचार किया वही स्मार्त्त कहलाये। यही मोटी पहचान दोनोकी है। असलमे यज्ञयागादि करने-

वाले लोग पहले अग्निको निरन्तर जलाये रखते थे। वैदिक मन्त्रोंसे ही शुरूमे उसकी स्थापना की जाती थी जिसे आधान कहते थे। यही अग्नियाँ दो प्रकारकी होती थी—श्रौत और स्मार्त्त। इन्हीमें या इन्हीसे किये जानेवाले कर्म क्रमश श्रौत और स्मार्त्त कहे गये। यही निचोड है। यह जरूरी नही है कि श्रुतियोमे कहे गये कर्म श्रौत अग्निमें ही हो, न कि स्मार्त्तमे। सूत्रग्रथ भी दो प्रकार के है—श्रौतसूत्र और स्मार्त्तसूत्र। दर्शपूर्ण मासादि वैदिक यज्ञयाग श्रौतसूत्रोमे और विवाह, श्राद्धादि घर-गिरस्तीके कर्म स्मार्त्तसूत्रोमे पाये जाते है। घर-गिरस्तीके सर्वसाधारण कर्म ही आमतौरसे स्मार्त्त कहे जाते है।

औषध या औषधिका अर्थ दवा नही है। "औषध्य फलपाकान्ता" कोषके अनुसार जिनके फल पकनेपर वह खुद भी पक और सूख जायें वही गेहूँ, जौ आदिके पौदे औषधि कहे जाते है। यहाँ औषधिका अर्थ है देवताओ तथा पितरोके कर्मोंमें प्रयुक्त होनेवाले अन्नादि।

**पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामह ।**
**वेद्य पवित्रमोकार ऋक् साम यजुरेव च ।।१७।।**

मै ही इस जगतके लिये पिता, माता, धाय (पिलाने-खिलानेवाली, जिसे धाई भी कहते है) तथा पितामह—दादा—हूँ। जानने योग्य, पवित्र या शोधक पदार्थ, ॐकार, ऋक्, साम, एव यजु भी मै ही हूँ।१७।

यहाँ ऋक् आदि तीनो शब्द उन नामोवाले वैदिक मन्त्रोंके ही है। जिन मन्त्रोको गाते है उन्हें साम कहते है। जिनके बारेमें पिंगल और छन्दोके नियम लागू है उन्हे ऋक् और जो इन दोनोंके अलावे खिचडी जैसे है उन्हीको यजु कहते है। साममन्त्र जिस मन्त्रसग्रहमे ज्यादा या सभी थे उसीको सामवेद, ऋक्मन्त्र जहाँ अधिकाश थे उसे ऋग्वेद और यजुर्मन्त्र जिसमे ज्यादातर थे उसे यजुर्वेद कहा गया। अथर्ववेदका सग्रह सबसे पीछे हुआ। इसमें सभी तरहके छूटे-छुटाये मन्त्र सगृहीत हुए। यह एक

तरहसे वेदोका परिशिष्ट है। त्रयी या तीन ही वेद कहनेका भी यही आशय है। आखिर मत्र भी तो तीन ही है। इन तीनोके अलावे तो मत्र होते ही नही। मत्र शब्द उन्हीका वाचक जो है।

वेद्य, पवित्र और ॐकार ये तीन पदार्थ जुदे-जुदे है, न कि ॐकारके ही शेष दोनो विशेषण है। यद्यपि ॐकारका उल्लेख सातवे अध्यायमे ही हो चुका है, तथापि वहाँ उसका स्वतत्र रूप न होके वेदोका निचोड ही उसे माना है। विपरीत उसके यहाँ स्वतत्र रूपमे ही वह आया है और है यहाँ वह ब्रह्मका प्रतीक।

**गतिर्भर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।**
**प्रभवः प्रलयः स्थान निधानं बीजमव्ययम् ॥१८॥**

जहाँ पहुँचा जाय वह, पोषक, स्वामी, साक्षी, सबका आधार, शरण, सुहृद, जिससे उत्पत्ति हो, जिसमे पदार्थ लीन हो या जा मिलें, जिसमे कायम रहे, सभी चीजो या कर्मोका कोष और पदार्थोका निरन्तर कायम रहनेवाला बीज (भी मै ही हूँ)।१८।

सातवे अध्यायका बीज मूल कारणके मानीमे आया है। मगर यह बीज साधारण बीजके ही अर्थमें है। बीज तो बराबर कायम रहता ही है। यदि वह न रहे तो कोई पदार्थ पैदा कैसे हो? इसीलिये उसे अव्यय या निरन्तर कायम रहनेवाला कह दिया है। गतिका अर्थ है जहाँ-तक जाया जाय या गन्तव्य स्थान और लक्ष्य।

**तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।**
**अमृतं चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन ॥१९॥**

हे अर्जुन, मै ही (सूर्यकी किरणके रूपमे) तपता हूँ, वृष्टि या जलको रोक रखता और जमा करता हूँ और वर्षता भी हूँ। अमृत, मृत्यु, सत् और असत् भी मै ही हूँ।१९।

यहाँ पूर्वार्द्धमे सूर्यका ही तीन रूपोमे वर्णन है। सूर्यकी किरणे

तीन प्रकारकी होती है। एक तो तपनेवाली जो जलको ऊपर उठाती या खीचती है। दूसरी उसे जमा करके मेघका रूप देनेवाली और तीसरी उसे बरसानेवाली। यही बात श्लोकमे लिखी है। ससारके कुछ पदार्थ अमर है और शेप मरनेवाले। ये दोनो ही जिन पदार्थों या विशेषताओंके करते ही ऐसे बने है उन्हीको अमृत और मृत्यु कहा है। सत्, असत्का अर्थ है स्थूल-सूक्ष्म या कार्य-कारण। सूक्ष्म पदार्थ दीखते नही। इसीसे खयाल होता है कि वे नही है, असत् है। इसी प्रकार कार्य बन जानेपर कारणकी स्वतत्र सत्ता मालूम पडती ही नही। इसीलिये पुराने लोगोने कारणको ही असत् भी कहा है। वह लापतासी चीज होती है। उसे ही ढूंढते भी है। कार्य तो सामने ही होते है।

इस प्रकार इन चार श्लोकोमे विभिन्न रूपसे मुख्य-मुख्य पदार्थोको परमात्माका रूप गिना दिया। इस प्रकार अनेक रूपसे उसके चिन्तन एव ज्ञानयज्ञके साथ इसका मेल भी हो गया और ज्ञान-विज्ञानके सम्बन्धमें एक सीढी आगे बढ भी गये। मगर इस विभिन्नताके खयाल, इस तरहके ज्ञानयज्ञ या इस आगेकी सीढीका असली प्रयोजन यह विभिन्नता तो है नही। इसके द्वारा तो दरअसल विश्वव्यापी एकता, एकरसता तथा अद्वैतकी ही ओर बढना और अन्तमें वहाँ पहुँचके टिक जाना ही लक्ष्य है। इसलिये जिनकी दृष्टि इस लक्ष्यसे, और इसीलिये एकत्वरूपी ज्ञान-यज्ञसे भी, विचलित होके इस अनेकतामें फँसती है वह चूक जाते है, यह बात सदा याद रखनेकी है। चूकनेवाले भी दो प्रकारके होते है। एक तो वे जो विभिन्न पदार्थोमें एक भगवानकी ही भावना करते है। उनकी चूक यही है कि अनेक पदार्थोको भी देखते है। फिर भी उनने रास्ता पकड लिया है। फलत कुछ विलम्बसे असली जगहपर ही जा पहुँचेंगे। यह ठीक है कि उनसे भी पहले विराट्दर्शी पहुँचेंगे। क्योकि वे इनसे कुछ आगे जो है। वे अलग-अलग पदार्थोको देखते तो नही। हाँ, आईने-

की तरह जगत्‌को एक देखते है। इसीलिये सचमुच उनके सामने दोई रह गये—आत्मा या परमात्मा और आईना। विपरीत इसके पहलेवालोके सामने तो अनन्त पदार्थ चट्टानकी तरह पडे है। इन सबोको तोडके इनकी ही तरह एक करना है, राजमार्ग बनाना है। इसमे परीशानी तो होगी ही। समय भी लगेगा। फिर भी ये दोनो ही आगे-पीछे लक्ष्यपर पहुँचेगे ही। फिर तो सर्वत्र उन्हे आत्मा ही दीखेगी। इसीलिये इनके बारेमे चिन्ता नही की गई है।

मगर जो चूकनेवाले दूसरे प्रकारके है वह जगत्‌के विभिन्न पदार्थोमे या तो विभिन्न देवताओकी भावना करते है, या इन्ही पदार्थो से किन्ही इन्द्र, महेन्द्रादि देवताओका ही यजन-पूजन करते है। ये दोनो ही लक्ष्यसे बहुत दूर चले जाते है। इसीलिये इन्हे कष्ट भी भोगने पडते है। इन्ही दोनोकी दुर्गतिकी बात आगेके क्रमश २०, २१ तथा २३-२५ श्लोकोमे कही गई है। इनमे भी इन्द्रादिकी पूजा करनेवाले तो और भी नीचे है; क्योकि वे काल्पनिक देवताओको मानके निरे खयाली ससारमे ही विचरते और स्वर्गादिके सुख चाहते है। विपरीत इनके दूसरे ऐसे है जो दृश्य पदार्थोको ही भगवान न मानके उसकी जगह देवताओकी ही भावना करते है। वे भूले तो है जरूर। मगर उनका ससार निरा खयाली नही है। उपनिषदोमे ऐसोका उल्लेख बहुत आया है। इसीलिये वे कुछ ऊँचे है। यही कारण है कि शुरूके दो श्लोकोमे पहले लोगोकी बाते कहके और प्रसगसे बीचके २२वेमे असली लक्ष्यकी याद दिलाके पुन तीन श्लोकोमे दूसरे लोगोकी गाथा सुनाते है।

त्रैविद्या मां सोमपा. पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गति प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान् ॥२०॥
ते त भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशाल क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागत कामकामा लभन्ते ॥२१॥

तीनो वेदोमे वताये कर्मोंके जाननेवाले (लोग) यज्ञोंके द्वारा मेरा पूजन करके सोमलताका रस पीते (और इस तरह) पापरहित होके स्वर्ग-प्राप्तिकी प्रार्थना करते है। वे इन्द्रके सुन्दर लोक—स्वर्ग—मे जाके वहाँ देवताओंके दिव्यभोगोको भोगते है। (पीछे) वही लोग उस विशाल स्वर्गके भोगोको भोग चुकनेके वाद (अपना) पुण्य पूरा हो जानेपर (पुन) मर्त्यलोकमे ही आ धमकते है। तीनो वेदोमें वताये धर्मोंके करनेवाले भोगेच्छुक लोग इसी तरह आवा-जाही जारी रखते है।२०।२१।

यहाँ सोमपा शब्दका अर्थ है सोमरसके पीनेवाले। असलमे वैदिक यागोमेसे यहाँ एकका उल्लेख नमूनेके तौरपर ही हुआ है। ज्योतिष्टोम नामक वैदिक याग स्वर्गके ही उद्देश्यसे किया जाता था। इसमे प्रधान पदार्थ सोमलता ही मानी जाती थी। घी आदिकी जगह प्रधान आहुति इसी लताके रसकी दी जाती थी। ऐसा माना जाता है कि वर्फानी प्रदेशमें ही यह लता होती है। उसे मँगवाके पत्थरोसे कटते और रस निचोड़ते थे। उसी रससे देवताओंके लिये आहुतियाँ देके वचे-बचाये या यज्ञशिष्ट रसको यजमान वगैरह पीते थे। इसीलिये 'सोमपा' शब्द आया है। इस प्रकार बडेसे भी बडे वैदिक यज्ञयागादिका परिणाम यही आना-जाना ही तो है।

विपरीत इसके जो अनन्य भावसे आत्मचिन्तनमे लग जाते है वह न सिर्फ इस आवाजाही और जन्समरणके चक्रसे ही बचते है, वल्कि इस ससारमे भी उन्हे किसी पदार्थकी कमी नही रहती है। अत उसके मुकाविलेमे यह कितनी ऊँची चीज है—"वह ज़वाल और यह जलाल"। इसीलिये उसके साथ इसका कोई भी मुकाविला नही हो सकता है। यही वात प्रसगसे अगले श्लोकमे कहके फिर वही वात चालू करते है—

अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना पर्युपासते।
तेषा नित्याभियुक्ताना योगक्षेम वहाम्यहम् ॥२२॥

जो भक्तजन अनन्य भावसे मेरा चिन्तन करते हुए मेरी उपासना करते है, मुझमे ही निरन्तर लगे रहनेवाले उन लोगोका योगक्षेम मैं (खुद) करता हूँ ।२२।

जो आवश्यक पदार्थ अप्राप्त हो उन्हे जुटाना योग है। जुटनेपर उनकी हिफाजतको क्षेम कहते है ।

**येऽप्यन्यदेवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः ।**
**तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥२३॥**

हे कौन्तेय, अन्य देवताओके भी जो भक्तजन श्रद्धासे उनका यजन करते है वे भी यजन तो मेरा ही करते है । (फर्क यही है कि) विधिपूर्वक या उचित रीतिसे नही करते ।२३।

**अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च ।**
**न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते ॥२४॥**

क्योकि सभी यज्ञोंका भोगनेवाला—उनके द्वारा आराध्य देवता—और फल देनेवाला भी मै ही हूँ । लेकिन वे मुझे यथार्थ रूपमे जानते ही नही । इसीसे चूक जाते है ।२४।

**यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन्यांति पितृव्रताः ।**
**भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम् ॥२५॥**

(बात यो है कि) देवताओके व्रत-पूजन करनेवाले उन्हीतक पहुँचते हैं, पितरोके व्रतवाले उनतक, भूतोके पूजक भूतोतक और मेरे पूजक मुझतक भी पहुँचते है ।२५।

यहाँ 'अपि माम्'मे 'अपि'को 'माम्'के बाद ही लगाके अर्थ करना ठीक है, जैसा कि "यान्ति मामपि" (७।२३)मे किया गया है । वहाँ तो वैसा हुई। मगर यहाँ भी अभिप्राय वही होनेके कारण अर्थ भी वही होना चाहिये । इसी प्रकार जो 'तत्त्वेन' शब्द २४वेमे आया है उसका तात्पर्य यही हैं कि अन्य देवताओके रूपमें भगवानके पूजनेवालो को भगवान-

का तत्त्वज्ञान—यथार्थ ज्ञान—नही होता। इसीसे वे चूकते है, उनका पतन होता है। कारण, तत्त्वज्ञान या आत्मरूपसे भगवानका साक्षात्कार ही असल चीज है। "त्रैविद्या" और 'येऽप्यन्य' श्लोकोमें—दोनो ही जगह—'माम्' आया है। इससे स्पष्ट है कि दोनो ही प्रकारके लोग एक ही श्रेणीके है। इनमें जो फर्क है वह बताया जा चुका है। श्रद्धाका उल्लेख होनेसे यह सिद्ध हो जाता है कि उसके बिना जो कुछ किया जाता है वह बेकार है।

इस प्रकार चूके तथा पथभ्रष्ट लोगोकी दशाका वर्णन करनेका फल यह होता है कि जो लोग आत्मज्ञान और भगवानके मार्गपर चलते है और जिनका वर्णन "अनन्याश्चिन्तयन्त" तथा इससे पूर्वके "एकत्वेन पृथक्त्वेन" श्लोकमें आया है, उनकी ओर बलात् ध्यान आकृष्ट हो जाता है। प्रयोजन भी इस निरूपणका यही है। बिना धूपमें जले छायाका महत्त्व या शीतल जलका पूरा स्वाद नही मिलता है। फलतः पुनरपि उसी मुख्य विषयपर आ गये। जैसा कि कहा गया है, उस उचित मार्गपर चलनेवाले भी कई तरहके लोग होते है। इसलिये यह बताना जरूरी हो गया कि उसके द्वारा आत्मसाक्षात्कार या सर्वत्र आत्मा-परमात्माके ही दर्शनकी दशामें कैसे पहुँचा जाता है। उन विभिन्न-दर्शियोके दो विभाग करके पहलेका काम घृत, सोम आदिके द्वारा इन्द्रादि देवताओके रूपमे—न कि स्वतत्र रूपसे—भगवानका पूजन कहा गया है। दूसरेका सीधे भौतिक पदार्थोको ही भगवानकी जगह देवताके रूपमें पूजनेकी बात बताई गई है। ठीक उसी प्रकार यहाँ भी विभिन्न-दर्शी लोगोको दो दलोमे बाँटके पहलेका काम पत्र, पुष्पादिके द्वारा स्वतत्र रूपसे भगवानका पूजन बताया गया है। दूसरेके बारेमें सभी कामोको भगवानकी पूजा ही मान लेने और उसी भावसे उन्हें करनेकी बात कही गई है। असलमे भगवानकी ओर बढनेवाले लोगोमे पहला दल तो सभी पदार्थोंको अलग-अलग मानता ही

है। इसीलिये वह पत्र, पुष्पादिसे ही पूजन करता है। हाँ, जब दूसरा दल सभी पदार्थोंको एक करके आत्मा-परमात्माका आईना मानता है तो यह उचित ही है कि वह जो कुछ भी करे उसे भगवानकी पूजा ही माने। २६वे श्लोकमे पहले दलकी और उसके बादके डेढ श्लोकोमें दूसरेकी बात कहके २८वेंके उत्तरार्द्धमे उसका फल सन्यास और उसके द्वारा आत्म-साक्षात्कारके फलस्वरूप मुक्ति ही बताई गई है।

**पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।**
**तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ॥२६॥**

जो (श्रद्धा)भक्तिसे मुझ परमात्माको पत्ते, फूल, फल (या) जल अर्पण करता है, मनपर काबू रखनेवाले उस मनुष्यकी भक्तिपूर्वक भेंटको मैं स्वीकार करता हूँ।२६।

**यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।**
**यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥२७॥**

हे कौन्तेय, जो दान, यज्ञ, योग, तप या और भी कोई काम करते हो वह सब कुछ मुझीको अर्पण करो—सब कुछ मेरी ही पूजा मानो।२७।

**शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।**
**संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि ॥२८॥**

इस प्रकार कर्मोंसे उत्पन्न और उन्हींमें पुन मनुष्योको जोडनेवाले बुरे-भले फलोसे तुम्हारा पिंड छूट जायगा। (उसके बाद क्रमश ) सन्यास मूलक योग या समाधिमे अपने मनको लगाके तुम मुक्त होगे (और इस तरह) हमे प्राप्त कर लोगे।२८।

**समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।**
**ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम् ॥२९॥**

(यद्यपि) मैं सभी पदार्थोंमे एकरस हूँ (और इसीलिये) न मेरा

कोई शत्रु है न मित्र, (तथापि) जो भक्तिपूर्वक मेरा भजन करते है वे मुझमे और मै उनमे हूँ ।२९।

यहाँ २८वे श्लोकमे "कर्मबन्धनै" पदके दो अर्थ है और दोनोका परस्पर सम्बन्ध है। कर्मोसे फलोका बन्धन है, ताल्लुक है। अर्थात् कर्मोसे फल पैदा होते है। इसीके साथ फलोसे भी कर्मोका बन्धन या ताल्लुक है। क्योकि फलोके भोगने पर कर्मोमे चस्का पैदा हो जाता है और जी चाहता है कि ऐसे ही कर्म और भी करें। मगर भगवानके अर्पण करने पर तो यह कोई भी बात नही होती। फलत मनकी शुद्धि हो जानेसे कर्मोका स्वरूपत संन्यास होता है। अनतर समाधिमे लग जाने पर आत्म-दर्शन होके मुक्ति मिल जाती है।

इसपर यह खयाल हो सकता है कि जब भगवान सर्वत्र एकरस है और उसके लिये न तो कोई अपना है, न पराया, तो फिर यह क्या कि ज्ञानीजन उसे प्राप्त कर लेते है और दूसरे नही? उसके सम्बन्धमे यह क्या बखेडा है? वह तो सभीको प्राप्त ही है। क्योकि सभी जगह मौजूद है। इसीलिये प्राप्त करने या पहुँचनेकी भी कोई बात नही हो सकती है। ऐसी दशामे भक्तजनोका उसतक पहुँचना भी कुछ उलटी-सी बात लगती है।

इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर २९वाँ श्लोक देता है। कोई बढई दिनभर बीसियो गृहस्थोके घर जा-जाके उनका काम करता रहा। फिर कुछ दिन रहते ही फुर्सत पाके घर चला। जाडेके दिन थे। इसलिये कन्धे पर अपना बसूला रखके ऊपरसे उसने दोहर डाल ली थी। घरके नजदीक पहुँची रहा था कि एकाएक खयाल आया कि ऐं, बसूला क्या हो गया? मै उसे कहाँ छोड आया? बस, उल्टे पाँव लौट पडा, सभी जगह दौडता फिरा और पूछ-ताछ करके हार गया। पर बसूला मिल न सका। लाचार मनहूस मनसे घर वापिस चला। पहुँचते ही दरवाजे

पर जलती धुनीके पास गया। जाडेकी शाम तो थी ही। इसीसे आगकी जरूरत भी थी। आगके पास उदास बैठा ही कि बच्चेने पूछा कि पिताजी, आज उदास क्यो है ? उत्तर मिला कि क्या कहे ? जाने कहाँ बसूला ही खो गया और कमानेका आधार वही एक था ! बच्चा इसपर कहता ही क्या ? थोडी देर वाद आगकी गर्मीसे देहमे गर्मी आने पर जो उसने दोहर उतारके रखनी चाही तो बसूला हाथ लग गया ! अब तो उसकी खुशीका ठिकाना न था ! उसने कहा, धत्तेरे की ! बसूला तो पास ही था और मैं दौडता फिरा ! बस, यही बात परमात्मा और आत्माके मिलने-न मिलनेकी भी समझिये।

नवे अध्यायमे जो कुछ कहना था, यही पूरा हो गया। फिर भी अभी पाँच श्लोक रह जाते है। उनमें कोई नई बात नही कही गई है। किन्तु जो लोग किसी भी हालतमे इस तरफ कदम बढाते है उन्हीके लिये प्रोत्साहन उन श्लोकोका विषय है। अभी-अभी २७वे श्लोकमे जो यह कहा गया है कि खाने-पीने, भोगराग या दूसरे भी कामोको भगवानको ही अर्पण कर दो, वह तो बहुत व्यापक चीज है। ऐसा होने पर तो बुरेसे भी बुरे कर्म इसी श्रेणीमे चले आ सकते है। तो क्या यह ठीक और मुनासिब होगा कि ऐसे कर्मोंको भी भगवानको अर्पण किया जाय ? यदि हाँ, तो फल क्या होगा ? यही न, कि ऐसे दुष्कर्मी लोग भगवानकी अन्य प्रकारकी पूजाका नाम न लेगे—उसीका जिसे लोग सचमुच पूजा मानते है ? फलत यह तमाशा, नाटक और प्रवचनाके अलावे दूसरा कुछ न माना जाना चाहिये। यह बहुत मोटी बात है और आमतौरसे सभी लोग इसे बखूबी समझते है। फिर भी आश्चर्य है कि ऐसी बात न सिर्फ कही गई है, बल्कि उसका ऊँचेसे भी ऊँचा फल बताया गया है। इसीका उत्तर आगेके चार श्लोक इस तरह देते है—

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्य· सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥३०॥
क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्ति निगच्छति ।
कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति ॥३१॥
मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः ।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम् ॥३२॥
किं पुनर्ब्राह्मणा. पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा ।
अनित्यमसुख लोकमिम प्राप्य भजस्व माम् ॥३३॥

अगर पक्का दुराचारी भी हो, फिर भी मुझ परमात्माको अनन्य भावसे भजे, तो उसे साधु ही मानना होगा । क्योकि (अब तो) उसका व्यवसाय उचित ही है । (इसलिये) शीघ्र ही वह धर्मात्मा हो जाता है (और धीरे-धीरे उक्त रीतिसे) अखड शाति–मुक्ति–बखूबी प्राप्त कर लेता है । हे कौन्तेय, मनमे बिठा लो कि मेरे भक्तकी दुर्गति कभी होती ही नही । हे पार्थ, (यहाँ तक कि) जो नीच एव दूषित योनिवाले स्त्री, वैश्य और शूद्र भी है वे भी मेरा आश्रय लेके (क्रमश ) परम गति हासिल कर लेते है । तो फिर पुण्यजन्मा ब्राह्मणो तथा क्षत्रिय भक्तोका क्या कहना ? (इसलिये) इस सुखसे रहित और चन्दरोजा शरीरको पाके मुझीको भजो ।३०।३१।३२।३३।

इन चार श्लोकोमें पहलेमें जो अनन्य भावसे भजनेकी बात कही गई है वह ठीक वही है जो "यत्करोषि"मे कही गई है । ३२वेंके "मा व्यपाश्रित्य"का भी कम-बेश वही आशय है । यह ठीक है कि ऐसे लोग एकाएक वैसा कर नही सकते । इसीलिये 'भजते'का अर्थ है भजनका यत्न करता है—उस ओर धीरे-धीरे कदम बढाता है । श्रद्धासे उस ओर बढनेसे ही रास्ता साफ होने लगता है । क्योकि यदि पूरा बढ जाय तो अत्यन्त दुराचारी—सुदुराचार—कहनेके कुछ मानी नही रह जाते ।

फलत "सम्यग्व्यवसित."मे कह दिया है कि उसका यह व्यवसाय, यह उद्योग उचित ही है। वह उद्योग और यत्न करता है यही आशय है। जल्द ही धर्मात्मा होनेकी भी बात इसीलिये कही गई है, जिससे स्पष्ट हो जाता है कि ऐसा करनेके कुछ समय बाद उसका दुराचार धीरे-धीरे बन्द होके वह धर्मात्मा बनता है, होता है। मगर शुरूसे ही अनन्य भक्त हो जानेपर तो इसकी जरूरत हुई नही। बिना धर्मात्मा हुए अनन्य भक्त कैसा ? यदि अजामिल आदिकी जैसी बात कहे, तो भी ठीक नही। क्योकि अजामिल दुराचारी भले ही रहा हो। मगर सुदुराचार या अत्यत दुराचारी हर्गिज न था। हम तो उसे प्राय धर्मव्याध जैसा ही मानते है। "न मे भक्त प्रणश्यति"का भी यही तात्पर्य है कि मेरी तरफ भावना करके जो भी थोडा बहुत किया जाता है वह कभी नष्ट नही होता। किन्तु धीरे-धीरे सूदके साथ बढता है।

बत्तीसवे और तेतीसवें श्लोकोमे स्त्रियो, वैश्यो और शूद्रोको पाप-योनि या छोटा और ब्राह्मणो तथा क्षत्रियोको पुण्यजन्मा कहा है। क्योकि 'पापयोनय'के विपरीत "पुण्या" शब्द ब्राह्मणो एव राजर्षियो—क्षत्रियो—दोनो ही—का विशेषण है। देखनेसे यही उचित भी प्रतीत होता है। 'भक्ता' भी दोनो हीके लिये आया है। इससे सिद्ध हो जाता है कि गीता और महाभारतके समय हमारी वर्णव्यवस्था न तो आज जैसी थी और न जैसी शुरूमे थी वैसी भी थी। आज तो ब्राह्मणोको ही ऊँचा स्थान प्राप्त है। क्षत्रिय उनसे नीचे है। इसी प्रकार वैश्योका स्थान शूद्रोसे ऊँचा है। आज इन्हे पाप-योनि तो हर्गिज नही मानते, यद्यपि स्त्रियोको दुर्भाग्यसे ऐसा ही मानते है। यहाँ गीतामे ब्राह्मण एव क्षत्रिय तथा वैश्य एव शूद्रको समकक्ष कह दिया है। चौथे अध्यायमे जो "राजर्षयो विदु" कहा है उससे भी क्षत्रियोका दर्जा यदि ऊँचा नही तो ब्राह्मणोके समकक्ष तो सिद्ध होई जाता है। विपरीत इसके शुरूमे चारो वर्णोको शरीरके

चार अंगोकी जगह मानके यह दिखाया था कि यह वर्ण-विभाग और कुछ नही, केवल समाजके सचालनार्थ कामोका बँटवारा है। इसमे ऊँच-नीचका प्रश्न नही। प्रत्युत चारोकी अपने-अपने स्थान पर समान ही उपयोगिता है। हमने यही बात पहले लिखी भी है। लेकिन गीता पहले दोको श्रेष्ठ और शेष दोको कनिष्ठ—नीच—कहती है।

छान्दोग्य और बृहदारण्यक उपनिषदोकी पचाग्नि विद्यावाली बात लिखते हुए हमने पहले बताया है कि उस जमानेमे क्षत्रियोका दर्जा ब्राह्मणोके समकक्ष जैसा ही था, अगर ऊँचा न भी था। कमसे कम ब्राह्मणोका यह दावा तबतक न हो पाया था कि सब विद्यायें वही जानते है और उन्हींसे ससारको सीखनी होगी, सीखनी चाहियें, जैसा कि मनुस्मृतिमें लिखा है कि 'एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मन। स्व स्व चरित्रशिक्षेरन् पृथिव्या सर्वमानवा" (२।२०)। इसलिये यह माननेकी काफी गुजाइश है कि ब्राह्मण ग्रथो एव प्रधान उपनिषदोके समयसे मिलता-जुलता ही समय गीताका है। या यो कहिये कि वही समय महाभारतका है। उपनिषदोकी जब खूब प्रधानता थी तभी गीता बनी। इसीलिये न सिर्फ उपनिषदोकी बातें इसमे रूपान्तरसे बहुत ज्यादा आईं, बल्कि इसकी सर्वमान्यताके ही खयालसे इसे भी रूपान्तरमे उपनिषद ही कहना पडा। नही तो उपनिषदोके सामने इसे कौन पूछता? यह तो नियम ही है कि जिसकी चलती बनती है उसके ही पीछे चलनेसे काम बनता है। पीछे तो उपनिषदोको भी लोग भूलसे गये। मगर यह विषय स्वतन्त्र रूपसे विचारनेका है। यहाँ तो यो ही प्रसगसे थोडासा इशारा कर दिया है।

आगेके अन्तिम श्लोकमे इस अध्यायका उपसहार कुछ इस तरह करते है कि जो बाते प्रधान रूपसे, लक्ष्यके रूपमे, कही गई है वे इसमे आ जायें—

**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मा नमस्कुरु।**
**मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मान मत्परायण ॥३४॥**

हमीमे मन लगाओ, हमारे ही भक्त हो जाओ, हमारा ही यज्ञ करो (और) हमारा ही नमस्कार करो। इस प्रकार हमीको सब कुछ समझते हुए हमीमे मनको जोड देनेसे हमीको प्राप्त हो जाओगे।३४।

वेशक, इस श्लोकको जाँहिरा तौर पर देखनेसे तो यही पता लगता है कि पूर्ण पहुँचे हुए ज्ञानीजनोकी ही बात इसमे है। मगर इतने अधिक विशेषण भक्तजनके पीछे लगे है कि सन्देह पैदा करते है। भगवानका यजन करे, उसे नमस्कार करे और इसीके साथ मनको उसमें एक बारगी जोड दे, यह बात समझमे आती नही। मनको उसीमे बाँध देनेका तो अर्थ ही है कि शेष क्रियायें वन्द हो जायँगी। और अगर दोनो ही तरहकी क्रियाये चलेगी तो 'मन्मना', 'मद्भक्त' और 'आत्मान् एव युक्त्वा' इन तीन विशेषणोकी सफलता कैसे होगी? तव तो एक ही से काम चलेगा। तीनोके देनेका तो प्रयोजन ही है—खासकर जब उन्हीके साथ 'मत्परायण' भी जुट जाता है—कि चौवीसो घटे आत्मा-परमात्मामे ही डूबा हुआ मस्त पडा है। इसीलिये हम इस श्लोकका यही आशय मानते है कि नमस्कार, यजन आदिके जरिये धीरे-धीरे उस अन्तिम दशामे पहुँचनेको लक्ष्य करके ही यह लिखा गया है। फलत नवे अध्यायमे जो कई प्रकारके विवेकी जन 'एकत्वेन' आदिके द्वारा कहे गये है वे सभी इसमे आ जाते है।

इस अध्यायमे केवल एक ही वार सम शब्द आया है। वह समदर्शनके ही ढगकी वातका सूचक है, जैसा कि "निर्दोषहि सम ब्रह्म" (५।१९)मे है। ७,८ अध्यायमें तो यह आया ही नही है।

इति श्री० राजविद्याराजगुह्ययोगो नाम नवमोऽध्यायः ॥९॥

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमे० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सवाद है उसका राजविद्या राजगुह्य नामक नवाँ अध्याय यही है ॥९॥

# दसवाँ अध्याय

सातवें अध्यायमे जिस ज्ञानविज्ञानका आरभ हुआ था वही नवेंके अन्ततक चलता आया है । मगर यह निरूपण केवल आशिक और सकुचित रूपमे ही हुआ है, यह हमने पहले ही बता दिया है । इसका कारण भी समझा दिया है । ठीक ही है, इतने गहन और गूढ विषयका, जिसके बारेमे कृष्णने कह दिया है कि यह बात इस लम्बी मुद्दतमे लुप्त हो गई है, "योगो नष्ट परन्तप" (४।२), एकाएक विस्तृत निरूपण करना अर्जुनको और दूसरोको भी चकाचौंधमे डालना हो जाता । फलत इसका वखवी समझना और भी असभव बन जाता । क्योकि लोग चटपट कह बैठते कि यो ही जाने क्या-क्या अटसट बके जाते है जो अक्लमे समाता ही नही। इतना ही नही, तब तो इससे लोगोको एक प्रकारकी अश्रद्धा ही हो जाती। इसीलिये धीरे-धीरे प्रवेश कराते-कराते कृष्णने अर्जुनके मनमें चस्का और लगन पैदा करनेके साथ ही इस गहन विषयमे उसकी बुद्धिके प्रवेशका रास्ता भी साफ कर दिया । अर्जुनको अब इसमे वह कठिनाई नही प्रतीत होती थी जो पहले दीखती थी । उसका मन भी इधर झुकता नजर आया। यह बात दसवे अध्यायके पहले ही श्लोकके 'प्रीयमाणाय' शब्दसे प्रकट हो भी जाती है। इसीलिये उसी श्लोकमे कृष्णने साफ ही कह दिया कि अभी और भी मेरी मजेदार और महत्त्वपूर्ण बातें सुनो "भूय एव महाबाहो शृणु मे परम वच" ।

एक बात और भी है । कहा जा सकता है कि भगवानसे इस जगत्के बननेकी बात तो लुप्त हुई नही है । जिस योगके लोप होनेकी बात चौथे अध्यायमे कही गई है उसके भीतर तो इसके सिवाय दूसरी अनेक बातें

भी हैं और उन्हीका विलोप हो जानेसे वहाँ मतलब हो सकता है। फिर भी यह तो ठीक ही है कि जिस चीजको भगवान खुद कहेंगे वह जितनी खूबी तथा आसानीसे जानी जा सकेगी वैसी दूसरोकी जबानी हर्गिज नही। आखिर इस चीजके करनेवाले, इस लीलाके फैलानेवाले और मूल कारण तो वही हैं न ? यह नाटक तो भगवानका ही फैलाया हुआ है न ? इसी-लिये इसका कच्चा चिट्ठा, इसकी हकीकत जितनी वह जानेंगे उतनी और कोई क्या जानेगा ? क्योकि वह तो उन्हीसे या दूसरोसे ही सीख-सुनके जानेगा और कहेगा न ? फिर उसके कहनेमे वह मजा कैसे आयेगा जो ठेठ भगवानके कहनेमे ? दूसरे ऋषि-मुनि या उपदेशक तो उसके ही बनाये हुए हैं न ? फिर यह कैसे आशा की जाय कि वे रत्ती-रत्ती बातें बखूबी जान सकेंगे ? और जो भी जानें वे भी उस तरह कैसे समझा सकेंगे ? ऐसे तो विरले ही हो सकते हैं जिन्होने आत्मज्ञानके द्वारा इन सभी चीजोका साक्षात्कार कर लिया हो। क्योकि "मनुष्याणा सहस्रेषु" (७।३)की भी बात तो आखिर इसी सिलसिलेमे कही गई है। और अगर किसी विरले माईके लालने ऐसी योग्यता भी प्राप्त की तो भी उसका मिलना आसान तो नही है। इसलिये आवश्यक हो जाता है कि भगवान स्वयमेव सारी दास्तान सुनाये। जब उन्हीकी कृपासे विवेक आदि सद्गुण औरोको मिलते है, जिससे वे ये बाते जानके दूसरोको भी जनायें; मन, इन्द्रिय आदिको काबूमे करके पहले इस विषयको अच्छी तरह स्वय देख ले, अनन्तर दयार्द्र होके अन्योको भी बतायें, तो क्यो न भगवानसे ही यह चीज जानी जाय ? दसवे अध्यायके कुल ४२ श्लोकोमे जो शुरूके पूरे अठारह श्लोक इन्हीं बातोंके कहनेमे खत्म हुए हैं उसका यही रहस्य है।

उनमे भी पहले पूरे ग्यारह श्लोकोमे स्वय कृष्णने इस विषयकी गहनताके खयालसे ही सब कुछ कहा है और बताया है कि इसे विरले ही

जानते है, सो भी मुझ भगवानकी ही अनुकम्पासे । तभी तो जो अर्जुन चुप बैठा था उसे एकाएक खयाल हो आया है कि ओहो, जब ऐसी बात है तब तो मुझे खुद कृष्णसे ही अनुरोध करना चाहिये कि वे स्वयमेव ये बातें बतायें और कहे कि किस प्रकार उनने यह विश्वका नाटक फैलाया है। कही ऐसा न हो कि मेरी इस चुप्पीका कुछ और ही अर्थ लगाके या तो इसे कतई छोड ही दे, या अगर सुनाये भी तो उस विस्तारके साथ नही जिसकी जरूरत है और उस मनोयोगसे भी नही जिसके करते विषयमे जीवन आ जाता है । इतना ही नही । आगे तो कृष्णको ही इस "कह सुनाऊँ"के बाद ही "कर दिखाऊँ" भी करना था । तभी तो दिलमें यह बात जाके बैठ सकती थी । इसलिये जब खुद ही वह कहेगे तो दिखाने या प्रयोग करनेमे भी न तो हिचकेंगे और न आधे मनसे उसे करेगे ही । इसीलिये उसने जोर दिया कि नही नही, महाराज, आप ही कृपा कीजिये और सुनाइये । उसके भीतर विषादके करते जो गडबड पैदा हो गई थी उसीके चलते जाने कितनी ही बाते भूल ही गई थी । उन्हीमे कुछ एकाएक अब याद भी हो आई । इसीलिये तो जहाँ पहले उसने कृष्णके बारेमे कहा था कि आप तो अभी पैदा हुए है, फिर यह कैसे मानूँ कि सृष्टिके आदिमें आपने विवस्वानसे यह बाते कही थी, तहाँ अब उसने यह भी कह दिया कि हाँ, हाँ, भगवन्, आपके बारेमे बडे-बडे महर्षियोसे भी सुना था वही, जो आप खुद कह रहे है । क्षमा करे, मेरी बुद्धि ही जानें क्या हो गई थी कि कुछ याद ही नही पडता था । आपकी महिमा तो अपरम्पार है, इसमे कोई शक नही है । यह भी नही कि यह आपकी प्रशसामात्र है । यह तो वस्तुस्थिति है । इसलिये अब तो आपको अपनी लीला सुनानी ही होगी, चाहे जो कुछ हो जाय ।

इसके बाद तो भगवानके लिये कोई चारा ही न था । फलत फौरन ही १९वें श्लोकसे ही उन्हे शुरू कर देना ही पडा । पूरे २४ श्लोकोमें

तो इसे विभूतियोग नामक अध्याय कहते है, जैसा कि औरोको ज्ञान-विज्ञानयोग आदि नाम दिये गये है।

तव प्रश्न होता है कि यहाँ योगका अर्थ आखिर है क्या ? योग शब्द जिन अर्थोमें गीतामे वार-वार आया है वह तो इसका अर्थ है नही। इसके तो ज्यादेसे ज्यादा चमत्कार, करिश्मा, ऐश्वर्य आदि ही अर्थ किये जा सकते है। मगर तव क्या विभूतिसे काम नही चल जाता कि इसकी भी जरूरत हुई ? यह प्रश्न उठता है। आखिर विभूति भी तो चमत्कार या करिश्मा ही है। जादूगर जव नई-नई चीजे वताता है तो उसे करिश्मा ही तो कहते है।

असलमे दसवे और ग्यारहवे अध्यायोमें यो ऊपरसे देखनेसे दो जुदी वातोका वर्णन मालूम होनेपर भी इनके विषयको एक ही मानके उसे दो भागोमे केवल वाँटा गया है। इनमे पहला है 'कह सुनाऊँ'वाला और दूसरा 'कर दिखाऊँ'का। दोनोको एक ही समझनेके लिये ही यहीपर एक ही साथ विभूति और योग शव्द शुरूमे ही कहे गये है। यही कारण है कि विभूतिके खत्म होते ही, 'कह सुनाऊँ'के पूरा होते ही अर्जुनने ग्यारहवेंमें चटपट 'कर दिखाऊँ'के वारेमे प्रश्न कर दिया है और जरा भी देर न की है। कृष्णके भी 'कर दिखाने'का उसके नवें श्लोकसे शुरू करनेके ठीक पहले आठवेंके अन्तमे "दिव्यं ददामि ते चक्षु पश्य मे योगमैश्वरम्"में योग आ गया है। जो कुछ दिखाया गया है उसे ही वहाँ ईश्वरीय योग कहा है। इससे स्पष्ट है कि विश्वरूपका दिखाना ही योग है। दिखानेके भीतर ही देखना भी आ जाता है। इसीलिये विश्वरूप दर्शनमे दर्शनका अर्थ देखना-दिखाना दोनो ही है। अतएव दसवेंके "न मे विदु सुरगणा प्रभव" (१०।२)में जो प्रभव शव्द है उसका अर्थ प्रभुता या ऐश्वर्य करके उसके भीतर विभूति और योग दोनोको ही समझना होगा। कृष्णके कहनेका अभिप्राय यही है कि मै किस प्रकार इस विश्वप्रपचको वनाता

अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः ।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः ॥५॥

विवेकशक्ति, विवेक, मोहका संसर्ग कतई न होना, क्षमा, सत्य, इन्द्रियोंपर काबू, मनपर काबू, सुख, दुःख, पदार्थोंका होना, न होना, भय, अभय, अहिंसा, सबमें समबुद्धि या सबके साथ समानताका व्यवहार, सन्तोष, तप, दान, यश, अपयश (आदि) ये सभी विभिन्न पदार्थ मैं ही पैदा करता हूँ ।४।५।

जिन बीस पदार्थोंको प्रधानतया इन दो श्लोकोंमें गिनाया है उनका इस प्रसंगमें इतना ही उपयोग है कि आत्मसाक्षात्कार या दिव्य-दृष्टि प्राप्त करने और तदनुकूल ही दूसरोंको उपदेश करनेके लिये ये जरूरी हैं। इनके बिना वह नजर और वह दृष्टि एक तो मिली नहीं सकती । मिलनेपर भी दूसरोंको इन्हींके अनुकूल पथदर्शनमें किसीकी प्रवृत्ति होई नहीं सकती, जबतक ये गुण उसमें पूर्णरूपसे आ न गये हों । जिसे सुख-दुःखका कटु अनुभव न हुआ हो, जो क्षमाशील न हो, जिसने भय-अभयकी खूबियाँ और कारनामे कभी देखे ही नहीं, वह क्या लोकसंग्रह करेगा ? यही चीजें और ऐसी ही दूसरी भी उसे उस ओर जबर्दस्ती लगाती हैं, उसके दिलको पिघला देती हैं ।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा ।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः ॥६॥

सबसे पूर्व या सृष्टिके आरंभके सात महर्षि और चार मनु—ये सभी—मुझीसे मेरे मनके संकल्पसे ही पैदा हुए थे, जिनने दुनियामें ये प्रजाएं पैदा की—यह जनता पैदा की ।६।

इस श्लोकमें जो 'पूर्वे' शब्द है वह 'महर्षयः सप्त' और 'चत्वारो मनवः'के बीचमें आनेके कारण दोनों ओर जुटता है । "लोभः प्रवृत्तिरारंभः कर्मणामशमः स्पृहा" (१४।१२)में 'कर्मणा'का भी वही हाल है ।

वह 'आरभ' और 'अशम' दोनोसे ही जुटता है। इसीको देहलीदीपक-न्याय कहते हैं। बीच द्वारमे जो दीपक रहता है वह बाहर-भीतर दोनो ही तरफ उजाला करता है। वही बात यहाँ भी है। इस तरह इसका अर्थ यह हो जाता है कि पूर्वके, शुरूके या यो कहिये कि सृष्टिके आरभके सप्त महर्षि या सप्तर्षि और शुरूके ही चार मनु, ये ग्यारह भगवानके मानसपुत्र है, मनके सकल्पसे ही उत्पन्न हुए लोग है। इसीलिये इन्हे भगवानके प्रतिनिधि मानके इनके द्वारा हुए सृष्टिविस्तारको भगवानका ही विस्तार, उसीकी विभूति मानते है। 'मद्भावा' शब्दका यही अर्थ है कि ये लोग मेरे ही स्वरूप है। अत मेरी जगहपर ही काम करते है। आखिर समूची सृष्टिका विस्तार खुद भगवान अकेले तो कर सकते नही। इसीलिये उनने अपने सहायक पैदा किये। पैदा करना भी क्या था? उनने मनमे खयाल किया और ये आ हाजिर हुए। मानसपुत्रका यही मतलब है।

असलमें प्रत्येक कल्प या सृष्टिमे चौदह मनु माने जाते है जिन्हे मन्वन्तर भी कहते है। हरेक मनुके शासनकाल और कामके समयको ही अन्तर या पहले और दूसरेके बीचका समय कहनेके कारण हरेकको मन्वन्तर कहा गया। यही है पौराणिक कल्पना। इसीके साथ यह भी बात है कि हरेक मनु या मन्वन्तरके लिये भिन्न-भिन्न सप्तर्षि लोग पुराणोमे गिनाये गये है। मगर गीताने न तो चौदह मनुओको ही माना है और न सब मिलाके पूरे ९८ महर्षियो या सप्तर्षियोको ही। गीताकी रचनाके समयतक इस कल्पनाका यह विस्तार हो पाया न था, ऐसा प्रतीत होता है। इसीलिये इसका नाम उसने न लिया। मालूम होता है तबतक केवल चार ही मनुओ और सात ही महर्षियोकी कल्पना हो पाई थी। इसीलिये उसने इन्ही दोको लिखा। यदि पीछे और भी हो तो गीताको उनसे मतलब भी क्या हो सकता है? सृष्टिके शुरूमे उसका विस्तार कैसे हुआ यही बात बतानी

है। क्योकि जोई सुने वही समझदार पूछ सकता है कि अकेले भगवानने भला यह सब कुछ कैसे बना डाला ? इसलिये बनी-बनाई सभी चीजो और सभी पदार्थोंके वर्णनके पहले ही कृष्णने ऐसा कह दिया जिससे किसीको शकाके लिये जगह रही नही जाती। ऐसी दशामें पीछे बने मनुओ या ऋषियोसे गीताको प्रयोजन ही क्या ? उनने सृष्टिके प्रारम्भिक विस्तारमें मदद तो दी न थी।

अब प्रश्न होता है कि ये कौनसे चार मनु और सात महर्षि थे ? क्योकि गीतामे तो उनका नाम है नही। इसलिये खामखा जिज्ञासा होती ही है। खासकर चौदह मनुओ और ६८ महर्षियोकी बात इधर चालू हो जानेके कारण यह उत्कठा और भी बढ जाती है कि आखिर ये सात ही ऋषि और चार ही मनु कौनसे है।

इसके उत्तरमे हमे गीताकालीन या उससे पूर्व प्रचलित साहित्यसे ही सहायता मिल सकती है और वह साहित्य है ऋग्वेद आदि वैदिक ग्रथो, निरुक्त और बृहदारण्यक आदि उपनिषदोका ही। शेष साहित्य तो पीछे-का ही माना जाता है। अब यदि देखे तो बृहदारण्यकमे गोतम या गौतम, भरद्वाज, विश्वामित्र, जमदग्नि, वसिष्ठ, कश्यप और अत्रि इन सातका उल्लेख यो मिलता है "इमावेव गोतमभरद्वाजावयमेव गोतमोऽय भरद्वाज इमावेव विश्वामित्र जमदग्नी अयमेव विश्वामित्रोऽय जमदग्निरिमावेव वसिष्ठकश्यपावयमेव वसिष्ठोऽय कश्यपो वागेवात्रि" (२।२।४)। इसीके पहले "तस्यासत ऋषय सप्ततीरे" यह मत्रका प्रतीक लिखके उसीका व्याख्यान इस ब्राह्मणमें किया गया है। क्योकि उपनिषद तो ब्राह्मण-ग्रथका ही एक भाग है। इससे स्पष्ट है कि उस मत्रमे भी इन्ही सात महर्षियोका उल्लेख है। इसी प्रकार यदि वेदोंके सूक्तो या उन मत्र-समूहोको, जिनमे एक-एक विषयका प्रतिपादन है, देखे तो पता चलता है कि उनके कर्त्ता या ऋषि प्राय यही सात महर्षि

पाये जाते है। क्योकि हरेक मत्रके ऋषियोको पहलेसे ही लोगोने लिख रखा है।

इसी तरह जब मनुओके सम्बन्धमे जाँच-पडताल करते है तो पता चलता है कि ऋग्वेदके आठवे मडलके ५१, ५२ तथा दसवेके ६२ सूक्तोमे कई बार वैवस्वत, सार्वाण एव सावर्ण्य नामक तीन मनुओका उल्लेख पाया जाता है। दृष्टान्तके लिये ५१, ५२ सूक्तोके पहले मत्रोको देखें। वे यो है "यथा मनौ सावरणौ सोममिन्द्रापिब सुतम्। नीपातिथौ मघवन्मेधातिथौ पुष्टिगो श्रुष्टिगौ तथा", "यथा मनौ विवस्वति सोम शक्रापिबः सुतम्। यथात्रितेच्छन् इन्द्र जुजोष स्यायौ मादयसे स च"। इसी तरह दसवे मडलके ६२वे सूक्तमे सार्वाण तथा सावर्ण्यका उल्लेख है। इसका सावरणि और उसका सार्वाण ये दोनो एक ही है। इसी तरह निरुक्तके 'मनु स्वायम्भुवोऽब्रवीत्" (३।१।५)मे स्वायम्भुव मनुका उल्लेख मिलता है। इस प्रकार वैवस्वत, सार्वाण, सावर्ण्य और स्वायम्भुव यही चार मनु गीतामे माने गये है। हमारे जानते यही प्रामाणिक और उचित बात भी है और गीताके इस श्लोकका यही अर्थ मुनासिब भी है।

मगर कुछ लोगोने, जो इस बातका बहुत बडा दावा करते है कि उनके अर्थमे खीचातानी नही है, इस श्लोकका निराला ही अर्थ किया है। उनके दिमागमे यह बात बैठ चुकी थी कि गीतामे भागवत या नारायणीय धर्मका ही प्रतिपादन है और वह भी ऐसा ही जैसा उसे वह समझते है। वह कहते है कि वह भागवतधर्म है तत्त्वज्ञानमूलक भक्ति प्रधान कर्मयोग। कर्मयोगका भी अर्थ वह यही करते है कि कर्मोका स्वरूपत त्याग कभी नही करके उन्हें करते-करते ही मर जाना। वह केवल फलासक्तिका त्याग ही मानते है। वह इस श्लोकके पूर्वार्द्धको तीन टुकडोमे बाँटते है। वे है महर्षय सप्त, पूर्वे चत्वार, तथा मनव। फिर इनके अर्थ

यो करते है कि सात महर्षि, उनके पहलेके चार और मनु । उनके कथनसे मरीचि, अत्रि, अगिरस्, पुलस्त्य, पुलह और क्रतु यही सात ऋषि है। इनका वर्णन महाभारतके शान्तिपर्वके ३३५ और ३४० अध्यायोमें आया है। अब रहे इन महर्षियोसे भी पहलेके चार। उन्हे भागवतधर्ममें चतुर्व्यूहके नामसे पुकारते है और वे है वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न तथा अनिरुद्ध। इनकी उत्पत्तिका क्रम इन सप्तर्षियोंसे भी पहले माना गया है। इनका उल्लेख भी उसी प्रसगमें ही महाभारतमें आया है। मनु शब्दसे भी उनने सात मनु लिये है, जिनमे छे तो गीतासे पहले गुजर चुके थे और सातवाँ उसी समय गुजर रहा था। उनके नाम क्रमश ये है— स्वायम्भुव, स्वारोचिष, औत्तम या औत्तमी, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत। उस समय वैवस्वत ही गुजर रहा था। बाकी मनु तो गुजरे न थे और न वर्त्तमान ही थे, फिर उनका उल्लेख गीता क्यो करती ? सक्षेपमें उनका यही कथन है, उनकी यही दलील है। उनने यह भी लिख मारा है कि आनेवाले ही मनुओमे सार्वाण है।

हमे कहना यही है कि केवल पौराणिक बातोके आधारपर गीताके श्लोकका अर्थ करना कभी उचित नही है, खासकर जब कि वे खुद मानते है कि गीताका समय बहुत पुराना और ब्राह्मणग्रथोके समकालीन या उनके बादका ही है। परन्तु पौराणिक काल तो बहुत इधरका है। गीताके "मासाना मार्गशीर्षोऽह" (१०।३५) श्लोकके, जो इसी अध्यायका है, अर्थमें ही उनने ये सारी बातें स्वीकार की है। हम तो कही चुके है कि ऋग्वेदमें ही सार्वाणका उल्लेख है और उसीको ये महाशय भावी मनु मानते है। वृहदारण्यकमे लिखे और वेदोमें भी माने गये सात महर्षियोको न मानके महाभारत या पुराणोके सातको माननेमे भी हमें आश्चर्य ही होता है। क्या सचमुच ज्यादा माननीय ये पुराण आदि ही है ? मगर वे भी तो ऐसा नही मानते। तब मनु और ऋषियोके ही बारेमें ऐसा

माननेमे कौनसा औचित्य है ? इस तरह कहाँ-कहाँसे खीचखाँचके पदार्थों-को लाना, उन्हीके बलपर श्लोकका अर्थ करना और फिर भी यह मानना कि यह खीचातानी नही है, कुछ अजीबसी चीज है !

' जरा और भी तो देखिये । अगर यही अर्थ करना है तो फिर केवल 'महर्षय' कहनेसे भी यही सात लिये जाते, जैसे मनव कहनेसे सात ही आपने माने है । और अगर 'मनव'के साथ 'सप्त' विशेषणकी जरूरत नही हुई तो महर्षय के साथ भी क्या जरूरत थी ? आखिर जिन पौराणिक वचनोके बलसे यह अर्थ किया गया है वे तो कही चले जाते नही । वे तो 'सप्त'के रहनेपर भी रहते और न रहनेपर भी । फिर व्यर्थ ही उसके लिखनेकी क्या आवश्यकता थी । यह भी बात है कि जब सावर्णि, सावर्ण्य नामक दो मनुओको भी हम पहले होनेवाले ही बता चुके है, इसीलिये ऋग्वेदमे उनका उल्लेख भी है, तो सातसे ज्यादा तो होई गये । फिर सात मनु कहनेकी हिम्मत उनने कैसे की ? केवल बहुवचनान्त 'मनव' पदसे तो ज्यादा भी ले सकते है । कमसे कम नौ तो लेना ही होगा । इसी तरह यदि 'महर्षय' कहनेसे उनके बताये सात लिये जायँ, तो बृहदारण्यक-वाले सात तो जरूर ही लिये जाने चाहिये । फिर 'महर्षय'का विशेषण यह 'सप्त' कैसे उचित होगा ? इसी प्रकार चत्वार का अर्थ यदि वासुदेव आदि चार ही हो, तो आगे जो यह कहा है कि वह मेरे मानस सकल्पसे ही पैदा हुए "मानसा जात", वह कैसे युक्ति-युक्त होगा ? वासुदेवके ही मानससकल्पसे स्वयमेव वासुदेव ही पैदा हो, यह कैसी बात ? और इसकी जरूरत भी क्या थी ? वासुदेव तो मौजूद थे ही । फलत सकल्पके द्वारा केवल तीनको ही पैदा करते तो ठीक होता और काम भी चलता । वासुदेव तो कृष्णको और भगवानको भी कहते ही है । गीताने भी "वासुदेव सर्वमिति" (७।१६)मे यही कहा भी है । फिर वासुदेवने ही अपनेको भी क्यो और किसलिये नाहक पैदा किया ? आखिर यह

जादू या करिश्मेकी बात न होके सृष्टिका दार्शनिक विवेचन है न ? फिर ये बेसिर-पैरकी बाते कैसी ?

**एतां विभूतिं योगं च मम यो वेत्ति तत्त्वतः ।**
**सोऽविकम्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः ।।७।।**

मेरी अभी कही जानेवाली इस विभूति और योगका जो ठीक साक्षात्कार कर लेता है उसे सुदृढ योग की प्राप्ति हो जाती है, इसमे संशय (जरा भी) नही है ।७।

यहाँ "एतां विभूतिं"का अर्थ है कि 'जिस विभूतिका वर्णन अभी होनेवाला है । 'तत्त्वतो वेत्ति'का अर्थ तत्त्वज्ञान या आत्मरूपेण साक्षात्कार ही है । इसीलिये उत्तरार्द्धके योगका अर्थ "सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा" (२।४८) वाला ही योग है । क्योंकि आत्मसाक्षात्कारके बाद वही योग प्राप्त होता और अचल रहता है । यहाँ इस कथनके दो अभिप्राय हैं । एक यह कि महर्षियो तथा मनुओके अलावे भी जोई इसे जान जाय वही वैसा ही हो जाता है । दूसरा यह कि इसे जाने बिना काम चलनेका नही । जो जानेगा वही पक्का योगी होगा । इसलिये इसे जानने-का यत्न पूरा-पूरा होना चाहिये । इस तरह अर्जुनके दिमागको इसके लिये तैयार किया गया है ।

जो लोग समझते है कि भगवान बडा दयालु है, अतएव उसकी प्रार्थना वगैरह करनेसे वह कृपा करता और निस्तार करता है, वह भूलते है । यहाँ कृपाका प्रश्न हई नही । भगवान तो समस्त शक्तियोका सर्वप्रधान स्रोत है । वहीसे सारी चीजे चलती है, फैलती है, विराट् या विश्वरूपके निरूपण और विभूतियोके विवेचनके भीतर यही आशय छिपा है । यह तो मालूम ही है कि जो सोतेमे जायँगे, डुबकी लगायेगे वह शीतल होंगे, स्नान करेंगे, पवित्र होगे । इसमें सोतेकी दया-मायाका कहाँ सवाल आता है ? पके फलोसे लदे पेडके पास जाने पर फल भी मिलेंगे और वृक्षकी

कृपाकी बात आयेगी भी नही। यही है वास्तविक दृष्टि। इसी दृष्टिसे हमे उधर जाना चाहिये, उधर बढना होगा। आगेवाले चार श्लोक इसीका स्पष्टीकरण करते हैं।

**अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।**
**इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः ॥८॥**
**मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।**
**कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च ॥९॥**

मैं ही सभी चीजोका मूल स्रोत हूँ और मुझीसे सभी चीजें बाहर जाती है, विवेकी लोग यही समझके पूर्ण श्रद्धा-भक्तिके साथ मुझे भजते है। अपने चित्त और इन्द्रियोको मुझीमे लगाके परस्पर एक दूसरेको समझाते-बुझाते और निरन्तर मेरी ही चर्चा करते हुए वे मुझमे ही रमते और सतुष्ट रहते है।८।९।

यहाँ प्राणका अर्थ इन्द्रियाँ ही है। उपनिषदोमे उन्हे भी प्राण कहा है। वायुरूपी प्राणोको कही भी रोकें। मगर आत्मा या परमात्मामे उन्हे कभी लगा नही सकते, यह मानी हुई बात है।

**तेषां सततयुक्ताना भजतां प्रीतिपूर्वकम्।**
**ददामि बुद्धियोग तं येन मामुपयान्ति ते ॥१०॥**
**तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानज तमः।**
**नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता ॥११॥**

निरन्तर मुझीमे लगे (और) मुझे ही प्रेमपूर्वक भजनेवाले उन लोगो-को वह आत्मसाक्षात्कार रूपी बुद्धियोग प्राप्त करवा देता हूँ जिससे वे मुझे प्राप्त हो जाते है। (यह यो होता है कि) उन्ही पर अनुकम्पा करके (तथा) उनकी आत्माके रूपमे ही विदित होके उस प्रचड ज्ञानदीपसे उनके अज्ञान-मूलक हृदयान्धकारको खत्म कर देता हूँ।१०।११।

बस, इतना कहना था कि अर्जुनका दिमाग साफ हो गया, उसमे

चसक आ गई, जैसा कि पहले ही बता चुके हैं और उसने सोचा कि कहीं यह स्वर्ण सुअवसर मेरी चुप्पीके ही करते हाथसे यों ही चला न जाय, इसीलिये फौरन ही अपनी सफाई देता हुआ और यह कहता हुआ कि आप ही यह बात अपने मुँहसे ही कहे तभी इस विषयके साथ पूर्ण न्याय हो पायेगा—

## अर्जुन उवाच

**पर ब्रह्म परं धाम पवित्र परमं भवान् ।**
**पुरुष शाश्वत दिव्यमादिदेवमज विभुम् ॥१२॥**
**आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा ।**
**असितो देवलो व्यास. स्वयं चैव ब्रवीषि मे ॥१३॥**

अर्जुन कहने लगा—आप ही परब्रह्म, ज्योतियोंकी ज्योति और पवित्रसे भी पवित्र हैं। आपको ही सभी ऋषि (तथा खासकर) देवर्षि नारद, असित, देवल (और) व्यास सनातन दिव्य पुरुष, आदि देव—देवताओंके भी देव—अजन्मा और सर्वव्यापी बताते हैं। आप स्वय भी तो मुझसे यही कह रहे हैं।१२।१३।

सामान्यत ऋषियोंको कहके फिर नारद, असित, देवल और व्यासका खासतौरसे नाम लेना यह सूचित करता है कि उन दिनों इनकी ही अधिक धाक थी और सभी लोग आमतौरसे इन्हींकी बातें मानते थे। ऋषिके मानी हैं ज्ञानी या द्रष्टा—सूक्ष्मदर्शी। ऋषियोंमें भी जो मनुष्य माँ-बापसे जन्म न लेकर ब्रह्मा वगैरहके मानसपुत्र थे वही देवर्षि कहे जाते थे। ऋषि लोग ही उस जमानेके नेता, उपदेशक, कानून बनानेवाले (Lawgiver) और रहनुमा थे।

**सर्वमेतदृत मन्ये यन्मां वदसि केशव ।**
**न हि ते भगवन्व्यक्ति विदुर्देवा न दानवाः ॥१४॥**

**स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।**
**भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते ॥१५॥**

हे केशव, आप जो कुछ मुझे बता रहे है मै उसे सही मानता हूँ। भगवन्, आपकी 'व्यक्ति—आपकी हस्ती—को ठीक-ठीक न तो देवता ही जानते है और न दानव लोग ही। हे पुरुषोत्तम, हे भूतभावन, हे भूतेश, हे देवदेव, हे जगत्पति, आप खुद अपने आप ही अपनेको जानते है।१४।१५।

यहाँ भूतभावनका अर्थ है पदार्थोको पालने तथा कायम रखनेवाला। भूतेशका अर्थ है पदार्थोका शासक और नियामक। जैसे बोलचालमे कहते है कि आपकी हस्ती, आपकी शख्सियतको कोई नही जानता, आपकी व्यक्तिको भला कौन जाने, आदि आदि, ठीक वैसा ही यहाँ भी है।

यहाँ यह कहना, कि मै आपकी सभी बाते सही मानता हूँ, इस बातकी सफाई है कि पहले जैसा सन्देह अब मेरे मनमे रह नही गया, आप विश्वास रखें, फलत आपका उपदेश जरा भी व्यर्थ न जायगा।

**वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।**
**याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि ॥१६॥**

(इसलिये) आप अपनी सभी दिव्य विभूतियोको जरूर ही कह सुनाइये—उन्ही विभूतियोको जिनके द्वारा सभी जगहोमे व्याप्त होके सर्वत्र मौजूद है।१६।

**कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।**
**केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन् मया ॥१७॥**

हे योगिन्, आपका किस प्रकार सदा चिन्तन करते हुए (आपको) जान सकूँगा? और, भगवन्, (खासतौरसे) किन-किन पदार्थोमें आपका चिन्तन किया जाना चाहिये? ।१७।

**विस्तरेणात्मनो योग विभूर्ति च जनार्दन !**
**भूय कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम् ॥१८॥**

हे जनार्दन, अपनी विभूति और योग—दोनो ही—को और भी विस्तारसे कहिये । क्योकि (आपके वचनरूपी) अमृत—मधुर वचनो—को सुनते हुए मुझे तृप्ति नही होती है ।१८।

अब श्रीकृष्णने समझ लिया कि जरा भी देर करना ठीक नही। क्योकि सब परिस्थिति बनी वनाई मौजूद है। इसलिये चटपट—

**श्रीभगवानुवाच**

**हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः ।**
**प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे ॥१९॥**

श्रीभगवानने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ, लो अभी-अभी अपनी प्रधान दिव्य विभूतियोको (सक्षेपमें) तुम्हे सुनाये देता हूँ। (क्योकि) मेरी (इन विभूतियोके) विस्तारका अन्त हई नही ।१९।

**अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः ।**
**अहमादिश्च मध्यं च भूतानामन्त एव च ॥२०॥**

हे गुडाकेश, सब पदार्थोके भीतर—हृदय, अन्त करण या मर्ममें—रहनेवाली आत्मा मै ही हूँ। पदार्थोंका आदि, मध्य और अन्त भी—उनका सबकुछ—मै ही हूँ ।२०।

**आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषा रविरंशुमान् ।**
**मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी ॥२१॥**

(वारह) सूर्योमें विष्णु नामक सूर्य मै हूँ, सभी प्रकाशवान् पदार्थोमें किरणवाला सूर्य, (उनचास) पवनोमे मरीचि नामक पवन और (रातमें जगमगानेवाले) तारोमें चन्द्रमा मै हूँ ।२१।

पहले श्लोकमे सामान्य वर्णनके बाद २१वेंसे चुनचुनके विशेष वर्णन शुरू हुआ है।

**वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।**
**इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना ॥२२॥**

वेदोमे सामवेद हूँ, देवताओमे इन्द्र हूँ, इन्द्रियोमे मन हूँ (और जीवधारियोमे) चेतनता हूँ ।२२।

**रुद्राणां शंकरश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।**
**वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम् ॥२३॥**

(ग्यारह) रुद्रोमे शकर हूँ, यक्ष-राक्षणोमे कुबेर (हूँ), (आठ) वसुओमे अग्नि हूँ (और) चोटीवालोमे सुमेरु (हूँ) ।२३।

**पुरोधसां च मुख्य मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।**
**सेनानीनामह स्कन्दः सरसामस्मि सागरः ॥२४॥**

हे पार्थ, पुरोहितोमे (सबके) मुखिया बृहस्पति मुझीको समझो। सेनापतियोमे कार्त्तिकेय और जलाशयोमे समुद्र मै हूँ ।२४।

**महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।**
**यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः ॥२५॥**

महर्षियोमे भृगु (और) वाणीमें एक अक्षर—ॐकार—मैं हूँ। यज्ञोमे जपयज्ञ और न हिलने-डोलनेवालोमे हिमालय हूँ ।२५।

**अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणां च नारदः।**
**गन्धर्वाणा चित्ररथः सिद्धाना कपिलो मुनिः ॥२६॥**

सभी वृक्षोमें पीपल, देवर्षियोमें नारद, गन्धर्वोमे चित्ररथ नामक गन्धर्व और सिद्धोमे कपिलमुनि (मैं हूँ) ।२६।

**उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि मासमृतोद्भवम्।**
**ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणां च नराधिपम् ॥२७॥**

घोडोमे (अमृतके साथ उत्पन्न) उच्चैःश्रवा नामक घोडा मुझे समझो, बडे हाथियोमे ऐरावत—इन्द्रका हाथी—और मनुष्योमें राजा (भी मुझे ही समझो) ।२७।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक् ।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः ॥२८॥

हथियारोमें वज्र (तथा) दुही जानेवालियोमे कामधेनु हूँ । सन्तानोत्पादक काम मै हूँ (और) सर्पों—रेंगनेवालो—मे वासुकि नामक सर्प मै हूँ ।२८।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम् ।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम् ॥२९॥

नागो यानी दिव्य—विलक्षण—सर्पोमे शेषनाग हूँ (और) जलजन्तुओमे वरुण । पितरोमे अर्यमा नामक पितर और (लोगोको सुधारनेके लिये) दंड करनेवालोमे यम हूँ ।२९।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम् ।
मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम् ॥३०॥

दैत्योमे प्रह्लाद और गिनने या हिसाब लगानेवालोमें काल—समय—मै हूँ । पशुओमे सिंह और पक्षियोमें गरुड हूँ ।३०।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम् ।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी ॥३१॥

पवित्र करने, सुखाने या चलनेवालोमें वायु और शस्त्रधारियोमें राम हूँ । जलजन्तुओमे मगर और सोतोमें भागीरथी गंगा मै हूँ ।३१।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यं चैवाहमर्जुन ।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम् ॥३२॥

हे अर्जुन, सृष्टियोका आदि, मध्य और अन्त मैं हूँ। (सभी) विद्याओमें अध्यात्म विद्या—आत्मज्ञानशास्त्र—(और) विवाद करनेवालोमे वाद मैं हूँ।३२।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च ।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुख. ॥३३॥

अक्षरोमे अकार और समासोमे द्वन्द्व मैं हूँ। मै ही अविनाशी काल हूँ (और) जगत्को कायम रखनेवाला सर्वव्यापी भी मै हूँ।३३।

मृत्यु. सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च भविष्यताम् ।
कीर्त्तिः श्रीर्वाक्च नारीणा स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा ॥३४॥

सबको मारनेवाली मौत और आगे होने—पैदा होने या प्रगति करने—वालोकी उत्पत्ति तथा प्रगति मैं हूँ। स्त्रियोमे कीर्त्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा (भी मै हूँ)।३४।

वृहत्साम तथा साम्नां गायत्री छन्दसामहम् ।
मासाना मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः ॥३५॥

(अनेक प्रकारके) सामोमे वृहत् नामक साम और छन्दोमे गायत्री हूँ। महीनोमे मार्गशीर्ष—अगहन—और ऋतुओमे वसन्त हूँ।३५।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम् ।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम् ॥३६॥

छलनेवालोमे जूआ (और) तेजस्वियोमे तेज हूँ। (विजयियोका) विजय, (उद्योगियोका) उद्योग (और) सात्त्विक पदार्थोका सत्त्वगुण मैं हूँ।३६।

वृष्णीना वासुदेवोऽस्मि पांडवानां धनजयः ।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशनाः कविः ॥३७॥

वृष्णियोमे कृष्ण (और) पाडवोमे अर्जुन हूँ। मुनियोमें व्यास और कवियोमे कवि शुक्राचार्य हूँ।३७।

**दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।**
**मौनं चैवास्मि गुह्याना ज्ञान ज्ञानवतामहम् ॥३८॥**

दूसरोको दवानेवालोमे दड हूँ (और) विजयेच्छुओमें नीति हूँ। गोपनीयोमे मौन (और) ज्ञानियोमे ज्ञान मै हूँ।३८।

**यच्चापि सर्वभूतानां वीज तदहमर्जुन।**
**न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूत चराचरम् ॥३९॥**

हे अर्जुन, सभी पदार्थोंका जो वीज है सो भी मै ही हूँ। (क्योंकि) स्थावर और जगम पदार्थोमे ऐसा एक भी नही है जो मेरे विना टिक सके।३९।

**नान्तोऽस्ति मम दिव्याना विभूतीना परन्तप।**
**एष तूद्देशत. प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया ॥४०॥**

हे परन्तप, मेरी दिव्य विभूतियोका आरपार नही है। यह तो मैंने विभूतियोका विस्तार (केवल) सक्षेपमें (नमूनेके तौरपर ही) कहा है।४०।

**यद्यद्विभूतिमत्सत्त्व श्रीमदूर्जितमेव वा।**
**तत्तदेवावगच्छ त्व मम तेजोऽशसम्भवम् ॥४१॥**

(सवका निचोड यही है कि) जो-जो पदार्थ चमत्कार वाले, गुण-वाले या शक्तिशाली हो उन-उनको मेरे ही तेजके अशसे ही बने मानो।४१।

**अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।**
**विष्टभ्याहमिद कृत्स्नमेकाशेन स्थितो जगत् ॥४२॥**

अथवा, हे अर्जुन, इस तरह वहुत वाते जाननेसे तुम्हारा क्या होगा? (तुम यही समझ लो कि) इस समूचे जगत्को मै अपने एक कोनेमें रखे हुए पडा हूँ।४२।

है । अग्नि, वायु, जल या मिट्टीमे ही शुद्धि होती है और ये सभी क्रियाशील हैं । इसीलिये शोधकों या क्रियाशीलोमे वायुकी प्रधानता मानी गई है । इसी तरह रामका अर्थ दशरथपुत्र ही है, न कि परशुराम । यह ठीक है कि प्रसिद्ध शस्त्रधारी परशुराम ही माने जाते हैं । मगर उन्हे भीष्मने पछाडा था । दशरथपुत्र रामसे भी वह हारे थे । शस्त्रधारण क्षत्रियोका ही काम है भी । इसीलिये दशरथपुत्र रामको ही यहाँ लेना ठीक है । उस समय यह काम ब्राह्मणोके लिये उचित नही माना जाता था, यह भी इससे सिद्ध हो जाता है ।

वेदोमे सामवेदकी प्रधानताकी बात २२वेमें और ३५वेंमे वृहत्सामकी बात है । यह ठीक है कि ऋग्वेद सबसे प्राचीन है । मगर साम तो गान है । मालूम होता है यह ज्ञान उस समय ज्यादा प्रचलित था । इसीलिये सामगानके यज्ञायज्ञी, वृहत्, रथन्तर आदि अनेक प्रकारोका भी उल्लेख इशारेसे करके उन सबोमे वृहत्सामको ही श्रेष्ठ माना है । सामकी ही प्रसिद्धि उस समय थी, यही इससे सिद्ध होता है ।

हाँ यहाँ जो "तेजस्तेजस्विनामहम्" (१०।३६) कहा है वही सातवें अध्याय (७।१०)मे भी ज्योका त्यो आया है । वहाँ का प्रसग देखनेसे पता चलता है कि वह लडने-भिडनेवाला तेज नही है । क्योकि लडनेमें काम तथा राग होते ही हे और वहाँ इसीकी रोक है । फलत ब्रह्मतेज या ब्रह्मवर्चस आदिसे ही वहाँ मतलब है । क्षत्रियादिमें भी यह तेज होता ही है । हाँ, यहाँ लडने-भिडनेवाले ही तेजसे तात्पर्य है, पूर्वापरसे यही पता लगता है ।

३४वेंमे जो कीर्त्ति आदिको स्त्री कहा है उससे पता चलता है कि कभी ये आदर्श स्त्रियाँ ही थी जिन्हे आज निर्गुणके रूपमें ही माना जाता है । पुराणोमे ये दक्ष प्रजापतिकी पुत्रियाँ मानी गई है । चाहे जो हो, पहले ये आदर्श स्त्रियाँ अवश्य थी । इससे यह भी इशारा है कि साधारण

स्त्री-समाज उस समय ऊँचा न था। यही कारण है कि "स्त्रियो वैश्या" (९।३२)मे आमतौरसे स्त्रियोको नीच कहा है।

३३वेमे द्वन्द्वसमासको ही औरोसे अच्छा कह दिया है। इसमे जितने पद मिले होते है सभीके अर्थ प्रधान होते है। अन्य समासोकी तरह कोई किसीका विशेषण या अप्रधान नही होता है। शायद इसीसे उसे पसन्द किया हो। या इसका नया-नया अन्वेषण होनेसे उस समय यही ज्यादा प्रसिद्ध रहा हो, कौन कहे? यह ठीक है कि द्वन्द्व तो दुनियाका नियम है और इसे सहर्ष स्वीकार करनेवाले ही प्रगति करते है। सभवत यहाँ यही आशय हो भी।

३०वेमे गिननेवालोमे काल या समयको बडा माना है। वैसी गिनती और हिसाब सचमुच कोई नही कर पाता। आप सोये रहे या जगे। उसका हिसाब ठीक चलता रहता है। वह हिसाब पूरा होते ही पदार्थोका पकना, तैयार होना, सूखना, खत्म होना वगैरह होता रहता है। यह काम क्षणभर भी नही रुकता। मगर ३३वेमे जो अक्षय कालकी बात कही गई है वह पहलेकी तरह किसीकी अपेक्षावाला काल नही है। यहाँ तो स्वतत्र रूपसे कालको भगवानका रूप ही माना है।

३६वेमे जो व्यवसाय और सत्त्वकी बात है उनमे व्यवसायका अर्थ है दृढ निश्चय तथा तन्मूलक उद्योग। इसी प्रकार सत्त्वका अर्थ सत्त्व गुण भी है और तन्मूलक बल भी। यह बल लडनेवालोका ही है, न कि सातवेकी तरह काम-राग-शून्य।

यहाँ उपसहारमे "यच्चापि सर्व" (१०।३९)मे जो कुछ कहा है सातवेमे "बीज मा" (७।१०)मे भी वही है। ठीक ही है। उपसहार तो सर्वत्र एक ही होगा न?

"मासाना मार्गशीर्ष" (१०।३५)मे जो मार्गशीर्षको और महीनोसे श्रेष्ठ कहा है उसकी बडी महत्ता है। इससे अन्वेषण करनेवालोने यह

अर्थ निकाला है कि उस समय या उसके पूर्व सालका आरंभ मार्गशीर्षसे ही होता था। जैसे आज वर्षके आरंभके बारेमें चैत्रकी स्मृति बनी है और रंग, होली आदिके द्वारा उसे याद करते हैं। बंगाली लोग वैशाखकी ही स्मृति महीने भर गा-बजाके जगाते हैं। मेषकी संक्रांतिकी स्मृति तो सभी हिन्दू मानते हैं। वही बंगलाका वैशाख है। असलमें यह विषय गहन है। हरेक महीनोंके नाम नक्षत्रोंके नामोंसे ही बने हैं। पाणिनीय व्याकरणका "साम्मिन्पौर्णमासीति" (४।२।२१) सूत्र भी यही कहता है। इसके सिवाय सालके ही नाम समा, वर्ष, शरद आदि भी हैं। जब दिन रात सम या बराबर होते होंगे तभी किसी समय वर्षका आरंभ होता होगा। इसी प्रकार वर्षाके श्रीगणेशके समय या शरद ऋतुमें भी कभी शुरू होता होगा। मगर यह स्वतंत्र विषय भविष्यके लिये रहे।

४१वें श्लोकमें 'विभूतिमत्' शब्द आनेसे विभूतिके मानी केवल पदार्थ न होके चमत्कार-युक्त पदार्थ हैं। इसीलिये विभूतिमें भी योग आ जाता है। मगर वास्तविक योग आगे है। आगे ग्यारहवें अध्यायके ४७वें श्लोकमें विराट् रूप दिखाके कहेंगे भी कि मैंने अपने योगसे, "आत्मयोगात्", इसे दिखाया है।

**इति० विभूतियोगो नाम दशमोऽध्यायः ॥१०॥**

श्रीम० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका संवाद है उसका विभूति-
योग नामक दसवाँ अध्याय यही है।

# ग्यारहवाँ अध्याय

अर्जुनने दसवे अध्यायमें जो विराट् रूपका विस्तृत विवरण सुना उससे उन्हे ऐसी आतुरता हुई कि उसे जल्दसे जल्द आँखोसे देखनेको लालायित हो उठे। चुनचुनके प्राय सभी पदार्थोको भगवानका रूप बताना तो केवल कहनेकी एक रीति है। चमत्कार-युक्त पदार्थों पर ही तो पहले दृष्टि जाती है और एक बार जब उन्हे परमात्माका रूप मान लिया, जब एक बार उनमे वह भावना हो गई, तब तो आसानीसे सभीमे वही भावना हो सकती है। कहनेका कौशल यही है कि इस बुद्धिमत्तासे बाते बताये कि कुछी बाते कहनेसे काम चल जाय और सुननेवाला बाकियोको खुद-बखुद समझ जाये। कहते है कि किसीने दूसरेसे पूछा कि तुम्हारा क्या नाम है? उत्तर मिला कि तिनकौडी। फिर प्रश्न हुआ कि बापका? जवाब मिला छकौडी। इसके बाद तो पूछनेवालेने स्वयमेव कह दिया कि बस, ज्यादा कहनेका काम नही। अब तो मै खुद तुम्हारे सभी पुरुषो तकके नाम जान गया। क्योकि इसी प्रकार दूना करता चला जाऊँगा। ठीक वही बात यहाँ भी हुई है। जब सिहको भगवान मान लिया, तो शेष पशुओको भगवानसे अलग माननेके लिये कोई दार्शनिक युक्ति रही नही जाती। सभी तो एकसे हाड-मासवाले है। यही बात अन्य पदार्थोमे भी लागू है। इस प्रकार चुनेचुनाये पदार्थोके नाम लेनेसे ही 'सबोका काम हो गया। यह भी बात है कि आखिर जब आँखोसे प्रत्यक्ष देखनेका मौका आये तो सबोको जुदाजुदा देखना असभव भी है। थोडेसे चुने पदार्थोको ही देखते-देखते तो परीशानी हो जायगी। लाखो तरहके पदार्थ जो ठहरे। इसलिये नमूनेके रूपमें जिन्हे दसवेमे गिनाया है, ग्यारहवेमे

उन्हीको देखनेमें आसानी होगी, मजा भी आयेगा और वात दिलमें बैठ भी जायगी कि ठीक ही तो कहते है। जैसा कहा वैसा ही देखते भी तो है। जरा भी तो फर्क है नही। नही तो सबोका देखना असभव होनेसे नाहककी परीशानी (Confusion) हो जाती और काम भी वैसा नही वनता।

इसीलिये आगे अर्जुनने स्वयमेव कह दिया है कि भगवन्, आप जो कहते है वह अक्षरश सही है। इसमें शकशुभेकी गुजाइश है नही। हाँ, कमी यही रह गई है कि जरा इन्हे आँखो देख नही लिया है। तो क्या देख सकता हूँ ? यदि हाँ, तो बडी कृपा हो, अगर आप दिखा दे। इस कथनसे और चटपट प्रश्न कर देनेसे भी उनकी आतुरताका पता चल जाता है। जो देखा नही, सुना है, उसको देख लेना ही काफी है, यही उनका आशय है। इससे अव तकके मननकी पुष्टि होके निदिध्यासनमें प्रत्यक्ष सहायता भी हो जायगी। फिर तो स्वतत्र रूपसे युद्धके वाद अर्जुन यही काम कर सकेंगे। ग्यारहवे अध्यायके पढनेसे पता चलता है कि कोई विशेषज्ञ अपनी प्रयोगशाला (Laboratory) में बैठके उन्ही वताई बातोका प्रयोग (experiment) शिष्योके सामने कर रहा है। ताकि उन्हे वे बखूबी हृदयगम कर ले, जिन्हे अबतक समझाता रहा है। अर्जुनको शक था कि भला ये चीजे देख सकेंगे कैसे ? इसीलिये उसने कहा भी। जनसाधारण भी तो यही मानते है कि भला कही दो हवाओ—औक्सीजन तथा हाईड्रोजन—के समिश्रणसे ही पानी बन सकता है। मगर प्रयोगशालेमे जब उनकी आँखोंके सामने विलक्षण आला और यत्र लगाके प्रत्यक्ष दिखाया जाता है तब मान जाते और आश्चर्यमें डूब जाते है। अर्जुनकी भी वही दशा हुई। आश्चर्यचकित होनेके साथ ही वह घबराया भी। क्योकि यहाँ भयकर और वीभत्स दृश्य भी सामने आ गये जो दिल दहलानेवाले थे। "दिव्य ददामि ते चक्षु", "न तु मा शक्यसे" (११।८)के द्वारा

कृष्णने दिखानेके पहले अर्जुनको दिव्य दृष्टि क्या दी, मानो कोई विलक्षण आला या यत्र आँखो पर लगा दिया।

हाँ, तो देखनेकी ही आतुरतासे चटपट—

## अर्जुन उवाच

**मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसज्ञितम्।**
**यत्त्वयोक्त वचस्तेन मोहोऽय विगतो मम ॥१॥**
**भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।**
**त्वत्त. कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम् ॥२॥**

अर्जुन बोल उठा—मेरे ऊपर दया करके आपने अध्यात्म नामक जो परम गोपनीय बात कही है उससे मेरा यह मोह तो खत्म हो गया। हे कमलनयन, मैंने आपके मुखसे पदार्थोंके उत्पत्ति-प्रलय विस्तारके साथ सुने और आपका विकारशून्य माहात्म्य भी (सुन लिया)।१।२।

**एवमेतद्यथात्थ त्वमात्मान परमेश्वर।**
**द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम ॥३॥**
**मन्यसे यदि तच्छक्य मया द्रष्टुमिति प्रभो।**
**योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम् ॥४॥**

हे परमेश्वर, हे पुरुषोत्तम, जैसा आप कहते है वह तो ठीक ही है। (अब केवल) मै आपका वह ईश्वरीय रूप देख लेना चाहता हूँ। प्रभो, यदि आप ऐसा मानते हो कि मै उसे देख सकता हूँ तो, हे योगेश्वर, अपना अविनाशी रूप मुझे दिखाइये।३।४।

यहाँ प्रसगसे एक बात कह देनी है। अब तो अर्जुनने मान लिया कि कृष्णका जो कुछ भी अपने बारेमें कहना है वह अक्षरश· सही है, उसमे जरा भी शक नही है। और कृष्णने अपने अवतारकी बातके साथ ही यह भी तो कही दिया है मुझे मनुष्य शरीरधारी समझ जो लोग मेरा

तिरस्कार करते है वह विगडे दिमागवाले वदबख्त लोग ही है। इतना ही नही। "यद्यदाचरति श्रेष्ठ" (३२१-२६) आदि श्लोकोमें उनने इस वात पर वहुत जोर दिया है कि मै स्वयमेव सभी कर्म इसीलिये करता हूँ कि मेरी देखादेखी जनसाधारण भी ऐसा ही करें। नही तो यदि मै उलटा करूँ तो वह भी वैसा ही करेंगे। क्योकि उनके पास समझ तो होती नही कि तर्क-दलील करके अपने फायदेकी वातें करें। वे तो आँख मूँदके यही सोचते है कि जब खुद कृष्ण ही ऐसा करते है तो हम क्यो न करे ? यह जरूर ही अच्छा काम होगा। नतीजा यह होगा कि मेरे चलते सारी दुनिया चौपट हो जायगी।

इससे गोपियोंके साथ रासलीलावाली वात विल्कुल ही वेवुनियाद और निराधार सिद्ध हो जाती है। भला, जो महापुरुष औरोंके वारेमें और अपने वारेमे भी इतनी सख्तीसे वातें करे कि लोगोको जरा भी विपथ-गामी होनेका मौका हमे अपने आचरणोके द्वारा नही देना चाहिये, वही ऐसा जघन्य और कुत्सित कार्य कभी करेगा, यह दिमागमे भी आनेकी बात है क्या ? जो लोग ऐसी वाहियात बातोंके समर्थनमें लचर दलीलें पेश किया करते है उन्हें गीताके इन वचनोको जरा गौरसे पढना और इनके अर्थको समझना चाहिये। तव कही बोलनेकी हिम्मत करनी चाहिये। हमने जो इन श्लोकोके स्पष्टीकरणमे बहुत कुछ लिखा है उससे उनकी भी आँखे खुल जायँगी, यह आशा कर सकते है। गोपियाँ वेदकी ऋचायें थी, अनन्य भक्त थी आदि आदि जो कल्पनायें की जाती है और इस तरह बालकी खाल खीची जाती है उससे पहले यह क्यो नही सोचा जाता है कि इतनी गहरी और बारीक वातें क्या जनसाधारण समझ सकते है ? और अगर यही वात होती तो फिर यह कहनेकी क्या जरूरत थी कि वे तो हमारी देखादेखी ही करेगे और चौपट हो जायँगे ? तब तो कृष्ण चाहे जो भी करते। फिर भी लोग कभी पथभ्रष्ट होते ही नही।

बस अर्जुनका यह कहना था और कृष्णने अपना नाटक फौरन ही फैला ही तो दिया। वे तो पहलेसे ही इसके लिये तैयार बैठे थे कि आखिरी काम यही करना होगा। उनके जैसा विज्ञ सूक्ष्मदर्शी भला ऐसा समझे क्यो नही ? इसीलिये—

श्रीभगवानुवाच

**पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।**
**नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च ॥५॥**

श्रीभगवान कहने लगे—हे पार्थ, मेरे सैकडो (और) हजारो तरहके बहुरगी, अनेक आकारवाले दिव्य रूपोको देख लो।५।

अर्जुन पीछे कही घबरा न जाये, इसीलिये उसे पहले ही सजग कर देते है कि अजीब चीजे देखनेको मिलेगी, जो कभी दिमागमे भी नही आई होगी।

**पश्यादित्यान्वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।**
**बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत ॥६॥**
**इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।**
**मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि ॥७॥**
**न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।**
**दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम् ॥८॥**

हे भारत, (द्वादश) आदित्यो, (आठ) वसुओ, (एकादश) रुद्रो, दोनो अश्विनीकुमारो, (तथा उनचास) मरुतोको देख लो (और) पहले कभी न देखे बहुतेरे आश्चर्यजनक पदार्थ भी देख लो। हे गुडाकेश, आज यही पर मेरे शरीरमें ही चराचर जगतको एक ही जगह देख लो और जो कुछ और भी देखना चाहते हो (सो भी देख लो)। लेकिन अपनी इन्ही, आँखोसे तो मुझे (उस तरह) देख सकते नही। (अत) तुम्हे दिव्य

दृष्टि दिये देता हूँ। (फिर बेखटके) मेरा ईश्वरी योग या करिश्मा देख लो।६।७।८।

यहाँ सातवे श्लोकमे जो यह कहा है कि और भी जो कुछ देखना चाहते हो देख लो, "यच्चान्यद्द्रष्टुमिच्छसि", उसका मतलब यही मालूम पडता है कि अर्जुनने जो शुरूमे ही कहा था कि यह भी तो निश्चय नही कि हमी जीतेगे या वही लोग, उसको कृष्ण भूले नही है और इशारेसे ही कह देते है कि यह भी अपनी आँखो देख लो कि कौन जीतेगा। सचमुच आगे जो यह दिखाई पडा कि भीष्मादि सभी भगवानके मुँहमे घुसे जा रहे है वह तो नई बात ही थी न? उसकी तो अब तक चर्चा भी नही हुई थी। वह बात अर्जुनके मनमे थी जरूर। इसीलिये तो उसने शक जाहिर किया था। ताहम उसकी खुली चर्चा हुई न थी। फिर भी देखनेको वह भी मिली। पूछनेपर कृष्णने आगे कहा भी कि सबोका सहार करने चला हूँ।

सजय उवाच

एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरि।
दर्शयामास पार्थाय परम रूपमैश्वरम्॥९॥

सजयने (धृतराष्ट्रसे) कहा—हे राजन्, महायोगेश्वर कृष्णने ऐसा कहके चटपट अर्जुनको (अपना इस तरहका) विलक्षण ईश्वरीय रूप दिखा ही तो दिया।९।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम्।
अनेकदिव्याभरण दिव्यानेकोद्यतायुधम्॥१०॥
दिव्यमाल्याम्बरधर दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमय देवमनन्त विश्वतोमुखम्॥११॥

उस रूपमें बहुत ज्यादा मुँह और आँखे है, बहुतेरी निराली दर्शनीय बातें है, बहुतसे दिव्य अलकार है, अनेक प्रकारके दिव्य (एव) सजे

सजाये हथियार है, दिव्य मालाये (तथा) वस्त्र सजे है, दिव्य सुगन्धित पदार्थोका लेप लगा है। वह सब तरहसे आश्चर्यमय, दिव्य, अनन्त और विश्व-व्यापक है।१०।११।

**दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद्युगपदुत्थिता।**
**यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः ॥१२॥**

अगर एक ही साथ आकाशमे हजार सूर्य निकल पडे तो उनका जो प्रकाश हो वही (शायद) उस महात्माकी प्रभाके जैसा हो सकता है।१२।

**तत्रैकस्थ जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।**
**अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाडवस्तदा ॥१३॥**

वहाँ उस समय देवताओके भी देवता कृष्णके शरीरमे अर्जुनको एक ही जगह समूचा ससार अनेक रूपमे विभक्त दिखाई पडा।१३।

**ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनंजयः।**
**प्रणम्य शिरसा देव कृतांजलिरभाषत ॥१४॥**

अब तो धनजय—अर्जुन—के रोगटे खडे हो गये (और) वह आश्चर्यमे डूब गया। (फिर) सर झुका भगवानको प्रणाम करके हाथ जोडे हुए कहने लगा।१४।

## अर्जुन उवाच

**पश्यामि देवास्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसंघान्।**
**ब्रह्माणमीश कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान् ॥१५॥**

अर्जुन कहने लगा—हे देव, आपके देहके भीतर सभी देवताओको, विभिन्न पदार्थोके सघोको, कमलके आसनपर बैठे सबोके शासक ब्रह्माको, सभी ऋषियोको और अलौकिक सर्पोको देख रहा हूँ।१५।

**अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्र पश्यामि त्वा सर्वतोऽनतरूपम्।**
**नान्त न मध्य न पुनस्तवादि पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप ॥१६॥**

आपके अनेक वाहु, पेट, मुंह (एव) आँखोसे युक्त अनन्तरूपको ही चारो ओर देख रहा हूँ। हे विश्वेश्वर, हे विश्वरूप, न तो आपका अन्त, न आदि और न मध्य ही देख पाता हूँ।१६।

**किरीटिन गदिन चक्रिण च तेजोराशि सर्वतो दीप्तिमन्तम्।**
**पश्यामि त्वा दुर्निरीक्ष्य समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्॥१७॥**

मुकुट, गदा और चक्र धारण किये, तेजकी राशि, चारो ओर प्रकाश फैलाये, जिसपर नजर टिक न सके ऐसा, सव तरफ दहकते सूर्य एव अग्निके समान देदीप्यमान और अपरम्पार आपहीको देखता हूँ।१७।

**त्वमक्षर परम वेदितव्य त्वमस्य विश्वस्य पर निधानम्।**
**त्वमव्यय. शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्व पुरुषो मतो मे॥१८॥**

तुम्ही जानने योग्य परम अक्षर अर्थात् ब्रह्म (हो), तुम्ही इस विश्वके आखिरी आधार (हो), तुम्ही विकारशून्य हो, सनातनधर्मके रक्षक हो (और) मेरे जानते तुम्ही सनातन पुरुष हो।१८।

**अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहु शशिसूर्यनेत्रम्।**
**पश्यामि त्वा दीप्तहुताशवक्त्र स्वतेजसा विश्वमिद तपन्तम्॥१९॥**

आदि, मध्य, अन्त—तीनो—से रहित, अनन्त शक्तिशाली, अनन्त वाहुवाले, चन्द्र-सूर्य जिसके नेत्र हो, दहकती आग जैसे जिसके मुख हो और जो अपने तेजसे इस विश्वको तपा रहा हो, मै आपको ऐसा ही देख रहा हूँ।१९।

**द्यावापृथिव्योरिदमन्तर हि व्याप्त त्वयैकेन दिशश्च सर्वा।**
**दृष्ट्वाद्भुत रूपमुग्र तवेद लोकत्रय प्रव्यथित महात्मन्॥२०॥**

आकाश और जमीनके वीचकी इस जगहको और सभी दिशाओंको भी अकेले आप हीने घेर रखा है। इसीलिये, हे महात्मन्, आपके इस उग्र रूपको देखके सारी दुनिया काँप रही है।२०।

**अमी हि त्वा सुरसघा विशन्ति केचिद्भीताः प्राजलयो गृणन्ति ।**
**स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसघाः स्तुवन्ति त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः ॥२१॥**

देखिये न, (कुछ) देवताओके झुड आपके भीतर घुसे जा रहे है (और) कुछ मारे डरके हाथ जोडे प्रार्थना कर रहे है। महर्षियो एव सिद्धोके दल (भी) 'स्वस्ति हो'की पुकारके साथ बहुत ज्यादा स्तुतियोके द्वारा आपका गुणगान कर रहे है ।२१।

**रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च ।**
**गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसघा वीक्षन्ते त्वा विस्मिताश्चैव सर्वे ॥२२॥**

जो भी रुद्र, आदित्य, वसु, साध्य, विश्वदेव, दोनो अश्विनीकुमार, मरुत, पितर तथा गन्धर्वो, यक्षो, एव असुरोके गिरोहके गिरोह है सभी विस्मित होके आप हीको देख रहे है ।२२।

**रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम् ।**
**बहूदर बहुदष्ट्राकराल दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम् ॥२३॥**

हे महाबाहु, बहुत मुँहो तथा नेत्रोवाला, अनेक बाहुओ, जघो एव पाँवोसे युक्त, बहुतेरे पेटवाला और बहुतसी डाढोके करते भयकर यह तुम्हारा विशाल रूप देखके लोग घबराये हुए है और मै भी व्यथित हूँ ।२३।

**नभःस्पृश दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम् ।**
**दृष्ट्वा हि त्वा प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विंदामि शमं च विष्णो ॥२४॥**

हे विष्णो, आकाश चूमते हुए, चकमक, रगबिरगे, मुँह फैलाये तथा जलते हुए लम्बे नेत्रोसे युक्त आपको देखके मेरी आत्मा दहल उठी है और मुझमे न तो धैर्य है और न चैन ।२४।

**दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसनिभानि ।**
**दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥२५॥**

डाढोके करते विकराल (तथा) प्रलयकालकी अग्निके समान (दह-

कते) हुए आपके मुंहोको देखके ही मुझे न तो दिशाये सूझती है और न चैन, ही मिल रहा है। (इसलिये) हे देवेश, हे जगदाधार, प्रसन्न हो जाइये—कृपा कीजिये।२५।

**अमी च त्वा धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसघै.।**
**भीष्मो द्रोण. सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यै ॥२६॥**
**वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दष्ट्राकरालानि भयानकानि।**
**केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सदृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमागै ॥२७॥**

राजाओके गिरोहके साथ ही ये सभी धृतराष्ट्रके बेटे आपके भीतर—पेटमें— तेजीसे घुसे जा रहे है। भीष्म, द्रोण और यह कर्ण भी हमारे दलके प्रमुख योद्धाओके साथ, डाढोसे विकराल दीखनेवाले आपके भयकर मुंहोमे, तेजीसे दौडे जा रहे है। किसी-किसीकी तो यह हालत है कि दाँतोके बीचमे ही सट गये है और उनके सर चूर्ण-विचूर्ण नजर आ रहे है।२६।२७।

**यथा नदीना बहवोऽम्बुवेगा. समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।**
**तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभिविज्वलन्ति ॥२८॥**

जिस तरह नदियोकी बहुतसी तेज धाराये समुद्रकी ही ओर दौडी चली जाती है, उसी तरह आपके धक्धक् जलते मुखोमें नरलोकके ये वीर बाँकुडे घुसे जा रह है।२८।

**यथा प्रदीप्त ज्वलन पतगा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगा।**
**तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगा ॥२९॥**

जिस प्रकार खूब तेज आगमे फतिगे बडी तेजीसे घुस मरते है, वैसे ही आपके मुखोमें ये लोग भी बडी तेजीसे घुस रहे है।२९।

**लेलिह्यसे ग्रसमान. समताल्लोकान्समग्रान्वदनैर्ज्वलद्भिः।**
**तेजोभिरापूर्य जगत्समग्र भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो ॥३०॥**

(और) आप अपने जलते मुँहोमे चारो ओरसे सभी लोगोको निगलके जीभ चाट रहे है । हे विष्णो, आपकी उग्र प्रभाएँ अपने तेजसे समस्त जगत्को घेरके खूब तप रही है ।३०।

**आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद ।**
**विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम् ॥३१॥**

हे देवताओमे श्रेष्ठ, मै आपको प्रणाम करता हूँ, आप प्रसन्न हो।(और भला) वताये तो (सही कि) यह उग्र रूपवाले आप है कौन ? मै आदि (पुरुष) आपको जानना चाहता हूँ । क्योकि आपको क्या करना मजूर है यह मै जान नही पाता हूँ ।३१।

## श्रीभगवानुवाच

**कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्त्तुमिह प्रवृत्तः ।**
**ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः ॥३२॥**

श्रीभगवान कहने लगे—मै लोगोका सहार करनेवाला मोटा-ताजा काल हूँ (और) यहाँ लोगोका सहार करनेमे लगा हूँ । (इसीलिये) तुम्हारे बिना भी—तुम कुछ न करो तो भी—परस्पर विरोधी फौजोमें जितने योद्धा मौजूद है (सभी) खत्म होगे ही ।३२।

**तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुंक्ष्व राज्यं समृद्धम् ।**
**मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन् ॥३३॥**

इसलिये, हे सव्यसाची (अर्जुन), तुम तैयार हो जाओ, यश लूट लो (और) शत्रुको जीतके समृद्धियुक्त राज्य (का सुख) भोगो । मैंने तो इन्हे पहले ही मार डाला है । (अतएव) केवल एक वहाना वन जाओ ।३३।

**द्रोणं च भीष्मं च जयद्रथं च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान् ।**
**मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान् ॥३४॥**

मेरे हाथो (पहले ही) मरेमराये द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा

अन्यान्य वीरबाँकुडोको तुम मार डालो, घबराओ मत (और) लडो। युद्धमे शत्रुओको (जरूर) जीतोगे।३४।

## सजय उवाच

**एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताजलिर्वेपमानः किरीटी।**
**नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गद भीतभीत. प्रणम्य ॥३५॥**

(तब) सजय (धृतराष्ट्रसे) बोला—किरीटी (अर्जुन) कृष्णकी यह बात सुनके हाथ जोडे काँपता हुआ कृष्णको नमस्कार करके अत्यन्त भयके साथ रुँधे गलेसे पुनरपि कहने लगा।३५।

## अर्जुन उवाच

**स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।**
**रक्षासि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसघाः ॥३६॥**

अर्जुन बोला—हे हृषीकेश, (यदि) आपके गुणगानसे ससार हर्ष-प्रफुल्लित होता और अनुरागी बनता है (तो) ठीक ही है (और अगर) राक्षस लोग (आपके) डरसे इधर-उधर भागते फिरते हैं तथा सिद्ध लोगोंके सभी सघ (आपका) अभिवादन करते हैं (तो यह भी उचित ही है)।३६।

**कस्माच्च ते न नमेरन् महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।**
**अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्पर यत् ॥३७॥**

हे महात्मन्, गुरुओके भी गुरु (और) ब्रह्माके (भी) आदि कारण तुम्हे वे प्रणाम क्यो न करे ? हे अनन्त, हे देवेश, हे जगन्निवास, स्थूल (एव) सूक्ष्म (तथा) उससे भी परे जो अक्षर ब्रह्म है वह तुम्ही हो।३७।

**त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।**
**वेत्तासि वेद्य च परं च धाम त्वया तत विश्वमनन्तरूप ॥३८॥**

तुम आदि देव (और) सनातन पुरुष (हो), तुम्हीं इस विश्वके

परम आधार (हो), तुम्हीं ज्ञाता, ज्ञेय और परम ज्योतिस्वरूप (हो)। हे अनन्तरूप, तुमने विश्वको व्याप लिया है।३८।

**वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशांकः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।**
**नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥३९॥**

वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति—ब्रह्मा, कश्यप, दक्ष आदि—और उनके भी दादा हो। आपको हजार बार नमस्कार है और पुनरपि आप हीको बार-बार नमस्कार है।३९।

यहाँ प्रजापतिका अर्थ ब्रह्मा, दक्ष, मरीचि, कश्यप आदि सभी हैं। एक वचन कहनेमे कोई हर्ज नही है। तभी तो सभी लिये जायँगे, न कि खास तरहसे एकाध ही। यह कहना कि ये ब्रह्माके बेटे है गलत बात है। मनु, सप्तर्षि आदिकी ही तरह ये सभी मानस हैं। मनु आदि भी प्रजापति ही हैं। सबको भगवानने सकल्पसे ही पैदा किया। ब्रह्माको पितामह भी कहते है और वह प्रजापतियोमे ही आ गये। इसीलिये भगवानको ही प्रपितामह या उनका दादा कहा है।

**नमः पुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।**
**अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्व सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥४०॥**

हे समस्त जगत्स्वरूप, आपको आगेसे नमस्कार, पीछेसे नमस्कार, और सब ओरसे नमस्कार हैं। आप अनन्तवीर्य तथा अमित पराक्रमवाले हैं। आप ही सभी पदार्थोके रगरगमे व्याप्त हैं। इसीलिये सभीके स्वरूप ही हैं।४०।

वीर्य कहते है वीरता या शक्तिको, सामर्थ्यको। उसके अनुसार आगे बढने या कामको पराक्रम कहते हैं।

**सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।**
**अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि ॥४१॥**

**यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु ।**
**एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम् ॥४२॥**

साथी समझके (और) आपकी महिमाको इस तरह न जानके (कभी) जो आपको अपमानके रूपमे हे कृष्ण, हे यादव, हे साथी इस तरह मैंने प्रमादसे या प्रेमके चलते ही कह दिया हो, और हे अच्युत, हँसी-मजाकमे जो घूमने-फिरने, सोने, बैठने या भोजनके समय अकेलेमे या लोगोंके सामने आपका अपमान कर दिया हो, उसके लिये अपरम्पार महिमावाले आपसे क्षमा चाहता हूँ ।४१।४२।

**पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान् ।**
**न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव ॥४३॥**

हे ससारभरमे अतुल प्रभाववाले, तुम इस चराचर ससारके पिता हो, पूज्य (हो), (और) गुरुके भी गुरु (हो) । तुम्हारी बराबरीका तो कोई हुई नही, बडा कोई कैसे होगा ?४३।

**तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय काय प्रसादये त्वामहमीशमीडचम् ।**
**पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रिय. प्रियायार्हसि देव सोढुम् ॥४४॥**

इसीलिये साष्टाग प्रणाम करके ईश्वर और स्तुति-योग्य आपको खुश करना चाहता हूँ । हे देव, जैसे पुत्रका अपराध पिता, साथीका साथी और स्त्रीका पति क्षमा कर देता है वैसे ही—आप मेरी भूलें भी क्षमा कर दें ।४४।

यहाँ उत्तरार्द्धमें 'प्रियाया'का 'अर्हसि'के साथ सम्बन्ध होनेपर व्याकरणके अनुसार 'प्रियाया अर्हसि' यही होना चाहिये, न कि सन्धिके करते अकार विलुप्त हो जायगा, या 'प्रियाया'के 'या'के आकारमें मिल जायगा । किन्तु गीतामें तो ऐसा बहुत बार हुआ है । और तो और, इसीसे तीन ही श्लोक पहले हे सखे इतिका हे सख इतिकी जगह हे सखेति कर दिया है । वहाँ भी ठीक इसी तरहका नियम लागू है । मगर इसकी

पर्वा गीता उतनी नहीं करती। स्मरण रखना चाहिये कि गीताका समय मान्य उपनिषदोंके ही आसपास है और उनमें ऐसा पाया ही जाता है। लेकिन कुछ लोग इसीको प्राचीन भाष्यकारोंकी भारी भूल मानते और 'प्रियायार्हसि' में षष्ठीकी जगह चतुर्थी मानके 'प्रियायअर्हसि' ऐसी सन्धि करते हैं। काफी लेक्चर भी उनने दे डाला है। किन्तु वे इतना भी न सोच सके कि पिता-पुत्र और साथी-साथीके दो विशेष दृष्टान्त देनेके बाद प्रियको प्रिय माफी दे यह कहना कैसे उचित होगा। हाँ, यदि 'प्रिय'-की जगह 'प्रिय' ऐसा सम्बोधन होता, तब शायद 'हे प्रिय'के लिये 'प्रिय' कह देनेसे काम चल सकता। लेकिन यहाँ तो सो है नहीं। अर्जुन अपनेको पुत्र न कहके प्रिय कहे यह भी ठीक नहीं। सखा आदिकी बातके लिये तो माफी माँगी चुका है।

यहाँ दो या तीन 'इव'की भी बात नहीं उठ सकती है। ऐसा तो बार-बार मिलेगा कि ऐसे मौकोंपर तीनकी जगह एक ही या दोई शब्द आते हैं। स्त्रियोंका दृष्टान्त आलंकारिक नहीं है, किन्तु वस्तुस्थिति है। जो माफी पुत्र या साथीको भी नहीं दी जाती वह स्त्रीको दी जाती है; बशर्ते कि वह प्रिया हो और उसमें दिल लगा हो। इसीलिये उसका दृष्टान्त दिया है। ऐसा भी होता है कि पुत्रको भी जो माफी नहीं मिलती वह साथीको मिलती है। इसीलिये क्रमश ऊँचे दर्जेके दृष्टान्त आये हैं।

**अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।**
**तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास ॥४५॥**

जो कभी न देखा था उसे देखके मेरे रोंगटे खड़े हो गये हैं और भयसे मेरा मन व्याकुल है। (इसलिये) हे देव, हे देवेश, हे जगन्निवास, कृपा कीजिये (और) वही (पुराना) रूप मुझे फिर दिखाइये।४५।

**किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।**
**तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते ॥४६॥**

(अभी) जो आप मुकुट (एव) गदा लिये (तथा) चक्रधारी बने हैं (उसकी जगह) मैं आपको पहले हीकी तरह देखना चाहता हूँ। हे चतुर्भुज, हे स्वामिन्, हे सहस्त्रवाहु, हे विश्वमूर्त्ति, (आप) वही (पुराना) रूप बन जाइये ।४६।

इन दो श्लोकोके पदविन्यासको देखके और उसपर पूरा गौर न करके बहुतेरे टीकाकार धोकेमे पड गये है । फलत उनने यह अर्थ कर लिया है कि आप किरीट, गदा और चक्र लिये चतुर्भुज रूप बन जाइय, यही अर्जुन चाहता है । परन्तु आगे जब कृष्णने अपना विराट् रूप हटाके अर्जुन की इच्छा पूर्ण कर दी है, तो ५१वें श्लोकमें अर्जुन जो यह कहता है कि आपका सीधा-सादा मनुष्य रूप देखके अब कही मुझे होश हुआ है और मेरा मिजाज ठीक हुआ है, वह कैसे सगत होगा ? चतुर्भुज रूप तो मनुष्यका था नही और न चक्रधारी ही। किसने कहाँ कहा कि किरीट और गदाधारी रूप आदमीका होता है और कृष्णका भी वही रूप था ? कहा जाता है कि जन्मके समय ही उनने ऐसा रूप देवकी-वसुदेवको दिखाया था। मगर उसे फौरन हटाना पडा । यही नही, "किरीटिन गदिन" (११।१७) आदिसे तो स्पष्ट ही है कि विराट् रूप ही ऐसा था। फिर अर्जुन उसे ही कायम रखनेको कैसे कहता ? उसे ही देखके तो उसने देवता कूच कर गये थे न ? और जो रूप सामने ही था उसे 'वह' या 'उसी तरह'का कहना कैसे उचित था ? उसे तो ४७वेमें ठीक ही यह—इदम्—कहा है। 'यह'के मानी ही है मौजूद या हाजिर । 'वह'—तेनैव, तदेव—और 'उसी तरह'—तथैव—तो सामनेकी चीजको न कहके परोक्ष या दूरकी चीजको ही कहते है । और सच कहिये तो कृष्णका सीधासादा आदमीवाला रूप ही उस वक्त सामने न था। अर्जुन उसे ही देखनेका परीशान भी था ।

इसीलिये हमने अर्थ किया है कि जो अभी किरीट, गदा, चक्रको धारण

करनेवाला आपका रूप है उसे ही पुराने और आदमीके रूपमे देखना चाहता हूँ। क्योकि यह आदमीका न होके भगवान्का ही रूप है। इसमे 'तथा' और 'तेनैव' भी ठीक बैठते है। यही वजह है कि हमने 'चतुर्भुजेन' शब्दको एक न मानकर दो—चतुर्भुज+इन—माना है और 'सहस्रबाहो' तथा 'विश्वमूर्त्ते'की ही तरह इन दोनोको भी सम्बोधन ही माना है। 'इन' शब्दका अर्थ है स्वामी और श्रेष्ठ। इस तरह हे चतुर्भुज, हे स्वामिन्, ऐसा अर्थ हो जाता है। एक यही शब्द कठिनाई पैदा करता था और वही अब दूर हो गई।

इसपर—

श्रीभगवानुवाच

**मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।**
**तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम् ॥४७॥**

श्रीभगवान कहने लगे—हे अर्जुन, (तेरे ऊपर) प्रसन्न होके ही मैंने तुझे अपनी सामर्थ्यसे यह (वही) तेजमय, अनन्त, मूलभूत, विलक्षण विश्वरूप दिखाया है जिसे तुझसे अन्य (किसी)ने भी पहले देखा न था।४७।

**न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।**
**एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर ॥४८॥**

हे कुरुवीर शिरोमणि, न वेद (पढने)से, न यज्ञ (करने)से, न (सद्-ग्रथोके) अध्ययनसे, न दानसे, न अन्य क्रियाओसे (और) न कठिन तपस्याओसे ही (इस) मनुष्य लोकमे तुम्हारे अलावे दूसरा कोई मुझे इस रूपमे देख सकता है।४८।

**मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।**
**व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य ॥४९॥**

मेरा यह ऐसा घोर रूप देखके तुम्हें (अव) व्यथा मत हो और घवराहट या किंकर्त्तव्यविमूढता भी मत हो। (किन्तु) निर्भय होके खुशी-खुशी तुम पुनरपि मेरे उसी रूपको यह अच्छी तरह देख लो।४९।

इस श्लोकसे और भी साफ हो जाता है कि कृष्णने असली पुराने नररूपको ही फिरसे वना लिया था। क्योंकि पुनरपि—फिर भी—उसी रूपको देख लो, ऐसा कहते हैं। इसका तो आशय यही है न, कि जिसे पहले देखा था उसीको फिर देखो? दुवारा देखनेका और मतलब होगा भी क्या? जो चतुर्भुज रूप सामने ही है उसीको पुन देखना क्या? इसीलिये जब फिर मानव रूप वनाया है तो कहते है यह अच्छी तरह देख लो—'इद प्रपश्य'। इतना कहना था कि फौरन वही रूप नजर आ गया।

ठीक यही वात—

## सजय उवाच

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूप दर्शयामास भूय'।
आश्वासयामास च भीतमेन भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा ॥५०॥

सजय कहने लगा (कि), कृष्णने अर्जुनसे ऐसा कहके (फौरन ही) अपना रूप फिर दिखा दिया और (इस तरह) सीधासादा स्वरूपवान वनके महात्मा कृष्णने उस डरे हुए अर्जुनको पुनरपि आश्वासन दिया।५०।

## अर्जुन उवाच

दृष्ट्वेदं मानुप रूपं तव सौम्य जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्त सचेत. प्रकृति गत. ॥५१॥

(इसपर फौरन ही) अर्जुनने कहा (कि) हे जनार्दन, आपका यह सौम्य—सीधासादा—मानव रूप देखके मुझे अभी होश हुआ है और मिजाज भी ठीक हुआ है।५१।

श्रीभगवानुवाच

**सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।**
**देवा अप्यस्य रूपस्य नित्य दर्शनकांक्षिणः ॥५२॥**

(तब) श्रीभगवान कहने लगे (कि आज) तुमने जो मेरा रूप देखा है इसका दर्शन अत्यन्त दुर्लभ है। देवता लोग भी बराबर ही इस रूपके दर्शनकी आकाक्षा रखते हैं।५२।

**नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।**
**शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा ॥५३॥**

तुमने अभी-अभी मुझे जिस तरह देख लिया है इस रूपमे मै वेद, तप, दान और यज्ञ (किसी भी उपाय)से देखा नही जा सकता।५३।

**भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवं विधोऽर्जुन।**
**ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ॥५४॥**

हे अर्जुन, हे परन्तप, (किन्तु) अनन्य भक्तिसे ही मुझे इस प्रकार जाना, आँखो देखा और उसी रूपमे—वैसा ही स्वय भी होके—उसमे प्रवेश किया (भी) जा सकता है।५४।

**मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।**
**निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पांडव ॥५५॥**

(इसीलिये) हे पाडव, जो मेरे ही लिये—मदर्थ—कर्म करे, मुझीको अन्तिम (लक्ष्य वस्तु) माने, मेरा ही भक्त हो, आसक्तिशून्य हो और किसी भी पदार्थसे वैर न रखे, वही मुझे प्राप्त करता है।५५।

यहाँ सक्षेपमे ही दो-तीन बाते जान लेनी है।

पहली बात यह है कि यद्यपि ४८वे तथा ५३वें श्लोकमे वेद आदिकी बाते एक ही हैं, जिससे व्यर्थकी पुनरुक्ति प्रतीत होती है, फिर भी पहले श्लोकमे अर्जुनको आश्वासन देनेके ही लिये वह बाते कही गई है कि कहाँ

तो वेदादिके वलसे भी जो दर्शन नही हो सकता है वही तुझे मिला है और कहाँ तू उलटे घबराता और वेहोश होता है! यह क्या? राम, राम! लेकिन वही वात दूसरे श्लोकमें अनन्य भक्तिके साथ वेदादिके मुकाविलेके लिये ही आई है, ताकि इस भक्तिका पूर्ण महत्त्व समझा जा सके।

दूसरी वात यह है कि यहाँ जो कई वार कहा है कि कभी किसी और ने यह रूप नही देखा, उसका मतलव यह है कि यह तो आत्मदर्शनका प्रयोग था जो अर्जुनके ही लिये किया गया था। इससे पहले यह प्रयोग किसीने किया ही नही। अगर कभी किसीने देखा भी हो तो कौतूहलवश ही। क्योकि उसे यह दृष्टि कहाँ मिली और न मिलनेपर वह इस दृष्टिसे कैसे देखता? प्रयोग तो करता न था।

तीसरी वात है अन्तिम श्लोक की। इसमें जो कुछ कहा गया है वह आत्मदर्शीकी वात न होके उधर अग्रसर होनेवालेकी ही है, जो अन्तमें सव कामोंके फलस्वरूप आत्मदर्शन करके ब्रह्मरूप वनता है। प्रसग और शब्दोंसे यही सिद्ध होता है।

**इति श्री० विश्वरूपदर्शनं नामैकादशोऽध्यायः ॥११॥**

श्रीम० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सवाद है उसका विश्वरूप दर्शन नामक ग्यारहवाँ अध्याय यही है।

# बारहवाँ अध्याय

यह तो पहले ही कह चुके है कि दसवे अध्यायमे जिस योगका उल्लेख विभूतिके साथ हुआ है वह विराट्दर्शन या विश्वरूपदर्शनका ही दूसरा नाम है । इसे प्रमाणित भी किया जा चुका है । यदि यह बात न होती तो जहाँ अन्य सभी अध्यायोकी समाप्तिवाले वाक्यमे 'साख्ययोग', 'कर्मयोग' आदि लिखके साख्य, कर्म प्रभृतिके साथ योगका उल्लेख बराबर ही किया गया है, तहाँ केवल इसी ग्यारहवें अध्यायमे सिर्फ 'विश्वदर्शन' इतना ही क्यो लिखा जाता ? सभी प्रामाणिक भाष्यो एव टीकाओमे यही पाया जाता है । इससे स्पष्ट हो जाता है कि जब यह विश्वरूपदर्शन निर्विवाद रूपसे स्वयमेव योग है तो पुनरपि योग शब्दके नाहक पुनरुक्ति क्यो करना ? जहाँ विवादकी गुजाइश हो वही उसका लिखा जाना ठीक था ।

इस प्रकार विश्वरूपदर्शनकी बात खत्म करके आगे बढनेकी बात आती है । वही तेरहवे अध्यायमे पाई भी जाती है । वहाँ उन्ही पदार्थोका दार्शनिक ढगसे विश्लेषण तथा विवेचन किया है जिन्हे ग्यारहवेंमें दिखाया गया है । यह बात वही विशेष रूपसे बतायेगे और दिखायेगे कि मननका सिलसिला क्यो नही टूटना चाहिये । बल्कि यह बात तो पहले भी कही चुके है कि निदिध्यासन, समाधि, या प्रयोगके बाद भी मननकी जरूरत होती ही है । नही तो सारी बाते भूल ही जायँ और किया-कराया सब कुछ चौपट हो जोय । इसीलिये उससे पूर्वका यह बारहवाँ, अध्याय भी मननके ही रूपमें प्रसगसे आ गया है । यह प्रसग भी ग्यारहवेंके अन्तके चार और खासकर आखिरी दो श्लोकोके ही चलते आया है । इस प्रासगिक

वातको वीचमे पूरा कर लेना भी जरूरी था। तभी असली वातका सिलसिला ठीक-ठीक चल सकता था।

वात यो हुई कि कृष्णने अपना साकार विराट् रूप दिखाके अर्जुनसे साफ कह दिया कि इसके जानने और देखनेका कोई दूसरा उपाय नही है, सिवाय इसके कि अनन्य-भक्ति की जाय। उनने यह भी कह दिया कि जो कुछ भी किया जाय वह भगवदर्पण वुद्धिसे ही। जवतक यह न होगा यह दर्शन असभव है। यह ठीक है कि सिर्फ दर्शन होके ही खत्म हो न, जायगा। किन्तु दर्शकको मुक्ति भी मिलेगी। फिर भी इस दर्शनके रास्ते मुक्तितक पहुँचना दुर्लभ चीज है। इससे अर्जुनके दिलमे फौरन ही यह खयाल होना जरूरी था कि ऐ, कृष्ण तो इसी साकारकी उपासना और भक्तिको यज्ञादिसे भी वडी चीज मानते तथा इस साकार दर्शनको दुर्लभ कहते है। मगर यहाँ तो वरावर ही देखा-सुना जाता है कि निराकार ब्रह्ममे ही विवेकी लोग दिनरात लगे रहते है। आखिर ऐसा क्यो होता है? यदि यही उत्तम मार्ग है तो लोग उसमे क्यो पडते है? यह भी नही कि मामूली लोग ही उधर जाते है। नही, नही। वह तो वडे-वडे अगडधत्तो और विवेकियोका ही मार्ग है। वल्कि जनसाधारणके लिये तो वह दुर्लभ ही है। इसलिये यह तो मानना ही होगा कि वह मार्ग भी उत्तम ही है। खुद कृष्णने भी तो पहले उसपर वहुत ही जोर दिया है। फिर उत्तम क्यो न हो? मगर अभी-अभी इनने जो कुछ कह दिया उससे तो साकारकी उपासना ही अच्छी सावित होती है! यह तो अजीव घपला है! यह पहेली तो निराली है!

इसीलिये उसने चटपट कृष्णसे पूछ ही तो दिया कि वात क्या है? रास्ते तो दोनो आपके ही वताये है। इसीलिये अव साफ-साफ कहिये न, कि इन दोनोमे कौन अच्छा है? इन दोनोपर चलनेवालोमें जोई अच्छे और कुशल होगे मै उन्हीको पसन्द करूँगा। 'योगवित्तमा' शब्द देनेका

भी मतलब है। योग तो उपाय ही ठहरा, जिसे मार्ग कहिये या रास्ता। इन दोनो मार्गोंके जानकार और इनपर अमल करनेवाले लोग योगवित् हुए, यह भी ठीक ही है। मगर दोनोमे ज्यादा कुशल कौन है, अच्छे कौन है, योगवित्तम कौन है यही बता दीजिये तो काम चले, यही आशय अर्जुनका है। दरअसल ग्यारहवे अध्यायके समूचे प्रसगमे अन्तके वचनोको सुनके ही अर्जुनको एकाएक यह खयाल हो आया और उसने फौरन उसे जाहिर कर दिया। उसने बहुत ज्यादा इस बारेमे सोचा-विचारा नही। नही तो शायद उसे ऐसा पूछनेकी जरूरत होती ही नही। उसे खुदबखुद सन्तोष और समाधान हो जाता।

क्योकि छठे अध्यायके बाद भी कृष्णने निराकार आत्मामे लगने तथा उसके अनन्य चिन्तनकी बात कही ही है। छठे अध्यायमे या उससे पहले तो यह बात खूब ही आई है। साख्ययोग तो दरअसल यही है भी और उसीसे गीताका श्रीगणेश हुआ है। ज्ञानका जो रूप पहले भी और खासकर चौथे तथा छठे अध्यायमे आया है वह कितना महत्त्वपूर्ण है! उसकी प्राप्तिके लिये यत्न करनेपर भी कितना जोर दिया है! यही नही। यदि ग्यारहवे अध्यायके अन्तवाले इन श्लोकोको ही देखे तो उनमे क्या लिखा है? उनमे यह कहाँ कहा गया है कि ज्ञानमार्ग या निराकार ब्रह्मकी समाधिसे भी यह साकार चिन्तन या सगुणकी भक्ति श्रेष्ठ है? वहाँ तो इतना ही कहा है कि वेद, तप, दान और यज्ञसे भी यह दर्शन होनेको नही। इसलिये अनन्य भक्ति करो। यह तो नही कहा कि ज्ञान और समाधिसे भी यह होनेको नही। यदि वेद, तप, दान और यज्ञसे इस उपासनाको श्रेष्ठ बताया, तो बुरा क्या किया? यह तो ठीक ही है। ये चारो तो बेकार है यदि इनके करते भगवानमे भक्ति न हो। यह भी नही कि यज्ञ शब्दसे ज्ञान भी लिया जाय। ऐसा करना तो दूरकी कौड़ी लाना हो जायगा। हम तो यह भी कह चुके है कि ग्यारहवे अध्यायका

यज्ञ शब्द ज्ञानको छोडके और यज्ञोको ही, और आमतौरसे प्रसिद्ध यज्ञोको ही, बताता है। जिस ज्ञानसे इस भक्तिको तर्जीह देनी हो, जिससे इसे श्रेष्ठ कहना हो उसीका नाम सीधे न लिया जाकर यज्ञके रूपमें ही उसे लाके उससे इसकी विशेषता बताई जाय, यह भी निराली समझका काम है। जब आगे बारहवेंमे स्पष्ट ही वही बात अर्जुन कहता है, तो कृष्ण-को उससे पहले कहनेमे क्या हिचक हो सकती थी, यदि उनका वही आशय होता ?

इसीलिये अगत्या मानना ही होगा कि कृष्णका ऐसा कोई आशय न था। नही तो साफ ही बोल देते। सो भी तीसरे अध्यायमे अर्जुनके यह कहनेके बाद, कि गोलमोल बातें कहके, ऐसा लगता है कि, आप मुझे घपलेमे डाल रहे है, कृष्णके लिये यह जरूरी हो गया था कि स्पष्ट कहें। उनने बराबर ऐसा ही किया भी है। इसीलिये पुनरपि अर्जुनको यह इल्जाम लगानेका मौका नही मिल सका है। मगर अगर ऐसा ही मानें, जैसा कि कुछ लोग कहते है, तब तो यहीपर उस इलजामका सुन्दर मौका था और अर्जुनको वही कहना भी चाहता था। लेकिन यह तो अर्जुन भी नहीं कहता है कि साकार उपासनाको कृष्णने श्रेष्ठ कहा है। वह तो इतना ही मानता है कि दोनो ही पर कृष्णका जोर काफी है। मगर ग्यारहवेंमे प्रसग साकारका ही है। इसीलिये उसने खुद पूछा कि आया दोनो रास्ते बराबर ही है या इनमे कोई श्रेष्ठ भी है। दोनोपर बराबर ही जोर देना उसे मालूम हुआ था जरूर। फिर भी हरेक तो दोनोको कर नही सकता। इसलिये दोनोमे एकको उसे चुनना ही होगा। इसीमे वह पूछता भी है कि कौनसा एक अच्छा है।

अच्छा, मान ले कि अर्जुन दोनोमे किसी एककी विशेषता ठीक ही समझ न सका था। इसीलिये तो उसने पूछा। फिर भी कृष्णने उत्तरमें साकारोपासनाको उत्तम करार दे दिया। लेकिन यह भी अजीब बात

है। ग्यारहवेके अन्तमे साकारकी ही बात सभव थी। उसीका तो वहाँ प्रसग ही था। इसलिये स्वभावत अर्जुनका झुकाव उसी ओर होना था। ताहम निश्चय न कर सकनेके कारण ही उसने पूछ दिया। इतना तो मानना ही होगा। किन्तु जरा यह भी तो सोचे कि आखिर वह पूछता ही क्या है। यही न, कि दोनोमे योगवित्तम कौन है? और योगका अर्थ "समत्व योग उच्यते" तो हो नही सकता। क्योंकि उसमें छोटे-बडेका क्या प्रश्न, उत्तम मध्यमकी क्या बात? वह तो एक ही तरहका होता ही है। और दोनो ही योगी हो यह तो गैरमुमकिन भी है। योगके मूलमे तो आत्मदर्शन है न? वह साकारोपासकको होगा ही कैसे? तब तो यह उपासना ही बेकार होगी। इसलिये यहाँ योगका अर्थ उपाय, रास्ता या मार्ग ही मानना होगा। हम तो कही चुके है कि योगका उपाय अर्थ भी होता ही है। अर्जुनके पूछनेका तो केवल इतना ही आशय है कि कल्याणका मार्ग जानते है तो दोनो ही। मगर उन जाननेवालोमे कुशल कौन है?

असलमे मार्ग तो सबके लिये एक होता नही। वह तो योग्यता या अधिकारके हिसाबसे ही जुदा-जुदा होता है। मार्ग जाननेवालेकी कुशलताका भी यही मतलब होता है कि जिसे जिसके योग्य समझे उसे वही बताये, न कि सब धान पूरे बाईस पसेरी ही तौलने लगे। तब तो अनर्थ ही होगा। किसीके लिये उसकी योग्यताके अनुसार जो मार्ग सर्वोत्तम हो सकता है वही दूसरेके लिये बेकार या हानिकारक भी हो सकता है। इसीलिये चतुर उपदेशक और जानकारकी जरूरत होती है। अर्जुनके पूछनेका यही आशय है। कृष्णने उत्तर भी इसी दृष्टिसे दिया है। जनसाधारणके लिये तो साकारोपासना ही श्रेष्ठ है। कारण, निराकारकी बात उनकी पहुँचके बाहरकी ठहरी। जगलमे फल पके भी तो गाँववालोके किस कामके?

संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः ।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहितेरताः ।।४।।
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्त चेतसाम् ।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ।।५।।

विपरीत इनके जो सर्वत्र समदर्शी लोग सभी इन्द्रियोको कावूमे करके अक्षर, न बताये जा सकनेवाले, अदृश्य, सर्वव्यापी, चिन्तनके अयोग्य, निर्विकार एकरस, क्रियाशून्य और स्थिर (ब्रह्म)की पूर्ण उपासना या समाधि करते है, समस्त ससारके हितमे लगे हुए वे लोग (भी) मुझ भगवानको ही प्राप्त करते है (सही)। (मगर) निराकारमे जिनके चित्त चिपक चुके है ऐसे लोगोको (पहले) दिक्कते बहुत ज्यादा (होती है)। क्योकि शरीरधारियोके लिये अव्यक्तमे जा लगना असभवसा ही होता है ।३।४।५।

यहाँ एकाध बातें विचारणीय है। इन श्लोकोमे उन्ही समदर्शियोका वर्णन है जिनका "विद्याविनयसम्पन्ने" (५।१८-२१)मे पाया जाता है। इसीलिये उनके बारेमें, 'उपासते'के पहले 'परि' लगाके पूर्ण उपासना या समाधिके ही रूपमे उनकी स्थितिका वर्णन किया है। पाँचवे श्लोकके "अव्यक्तासक्तचेतसाम्"मे जो 'आसक्त' पद आया है उससे भी यही सिद्ध हो जाता है कि वे समाधिकी पूर्णावस्थावाले ही है। ऐसी दशामे जो अन्तमे कहा है कि अव्यक्तमे लगनका होना शरीरधारियोके लिये असभवसा ही है उसका यह मतलब हर्गिज नही है कि ऐसे लोगोको कोई कष्ट होता है। वे तो पहुँचे हुए हई। उन्हे क्या दिक्कत होगी ? वे तो दिक्कतें पार कर गए है। शायद 'दु ख' पदको देखके लोग ऐसा आशय निकालना चाहते है। वे इसमे इससे पहलेके "क्लेशोऽधिकतर"से भी सहायता लेते है। मगर यह क्लेश तो उस दशामे पहुँचनेसे पहलेका ही है। वहाँ पहुँचके कैसा

ही देखती है। क्योकि करनेवालेकी आत्मा तो कहो सीमित न होके अपरिमित है। फलत सभी पदार्थोंको अपने गोदमे रख लेती है।

गीताके इस महान् मन्तव्यके निकट केवल मार्क्सका ही सिद्धान्त पहुँच पाता है। क्योकि मार्क्स तो समूचे समाजका ही आमूल परिवर्त्तन करके उसका पुनर्निर्माण चाहता है जिससे किसी एकको भी किसी प्रकारकी असुविधा जरा भी न रह जाय। प्रकृति, रोगव्याधि तथा मृत्यु आदिपर भी विजय प्राप्त की जा सके। सभी तरहकी बीमारियो, प्राकृतिक उपद्रवो, युद्धो और सघर्षोंपर मानव-समाजका ऐसा आधिपत्य हो जाय कि ये जडमूलसे मिट जायँ और अखड शान्ति सर्वत्र विराजने लगे। यदि मानव-समाजको आराम दे सके भी तो प्राकृतिक उपद्रवो, रोगो और युद्धोसे मनुष्यो, पशु-पक्षियो और जमीन, पहाड, घरबार वगैरहका सहार होता ही रहेगा। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि सभी भूतोका हित हो गया? सभी भूतोके हितोका साधन किया जा रहा है? इन उपद्रवोको निर्मूल करनेमे जबतक सफलता न मिले तबतक यह बात कही जा सकती नही। इसलिये उस सफलताके लिये जो लोग दत्तचित्त है और समाजको नये साँचेमे ढालना चाहते है सचमुच वही 'सर्वभूतहितेरता' कहे जा सकते हैं। या नही, तो ऐसोके निकटवर्ती तो वे अवश्य ही माने जा सकते हैं। उनमे तथा सर्वभूतहितेरतोमे बहुतही कम अन्तर रह जायगा।

**ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।**
**अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते ॥६॥**
**तेषामहं समुद्धर्त्ता मृत्युसंसारसागरात्।**
**भवामि नचिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥७॥**

हे पार्थ, (इनके विपरीत) जो लोग सभी कर्मोको मुझमे अर्पण करके मुझ (साकार भगवान)को ही सबसे बढके मानते हुए तथा अनन्यभावसे

मेरा ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते हैं, मुझीमें अपने चित्तको चिपका देनेवाले ऐसे लोगोका (इस जन्म)मरण रूपी ससार-सागरसे जल्द ही उद्धार कर देता हूँ ।६।७।

**मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धि निवेशय ।**
**निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न सशयः ॥८॥**

(इसलिये) मुझीमे मन जोड दे (और) बुद्धिको भी मुझीमे लगा दे । (परिणाम यह होगा कि) इसके—मरनेके—वाद या इतना कर लेनेपर वेशक तुम मुझमे ही निवास करेगा—मेरा ही स्वरूप हो जायगा ।८।

**अथ चित्त समाधातु न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।**
**अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तु धनजय ॥९॥**

लेकिन यदि, हे धनजय, मुझमें चित्तको निश्चल रूपसे लगा नही सकता, तो (इस वातके) अभ्यासरूपी उपायसे ही मुझे (क्रमश ) प्राप्त करनेका सकल्प कर ले ।९।

यहाँ "आप्तु इच्छ"—"पानेकी इच्छा कर ले"का ही अभिप्राय हमने "सकल्प कर ले", लिखा है और यही उचित भी है । इच्छा मात्रसे तो कुछ होता जाता नही, जबतक सकल्प न कर ले ।

**अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।**
**मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥**

(और अगर) अभ्यास भी न कर सके तो मदर्थ कर्म करनेमे ही लग जा । (क्योकि) मदर्थ कर्मोको करते हुए भी (धीरे-धीरे) इष्टसिद्धि प्राप्त कर ही लेगा ।१०।

**अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः ।**
**सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥११॥**

लेकिन यदि मुझे ही अर्पण करते हुए यह करनेमे भी असमर्थ हो तो मनपर अकुश रखके सभी कर्मोके फलोकी पर्वा छोड दे ।११।

आगे बढनेके पूर्व यहाँ कुछ विचार कर लेना जरूरी है ।६,७ श्लोकोमे जो बाते कही गई है उन्हीका उपसहार आठवेमे है । न कि कोई नई बात । यही है साकार भगवानकी अनन्य भक्ति, जिसका उल्लेख ग्यारहवे अध्यायके अन्तमे आया है और बारहवेके शुरूमे जिसके बारेमे ही प्रश्न हुआ है । मगर यह पूर्ण भक्ति है, उसकी आखिरी निष्ठा या स्थिति है । यह भी तो कही चुके है कि ग्यारहवेके अन्तिम श्लोकमे जो कुछ कहा गया है वह पूर्ण भक्ति ही न होके उसके पहलेकी सीढियाँ भी उसीमे आ गई है, हालाँकि उनका इतना स्पष्ट वर्णन होना वहाँ असभव था । अतएव प्रश्नके बाद उनकी स्पष्टता अपने आप यहाँ हो जाती है और बादके तीन (९-११) श्लोक यही काम करते है । इनमे ९वाँ पहली बात कहता है कि यदि पूर्ण भक्तिकी दशावाला मन न हो पाया हो और इधर-उधर दौडता हो तो अभ्यास ही उसे काबूमे करनेका उपाय है । इस अभ्यासकी बात पहले खूब ही आ चुकी है । लेकिन यदि वह बहुत ही गन्दा हो और इतना चंचल हो कि अभ्यास भी न हो सके, तो दसवें श्लोकमे बादकी सीढीके रूपमे कहा गया है कि "यत्करोषि" (९।२७)के अनुसार भगवदर्पण बुद्धिसे कर्म ही करते जाओ। फिर तो समय पाके अभ्यासकी योग्यता आई जायगी। किंतु यदि दुर्भाग्यसे यह भी न हो सकनेवाला हो और मन अत्यत पतित हो, तो आखिरी बात यह है कि सभी भले-बुरे कर्मोके फलोको ही भगवानके अर्पण करके बेफिक्र बन जाओ । यही बात ग्यारहवे श्लोकमे है । यदि ग्यारहवे अध्यायके अन्तिम श्लोकके "मत्कर्मकृन्मत्परम."का यहाँके दसवेके "मत्कर्मपरम"से मिलान करे तो पता चल जायगा कि उस श्लोकमे इन सीढियोका समावेश जरूर है । इस प्रकार मनको निरन्तर साकार भगवानमे जोड देनेकी पूर्ण भक्तिके

योग ध्यान करते हुए मेरी उपासना करते है, मुझीमे अपने चित्तको चिपका देनेवाले ऐसे लोगोका (इस जन्म)मरण रूपी ससार-सागरमे जल्द ही उद्धार कर देता हूँ ।६।७।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न सशय ॥८॥

(इसलिये) मुझीमें मन जोड दे (और) बुद्धिको भी मुझीमे लगा दे । (परिणाम यह होगा कि) इसके—मरनेके—बाद या इतना कर लेनेपर बेशक तुम मुझमे ही निवास करेगा—मेरा ही स्वरूप हो जायगा ।८।

अथ चित्त समाधातु न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तु धनजय ॥९॥

लेकिन यदि, हे धनजय, मुझमे चित्तको निश्चल रूपसे लगा नही सकता, तो (इन बातके) अभ्यासरूपी उपायसे ही मुझे (क्रमश ) प्राप्त करनेका सकल्प कर ले ।९।

यहाँ "आप्तु इच्छ"—"पानेकी इच्छा कर ले"का ही अभिप्राय हमने "सकल्प कर ले", लिखा है और यही उचित भी है । इच्छा मात्रसे तो कुछ होता जाता नही, जबतक सकल्प न कर ले ।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि ॥१०॥

(और अगर) अभ्यास भी न कर सके तो मदर्थ कर्म करनेमे ही लग जा । (क्योंकि) मदर्थ कर्मोको करते हुए भी (धीरे-धीरे) इष्टसिद्धि प्राप्त कर ही लेगा ।१०।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रित ।
सर्वकर्मफलत्याग तत कुरु यतात्मवान् ॥११॥

लेकिन यदि मुझे ही अर्पण करते हुए यह करनेमे भी असमर्थ हो तो मनपर अकुश रखके सभी कर्मोके फलोकी पर्वा छोड दे ।११।

आगे बढनेके पूर्व यहाँ कुछ विचार कर लेना जरूरी है ।६,७ श्लोकोमे जो बाते कही गई है उन्हीका उपसहार आठवेमे है । न कि कोई नई बात । यही है साकार भगवानकी अनन्य भक्ति, जिसका उल्लेख ग्यारहवे अध्यायके अन्तमे आया है और बारहवेके शुरूमे जिसके बारेमे ही प्रश्न हुआ है । मगर यह पूर्ण भक्ति है, उसकी आखिरी निष्ठा या स्थिति है । यह भी तो कही चुके है कि ग्यारहवेके अन्तिम श्लोकमे जो कुछ कहा गया है वह पूर्ण भक्ति ही न होके उसके पहलेकी सीढियाँ भी उसीमे आ गई है, हालाँकि उनका इतना स्पष्ट वर्णन होना वहाँ असभव था । अतएव प्रश्नके बाद उनकी स्पष्टता अपने आप यहाँ हो जाती है और बादके तीन (९-११) श्लोक यही काम करते हैं । इनमें ९वाँ पहली बात कहता है कि यदि पूर्ण भक्तिकी दशावाला मन न हो पाया हो और इधर-उधर दौडता हो तो अभ्यास ही उसे काबूमें करनेका उपाय है । इस अभ्यासकी बात पहले खूब ही आ चुकी है । लेकिन यदि वह बहुत ही गन्दा हो और इतना चचल हो कि अभ्यास भी न हो सके, तो दसवें श्लोकमे बादकी सीढ़ीके रूपमे कहा गया है कि "यत्करोषि" (९।२७)के अनुसार भगवदर्पण बुद्धिसे कर्म ही करते जाओ। फिर तो समय पाके अभ्यासकी योग्यता आई जायगी। किंतु यदि दुर्भाग्यसे यह भी न हो सकनेवाला हो और मन अत्यत पतित हो, तो आखिरी बात यह है कि सभी भले-बुरे कर्मोके फलोको ही भगवानके अर्पण करके बेफिक्र बन जाओ। यही बात ग्यारहवे श्लोकमे है । यदि ग्यारहवे अध्यायके अन्तिम श्लोकके "मत्कर्मकृन्मत्परम "का यहाँके दसवेंके "मत्कर्मपरम "से मिलान करे तो पता चल जायगा कि उस श्लोकमे इन सीढ़ियोका समावेश जरूर है । इस प्रकार मनको निरन्तर साकार भगवानमे जोड देनेकी पूर्ण भक्तिके

नीचे क्रमश तीन सीढियाँ है—अभ्यास, भगवदर्पण कर्म और कर्मफलोको ही भगवदर्पण करना। यही कारण है कि इन श्लोकोमे क्रमसूचक पद न रहनेपर भी हमने वैसा ही अर्थ किया है।

ये तीनो क्रमश नीचेकी सीढियाँ कैसे है यह जान लेना भी जरूरी है। यह तो मोटी बात है कि उधरसे हटनेपर बारबार मनको खीचके लगाना ही होगा। दूसरा रास्ता हई नही। इसे सभी लोग यो ही समझ भी सकते है। मगर जब मन इतना गन्दा हो कि भगवानकी ओर बिल्कुल जाये ही नही, तो अभ्यास क्या करेगे खाक ? वज्रकी धरतीको मामूली कुदालसे खोदके उधर ही पानी बहानेका यत्न जिस तरह बेकार होता है वैसा ही यह भी है। कुदालसे तो वज्र कटे-टूटेगा ही नही। उलटे कुदाल ही टूटेगी और परिश्रम बेकार होगा। फिर भी वैसी दशा मे क्रियाओमे तो मन जायेगा ही।

वुरे ही कर्म करते है। इसलिये पीछे दिमाग दुरुस्त होनेपर सोच लिया कि चलो इनके फलोको ही भगवान को समर्पित करे। इस तरह भले फल तो शायद ही थे जो गये। मगर वुरे तो प्राय सभी थे और सभी गये—खत्म हो गये। इसी आशयसे "सर्वकर्म फलत्याग" कहा है। सर्व कहनेसे वुरे-भले सभी आ जाते है। इस प्रकार चक्कर काटके फल और कर्मके द्वारा मनको वहाँ तक पहुँचाते है। यही अन्तिम सीढी है।

कहते है कि किसी वेश्याका कोई नौकर था। वह प्रतिदिन सुन्दर सुन्दर फूल उसके लिये चुन लाता था। एक दिन रास्तेमे फूल लिये आ रहा था। अकस्मात उनमे दो एक फूल नीचे गिर पडे। उसने जो उन्हें उठानेकी कोशिशकी तो देखा कि विष्ठा पर ही जा पडे है। अव तो विवश था और कलेजा मसोसके रह गया। फिर कुछ सोचके वोला, 'विष्णवे स्वाहा'। कभी सुना था कि विष्णुको अर्पण करनेसे पुण्य होता है। उसने जव कोई उपाय न देखा तो हारके पुण्य ही लूटना चाहा। कहानी तो वताती है कि उसीके करते उस पतितको भी वैकुठका दर्शन मिला। मगर हमे उससे मतलव नही है। हमे तो यहाँ इतना ही कहना है कि वेश्याके नौकरकी ही तरह पीछे हारके कर्मोके फलोको भगवानके अर्पण किया जा सकता है। यह कोई असभव वात नही है। हाँ, है यह सवसे नीचेकी, छोटी और आखिरी वात।

अव हमे प्रसगवश उन लोगोसे एक प्रश्न करना है जो साकार भगवानकी भक्तिको ही दरअसल सवसे वडी चीज गीताके मतसे वतानेपर तुले वैठे है। हमने गीताके ही श्लोकोके आधारपर, जो इसी अध्यायके इसी मौकेके ही है, कमसे कम चार प्रकारकी भक्तियोको दिखाया है। इन्हे तो वह भी मानेगे ही। क्योकि यह तो हमारी अपनी मनगढन्त चीज है नही। तो अव वही वताये कि इनमे कौनसी भक्ति सवसे ऊँची है जिसका ढिढोरा गीताने पीटा है? ज्ञान और समाधिकी अपेक्षा जो

ऊँची चीज उन्हें जँचती है वह इनमे कौनसी है ? चारो तो हो नही सकती है। और अगर चारो ही हो, तो गजब होगा। क्योंकि साख्य, ज्ञान या समाधिकी अपेक्षा उस आखिरी भक्तिको भी श्रेष्ठ ठहरानेकी हिम्मत जिसे हो वह सचमुच बहादुर है, दिलेर है। अगर यह कहा जाये कि सबसे ऊपर वाली श्रेष्ठ है तो क्यो ? गीताने तो सबोको ही एक ही सिलसिलेमें गिनाया है। यह भी तो नही कहा है कि इनमे फलाँसे ही हमारा आशय है।

लेकिन अगर हमारी कही बात मानी जाय तब तो वस्तुस्थितिका सवाल होता ही नहीं। तब तो मार्गका सवाल ही रहता है और अधिकारियोंके हिसाबसे ये चारो ही अच्छी है—जो जिसके योग्य हो, जिसका अधिकारी हो वह उसे ही करे। क्योकि जनसाधारणके अनुकूल चारो ही है। इनमे भी जो सबसे नीचेकी है वही सबसे ज्यादा लोगोके लिये सभव होनेसे उस दृष्टिसे वही सबसे श्रेष्ठ है, इस कहनेमे कोई हर्ज नही है। क्योकि वह ज्ञानकी जगह लेने या सचमुच उससे भी ऊँचा दर्जा लेने तो जाती नही। यहाँ तो काम चलानेकी ही बात है।

इसी अभिप्रायसे आगेका—१२वाँ—श्लोक भी इस मौके पर ठीक ठीक आ बैठता है। यो तो इस श्लोककी बडी फजीती की गई है। हरेक टीकाकारने अपने ही खयालके अनुसार इसे बुरी तरह घसीटा है। किन्तु हमारे जानते जो इसका सीधा-सादा अर्थ है वह यो है। फलत्यागके द्वारा मनको थोडीसी शाति और थोडासा चैन मिलना शुरू हो जाता है जो धीरे-धीरे बढता जाता है। असलमे जोशमें आके नासमझ लोग जितनी मुस्तैदीसे भले-बुरे काम कर बैठते है, पीछे जोश ठडा होनेपर उतनी ही ज्यादा उन्हे बेचैनी और घबराहट होती है, अशान्ति होती है। क्योकि उन कर्मोके भयकर परिणाम आँखोंके सामने नाचने जो लगते है। मगर ज्योंही उनने यह समझा कि फल तो भगवदर्पण हो गये, कि

उन्हे खामखा चैन और शान्तिकी प्राप्ति फौरन ही हुई। यह स्वाभाविक बात है। चाहे पीछे कुछ हो, मगर तत्काल मनकी घबराहट और उसका उद्वेग तो जाता रहा। और एक वार ऐसा होते ही उनने जो इसका तत्काल मजा चख लिया तो फिर यही बात रह-रहके करने लगे। इस तरह उलटे धक्केसे मनकी शांति होते होते ध्यानकी योग्यता होती है। फिर यह ध्यान चाहे सीधे भगवानमे मन लगाके हो, या भगवदर्पण बुद्धिसे कर्म करके हो। यह तो आदमीकी दशा और योग्यतापर ही निर्भर करता है। इसीलिये ध्यानके भीतर भगवदर्थक कर्म भी आ गया। क्योकि उसके द्वारा भी मनकी एकाग्रता ही तो होती है। हाँ, सीधे हो तो और अच्छी वात हो। इस तरह जब एकाग्रता हुई और ध्यानका रास्ता खुला, तो जो वात पहले दिलमें वैठती ही न थी वह भी वैठने लगी। अनन्य भावनासे भगवानकी भक्ति करे, चाहे निराकारकी हो, या साकारकी—निराकारवालीको ही आत्मदर्शन या समदर्शन भी कहते है—यह वात पहले तो दिलमे वैठती ही न थी। मगर अब मनपर काबू होनेसे वैठी। यही है ज्ञान। इसके वाद ही फौरन अभ्यासकी सीढी आ जाती है। क्योकि यह ज्ञान होते ही एकाएक मन पूर्ण स्थिर तो हो जायगा नही। अतएव अभ्यास तो करना ही होगा। इस प्रकार अभ्यास करते-करते अनन्य भक्ति आप ही हो जायगी। यदि साकारमे मन टिकानेका अभ्यास होगा तो उसकी। नही तो निराकारकी ही।

इस प्रकार देखनेसे पता चल गया कि अभ्याससे ज्ञान, ज्ञानसे ध्यान और ध्यानसे भी कर्मोके फलोके त्यागको जो वडा या अच्छा वनाया है वह केवल इसीलिये कि वह क्रमश नीचेकी ही सीढियाँ है। फलत. आम लोगोके कामकी चीजे वही है। न कि सचमुच ही उनका दर्जा ऊँचा है। ऐसा मानना तो निरा पागलपन ही न होके इससे पूर्वके श्लोकोके उलटा जाना भी हो जायगा। हाँ, हमने जो कुछ कहा है उसे माननेमे ही

यह बात न होगी। इसीके साथ १२वे श्लोकमे 'क्योकि'के अर्थमें जो 'हि' आया है वह भी दुरुस्त सिद्ध होगा। क्योकि हमारे रास्तेसे तो १२वाँ पहलेके तीन श्लोको की ही बातोकी पुष्टि करता है न ? "त्यागाच्छा-न्तिरनन्तरम्"—"त्यागके अनन्तर ही शान्ति" यह भी हमारे अर्थमे ठीक ठीक लग जाता है। इतना ही नही। अभ्यासके बाद निराकार और साकार दोनोकी ही अनन्य भक्ति हो सकती है, हमारे इस कथनका १२वेंके बादवाले श्लोकोसे भी पूरा सम्बन्ध जुट जाता है। क्योकि उनमे जिस दशाका और जिस समदर्शनका विवरण १३से १९ तकके श्लोकोमे है उसमे और "विद्याविनयसम्पन्ने" (५।१८—२१) वाले समदर्शनमें जरा भी अन्तर नही है। "विद्याविनय" वाला आत्मज्ञानीका ही है यह तो सभी मानते है। इसलिये यहाँ भी उसीको माननेमे कोई उज्र नही हो सकता है। साकार भक्तिका भी पर्यवसान उसीमें है, क्योकि उस समदर्शनके विना तो मोक्ष होई नही सकता। यही कारण है कि स्थितप्रज्ञ, भक्त और ुणातीत—तीनो ही—के वर्णन एकमे ही है।

**श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यान विशिष्यते।**
**ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥१२॥**

क्योकि अभ्याससे अच्छा—कामका—तो ज्ञान है, ज्ञानसे भी अच्छा ध्यान है (और) ध्यानसे भी अच्छा—कारगर—है कर्मोंके फलोका त्याग। (क्योकि इस) त्यागसे फौरन ही शाति मिलती है।१२।

**अद्वेष्टा सर्वभूताना मैत्र करुण एव च।**
**निर्ममो निरहकार. समदु खसुख क्षमी ॥१३॥**
**सन्तुष्ट· सतत योगी यतात्मा दृढनिश्चय·।**
**मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मे मद्भक्त स मे प्रिय. ॥१४॥**

हमारा जो योगी भक्त किसी पदार्थसे द्वेष न करे, सबके साथ मैत्री और करुणाका भाव रखे, ममता और अहन्ता—माया-ममता—से रहित

हो, सुख और दु खमे एक रस रहे, क्षमाशील हो, बराबर सतुष्ट रहे, मनको काबूमे रखे, दृढ निश्चयवाला हो और मन एव बुद्धिको हममे ही जिसने अर्पित कर—बाँध—दिया हो वही हमारा प्रिय है ।१३।१४।

**यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।**
**हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥१५॥**

जिससे न तो लोग (किसी भी तरह) उद्विग्न हो, जो लोगोसे भी उद्विग्न न हो सके और जो हर्ष, क्रोध, भय और उद्वेग—घबराहट या परीशानी—(इन सबो)से रहित हो वही मेरा प्रिय है ।१५।

**अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः ।**
**सर्वारंभपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः ॥१६॥**

जो मेरा भक्त बेफिक्र या बेपर्वाह, पवित्र, चतुर (और) पक्षपात रहित (हो), जिसमे भय या परीशानी न हो (और) जो सभी प्रकारके सकल्पोसे सर्वथा रहित हो वही मेरा प्रिय है ।१६।

**यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न कांक्षति ।**
**शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः ॥१७॥**

जिस भक्तको न तो किसी चीजसे खुशी हो और न रजिश, जिसे न तो कोई चिन्ता हो न आकाक्षा और जो बुरे-भले सभीसे नाता तोड चुका हो वही मेरा प्रिय है ।१७।

**समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।**
**शीतोष्णसुखदुःखेषु समः संगविवर्जितः ॥१८॥**
**तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।**
**अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ॥१९॥**

जो शत्रु और मित्रमे सम है—जिसके शत्रु मित्र हई नही, मान-अपमानमे भी जो सम है—विचलित नही होता, शीत-उष्ण, सुख-

दु खादिमे भी जो एक ही तरह रहे, जिसे कही भी आसक्ति न हो, निन्दा और स्तुति जिसके लिये एक सी हो, जिसकी जवान कावूमे हो, (आवश्यकता होनेपर काम चलाऊ) जोई मिल जाय उसीसे जो सतुष्ट हो जाये, जिसका कोई घरवार न हो और जो अचल वुद्धिवाला हो, वही मनुष्य मेरा प्रिय है ।१८।१९।

**ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते ।**
**श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः ॥२०॥**

जो भक्तजन मेरी ऊपर वताई इन धर्म युक्त (एव) अमृततुल्य-वातोके अनुसार श्रद्धापूर्वक चलते और मेरे सिवाय अन्य किसीकी पर्वा नही करते वह मेरे अत्यन्त प्रिय है ।२०।

यहाँ १३वें श्लोकमे जो मैत्र और करुण शब्द है वह "मैत्री करुणा-मुदितोपेक्षाणा सुखदु खपुण्यापुण्यविषयाणा भावनातश्चित्त प्रसादनम्" (योग० १।३३)के अनुसार मैत्री तथा करुणा गुणवालोंके ही वाचक है । जैसे सावुनसे कपडेकी मैल हटाते है वैसे ही चित्तकी मैल हटाने और उसे न आने देनेके ही लिये ये दोनो गुण माने गये है । यदि सुखियाके साथ मैत्री न हो तो ईर्ष्या हो सकती है । इसी तरह दुखिया पर करुणा न हो तो दु खसे द्वेष हो सकता है । यही दोनो भारी मैल है ।

इसी प्रकार उद्वेगका अर्थ है घवराहट । जिसके आचरण या रहन-सहनसे औरोको तथा औरोके कामोंसे जिसे परीशानी जरा भी न हो वही सच्चा भक्त है ।

सर्वारंभपरित्यागीका अर्थ है किसी भी भले-वुरे कामका सकल्प न करे । क्योकि सकल्पके वाद जो कामना होती है वही फँसाती है ।

उदासीनके मानी है "कोई मरे कोई जिये; फक्कड घोल वताशा पिये" । यानी दुनियाके झमेलोंका जिसपर कोई असर न हो—जो किसी ओर न झुके ।

यद्यपि इन श्लोकोमे सम शब्द दोई बार आया है और उसीके अर्थमें तुल्य एक वार आया है, तथापि अन्तके सात श्लोक समदर्शनका ही चित्रण करते है और यही है आत्मज्ञान। इस अध्यायमे प्रतिपादित भक्तिका रहस्य तो वताई चुके है और वही इसका विषय है।

**इति श्री० भक्तियोगो नाम द्वादशोऽध्यायः ॥१२॥**

श्री० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सवाद है उसका भक्ति-
योग नामक बारहवाँ अध्याय यही है।

# तेरहवाँ अध्याय

यह बात बारहवें अध्यायके शुरूमे ही कह चुके है कि वह समूचा अध्याय ग्यारहवेंके बाद प्रसगवश आ गया है। इसीलिये उसे पूरा करनेके बाद पुनरपि मुख्य विषय ज्ञानविज्ञान एव उसके पदार्थोंपर आ जाना जरूरी है—उन्ही पदार्थोंपर जिनका सविस्तर निरूपण दसवें तथा प्रदर्शन ग्यारहवे अध्यायमें हुआ है। वहाँ आत्मासे ही शुरू करके प्राण, चेतना, मन आदि सभी पदार्थोंके साथ ही नदी, पहाड आदि मुख्य-मुख्य पदार्थोंका वर्णन आया है। उन्हीमेंसे कुछ प्रमुख पदार्थोंके साथ ही कितनी ही रहस्यमय वस्तुओंको ग्यारहवेंमे दिखाया भी गया है इस तरह दसवें और ग्यारहवेंका पूरा मेल है। बल्कि यो कह सकते है कि दोनो मिलके वस्तुत एक ही अध्याय है। इसीसे विभूति और योग दोनोका ही उल्लेख दसवेंमें एक ही साथ किया भी है। इसे दो भागोमे बाँटा तो गया है सिर्फ आसानीके लिये। जिससे दसवेमे मौखिक विवरण और ग्यारहवेंमें उसीका प्रत्यक्ष प्रयोग होनेसे समझनेमें आसानी हो। यही वजह है कि तेरहवें अध्यायका श्रीगणेश दरअसल विभूतियोसे ही शुरू होता है। यही उचित भी है। ग्यारहवेमे जब उन्ही विभूतियोका प्रदर्शन है तब तो मौखिक विचार या विवेचन-विश्लेषणके लिये विभूतियोको ही लिया जाना चाहिये। यह तो पहले ही कई बार कह चुके है कि मननका काम चालू रहना ही चाहिये। यही कारण है कि ग्यारहवेंके प्रयोगके बाद भी शेष अध्यायोमें वह चालू है। तेरहवेंमें भी वही शुरू होके आगे बढता है।

यही यह भी जान लेनेकी चीज है कि तेरहवें तथा चौदहवें अध्यायमें

भी इस सृष्टिका ही विश्लेषण-विवेचन है। सोलहवे एव सत्रहवेमे इस विवेचन-विश्लेषणसे होनेवाले ज्ञानके सम्बन्धकी ही. कुछ बातोका प्रकारान्तरसे निरूपण है। ज्ञानकी असली बुनियाद क्या है, उसके लिये कौन-सी चीज जरूरी है, उसमे क्या क्या बाधाये कैसे आती है, यही बाते सोलह तथा सत्रह अध्यायोमे मुख्यत आई है। रह गया बीचका पन्द्रहवाँ अध्याय। सो इसमे दोनोका मिश्रण है। कुछ दूर तक शुरूमे मुख्यतः सृष्टिकी बात है और अन्तमे प्रधानतया ज्ञानकी ही बात आई है। इस प्रकार पाँच अध्यायोका बँटवारा प्राय. दो समान भागोमे करके ज्ञानविज्ञानका निरूपण एक प्रकारसे पूरा कर दिया गया है। अठारहवेंमे समस्त गीता-का उपसहार है। इसीलिये स्वभावत. ज्ञानविज्ञानकी भी बाते आई ही है, जैसा कि त्रिगुणात्मक पदार्थोंके निरूपणसे स्पष्ट है।

हाँ, विभूति सबधी पदार्थोंको देखने और जाननेके बाद जो पहला सवाल किसी भी समझदारके मनमे हो सकता है वह यही कि आखिर इन सभी भौतिक या प्राकृतिक पदार्थोंका निर्लेप आत्मासे ताल्लुक क्या है और क्यो है? यदि कुछेकका सम्बन्ध रहे भी, तो भी सभी महाभूतो और पर्वतादि भीषण पदार्थोंसे क्या ताल्लुक? अगर यह भी मान ले कि क्लिष्टसे क्लिष्ट और भीषणसे भीषण हिम-प्रदेशो तकमे भी जीवोकी सृष्टि तो मिलती ही है, उस जीवसे सूना तो कोई पदार्थ हुई नही, तो सवाल होता है कि काजीको शहरकी फिक्रसे दुबले होने तथा मरनेकी क्या जरूरत? अर्जुन चला था अपनी शकाये मिटाने। उसे थी अपनी आत्माके कल्याणकी चिन्ता। फिर सारे ससारके इस पँवारेकी क्या जरूरत? और अगर यही मान ले कि आत्मा तो एक ही है और उसीके ये अनन्त रूप है, इसीलिये सभीकी फिक्र करनी ही पडती है, तो प्रश्न होता है कि ये अनन्त रूप हुए क्यो और कैसे? यह आत्मा इस भारी बलामे आ फँसी क्योकर? इन वाहियात पदार्थोंसे इसका मेल भी क्या है कि

इनमें आ फँसी ? यदि ये पूर्व जानेवाले हैं तो वह पच्छिम। फिर यह क्या हो गया कि दोनोकी जुटान आ जुटी और सारी विडम्बना खडी हो गई ? इस तरहके प्रश्नोका उठना निहायत अनिवार्य है। कृष्ण इसे बखूबी समझते थे। यही कारण है कि विना पूछे ही इनका उत्तर देना तेरहवे अध्यायके पहले श्लोकसे ही शुरू कर दिया।

सचमुच गीताका यह अध्याय बहुत ही सुन्दर है। इसकी व्यावहारिक उपयोगिता होनेके साथ ही निरूपणकी शैली कितनी सरस और चित्ताकर्षक है ! देखिये तो सही, आखिर खेतोका और खेतिहर किसानका भी क्या ताल्लुक होता है। किसान जब चाहे छोडके भाग जा सकता है। उसीने तो खेतोको अपनाया है और उनके हानि-लाभकी जवाबदेही माथे पर अपने मनसे ही ली है। परिणाम यह होता है कि वह खेतोके साथ बँध जाता है, उसका उनके साथ अपनापन हो जाता है, उन्हें वह अपना—निजी—मान बैठता है। हालाँ कि जमीदार और सरकार पद-पदपर उसे उनसे बेदखल करनेको तैयार रहती हैं। बेदखल कर भी देती हैं। फिर भी उसका अपनापन पिंड नही छोडता और वह छाती पीटके मरता है। बेदखलीके पहले भी न सिर्फ उनकी उपजके ही लिये जवाबदेह होता है, किन्तु उनसे होनेवाले हानि-लाभका भी उत्तरदायित्व उसी पर होता है। वह उसीके पीछे मरता रहता है। इतना ही नही। यो तो उसने अपने मनसे उन्हे हथियाया था। मगर अगर यो ही उन्हें छोड भागना चाहे तो जाने कितनी ही कानूनी-गैरकानूनी अडचनें खडी हो जाती हैं, जिनके करते छोडके भाग भी नही सकता। इस बुरी गतिके लिये बेशक उसकी नादानी, बेअक्ली और पस्तहिम्मती ही जवाबदेह है। यह बात हमारी नजरोके सामने रोज ही गुजरती है।

बस, ठीक यही हालत आत्माकी है। वह खेतिहर है, खेती करने-

वाला है, खेतोकी सारी बाते जानता है कि खेत कैसे है, किनमे क्या पैदा होता है, हो सकता है, वगैरह-वगैरह । वह क्षेत्रज्ञ है, क्षेत्री है । और ये इन्द्रियादि भौतिक पदार्थ ? यही तो खेत है, क्षेत्र है । यही तो लम्बे-चौडे चारो ओर फैले है और जाने हजारो तरहकी बुरी-भली फसले पैदा करते रहते है । इन्हीके मालिक आत्माराम है । वह इन्हीको लेके परीशान है, पामाल हो रहे है, जल-मर रहे है । इन खेतोके भी दो विभाग है, व्यष्टि और समष्टि । व्यष्टि या टुकडे-टुकडेके भीतर सभीके जुदे-जुदे शरीर वगैरह आ जाते है । समष्टि, जो एक जगह मिली-मिलाई चीज है, के भीतर, प्रधान या मूल प्रकृति, महत्तत्त्व, अहकार आदि आ जाते है । यह बात हम पहले ही बखूबी बता चुके है । वही कह चुके है कि महत्, महत्तत्त्व या महान् नाम समष्टि बुद्धिका ही है । इसी बातको इस तेरहवेके शुरूमे ही अच्छी तरह लिख दिया है । आत्माके शरीरके ही भीतर इस स्थूल शरीर और प्रकृतिको लिखा है । उसके बाद इससे सम्बन्ध रखनेवाली सभी चीजोका ब्योरा भी दिया है । इस तरह समूचे ससारको शरीर और शरीरवाले या शरीरी—देही—के रूपमे दो हिस्सोमे बाँट दिया है और कह दिया है कि यह सब ब्रह्म, आत्मा या परमात्माका ही—मेरा ही—पसारा है । जब शरीरकी सारी बातोकी जवाबदेही शरीरी पर ही है यह रोज ही देखते है, इसीलिये शरीरके सुख-दु खोको भी उसे ही भोगना पडता है, तो फिर समूचे ससारकी बला भी उसीके माथे क्यो न आये ? जैसे रस्सीका काम है किसी पदार्थको कही बाँध देना, फाँस देना, रस्सीको गुण या गोन भी कहते है, ठीक उसी तरह तीनो गुणोने इस खेतिहर आत्मारामको शरीरमे बाँध और फाँस दिया है । यही बात "कारण गुणसगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" (१३।२१)में कही गई है । जिस तरह वेश्या किसी भोले-भालेको फँसाके उसे खराब कर डालती है, वैसे ही प्रकृति अपनी अनेक वेषभूषा बनाके आत्माको फँसा

लेती और तवाह कर डालती है। यही वात "पुरुष प्रकृतिस्थो हि भुक्ते प्रकृतिजान् गुणान्" (१३।२१)में कही गई है।

प्रश्न होता है कि क्षेत्रज्ञ इन क्षेत्रोमे खुद ही बँध तो गया है। अब इनसे पिंड छूटनेमे दिक्कत भी है। वेश्याने इस भोले-भालेको अनजानमें फँसा लिया है सही। काफी वर्बाद भी कर डाला है। मगर क्या इस आफतसे छूटनेका कोई उपाय नही है? और अगर है तो कौन सा?

उत्तर है कि उपाय जरूर है। जब हम सारी वातें ठिकानेसे समझ जायँ, अपनी हालत वखूवी जान जायें, हमारा क्या अधिकार है, हम क्या कर सकते है, फँसनेकी वजह क्या है, आदि चीजे जान लें, तो हिम्मत कर इन्हें उठा फेंकेगे। दूसरा रास्ता है नही। इसके लिये खेतोका पूरा ब्योरा और शुरूसे उनका इतिहास भी जान लेना जरूरी है कि ये कव कैसे तैयार हुए और हम इनमे कैसे-कैसे फँसे। क्योकि इसी जानकारीसे हमें काफी वजहें मिल जायँगी, जिनके वलपर वाजीदावा देके हट जायँ। और माकूल वजह होनेपर इसमे अडचन भी क्यो होगी? यही वात शुरूके "महाभूतान्यहंकार" प्रभृति श्लोकोमे है। इनमें खेतोका कच्चा चिट्ठा है। "अमानित्वमदंभित्व" आदिमे जानकारीके उपाय बताये गये हैं जिससे हम पूरे आगाह हो जायँ और हिम्मत ला सके। वेश्याका कच्चा चिट्ठा जान लेनेपर ही, उसके सभी गुणो—सभी कारनामो—को बखूबी समझ लेनेपर ही, उसके जालसे छूट सकते हैं। इसीलिये प्रकृतिका ब्योरा दिया गया है, ताकि जानकर सजग हो सके। इन्ही सब बातोको दिमागमें रखके—

श्रीभगवानुवाच

**इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।**
**एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः ॥१॥**

श्रीभगवान कहने लगे (कि) हे कौंतेय, इस शरीरको (ही) क्षेत्र—खेत—कहा जाता है (और) जो इसे बखूबी जानता है उस (आत्मा)को ही उसके जानकार लोग क्षेत्रज्ञ या खेतिहर कहते है ।१।

**क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।**
**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ।।२।।**

हे भारत, सभी क्षेत्रोमे (रहनेवाला) क्षेत्रज्ञ भी मुझीको जानो। (इस तरह) क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो ज्ञान है वही ज्ञान मै ठीक मानता हूँ ।२।

यहाँ 'भी'के मानीमे जो 'च' आया है, और इसीकी ओर इशारा करते हुए उत्तरार्द्धमे जो क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ दोनोका उल्लेख है उससे भी, यही मानना पडता है कि 'भी' कहनेसे क्षेत्र ही लिया जाना चाहिये। इस तरह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ दोनो ही परमात्मा या ब्रह्मसे जुदा सिद्ध नही होते। फलत अद्वैतवाद स्थापित होता है। इसी अद्वैत ज्ञानको कृष्ण अपना मत, निजी मन्तव्य कहते हुए सही बताते है। यहाँ सभी क्षेत्रोमे-के अर्थमे "सर्वक्षेत्रेपु" कहके 'क्षेत्रज्ञ' जो एक वचन दिया है उसका आशय यही है कि एक ही आत्मा सबमे व्याप्त है। उसीके ये अनन्तरूप है, शरीर है और सब कुछ है। इसीलिये अर्जुनके वास्ते सभीकी जानकारी और चिन्ता जरूरी थी।

**तत्क्षेत्र यच्च यादृक्च यद्विकारि यतश्च यत् ।**
**स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु ।।३।।**

वह क्षेत्र जो कुछ है, जितने प्रकारका है और उसके जितने विकार या कार्य है, (साथ ही) वह (क्षेत्रज्ञ) भी जो कुछ है और उसका जो प्रभाव है, सभी कुछ सक्षेपमे मुझसे सुन लो ।३।

**ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक् ।**
**ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः ।।४।।**

ऋषियोने (यही बात) वहुत ढगसे वर्णन की है, वेदके अनेक मत्रोने जुदा-जुदा (कही है) और ब्रह्मप्रतिपादक उपनिषद वाक्योने भी तर्क-युक्तिके साथ निश्चित रूपसे वताई है।४।

इस श्लोकमें इस विषयके प्रमाणोको कह चुकनेके वाद अगले श्लोकमें क्षेत्र-क्षेत्रज्ञकी पूर्वोक्त सारी बातें कहना शुरू करेंगे और इस प्रकार तीसरे श्लोकमें छिडी बातोको वतायेंगे। यही बात १८वे श्लोक नक जायगी। उसके वाद इन्हीका विशेष विश्लेषण चलेगा। यहाँ ऐसा कहनेका प्रयोजन यही है कि यह एकदम कोई नई बात नही है जिसे पहले पहल कृष्ण ही कह रहे हो। क्योकि सृष्टि और उससे आत्माका सम्बन्ध यह चीज वहुत ही पुरानी है। इसीलिये इसपर ऋषि-मुनियो, वैदिक मत्रो और उपनिषदोका ध्यान जाना जरूरी था। और अगर फिर भी न गया है, तो हो न हो कुछ बात है, ऐसा खयाल हो सकता था। फलत आगेके उपदेशोमें अश्रद्धाकी गुजाइश भी हो सकती थी। इसलिये पहले ही कह दिया कि ये बाते अपने-अपने ढगसे पहले भी सबने खूब ही लिखी है। कर्म-अकर्म या कर्मयोगकी वात तो जुदी है। इसलिये उसमे मतभेद या नवीनताकी गुजाइश हो सकनी है। वह मानी भी जा सकती है। मगर जिस आत्मज्ञानके आधारपर वह बात कही गई है उसमे ही यदि गडबड हो तो समूचा आधार ही खत्म समझिये। यह भी नही कि इसमें भी मतभेद रहेगा ही। यह तो कर्तव्यकी बात न होके वस्तुस्थिति या ठोस चीज (hard fact)की बात है न? और अगर इसमें ही मतभेद या नवीनता चले तो सर्वत्र अविश्वास ही अविश्वास हो जायगा। इसीलिये यह कह देना जरूरी था कि इसमें सभीकी एक ही राय है। हाँ, कहनेका तरीका जुदा-जुदा जरूर है।

इस श्लोकमें ऋषियो, वैदिक मत्रो और ब्राह्मणो या उपनिषदोके वचनोका निर्देश है। वैदिक मत्रोके द्रष्टा या बनानेवाले बहुतेरे ऋषियोको

तो मानते ही है। उन्हीकी ओर इशारा करते हुए उपनिषदो तथा ब्राह्मण-ग्रथोमे प्राय जगह-जगह लिखा पाया जाता है कि "ऐसा तो ऋषिने भी कहा है" "तदुक्तमृषिणा"। वेदमत्रोके रूपमें ही सही या और रूपमें भी सही। हर हालतमे ऋषियोने पहले बहुत कुछ कहा है जरूर। वह लोग स्वतत्र रूपसे आत्मा और सृष्टिका विवेचन न करते, भला यह कैसे सभव था? उनका तो यही काम ही था। इस तरह एक तो उनका स्वतत्र कथन है। दूसरे वैदिक मत्रोमे भी "नासदीय सूक्तमे", जो ऋग्वेदके दसवे मंडलका १२९वाँ सूक्त माना जाता है, तथा अन्यान्य बीसियो मत्रोमे ब्रह्मसे इस सृष्टिके विस्तारका उल्लेख है। वैदिक मत्रोको ही यहाँ छन्द पदसे लिया है। "एक सन्त बहुधा कल्पयन्ति" (ऋग्वेद १०।११४।५), "एक सद्विप्रा बहुधा वदन्ति" (ऋ० १।१६४।४६), "देवाना पूर्व्येयुगेऽसत सदजायत" (ऋ० १०।७२।२), तथा "द्वासुपर्णा सयुजा" (१।१६४।२०) आदिमे कितना सुन्दर और वाद-विवादात्मक वर्णन है! पुरुषसूक्तमे, जो यजुर्वेदमे भी पाया जाता है, यही बात कितनी विशद रूपमे है! वैदिक मत्रोके सिवाय वेदके ही ब्राह्मण भागमे जो उपनिषद माने जाते है उनमे तो इस सृष्टिका वर्णन तर्क और युक्तियोके साथ आया ही है। यदि केवल छान्दोग्यके छठे अध्यायको ही देखे तो तबीअत खुश हो जाय। यो तो प्रश्न, श्वेताश्वतर आदिमे भी यही बाते आती है। वहाँ भी पूरा वाद-विवाद एव गभीर विवेचन पाया जाता है। मुण्डकोपनिषद (३।१।१)मे तो ऋग्वेदका "द्वासुपर्णा सयुजा" मत्र ही ज्योका त्यो आया है।

छान्दोग्यके छठे अध्यायके दूसरे ही खडमे पहले कहा है कि सृष्टिके पहले केवल सत् या ब्रह्म था और उसीसे सृष्टि हुई "सदेवसोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्"। उसके बाद ही कुछ मतवादोका उल्लेख करके और यह कहके कि वह तो पहले असत् या शून्य ही मानते और उसीसे

सृष्टिका पसारा स्वीकार करते है, यह सुन्दर तर्क दिया है कि भला यह कैसे होगा ? भला, असत्से यह विरोधी सत् पदार्थ कभी पैदा हो सकते है ? "कुतस्तु खलु सोम्यैव स्यादिति होवाचकथमसत सज्जायत" ? भला, इससे बढके निश्चित और तर्कयुक्त बात और क्या हो सकती है ? इसी अध्यायमे पूर्वोक्त वटबीजका दृष्टान्त देके समझाया गया है। यह भी कहा गया है कि जल, अग्नि आदिसे ही उसके मूल कारण ब्रह्मका पता लगता है। ऐसी ही हजारो युक्तियाँ देके और विश्लेषण-विवेचन करके ब्रह्मका तर्क-दलीलके साथ अत्यन्त निश्चित प्रतिपादन किया गया है। इन्ही वचनोको इस श्लोकमें ब्रह्मसूत्रपद या ब्रह्मके सूचक एव प्रतिपादक वाक्य कहा है। इसपर विशेष विचार पहले ही हो चुका है।

महाभूतान्यहकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैक च पच चेन्द्रियगोचरा ॥५॥
इच्छा द्वेष सुख दु ख सघातश्चेतना धृति ।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम् ॥६॥

पाँच महाभूत, जिन्हें पचतन्मात्रा या सूक्ष्म भूत कहते है, अहकार, समष्टिबुद्धि या महत्तत्त्व, प्रकृति, ग्यारह इन्द्रियाँ, इन्द्रियोके पाँच विषय, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, जो इन्द्रियोंके सम्बन्धसे सुख-दुःखका अनुभव करता है, चेतनता या बुद्धि और धैर्य—सक्षेपमे यही क्षेत्र और उसके विकार—कार्य—कहे गये है।५।६।

इस पर यहाँ ज्यादा लिखनेकी जरूरत नही। पहले ही पूर्ण प्रकाश डाल चुके है। सांख्य दर्शनमे प्रकृति, महान्, अहकार और पचतन्मात्रा ये आठ, दस इन्द्रियाँ और अन्त करण ये ग्यारह और इन्द्रियोके रूप, रस आदि पाँच विषयोको मिलाके सोलह, इस प्रकार कुल चौवीस पदार्थ मानके प्रकृति या प्रधानको मूल माना है। वही यहाँ तीसरे श्लोकका क्षेत्र है। जिन सातको उसके बाद गिनाया है ये प्रकृति-विकृति कहाते

है। प्रकृतिसे पैदा होनेसे विकृति या विकार और कार्य कहे जाते है। खुद इन्द्रियादिको पैदा करनेके कारण ही प्रकृति या कारण भी कहे जाते है। तीसरे श्लोकमे जो क्षेत्रके प्रकारका उल्लेख है वह यही सात है। प्रकृति-विकृतिकी जगह यादृक् या जितने प्रकारका कह दिया है। शेष सोलह और इच्छादि सात कुल तेईसको यहाँ विकार, विकृति या कार्य कहा है। साख्यके सोलहकी सख्याको कुछ और भी बढा दिया है। दूसरा फर्क नही है। इसका और भी विस्तार हो सकता है। इसीलिये कह दिया है कि सक्षेपमे ही इतने गिनाये है।

तीसरे श्लोकमे "जिससे जो बनता या होता है"—"यतश्चयत्"—भी एक बात कही गई है। उसका उत्तर या विवरण आगेके पाँच श्लोकोमे है। तीसरे श्लोकमे इसके बाद ही क्षेत्रज्ञकी बात आ गई है, जिसका विवरण इन पाँच श्लोकोके बाद ही १२वेंसे १७वे तकमे आया है। फिर १८वेमें सभीका उपसहार कर लिया है। यहाँतक तो तीसरे श्लोककी बाते सक्षेपमे ही कह दी गई है। इसीलिये १९वेंसे फिर विशेष विवरण और निरूपण क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ही बारेमे चला है, न कि अन्य ब्योरेके बारेमें। अठारहवेंमे लिखा है कि क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय—क्षेत्रज्ञ—को कह चुके। उससे पता चलता है कि पाँच श्लोकोमे जो ज्ञानकी बात आई है वही "यतश्चयत्" का उत्तर या विवरण है। इन शब्दोका मोटा अर्थ यह है कि "जिससे जो हो सके"। साढे चार श्लोकोमे जो कुछ गिनाया है वह ज्ञानोत्पत्तिके साधन है। उनके बिना ज्ञान होई नही सकता। उनमे हरेक ज्ञानके लिये अनिवार्य रूपसे अपेक्षित है, जैसा कि उनके नामोसे ही स्पष्ट है। कुल २१ बाते गिनाई गई है और सभी ऐसी ही है। यो तो "जन्ममृत्युजराव्याधि" (१३।८)मे चारोके अलग-अलग दुख एव दोष देखनेसे आठ हो जा सकते है। फलत २१की जगह २७ हो जायँगे। शेष आधे या ग्यारहवेके उत्तरार्द्धमे कह दिया है कि ये ज्ञान है और इनसे उलटी

बातें हैं अज्ञान हैं। ज्ञानके साधन होनेसे ही इन्हें ज्ञान कह दिया है। इसी तरह अज्ञानके साधन या पैदा करनेवाले अभिमान, दभ, हिंसा आदिको अज्ञान भी इसीलिये कह दिया हैं। इससे साफ हो गया है कि किनसे ज्ञान पैदा होता है और किनसे अज्ञान। इस तरह जिससे जो पैदा होता है यह जो तीसरे श्लोकमे कहा गया है उसका विवरण इन पाँचोमें पूरा हो गया। पाँचोने कह दिया कि अभिमान-शून्यता आदिसे ज्ञान होता है और अभिमान आदिसे अज्ञान।

अमानित्वमदभित्वर्माहिसा क्षातिरार्जवम्।
आचार्योपासन शौच स्थैर्यमात्मविनिग्रह· ॥७॥
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहकार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधि दु खदोषानुदर्शनम् ॥८॥
असक्तिरनभिष्वग पुत्रदारगृहादिषु।
नित्य च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु ॥९॥
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनससदि ॥१०॥
अध्यात्मज्ञाननित्यत्व तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञान यदतोऽन्यथा ॥११॥

अभिमान-शून्यता, दभ या दिखावटी कामकी शून्यता, अहिंसा, क्षमा, नम्रता, आचार्य या उपदेशककी सेवा-शुश्रूषा, पवित्रता, स्थिरता, मनपर काबू, इन्द्रियोके विषयोसे वैराग्य, अहकारका त्याग, जन्म-मृत्यु-बुढापा-रोग इन चारोंके दु खो और बुराइयोका निरन्तर खयाल, पुत्र-स्त्री-घरबार आदिमे आसक्तिका त्याग तथा इनमे तन्मयताका न होना, बुरी-भली बातें हो जानेपर भी हमेशा चित्तमे उनका असर होने न देना, भगवान या आत्मामे ऐसी अनन्य भक्ति जो कभी डिग न सके, एकान्त स्थानका सेवन, लोगोके भीड-भडक्केमे रुचिका न होना, अध्यात्मशास्त्रमे निरन्तर

लगे रहना और तत्त्वज्ञान या आत्मसाक्षात्कारके प्रयोजनपर नजर रखे रहना, यही ज्ञानके साधन है। इनके विरुद्ध अभिमान, दभ आदि अज्ञानको पैदा करते और बढाते है।७।८।९।१०।११।

ज्ञेयं यत्तत्प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते ॥१२॥
सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥१३॥
सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च ॥१४॥
बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत् ॥१५॥
अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च ॥१६॥
ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य विष्ठितम् ॥१७॥

जो जानने योग्य—क्षेत्रज्ञ—है और जिसके ज्ञानसे मोक्ष मिलता है वही वस्तु अभी-अभी कहे देता हूँ। (वह वस्तु) आदि शून्य परब्रह्म ही है। वह न तो स्थूल और कार्य कहा जाता है और न सूक्ष्म और कारण ही। उसके हाथ, पाँव, आँख, सर और मुँह सभी जगह है—अर्थात् वह सर्वत्र मौजूद है। उसके कान (भी) सर्वत्र है। वह सभी पदार्थोको घेरे पडा है। सभी इन्द्रियोके कामोमे वह लिपटासा रहता है (जरूर)। (मगर वस्तुत ) सभी इन्द्रियोसे रहित है। कही भी चिपका नही है। (फिर भी) सबोको कायम रखता है। निर्गुण है। (साथ ही) गुणो (के कामो और फलो)को भोगता (भी) है। सभी पदार्थोके बाहर भी है और भीतर भी। (स्वयमेव) चर, अचर (पदार्थ रूपी भी) है। सूक्ष्म

होनेसे ही वखूवी जाना नही जा सकता । दूर भी है (और) नजदीक भी । पदार्थोंमें बँटा न होके सबमें एकरस है । (मगर) अलग-अलग जैसा लगता है । पदार्थोंका भरण-पोषण करनेवाला उसीको जानना चाहिये । वही सबको ग्रस लेनेवाला और बनानेवाला भी है । वह ज्योतियोको भी ज्योति देनेवाला (तथा) अँधेरेसे परे माना जाता है । (वही) पूर्वोक्त ज्ञान है और ज्ञेय भी । ज्ञानके द्वारा प्राप्त करने योग्य भी वही है । वही सबोंके हृदयोमे मौजूद है ।१२।१३।१४।१५।१६।१७।

इन श्लोकोमें जो कुछ भी वर्णन है वह अलकारिक होनेके साथ ही वास्तविक स्थितिसे पूरा ताल्लुक रखता है । यही इसकी खूबी है । आत्माके बारेमें जो कुछ हमने पहले लिखा है यदि उसे अच्छी तरहसे हृदयगम कर लिया जाय तो ये सारी बाते बखूबी समझमें आयें । इन्हें पढके मजा भी आये । हाँ, एक बात कह देना जरूरी है । आत्मा तो ऐसी ठसाठस भरी हुई जैसी है कि उसमे विभाग करने या उसे अलग-अलग देखनेकी गुजाइश हई नही, बशर्त्ते कि हमारी दृष्टि ठीक हो । आखिर इचभर भी, अणु या वालभर भी कोई जगह है नही जो खाली हो । जहाँ कुछ नही वहाँ अनन्त परमाणु ही मौजूद हैं, या अगर और नही तो दिशा और काल (Space and time) तो हई, और वह है इन सबोकी आत्मा । इसीलिये वीच-वीचमे फाँक पडनेकी सभावना ही कहा है ? फलत चाहे हम कुछ वोले, कही जायँ, कही हाथ वढाये, किधर भी मुँह, सर या आँखे करके इशारा करे, सर्वत्र सब कुछ जानने-सुननेके लिये वह मौजूद ही है । उसके विना टिके कौन ? और न टिकनेमें भी तो निषेध रूपसे (negatively) उसे रहना ही पडता है ।

यहाँ ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य ये तीन बातें कही गई-है । इनमे दो तो पहले ही आ चुकी है—ज्ञान और ज्ञेय । इसीलिये उचित समझते है कि उन्हीका उल्लेख इन श्लोकोमें माना जाय, न कि सर्वसाधारण

ज्ञान और ज्ञेयका। १८वे श्लोकमे भी, जो आगे आ रहा है, उसी ज्ञान और ज्ञेयका नाम लिया है। अतएव बीचमे दूसरे ज्ञान और ज्ञेयको लेना हमने उचित नही समझा। तब तो जबर्दस्तीसी हो जाती—अकाड ताडव बन जाता। एक बात और भी इस ज्ञान और ज्ञेयके ही सम्बन्धमे जान लेनेकी है। पहले भी "क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञान" (१३।२)मे ज्ञानकी बात आई है। वहाँ ज्ञेयकी जगह क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ आये है। बेशक "अमानित्व" आदिमे जो ज्ञान शब्द है वह ज्ञानके साधनोके ही लिये आया है। मगर इसके यह मानी हर्गिज नही कि उससे उन साधनोका ही बोध होता है, न कि ज्ञानका भी। उसका तो असली मतलब यही है कि इन्ही साधनोसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञका यथार्थ ज्ञान हो सकता है, उसीसे हम इन दोनोकी हकीकत जान सकते है। फिर भी "क्षेत्रक्षेत्रज्ञयो" इस षष्ठीके रहनेके कारण उन दोनोके ज्ञेय या ज्ञानके विषय होनेपर भी उस ज्ञेय और इस ज्ञेयमे फर्क है। वहाँ ज्ञान ही प्रधान और वही दोनो अप्रधान है। क्योकि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके जो रूप है और जिनका ज्ञान होता है वह तो मायामय है, कल्पित है। उनकी भी हकीकत तो ब्रह्मात्मा ही है। इसीलिये षष्ठी लिखके उन्हे अप्रधान या अमुख्य बना दिया है। मगर यहाँ तो साफ ही 'ज्ञेयम्' लिखा है। इसलिये यह मुख्य है। अतएव 'ज्ञानगम्य' विशेषण यहाँ लगा दिया है। इसका आशय यह है कि ज्ञानके द्वारा अन्तमे हमे वही पहुँचना है। फिर वह असल और हकीकत क्यो न हो ? ऊपरके श्लोकोमे जिन अनेक रूपोमे इस ब्रह्मात्माको दिखाया है कही लोग उन रूपोको ही ठीक न मान बैठे इसलिये भी 'ज्ञानगम्य' कह दिया, जिससे स्पष्ट हो गया कि ये सब रूप या ढग केवल उसे जानने, देखने या नजरमे लानेके लिये ही है, न कि वही वस्तुगत्या इन रूपोवाला है। इस तरह उसके प्रभावकी भी जानकारी हो जाती है। यह बात 'यत्प्रभावश्च'मे पहले ही आई थी भी।

अब आगेके श्लोकमे यहाँतक कही गई सभी बातोका उपसहार करते हुए इसकी आवश्यकता भी बता देते है। किन्तु उसके बाद पुनरपि क्षेत्र या प्रकृतिका विशेष ब्योरा जानना जरूरी है। क्योकि उसके गुणो और चालोको जाने बिना उससे पार पा नही सकते। साथ ही, क्षेत्रज्ञ उसमें किस तरह फँसता है यह भी जान लेना जरूरी होनेके कारण उसका भी कुछ ब्योरा आगे दिया गया है। इस तरह "यो यत्प्रभावश्च" इन दोनोका विशेष विवरण भी हो जाता है। खासकर 'य' या 'जो'का विवरण बहुत जरूरी है। क्योकि वह अभी अच्छी तरह बताया जा सका है नही।

**इति क्षेत्रं तथा ज्ञान ज्ञेयं चोक्तं समासत.।**
**मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते ॥१८॥**

सक्षेपमे क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय यही कहे गये है। मेरा भक्त इसे ठीक-ठीक जानके मेरा ही रूप हो जाता है।१८।

उत्तरार्द्धसे तो यह भी स्पष्ट है कि जिस भक्तिकी बात बारहवें अध्यायमे आई है वह साधन ही है। उसका भी नतीजा अन्तमें यह ज्ञान ही है, जिसे विज्ञान या आत्मसाक्षात्कार कहते हैं। आखिर भक्त कहनेके बाद और मेरा स्वरूप बननेके पहले पूर्वकालिक क्रियाके रूपमे जो 'विज्ञाय' बीचमे आ गया है उसका स्वारसिक अभिप्राय और होई क्या सकता है? यदि हठ या पक्षपात छोडके देखे तो मानना होगा कि पहले भक्ति होनेसे भक्त बने, फिर विज्ञान हुआ और उसके बाद अन्तमें मुक्ति हुई। हाँ, यह विज्ञानी भी भक्त होता है। मगर वह तो "चतुर्विधा" (७।१६-१९) के "तेषा ज्ञानी नित्ययुक्त" शब्दोमें ही कहा जा चुका है।

**प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।**
**विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥१९॥**

प्रकृति और पुरुष या क्षेत्र एव आत्मा इन दोनोको ही अनादि समझो।

(इनमे भी) (सभी पूर्वोक्त) विकारों और गुणोको भी प्रकृतिसे ही उत्पन्न जानो ।१६।

यहाँ अनादि कह देनेसे यह प्रश्न जाता रहा कि आत्माके फँसने या प्रकृतिके ससर्गमें आनेकी क्या जरूरत थी। क्योकि यह चीज तो कभी शुरू हुई नही कि इसकी वजह बताई जाय। यह तो सदासे ऐसी ही बनी है ।

**कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते ।**
**पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते ॥२०॥**

कार्य और करणको बनानेमे कारण प्रकृति ही है । पुरुष (तो सिर्फ) सुख-दु खोके भोगनेमे ही कारण है ।२०।

पूर्वके श्लोकके उत्तरार्द्धमे जो कहा गया है,कि सभी विकारो या कार्यों और गुणोको प्रकृति ही पैदा करती है,' उसीका स्पष्टीकरण इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें है । इसीलिये कार्य शब्दका अर्थ है व्यष्टि तथा समष्टि शरीर । इसी प्रकार करणके मानी है व्यष्टि-समष्टि सभी इन्द्रियाँ, जिनमे बुद्धि आदि आ जाती है । इन्हीसे सब ससार चलता है । कही-कही कार्य-कारण पाठ है । उस दशामे पूर्वोक्त महत्तत्त्वादि सातको कारण और शेष इन्द्रियादिको कार्य कहनेमे ही तात्पर्य है । गुण शब्दके मानी है गौण या पीछे बनी इन्द्रियादि और तीनो गुण भी । हर हालतमे समस्त ससार ही आ जाता है । केवल एक ही बातकी कमी रह जाती है, जिसे सुख-दु खादिका भोग कहते है । क्योकि उसके बिना ससार पूरा कैसे होगा ? यदि सुख-दु खादि किसीको भोगना न हो तो ससार कैसा ? तब तो सारा मामला ही फीका हो जाय । इसलिये उसकी पूर्त्ति उत्तरार्द्ध कर देता है कि पुरुष या आत्माके ही चलते भोग होते है । यदि वह न हो तो इन्द्रियादि जड पदार्थ कुछ करी न सके । इसीलिये तो पुरुषकी सत्ता भी मानना जरूरी हो जाती है । प्रकृति एव उससे बने पदार्थ तो जड़

है, अन्धे हैं। वह भोगका काम करी नही सकते, सभी बातोको नियन्त्रणके द्वारा मिलाजुलाके (Coordinate) रख नही सकते और बिना इसके भोग हो नही सकता। भोगके मानी ही है सभी चीजोको जोड-जाडके सामने लाना। जैसे समष्टिके नियमन आदि (Coordination)के लिये अगत्या ईश्वरकी सत्ता माननी पडती है, वैसे ही व्यष्टिके लिये आत्माकी। आगे यही तर्क दिया भी है।

**पुरुष. प्रकृतिस्थो हि भुक्ते प्रकृतिजान् गुणान्।**
**कारण गुणसगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु ॥२१॥**

क्योकि पुरुष ही प्रकृतिके सम्बन्धसे ही उसमे उत्पन्न त्रिगुण पदार्थोको भोगता है। (इस तरह जो) इन गुणोमे उसकी आसक्ति है वही उसके भले-बुरे जन्मोका कारण है।२१।

**उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।**
**परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन् पुरुष. पर ॥२२॥**

(असल बात यह है कि) इस देहमे (यह जो) परमपुरुष है वह तो अलग होके सभी बातोको सिर्फ देखता (और इसी रूपमे) अनुमोदन करता है, कायम रखता है और (अन्तमे उन्हे) भोगता भी है। (वही) महेश्वर और परमात्मा भी कहा गया है।२२।

साक्षी होनेसे ही उपद्रष्टा कहा गया है। चेतनके बिना जड पदार्थो-का काम हो नही सकता। कही न कही मूलमे चेतन चाहिये ही। यही अनुमोदन है जिसे हमने सम्मेलन और नियत्रण (Coordination) कहा है। यदि ऐसी शक्ति न हो तो सभी चीजे तख्ड-पख्ड हो जायँ। भर्त्ता कहनेका भी यही आशय है। इस तरहके दूरके ससर्गसे ही वह भोगनेवाला बन जाता है। क्योकि शीशेमे दूरस्थ रक्तपुष्पका प्रतिबिम्ब पडके वह भी लाल नजर आता ही है। उसी तरह इन्द्रियादिके सारे अनर्थ उसमे प्रतिबिम्बित होते है। यही भोग है। लेकिन यह प्रतिबिम्ब

जैसा ही है। इसीलिये वस्तुत यह आत्मा महेश्वर ही है, परमात्मा ही है।

**य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिं च गुणैः सह।**
**सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते ॥२३॥**

(इसीलिये) जो पुरुषको और प्रकृतिको भी गुणोके साथ इस तरह ठीक-ठीक जान जाता है वह चाहे किसी भी दशामे रहे, (फिर भी) पुनर्जन्म नही पाता।२३।

**ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।**
**अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे ॥२४॥**
**अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।**
**तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः ॥२५॥**

कुछ लोग ध्यानसे ही अपने ही भीतर अपने आप आत्माको (इस प्रकार) देखते है—साक्षात् करते है। दूसरे लोग साख्ययोगसे ही (ऐसा करते हैं) तथा तीसरे (दलवाले) कर्मयोगसे ही। लेकिन इस प्रकार नही जान सकनेवाले कुछ लोग तो दूसरोसे सुनके ही उपासना करते है। सुननेके अनुसार ही पूरा अमल करनेवाले वे भी जन्ममरणसे छुट्टी पाई जाते है।२४।२५।

ये दोनो श्लोक कुछ अजीवसे है। विशेष विचार न कर सकनेवाले इनसे धोकेमे पड़के आत्मज्ञानके चार स्वतत्र मार्गोका प्रतिपादन इन श्लोको-मे मान बैठते है, हालाँकि "लोकेऽस्मिन् द्विविधा" (३।३)के अनुसार पहले वही लोग दोई स्वतत्र मार्ग मानते है। इस तरह इन श्लोकोके करते उन्हे भी घपलेमे पडना पडा है। लेकिन सच पूछा जाय तो इनमे ऐसी कोई बात है नही।

२४वेके पूर्वार्द्धमे उसी समाधिका वर्णन है जिसका सविस्तर निरूपण छठे अध्यायमे और उससे पहले भी आया है। यही तो ज्ञानप्राप्तिकी

अन्तिम सीढी है । मगर जो वहाँतक न पहुँच सके हो उनके ही लिये उसी श्लोकके उत्तरार्द्धमे नीचेकी दो सीढियाँ कही है । ऐसे लोग दो तरहके होते है, जैसा कि "तत्स्वय योगसंसिद्ध" (४।३८) और "सग त्यक्त्वात्म-शुद्धये" (५।११)मे कहा गया है, उसीके अनुसार कर्मोंके करते-करते जिनका मन शुद्ध हो चुका है ऐसे लोग एक दलमें है । अभीतक जिनके मनकी शुद्धि शेष ही है वही दूसरे है दलमें । फलत पहले ऊपर और दूसरे नीचे है । तदनुसार ही पहले दलवाले साख्यकी रीतिके अनुसार गुणोका विवेचन आत्मासे करके उसे निश्चय करते है । क्योकि जबतक ऐसा निश्चय न हो जाय समाधि होगी किसकी ? बस यही है साख्ययोग या साख्यकी रीति । परन्तु जो दूसरे दलवाले ऐसे नही है वह कर्म करते रहते है जिसे कर्मयोग कहा है । वह कर्मकी ही रीति या मार्ग है जिससे धीरे-धीरे मन शुद्ध होता है । यह भी बात है कि यह सभी बाते पूरी जान-कारीसे ही हो सकती है । यहाँतक कि कर्मोंका मार्ग भी बीहड होनेके नाते बहुत जानकारी चाहता है । लेकिन जिन्हें यह जानकारी होई नही, वह क्या करें ? ऐसे लोग ही तो दुर्भाग्यवश ज्यादा होते है । इसीलिये उन्हीके खयालसे २५वे श्लोकमे सबसे नीचेकी सीढी कही है । ऐसे लोग दूसरे जानकारोसे सुन-सुनाके ही धीरे-धीरे इस काममे लगते है और आगे बढते है । कहनेका आशय यही है कि कर्म करनेवालोमें भी वे लोग नीचे दर्जेके ही होते है । बेशक वे ऐसे नही जो गीताकी गिनतीमें आये ही न । वैसोकी तो यहाँ चर्चा ही नही है । तीसरे अध्यायके शुरूमे ही गीताकी गिनतीमें जिन्हें लिया है उन्हीमें ये भी आ जाते है । अतएव ये चारो स्वतत्र मार्ग न होके एक ही मार्गकी नीचे-ऊपरकी सिर्फ सीढियाँ है ।

इस तरह ध्यान या समाधिके फलस्वरूप जो समदर्शन होगा वही ज्ञानका असली रूप है । उसीका वर्णन इस अध्यायके शेष श्लोकोमे है । इसी वर्णनमें उसकी महत्ता भी आ गई है और वह कब पूरा होता है यह

भी कह दिया है। कुछ तर्क-दलीले भी दी गई है। इसका श्रीगणेश कहाँसे होता है यह भी बताया गया है। क्योकि जबतक यह न जान ले कि क्या मर्ज है तबतक औषधि क्या करेगे ? इसीलिये क्षेत्रक्षेत्रज्ञ या प्रकृति और पुरुषके पूर्वोक्त आलकारिक सम्बन्धसे ही इसका निरूपण यो शुरू करते है जिसका उल्लेख शुरूमे ही है, ताकि अन्तमे भी वह चीज याद आ जाये—

**यावत्संजायते किंचित्सत्वं स्थावरजंगमम्।**
**क्षेत्रक्षेत्रज्ञसयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ ॥२६॥**

हे भरतवशमे श्रेष्ठ, जो कुछ भी स्थावर और जगम पदार्थ है या बनते है वह क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके सम्बन्धसे ही होते है यह जान रखो।२६।

**समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।**
**विनश्यत्स्वविनश्यन्त यः पश्यति स पश्यति ॥२७॥**

(इसीलिये) सभी पदार्थोंमे एकरस रहनेवाले तथा उनके नष्ट होनेपर भी नष्ट न होनेवाले परमेश्वर (रूपी आत्मा)को जो देखता है—साक्षात् करता है—(दरअसल) वही देखता है—यथार्थदृष्टिवाला है।२७।

यहाँ निषेध दृष्टिसे (negatively) ही आत्माकी सत्ता मानी गई है, जिसे उपनिषदोमे नेति-नेतिकी दृष्टि या मार्ग बताया है।

**समं पश्यन्हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।**
**न हिनस्त्यात्मनात्मान ततो याति परां गतिम् ॥२८॥**

क्योकि सर्वत्र एकरस रहनेवाले ईश्वरको ही जो देखता रहता है वह स्वय आत्माको नष्ट नही करता—उसका असली रूप जान जाता है। इसीलिये वह परमगति—मुक्ति—पा जाता है।२८।

**प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वश·।**
**यः पश्यति तथात्मानमकर्तार स पश्यति ॥२९॥**

(इसीलिये) जो यह देखता है कि सभी कर्म तो प्रकृतिके द्वारा ही किये जाते हैं, आत्माको (इसीसे) जो अकर्त्ता—कुछ भी न करनेवाला—देखता है, वही (तो) देखनेवाला है—जानकार है।२९।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनु पश्यति।
तत एव च विस्तार ब्रह्म सपद्यते तदा ॥३०॥

जब (मनुष्य) जुदे-जुदे दीखनेवाले पदार्थोंको एक ही रूप—आत्म-रूप—मे देखता है और उसीसे इनका पसारा देखता है तभी ब्रह्मरूप हो जाता है।३०।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्यय ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥३१॥

हे कौन्तेय, अनादि एव निर्गुण होनेके कारण ही यह विकारशून्य परमात्मा (रूपी पुरुष या जीव) शरीरमें रहनेपर भी न तो कुछ करता है और न किसीमे सटता है।३१।

यथा सर्वगत सौक्ष्म्यादाकाश नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते ॥३२॥
यथा प्रकाशयत्येक. कृत्स्न लोकमिम रवि ।
क्षेत्र क्षेत्री तथा कृत्स्न प्रकाशयति भारत ॥३३॥

जिस तरह सर्वत्र रहनेपर भी अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण ही आकाश किसीसे भी नही चिपकता, उसी तरह सभी शरीरोमे रहनेवाली आत्मा भी किसीसे लिप्त नही होती। जिस तरह एक ही सूर्य सारे ससारको प्रकाशित करता है, उसी तरह (एक ही) क्षेत्रपति—खेतिहर या क्षेत्रज्ञ—सभी क्षेत्रोंको प्रकाशित करता है।३२।३३।

यहाँ दो-एक महत्त्वपूर्ण बातें कही गई है। एक तो आत्माको एक ही माना है। सूर्यका दृष्टान्त भी साफ-साफ इसी मानीमें दिया है।

क्योंकि 'एक ही सूर्य' ऐसा कह दिया है। यों तो आकाशके दृष्टान्तसे भी आत्माकी एकता ही—अद्वैतवाद ही—सिद्ध है। दूसरी बात है निर्लेपताकी। आकाश इतना बारीक है, सूक्ष्म है कि उसे कोई भी गन्दगी या मैल पकड सकती ही नही। मगर जो आत्मा आकाशमे भी है वह कितनी सूक्ष्म होगी यह तो आसानीसे जाना जा सकता है। फिर वह क्यो न निर्लेप हो? इसपर प्रश्न होता है कि सभी शरीरोका पथदर्शन या हिलना-डोलना एक ही आत्मासे कैसे होगा? उत्तर है कि एक ही सूर्य तो ससारको चलाता है, रास्ता बताता है। फिर जो सूर्यका भी सूर्य हो—उसकी भी आत्मा हो—वह सारी अधी प्रकृतिको क्यो न चलाये?

**क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।**
**भूतप्रकृतिमोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥३४॥**

इस तरह क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञमे क्या विलक्षणताएँ है, फर्क है यह बात और जड प्रकृतिका अन्त या नाश भी ज्ञानदृष्टिसे जो लोग जानते है वही परब्रह्म तक पहुँचते है।३४।

पहले सातवे अध्यायमे प्रकृति दो प्रकारकी कही गई है, परा और अपरा। यहाँ अपरा प्रकृतिसे ही मतलब है। उसीकी पहचानके लिये उसे भूतप्रकृति यानी पचभूतोकी जननी कह दिया है। आत्मा तो ऐसी है नही। जो सास्यवादी प्रकृतिका नाश नही मानते वे गलत है यही जनानेके लिये कह दिया है कि प्रकृतिका मोक्ष या नाश होता ही है। मिथ्या जो ठहरी। नाशके बाद ही तो मुक्ति होती है।

इस अध्यायमे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके रूपमे ही ससारका विवेचन होनेसे यही इस अध्यायका विषय है।

इति श्री० क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोगो नाम त्रयोदशोऽध्यायः ॥१३॥

श्रीम० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सवाद है उसका क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोग नामक तेरहवाँ अध्याय यही है।

# चौदहवाँ अध्याय

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, चौदहवाँ अध्याय भी सृष्टिका विवेचन-विश्लेषण ही करता है। लेकिन यह करता है इस कामको एक प्रकारसे स्वतत्र रूपसे। इसकी वजह भी है जिससे यह अध्याय ही स्वतत्र हो गया है। तेरहवें अध्यायने बहुत फैली-फलाई सृष्टिको, जो काबूके बाहरसी प्रतीत होती थी, काबूमे कर दिया। क्योकि खेतिहर या किसान और क्षेत्र या खेतके रूपमे सारी बाते रखके इन्हें और इनको ही लेके बनी सृष्टिको भी जैसे छोटीसी बनाके काबूमे कर दिया गया है। क्षेत्रसे बाहर जब कुछ हई नही और उसके बिना सारी घर-गिरस्ती ही चौपट है, तो काबू और कहते है किसे ? इस तरह जो चीज समझमे समा भी नही सकती थी वह अब दूसरी ही जान पडने लगी। अब उसका रूप इतना छोटा हो गया कि उसके नामसे होनेवाली घबराहट दूर होके उस समूची चीजके समझने-विचारनेमें सरसता आ गई। इसने ही उसमे चस्का भी पैदा कर दिया।

लेकिन इतनेपर भी शरीर, इन्द्रियाँ, प्राण प्रभृति और विषयो एव विकारोके रूपमे यह सृष्टि विस्तृतकी विस्तृत ही है। सबोका खयाल-विचार करते-करते मनमें थकान या ऊबसी भी हो जाती है। शरीर, इन्द्रियाँ वगैरह कह देना जितना आसान है इनका विचार उतना आसान नही है। विचारिये और देखिये कि लम्बी-चौडी दुनिया सामने खडी हो जाती है या नही। फिर तो उधेड-बुन करते-करते नाको दम हो जाती है, घबराहट पैदा हो जाती है। इसलिये जरूरत थी इस बातकी कि और भी सक्षिप्त रूपमें इसे रख दिया जाय। साथ ही, वह सक्षिप्त रूप ऐसा

हो कि साफ-साफ मालूम पडे, समझमे आये। सभी पदार्थोको उसने अपने उदरस्थ कर लिया हो यह भी स्पष्ट नजर आता रहे। यदि ऐसा उपाय निकल आये तो कितना सुन्दर हो, कितनी आसानी हो! भला, सभी विषयोका पूरा-पूरा विवेचन कर सकना और उनके गुणदोषको समझ पाना किसकी ताकतकी बात है? यह भी कहना कि सभी चीजे बन्धनमे ही डालती है या बुरी है कितना खोखला लगता है! आखिर ससारके भीतर ही तो उपदेशक, विवेक और समाधि प्रभृति भी है। तो क्या ये भी बुरे है? यदि नही, तो समस्त ससारको बुरा क्यो कहा? क्या ये ससारमे आ जाते नही? ऐसी हजार पेचीदा बाते पडी है जिनका समाधान तेरहवे अध्यायसे नही हो पाता। इसलिये भी जरूरत थी कि कोई सरल मार्ग निकलता, कोई निराला आईना आविष्कृत होता, जिसमे सारी चीजे झलक पडती और उनकी बुराइयाँ साफ मालूम हो जाती। इन्ही सब खयालोसे चौदहवे अध्यायकी स्वतत्र आवश्यकता पडी।

इसमे सारी सृष्टिको तीनो गुणोके भीतर 'गागरमे सागर'की ही तरह रखके कमाल कर दिया है! फिर भी खूबी यह है कि इनमे सारी दुनिया आईनेकी तरह चमकती है और यह पता फौरन चल जाता है कि क्यो और कैसे हरेक चीज बन्धनका कारण होनेमे बुरी है। इतना आसान और सुन्दर रास्ता शायद ही कही कभी मिल सकनेवाला था। एक बात यह भी है कि तेरहवेमे जो यह कह दिया है कि "गुणोके साथ लिपटने और फँसनेसे ही आत्माका नीच-ऊँच योनियोमे जन्म होता रहता है"—"कारण गुणसगोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु" (१३।२१) उसका स्पष्टीकरण भी हो जाना जरूरी था कि यह बात कैसे होती है। इस अध्यायमे हरेक पदार्थका विश्लेषण करके बुरे-भले सभीको तीन गुणोका ही रूप बता दिया है। यह बात भी है कि ये तीनो ही गुण बन्धनमे डालनेवाले है। फलत सभी पदार्थ आसानीसे बन्धनकारी सिद्ध हो गये। आखिर गुण तो रस्सीको

ही कहते हैं न ? और रस्सीसे लिपटना ही तो वन्धन है। इस अध्यायका व्यावहारिक ससारमे सवसे ज्यादा महत्त्व इस वातमें है कि इसने वता दिया है कि स्वभावसे ही परस्पर विरोधी और एक दूसरेको मिटा डालने-वाले पदार्थ भी किस प्रकार आपसमें अच्छी तरह मिलके साथ चल सकते, एक दूसरेकी मदद कर सकते और सारा काम अजाम दे सकते हैं। यह अपूर्व उपदेश तो शायद ही कही मिला हो या मिलेगा।

यही कारण है कि चौदहवेंके शुरूमे ही इसे सवसे श्रेष्ठ वताया गया है, सर्वोत्तम कहा गया है। भला, इससे वढके ज्ञानका सुन्दर, सर्व-सुलभ और विशद मार्ग होई क्या सकता है ? दूसरी तरहसे ज्ञान या जानकारी प्राप्त करनेपर तो कभी धोका भी हो सकता है। मगर इसकी जो सबसे वडी खूवी है वह यही कि कही भी किसी भी पदार्थमे धोकेकी गुजाइश रहने पाती नही। यह तो सबोका छिपा रूप नगा कर देता है। यही वजह है कि इस अध्यायमें प्रकृतिसे सीधे ही गुणोका विस्तार और पसारा शुरू कर दिया हैं। गीताकी पौराणिक शैलीकी सबमे सुन्दर खूवी इस अध्यायमे यह पाई जाती है कि शुरूमे ही आलकारिक भाषामे सन्तानोत्पत्ति-की जगह सृष्टिकी उत्पत्तिकी कल्पना करके ब्रह्मके द्वारा प्रकृतिमें गर्भाधान लिखा गया है और उससे पहले-पहल एक ही साथ तीन वच्चोका जन्म वताया गया है। एक तो यही विलक्षणता है कि एक ही साथ तीन वच्चे ! इससे खामखा लोगोका ध्यान आकृष्ट हो जाता है कि वात क्या है। फिर वे खोद-विनोद करने लग जाते है, मननमें पड जाते हैं। दूसरे जव वे वच्चे परस्पर विरोधी और एक दूसरेको खानेपर ही तुले जैसे हो तब तो और भी आश्चर्य-जनक चीज हो जाती है कि ये माता-पिता भी खूब है जिनने ऐसे वच्चे जने ! इस तरह ब्रह्मको पिता और प्रकृतिको माताके रूपमें चित्रित करनेका प्रयोजन भी पूरा हो जाता है।

सृष्टिके सम्वन्धमे शुरू-शुरूका जो गोलमोल और सामान्य ज्ञान

या खयाल है वही गर्भाधान है। उसीके बाद प्रकृतिसे गुण-विस्तारके द्वारा सृष्टि फैलती है। यह बात गुणवादमे वखूबी समझाई जा चुकी है। इस अध्यायका आशय समझनेके पहले उसे पढ लेना आवश्यक है।

चौथे श्लोकतक तो भूमिकाके रूपमे यही बात कही गई है। उसके बादके पाँच (५-९) श्लोकोमे गुणोके निजी स्वभाव और काम बताके अनन्तर ९ (१०-१८) श्लोकोमे यह बताया गया है कि इन तीनो गुणोकी आपसी शर्त्तबन्दी है, जिससे एके बाद दीगरे क्रमश तीनों मुखिया होते है। मगर हर समय एक ही मुखिया और शेप दो उसीके अनुयायी होते है। किसकी नायकताकी क्या पहचान है यह भी बताया गया है। उसीके साथ किस गुणकी प्रगतिके समय शरीरान्त होनेसे मनुष्यकी क्या गति होती है यह भी कहा है। अनन्तर दो (१९-२०) श्लोकोमे इन गुणोंसे छुटकारा पानेपर ही मुक्ति होती है यह वताके शेष सात श्लोकोमे इनसे छुटकारा पानेका उपाय और छुटकारा पाये हुएकी पहचान बताई गई है। छुटकारा पाये हुएको ही गुणातीत कहा है। इन्ही सातमे पहला —२१वॉ— श्लोक अर्जुनके प्रश्नका है। क्योंकि जब ऐसी बात है तो घबराके या उत्सुकतावश इनसे पिंड छुडानेकी बात फौरन ही पूछ लेना उसके लिये अनिवार्य हो गया था। यह विषय ऐसा जरूरी और कामका है कि बिना पूछे ही कृष्णने इसका कहना आरभ कर दिया था। वे खुदवखुद इसकी महत्ता और जरूरत महसूस कर रहे थे। इसका कारण हम बताई चुके है। इसीलिये अर्जुनके विना कुछ कहे ही स्वयमेव—

श्रीभगवानुवाच

**परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।**
**यज्ज्ञात्वा मुनय. सर्वे परा सिद्धिमितो गताः ॥१॥**

इद ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागता.।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च ॥२॥

श्रीभगवान कहने लगे (कि) सभी ज्ञानोमे उत्तम ज्ञान, जिसे हासिल करके सभी मुनिगण यहाँसे (देह छोडनेके बाद) परम कल्याण पा गये, मै अभी-अभी कहता हूँ, (सुनो)। इस ज्ञानका आश्रय लेनेपर मेरा स्वरूप हो जानेवाले न तो सृष्टि(के शुरू होने)पर जन्म लेते और न प्रलयमे व्यथित होते या मरते है।१।२।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन्गर्भं दधाम्यहम्।
सभव सर्वभूताना ततो भवति भारत ॥३॥
सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तय· सभवन्ति या·।
तासा ब्रह्म महद्योनिरह बीजप्रद पिता ॥४॥

हे भारत, महत्तत्त्व गर्भित प्रकृति ही मेरी स्त्री है और मै उसीमे गर्भाधान करता हूँ। उसीसे सभी पदार्थोकी उत्पत्ति होती है। हे कौन्तेय, सभी (पशु आदि) योनियोमें जितनी तरहकी आकृतियाँ हैं उन सबोकी माता (वही) प्रकृति और गर्भाधान करनेवाला पिता मै हूँ।३।४।

सत्त्व रजस्तम इति गुणा· प्रकृतिसभवा।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम् ॥५॥

हे महाबाहु, सत्त्व, रज, तम यही (तीन) गुण प्रकृतिसे पैदा होते हैं (और) विकार रहित आत्माको देहमे फाँसते है।५।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसगेन बध्नाति ज्ञानसगेन चानघ ॥६॥

हे निष्पाप, उनमे भी निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और निर्दोषी सत्त्व गुण सुख और ज्ञानमे आसक्ति पैदा करके आत्माको फँसाता है।६।

**रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम् ।**
**तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ।।७।।**

हे कौन्तेय, रजोगुण तृष्णा एवं आसक्तिको पैदा करनेवाला (और) राग रूपी ही है, ऐसा समझो । वह कर्ममे आसक्ति पैदा करके जीवात्माको फँसाता है ।७।

**तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम् ।**
**प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ।।८।।**

हे भारत, तमोगुण तो अज्ञानको पैदा करने और सभी जीवात्माओको मोहमे फँसानेवाला है । वह असावधानी, आलस्य और निद्राके द्वारा ही फँसाता है ।८।

प्रमाद कहते है बातोका खयाल न होना, न, रखना । खयाल रहते हुए भी कर्ममे प्रवृत्त न होनेको ही आलस्य कहते है ।

**सत्त्वं सुखे संजयति रजः कर्मणि भारत ।**
**ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे संजयत्युत ।।९।।**

हे भारत, सत्त्व सुखमे लिपटा देता है और रज कर्ममे । (परन्तु) तम तो ज्ञानको छेकके असावधानीमे ही लिपटाता है ।९।

**रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत ।**
**रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा ।।१०।।**

हे भारत, रज और तमको दबाके—अपने अधीन करके—ही सत्त्व आगे आता है । (इसी तरह) सत्त्व एवं तमको दबाके रज और सत्त्व तथा रजको दबाके तम (आगे आता—बढता है) ।१०।

**सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन्प्रकाश उपजायते ।**
**ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत ।।११।।**

जब इस शरीरके सभी द्वारो—इन्द्रिय-छिद्रो—से अँधेरा हटके ज्ञान पैदा होता है तभी सत्त्वकी वृद्धि जाने ।११।

लोभः प्रवृत्तिरारभ. कर्मणामशम' स्पृहा ।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ ॥१२॥

हे भरतश्रेष्ठ, रजके बढनेपर लोभ, काममे झुकाव, क्रियाओका आरभ, उनका लगातार जारी रहना और हायहाय ये बाते होती है ।१२।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च ।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन ॥१३॥

हे कुरुनन्दन, तमकी वृद्धि होनेपर (दिमागके सामने) अँधेरा, कामोमे झुकाव न होना, असावधानी और मोह या उलटी समझ, यही बाते होती है ।१३।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलय याति देहभृत् ।
तदोत्तमविदा लोकानमलान् प्रतिपद्यते ॥१४॥

जब देहधारी सत्त्वकी वृद्धिके समय मरता है तो उत्तम बाते जाननेवालोके निर्मल लोक या समाजमे ही जनमता है ।१४।

रजसि प्रलय गत्वा कर्मसगिषु जायते ।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते ॥१५॥

(इसी तरह) रजकी वृद्धिमे मरनेपर कर्ममे लिपटे लोगोमे तथा तमकी वृद्धिमे मरनेपर विवेकशून्य योनियोमे जनमता है ।१५।

कर्मण' सुकृतस्याहु' सात्त्विक निर्मल फलम् ।
रजसस्तु फल दु खमज्ञान तमसः फलम् ॥१६॥

सात्त्विक कर्मोंका सुन्दर, निर्मल, सात्त्विक फल बताते है, राजसी कर्मोंका दु ख और तामसी कर्मोंका अज्ञान—अज्ञानकी वृद्धि—फल (कहते है) ।१६।

सत्त्वात्सजायते ज्ञान रजसो लोभ एव च ।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च ॥१७॥

सत्त्वसे ज्ञानकी एव रजसे लोभकी ही वृद्धि होती है और तमसे प्रमाद, मोह और अज्ञान (फैलते है) ।१७।

**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः ।**
**जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ॥१८॥**

सत्त्वगुण (की विशेषता) वाले ऊपर जाते या प्रगति करते है, रजोगुण-वाले बीचमे ही रह जाते—न प्रगति करते और न अधोगति, (और) निचले तमोगुणवाले अवनतिशील होते है ।१८।

**नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टाऽनुपश्यति ।**
**गुणेभ्यश्च पर वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति ॥१६॥**

जानकार—पूर्ण आत्मज्ञानी—ज्योही गुणोके सिवाय दूसरेको कर्मोंका करनेवाला नही मानता है और गुणोसे निराली (आत्मा)को जान लेता है, (त्योही) वह मेरा स्वरूप—मुक्त—हो जाता है ।१६।

**गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।**
**जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥२०॥**

देह (धारण) के कारण इन तीन गुणोसे पार जानेपर ही मनुष्य जन्म, मरण (और) बुढापेके दु खोसे छुटकारा पाके मुक्ति हासिल करता है ।२०।

## अर्जुन उवाच

**कैर्लिंगैस्त्रीन्गुणानेतानतीतो भवति प्रभो ।**
**किमाचारः कथं चैतास्त्रीन्गुणानतिवर्त्तते ॥२१॥**

अर्जुनने पूछा (कि) हे प्रभो, इन तीन गुणोसे पार पाये (मनुष्य)के चिह्न क्या है ? उसके आचरण कैसे होते है ? और इन तीन गुणोसे पार पाते है कैसे ?।२१।

श्रीभगवानुवाच

प्रकाश च प्रवृत्ति च मोहमेव च पाडव ।
न द्वेष्टि सप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काक्षति ॥२२॥

श्रीभगवानने कहा—हे पाडव, (तीनो गुणोके क्रमश कार्य) प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहके होनेपर न तो (उनसे) द्वेष रखता है और न यही चाहता है कि वे हट जाये ।२२।

यही है पहले प्रश्नका उत्तर । गुणातीतकी पहचान पूछी थी । वही इसमें कही गई है ।

उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते ।
गुणा वर्त्तन्त इत्येव योऽवतिष्ठति नेंगते ॥२३॥

समदु.खसुख· स्वस्थ· समलोष्टाश्मकाचनः ।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसस्तुति· ॥२४॥

मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयो ।
सर्वारंभपरित्यागी गुणातीत स उच्यते ॥२५॥

(अतएव) जो उदासीनकी तरह रहता है, जिसे गुण हिला-डुला नही सकते, 'ये तो गुण ही अपना काम कर रहे है, (मुझे इससे क्या ?)' इस प्रकार (खयाल किये) जो निश्चिन्त पडा रहता है (और) जरा भी हिलता-डोलता नही, जिसके लिये दु ख-सुख समान है, जो कभी बेचैन नही होता, जिसकी नजरोमे मिट्टीका ढेला, पत्थर एव सोना बराबर ही है, जिसके लिये प्रिय-अप्रिय एकसे है, जो हिम्मतवाला है, जिसके लिये अपनी निन्दा या स्तुति एकसी ही है, जो मान-अपमानमे ज्योका त्यो रहता है, जिसके लिये शत्रु या मित्रके पक्ष हुई नही (और) जो सभी सकल्पोसे बिल्कुल ही बरी है, वही गुणातीत कहा जाता है ।२३।२४।२५।

यही है दूसरे प्रश्न, 'गुणातीतका आचरण कैसा होता है' का उत्तर। आगेका २६वाँ श्लोक तीसरेका उत्तर है। तीसरेमे इसका उपाय पूछा था।

**मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।**
**स गुणान्समतीत्यैतान्ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥२६॥**

जो कभी भी न डिगनेवाली भक्तिके ही रास्ते मेरा सेवन करता है वही इन गुणोसे बखूबी पार पाके ब्रह्मरूप हो जाता है।२६।

**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाऽहममृतस्याव्ययस्य च।**
**शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च ॥२७॥**

क्योकि अहम्--आत्मा--ही अविनाशी, निर्विकार, नित्य धर्मस्वरूप और बराबर बने रहनेवाले सुख रूपी ब्रह्मका आधार है।२७।

तैत्तिरीय उपनिषदकी ब्रह्मानन्दवल्लीके शुरूमे ही लिखा है कि सत्य एव ज्ञानरूप ही ब्रह्म है और है वह अनन्त। जो उसे गुफाके भीतर विस्तृत आकाशमे रहनेवाला जान लेता है उसके सभी मनोरथ एक ही साथ ज्ञानरूपी ब्रह्मके रूपमे पूरे हो जाते है,--"सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म। यो वेद निहित गुहाया परमे व्योमन्। सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह। ब्रह्मणा विपश्चितेति।" इसके बाद उस गुफाका, जिसमे विस्तृत आकाश है, निरूपण शुरू हुआ है। सक्षेप यही है कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय नामक कोषोका ही वर्णन वहाँ विस्तारके साथ गुफाके रूपमे पाया जाता है। तलवारके म्यानको कोष कहते है। जिसके भीतर कोई चीज छिपी हो, छिपाई जा सके असलमे कोष वही कहा जाता है। रेशमका कीड़ा अपने बनाये ही रेशमके कोयेके भीतर छिप जाता है। वह निकाला न जाय तो मर भी जाता है। कोयेको खुद भी काटके निकल जाता है। उस कोयेको कोशा कहते है और यह कोशा रूपी कोष शब्दका बिगड़ा रूप है। आत्मा भी स्थूल, सूक्ष्म

और कारण इन तीन शरीरोके भीतर छिपी है। एके वाद दीगरे उसपर पाँच म्यान चढे है। स्थूल शरीरको ही अन्नमय कोष कहते है। सूक्ष्म या लिंग शरीरके भीतर पाँच प्राण, दस इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि मिलाके कुल सत्रह पदार्थ माने जाते है। इनमें पाँच प्राणोका प्राणमय, मन और कर्मेन्द्रियोका मनोमय और बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियोका विज्ञानमय, ये तीन कोप है। अविद्या या अज्ञानको ही कारण शरीर और आनन्दमय कोष कहते है। यह ससार अज्ञानमूलक ही तो माना जाता है। इस तरह इन्ही पाँच कोपोके भीतर जो आत्मा है उसीका वहाँ उल्लेख है। उसे सत्य, ज्ञान और आनन्दरूप कहा है। अन्तमे ब्रह्मको आनन्दमय कोपका अन्तिम भाग या पुच्छ स्थानीय मानके "ब्रह्म पुच्छ प्रतिष्ठा" ऐसा लिखा है। असलमे इन कोषोको पक्षीका आकार देके पूँछकी जगह ब्रह्मको माना है। पूँछके द्वारा ही पक्षीको पकडनेसे यहाँ मतलव है। ब्रह्मको पकडनेसे ही ये पाँचो कोप पकडे जा सकते है, यही कहना है। इसीलिये शुरूमे उसी ब्रह्मात्मासे आकाश आदिके द्वारा इन सवोकी उत्पत्ति लिखी गई है, "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाश सभूत" आदि।

इस श्लोकमे हमारे जानते यही वात लिखी है। कृष्णका कहना है कि 'अहम्' ही अर्थात् आत्मा ही तो ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा है, मूलाधार है। यदि ब्रह्मका पता लेना है, उसे पकडना है तो आत्माको ही पकडनेसे वह मिल सकता है, पकडा जा सकता है। इससे पहलेके श्लोकमे यह कहा है कि कभी न डिगनेवाली भक्तिके द्वारा ही जो मेरा यानी आत्माका सेवन करता है वही इन तीनो गुणो से—त्रिगुणात्मक ससारसे—पार जा सकता है। उसपर शायद किसीको खयाल हो कि कृष्ण अपनी या आत्माकी भक्ति क्यो कहते है और ब्रह्मकी क्यो नही वताते ? क्योकि वही तो सवका मूलाधार है और उसीके जाननेसे यह भव-जाल छूटता है। उसीका जवाव इस अन्तिम श्लोकमे है। कहते है कि असल चीज तो 'अहम्' है, आत्मा

है। उसीके जाननेसे सब कुछ जाना जा सकता है। योही ब्रह्मको कहाँ ढूँढा जाय? और इस बातमे उनने तैत्तिरीयकी उस आनन्दवल्लीको ही लिया है जिसमे आत्माको ब्रह्मरूप कहते हुए और यो ब्रह्मको लापता या परोक्ष--"तस्मात्"—बताते हुए आत्मासे ही सृष्टिका पसारा माना है। अन्तमे सबकी प्रतिष्ठा या नीव ब्रह्मको कहके उसे आत्मस्वरूप ही कहा है। "आनन्द ब्रह्मणो विद्वान्"के द्वारा आनन्दरूप भी कह दिया है। इसीसे कृष्णने कह दिया कि सबकी प्रतिष्ठा या नीव तो "अहम्" है, आत्मा है। यहाँ 'अहम्' कितना महत्त्वपूर्ण है! इसमे कितनी खूबी और सुन्दरता है!

यदि आनन्दवल्लीको देखा जाय तो वहाँ धर्मके रूपमे जाने कितनी ही चीजे कही गई है। मगर ब्रह्मात्माका जो असली स्वरूप सत्त्य, ज्ञान और आनन्द है, कृष्णने इन्ही तीन धर्मोंको पकडा है। यही जगत्के धारण करनेवाले है। इसीलिये धर्म है। पचदशीमे विद्यारण्यने इनकी यह खूबी समझाई है। इनमे सत्त्यको "अमृतस्याव्ययस्य" पदोसे, ज्ञानको "शाश्वतस्य धर्मस्य" पदोसे और आनन्दको "सुखस्यैकान्तिकस्य" पदोसे कह दिया है। धर्म है यो तो सभी। फलत सभीके साथ 'धर्मस्य'को लगा भी सकते है। मगर नमूनेके रूपमे एकको ही कहा है।

इस अध्यायके गुणातीत प्रकरणमे ही दो बार सम और चार बार उसी अर्थमे तुल्य शब्द आये है। यहाँ भी आत्मज्ञानीकी ही समदृष्टि बताई गई है। इस अध्यायका विषय तो स्पष्ट है।

**इति श्री० गुणत्रयविभागयोगो नाम चतुर्दशोऽध्यायः ॥१४॥**

श्रीम० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सवाद है उसका गुणत्रय-विभाग-योग नामक चौदहवाँ अध्याय यही है।

# पन्द्रहवाँ अध्याय

यह तो हमने पहले ही कहा है कि पन्द्रहवाँ अध्याय मिलाजुला है। इसमे कुछ तो ससारका ही, इस सृष्टिका ही विवेचन-विश्लेषण है। कुछ ज्ञानकी बाते भी है। आत्माकी जानकारीके लिये यत्नोकी चर्चा तथा दूसरे उपाय प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूपमें कहे गये है। इसलिये पिछले और अगले अध्यायोकी सन्धिके रूपमे इसका यहाँ आ जाना उचित ही है। सचमुच यदि देखा जाय तो शुरूके दस श्लोकोमे किसी न किसी रूपमें सृष्टिके निरूपणकी प्रधानता है। फिर "यतन्तो योगिन" आदि ग्यारहवें श्लोकसे ज्ञानके साधनोकी ही बात प्रधानतया पाई जाती है। "द्वाविमौ" आदि अन्तके पाँच श्लोकोमे तो यह बात आई ही है। यदि उनसे पहलेके श्लोकोमें विराट्की कुछ बातें आ गई है, तो एक तो वे चिन्तन और यत्नके साधनके रूपमे ही आई है। दूसरे, यही तो आखिरी बार उनका उल्लेख है। या यो कहिये कि प्रकारान्तरसे उनके उपसहार द्वारा उनसे विदाई है।

चौदहवें अध्यायके अन्तमें जो आत्माको सबका आधार या प्रतिष्ठा कह दिया है उससे आनन्दवल्लीवाली बात सामने आ जाती है, जिसमें इस भौतिक सृष्टिके शरीर आदिके निर्माणका उल्लेख है। उसीके साथ-साथ यह सृष्टि भी दिमागमे खामखा आ जाती है। उसीका जिक्र पन्द्रहवेंके शुरूमे ही है। एक बात और भी है। यदि गुणोसे या त्रिगुणात्मक ससारसे पार जाना है, पार पाना है, तो क्या किया जाय यह जो प्रश्न उठा था, उसका उत्तर यही दिया गया है कि आत्मामें ही लग जाओ। वही ब्रह्मका भी आधार है, नीव है, प्रतिष्ठा है। इससे साफ हो जाता है कि शरीरके भीतर ही उसे ढूँढना होगा। एतदर्थ क्रमश भीतर या नीचे जाना होगा।

क्योकि एके बाद दीगरे बहुतसे पर्दे उसपर पडे है। मगर इसमे कुछ खतरे भी है। हमारा खयाल इससे सकुचित हो जा सकता है और हम बाहरी दुनियाकी पर्वा, उसके सुख-दु खकी फिक्र छोड दे सकते है, जो बात गीताको आमतौरसे पसन्द नही है। इसीके साथ यह भी हो सकता है कि हम दुनियासे ऊँचे उठे ही न। हम तो अपनी आत्माके अन्वेषणमे नीचे ही जायँगे न ? भीतर ही घुसेगे न ? गुफामे ढूँढना जो है। मगर दुनियाका मजा लेने और जीवनको आनन्दमय बनानेके लिये इस बातकी जरूरत है कि हम उससे ऊँचे उठे, ऊपर जाये। समूचे ससारको फाँदके जब ऊपर जा पहुँचे तभी मस्ती आ सकती है। डर था, शायद यह बात न हो सके। इसीलिये चौदहवेंके अन्तमे आत्माके उल्लेखके साथ ब्रह्मका भी उल्लेख किया गया है। उसका सीधा मतलब यही है कि हम ढूँढते-ढूँढ़ते नीचे भी जाये और ऊपर भी। आत्माकी तलाशमे नीचे और ब्रह्मकी खोजमे ऊपर बढे। नतीजा यह होगा कि सबसे नीचे और सबसे ऊपर जाना ही होगा। इस तरह अन्तिम छोरोके मिल जाने (Extremes meet)के अनुसार आत्मा और ब्रह्म एक हो जायँगे और हमारा काम हर तरहसे पूरा हो जायगा। बिना सबके नीचे और ऊपर गये तो इन दोनोका ठीक-ठीक पता लग नही सकता है। "अत्यतिष्ठद्दशागुलम्"के द्वारा वैदिक ऋषियोने तो ऐसा ही बताया है। और ऐसा होनेपर दोनोका अन्तिम मिलन अनिवार्य है। इसी बातका स्पष्टीकरण पन्द्रहवाँ अध्याय करता है।

कुछ और भी बाते है। "वासुदेव सर्वमिति" (७।१९)मे समस्त ससारको वासुदेव कहके इसी रूपमे इसे देखनेवाले ही पक्के और पहुँचे महात्मा बताये गये है। ज्ञानका आखिरी रूप यही कहा गया है। इधर हमारे यहाँ पुरानीसे भी पुरानी परिपाटी है कि पीपलके वृक्षको वासुदेव कहते और मानते हुए इसकी जडको सीचते रहते है। यह एक धार्मिक

प्रथा है। पीपलको ही अश्वत्थ भी कहते हैं। उधर उपनिषदोंमें इस संसारको ही अश्वत्थवृक्षके रूपमें लिखा है। इसकी जड़, पत्ते आदि भी बताये गये हैं। कठोपनिषदके द्वितीय अध्यायकी छठी वल्लीका पहला ही मंत्र यों है, "ऊर्ध्वमूलोऽवाक् शाख एषोऽश्वत्थ सनातन। तदेव शुक्र तद्ब्रह्म तदेवामृतमश्नुते"। गीताके पन्द्रहवें अध्यायका पहला श्लोक इसके पूर्वार्द्धसे बिल्कुल ही मिलतासा है। उपनिषदने कहा है कि इस अश्वत्थकी जड़ ऊपर और शाखायें नीचे हैं और यह सनातन है, अनादि है। यह कब बना कोई कह नहीं सकता। मगर जिसे अविनाशी ब्रह्म कहते हैं और मोक्षावस्थामें जिसकी प्राप्ति होती है वह इससे जुदा नहीं है। इसके मूलमें वही है। गीताने सनातनकी जगह 'अव्यय' कह दिया है। मगर आशय वही है। इस प्रकार वासुदेव या ब्रह्मरूपमें इस जगत्को मानने तथा देखनेकी जो पुरानी प्रणाली है वह गीताके मतके अनुकूल ही है। इसीलिये उसीका श्रीगणेश इस अध्यायमें किया है।

हम इस संसारको सचमुच ही मजबूत और सनातन न मान बैठें, इसीलिये अश्वत्थ नाम दिया गया है। अश्वत्थका तो अर्थ ही है कि जो कल न रहे। यह तो सदा परिवर्त्तनशील है, कमजोर है और आत्मज्ञानसे इसका खात्मा पलक मारते हो जाता है। आज ज्ञान हो और कल ही यह लापता! यह है भी तो भयानक ही। इसमें तो कष्ट ही कष्ट है। इसीलिये तो योगदर्शनमें पतंजलिने कहा है कि अथसे इतितक यह केवल दुःखमय ही है ऐसा विवेकी मानते हैं। साफ ही देखते हैं कि यहाँ तीनों गुणोंकी ऐसी आपसी कुश्ती और खींचतान है कि कुछ पूछिये मत, "परिणामतापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" (२।१५)। नैयायिकोंने भी संसारको दुःखात्मक ही माना है। यहाँतक कि सुखको भी दुःख ही कहा है। उनके मतसे छे इन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन—उनके छे विषय-ज्ञान और छे विषय, शरीर, सुख और दुःख यही इक्कीस

दु ख उनने माने है । उनके मतसे यह ससार दु खात्मक है और इन्हीका ध्वस मुक्ति है । मगर यहाँ तो उलटी ही गगा वहती नजर आती है । सभी लोग फूले मस्त है, राजपाट, बालबच्चो और स्वर्ग-वैकुठके ही पीछे मस्त है । उन्हे तो ससार की दु खरूपता दीखती ही नही । फिर इससे पार जानेका यत्न वे क्यो करने लगे ? प्रश्न है कि ऐसा हुआ क्यो ? बात तो उलटी है न ? कष्टात्मक ही तो यह ससार है । तब यह ऐसा हुआ कैसे ? इसके ऐबोको किसने छिपाया ?

इसका उत्तर गीता पहले ही श्लोकके उत्तरार्द्धमे देती है कि वैदिक कर्मकाडने ही तो आँखोमे धूल झोक दी है । दिनरात उसीके पीछे पडे रहते है और फुर्सत मिलती ही नही । जही-तही वैदिक साहित्यमे, वेद-मत्रोमे स्त्री-पुत्रादिकी प्रशसा, स्वर्गकी बडाई, राजपाटकी महिमा लिखी मिलती है । फलत जनसाधारण यदि कभी ऊबे भी तो पुनरपि इसी वजहसे उसीमे पडे रहते है । जैसे वृक्षके हरे-भरे पत्ते उसे छेके और घेरे रहते है । इसीलिये उसके तने और शाखा-प्रशाखाओकी नग्नता दूरसे मालूम नही होती । किन्तु ज्योही पत्ते हटे कि समूचा पेड नग-धडग, वेढगा और भयावना नजर आता है । ठीक वैसे ही वैदिक मत्रो और तन्मूलक साहित्यने इस अश्वत्थके लिये भी पत्तेका काम कर दिया है, जिससे हम इसकी भयावनी सूरत देख नही पाते । इस तरह हम देखते है कि ज्ञानकी ओर बढनेमे गीताका यह वर्णन कितना आलकारिक एव महत्त्वपूर्ण सहायक है, खासकर ऐसा कहके कि जो इसके नग्नरूपको जानता है दरअसल वही वेदका ज्ञाता है । वह पर्देके भीतर घुस जो जाता है ।

पीपलमे यह भी देखा जाता है कि ऊपरसे बरोहे निकलती है । ये है दरअसल जडे ही । पकडी, बरगद और पीपलमे ही ये ऊपरकी डालोसे निकलके नीचे लटकती है । बरोहके मानी है ऊपरसे निकलनेवाली ।

बर+आरोहसे ही वरारोह बनके बरोह हो गया। वर कहते है ऊपरको। यह बात कितनी खूबीके साथ जगत्से मिलती है। ऊपर ठहरा ब्रह्म। वहीसे जगत्की सारी जडें निकली तथा फैली है। यदि इन जडोका पता लगाना है तो ऊपर जायें। तभी इन्हे पायेगे और काट देगे। ऊपर जाने या ससार के पदार्थोंसे अलग होनेमें अगर हजार ढगके ताल्लुक वाधक है, तो वैराग्यकी शरण लें और मनको इनसे हटायें। इनमें आसक्तिका त्याग करें। यही त्याग तलवारका काम करता है इन्हे काट डालनेमे, ताकि ऊपर जा सके। बिना इसके वह मूलाधार ब्रह्म मिलनेका नही। इस तरह इसके काटनेका उपाय बताया है सही। फिर भी यह है दरअसल लोहेका चना। सासारिक वासनाये इतनी मजबूतीसे जकडी और चारो ओर फैली है कि इनसे पिड छुडाना मुश्किल है। इस तरह ससारके पार जाना वैराग्य और विवेकके सहारे आसान भी है और मुश्किल भी। क्योकि जही जाइये एक फन्दा लगा है और हम उसीमे फँस जाते है।

कहते है कि किसी अच्छे पडितने मौतसे पहले ही किसी प्रकार यह जान लिया कि मरनेपर सूअरका शरीर पाऊँगा। उनने अपने बच्चोको यह बात कह दी। यह भी बता दिया कि कहाँ कब सूअरका शरीर मिलेगा। उनने पहचान भी बता दी कि फलाँ-फलाँ चिह्न होगे, ताकि लडके बेखटके पहचान सकें। फिर उनने कहा कि वह योनि तो बडे कष्टकी है, यह जानते ही हो। इसलिये पता लगाके फौरन मार देना, ताकि कष्टमय जीवनसे चटपट छुटकारा हो जाय। पीछे जब वह मर गये तो ठीक समयपर खोजते-पूछते उनके लडके उस मुकामपर पहुँची तो गये जहाँ वह सूअर बने विचरते थे। ढूँढते-ढूँढते उनने पता भी पा लिया कि हो न हो, यही वह सूअर है। उसके बाद उसके मालिकसे बाते करके सूअरके मारनेका हर्जाना भी तय कर लिया। बादमें तलवार लेके उसके पास पहुँचे ही थे कि खत्म कर दे कि वह गिडगिडाके बोल उठा कि "नही-नही,

मुझे मत मारो, तुम्हे शपथ है, मै खूब मौजमे हूँ"। देखा न ? यही है भारी वन्धन। आत्मा जहाँ हो, मौज ही मालूम पडती है।

इसीसे नीचे-ऊपर, इधर-उधर सर्वत्र ही जहाँ भी इस ससारकी शाखाये है वन्धनका ही काम करती है। क्योकि आखिर त्रिगुणात्मक तो हुई और तिहरी रस्सी वडी मजबूत भी होती है। सभी जगह इन्द्रियोके विषय सुन्दर कोपलो जैसे लुभावने दीखते है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि वुरे-भले कर्मोके सस्कारके रूपमे वासनाये पैदा होती है। फिर उनके फलोको भोगनेके वाद दूसरे ढगकी वासनाये पैदा होती है, जिन्हे चसक कह सकते है। उन्हीके करते हम पुनरपि कर्मोमे लगते है, इस तरह यह चक्र चालू रहता है। यो तो वास्तविक मूल ब्रह्म हुई। मगर जिस मूलको काटना है, ताकि यह वृक्ष सूख जाये, वह तो यह वासनाये ही है। ये इतनी गहरी और नीचे पडी रहती है कि इन्हे पकडना कठिन है। यही है इस अश्वत्थकी अपनी निजी जडे। अश्वत्थकी जडे यो भी सचमुच वहुत गहराईमे जाती है। वे वहुत ज्यादा होती भी है। वासनाओ-की भी यही हालत है। ये भी अनन्त है, वहुत फैली है। आशाकी वात यही है कि पूर्ण-विवेक-दृष्टिके सामने न तो ये वासनाये और न ससारका यह लुभावना रूप ही टिक सकता है। केलेकी मूसलीके छिलकेकी तरह उधेड-बुन करते जाइये और अन्तमे कुछ भी सार हाथ नही लगता। पता ही नही चलता कि कहाँ शुरू, कहाँ वीच और कहाँ अन्त है। समूचेका समूचा निस्सार ही सिद्ध हो जाता है।

इस पन्द्रहवे अध्यायमे जो खूबी है वह यही कि इसने हमारी पुरानी भावनाओसे फायदा उठाके वासुदेवके रूपमे ही ससारवृक्षको सामने ला दिया है। इस रूपकके द्वारा इसे काट वहानेकी भावना भी जागृत कर दी है। नही तो कहाँ क्या करें और इसे कैसे खत्म करे यह अथाह समुद्रकीसी वात हो रही थी। इसमे उपनिषदोकी भी सहायता इसे मिली है। उनका

अनुसरण भी अच्छी तरह हो गया है। पहलेकी सारी बाते सुनने और गुणातीत अवस्थाको जाननेके बाद जो एक प्रकारकी किंकर्त्तव्य-विमूढतासी अर्जुनको और दूसरोको भी हो सकती थी कि कहाँसे कैसे इन गुणोको काटना शुरू करे, वह भी इस प्रकार दूर हो गई। उसे खयाल करके ही तो कृष्णने बिना पूछे ही यह कहना शुरू भी कर दिया। चौदहवें अध्यायके अन्तमे यह कहा है, जरूर कि आत्माकी भक्ति करे। मगर वह तो आसान नही। मनको बाहरसे रोकना जो पडेगा। यह रोक किस चीजसे कैसे शुरू करे, यही तो सबसे बडा सवाल था। ऐसी बातका मालूम हो जाना जरूरी था जहाँसे श्रीगणेश करते। कृष्णने इस वृक्षको, इसकी जडोको और काटनेके हथियारको भी बताके सारी समस्या ही हल कर दी। इस तरह गुणोके निरूपणसे भी आसानीसे फायदा उठाया जा सकता था। क्योकि जब सभी चीजें बन्धक है, खतरनाक है, तो उनसे मनको हटानेमे दिक्कत वैसी न होगी जैसी पहले होती। इन्ही सब विचारोको मनमें रखके—

## श्रीभगवानुवाच

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥१॥

श्रीभगवानने कहा (कि) ऊपर जिसकी जडे और नीचे शाखायें हो तथा वेदमंत्र जिसके पत्ते हो ऐसे (संसाररूपी) पीपलवृक्षको सदा रहनेवाला कहा गया है। (मगर) उसे जो यथार्थ रूपमें जान जाता है वही वेदज्ञाता है।१।

अधश्चोर्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके ॥२॥

(दरअसल) उसकी शाखायें नीचे-ऊपर (सर्वत्र) फैली है (जो)

गुणोंके चलते खूब बढ़ी है और विषय ही जिनकी कोपलें हैं। (उसकी) जड़ें भी बहुत गहराईमें जाके खूब फैली हुई हैं (और) इस दुनियामें कर्म करनेमें (चस्का पैदा करके लोगोंको उसमें) लगाती हैं।२।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसंगशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा ॥३॥
ततः पदं तत्परिमार्गितव्यं यस्मिन्गता न निवर्त्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी ॥४॥

(लेकिन इसका जैसा सनातन और दृढ़) रूप (कहा जाता) है वैसा (तो विचारनेपर) दीखता नहीं और न इसके आदि, अन्त (और) मध्य (का ही पता चलता है)। (फिर भी) जिसकी जड़ें बहुत ही मजबूत हैं उस इस अश्वत्थ वृक्षके बन्धनोंको (वैसे ही) मजबूत वैराग्य—आसक्ति-त्याग—रूपी शस्त्रसे काटके—संसारसे वैराग्य प्राप्त करके—अनन्तर उस पदका अन्वेषण करना चाहिये जहाँ जानेपर फिर वापिस आना—जन्म-मरण—नहीं होगा। 'हम उसी आदि पुरुष—परमात्मा—की शरण आये हैं, जिससे यह पुरानी सृष्टि पैदा हुई', (इसी प्रकार वह अन्वेषण करना चाहिये)।३।४।

निर्मानमोहा जितसंगदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥५॥

अभिमान और मोहसे रहित, आसक्तिके दोषसे बरी, आत्मामें निरन्तर लगे हुए, सभी वासनाओंसे शून्य, सुखदुःख सरीखे द्वन्द्वोंसे छुटकारा पाये पूर्णज्ञानी ही उस अविनाशी पदको पाते हैं।५।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद् गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥६॥

न तो वहाँ सूर्यका प्रकाश जाता है, न चन्द्रमाका और न अग्निका ही

(और) जहाँ जानेपर फिर वापिस नही आते वही मेरा परम धाम है ।६।

ममैवाशो जीवलोके जीवभूत सनातनः ।
मन षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति ॥७॥

शरीर यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर. ।
गृहीत्वैतानि सयाति वायुर्गन्धानिवाशयात् ॥८॥

श्रोत्र चक्षु स्पर्शन च रसनं घ्राणमेव च ।
अधिष्ठाय मनश्चाय विषयानुपसेवते ॥९॥

मर्त्यलोकमे मेरा ही सनातन अश जीव बनके प्रकृतिमे रहनेवाली मन-सयुक्त छे इन्द्रियोको साथ खीच ले जाता है । जब (नया) शरीर धारण करता है और जब मरता है, इन इन्द्रियोको वैसे ही साथ ले जाता है जैसे हवा गन्धके आश्रय (पुष्पादि)से गन्ध ले जाती है । श्रोत्र, चक्षु, त्वक्, रसना, घ्राण और मन (इन्ही छे इन्द्रियो)का अधिष्ठाता बनके विषयोका सेवन करता है ।७।८।९।

पाँचवें श्लोकमे ज्ञानके कुछ साधनोका वर्णन कर दिया है । अगर कोई यह प्रश्न करे कि यह कब सभव है कि ससारमे लिपटा हुआ जीव ब्रह्मरूप हो जाय, तो उसीका उत्तर सातवेंमे यह दिया है कि वह तो ब्रह्मका ही रूप है । अश कहनेका तात्पर्य हिस्सा या भागसे नही है । क्योकि निरवयव और निर्विकार ब्रह्मका भाग या चीड-फाड कैसे हो सकती है ? जैसे एक लोटा पानी घडेभर पानीका अश होनेसे उसीका रूप है वैसे ही जीव भी ब्रह्मका रूप है, इतना ही तात्पर्य है । सौ आईने रखके एक ही चन्द्रमाके सौ प्रतिविम्ब या सौ चन्द्रमा देख लीजिये । यही दशा जीवकी है । अन्त करण आईनेकी तरह है जिसमे ब्रह्मका प्रतिविम्ब जीव बना है । विम्बरूप चन्द्रमा, जो आकाशमें है, प्रतिबिम्बसे न तो भिन्न है और न जरा भी दोनोके बीच फर्क है । ठीक इसी तरह प्रतिबिम्ब रूप जीव

ब्रह्मसे जरा भी भिन्न नही। इस तरह जितने शरीर हो उतने जीव बन भी गये और वे ब्रह्मरूप भी रहे।

प्रश्न होता है कि यदि जीव ब्रह्मका स्वरूप ही है तो फिर उसका आवागमन या जीवन-मरण कैसा ? ब्रह्म तो सभी जगह है। इसीलिये उसमे क्रिया असभव है। साथ ही, वह सासारिक विषयोसे नाता कैसे रखता है ? वह तो सर्वत्र एकरस है। फिर विषयोको भोगने और सुख-दु खमे पडनेके मानी क्या है ? इन्ही बातोके उत्तर सातवेके उत्तरार्द्ध और शेष दो श्लोकोमे दिये गये है। आईनेके चलानेसे उसमे रहनेवाला चन्द्रमाका प्रतिबिम्ब इधर-उधर डोलता है। यहाँ मन, इन्द्रियादिको मिलाके जो सूक्ष्म शरीर होता है वही आईना है। उसमे रहनेवाले प्राण खूब चलते है। इन्द्रियाँ और मन भी क्रियाशील है। बस इन्हीके चलनेसे जीवका आवागमन माना जाता है। जब मनुष्य मरने लगता है तो जीव इसी सूक्ष्म शरीरके साथ स्थूल शरीरसे निकल जाता है। वही घूमता-घामता पति-पत्नीके वीर्य और रजमे प्रवेश करके नवीन शरीरके गर्भाशयमे और पीछे नवीन शरीरमे भी इसी सूक्ष्म शरीरके साथ प्रविष्ट होता है। इस पर बहुत ज्यादा प्रकाश पहले ही कर्मवाद प्रकरणमे डाला जा चुका है। इसी प्रकार इन्ही इन्द्रियोके द्वारा ही विषयोका भोग भी करता है। विषयोमे तो जाती है इन्द्रियाँ ही। मगर यही उनका अधिष्ठाता है। इसीलिये इस पर ही जवाबदेही आती है। मालिक या अधिष्ठाता ही नौकरोकी हार-जीत या कामोका जवाबदेह होता है। उनके करते सुख-दु ख और हानि-लाभका भी अनुभव करता है। यदि नाता तोड ले तो कुछ न हो। मगर शरीरसे जीवका नाता तो ज्ञानसे ही टूटता है न ?

मरणोत्तर प्रयाण करने और फिर नये शरीरमे आनेके दर्म्यान इन्द्रियाँ तो रहती है वही पुरानी। मगर उनमे वह शक्ति नही होती जो शरीरमे

रहनेके समय पाई जाती है। उस समय इनसे विषयोका भोग तो करना है नही। फलत उनकी सूक्ष्म या वीज रूपी अवस्था ही उस समय रहती है, न कि ऐसी प्रकट और चलवलवाली। यही वात जाननेके लिये उन्हे "प्रकृतिस्थ"—"प्रकृतिमे रहनेवाली" कहा है। इसका तात्पर्य यह है कि उस समय वे अपने सूक्ष्म या बीज रूपमे ही रहती है। यही कारण है कि आत्माका अधिष्ठातृत्व उस समय नही हो पाता है। जैसे इमलीमें नमक डालनेसे उसमे रहनेवाली खटाईका पता जवानसे नही चल पाता, वही बात उस समय इन्द्रियोकी भी होती है। आत्माका सम्बन्ध रहते हुए भी वह उन्हे विपयोमे प्रेरित कर नही सकती। इसीलिये उसकी अधिष्ठातृता मुर्दा या वेकारसी हो जाती है। मगर स्थूल शरीरमें आने पर वह वात चालू हो जाती है और स्थितिमे परिवर्त्तन हो जाता है। इसी परिवर्त्तनकी सूचना नवे श्लोकका 'अधिष्ठाय' पद देता है।

इस पर यदि कोई कह बैठे कि ऐसा मालूम तो किसीको होता नही, फिर यह बात मानी कैसे जाय? तो इसीके उत्तरमे अगले दो श्लोक आये है और आगे उन्हीका विस्तार किया गया है। मोटी वात यह है कि यदि अन्धे सूर्यको नही देखते तो क्या वह गायब हो जायगा? देखना तो आखिर आँखवालोका ही काम है न? यहाँ भी ज्ञान-दृष्टि और विवेक-शक्ति जिनके पास है वह जरूर देखते है। हाँ, जिनके पास यह चीज नही है वह नही देखते। मगर इसमे दोष उनका है, न कि वस्तु का। यदि ऐसे देखनेवाले कम है तो इससे क्या? एक आँखवाला हजार और लाख अन्धोके मुकाविलेमें किसी चीजको ठीक वता सकता है। उसकी ही बात मानी भी जाती है। आखिर वीमारीका अस्तित्व केवल डाक्टरकी ही वातोंसे माना जाता है, न कि लाखो दूसरोके न बतानेसे उसका इनकार हो जाता है।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुंजानं वा गुणान्वितम् ।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः ॥१०॥

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम् ।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः ॥११॥

मरणोपरान्त प्रयाण करते हुए, नया शरीर धारण करके उसमे स्थित या इन्द्रियादिके साथ विषयोको भोगते हुए भी इस आत्मतत्त्वको अज्ञानी नही देख पाते, (किन्तु) ज्ञान दृष्टिवाले ही देखते है। (जिन्हें यह दृष्टि न भी प्राप्त हुई है ऐसे) योगी भी (समाधि आदिके रूपमे) यत्न करते हुए इस आत्माकी झाँकी अपने भीतर ही पा जाते है। (मगर) जिनके मन मलिन है ऐसे मूढ लोग हजार यत्न करके भी नही देख पाते हैं।१०।११।

अन्तिम श्लोकमे यह बता दिया है कि आत्मदर्शनके लिये कोई भी यत्न करनेके पूर्व मनपर काबू होना चाहिये और इन्द्रियो पर नियत्रण। नही तो "मन न रगायो तू रगायो योगी कपडा" वाली बात होती है। इसीका जिक्र इसमे है।

यत्नके बारेमे अब प्रश्न होता है कि वह किस तरह किया जाय? समाधिवाला यत्न तो सबके लिये सुलभ है नही और उसके लिये भी तो पहले तैयारी चाहिये। तो आखिर वह है कौनसी? और जो लोग ऐसे नही है वह भी कैसे इस आत्माको देख पायेगे? आत्माको भी तो आखिरमे परमात्माके रूपमे ही देखना है न? सो कैसे होगा? परमात्माको आत्माका रूप कैसे जानेगे?

इन्ही बातोको समझानेके लिये आगेके चार(१२-१५) श्लोक है। इनमे ऊपरसे ही शुरू करके धीरेधीरे शरीर और अन्त करणके भीतर घुसने तथा आत्मवस्तुके देखनेकी रीति कही गई है। परमात्मा तो अत्यन्त

देदीप्यमान एव सूर्य, चन्द्र आदिको भी प्रकाश देनेवाला पहले ही कहा गया है। इसलिये वही से शुरू करके पृथ्वीमे आते है। वहाँसे जठरानलमे जाके शरीरमे घुसते है और अन्तमे हृदयमे प्रवेश करके उस आत्माको देखते है। योगी लोग भी यही रीति अपनाते है। योगसूत्रोमे धारणाके प्रसगसे ये बाते आई है।

यदादित्यगत तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् ॥१२॥

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधी सर्वा. सोमो भूत्वा रसात्मक ॥१३॥

अह वैश्वानरो भूत्वा प्राणिना देहमाश्रित.।
प्राणापानसमायुक्त पचाम्यन्न चतुर्विधम् ॥१४॥

सर्वस्य चाह हृदि सन्निविष्टो मत्त स्मृतिर्ज्ञानमपोहन च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥१५॥

सूर्यमे रहनेवाला जो तेज समस्त ससारको आलोकित करता है, जो (तेज) चन्द्रमामे और जो अग्निमे है, वह (सभी) तेज मेरा ही जानो। पृथ्वीमे प्रवेश करके अपने बलसे मै ही पदार्थोको धारण कर रखता हूँ। (नही तो पृथ्वी धँस जाती, टूट जाती और पहाड वगैरहका भारी बोझ वर्दाश्त कर न पाती।) रसमय चन्द्रमा बनके सभी अन्नादि औषधियोको पुष्ट करता हूँ। मै ही जठरानल होके प्राणधारियोके शरीरमे रहता और प्राण तथा अपान (की धौकनी)से प्रदीप्त होके चार प्रकारके खाद्य पदार्थोको पचाता हूँ। मै ही सबोके हृदयोमे प्रविष्ट हूँ। मुझीसे (लोगोको पदार्थोके) स्मरण और ज्ञान होते है, विस्मृति और भूल होती है। मै ही सभी वेदोके द्वारा जाना जाता हूँ। वेदान्तका बनानेवाला एव वेदवेत्ता भी मै ही हूँ।१२।१३।१४।१५।

यहाँ जो चार प्रकारके अन्न कहे गये हैं उन्हें भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चोष्य कहते हैं। जिनके खानेमें दाँतोंसे काम लिया जाय ऐसी पूड़ी, पूआ, रोटी, चबेनी वगैरह भक्ष्य हैं। जिनमें दाँतोंसे काम लेनेकी जरूरत न हो ऐसे दूध, दही, हलवा आदि भोज्य हैं। जबानसे ही जो चाटे जायँ वही कढ़ी, चटनी आदि लेह्य हैं। जिन्हें चूसा जाय ऐसे आम, ऊख आदि चोष्य हैं। "अयमग्निर्वैश्वानरो योऽयमन्तः पुरुषे येनेदमन्नं पच्यते"। (बृहदा० ५।९।१) आदि वचनोंमें जठरानलको वैश्वानर कहा है। इसी प्रकार ,'येन द्यौरुग्रा पृथिवी च दृढा" (यजु० ३२।६) "स दाधार पृथिवीम्" (यजु० २५।१०)में पृथ्वीका धारण करनेवाला परमात्मा ही कहा गया है। उसीसे यहाँ तात्पर्य है। इस अध्यायमें शशाक और सोमको दो कामोंके लिये उल्लिखित देखके एकाएक खयाल हो जाता है कि सोम और शशाक (चन्द्रमा) दो पदार्थ तो नहीं हैं? दोनोंमें कुछ अन्तर तो नहीं है?

आगेके तीन (१६-१८) श्लोक जीवात्मा और परमात्मामें कितना फर्क है यही बात बताके उसी अन्तरको दूर करनेके लिये अर्थात ज्ञानकी आवश्यकता सुझाते हैं। क्योंकि यदि आत्माको ब्रह्मका रूप ही मान लें तो फिर सारे यत्न ही बेकार हो जायँगे। कोई भी क्यों आत्म-ज्ञानार्थ ध्यान, समाधि या श्रवण, मनन आदि करेगा? ऐसी दशामें गीतोपदेशकी भी व्यर्थता हो जायगी।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥१६॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः ॥१७॥
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः ॥१८॥

दुनियामें दो पुरुष है, क्षर या विनाशी तथा अक्षर या अविनाशी। सभी जड पदार्थ यानी प्रकृति क्षर है और निर्विकार आत्मा अक्षर। (इन दोनोसे ही) उत्तम पुरुष तो तीसरा है जो परमात्मा कहा जाता है और जो अविनाशी, शासनकर्त्ता (एव) सारी दुनियाके भीतर प्रवेश करके उसे कायम रखता है। क्योकि मै तो क्षरसे निराला हूँ और अक्षरसे भी उत्तम हूँ। इसीलिये वेदमें और लोकमें भी पुरुषोत्तम विख्यात हूँ।१६।१७।१८।

यहाँ ससारमे रहनेवाले पदार्थोंसे ही शुरू करके देखा कि प्रकृति तो पूर्ण या सर्वत्र मौजूद है, व्यापक है, इसीलिये उसे पुरुष कहा। पुरुषका अर्थ ही है पूर्ण या व्यापक। इच भर भी जगह प्रकृति या प्राकृतिक पदार्थोंसे शून्य नही है। यह ठीक है कि ये पदार्थ विनाशी है। फिर आगे वढे और सोचा कि जव ये पदार्थ विनाशी है तो इनके मूलमे कोई होना ही चाहिये। इस प्रकार आत्माका पता लगाया। अव यदि उसे भी विनाशी मानें तो उसका मानना ही वेकार होगा। क्योकि उसका भी मूल कारण ढूँढना होगा और उसे ही आत्मा मानेगे। इस पर ज्यादा तर्क पहले ही लिख चुके है। इस प्रकार किसी न किसीको अविनाशी तो मानना ही होगा जिससे सभी पदार्थ वने। इसीलिये उसे कूटस्थ या निर्विकार कहा। क्योकि कोई पदार्थ विना विकार या खरावीके नाश हो नही सकता। साथ ही, वह भी पुरुष होगा, पूर्ण या व्यापक होगा। नही तो फिर विनाशी पदार्थ रूप पुरुषको वह वनायेगा कैसे? फलत उसे पुरुषका भी पुरुष होना चाहिये। मगर ऐसा तो कुछ होता नही। इसलिये उसे भी पुरुष ही कह दिया।

किन्तु उसका ससर्ग तो विनाशी से ही है, क्षरसे ही है न? इन्हींके वीच वह रहता जो है, सुखी-दुखी होता जो है। कलालीके पास खडा रहनेवालेकी ही तरह कमसे कम वह वदनाम तो होता ही है। परमात्मामें

यही बात नही है। इसीलिये वह अक्षर पुरुषसे उत्तम जरूर है। है तो वह इसीकी जाति-बिरादरीका। मगर उत्तम है। क्षरके साथ तो उसका कोई मुकाबिला हई नही है। वह तो इससे विपरीत है—लाख कोस दूर है। इसलिये कह दिया कि यह क्षरसे तो निराला हई, अलग हई, जुदा हई, भिन्न हई—"यस्मात्क्षरमतीत"। किंतु अक्षरसे भी उत्तम है। इसीलिये पुरुषोत्तम कहा जाता है। जीवको, अक्षर पुरुषको भी यही बनना है। एतदर्थ उसकी मैल धोना जरूरी है, उसमे साबुन लगाना जरूरी है। मैल है क्षर या प्रकृतिका ससर्ग और साबुन लगाना है आत्म-ज्ञान। यही है हमारे सभी प्रयत्नोका और मानवजीवनका चरम लक्ष्य। पुरुषोत्तम हो जाना ही सब कुछ है। यही बात नीचेके दो श्लोकोमे कहके अध्याय पूरा कर दिया है।

**यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।**
**स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत ॥१६॥**

**इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयाऽनघ।**
**एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात्कृतकृत्यश्च भारत ॥२०॥**

हे भारत, जो पूर्ण विवेकी मुझ पुरुषोत्तमको इस प्रकार जान जाता है वही सब पदार्थोका जानकार है और मुझे सम्पूर्ण जगत्के रूपमे ही भजता है। हे अनघ, मैने यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र बताया है। हे भारत, इसे ही जानने पर बुद्धिमान हो सकते है और कृतकृत्य भी।१६।२०।

इन श्लोकोमे और इनसे पहले भी जो आत्माके ही लिये 'अहम्', 'माम्' आदि बारबार आये है वे सचमुच ही अमूल्य है। ये शब्द आत्माको किस सुन्दर रूपमे खडा करते और उसे सम्पूर्ण ससारका रूप बना देते है, ब्रह्म रूप बना देते है, वासुदेव बना देते है! इन्हे बलात् तोड-मरोडके साकार ईश्वर या कृष्णके मानीमे घसीटना कितनी बडी निर्दयता है!

इसीकी पुष्टिमे कह दिया है कि इस आत्माको जाननेवाला सब कुछ जान जाता है। उसकी दृष्टिसे कोई भी क्षर अक्षर बच पाता नही। इसीलिये अपनेको आपको सभी पदार्थोंका रूप देखता है, मानता है, बना डालता है, खुद सबोकी आत्मा बन जाता है। यही है उसका सर्वभावेन भजन। उफ, कितना ऊँचा खयाल है, कितना ऊँचा आदेश है! एक पत्थर भी तोडिये तो वह ज्ञानी अपनेको ही टूटता देखता है! और चिहुँक उठता है! सहसा आह भर लेता है! उससे बढके जन-सेवक, ससार-सेवक और कौन है? सचमुच ही उससे बढके "सर्वभूतात्म भूतात्मा" तथा "सर्वभूतहितेरत" कौन हो सकता है? इसीलिये उसे पुरुषोत्तम कहा है। व्यष्टि और समष्टिकी या पिंड और ब्रह्माडकी एकता जो हो गई! उससे उत्तम और ऊँचा कोई भी, कुछ भी हुई नही! यही कारण है कि उसे अब कुछ भी करना-धरना रह नही जाता! उसने सबकुछ कर धर लिया! वह कृतकृत्य हो गया! अब अगर कुछ भी करता है तो इसीलिये कि उसका स्वभाव ही वैसा हो गया, न कि उस करने-धरनेमे कुछ प्रयोजन देखता है। इस अध्यायका विषय यदि यही पुरुषोत्तम है तो उचित ही है। सारे अध्यायका पर्यवसान ही उसीमे है।

**इति० पुरुषोत्तमयोगो नाम पचदशोऽध्याय.॥१५॥**

श्रीम० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सवाद है उसका पुरुषोत्तम-योग नामक पन्द्रहवाँ अध्याय यही है।

# सोलहवाँ अध्याय

जिस ज्ञानके बाद कृतकृत्यता हो जाती है और मस्ती आ जाती है, जिस दृष्टिके चलते जर्रे-जर्रे और परमाणु-परमाणुमे 'अहम्' नजर आता है, आत्मा ही दीखती है, वह कैसे प्राप्त हो यह बात अन्तिम बार अच्छी तरह बता दी जाय तो बेडापार हो। यद्यपि पहले भी इसके उपाय बताये गये है; अभी-अभी पन्द्रवें अध्यायमे ही यही यत्न सुझाया गया है; तथापि उतना ही कहना काफी नही है। उसमे अभी कसर है, कुछ और भी कहना रह जाता है जिसे पूरा करना जरूरी है। वह कमी खासी है, महत्त्वपूर्ण है, न कि ऐसी ही तैसी। उसे पूरा न कर देनेमे खतरा है, भारी खतरा है, यह बात कृष्ण स्वयमेव समझते थे। यही कारण है कि उनने बिना कहे-सुने, बिना पूछे ही उसे पूरा कर दिया और इसमे पूरे दो–१६-१७–अध्याय लगा दिये। यह कोई मामूली बात नही है, यह मानना ही होगा।

बात असल यह है कि ज्ञानकी प्राप्तिके साधनोको बता देनेपर भी दो चीजे रह गई है। एक तो यह कि इन साधनो पर चलनेमे खतरे क्या है, उन्हे अच्छी तरहसे बता देना। दूसरे यह कि जो भी साधन कहे गये है उनमे बुनियादी और मौलिक चीज क्या है जिसके बिना बाकी बेकार हो जाते है। साधनोके इन दोनो पहलुओको, या यो कहिये कि इन दो स्पष्ट पहलुओके साथ साथ उन साधनोको अन्तमे याद कर करा लेना जरूरी था। पहली बात निषेधात्मक (negative) है और दूसरी विधानात्मक (positive)। इस दृष्टिसे भी इन्हे जान लेना जरूरी था। निषेधात्मक पहलूमे सबसे बडी खूबी यह है कि वह न सिर्फ ज्ञान-

प्राप्तिके ही लिये जरूरी है, किन्तु उसके बाद भी आत्मज्ञानी पुरुषके व्यवहारमे वह कसौटीका काम करता है और इस प्रकार समाज-हित-साधन-में काम आता है। उसी प्रकार विधानात्मक पहलू भी ऐसा पारस है कि हजारो लोहेको सोना बना देता है। उसके हासिल हो जानेसे मनुष्य-के व्यावहारिक जीवनकी हजारो विधिनिषेधवाली दिक्कते हट जाती है और क्या करे, क्या न करे, इस तरहके उठनेवाले रोजके पचडोंसे पिंड छूट जाता है। इस उधेडबुनकी जरूरत रही नही जाती है। इस दृष्टिसे यह भी व्यावहारिक जीवनकी कसौटी ही है। मगर दोनोकी उपयोगिता-का रूप दो होनेसे दोनोकी महत्ता भी दो है। जिस प्रकार ये खुद निषेधात्मक और विधानात्मक है, उसी प्रकार इनकी उपयोगिता भी है। इस प्रकार इन दो अध्यायोका गीताधर्मकी दृष्टिसे बहुत अधिक महत्त्व है। यह बात हम पहले ही बखूबी समझा चुके है।

इन दो बातोमे भी निषेधात्मक पहलू अपेक्षाकृत सरल है। किसी चीजसे बचना उतना कठिन नही है जितना किसी बातका सम्पादन करना। यह बात भी है कि निषेधात्मक पहलू कूडा करकट हटाके सफाई कर देता है। उसके बाद विधानात्मक वस्तुके लाने या कायम रखनेमें गन्दगियोका खतरा नही रहनेसे आसानी हो जाती है। जब तक प्यालेको धोधाके निर्मल न बनायें उसमे दूध रखा कैसे जायगा? और उस रखनेके मानी क्या होगे? वह गन्दा और जहरीला न बन जायगा? यही कारण है कि सोलहवे अध्यायमे निषेधात्मक पहलूका ही विवेचन-विश्लेषण किया गया है। इसके पूरा हो जाने पर ही सत्रहवेंमे विधानात्मक पहलूकी बातें विस्तारके साथ लिखी गई है। इस तरह गीतोपदेशकी प्रगति स्वाभाविक ढगसे हो सकी है। इसकी इस अपूर्व लोकप्रियताका यह भी एक कारण है।

इस दृष्टिसे यदि हम सोलहवे अध्यायके प्रारभमें कही गई दैवी सम्प-

त्तियो पर गौर करे, तो देखेगे कि जो बाते यहाॅ कही गई है वह अधिकाश या रूपान्तरमे सबकी सब वही है जिनका उल्लेख "अमानित्वमदभित्व" (१३।७-११) आदि श्लोकोमे हुआ है। सख्या वढ जाने पर खामखा कुछ नई चीजे भी नजर आयेगी ही। जहाँ पहले कुल इक्कीस ही बाते कही थी तहाँ अब पूरी सत्ताईस आ गई! एक तो इसीसे अन्तर हो गया। दूसरे, गीताका काम हूवहू दुहराना या 'मक्षिकास्थाने मक्षिका' तो करना है नही। इसका तो काम है प्रकारान्तरसे उन्ही बातोको इस तरह कहना कि सुननेवालेको ऊब न हो सके और वाते दिलमें बखूबी वैठ भी जाये। आखिर कठिन तो हूई। इसीलिये दिलमे उनका जमना आसान नही है। जरूरत भी उन पर प्रकारान्तरसे जोर देनेकी इसीलिये पडती है।

इसे यो समझे। पतजलिने योगसूत्रोमें जिन यमो और नियमोको गिनाया है वह योगके लिये नींव है, दीवार है। उनके बिना योगका महल खडा होई नही सकता। इसीलिये योगके आठ अगोमे पहले दो यही यम-नियम ही है। हम पहले ही उस सूत्रको लिख भी चुके है। यह योग है भी क्या यदि गीताकी वह समाधि या ध्यान नही है जो ज्ञानकी पूर्णताके लिये अनिवार्य माना गया है और जिसका व्योरेके साथ गीताने वर्णन किया है? इसीलिये यम-नियम ही ज्ञान-प्राप्तिके मूल साधन है। दोनो ही पाँच-पाँच प्रकारके माने जाते है। अहिसा, सत्य, अस्तेय—चोरी न करना—ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह या पदार्थों और लवाजिमका न जमा करना यही पॉच यम है, "अहिसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमा" (२।३०)। इसी प्रकार शौच—शुचिता या पवित्रता—सतोष, तप, स्वाध्याय—सद्ग्रथोका अभ्यास और ईश्वर-भक्ति यही नियम है, "शौच सन्तोषतप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमा" (२।३२)। इनका जो कुछ विवरण भाप्य, टीकाओमे तथा स्मृतियोमे दिया गया है उसे पढके

इन्हीके आईनेमें अगर पहलेवाले २१ और यहाँके २७को देखें तो साफ पता चलेगा कि वे यही दस है, वे नामान्तरसे इन्हीका स्पष्टीकरण मात्र है।

इस सिलसिलेमे एक बात और भी ध्यान देनेकी है। पुराने लोगोने प्राय कहा है कि इन यम-नियमोमें भी यमोको तो कभी छोड नही सकते। उन्हे तो सदा करना ही होगा। हाँ, नियमोको ज्ञानके बाद छोड सकते है, छोड दे, "यमानभीक्ष्ण सेवेत नियमान्सत्परस्त्यजेत्" (भागवत ११।१०।५)। पतजलिने भी यमोके बारेमें लिखा है कि इनके पालनके लिये किसी खास देश, विशेष जाति, वश, कुल, निश्चित समय या कारण जरूरी नही है कि उन सबोंके पूरा न होने या न रहने पर ये यम छोड दिये जायँ। ये तो महाव्रत हैं और इन्हे हर हालतमे सब देश-कालमें सभी आदमियो-को करते ही रहना होगा, "जातिदेशकालसमयानवच्छिन्ना सार्वभौमा महाव्रतम्" (२।३१)। असलमें इन यमोका दूसरोसे, समाजसे सम्बन्ध होता है। यह बात नही है कि इन्हे जो पालन करे, जो इनपर अमल करे उसीका ताल्लुक और हिताहित इनसे होता है। यही कारण है कि इन्हे समाज-हित-साधनके खयालसे ही, या यो कहिये कि समाजकी बुनियाद समझके ही निरन्तर करना जरूरी हो जाता है। इसी दृष्टिसे इनका महत्त्व ज्यादा है। महाव्रत भी इन्हे कहनेका यही अभिप्राय है।

विपरीत इसके नियमोको व्रत ही माना है। उनके देखनेसे ही साफ मालूम हो जाता है कि उनका ताल्लुक केवल उसी व्यक्तिसे है जो उनपर अमल करे। इसीलिये अपनी जरूरत न रहनेपर उन्हें वह छोड भी दे सकता है, छोड भी देता है। सोलहवें अध्यायमे जो कुछ कहा गया है वह इन्हीं यमोके इसी पहलूपर पूर्ण प्रकाश डाल देता है।

बेशक, शुरूके श्लोकोमें विधानात्मक बातें गिनाई गई है। इस तरह पूरे तीन श्लोकोको उनने ही ले लिया है। विपरीत इसके एक ही—चौथे—

श्लोकमे निषेधात्मक बात कही गई है। मगर जब हम गौर करे तो पता लगेगा कि दैवी सम्पत्तिके रूपमे जो बाते कही गई है वह आसुरी सपत्तिके मुकाबिलेके ही लिये, ताकि इनका महत्त्व झलक जाये और लोग मुस्तैदी-से इन्हे सम्पादन करें। यही वजह है कि जहाँ तेरहवे अध्यायमे एक भी आसुरी बातको न कहके साफ ही कह दिया था कि दैवी सम्पत्तियो एवं ज्ञानके साधनोसे उल्टी जितनी है वह सभी आसुरी संम्पत्ति तथा अज्ञानके साधन है और इस तरह कमसे कम इक्कीस तो आ गई है, तहाँ यहाँ चौथे श्लोकमे सिर्फ छेका ही नाम लेके काम खत्म किया है। इससे यह मतलब तो हर्गिज नही निकलता कि बाकियोको छोड ही दिया है। यह भला होगा कैसे ? फलत इसका यही अभिप्राय है कि नमूनेके रूपमे छेको गिनाके इसीलिये छोड दिया है कि आगेके कुल पूरे १६ (७-२२) श्लोकोमे इन्हीका विवरण मौजूद है, इनका नगा चित्र खीच दिया गया है। बल्कि छठे श्लोकको भी उन्हीमे गिन सकते है। क्योकि भूमिकाके ही रूपमे वह आया है। उसमें कहा गया है कि जरा गौरसे सुनिये कि बात क्या है। इसीलिये छेके मानी है कमसे कम सत्ताईस दैवी सम्पत्तियोके विपरीत सत्ताईस आसुरी तो जरूर ही। अगर कुछ और भी आ जाये तो ठीक ही है। बीचमे जो पाँचवाँ श्लोक है वही इस अध्यायके मुख्य विषयकी ओर ध्यान दिलाता है। वह बताता है कि यही इसकी असल बात है। उसमे अर्जुनको आश्वासन देनेकी बात तो यो ही प्रासगिक है, ताकि उसकी घबराहट जाती रहे।

तीन गुणोका पहले वर्णन आता रहा है। उनमे सत्त्वगुणके सम्पादन पर "नित्यसत्त्वस्थ" (२।४५)मे जोर दिया गया है। उसी गुणके फल-स्वरूप कुछ विशेषताएँ शरीरमे नजर आती है। शरीर और इन्द्रियाँ हलकी होती है, भारी नही रहती है, आलस्य नही रहता है और प्रकाश प्रतीत होता है। यह बात चौदहवे (१४।११)मे कही गई है। ऐसी ही

दशामें जितनी भी सात्त्विक बातें मनुष्यमे पाई जाती है उन्हीको दैवी सम्पत्ति कहा है। विपरीत इसके रजोगुण एव तमोगुणकी वृद्धिकी दशामें जो बाते चौदहवें (१४।१२-१३) मे पाई जाती है तथा उन्हीके फलस्वरूप उनका जितना भी परिवार हो वही आसुरी सम्पत्ति है। इसमें भी तामसी बातोपर ही ज्यादा जोर है। इस दलमें उन्हीकी प्रधानता है। लेकिन जब राजसी बातें दैवी सपत्तिमें आ सकती है नही, तो उन्हे आसुरीमे ही जाना होगा।

अभिजात शब्दमें जो 'अभि' आया है उसके चलते ऐसा अर्थ हो जाता है कि जो दैवी या आसुरी सम्पत्तियोमें लिपटा और सना हुआ हो, जिसके चारो तरफ वही पाई जाये।

श्रीभगवानुवाच

**अभयं सत्त्वसशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थिति.।**
**दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥१॥**
**अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्याग. शान्तिरपैशुनम्।**
**दया भूतेष्वलोलुप्त्व मार्दव ह्रीरचापलम् ॥२॥**
**तेज क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।**
**भवन्ति संपदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥३॥**

श्रीभगवान बोले—हे भारत, निर्भयता, अन्त करणकी निर्मलता, ज्ञान एव योगमें जम जाना, दान, इन्द्रियोपर नियत्रण, यज्ञ, सद्ग्रथ-पाठ, तप, नम्रता, अहिंसा, सत्य, क्रोधका त्याग, पदार्थोका त्याग, शाति, दूसरेका ऐब न देखना, पदार्थों पर दया, विषयोकी ओर ज्यादा झुकाव न होना, कोमलता, लज्जा, चपलताका न होना, हिम्मत, क्षमा, धैर्य, पवित्रता, दूसरोको सतानेका खयाल न. होना, मगरूरीका न होना—(यही चीजे) दैवी सम्पत्तिवालोमे पाई जाती है। १।२।३।

सत्त्वकी शुद्धिका अर्थ है मन और बुद्धिकी निर्मलता। वह तभी होती है जब सत्त्वगुण खूब वृद्धि पर होता है और रज, तमको अच्छी तरह दबाये रहता है। इसीलिये सत्त्व शब्दका प्राय प्रयोग अन्त करणके मानीमें होता है। क्योकि वह तो सत्त्व-प्रधान होता ही है। सशुद्धिमे सत्त्वकी वह प्रधानता और भी काफी बढ जाती और जम जाती है।

ज्ञान एव योग दो चीजे है। ज्ञानका अर्थ है पढ-लिख या सुनके जानकारी। योगका अर्थ है उसी पर अमल।

**दंभो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।**
**अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम् ॥४॥**

हे पार्थ, दिखावटी बात, फूलके कुप्पा हो जाना, घमड, क्रोध, कटुवचन और अज्ञान—(यही) आसुरी सपत्तिवालोमे पाये जाते है।४।

**दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।**
**मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पांडव ॥५॥**

दैवी सपत्ति जन्म-मरणसे छुटकारा दिलाती है और आसुरी बन्धनमे डालती है ऐसा माना जाता है। हे पाडव, चिन्ता मत करो, तुम दैवी सपत्तिवाले ही हो।५।

**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन्दैव आसुर एव च।**
**दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु ॥६॥**

हे पार्थ, पदार्थोंकी (और इसीलिये प्राणियोकी भी) सृष्टि दोई प्रकारकी है—देव और असुर। इनमे दैवी प्रकृतिवालोको तो विस्तारसे कही चुके है। (अब) असुरोंको भी मुझसे सुन लो।६।

"द्वया ह प्राजापत्या देवाश्चासुराश्च" (बृहदा० १।३।१)के अनुसार सृष्टिके दोई विभाग माने गये है। इनमें दैव या दैवी प्रकृतिवालोका तो स्थितप्रज्ञ, भक्त, गुणातीत तथा अन्य अनेक रूपोमे पहले वर्णन आया ही

है। सो भी बार-बार। इनके विस्तृत वर्णनके कहनेका आशय यही है कि असुरो या आसुरी स्वभाववालोका यदि वर्णन कही पहले आया भी है तो सक्षेपमे ही। दृष्टान्तके लिये "अवजानन्ति मा मूढा" (९।११-१२)-में। इसी प्रकार "कर्मेन्द्रियाणि सयम्य" (३।६) तथा "भुजते ते त्वघ पापा" (३।१३)में भी जरासा वर्णन है। तेरहवे अध्यायमे असुरोका तो नही, मगर उनकी प्रकृतिका जरासा "अज्ञान वदतोऽन्यथा" (१३।११)-मे उल्लेख है। इसी तरहके उल्लेख जरामरा आते गये है सही। मगर विस्तृत वर्णन कही न हो सका है। इसीलिये यहाँ एक ही बार पूरेका पूरा दे दिया गया है। हमने इसपर सभी पहलुओसे विचार करके पहले ही काफी प्रकाश डाला है।

**प्रवृत्ति च निवृत्ति च जना न विदुरासुराः।**
**न शौचं नापि चाचारो न सत्य तेषु विद्यते ॥७॥**
**असत्यमप्रतिष्ठ ते जगदाहुरनीश्वरम्।**
**अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ॥८॥**

असुर लोग कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य जानते ही नही। उनमे पवित्रता, आचरण—जैसा कहना वैसा करना और सत्यका तो पता ही नही होता। सत्पदार्थ या ब्रह्मसे ही यह जगत बना है, उसीमे कायम है और अन्तमे उसीमे जा मिलता है, ऐसा न मानके वह जगतको विना ईश्वरके ही मानते हैं (और कहते हैं कि) कामवासनाके वशीभूत स्त्री-पुरुप या नर-मादाके सम्बन्धसे पैदा होनेके अलावे इसमे और हुई क्या?।७।८।

वहुत लोगोने इस आठवें श्लोकके अर्थमें अपने सस्कृतके व्याकरण-ज्ञानका अजीर्ण मिटाया है। उनने कहा है कि अपर तथा पर शब्दोका समास होनेपर अपरपर होगा न कि अपरस्पर, हालाँकि "अपरस्परा क्रियासातत्ये" (पा० ६।१।१४४)के अनुसार ही अपरस्पर बनता है। यहाँ क्रियासातत्य या कामका जारी रहना तो हुई। सारा ससार ही

निरन्तर पदार्थोंके सम्मिश्रणसे ही बनता है। इसमे जरा भी विराम नही है। असुर लोग यदि यह भी कहने लगें कि दो पदार्थोंके सयोगसे कुछ भी नही बना है, जब कि हमेशा सयोगसे ही असख्य पदार्थ और जीव-जन्तु पैदा हो रहे है, तो यह कितनी नादानी होगी? "कामहैतुकम्"का भी मेल यहाँ बिना परस्पर सयोगके होई नही सकता। कामका अर्थ है प्रेरणा या इच्छा, चेतन प्राणधारियोकी ही तरह जडोमे भी प्रेरणा होती ही है और पदार्थोंका परस्पर समिश्रण होके नया पदार्थ तैयार हो जाता है। यहाँतक कि परमाणुवादी दार्शनिकोने सृष्टिके आरभमे परमाणुओमे ही परस्पर प्रेरणा मानके उनमें सयोग माना है। यह कहना भी कि 'असत्यम्' आदि पूर्वके तीन शब्दोकी ही तरह नहींके ही अर्थमे अपरस्पर शब्दमे पहलेका अकार है, ठीक नही है। उत्तरार्द्धमे यह बात नही है, किन्तु पूर्वार्द्धमे ही। उत्तरार्द्धमे तो 'कामहैतुकम्' आदि कई शब्द है। मगर किसीके साथ ऐसा अकार जुटा नही है। तब उन्हीके साथी अपरस्परमे ही क्यो माना जाय? और निकटके साथियोको छोड़ दूरवर्त्तियोसे उसकी मिलान भी क्यो की जाय?

**एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।**
**प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः॥९॥**

जिनकी आत्मा पतित हो चुकी है ऐसे नासमझ लोग इसी विचारको लेके जगत्के अहित बन जाते और उसके सत्यानाशके लिये (घोरसे) घोर कर्मतक कर डालते है।९।

**काममाश्रित्य दुष्पूरं दंभमानमदान्विताः।**
**मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः॥१०॥**

कभी पूरी न हो सकनेवाली आकाक्षाये लिये, दिखावटी बात, घमड तथा नशेमे चूर और नापाक कामोमे ही लगे (ये लोग) भूलसे गलत बातोके हठमे आके काम करते रहते है।१०।

चिन्तामपरिमेयां च प्रलयान्तामुपाश्रिता. ।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिता. ॥११॥

आशापाशशतैर्बद्धा. कामक्रोधपरायणाः ।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसचयान् ॥१२॥

मरणतक कायम रहनेवाली बेहिसाब फिक्रमे डूबे हुए, 'खाओ-पीओ, मौज करो' यही जिनका सब कुछ निश्चय है, सैकडो आशाओके फन्देमें फँसे हुए तथा विषयोंके भोगमे ही लिपटे हुए (ऐसे लोग) अन्यायसे ही धन-सचयका यत्न करते रहते है ।११।१२।

इदमद्य मया लब्धमिमं प्राप्स्ये मनोरथम् ।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम् ॥१३॥

असौ मया हत: शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि ।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी ॥१४॥

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया ।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिता. ॥१५॥

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृता ।
प्रसक्ता. कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ ॥१६॥

यह चीज तो आज मैंने हासिल कर ली, यह (दूसरी) भी पा लूंगा ही, इतना धन तो मेरे पास हई (और) यह और भी मिली जायगा, अमुक शत्रु तो मैंने खत्म करी दिया, दूसरोंको भी मार डालूंगा, मै सबका मालिक हूँ मैं ही भोग करनेवाला हूँ । सब तरहसे सपन्न, बलवान और सुखी भी मैं ही हूँ । धनी हूँ, कुलीन हूँ । मेरे समान और कौन है ? यज्ञ करूंगा, दान दूंगा और मौज करूंगा । इसी तरहकी भूल-भूलैयोंमें (वे लोग) पडे रहते है । (इस तरह) अनेक (वाहियात) खयालोंमे ही भूले, मोहके

जालसे अच्छी तरह घिरे और विषयभोगमे डूबे (ऐसे लोग) गन्दे नरकोमे जा डूबते हैं।१३।१४।१५।१६।

आत्मसंभाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः ।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दंभेनाविधिपूर्वकम् ॥१७॥

खुद अपनी तारीफके पुल बाँधनेवाले, उजड्ड तथा धनके अभिमानके नशेमे चूर वे लोग दिखानेके लिये नाममात्रके यज्ञ भी कर डालते हैं ।१७।

अहंकारं बलं दर्पं कामं क्रोधं च संश्रिताः ।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः ॥१८॥
तानहं द्विषतः क्रूरान्संसारेषु नराधमान् ।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु ॥१९॥

अहकार, वल, मनमानी घरजानी, काम तथा क्रोधके वशीभूत, अपने एव दूसरे शरीरोमे आत्माके रूपमें रहनेवाले मुझसे बुरी तरह जलनेवाले और हर चीजके निन्दक (ही ये होते हैं)। इस तरह जलने या द्वेष करनेवाले, उन निर्दय एव नापाक नराधमोको मै इस ससारकी आसुरी योनियोमे ही निरन्तर डाला करता हूँ ।१८।१९।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि ।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यांत्यधमां गतिम् ॥२०॥

हे कौन्तेय, (ये) मूढ लोग लगातार (अनेक) जन्मोमे आसुरी या गन्दी और पतित योनियोमे ही जन्म लेनेके कारण मुझ (आत्मा-परमात्मा)-को तो जान पाते ही नही। फलत उनकी और भी अधम गति होती है ।२०।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥२१॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम् ॥२२॥

आत्माको चौपट करनेवाले नर्कके यही तीन द्वार हैं—काम, क्रोध, लोभ। इसलिये इन तीनोंसे पिंड (जरूर) छुडा लें। हे कौन्तेय, नर्क रूपी अन्धकारके इन तीन द्वारोंसे जिसका पल्ला छूटा है वही अपने कल्याणका काम कर सकता है और फलस्वरूप परमगति प्राप्त करता है।२१।२२।

पहले भी "कामात्क्रोधोऽभिजायते" (२।६२) तथा "कामएष" (३।३७-४३)में काम और क्रोधका इसी सिलसिलेमे पूरा वर्णन आ चुका है। वहाँ दोनोको एक ही कहा है। यहाँ भी वही बात है। केवल दोनोके साथ तीसरा—लोभ—जुट गया है। मगर यह भी दोनोंसे जुदा नही है। सच पूछिये तो कामके क्रोध रूपमें परिणत हो जानेके लिये बीचमें ही यह लोभ आता है और दोनोको जोडनेवाली सीढीका काम करता है। काम या इच्छाकी तीव्रता ही तो लोभ है, जिसके चलते पदार्थको अपने पाससे जुदा न होने देने और न मिले हुएको चाहे जैसे हो प्राप्त कर लेनेका खयाल भी आ जुटता है। फिर तो जरा भी बाधा या देर होनेसे वही काम जलते क्रोधका रूप खामखा बन जाता है। हमने इन बातोका बहुत कुछ विवेचन पहले किया है।

अबतक जो कुछ निरूपण किया गया है उससे पूरा पता चल गया है कि ज्ञानमार्गमे और समाजके सचालनमे असली खतरे कौन-कौनसे हैं। उनका नग्न रूप पिछले सोलह श्लोकोमे आ गया है, जिससे किसी भी सहृदय पुरुषका हृदय एकाएक सिहर जा सकता है। फलत. वह इनसे पूरी तौरसे सजग हो सकता है। मगर यह निरूपण एक प्रकारका जगलसा हो गया है। इसलिये जनसाधारण उसमें आसानीसे भटक जा सकते हैं। इसीलिये और आसानी तथा सरलताके भी लिहाजसे, जैसे सृष्टिके पँवारे और विस्तारको अन्तमे तीन गुणोके रूपमे ही बता दिया गया है

वैसे ही, इन सारी जगल जैसी विस्तृत बातोका भी काम, क्रोध, लोभ इन तीनके ही रूपमे यहाँ निचोड़ दे दिया है। अब इन्हे आसानीसे समझा और पकडा जा सकता है। ये सबोकी समझमे आते भी है। इसीलिये सबोंसे बचनेकी अपेक्षा इन्ही तीनसे बचनेकी बात आसानीसे कहके काम भी पूरा कर दिया है। इससे साफ है कि जब सबोकी जडमें यही है, जैसा कि "ध्यायतो विषयान्" (२।६२)मे साफ बता दिया है, तो फिर सबोसे ही क्यो न बचेगे ?

अब प्रश्न होता है कि इनसे बचे कैसे ? पिंड कैसे छुड़ाये ? आखिर कोई प्रणाली या तरीका तो चाहिये ही। योही तो कुछ होगा नही। इसीका उत्तर यो है—

**यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामकारतः।**
**न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ।२३।**
**तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।**
**ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्त्तुमिहार्हसि ।२४।**

जो शास्त्रीय प्रणालीको छोडके अपने मनसे चलेगा उसका न तो कार्य ही सिद्ध होगा, न उसे आराम ही मिलेगा और न परमगति ही। इसीलिये तुम्हे उचित है कि कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी पक्की व्यवस्था करनेमे शास्त्रको ही प्रमाण मानो। शास्त्रविधानको जानकर ही तुम्हें इस दुनियामे सब कुछ करना होगा ।२३।२४।

इसपर पूरा प्रकाश पहले ही डाला जा चुका है।

**इति० दैवासुरसंपद्विभागयोगो नाम षोडशोऽध्यायः ॥१६॥**

श्रीम० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सवाद है उसका दैवासुर-सपत्ति-विभागयोग नामक सोलहवाँ अध्याय यही है।

# सत्रहवाँ अध्याय

गीतामे श्रद्धाकी वात पहले वहुत वार आ चुकी है। किसी भी कामकी सफलताके लिये उसे वुनियादी तौरपर जरूरी माना गया है। "श्रद्धावन्तोऽनसूयन्त" (३।३१), "श्रद्धावाँल्लभते ज्ञान" (४।३९), "अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च" (४।४०), "अयति श्रद्धयोपेत" (६।३७), "श्रद्धावान्भजते" (६।४७), "श्रद्धयार्चितुमिच्छति", "श्रद्धा तामेव", "स तया श्रद्धया युक्त" (७।२१-२२), "अश्रद्दधाना पुरुषा" (९।३) तथा "येप्यन्यदेवताभक्ता" (९।२३) आदिमे सभी प्रकारकी सफलताके लिये यह श्रद्धा आवश्यक मानी गई है। हमने जगह-जगह यह वात स्पष्ट भी कर दी है। फिर भी दार्शनिक ढगसे उसका विवेचन और विश्लेषण अभीतक नही हो पाया है और है यह निहायत जरूरी वात। ऐसी मौलिक वात योही एक श्रद्धा शब्दसे या इसीके सूचक किसी और शब्दसे ही कह दी जाय, यह तो अत्यन्त नाकाफी है। इस वातका तो पूरा विवरण होना चाहिये। इसकी सारी भीतरी वातें खुल जानी चाहियें। जैसे सोलहवे अध्यायमें यम-नियमोका हीर निकालके रख दिया गया है और उस सम्वन्धकी सारी वातोका नग्न चित्र खीचा गया है, उससे कम जरूरत इस वातकी नही है। प्रत्युत सोलहवेमे तो अन्ततोगत्वा निषेधात्मक वात ही कही गई है न? परन्तु यह है विधानात्मक। इसीलिये इसकी कठिनता तथा उपयोगिता स्वयसिद्ध है। ऐसी दशामे इसका विश्लेषण और भी ज्यादा होना चाहिये और यही वात सत्रहवे अध्यायमें की गई है। गीताधर्मसे इसका कितना गहरा एव वुनियादी ताल्लुक है और इस निरूपणका असली आशय क्या है यह बात हमने खूब विस्तारके साथ पहले ही वता दी है।

उसे पढे विना इसके पढनेमे न तो मजा आयेगा और न यह बात ठीक-ठीक समझी ही जा सकेगी ।

यह श्रद्धा तीन प्रकारकी मानी गई है । क्योकि श्रद्धा तो मनुष्यमे ही होती है और उसके हरेक गुण होते है तीनो गुणोके आधारपर बनी उसकी प्रकृतिके ही अनुसार । यह बात भी अच्छी तरह प्रतिपादित हो चुकी है । यही वजह है कि श्रद्धा भी तीन प्रकारकी होती ही है । इसीलिये उसी श्रद्धाके अनुसार किये गये सभी कर्मोका भी तीन प्रकारका हो जाना जरूरी है । इसी दृष्टिसे नमूनेके रूपमे ही भोजन, यज्ञ, तप, दानका वर्णन भी आ गया है । असलमे भोजनका ताल्लुक तो सीधे श्रद्धासे है नही । हाँ, गुणोसे तो हई । यह वात भी है कि जैसा भोजन होता है वैसा ही स्वभाव भी होता है । इस तरह भोजनका सम्वन्ध सभी चीजोसे मूल रूपमे हो जाता है । श्रद्धा भी इसीलिये भोजनके साथ घनिष्ठताके साथ जुट जाती है । इसीलिये पहले भोजनका ही विवरण देके उसके वाद तीन प्रमुख कर्मोका विवरण दिया है । श्रद्धाके विना जो कुछ भी किया जाता है वह गीताके दायरेके वाहर की चीज है । इसीलिये गीता उसे पूछतीतक नही । वह गीताकी गिनतीमे हई नही । वह तो न यहाँका है, न वहाँका । वह तो "धोवीका कुत्ता न घरका है, न घाटका" । इसीलिये गीताने इस अध्यायके अन्तमे उसे असत्, व्यर्थ, रद्दी कहके एक प्रकारसे धिक्कारा है ।

तपमे एक वात और भी आ गई है । वह कायिक, वाचिक, मानसिक रूपमे तीन प्रकारका होता है । फिर हरेकके तीन-तीन प्रकार, श्रद्धाके भेदसे कहिये, गुणके भेदसे कहिये, होनेसे तपके नौ प्रकार हो गये है ।

इसका प्रसग भी सोलहवे अध्यायके अन्तवाले दो श्लोकोने ला दिया है । वहाँ तो सीधा प्रसग था काम, क्रोध एव लोभके ही मिटानेका । मगर वह तो निचोड ठहरे उन समूची सम्पत्तियोके ही जो समाजके लिये

घातक है। फिर आत्मदर्शन जैसी नाजुक चीजका क्या कहना ? इसे तो वे पलक मारते ही मटियामेट कर दे । इसीलिये जो मार्ग उनके मिटानेका वहाँ बताया गया है वह केवल काम, क्रोधादि तक ही सीमित न रहके कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य क्षेत्रके विस्तृत दायरेके भीतर आ जानेवाली सभी बातोको ही उसने साथमे ले लिया है। फलत कर्म या कर्त्तव्य मात्रके ही बारेमे तय पाया गया कि शास्त्रीय विधानको जानके ही तदनुसार ही अमल करना चाहिये। ठीक भी है। हरेक बातोंके जुदे-जुदे शास्त्र होते है। यहाँतक कि खेल-कूदके लिये भी लम्बे-चौडे शास्त्र बन चुके है। इसलिये यह तो उचित ही है कि जो भी कुछ करना हो उससे पहले तत्सम्बन्धी शास्त्रका अनुशीलन किया जाय, उसके जानकारोसे ही पूछ-ताछ की जाय। दूसरा चारा हई नही, यदि सफलता चाहते है।

इसपर एकाएक अर्जुनके भीतर खलबलीका मच जाना और उसका चटपट प्रश्न कर बैठना स्वाभाविक था और इसीसे इस अध्यायका श्रीगणेश भी हो गया। शास्त्र और उसका विधान ये शब्द कुछ ऐसे है कि जनसाधारणको खटक जाते है, इस मानीमे कि वे बहुत बडी चीजे है जो उनकी पहुँचके बाहरकी है। तिसपर भी तुर्रा यह कि "किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिता"(४।१६)के द्वारा खुद कृष्णने ही पहले ही कह दिया है कि कर्म-अकर्मकी पहेली ऐसी पेचीदा है कि बडे-बडे दिमागदार भी चकरा उठते है। तो फिर जनसाधारण उन दिमागदारोके बनाये शास्त्रको कैसे जान पायेंगे ? यह तो निरी असभवसी बात है। और अगर न जाने तो सारा कारबार ही बन्द हो जाय। क्योंकि ऐसा ही हुक्म हो गया ! अर्जुनने स्पष्ट देखा कि जिसपर हमारा कोई वश न हो उसीके पहियेमें हमे और हमारे कर्त्तव्याकर्त्तव्यको बाँध देना कहाँतक उचित है। उसे तो यह बात जँच न सकी। हाँ, जो चीज अपने वशकी है और जिसे ईमानदारी तथा दृढ सकल्प कहते है, अपने लक्ष्य और उसकी सिद्धिके उपायमे

अटल विश्वास कहते है, उसके ऊपर यदि कर्म-अकर्मकी निर्भरता हो तो यह वात समझमे आती है। यही उचित भी है। इसीका दूसरा नाम श्रद्धा है। लेकिन अगर किसीने श्रद्धाके साथ कर्म तो किया, फिर भी शास्त्रीय विधिविधान नही जानता है, तो उसकी क्या गति होगी, यह प्रश्न स्वाभाविक था। उसने समझा कि वह तो कहीका न रहेगा, जैसा कि अभी कहा है। मगर यह तो ठीक नही जँचता।

निष्ठा, गति या हालत एक ही बात है और घवराके यही जाननेके लिये—

## अर्जुन उवाच

**ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।**
**तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः ॥१॥**

अर्जुनने पूछा (कि) हे कृष्ण, जो लोग शास्त्रीय विधिकी पाबन्दी न करके श्रद्धाके साथ यज्ञादि क्रिया करते है उनकी क्या हालत है? (उनकी गिनती किस श्रेणीमे है?) सत्त्व, रज या तममे?।१।

असलमे तीन गुणोके वाहर तो कोई जा सकता नही। इसीलिये स्वभावत अर्जुनने पूछा कि वे लोग सात्त्विक होगे या राजस या तामस? कृष्णने उत्तर भी वैसा ही दे दिया कि जैसी श्रद्धा होगी वैसे ही वे लोग होगे, चाहे शास्त्रीय विधिकी पाबन्दी करे या न करे। असलमे उनके कहनेका आशय यही है कि शास्त्रीय पाबन्दी न रखनेसे नीचेसे ऊपरतक अराजकता हो जायगी और सब गडबड-घोटालेमे पड जायगा। इसलिये कोई व्यवस्था तो चाहिये ही और वह हो सकती है केवल शास्त्रीय विधि ही। दूसरेकी तो सभावना हई नही। यदि योही श्रद्धाके नामपर छोड़ दिया जाय तो लाखोमे शायद ही एकाध ठीक-ठीक उसके अनुसार करे। शेष तो अन्धाधुन्धी ही मचा देगे। यदि दुनियामे ईमानदारी और सचाई

ही मनमें होती और दृढ़ संकल्प ही पाया जाता, तो फिर उपदेशकी जरूरत ही क्यों होती ? यहाँ तो उलटी गंगा बहती है। इसीलिये नियन्त्रण रखना जरूरी है। मगर जो लोग सच्चे, ईमानदार और धुनवाले हैं उनके लिये तो छुट्टी ही है। उनके तो चरण चूमते हैं शास्त्रीय विधि-विधान। कारण, इनका भी तात्पर्य है धीरे-धीरे वैसे ही लोगोंको पैदा करना। यही बात—

## श्रीभगवानुवाच

त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु ॥२॥
सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः ॥३॥

श्रीभगवान बोले (कि) देहधारियोंकी वह स्वाभाविक श्रद्धा तीन तरह की होती है—सात्त्विक, राजस और तामस। उसके बारेमें और भी सुन लो। हे भारत, सबकी श्रद्धा सत्त्वगुण (की कमी-बेशी, प्रधानता-अप्रधानता)के ही अनुसार होती है। (क्योंकि) मनुष्य तो श्रद्धामय है। (इसीलिये) जिसकी जैसी श्रद्धा है वह वैसा ही है। २।३।

प्रश्न हो सकता है कि इसकी पहचान क्या है ? आखिर कैसे जानें कि कौन आदमी कैसा है ? उत्तर सुनिये—

यजन्ते सात्त्विका देवान्यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः ॥४॥
अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दंभाहंकारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः ॥५॥
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
मां चैवान्तःशरीरस्थं तान्विद्ध्यासुरनिश्चयान् ॥६॥

सात्त्विक जन देवताओंका यजन-पूजन करते हैं, राजस लोग यक्ष-राक्षसोंका और शेष तामस लोग प्रेतों तथा भूतगणोंकी यज्ञपूजा करते हैं। शास्त्रोंमें विहित न हो ऐसे तपको दंभ, अहंकारसे युक्त और काम, राग, बलवाले जो लोग करते हैं (और इस तरह) शरीरके भीतर रहनेवाले पदार्थ समूहको और अन्त करणमें रहनेवाले मुझ आत्माको भी कमजोर करते रहते हैं, उन्हें आसुरी निश्चयवाले ही समझो।४।५।६।

यहाँ पहले तो ऐसे लोगोंके तीन भेद वताये गये हैं और उनकी पहचान दी गई है। देवसे अभिप्राय है सात्विक दिव्यशक्तियोंसे ही, न कि साधारण देवताओंसे। क्योंकि वे तो राजस और तामस ही हुआ करते हैं। "एको देव सर्वभूतेषु गूढ"(श्वेता० ६।११), "ये पूर्व देवा ऋषयश्च तद्विदु" (श्वेता० ५।६) तथा "एष देवो विश्वकर्मा" (श्वेता० ४।१७) आदिमें भगवान, विष्णु, विद्वान आदिको ही देव कहा है। यही उचित भी है। साधारण देवताओंके पूजक तो स्वर्गादि चाहते हैं और सत्त्वका काम है ज्ञान। इसीलिये यक्ष, राक्षसका अर्थ वैसे ही देवताओंसे है। जो तामसी देवता हैं उन्हींको प्रेत-भूतके नामसे गिनाया है। वे हजारों हैं और उन्हें जनसाधारण खूब मानते-जानते हैं। इसीलिये उनके गणका उल्लेख किया है। बाकियोंके गण या समूह होनेपर भी वे उतने परिचित नहीं हैं। मगर भूत-प्रेत तो घर-घर जुदे-जुदे हैं। जोई मर गये या गुजर गये उन्हींको भूत-प्रेत कहते हैं। शब्दार्थ भी यही है।

यहाँ पाँचवें और छठे श्लोकोंमें जो कुछ कहा है वह यद्यपि शास्त्रीय विधिसे वाहरवालोंके ही कर्म हैं, तथापि उनसे मतलब श्रद्धाशून्य कर्मोंसे ही है। दिखावटी या अहंकारपूर्वक किये गये कर्म तो सदा श्रद्धाशून्य हुआ ही करते हैं। इसी तरह काम, राग या बलपूर्वक भी जो कुछ किया जाता है वह भी श्रद्धाशून्य ही होता है। श्रद्धाकी वहाँ गुजर कहाँ? पहुँच कहाँ? इसीलिये तो आत्मा, इन्द्रियों तथा रक्तमांसादिके कृश

करनेकी वात कही गई है। इन्द्रियो या रक्तमासादिकी कृशता उनकी कमजोरी और दुर्वलता ही है। मगर आत्माकी कृशता है उसका पतन; उमकी विवेकशून्यता। यदि कर्शयन्त की जगह कर्षयन्त पाठ हो तो भी नीचे खीचना या ले जाना—घसीटना—ही उसका अर्थ है और कोई फर्क नही है। इसीलिये श्रद्धाका पता वहाँ नही रहता। ऐसे कर्मोंकी गिनती गीता करती ही नही। अन्तवाले (२८वे) श्लोकमें आमतौरसे इन्हें दूषित ही ठहराया है। यहाँ भी उसीका नमूना बताया गया है। परन्तु यह वात योही प्रसगसे आ गई है। प्रसग तो त्रिविध गुणमूलक पदार्थोंका ही है। इसीलिये आगेके श्लोकोमे वही तीन प्रकारका वर्णन यो लिखा है—

**आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रिय'।**
**यज्ञस्तपस्तथा दान तेषा भेदमिम शृणु ॥७॥**

सभीका प्रिय आहार भी तीन प्रकारका होता है (और) यज्ञ, तप तथा दान भी। इनके ये प्रकार सुन लो।७।

**आयु.सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धना'।**
**रस्या स्निग्धा. स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः ॥८॥**

**कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन।**
**आहारा राजसस्येष्टा दु'खशोकामयप्रदाः ॥९॥**

**यातयाम गतरस पूति पर्युषित च यत्।**
**उच्छिष्टमपि चामेध्य भोजन तामसप्रियम् ॥१०॥**

आयु, सत्त्वगुण, वल, नीरोगता, सुख एव प्रसन्नताको बढानेवाले, रसीले, चिकने या स्नेहयुक्त, कुछ देरमें पचनेवाले और चित्तको पसन्द आनेवाले आहार सात्त्विक जनोंके प्रिय होने है। कडवे, खट्टे, नमकीन, ज्यादा गर्म, चरपरे, रूखे तथा जलन पैदा करनेवाले आहार राजस लोगोके प्रिय होते तथा दु ख, शोक, वीमारी पैदा करते है। जिसे वने एक पहर

गुजर गया हो ऐसा, नीरस, दुर्गन्धयुक्त, वासी, जूठा और नापाक भोजन तामस लोगोको पसन्द आता है ।८।९।१०।

> अफलाकांक्षिभिर्यज्ञो विधिदृष्टो य इज्यते ।
> यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः ॥११॥
> अभिसंधाय तु फलं दंभार्थमपि चैव यत् ।
> इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम् ॥१२॥
> विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम् ।
> श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते ॥१३॥

फलकी आकांक्षा न रखनेवाले लोग शास्त्रीय विधिके अनुकूल जो यज्ञ 'हमारा यह कर्त्तव्य है' इसी विचारसे मनको निश्चल और एकाग्र करके करते है वही सात्त्विक यज्ञ है । हे भरतश्रेष्ठ, जो यज्ञ फलेच्छा रखके और दिखानेके लिये भी किया जाता है उस यज्ञको राजस जानो । शास्त्रीय विधिसे रहित, अन्नदानशून्य, विना मन्त्र (और) विना दक्षिणाके ही तथा श्रद्धाके विना ही किये गये यज्ञको तामस कहते है ।११।१२।१३।

> देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम् ।
> ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते ॥१४॥
> अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितं च यत् ।
> स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥१५॥
> मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
> भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥१६॥

देवता, ब्राह्मण, गुरु, विद्वान् इन सबोंकी सत्कार-पूजा, पवित्रता, नम्रता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा (यही) शरीरका तप कहा जाता है । किसी-को न चुभनेवाला, सत्य, प्रिय और हितसाधक वचन (बोलना) और सद्ग्रंथोंका अभ्यास (यही) जबानकी तपस्या है । मनकी निर्मलता,

हँसमुखपन, जबानपर काबू, मनपर नियत्रण (और) निष्कपट व्यवहार यही मनकी तपस्या कही जाती है ।१४।१५।१६।

श्रद्धया परया तप्त तपस्तत्त्रिविध नरैः ।
अफलाकाक्षिभिर्युक्तैः सात्त्विक परिचक्षते ॥१७॥
सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत् ।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजस चलमध्रुवम् ॥१८॥
मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तप. ।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम् ॥१९॥

पहले दर्जेकी श्रद्धासे फलाकाक्षारहित, मनको एकाग्र किये हुए मनुष्योके द्वारा किये गये उन तीनो ही प्रकारके तपोको सात्त्विक कहते हैं । मौखिक बडाई, इज्जत और पूजाके लिये और दभसे भी जो तप किया जाता है, उस क्षणभगुर और अनिश्चित फलवाले तपको यहाँ राजस कहा है । जो तप नासमझीसे ऊँटकी पकडकी तरह हठात् अपनेको (केवल) पीडा देके ही या औरोके विनाशके लिये किया जाता है उसे तामस कहा है ।१७।१८।१९।

दातव्यमिति यद्दान दीयतेऽनुपकारिणे ।
देशे काले च पात्रे च तद्दान सात्त्विक स्मृतम् ॥२०॥
यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुन. ।
दीयते च परिक्लिष्ट तद्दान राजस स्मृतम् ॥२१॥
अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते ।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

देना चाहिये ऐसा समझके ही जो दान उपकारके बदलेमे न होके (जरूरतकी) जगह (जरूरतके) समय दानके योग्यको ही दिया जाता है उसी दानको सात्त्विक माना है । जो दान उपकारके बदलेमे या किसी

प्रयोजनसे वहुत रो-गाके दिया जाता है उस दानको राजस कहा है। (जो दान विना जरूरतके और इसीलिये अनुचित) देश, काल और पात्रमे विना सत्कारके ही तिरस्कारपूर्वक दिया जाता है उसे तामस कहा है।२०। २१।२२।

आगे बढनेके पूर्व यज्ञ, तप और दानके सम्बन्धमे दो-एक बाते कह देनी है। यह तो मोटी बात है कि दानके लिये देश, काल, पात्रका होना जरूरी है। देशसे मतलब खामखा काशी, अयोध्या आदि तीर्थोंसे, कालसे मतलव ग्रहण आदिसे ही और पात्रसे अभिप्राय ब्राह्मण, साधु आदिसे ही नही है। जहाँ पानी, औषधालय, स्कूल आदिके विना बहुत हर्ज हो वहींपर कूआँ, तालाव, अस्पताल, स्कूल आदि वना देना देशमे दान हुआ। इसी तरह जाडेके दिनोमे या अकाल वगैरहके समय भूखे-नगोको वस्त्र, अन्नादि देना कालका दान हो गया। अगर हमारे पास एक ही सेर अन्न है जिसे लेनेको एक ओर दो-चार भूखे और दूसरी ओर साधु-फकीर या पुजारीके नामपर मुश्चड लोग खडे है, तो दानके पात्र वहाँ भूखे ही होगे, न कि चड-मुचड लोग। साराश, जहाँ जिस समय जिन लोगोको कुछ भी देनेसे अधिकसे अधिक लाभ समाजका या व्यक्तियोका हो वही दान देश, काल, पात्रका दान है।

लेकिन इन यज्ञादिके वारेमे जो असल बात विचारनेकी है वह तो दूसरी ही है। पहले श्रद्धाको सात्त्विक, राजस, तामस तीन प्रकारका कहा है। मगर जब नमूनेके लिये यहाँ यज्ञादिको दिखाने लगे तो कही तो श्रद्धाका नाम केवल सात्त्विकमे ही लिया है, जैसा कि बीचमे तपमे स्पष्ट ही देखा जाता है और कहीं—यज्ञ तथा दानमे—वह भी नही किया है। बल्कि उसकी जगह यज्ञमे शास्त्रीय विधिका ही नाम लिया गया है। इन्हीके साथ यह भी देखा जाता है कि सात्त्विक तथा राजस यज्ञोको छोड केवल तामसमे ही यह कह दिया कि वह श्रद्धासे रहित होता है और शास्त्रीय

विधिसे हीन भी। इनमे दो बातें भलक जाती हैं। एक तो यह कि शास्त्रीय विधि और श्रद्धा साथ चलती हैं, हालांकि अर्जुनका प्रश्न इससे विपरीत है। वह तो यही मानके हैं कि शास्त्रीय विधि न होके भी श्रद्धा हो सकती है। दूसरी यह कि तामस कर्मोंमें श्रद्धा होती ही नहीं। इसीको दूसरे शब्दोमे कह सकते हैं कि तामसी श्रद्धा होती ही नही। मगर यह भी पूर्वके उस कथनके विपरीत है कि श्रद्धा तीन तरहकी होती है।

दानकी भी यह हालत है कि न तो उसमे श्रद्धाका ही उल्लेख है और न विधिका ही। इसी तरह तपमे भी जब सात्त्विकको श्रद्धापूर्वक कहके शेष दोमें चुप्पी मारते हैं तो यह खामखा हो आता है कि राजस और तामस तपमें श्रद्धा होती ही नही। विपरीत इनके जब तामस यज्ञको ही श्रद्धाके विना किया गया कहते हैं तो एकाएक विचार हो आता है कि हो न हो सात्त्विक तथा राजस यज्ञोमे श्रद्धा जरूर होती है। मगर अगर वहाँ होती है तो तपमे भी क्यो नही, यह प्रश्न अनायास उठ खड़ा होता है। इस प्रकार सबोका विचार करनेसे अजीब घपला दीखता है, गड़बड़ मालूम पडती है। जब इसीके साथ 'ॐ तत्सदिति' (२३-२७) आदि पाँच श्लोकोको इसके बाद ही पढते है तो यह खयाल होता है कि श्रद्धाके साथ ही 'ॐ तत्सत्' इस छोटेसे मन्त्रका उच्चारण भी हर कर्ममे जरूरी हो जाता है। इस तरह श्रद्धाकी छातीपर शास्त्रीय विधि खामखा बैठी-बैठाईसी दीखती है। लेकिन तब तो अर्जुनके प्रश्नका उत्तर ठीक-ठीक मिलता नही। विपरीत इसके जब आखिरी या २८वाँ श्लोक देखते हैं तो कुछ उलटी ही समा नजर आती है। वह तो बेलाग कहता है कि चाहे शास्त्रीय विधि हो या न हो। मगर यदि श्रद्धा न हो तो सब किया-कराया चौपट। इस प्रकार एक विचित्र गोलमालसा हो गया है और किसी बातकी सफाई मालूम पडती ही नही।

इसी सिलसिलेमे एक वात और भी पाई जाती है। जो यज्ञ और तप दंभपूर्वक या महज दिखावटी होते हैं उन्हे राजस कहा है। दोनो हीमें दंभ शब्द पाया जाता है। मगर यदि पाँचवे तथा छठे श्लोकोको देखें तो दंभपूर्वक किया गया तप आसुरी माना गया है। उसीको शास्त्र-विधि-शून्य भी कहा है। सात्त्विक, राजस, तामस कर्मोसे उसे जुदा भी माना है, जैसा कि प्रसग देखनेसे ही स्पष्ट हो जाता है। उसके विपरीत यहाँ ये दोनो एक तो राजस हो गये। दूसरे शास्त्रीय विधिके वाहर है यह तो लिखा गया ही है। वल्कि तामस यज्ञको विधिहीन कहनेसे ही यह राजस विधि-युक्त अर्थत सिद्ध हो जाता है। उसीका साथी तप भी वैसा ही माना जाना चाहिये। सोलहवे अध्यायमे यह भी देखी चुके है कि दंभवाले यज्ञोको आसुरी कहा है। इस तरह पूर्वापर-विरोधके आ जानेसे और भी दिक्कत पैदा हो गई है।

लेकिन दरअसल बात ऐसी है नही। इसका सवसे वडा प्रमाण यही है कि जव उपसहार या अन्तमे श्रद्धारहित यज्ञ, तप, दानोका—, क्योकि हुत या हवन तो यज्ञमे ही आ जाता है—नाम लेके स्पष्ट ही उन्हे चौपट वताया है, तो इससे निर्विवाद हो जाता है कि उससे पहले सर्वथा श्रद्धाशून्य कर्मोका जिक्र हुई नही। क्योकि यह तो सामान्य रूपसे सभी प्रकारके ही यज्ञो, दानो, तपोके वारेमे कहना है। फिर वीचमे किसी एकाधका नाम लेनेका क्या मौका ? वह तो व्यर्थ ही ठहरा न ? उसकी जरूरत तो वहाँ है नही। उससे काम भी तो नही निकलता और अन्ततो-गत्वा सभी कर्मोके वारेमे "अश्रद्धयाहुत दत्त"का कहना जरूरी होई जाता है। ऐसी दशामे यदि कहीं-कहीं अश्रद्धा आ गई है तो उसका आशय कदापि यह नही है कि उनमे श्रद्धाका सर्वथा या विल्कुल ही अभाव है। किन्तु केवल यही कि श्रद्धा अधूरी है, कच्ची है। जव भोजनमे नमक कम हो तो कभी-कभी कह वैठते है कि इसमे तो नमक हुई नही। इसी

तरह कहा जाता है कि आज तो हवा कतई हई नही। मगर हवा न रहे, यह तो सभव नही। इसलिये उसके मानी यही होते है कि कम है, बहुत थोडी है। यही बात यहाँ भी समझिये। पूरी श्रद्धा होनेपर सात्त्विक, उसमे कमी होनेपर राजस और नाममात्रकी श्रद्धा या बहुत कम होनेपर तामस यही मतलब होता है। मगर जहाँ श्रद्धा कतई हई नही वही आसुरी है। यही बात अन्तमे और ५, ६ श्लोकोमें भी कही गई है।

असलमें दैवी और आसुरीके अलावे तीसरा दल तो हई नही। इसीलिये राजस यज्ञ और तपमें जो दभ आया है उससे इस अध्यायके और सोलहवेंके भी आसुरी स्वभावका मेल हो जाना उचित ही है। हमने यह बात पहले कह भी दी है। मगर यह बात हमेशा याद रखनेकी है कि आसुरी कहने और राजस, तामस श्रद्धाका नाम लेनेसे यह कभी नही मानना होगा कि राजस और तामस यज्ञादि करनेवाले श्रद्धाशून्य है। इसीलिये "अश्रद्धया हुत दत्त"वालेमें ही उनकी गिनती है। इसीलिये, ५,६ श्लोकोमे जो दभ आया है वही यज्ञ तथा तपमें भी आ गया है, जिससे ये तीनो एक ही हो जाते है—इनमे जरा भी फर्क नही है, यह समझना भी भूल है। ५,६ श्लोकोकी बात दूसरी है, निराली है और वही मिल जाती है 'अश्रद्धया हुत दत्त'के साथ। न कि यज्ञ और तपके राजस तामस आदि भेद मिलते है। दभ शब्दके बारेमें तो कही चुके है कि क्यो आया है। ५,६ श्लोकोमें जो कुछ कहा गया है वह केवल अश्रद्धाकी निन्दाके ही लिये। न कि यहाँ उसका कोई खास प्रयोजन है। क्योकि उसमे केवल तपकी बात आती है। किंतु अतवाले श्लोकमे यज्ञ, तप, दान तीनोको ही चौपट बताया है। ऐसी दशामे यदि सिर्फ निन्दा ही प्रयोजन न होके किसी खास बातका प्रतिपादन मतलब होता तो उसकी जरूरत ही क्या थी? वह तो बेकार हो जाता है। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि पूर्ण श्रद्धा होनेपर सभी कर्म सात्त्विक हो जाते है, फिर चाहे वह यक्ष-राक्षसोकी

पूजा हो या भूत-प्रेतो की। यह बात हम पहले "येप्यन्यदेवताभक्ता" (६।२३-२५) आदिमे अच्छी तरह बता भी चुके है। अगर फिर भी वैसे कर्मोंमे कसर रह जाती है या उन्हे तामस और राजस कहते है तो केवल इसीलिये कि वह रास्ता, वह समझ, उन कर्मोंके करनेकी सारी बुनियाद ही गलत है। यही बात "न तु मामभिजानन्ति" (६।२४)मे कही जा चुकी है।

जो यह कहा गया है कि सात्त्विक यज्ञ और दानमे श्रद्धा नही पाई जाती है, उसका उत्तर साफ है। जब वह सात्त्विक तपमें लिखी है तो शेष दोमे भी उसे समझ लेना ही होगा। इसमे कोई विशेष युक्तिकी जरूरत है नही। सभी सात्त्विकोकी एकसी बात है न? यह भी तो देखते ही है कि तीनोके बारेमे फलाकाक्षा या बदलेके उपकारका खयाल करके ही करनेको लिखा है। बल्कि यज्ञ और तपमे तो "अफलाकाक्षिभि" यही शब्द दोनो जगह है और जब एक जगह 'श्रद्धया'से उसका सम्बन्ध है तो दूसरी जगह भी उसे मान लेना आसान है, अर्थसिद्ध है। असलमे तो प्रयोजन या फलकी इच्छाका न होना ही पूर्ण श्रद्धाकी पक्की निशानी है। ये दोनो साथ ही चलनेवाली है। इसीलिये जहाँ श्रद्धामे कमी हुई कि फलाकाक्षा, उपकारका खयाल, दभ आदि धीरेधीरे घुसने लगे। इसलिये यदि तपमे श्रद्धा कही भी गई है तो उसकी खास जरूरत नही है। फिर भी कही लोग ऐसा न समझ बैठे कि श्रद्धाके बिना भी सात्त्विक कर्म होते है, इसीलिये बीचमे 'श्रद्धया' लिख दिया, जो पहलेवाले यज्ञमे और बादवाले दानमे भी माना जायगा। श्रद्धा न कहके जो शास्त्रविधि कही गई है वह भी श्रद्धाका सूचक ही है। पूरी शास्त्रविधिमे तो पूर्ण श्रद्धा रहेगी ही। उसके बिना तो शास्त्रविधि कभी पूरी होई नही सकती, यह पक्की बात है। प्राचीन विद्वानो और ऋषिमुनियोने यही माना भी है।

अब केवल एक ही बात रह जाती है और वह यह कि इसके बादके पाँच श्लोकोमे जो कुछ कहा गया है वह भी तो शास्त्रकी विधि ही है न ? किन्तु उसकी जरूरत यहाँ क्या थी जब कि श्रद्धाकी बात आई गई है ? ऐसा प्रश्न किया जाता है सही। फिर भी शास्त्रविधिके उल्लेखका जो प्रयोजन अभी कहा है उसके बाद तो इसकी भी गुंजाइश नही रह जाती है। परन्तु यहाँ कुछ खास बात है। बात यो है कि जो लोग शास्त्रीय विधिको जनसाधारणकी पहुँचके बाहरकी चीज मानते है और इसीलिये उसे हौवा समझते है उनका भी तो खयाल गीताको करना ही है। गीताधर्म तो सर्वसाधारणके ही लिये है, खासकर यह श्रद्धावाली बात। इसलिये इस महत्त्वपर्ण प्रश्न पर गीताका ध्यान जाना अनिवार्य था और उसी ध्यानके परिणाम-स्वरूप ये पाँच श्लोक है।

जो लोग यह समझते है कि शास्त्रीय विधि बहुत बड़ा जाल और पँवारा है और इसीलिये उससे और उसके नामसे ही बुरी तरह घबराते है उन्हे गीताका कहना है कि तुम नाहक ही ऐसा समझके घबराते हो। देखो न, ब्रह्मवादी और मोक्षकाक्षी लोग भी इस शास्त्रीय विधिको कितनी आसान मानते है ? जो कर्म यज्ञार्थ या भगवदर्पण होते है उन्हे भी किस आसानीसे शास्त्रीय विधिसे किया जा सकता है ! फिर घबरानेका क्या सवाल ? एक ॐकार, तत् या सत् शब्द—तीनोमें हरेक—ही ऐसा है कि इसके उच्चारण मात्रसे शास्त्रविधि पूर्ण हो जाती है और अगर तीनोको मिलाके ॐतत्सत् कह दिया तब तो कहना ही क्या ? इन पाँच श्लोकोका यही आशय है और जब ब्रह्मवेत्ता, मोक्षके इच्छुक या उत्तमोत्तम कर्मोके करनेवाले ही ऐसा करते है तो इसे शास्त्रीय विधि न कहें तो और कहे क्या ? आगे "विधानोक्ता" शब्द आया भी है। इस तरह गीताने सर्वसाधारणके लिये—उनके भी लिये जो वेद-वेदाग जान पाते नही और ऐसे ही लोग ज्यादा है—भी शास्त्रीय विधि सुलभ कर दी। हाँ, जो

वेद-शास्त्रके ज्ञाता है वह तो खामखा लम्बी चौडी विधि करेगे ही। किन्तु गीताको उनकी कुछ ज्यादा पर्वा है भी नही। जब ब्राह्मणो, वेदो तथा यज्ञोकी उत्पत्ति इन्ही तीन शब्दोका उच्चारण करके ही हुई तो फिर इनकी महत्ताका क्या कहना? यज्ञादि कर्मोके आधार तो वेद और ब्राह्मण ही है और जब वही और खुद यज्ञ भी इन्ही शब्दोके उच्चारण-पूर्वक ही प्रकट हुए तब और बचता ही है क्या?

श्रद्धाके बाद और 'अश्रद्धयाहुत'के पहले इन पाँच श्लोकोकी बातोका दूसरा मतलब होई नही सकता। शुरूसे ही शास्त्रविधिका प्रश्न उठा भी है। फिर भी इस अध्यायमे श्रद्धाकी ही प्रधानता है और वही इसका विषय भी है। इसीलिये श्रद्धाके बाद ही शास्त्रीय विधान पर अपनी दृष्टिसे प्रकाश डाल देना आवश्यक भी था। इसमे एक बात और भी है। ॐतत्सत्का उच्चारण और प्रयोग तो श्रद्धाके बिना होई नही सकता। जिन्हे इसमे या ऐसे कर्मोमे पूरा विश्वास नही, निश्चय नही है वह भला ॐतत्सत्का नाम भी क्यो लेने जायँगे? इस तरह गीताने इस बहाने ही श्रद्धाकी भी जाँच कर ली। नही तो इसके नाम पर प्रवचना और ठगीका होना आसान था। इससे यह भी होगा कि श्रद्धामे अगर जरा भी कोर-कसर होगी या वह पूरी न होगी, तो इस उच्चारणसे पूर्ण हो जायगी। क्योकि यह तो उसका राजमार्ग ही है। शुरूमे ही हमने जो कहा था कि श्रद्धा आसान नही है, वह सबमे पाई जाती है नही और उसका सपादन जरूरी है, वह जरूरत भी इससे पूरी होती है। इस तरह एक ही तीरमे कई शिकार हो जाते है।

आगे जो यह लिखा है कि ॐ, तत् और सत् ये तीनो ब्रह्मके नाम तथा ब्रह्मवाचक शब्द माने जाते है उसमे तो खुद गीता ही साक्षी है। "ॐमित्येकाक्षर ब्रह्म" (८।१३) तथा "प्रणव सर्व" (७।८) मे ॐको ब्रह्म कही दिया है। इसी प्रकार "तद्बुद्धयस्तदात्मान" (५।१७) आदिमे जिस

ज्ञानको तत् कहा है वह आत्मा-ब्रह्म स्वरूप ही है और इस श्लोकमे उसीकी सभावना है। ऐसा और भी आया है। यो तो वारवार ब्रह्मको सत् कहा ही है। लेकिन "न तदस्ति विना यत्स्यात्" (१०।३९) में स्पष्ट ही ब्रह्मकी सत्ता सर्वत्र मानी गई है। उपनिषदोमें भी "ॐमितिब्रह्म" (तैत्ति० १।७), "तत्त्वमसि श्वेतकेतो" (छान्दो० ६।८-१६) तथा "सदेव सोम्येदमग्र" (६।२।१) आदिमे यही वात पाई जाती है।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविध· स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिता पुरा ॥२३॥

ॐ, तत्, सत् यही तीन नाम ब्रह्मके माने गये है और सृष्टिके आरभमे इन्ही तीनो(के उच्चारण)से ब्राह्मण, वेद और यज्ञ वने (भी)।२३।

तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतप क्रिया।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सतत ब्रह्मवादिनाम् ॥२४॥

तदित्यनभिसंधाय फल यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकांक्षिभिः ॥२५॥

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत्प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्द. पार्थ युज्यते ॥२६॥

यज्ञे तपसि दाने च स्थिति. सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीय सदित्येवाभिधीयते ॥२७॥

इसीलिये ॐका उच्चारण करके ही ब्रह्मवादियोकी शास्त्रीय-विधि-विहित यज्ञ, दान, तप आदि क्रियायें हमेशा हुआ करतीं है। (इसी तरह) मोक्षकी इच्छावाले फलका खयाल न करके अनेक प्रकारकी यज्ञ, दान, तप रूपी क्रियाये तद्का उच्चारण करके ही करते है। हे पार्थ, किसी चीजके अस्तित्वके लिये तथा अच्छा हो जानेके लिये भी सत् शब्द बोला

जाता है। श्रेष्ठ कर्मोमे भी सत् शब्दका प्रयोग होता ही है। यज्ञ, तप और दानमें जो निष्ठा एव दत्तचित्तता होती है उसे भी सत् कहते है। यज्ञार्थ या ब्रह्मके लिये जो भी कर्म हो सत् ही कहा जाता है। २४।२५।२६।२७।

यहाँ यज्ञ, दान, तपका उल्लेख उदाहरण-स्वरूप ही है, जैसा कि पहले भी तीनका ही नाम आया है। यही प्रधान कर्म है भी। मगर तात्पर्य सभी कर्मोसे है। यह तो सभी जानते है कि दान आदि क्रियाओ और उत्तम कर्मोको सत्कर्म कहते है। यज्ञादि करनेवालोको भी कहते है कि आप तो अच्छा कर्म, सत्कर्म, समीचीन कर्म करते है, ठीक करते है। उन्हीसे यहाँ मतलब है।

**अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतं च यत्।**
**असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह ॥२८॥**

(विपरीत इसके) जो हवन, दान, तप आदि श्रद्धासे नही किया जाता है वह असत् कहा जाता है। (इसीलिये) न तो वह मरने पर ही किसी कामका होता है और न यही पर ॥२८॥

यहाँ यज्ञकी ही जगह हुत या हवन आया है। श्रद्धाशून्य कर्मोको असत् कह देनेसे बिलकुल ही साफ हो जाता है कि ॐ तत्सत्का श्रद्धासे ही सम्बन्ध है। फलत श्रद्धाके बिना ये किसी भी कर्ममे बोले जा सकते नही। श्रद्धाके हटते ही वह कर्म असत् जो हो जायगा। फिर उसमें सत् शब्दके प्रयोगका अर्थ क्या होगा? यह तो उलटी बात हो जायगी न? इस प्रकार सिद्ध हो जाता है कि अथसे इति तक इस अध्याय पर श्रद्धाकी छाप लगी हुई है। फिर चाहे वह सात्त्विक हो, राजस हो या तामस। इसीलिये समाप्ति-सूचक सकल्प वाक्यमे भी "श्रद्धात्रयविभाग-योग" लिखा है। यहाँ जो विभाग शब्द है वह भी महत्त्वपूर्ण है और बताता है कि तीन गुणोके बीचमे ससारके विभागकी ही तरह उन सभी

कर्मोंका, जिनकी गणना गीता करती है, तीन श्रद्धाओंके बीच बँटवारा हो गया है। वहाँ भी "गुणत्रयविभागयोग" ऐसा ही लिखा गया है। हमने जो कुछ अब तक कहा है वह भी यही है। बेशक, इस अध्यायमें कर्त्तव्याकर्त्तव्यकी एक निराली, और गीताकी अपनी, कसौटी कही गई है जिसपर काफी प्रकाश पहले ही डाला जा चुका है। यहाँ उससे ज्यादा लिखनेका मौका है नही। लेकिन अभी इस सम्बन्धमे बहुत कुछ कहना जरूरी है, जो आगेके लिये ही छोड दिया जाना ठीक है।

**इति श्री० श्रद्धात्रयविभागयोगो नाम सप्तदशोऽध्यायः ॥१७॥**

श्रीम० जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सम्वाद है उसका गुणत्रय-
विभागयोग नामक सत्रहवाँ अध्याय यही है।

# अठारहवाँ अध्याय

पीछेके सत्रह अध्यायोमे ही गीताके सभी विषयोका आद्योपान्त निरूपण हो गया। अब कुछ भी कहना बाकी न रहा। इसीलिये कृष्णको भी स्वय आगे कुछ भी कहनेकी आवश्यकता नही प्रतीत हुई। इसीलिये अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमे ही बची-खुची बाते कहते हुए, या यो कहिये कि कही हुई बातोको ही दुहराते एव शब्दान्तरसे उनका स्पष्टीकरण करते हुए, उनने सबोका उपसहार इस अध्यायमे किया। यदि गौरसे देखा जाय तो इस अध्यायमे न तो कोई नई बात ही कही गई है और न किसी बातको कोई ऐसा रूप ही दिया गया है जो पहले दिया गया न रहा हो, या जो बिलकुल ही नया हो। त्यागका ब्योरा, कर्त्ता, बुद्धि आदि की त्रिविधता, वर्णोके स्वाभाविक कर्म आदिमे एक भी बात नई नही है और न यहाँ किसीको नया रूप ही मिला है। या तो गीताके बाहर ही ये बाते प्रचलित रही है या, ऐसा न होने पर भी, गीतामे ही पहले आ गई है। जो लोग इससे पहलेके अध्यायोको ध्यानसे पढ गये है उन्हे यह बात साफ मालूम होती है। त्यागके बारेमे कई मत कह देना यह गीताकी बात न भी हो तो कोई नई तो है नही। इसकी बुनियादी चीजे, जिन्हे फलेच्छा और आसक्ति का त्याग कहते है, पहले जाने बीसियो वार कही जा चुकी है। सात्त्विकादि तीन विभाग तो चौदहवेमे और सत्रहवेमे भी आया ही है। कुछ चुने-चुनाये और भी दृष्टान्त देनेसे ही नवीनता आ जाती नही। आत्माका अकर्त्तृत्व और गुणोका कर्त्तृत्व भी पहले आई चुका है। सो भी अच्छी तरह। इस तरह प्रारभके चौवालीस श्लोको तक पहुँच जाते है।

उसके बादके पूरे २२ श्लोकोमे कुछमे जो स्वधर्मानुष्ठानकी महत्ता बताई गई है और उसीके द्वारा कल्याणकी बात कही गई है वह भी पहले खूब ही आई है। फिर सन्यास यानी स्वरूपत कर्मोके त्यागकी बात जरूरी बताके जिसके लिये वह जरूरी है उस समाधि या ध्यानका भी वर्णन कुछ श्लोकोमें किया है। अनन्तर उसी समदर्शनका वर्णन किया है जिसका बारबार वर्णन आता रहा है। उसीमें ज्ञानीभक्त नामक चौथे भक्तका भी जिक्र है। जो लोग ज्ञानके बाद भगवानमें ही कर्मोको छोडके लोक-सग्रहके काम करते है उनका वर्णन करके हठके साथ उलट-पलट करने या बाते न माननेसे अर्जुनको रोका समझाया है। यह भी कहा है कि यकीन रखो, तुम्हे प्रिय समझके ही यह उपदेश दे रहा हूँ, न कि इसमें मेरा कुछ दूसरा भी मतलब है। फिर भी आँखे मूँदके कुछ भी करनेको नही कहता। करो, मगर खूब सोच समझके। अन्धपरम्परा अच्छी नही है। अन्तमें ६६वे श्लोकमे सन्यास यानी कर्मोके स्वरूपत त्यागनेका, जिसके बारेमें अर्जुनका प्रश्न था, वर्णन कर दिया है। इस तरह गीतोप-देश पूरा किया है। अन्तमे ऐसा कहनेका मौका भी इसीलिये आ गया है कि आत्मामे मनको हर तरहसे बाँध देनेका जो अन्तिम उपदेश अर्जुनको दिया है वह तबतक सभव नही जबतक नित्य-नैमित्तिक या नियत धर्म-कर्मोसे छुट्टी न ली जाय ? इसके बादसे अन्ततक गीतोपदेशके नियम, शिष्टाचार और परम्परा आदिका ही वर्णन है। अन्तमे कृष्णने पूछा है कि बाते समझमे आई या नही ? इसपर अर्जुनने उत्तर दिया है कि हाँ, सब समझ गया और आपकी बातें मानूँगा। इसके बादके पाँच श्लोक तो सजयकी उस समयकी मनोवृत्तिकी विचित्रता बतानेके साथ ही कौन जीतेगा, कौन हारेगा यही बातें कहते है। एक श्लोक कृष्णके उस निराले तथा अलौकिक स्वरूपकी याद दिलाता है जो अर्जुनको उपदेश देनेके समय था और जिसका वर्णन हमने पहले ही अच्छी तरह कर दिया है। अब

इनमे नई बात कौनसी आ गई है जिसके पीछे माथापच्ची की जाय ?

यही वजह है कि अर्जुनने आरभमे प्रश्न भी नही किया। उसने तो केवल इच्छा जाहिर की। सो भी सन्यास या त्यागका न तो अर्थ ही जाननेके लिये है और न उनके लक्षण ही। दोनो शब्दोके अर्थ तो एक ही है यह पहले ही बता चुके है। यह भी दिखा चुके है प्रश्नके बाद दोनो शब्द यहाँ भी एक ही अर्थमे प्रयुक्त हुए है। लक्षणकी भी बात नही है। क्योकि यहाँ लक्षण न कहके त्यागके बारेमे नाना मत ही बताये गये है। इसे लक्षण तो कहते नही। चार मतोके सिवाय कृष्णने जो अपना मत कहा है वह भी न तो नया है और न लक्षण ही है। किन्तु केवल कर्त्तव्यताकी बात ही उसमे है। असलमे ज्ञानके अलावे गीताकी तो दोई खास बाते है। उनमें एकको कर्मोंका सन्यास या स्वरूपत त्याग कहते है तथा दूसरेको साधारणत केवल 'त्याग' कहते है। मगर है ये दोनो कठिन तथा विवादग्रस्त। इसीलिये पहले बारबार इनका जिक्र आया है। सन्यासका तो आया ही है। त्यागका भी "सग त्यक्त्वा धनजय" (२।४८), "त्यक्त्वा कर्मफलासग" (४।२०) "सग त्यक्त्वात्मशुद्धये" (५।११), "युक्त कर्मफल त्यक्त्वा" (५।१२) तथा अन्तमे "सर्वकर्मफलत्याग" (१२।११) आदिमे जिक्र आया है। इसलिये अन्तमे अर्जुन यही जानना चाहता है कि जब ये दोनो इतने विलक्षण है, गहन है और "कवयोऽप्यत्रमोहिता" (४।१६)मे यह भी कहा गया है कि बडेसे बडे चोटीके विद्वान भी इनके बारेमे घपलेमे पड जाते है, तो इन दोनोकी अलग-अलग हकीकत, असलियत या तत्त्व क्या है। उसके कहनेका यही मतलब है कि इनके बारेमे जो भी विभिन्न विचार हो उन्हे जरा सफाई और विस्तारके साथ कह दीजिये, ताकि सभी बाते जान लूँ। इसीलिये त्यागके ही बारेमे पहले पाँच तरहके विचार कृष्णने दिखाये है—चार दूसरोके और एक अपना। सन्यासके बारेमे तो ऐसे अनेक विचार है नही। इसीलिये

अर्जुनके शब्दोमें पहले आनेपर भी कृष्णके शब्दोमे वह पीछे आया है। उसके वारेमें केवल यही वात विस्तारसे कहनेकी थी कि उसका मौका कब और कैसे आता है। यही उनने वताई भी है। वह अन्तिम चीज भी तो है। इसलिये अन्तमे ही उसे कहना उचित भी था। कुछ लोग नादानीसे कर्मोको हर हालतमे छोड देना ही सन्यास समझते है। उससे निराली ही चीज सन्यास है, यह भी वात सन्यासका तत्त्व वतानेसे मालूम हो गई है। नही तो मालूम हो न पाती। इसीलिये जो लोग सन्यासके सम्बन्धकी जिज्ञासा का उत्तर पहले ही मान लेते हैं वह मेरे जानते भूलते है। क्योकि उनके मनसे तो पीछे सन्यासका जिक्र निरर्थक हो जाता है।

इसी अभिप्रायसे ही—

### अर्जुन उवाच

सन्यासस्य महावाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन ॥१॥

अर्जुनने कहा (कि) हे महावाहो, हे हृषीकेश, हे केशिनाशक, सन्यास और त्याग दोनो हीकी अलग-अलग हकीकत जानना चाहता हूँ।१।

### श्रीभगवानुवाच

काम्याना कर्मणा न्यास सन्यास कवयो विदु।
सर्वकर्मफलत्याग प्राहुस्त्याग विचक्षणा. ॥२॥
त्याज्य दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिण.।
यज्ञदानतप.कर्म न त्याज्यमिति चापरे ॥३॥

श्रीभगवानने कहा (कि) (कुछ) विद्वान सकाम कर्मोके त्यागको ही त्याग मानते है, (दूसरे) विवेकी जन सभी कर्मोके फलोंके त्यागको ही त्याग कहते है, कोई-कोई मनीषी—मननशील पुरुष—कहते है कि

कर्ममात्रका ही त्याग करना चाहिये जैसे बुराईका त्याग किया जाता है। और चौथे दलवाले कहते है कि यज्ञ, दान और तप जैसे कर्मोको छोडना चाहिये ही नही।२।३।

यहाँ चार स्वतत्र मत बताये गये है और चारोका ताल्लुक त्यागसे ही है। अपना पाँचवाँ मत कृष्ण आगे बताते है। इनमे तीसरा ही मत ऐसा है जो कर्मोका त्याग हर हालतमे हमेशा मानता है और कहता है कि जैसे दोषका त्याग हमेशा हर हालतमे करते है वैसे ही कर्मका भी होना चाहिये। यहाँ 'दोषवत्'का अर्थ है दोषकी तरह ही। दोषवत्का अर्थ दोषवाला भी होता है। इस तरह यह अर्थ होगा कि कर्म तो दोष-वाला हई। इसीसे उसे छोड ही देना ठीक है। मगर कर्मका यह स्वरूपत त्याग सन्यास नही है यही गीताका मत है। वह मानती है कि ऐसा न करके केवल समाधिके पहले ही उसे त्यागनेको सन्यास कहते है। यही बात "सर्वधर्मान् परित्यज्य"मे आगे लिखी गई है। पूर्ण ज्ञानके परिपाकके हो जानेपर मस्तीकी दशामे भी कर्मोका त्याग स्वरूपत. हो जाता है ऐसा गीताका मान्य है, जैसा कि "यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्" (३।१७)मे स्पष्ट है। मगर हर हालतमे कर्मोका त्याग न तो उसे मान्य है और न सभव, जैसा कि "नहि कश्चित्" (३।५)से स्पष्ट है।

**निश्चयं श्रृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।**
**त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः ॥४॥**

हे भरतश्रेष्ठ, हे पुरुषसिंह, उस त्यागके बारेमें मेरा निश्चय भी सुन लो। क्योकि त्याग तीन तरहके होते है।४।

इस श्लोकके उत्तरार्द्धका यह भी आशय हो सकता है कि 'क्योकि त्यागके बारेमे तीन बाते कही जा सकनेके कारण वह तीन ढगसे जानने योग्य है'। इनमे पहली बात वह है जो पाँचवे श्लोकके पूर्वार्द्धमे आई है कि यज्ञ, दान, तपको न छोडके करना ही चाहिये। दूसरी उत्तरार्द्धमे

पहले कथनके हेतुके रूपमे ही आई है कि ये यज्ञादि मनीषियोको भी पवित्र करनेवाले है। इसीलिये इन्हें करना ही चाहिये। तीसरी बात छठे श्लोकमें है कि आसक्ति और फल दोनोको ही छोडके इन्हें करना चाहिये'। इस प्रकार तीन बाते हो गई। साराश रूपमें पहली यह कि यज्ञ, दान, तपको कभी न छोडें। दूसरी यह कि उन्हे जरूर करे, क्योकि यह पवित्र करनेवाले है। तीसरी यह कि इनके करनेमे भी कर्मकी आसक्ति और फलकी इच्छाको छोड ही देना होगा। यही तीन तरहकी बातें त्यागको लेकर हो गई।

यज्ञदानतप कर्म न त्याज्य कार्यमेव च।
यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम् ॥५॥
एतान्यपि तु कर्माणि सग त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चित मतमुत्तमम् ॥६॥

यज्ञ, दान, तप इन कर्मोको (कभी) नही छोडना, (किन्तु) अवश्य ही करना चाहिये। (क्योकि) यज्ञ, दान तप ये मनीषियोको भी पवित्र करते है। (फिर औरोका क्या कहना ?) (लेकिन) इन कर्मोको भी, इनमें आसक्ति और फलेच्छाको छोडके ही, करना चाहिये, यही मेरा निश्चित उत्तम मत है।५।६।

चौथे श्लोकमे जो सीधा-सादा अर्थ करके त्यागके तीन प्रकार कहे है वह ये हैं—

नियतस्य तु सन्यास. कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामस. परिकीर्त्तितः ॥७॥
दु खमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजस त्याग नैव त्यागफल लभेत् ॥८॥
कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सग त्यक्त्वा फल चैव स त्याग' सात्त्विको मत ॥९॥

जो कर्म जिसके लिये तय कर दिया गया है उसका त्याग तो उचित नही (और अगर) मोहसे उसका त्याग (कर दिया गया) तो वह तामस (त्याग) कहा जाता है। शरीरके कष्टके भयसे दु खदायी समझके ही कर्मका त्याग जो करता है वह (इस तरह) राजस त्याग करके त्यागका फल हर्गिज नही पाता। हे अर्जुन, कर्त्तव्य समझके ही आसक्ति एव फलके त्यागपूर्वक जो निश्चित कर्म किया जाता है वही सात्त्विक त्याग माना जाता है।७।८।९।

आगेके तीन श्लोक इस सात्त्विक त्यागकी रीति और आकार बतानेके साथ ही उसके कारण और परिणाम भी कहते है। ये तीनो बाते क्रमश तीन श्लोकोमे पाई जाती है।

**न द्वेष्टयकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।**
**त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः ॥१०॥**

**न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।**
**यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते ॥११॥**

**अनिष्टमिष्टं मिश्रं च त्रिविधं कर्मणः फलम्।**
**भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित् ॥१२॥**

सशयरहित विवेकी सात्त्विक त्यागी न तो बुरे कर्मसे द्वेष करता है (और) न अच्छेमे आसक्त हो जाता है। जब कि देहधारीके लिये सभी कर्मोका त्याग करना सभव ही नही है, तो जो केवल कर्मके फलका त्याग करता है वही (सात्त्विक) त्यागी कहा जाता है। बुरा, भला और मिश्रित यह तीन तरहका कर्मफल मरनेके बाद सात्त्विक त्याग न करनेवालोको ही मिलता है, न कि त्यागियोको भी कही (मिलता है)।१०।११।१२।

पतजलिने योगदर्शनमे लिखा है कि साधारण मनुष्योके कर्म तीन प्रकारके होते है, जिन्हे शुक्ल, कृष्ण और शुक्ल-कृष्ण या मिश्रित कहते

है । इन्हीको भले, बुरे और मिले हुए भी कहते है । इनके फल भी क्रमश भले, बुरे और मिश्रित ही होते है । इन्हीको इष्ट, अनिष्ट और मिश्र इस आखिरी श्लोकमें कहा है । इसके विपरीत योगियोका कर्म चौथे प्रकारका होता है, जिसे अशुक्ल-कृष्ण कहते है । इसका अर्थ है—न भला, न बुरा । "कर्माशुक्ल कृष्ण योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्" (४।७) योगसूत्र और उसके भाष्यको ध्यानपूर्वक पढनेसे इसका पूरा व्योरा मालूम होगा । बारहवें श्लोकके सात्त्विक त्यागीको उसी योगीके स्थानमें माना गया है । बेशक, राजस और तामस त्यागी साधारण लोगोमें ही आते है ।

यहाँ प्रश्न होता है कि जब कर्मोका कर्त्ता आत्मा ही है, तो आसक्ति या फलोके त्याग मात्रसे ही कर्मोके फलोसे उसका पिंड कैसे छूट जायगा ? अगर कोई चोरी करे तो क्या आसक्ति और फलेच्छाके ही छोड देनेसे उसे चोरीका दड भोगना न होगा ? इसका उत्तर आगेके पाँच श्लोक देते है । उनका आशय यही है कि आत्मा कर्मोकी करनेवाली हई नही । करने-करानेवाले तो और ही है और है भी वे पूरे पाँच । ऐसी दशामें जो आत्माको कर्त्ता मानता है वह नादान है, मूर्ख है । चोरीकी बात और है । वहाँ जिस शरीरसे वह काम करते है वही जेल-यत्रणा भी भोगता है ।

पचैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे ।
साख्ये कृताते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम् ॥१३॥

अधिष्ठान तथा कर्त्ता करण च पृथग्विधम् ।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैव चैवात्र पचमम् ॥१४॥

शरीरवाड्मनोभिर्यत्कर्म प्रारभते नरः ।
न्याय्य वा विपरीतं वा पचैते तस्य हेतव. ॥१५॥

तत्रैव सति कर्त्तारमात्मान केवल तु यः ।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मति' ॥१६॥

**यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।**
**हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते ॥१७॥**

हे महाबाहो, सभी कर्मोके पूरे होनेके लिये साख्य सिद्धान्तमे बताये इन (आगे लिखे) पॉच कारणोको मुझसे जान लो। (वे है) आश्रय या शरीर, आत्माकी ससर्गवाली बुद्धि, जुदी-जुदी इन्द्रियाँ, प्राणोकी अनेक क्रियाएँ और पाँचवाँ प्रारब्ध कर्म। शरीर, वचन या मनसे मनुष्य जो भी कर्म—कायिक, वाचिक, मानसिक—शुरू करता है चाहे वह उचित हो या अनुचित, उसके यही पाँच कारण होते है। ऐसी दशामे अपरिपक्व समझ होनेके कारण निर्लेप आत्माको जो कोई कर्त्ता मानता है वह दुर्बुद्धि कुछ जानता ही नही। (इसलिये) जिसके भीतर 'हम करते है' ऐसा खयाल नही और जिसकी बुद्धि (कर्म या फलमे) लिप्त नही होती, वह इन सभी लोगोको मारके भी न तो मारता है और न (कर्मके फलस्वरूप) बन्धनमे फँसता है।१३।१४।१५।१६।१७।

कर्त्ताका अर्थ है कर्त्तृत्व का अभिमान जिसमे वस्तुगत्या रहे। दर-असल बुद्धिको ही कर्त्ता कहते है। मगर बिना आत्माके ससर्गके वह खुद जड होनेके कारण कुछ कर नही सकती। इसीलिये आत्माके ससर्ग या प्रतिविम्बसे युक्त बुद्धिको ही कर्त्ता कहते है। इसी प्रकार दैवका अर्थ प्रारब्ध पहले ही कह चुके है। यह भी बता चुके है कि इसे दिव्य या दैव क्यो कहते है और यह क्यो कारण माना जाता है। यह भी जान लेना चाहिये कि कारण दो प्रकारके होते है—साधारण और असाधारण। साधारण उसे कहते है जो सबोको या अनेक कार्योको पैदा करे। प्रारब्ध ऐसा ही है। वह समस्त ससारका कारण हैं। किन्तु शरीर, बुद्धि, इन्द्रियाँ तथा प्राणकी क्रियाये या पाँच प्राण अलग-अलग कार्योके कारण है। इसीलिये ये असाधारण या विशेष कारण कहे जाते है। अपने-अपने शरीर आदिसे ही अपने-अपने कर्म होते है। प्राणोके निकल जानेपर या इन्द्रियोके खत्म

हो जानेपर भी क्रिया नही होती। बुद्धिकी भी जरूरत हर काममें होती ही है। बिना जाने कुछ कर नही सकते।

आखिरी श्लोकमे जो कुछ कहा गया है उसका आशय यही है कि जैसे दूसरेकी चोरीका माल अपने घरमे रखनेवाला नाहक अपराधी बनता है और परीशानीमे पडता है, ठीक वही हालत आत्माकी है। कर्मोंके करनेवाले तो ठहरे शरीर आदि। मगर उनकी क्रियाको धोकेमें, भूलसे अपने भीतर माननेके कारण ही इस निर्लेप और निर्विकार आत्माको फँसना पडता है। पुत्रके साथ ज्यादा ममता होनेसे कभी कभी ऐसा होता है कि पुत्रकी मौतका निश्चय होते ही पिता उससे भी पहले एकाएक चल बसता है। शरीर दुबला और मोटा होनेसे आत्माको खयाल होता है कि हमी दुबले या मोटे है। यही है गैरके साथ एकता या तादात्म्य—तदात्मता—का अभिमान। इसे तादात्म्याध्यास भी कहते है। आत्माका शरीर, इन्द्रियादिके साथ तादात्म्याध्यास हो गया है। फलत उनके कामो एव गुणोको अपना माननेका स्वभाव इसका हो गया है। इसे ही मिटानेका अर्थ है अहकारका त्याग, 'हमी करते है' इस भावना और खयालका त्याग।

लेकिन इसके होनेपर भी कर्ममे आसक्ति होनेपर, आग्रह हो जानेपर और फलकी भावना होनेपर भी फँस जाता है। यह है दूसरा खतरा और भारी खतरा। इसपर पूरा प्रकाश पहले डाला जा चुका है। आत्मा-का साक्षात्कार होनेके बाद अहकारवाला भाव मिट जानेपर भी यह खतरा बना रहता है। इसीलिये बुद्धिके लिप्त न होनेकी बात कहके इसी खतरेसे बचनेकी हिकमत सुझाई गई है। फिर तो पौ बारह समझिये। इस तरह एक प्रकारसे आत्माको कर्मसे निर्लिप्त और अलग बताके काम निकाल लिया है।

अब आगे दूसरे ढगसे भी आत्माका कर्मोंसे अससर्ग सिद्ध करते है।

ऐसा भी होता है कि स्वय कर्म न भी करे तो भी दूसरोसे करवा सकते है। इसे ही प्रेरणा कहते है। इसीको शास्त्रोमे चोदना कहा है। ऐसोको करनेवाले तो नही, लेकिन करानेवाले मानके ही अपराधी बताते है और दड देते है। हिसा, चोरी आदिमे ऐसा होता है कि ललकारने या राय देनेवाले भी फँसते है और दड भोगते है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हमने न तो चोरी की, न उसमे राय-सलाह ही दी और न ललकारा ही। यह भी नही जानते कि कही चोरी हुई या नही। मगर यदि किसीसे शत्रुता हुई तो चुपकेसे चोरीका माल हमारे यहाँ रखके फँसा देता है। अकसर गैरकानूनी रिवाल्वर वगैरह चुपकेसे किसीके घरमे रखके फँसा देते है। यदि कर्मका प्रेरक ही आत्मा हो जाय, या वस्तुत कर्म उसीमे रहते हो, हर हालतमे उसे उनके फलोमे खामखा फँसना होगा। इसीलिये आगेके पूरे ग्यारह श्लोकोमे यह बताया है कि कर्मके प्रेरक भी दूसरे ही है और कर्म रहता भी अन्य ही जगह है। यहाँ कर्मचोदनाका अर्थ है कर्मके प्रेरक और कर्मसग्रहका अर्थ है जिनमे कर्म देखा जा सके—जिनके देखनेसे ही कर्मका पता लग सके।

**ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।**
**करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः ॥१८॥**

ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञाता यही तीन कर्मोके प्रेरक है (और) करण (इन्द्रियादि साधन), कर्म (जो बने, जहाँ कुछ हो), कर्त्ता इन्ही तीनमे कर्मका सग्रह होता है।१८।

इस श्लोकमे ज्ञाता और कर्त्ताका एक ही अर्थ है। इन दोनोमे केवल उपाधि या काम करनेके तरीकेका फर्क है। जब किसी बातकी जानकारी होती है तब वह ज्ञाता या जानकार कहा जाता है। जब जानकारी-के बाद काम करने लगता है तो वही कर्त्ता कहा जाता है। अकेली बुद्धि एक चीज है और उसे बुद्धि ही कहते है भी। उसका विवेचन आगे आयेगा।

मगर जब वही आत्माके ससर्गके फलस्वरूप उसके आभास, उसके प्रकाशसे युक्त हो जाती है, जैसी कि आईनेकी चमक पडनेपर दीवार उतनी दूर तक चमक उठती तथा ज्यादा प्रकाशवाली बन जाती है जितनी दूर तक आईनेकी रोशनीका असर उसपर होता है, तो वही बुद्धि ज्ञाता और कर्त्ता दोनो ही कही जाती है। इसीलिये ज्ञाता और कर्त्ताको एक ही कहा है। अत-एव आगे सात्त्विक आदि रूपोका विचार करनेके समय कर्त्ताका ही विचार करके सन्तोष करेंगे। क्योकि कर्मकी दृष्टिसे ज्ञाता तथा कर्त्ता दोनोका एक ही असर कर्मपर माना जाता है। चाहे ज्ञाता सात्त्विक हो या कर्त्ता—और जब एक होगा तो दूसरा भी होईगा, क्योकि है तो दोनो एक ही—कर्म सात्त्विक ही होगा और उसकी सात्त्विकतामे कमी-वेशी न होगी, चाहे दोनोका नाम लें, या एकका। यहाँ कर्मका विचार और ही दृष्टिसे हो रहा है। इसीलिये दोनोका कहना जरूरी हो गया। जो जानता है वही करता भी है। जबतक हम यह न जान ले कि हल कैसे चलाया जाता है तबतक उसे चलायेंगे कैसे? जबतक जान जाये नही कि कपडा कैसे बनता है, उसे बनायेंगे तबतक क्योकर?

इसी तरह ज्ञेय और कर्मकी भी बात है। पूर्वार्द्धके तीनमे जो ज्ञेय और उत्तरार्द्धके तीनमे जो कर्म आया है ये दोनो भी एक ही है। ज्ञेयका अर्थ ही है जिसका ज्ञान हो, जिसके बारेमे ज्ञान हो। कर्मका अर्थ है जो किया या बनाया जाय, जिसपर या जहाँ हाथ-पाँव चलें। पूर्वके ही दृष्टान्तमें हल या कपडेको लीजिये। पहले उनकी जानकारी होती है, ज्ञान होता है। पीछे उन्हीपर हाथ-पाँव आदि चलते है। फर्क इतना ही है कि हल पहलेसे ही मौजूद है और उसीपर क्रिया होती है। मगर कपडा मौजूद नही है। किन्तु सूत वगैरहपर ही क्रिया शुरू करके उसे तैयार करते है। वह क्रियाके ही सिलसिलेमें तैयार होता है। इसीलिये क्रियाका विषय, उसका आधार वह भी बन जाता है। मगर कपडा बुनना शुरू

करनेके पहले उसकी जानकारी जरूरी है। इसलिये इस श्लोकमे जो दो त्रिपुटियाँ या त्रिक—तीन-तीन (trinity) है उन दोनोके ज्ञेय और कर्म एक ही है। यह कर्म वही है जिसे पाणिनीय सूत्रने "कर्त्तुरीप्सिततम कर्म" (पा० १।४।४९)के रूपमे बताया है। इन दोनोके सात्त्विक या राजस, तामस होने, न होनेपर कर्म या क्रियामे कोई अन्तर नही पडता है। इसीलिये इन दोनोका आगे विचार नही किया गया है। हाँ, आगे जिस कर्मको तीन प्रकारका बताया है वह इस श्लोकके अन्तके "कर्म-सग्रह"वाला कर्म ही है, जिसका विचार पहलेसे ही हो रहा है और जिसे काम, क्रिया (action) कहते है। वह जरूर सात्त्विक, राजस, तामस होता है। इन तीनो गुणोका उसपर असर जरूर होता है। इसीलिये उसका विचार आगे भी जरूरी हो गया है।

अब इन दोनो त्रिपुटियोमे केवल ज्ञान और करण बच रहे। इनमे ज्ञानका आगे और भी विचार किया गया है। ज्ञान कहिये, जानकारी कहिये, इहसास (knowledge) कहिये सब एक ही चीज है। इसके बिना कुछ होई नही सकता है। इसपर सत्त्वादि गुणोका असर भी होता है। साथ ही, ज्ञान जैसा सात्त्विक, राजस या तामस होगा कर्म भी वैसा ही होगा। वह कर्म दरअसल किसमे है, किसमे नही इस निश्चयपर भी उसका असर खामखा होगा। इसीलिये ज्ञानकी तीन किस्मोका विवेचन इस कर्म-विवेचनके ही सिलसिलेमे आगे जरूरी हो गया है।

इसी तरह करण कहते है कर्म या क्रियाके साधनको। जैसे कुल्हाडीसे लकडी चीरते है और बसूलेसे भी। इसीलिये लकडी चीरनेकी क्रियामे, कर्ममे कुल्हाडी और बसूला करण हो गये। इन्द्रियोकी ही मददसे हम कोई भी क्रिया कर सकते है। इसीलिये हाथ-पाँव आदि कर्म-इन्द्रियाँ भी कर्ममे करण बन गईं। मगर इस करणके सात्त्विक, राजस, तामस होनेपर भी कर्मके बारेमे, कि वह दरअसल किसमे है, किसमे नही, कोई असर नही

होगा। इसीलिये आगे इस करणका और भी विचार जरूरी नही माना गया।

बुद्धि और धृत्ति या धैर्यका भी असर कर्मपर पडता है। ये जिस तरहकी हो कर्म भी वैसे ही सात्त्विकादि बन जाते है। कमसे कम उनके ऐसा होनेमे इन दोनोका असर पडता ही है। इन्द्रियोकीसी बात इनकी नही है कि इन्द्रियाँ चाहे कैसी भी हो और उनके करते काम पूरा या अधूरा भले ही रहे, फिर भी सात्त्विक, राजस या तामस नही हो सकता है। ये दोनो तो कर्मपर उसके सात्त्विकादि बननेमें ही बहुत बडा असर डालती है। पीछे इस निश्चयमे भी कि वह वाकई आत्मामे है या नही, इनका काफी असर पडता है। बुद्धिका तो यह सब काम हुई, यह सभी जानते है। धृतिका भी यही काम है। जिसमे धैर्य या हिम्मत न हो वही दब्बू और डरपोक होनेके कारण दबाव पडनेपर अट-सट कर डालता है। कमजोर ही तो दबाव पडनेपर झूठा बयान देता है। हिम्मतवाला तो कभी ऐसा करता नही। इसलिये इस प्रसगमे इन दोनोका विचार भी उचित ही है।

अब रह गया अकेला सुख, जिसका त्रिविध विवेचन आगे आया है। वह उचित ही है। सुखके ही लिये तो सब कुछ करते है। स्वर्ग, धन पुत्रादिके ही लिये सारी क्रियायें की जाती है। लोगोकी जो धारणा है कि स्वय ही—हमी—भला-बुरा कर्म करते है वह है भी तो इसीलिये न, कि दूसरेके करनेसे दूसरेको सुख होगा कैसे? यदि इस सुखकी फिक्र-चिन्ता छूट जाये तो मनुष्यकी सारी विपदा और परीशानी ही कट जाये। तब तो वह रास्ता पकडके पार ही हो जाये। बुरे कर्म तथा दु ख तो सुखकी फिक्रके ही करते आ जाते है। सुखकी लालसाके मारे हम इतने परीशान और बेहाल रहते है कि बुरे-भलेकी तमीज उस हाय-हायमें रही नही जाती। फलत बुरेसे भी बुरे कर्म सुखके ही लिये कर बैठते है।

सुखके विवेचनमे भी जो सबसे पहले सात्त्विक सुख ही बताया है उससे स्पष्ट हो जाता है कि असली सुख केवल बुद्धिकी सात्त्विकता और निर्मलतासे ही मिलता है, न कि कर्मोसे। कर्मोसे मानना भारी भूल है। वह सुख तो भीतर ही है, आत्मामे ही है, मौजूद ही है। केवल निर्मल बुद्धि चाहिये जो उसे देख सके, जान सके। उसे कही बाहरसे लाना थोडे ही है। इस तरह कर्मोंको आत्मामे माननेकी जरूरत रही नही जाती है। जिस तरह इन्ही कर्मोके सिलसिलेमे पहले त्रिविध त्यागोका वर्णन आया है वैसे ही यह भी वर्णन है, न कि नये सिरे त्रिगुणात्मक सृष्टिका कोई खास वर्णन है। पहले ही कही गई बातोका कर्मके सम्बन्धमे यहाँ केवल उपयोग कर लिया गया है। इसीलिये ये "न तदस्ति पृथिव्या वा" (१८।४०)मे एक ही बार कह दिया है कि सभी भौतिक पदार्थ तो त्रिगुणात्मक ही है। इसीलिये यह कोई नई बात नही है।

इस तरह कई प्रकारसे कर्मोंका असम्बन्ध आत्माके साथ सिद्ध कर चुकनेपर आगेके श्लोक प्रकारान्तरसे यही बात बताते है। इनका आशय केवल इतना ही है कि यदि ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, बुद्धि और धृति सात्त्विक हो और सात्त्विक सुखकी असलियत भी हम जान जाये, तो फिर वह नौबत आये ही नही जिससे इन कर्मोको जबर्दस्ती आत्मापर थोपे। आत्मामे इनके दरअसल न रहने और उससे हजार कोस दूर रहनेपर भी जो इनकी कल्पना और थोपा-थोपी आत्मामे हो जाती है उसकी असली वजह यही है कि हमारे ज्ञान, कर्म आदि सात्त्विक न होके राजस या तामस ही होते है। यदि यह बात न रहे, यदि सबके सब ठीक हो जाये, सात्त्विक ही हो जाये और हम सात्त्विक सुखको बखूबी समझके उसीकी प्राप्तिमे लग जाये, तो सारी आफने मिट जाये। यह सही है कि सबोके ठीक होनेपर भी यदि हमारी लगन सात्त्विक सुखमे न रहे, तो सब किया-कराया चौपट ही समझिये। इसीलिये वह सबसे जरूरी है। अन्तमें

वह आया भी है इसीलिये। आगेके २२ श्लोकोका साराश यही है।

ज्ञान कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदत ।
प्रोच्यते गुणसख्याने यथावच्छृणु तान्यपि ॥१९॥

(तीनो) गुणोके भिन्न-भिन्न होनेसे ज्ञान, कर्म और कर्त्ता भी सारय-शास्त्रमें तीन प्रकारके कहे गये है। उन्हें भी ठीक-ठीक सुन लो।१९।

सर्वभूतेषु येनैक भावमव्ययमीक्षते ।
अविभक्त विभक्तेषु तज्ज्ञान विद्धि सात्त्विकम् ॥२०॥
पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान् ।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञान विद्धि राजसम् ॥२१॥
यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन्कार्ये सक्तमहैतुकम् ।
अतत्त्वार्थवदल्प च तत्तामसमुदाहृतम् ॥२२॥

जिस ज्ञानके फलस्वरूप सभी जुदे-जुदे पदार्थोमे सर्वत्र एकरस, व्याप्त और अविनाशी वस्तु ही देखते है वही ज्ञान सात्त्विक समझो। सभी पदार्थोंमे भिन्न-भिन्न अनेक वस्तुओकी जो जुदी-जुदी जानकारी है वही ज्ञान राजस जानो। जो ज्ञान कुछ भौतिक पदार्थोतक ही सीमित, उन्हीको सब कुछ माननेवाला, बेबुनियाद, मिथ्या और तुच्छ है वही तामस कहा जाता है।२०।२१।२२।

नियत सगरहितमरागद्वेषतः कृतम् ।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत्सात्त्विकमुच्यते ॥२३॥
यत्तु कामेप्सुना कर्म साहकारेण वा पुन. ।
क्रियते बहुलायास तद्राजसमुदाहृतम् ॥२४॥
अनुबन्धं क्षय हिंसामनवेक्ष्य च पौरुषम् ।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते ॥२५॥

फलेच्छा न रखनेवालेके द्वारा जो कर्म निश्चित रूपसे आसक्तिसे शून्य होके विना रागद्वेषके ही किया जाय वही सात्त्विक कहा जाता है। जो कर्म फलेच्छापूर्वक अहकार या आग्रहके साथ किया जाय और जिसमें वहुत परीशानी हो वही राजस कहा जाता है। जो कर्म परिणाम, बीचके नफा-नुकसान, हिंसा और अपनी शक्तिका खयाल न करके भूलसे ही किया जाय वही तामस कहा जाता है।२३।२४।२५।

यहाँ साहकारेण शब्दका अर्थ है कर्ममे हठ या आसक्ति। क्योकि फलकी इच्छा और कर्मकी आसक्ति ये दो चीजे है जिन्हे पहले बखूबी समझाया जा चुका है। पहले श्लोकमे दोनोका त्याग कहा गया है। इसीलिये इसमे दोनोका आना जरूरी है। मगर 'कामेप्सुना' शब्द तो फलेच्छाको ही कहता है। इसीलिये 'साहकारेण'का ऐसा अर्थ हमने किया है। ठीक भी है यही। जब जिद्द होती है तभी तो 'मै जरूर ही कर डालूँगा' यह खयाल होता है। इसी प्रकार क्षय शब्दका भी अर्थ हमने चलती भाषामे 'नफा-नुकसान' किया है, जिसे घाटा या टोटा भी कहते है। मगर यह अन्तिम घाटा नही है। क्योकि उसके लिये तो अनुबन्ध शब्द आया ही है। इसीलिये दर्म्यानी टोटा ही अर्थ ठीक है।

**मुक्तसंगोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।**
**सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते ॥२६॥**

**रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।**
**हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः ॥२७॥**

**अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।**
**विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते ॥२८॥**

जो आसक्तिसे शून्य हो, जो वहुत वहके न, जो धैर्य और उत्साहवाला हो (तथा) कर्मके पूर्ण होने, न होनेमे जो बेफिक्र हो वही कर्त्ता सात्त्विक

कहा जाता है। रागयुक्त, फलेच्छुक, लोभी, हिंसामें लगा हुआ, नापाक और (कर्मके पूरे होने, न होनेमें) हर्ष और शोकाकुल कर्त्ता राजस हैं। बुद्धिको ठिकाने न रखनेवाला, गँवार, अँकड़ा हुआ, ठग, दूसरेकी हानि करनेवाला, आलसी, रोने-धोनेवाला और असावधान कर्त्ता तामस कहा जाता है।२६-२७।२८।

**बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।**
**प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनंजय ॥२९॥**

हे धनंजय, गुणोंके भेदसे बुद्धि और धृतिके भी जो तीन प्रकार हैं उन्हें भी पूरा-पूरा अलग-अलग कहे देता हूँ, सुन लो।२९।

**प्रवृत्तिं च निवृत्तिं च कार्याकार्ये भयाभये।**
**बन्धं मोक्षं च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी ॥३०॥**

**यया धर्ममधर्मं च कार्यं चाकार्यमेव च।**
**अयथावत्प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी ॥३१॥**

**अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।**
**सर्वार्थान्विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी ॥३२॥**

हे पार्थ, जो बुद्धि कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, हो सकने, न हो सकनेवाली चीज, डर-निडरता, बन्धन और मोक्ष (इन सबों)को (बखूबी) जानती है वही सात्त्विक है। जिस बुद्धिसे धर्म-अधर्म तथा कार्य-अकार्यको ठीक-ठीक न जान सके वही राजस है। हे पार्थ, तमसे घिरी जो बुद्धि अधर्मको धर्म और सभी बातोंको उलटे ही जाने वही तामसी है।३०।३१।३२।

यहाँ पहले श्लोकमें जो प्रवृत्ति और निवृत्ति है उसीके अर्थमें शेष दो श्लोकोंमें धर्म-अधर्म शब्द आये हैं। इसीलिये हमने प्रवृत्ति-निवृत्तिका अर्थ कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य किया है। धर्म-अधर्मका भी वही अर्थ है। कार्य-अकार्यके मानी यह हैं कि पहलेसे ही अच्छी तरह देख लेना कि यह काम

हमसे हो सकता है, साध्य है या नही। कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यके निश्चयके वाद भी साध्य-असाध्यका निश्चय जरूरी हो जाता है। क्योंकि जो कर्त्तव्य हो वह जरूर ही साध्य हो. यह बात नही है। इसीलिये असाध्य काममे भी कर्त्तव्यताके निश्चयके बाद बिना सोचे-बूझे पड जाना ठीक नही है, नादानी है। बन्ध और मोक्ष तो प्रवृत्ति-निवृत्तिकी कसौटीके रूपमे ही लिखे गये है। जिसका चरम परिणाम बन्धन और जन्ममरण हो वही अकर्त्तव्य और जिसका मोक्ष हो वही कर्त्तव्य माना जाना चाहिये। अतएव ३१वें श्लोकमे न लिखे जानेपर भी इसे समझ लेना ही होगा। यही वजह है कि ३२वेमे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यको कहके एक ही साथ वाकियोके बारेमे कह दिया है कि जो सभी बाते उलटे ही समझे। सभी बातोमे वन्ध-मोक्ष, कार्य-अकार्य भी आ गये।

इन तीनो श्लोकोका साराश यही है कि सात्त्विक बुद्धि सभी वाते ठीक-ठीक समझती है। वह मनुष्यका ठीक पथदर्शन करती है। मगर राजस वुद्धिमे किसी भी वातका ठीक-ठीक निश्चय हो पाता नही। न तो यथार्थ निश्चय और न उलटा। हर बातमे पशोपेश, दुविधा और घपला पाया जाता है, जिससे कर्त्ता किंकर्त्तव्यविमूढ हो जाता है। ऐन मौकेपर उसका उचित पथप्रदर्शन नही हो पाता। दोनोके विपरीत तामस बुद्धि हर बातमे उलटा ही निश्चय करती-कराती है और गलत रास्तेपर ही वरावर ले जाती है। इसमे न तो दुविधा होती है और न कभी यथार्थ निश्चय हो पाता है।

धृत्या यया धारयते मनः प्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृति. सा पार्थ सात्त्विकी ॥३३॥

यया तु धर्मकामार्थान्धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसंगेन फलाकांक्षी धृति. सा पार्थ राजसी ॥३४॥

**यया स्वप्नं भयं शोकं विषाद मदमेव च।**
**न विमुचति दुर्मेधा धृति• सा पार्थ तामसी ॥३५॥**

हे पार्थ, योगसे जिसका सम्वन्ध कभी टूटनेवाला न हो ऐसी जिस धृति—विशेष प्रकारके यत्न—के वलसे मन, प्राण और इन्द्रियोकी क्रियाओको कावूमे रखते है वही सात्त्विकी धृति है। हे अर्जुन, हे पार्थ, जिस धृतिके वलसे कर्ममें आसक्त (एव) फलेच्छुक (पुरुप) (केवल) घर्म, काम और अर्थकी ही वाते करता है वही राजसी है। जिस धृतिके वलसे आलस्य, डर, शोक, घवराहट, मद (इन सवो) को भ्रष्ट वुद्धिवाला (मनुष्य) छोड नही सकता वही तामसी मानी जाती है।३३।३४।३५।

कही-कही 'पार्थ तामसी'की जगह 'तामसी मता' पाठ है। शकरने यही पाठ माना है। हमने सम्मिलित अर्थ कर दिया है। क्योकि 'मता' शब्द न देनेपर भी उसका अर्थ तो यहाँ हई। उसके विना तो काम चलता नही। यहाँ पहले श्लोकमे जो योग है उसका अर्थ कर्मोमे आसक्ति एव फलेच्छाका न होना यह पहले ही कह चुके है। इसका मूलाधार आत्म-दर्शन वता चुके है। सात्त्विक धृतिका आधार यही वाते है। इन्हीके वलसे मन, प्राण और इन्द्रियोको डँटा देते और जरा भी डिगने नही देते, चाहे हजार वलायें आयें। ऐसी ही धृतिवाले मोक्षतकको ध्यानमे रखके ही कोई काम हिम्मतके साथ करते है। मगर राजसी धृतिवाले मोक्षको छोडके भटक जाते है। वे कर्मोमे आसक्त एव फलेच्छाके गुलाम वन जाते है। जहाँ सात्त्विक धृतिवाले धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारोकी पर्वा रखके ही कुछ भी करते है, तहाँ राजस धृतिवाले मोक्षको भूल जाते और पूरे चतुर सासारिक वनके धर्म, अर्थ, काम तीनकी ही पर्वा रखते है। यही वात दूसरे श्लोकमे कही गई है। कामका अर्थ है वही आसक्ति और इच्छा। छोटीसी वातोसे लेकर स्वर्गतककी कामनाको ही काम कहते है। अर्थ कहते है धनको, सम्पत्तिको। सम्पत्तिके भीतर सभी पदार्थ

आ गये। उनके धर्म, अर्थ और कामका परस्पर सम्बन्ध है—तीनो एक-दूसरेसे मिले रहते है। फलत यदि एक भी हट जाये तो तीनो गडबडीमे पड जाये। यह भी खास बात है कि उनके धर्म और अर्थको एक साथ जोडनेकी बात यह काम ही करता है। किन्तु सात्त्विक धृतिमे यह बात नही है। उसमे तो काम आसक्तिके रूपमे प्रबल न होके मामूली इच्छाके ही रूपमे नजर आता है, जिससे हरेक क्रियामे प्रगति मिलती है।

अब रही तामसी धृतिकी बात। ऐसी धृतिको धृति कहना उसका निरादर ही माना जाना चाहिये। फिर भी हरेक पदार्थ त्रिगुणात्मक ही है। इसलिये लाचारी है। असलमे तामसी धृतिवालोके मन, प्राण और इन्द्रियोपर अपना काबू नही रहनेसे उनकी क्रियाये मनमानी चलती-बिगडती रहती है। ऐसे लोगोमे हिम्मत तो होती ही नही। इसीलिये डर, अफसोस, मनहूसीमे पडे रहते है। एक तरहका नशा भी उनपर हर घडी चढा रहता है। आलस्यका तो पूछिये मत। इसीलिये नीदका अर्थ हमने आलस्य किया है। स्वप्नका अर्थ गाढी नीद तो सभव नही। जगके उठ बैठनेको उनका जी नही चाहता। इसीलिये ऐसे लोग कुछ भी कर पाते नही।

**सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।**
**अभ्यासाद्रमते यत्र दु.खान्तं च निगच्छति ॥३६॥**

हे भरतश्रेष्ठ, अब तीन प्रकारके सुखोको भी मुझसे सुन लो, (उन्हीं सुखोको), जिनके बार-बारके मिलनेसे उनमे मन रम जाता है और दु ख भूल जाते है।३६।

जिस ढगसे इस श्लोकमे शब्द दिये गये है उनसे भी यही स्पष्ट हो जाता है कि सभी कामोका आखिरी ध्येय यह सुख ही है। इसीलिये कहते है कि अब आखिरमे उसे भी जरा सुन लो। नही तो बात अधूरी ही रह जायगी। इसके बाद उत्तरार्द्धमे उसी सुखका सर्वसामान्य या साधारण

रूप कह दिया है। इसमे दो वाते कही गई है। एक यह कि सुख वही है कि जिसके अभ्यास या देरतकके या वार-वारके अनुभवमे ही उसमे मन रमता है। वह विजलीकी चमक, नीलकठका दर्शन या तीर्थके जलका स्पर्श नही है कि जरासे अनुभव या समर्गसे ही काम चल जाता है। ऐसा होनेसे तो सुखके वजाय दु ख ही होता है। जवानपर हलवा रखके फौरन उठा ले तो सुख तो कुछ होगा नही, झल्लाहट और तकलीफ भले ही होगी। ऐसा भी होता है कि वहुतसी चीजोके प्रथम ससर्गसे कुछ मजा या सुख नही मिलता। किन्तु निरन्तरके अनुभव और ससर्गसे ही, प्रयोग और इस्तेमालसे ही उनमे मजा आने-लगता है। जो लोग असभ्य है, जगली है उन्हें सभ्यताकी चीजोका चस्का लगाना होता है। पहले तो वे उलटे झल्लाते है। मगर धीरे-धीरे उनकी आवृत्ति और अभ्यास होते-होते मन उनमे रम जाता है। क्योकि मनके विना रमे तो मजा आता ही नही। यही वजह है कि सुख निरन्तर वना रहे, वह कमसे कम वार-वार मिलता रहे, सो भी अल्पसे अल्प विलम्वके वाद ही, इसी खयालसे लोग उसीकी हाय-धुनमे लगे रहते और बुरा-भला सवकुछ कर डालते है। कर्मको आत्मामे घुसेडनेका यह एक वहुत वडा कारण है।

दूसरी वात है दु खके खात्मेको पा जाना, जिसे हमने दु खका भूल जाना लिखा है। सुखकी इच्छा अधिकाशमे कष्टोसे ऊवके ही तो होती है। लोग आराम चाहते ही है इसीलिये कि वेदना और पीडासे पिड छूटे। इसीलिये तकलीफ कम होते ही कहने लगते है कि आराम हो रहा है। वीमार लोगोके वारेमें प्राय ऐसा कहा जाता है। इसीलिये हितोप-देशमे इसी रोगकी कमीके दृष्टान्तको ही लेके यहाँतक कह दिया है कि दुनियामे सुख तो हई नही, केवल दु ख ही है। इसीसे बीमारकी तकलीफ कम होनेपर उसे ही सुख कह देते है, "दु खमेवास्ति न सुख यस्मात्तदुप-लक्ष्यते। दु खार्त्तस्य प्रतीकारे सुखसज्ञा विधीयते"। मगर हमे इतने

गहरे पानीमे यहाँ उतरना है नही और न इसकी जरूरत ही है। गीताका यह सिद्धान्त है भी नही। वह तो स्वतत्र आत्मानन्दको मानती है। हम यहाँ इतना ही कहना चाहते है कि सुख मिलते ही या तो दुःख खत्म हो जाता है, वह रही नही जाता, या कमसे कम वह भूल तो जरूर जाता है, जबतक सुखका अनुभव रहे। इसलिये भी सुखका अभ्यास चाहते है। क्योकि जबतक ऐसा रहेगा दुःख भूला रहेगा। दुःखके भूल जानेमे दोनो बाते आ जाती है, दुःखका खत्म हो जाना भी और खत्म न होनेपर भी उसका अनुभव तत्काल न होना भी। इसीलिये हमने यही अर्थ किया है। यह दुःखके भूलनेकी भी चाट ऐसी है कि हमे सभी तरहके कर्मोको करनेको विवश करती है। साथ ही, आतुरतावश आत्माको ही हम कर्मों-का करनेवाला तथा आधार मान लेते है। अतएव सुखके बारेमे कही गई ये दोनो बाते बडे कामकी होनेके साथ ही प्रसगके अनुकूल भी है।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम् ॥३७॥
विषयेन्द्रियसयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम्।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥३८॥
यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम् ॥३९॥

यहाँ पहले श्लोकमे आत्मानन्दका ही वर्णन है। इसीलिये उसके वास्ते किसी और बातकी जरूरत नही बताई गई है। केवल अपनी बुद्धि-को ही निर्मल और स्वच्छ करनेकी आवश्यकता कही गई है। वह तो मौजूद ही है, पास ही है। सिर्फ बुद्धिको एकाग्र और समाधिस्थ करनेकी जरूरत है! बुद्धिका अर्थ मन, चित्त या अन्तःकरण है। ऐसा होते ही वह आनन्द आप ही आप मिलने लगता है। कहा भी है कि "दिलके आईनेमे है तस्वीरे यार। जब जरा गर्दन झुकाई देख ली"। गर्दन झुकानेका मतलब मनकी एकाग्रतासे ही है। 'आत्मबुद्धि प्रसादजम्'मे जो आत्म शब्द है वह इन्ही बातोका सूचक है। यह मनकी एकाग्रता और समाधि बहुत ही कष्टसाध्य है। इसीलिये उस सुखको शुरूमे जहर जैसा कहा है। वह जहर जैसा हैके मानी है कि उसके लिये जो कुछ करना होता है वह बहुत ही कठिन है।

विषय सुखको राजस कहा है। वह पहले तो बहुत ही अच्छा लगता है और मनको रमाता है। मगर परिणाम उसका बुरा होता है। क्योकि बाल-बच्चो और सासारिक पदार्थोंमे ही जिसे चस्का हो गया वह परलोक और कल्याणकी बात कुछ भी करी नही सकता। उससे समाजहितका भी कोई काम नही हो सकता है। मनोरथोकी न कभी पूर्त्ति होती है और न इनसे और इनके करते होनेवाले झझटोंसे छुटकारा ही मिलता है। फिर और बात हो तो कैसे? इसीलिये सौभरि ऋषिके बारेमें कहा जाता है कि उनने समाधिको त्यागकर पूरे पचास विवाह किये! फिर महल बनाके सासारिक सुखका भोग शुरू किया! बच्चे, पोते, परपोते आदि हो गये, भारी परिवार बढ गया और "गीता फैल गई"! अन्तमे ऊबके उनने सबको लात मारी और कहा कि लाखो वर्षों मे भी मनोरथोकी पूर्त्ति हो नहा सकती, आदि-आदि—"मनोरथाना न समाप्तिरस्ति वर्षायुतेनापि तथाब्दलक्षै। पूर्णेषु पूर्वेषु पुनर्नवानामुत्पत्तय सति मनोरथानाम्।

पङ्क्त्या गता यौवनिनश्च याता दारैश्च सयोगमिता प्रसूता । दृष्ट्वा सुत तत्तनयप्रसूति द्रष्टु पुनर्वाञ्छति मेऽन्तरात्मा । आमृत्युतो नैव मनोरथानामन्तोऽस्ति विज्ञातमिद मयाऽद्य । मनोरथासक्तिपरस्य चित्ते न जायते वै परमात्मसग"। यही आशय इस श्लोकका है, न कि वेश्यागामियो या दूसरे कुकर्मियोसे यहाँ मतलव है। उनका वर्णन तो तामस सुखमे ही आया है। क्योकि उस सुखका काम ही है आत्माको भटकाना। प्रमादमे ही वह पैदा भी होता है। कुकर्म तो प्रमाद और भटकना ही है न ? दिनरात पडे-पडे ऊँघते रहे और आलसमे दिन गुजारे यही तो तामसी वृत्ति है। ऐसे लोगोको इसीमे मजा भी मिलता है। यहाँ निद्राका अर्थ है ज्यादा निद्रा। क्योकि साधारण नीदमे तो सभीको मजा मिलता है। गाढी नीदके बाद हरेक आदमी कहता भी है कि "खूब आरामसे सोये, ऐसा सोये कि कुछ मालूम ही न पडा—"सुखमहमस्वाप्सन्न किंचिदवेदिषम्"।

इस प्रकार त्रिगुण रूपमे सुख आदिका वर्णन कर दिया। इसका प्रयोजन हम पहले ही कह चुके है। शायद कोई कहे कि केवल सात्त्विक कर्म, ज्ञान, कर्त्ता आदिके ही वर्णनसे काम चल सकता था और लोग सजग होके आत्माको कर्मसे अलग मान सकते थे। फिर राजस, तामसोके वर्णनकी क्या जरूरत थी ? बात तो सही है। मगर जब सात्त्विकका नाम लेगे तो खामखा फौरन आकाक्षा होगी कि राजस, तामस क्या है। जरा उन्हे भी तो जाने। और अगर यह इच्छा पूरी न हो तो निरूपण बेकार जायगा। बाते भी अच्छी तरह समझमे आ न सकेगी। मन दुविधेमे जो पड गया और समझना ठहरा उसे ही। एक बात और भी है। यदि राजस, तामसका पूरा व्योरा और वर्णन न हो तो लोग चूक सकते है। वे दरअसल राजस या तामसको ही भूलसे सात्त्विक मान बैठ सकते है। इसीलिये साफ-साफ तीनोको एक ही साथ रख दिया है; ताकि आईनेकी तरह देख ले और धोकेसे बचे।

इस प्रकार सब कुछ कह चुकनेके बाद इसका उपसहार करते हुए, जैसा कि कहा है, अगला श्लोक बताये देता है कि यह तो आश्चर्यकी कोई बात है नही। जमीन आसमान कही भी जो चीज होगी उसमे तीनो गुण होगे ही। इसीलिये केवल सजग होनेकी जरूरत है। नही तो इनके सिवाय औरोसे भी धोका हो सकता है।

**न तदस्ति पृथिव्या वा दिवि देवेषु वा पुन ।**
**सत्त्व प्रकृतिजैर्मुक्त यदेभि स्यात्त्रिभिर्गुणै ॥४०॥**

भूमडलमे या आकाश और स्वर्गके निवासी देवताओंतकमें भी ऐसा एक भी पदार्थ नही है जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनो गुणोसे रहित हो।४०।

पृथ्वीके किसी पदार्थका नाम न लेकर स्वर्गके देवताओका नाम लेनेका प्रयोजन इतना ही है कि पार्थिव पदार्थोको तो सभी लोग त्रिगुणात्मक मानते-जानते है। अन्य स्वर्गीय पदार्थोको भी ऐसा शायद समझ सकते है। स्वर्गमे देवताओके अलावे और भी पदार्थ यक्षादि होते ही है। साथ ही, दिव तो आकाशको भी कहते है और उसमे प्रेतादि भी रहते ही है। वे भी त्रिगुणात्मक हो सकते है। किन्तु देवताओको दिव्य या अलौकिक खयाल करके कोई शायद त्रिगुण न माने, इसीलिये उनको खासतौरसे कह दिया। वजह भी दे दिया कि सभी तो प्रकृतिसे ही बने है। इसीलिये किसीपर भी भरोसा न करके अपनी बुद्धिकी निर्मलताका ही सहारा लेना होगा।

इसी तरह सत्त्वका अर्थ पदार्थ है, न कि सत्त्व गुणमात्र। यह ठीक है कि सत्त्वगुण कही भी विशुद्ध नही है। उसमें भी रज और तमका मेल कभी कम, कभी ज्यादा रहता ही है। इसीसे सत्त्वका अर्थ पदार्थ हो भी गया। क्योकि किसीमे कम और किसीमे अधिक सत्त्व तो रहता ही है। आशय यही है कि खबरदार, विशुद्ध सत्त्व कही नही है। इसलिये सतर्क

रहना ही होगा। नही तो बुद्धिकी पूरी सफाईके बाद भी उसपर रज, तमका धावा हो सकता है।

अब प्रश्न पैदा होता है कि इसका उपाय क्या है कि सात्त्विक कर्म, ज्ञान, बुद्धि, सुख आदि ही रहे और राजस, तामस रहने न पाये—लोग इन दोनोके फेरमे न पडके सात्त्विकके ही पीछे लगे रहे ? बिना उपाय जाने काम चलेगा भी कैसे ? साथ ही, जो उपाय हो भी वह किस तरह काममे लाया जाय, जिसमे कभी गडबडकी गुजाइश न रहे, यह भी प्रश्न होना स्वाभाविक है। इसीलिये आगेके श्लोकोमे इन्ही दोनोका उत्तर देते हुए समूचा अध्याय पूरा करके गीताका भी उपसहार कर दिया गया है। इसमे भी पहलेके चार (४१-४४) श्लोकोमे उपायोको बताके शेष श्लोकोमे उन्हीका प्रयोग बताया गया है। यह ठीक ही है कि दवाका प्रयोग निरन्तर तो होता है नही। बीच-बीचमे विराम तो करते ही है। कभी-कभी तो लम्बी मुद्दत तक दवा छोडके देखते है कि मर्ज गया या नही। उस समय दवाका छोड देना ही दवाका काम करता है। नही तो आवश्य-कतासे अधिक दवाका प्रयोग कर देनेका खतरा आ सकता है। ठीक यही बात कर्मोकी है। वर्णोके कर्म तो उपायके रूपमे ही कहे गये है। मगर उन्हे छोड देनेकी भी जरूरत दवाकी ही तरह हो जाती है। नही तो इनका जरूरतसे ज्यादा प्रयोग हो जानेसे ही हानि हो सकती और काम बिगड सकता है। इस प्रकार कर्मोके स्वरूपत त्यागकी भी बात इसी सिलसिलेमे आ जाती है, आ गई है और वह उचित ही है। जलचिकित्सा-शास्त्रका तो यह एक नियम ही है कि बीच-बीचमे जरूर ही जलचिकित्सा बन्द कर दी जानी चाहिये। नही तो वह मनुष्यका एक तरहका स्वभाव बन जाती है। फिर तो उसका कुछ भी असर नही होता है।

हाँ, तो आगेके चार श्लोकोमे जो वर्णोके धर्म कहे गये है वह त्रिगुणोसे बने विभिन्न स्वभावोके अनुसार ही माने गये है। बार-बार उन श्लोकोमे

यह बात कही गई है। यहाँतक कि हरेक वर्णके बारेमे अलग-अलग उसका जिक्र किया है। पहले श्लोकमे चारोके बारेमे एक साथ भी कह दिया है कि ये कर्म स्वाभाविक होते है, प्रकृतिके अनुसार ही होते है। हमने इस बातपर बहुत ज्यादा प्रकाश पहले ही डाल दिया है। इस प्रसगमे इनके कहे जानेका आशय यही है कि यदि गुण-तारतम्यके अनुसार बनी हुई मानव-प्रकृतिकी जाँच करके उसीके अनुसार उसके कर्म निर्धारित किये जाये, तो राजस-तामसका झमेला खडा होगा ही नही। क्योकि सात्त्विक प्रकृतिवाले तो उनसे योही बच जायँगे। उन्हे दूसरे कर्म मिलेगे ही नही। इसीलिये राजस-तामस सुखोका भी मौका ही उन्हे न लगेगा। उनकी बुद्धि और धृति भी वैसी ही होगी। यदि कुछ कसर भी रहेगी तो ये कर्म ही उसे ठीक कर देगे।

रह गये राजस तथा तामस प्रकृतिवाले। जब इन्हें भी प्रकृतिके अनुसार ही कर्म करनेकी विवशता होगी तो वे उसमे विशेषज्ञ और पारगत हो जायँगे। नतीजा यह होगा कि उनकी हकीकत और असलियत समझने लगेगे। फिर तो धीरे-धीरे अपने भीतर ऐसी भावना और ऐसे सस्कार पैदा करेगे कि स्वयमेव उनकी प्रकृति बदलेगी। फलत इस जन्ममे नही, तो आगे सात्त्विक मार्गपर आ जायँगे। विशेषज्ञताका तो मतलब ही है उसका रग-रेशा पहचान लेना। उसका सिर्फ यही मतलब नही होता कि उसपर अमल अच्छी तरह किया जाय। किन्तु उसकी कमजोरियाँ, बुराइयाँ और हानियाँ भी मालूम हो जाया करती है, आँखोके सामने नाचने लगती है और यही चीज आगेका रास्ता साफ करती है। वर्णाश्रमोके धर्मोकी इस तरह सख्तीके साथ पाबन्दीकी जो बात पहले जमानेमें थी उसका यही मतलब था। हम यह पहले ही अच्छी तरह सिद्ध कर चुके है। आज जो श्रम-विभाजन (division of labour) का सिद्धान्त बहुत व्यापक रूपमे काममे लाया जाकर पराकाष्ठाको पहुँचा दिया गया

है, वह कोई नई बात नही है। वर्णाश्रमधर्मोके विभागके मूलमे यही सिद्धान्त काम करता है। इससे ही समाजकी प्रगति पहलेके ऋषि-मुनि मानते थे। आश्चर्य है कि आधुनिक विज्ञान भी यही बात रूपान्तरमे मानता है। डाक्टर ऐडम स्मिथने अठारहवी सदीके उत्तरार्द्धमे जो एक महत्त्वपूर्ण पुस्तक राजनीतिक अर्थशास्त्रके बारेमे लिखी है और जिसका नाम है "राष्ट्रोकी सम्पत्ति" (The Wealth of Nations by Dr. Adam Smith), उसके शुरूमे, पहले ही परिच्छेदमे, वह यही बात यो लिखते है—

"In the progress of society philosophy or speculation becomes, like every other employment, the principal or sole trade and occupation of a particular class of citizens Like every other employment, too, it is subdivided into a great number of different branches each of which affords occupation to a peculiar tribe or class of philosophers, and this subdivision or employment in philosophy as well as in every other business, improves dexterity, and saves time. Each individual becomes more expert in his own peculiar branch, more work is done upon the whole, and the quantity of science is considerably increased by it"

इसका आशय यह है, "समाजकी प्रगतिके सिलसिलेमे हरेक दूसरे कामोकी ही तरह दर्शन या मनन-चिन्तन भी नागरिकोके एक खास वर्गका मुख्य या सोलहो आना काम और पेशा वन जाता है। फिर दूसरे कामोकी

ही तरह यह भी अनेक विलक्षण विभागोमे बँट जाता है और हरेक विभाग एक विलक्षण वर्ग या जातिके दार्शनिको और दिमागदारोके लिये काम दे देता है। दर्शन और चिन्तनका यह विभाग हरेक दूसरे पेशोके विभागकी ही तरह कुशलता एव विशेषज्ञताकी प्रगति करता है और समय भी बचाता है। इस तरह हरेक व्यक्ति अपने खास विभाग या उसकी शाखामें अधिक कुशल हो जाता है, सब मिलाके इस तरह काम भी ज्यादा होता है और विज्ञानके प्रसारमे प्रगति ज्यादा हो जाती है"।

ब्राह्मणक्षत्रियविशा शूद्राणा च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणै. ॥४१॥

हे परन्तप, स्वभावको बनानेवाले तीनो गुणोके (तारतम्यके) फल-स्वरूप ब्राह्मणो, क्षत्रियो, वैश्यो तथा शूद्रोंके कर्म बिल्कुल ही बँटे हुए है।४१।

शमो दमस्तप शौच क्षांतिरार्जवमेव च।
ज्ञान विज्ञानमास्तिक्य ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥४२॥

शम, दम, तप, पवित्रता, क्षमा, नम्रता या सिधाई, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता, (ये) ब्राह्मणोके स्वाभाविक कर्म है। ।४२।

आस्तिकताका अर्थ श्रद्धा है।

शौर्य तेजो धृतिर्दाक्ष्य युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षात्र कर्म स्वभावजम् ॥४३॥

शूरता, दब्बूपनका न होना, धैर्य (युद्ध, शासनादिमें) कुशलता, युद्धमें न भागना, दान और शासनकी योग्यता, (ये) क्षत्रियोके स्वाभाविक कर्म है।४३।

कृषिगौरक्ष्यवाणिज्य वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मक कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम् ॥४४॥

खेती, पशुपालन (और) व्यापार (ये) वैश्योके स्वाभाविक कर्म हैं। शूद्रोका भी स्वाभाविक कर्म सेवा-रूप ही है।४४।

यहाँ ब्राह्मणो और क्षत्रियोके स्वतत्र रूपमे विस्तृत कर्मोका जुदा-जुदा वर्णन और शूद्रो तथा वैश्योके कर्मोका एक ही श्लोकमे सक्षेपमे ही वर्णन यह सूचित करता है कि उस समय वैश्य और शूद्रका दर्जा प्रायः समकक्ष, परतत्र और छोटा माने जाने लगा था। मगर ब्राह्मण तथा क्षत्रिय प्राय समकक्ष होनेके साथ ही ऊँचे एव स्वतत्र माने जाते थे। शूद्रके कामका तो खास नाम भी नही दिया है। किन्तु "सेवा-रूप" कह दिया है। इससे खयाल होता है कि जरूरत होने पर उससे हर तरहका काम करवाके उस कामको सेवाका रूप दे दिया जाता था। इससे यह भी स्पष्ट है कि समाजके लिये वह फिर भी बहुत ही उपयोगी और जरूरी था। आखिर सेवाके बिना समाज टिकेगा भी कैसे ? हमने इसपर पूरा प्रकाश पहले ही डाला है। इस श्लोकमे "शूद्रस्यापि" मे शूद्रके साथ 'भी'के अर्थमे 'अपि' आया है। उससे यह भी साफ झलकता है कि उस समय सेवा धर्म शेष तीन वर्णोंका भी था और आज उसे जितना बुरा मानते हैं, पहले यह बात न थी। इसीके साथ यह भी सिद्ध हो जाता है कि शूद्रोका कोई अपना खास पेशा या काम न था। जरूरत होने पर वह तीनो वर्णोका काम करते रहते थे। हमने इस पहलू पर भी पहले ही ज्यादा प्रकाश डाला है। शेष तीनके साथ 'अपि' न देके केवल शूद्रके साथ ही देनेका दूसरा आशय हो नही सकता। ऐसी दशामे शूद्रोको छोटे या नीच माननेका एक ही कारण हो सकता है और वह यह कि उनकी स्वतत्र हस्ती न थी, जैसी कि शेष तीनकी थी। क्योकि उनका कोई निजी पेशा न था। और जान पडता है, उस समय निजी पेशेका होना जरूरी एव प्रतिष्ठाका चिन्ह माना जाता था। इसीलिये शूद्र छोटे समझे गये। वैश्योके भी छोटे माने जानेकी प्रवृत्ति शायद इसीलिये हुई कि खेती, व्यापार या पशुपालनकी उस समय

कोई खास जरूरत न थी। या तो इनके द्वारा होनेवाला समाज का काम आसानीसे चला जा रहा था और खेती, पशुओ या व्यापारकी प्रचुरता थी, या यह कि अभी उस ओर समाजका विशेष ध्यान न गया था। फलत ये बीज रूपमे ही थे। भरसक यह दूसरी ही बात थी। मगर इसपर अधिक विचार यहाँ हो नही सकता।

फिर भी इतना तो जान ही लेना होगा कि जब तीन ही गुणोके अनुसार वर्णोंके कर्म बँटे है और यह बँटवारा स्वाभाविक है, न कि जबर्दस्ती बना या बनावटी, तब तो दरअसल ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन्ही तीन वर्णोंकी सभावना रहती है, न कि चौथेकी। यो तो हमने भी पहले इसी तरहके प्रसगमे चारो वर्णोंका बँटवारा कर दिया है। मगर वह बात हमारी अपनी न होके परम्परासिद्ध ही है। वहाँ हमने अपनी ओरसे इस तीन या चारके बारेमे कुछ न कहके उसीका उल्लेख कर दिया है। अपनी बात तो हमने अलग ही कही है। शूद्र नामका कोई स्वतत्र वर्ण न था, हमने यही लिखा है। लेकिन जब यहाँ इन श्लोकोंके शब्दो और प्रसगोको देखते है तो हमे साफ कहना ही पडता है कि शब्दोंके अर्थसे भी तीन ही वर्ण सिद्ध होते है। अगर सत्त्व, रज, तमकी मिलावटमे कमी-बेशी करके चौथेका भी रास्ता निकाल ले, जैसा कि किया जाता है और हमने भी लिखा है, तो इस तरह चारसे ज्यादा जानें कितने ही वर्ण बन सकते है। क्योकि मिलावटमे जो कमी-बेशी होगी वह तो हजारो तरहकी हो सकती है न? आधा, चौथाई, दशमाश, शताश, सहस्राश आदिके हिसाबसे वह सम्मेलन, वह मिश्रण हजारो तरहका हो जायगा। इसलिये हमारे जानते यह बात दार्शनिक युक्तिसे शून्य है।

देखिये न, ४१वें श्लोकमे ही तो 'प्रविभक्तानि' लिखा है, जिसका अर्थ है कि सबोके कर्म बिलकुल ही जुदे-जुदे है। मगर जब सेवा सबोका धर्म बन गई और शूद्रके लिये दूसरा कुछ बताया ही नही, तो उसके कर्मको

प्रविभक्त कहना कैसे उचित होगा ? और अगर यह बात न हो तो उसे स्वतंत्र वर्ण कैसे माना जाय ?

इसी ४१वे श्लोकमे ही एक मजेदार बात और है। आगे तो ब्राह्मण और क्षत्रियको अलग-अलग श्लोकोमे कहके शूद्र और वैश्यको एक हीमे कह दिया और जैसे-तैसे काम चला लिया है। पहले भी "स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रा" (९।३२)मे इसी तरहकी बात आई है। हमने वही इसका इशारा भी कर दिया है। मगर ४१वे श्लोकमे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तीनोका एक ही समस्त पद बनाके 'ब्राह्मणक्षत्रिय-विशा' कह दिया है। केवल शूद्रको अलग 'शूद्राणा' कहा है। समास करने पर श्लोकमे अक्षर न बढ जाय और छन्दमे गडबड न हो जाय इसके लिये वैश्यकी जगह उसी अर्थमें विश्‌शब्द रखना पडा है। फिर भी चाहते तो "विप्राणा क्षत्रियाणा च विट्शूद्राणा च भारत" ऐसा श्लोक बना दे सकते थे। किन्तु ऐसा न करके तीनोको एक जगह जोडनेमे यही आशय प्रतीत होता है कि दरअसल विभक्त कर्म तीनके ही है और स्वतंत्र वर्ण भी यही है। हाँ, शूद्र भी माना जाता है। मगर उसके कर्म ऐसे नही है।

और जब सब चीजे तीन ही तीन गिनाई गई भी है तो वर्णोको एकाएक चार कह देना भी प्रसगसे अलग सा हो जाता है। वैश्यके व्यापारको सत्यानृत या झूठ-सचकी चीज कहते भी है और खेती भी हिसामय ही है, और ये दोनो तामसी ही है। इसलिये उसे तामस, क्षत्रियको राजस और ब्राह्मणको सात्त्विक मानना ही उचित है। यही बात खूब जँचती भी है। क्षत्रिय तो राजा भी कहा जाता है और उसकी राजसी ही बात मानी भी जाती है। ज्ञान तो सात्त्विक हई। बस, अधिक आगेके लिये।

अब आगे ४५वे श्लोकसे जो बात शुरू होती है वह यही कि जो

उपाय कर्मके रूपमे बताया गया है वह इष्टसिद्धिके लिये काममें लाया कैसे जाय।

> स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः ससिद्धि लभते नर.।
> स्वकर्मनिरतः सिद्धि यथा विन्दति तच्छृणु ॥४५॥
> यतः प्रवृत्तिर्भूताना येन सर्वमिद ततम्।
> स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धि विन्दति मानव ॥४६॥

अपने-अपने कर्मोमे लगे रहनेवाला मनुष्य ही मनकी शुद्धि—बुद्धिकी निर्मलता—प्राप्त कर लेता है। अपने कर्मोमे ही लगा हुआ (वह यह) शुद्धि जैसे प्राप्त करता है वह भी सुन लो। जिस भगवानसे ही पदार्थोकी सृष्टि हुई और जो सम्पूर्ण जगत्मे व्याप्त है, मनुष्य अपने कर्मोसे ही—कर्मोके रूपमे ही—उसीकी पूजा करके (यह) सिद्धि—मन शुद्धि—पा जाता है।४५।४६।

पहले जो "यत्करोपि" (९।२७) आदिके द्वारा अपने-अपने कर्मोके करनेको ही भगवानकी पूजा कहा है उसीसे यहाँ मतलब है, न कि किसी और चन्दन, अक्षत, घटीवाली पूजासे। स्वकर्मणा शब्दसे यह बात साफ है। ऐसा करनेसे कैसे मनकी शुद्धि होगी अब यही बात कहना जरूरी था और ४९वें श्लोकमें यही कही भी गई है। लेकिन शायद लोग अपने-अपने कर्मोसे डिग जाये और पूजाका दूसरा ही आरती, घटीवाला रूप खडा कर दे, इसीलिये उधरसे रोकने और स्वकर्म पर ही जोर देनेकी जरूरत आगे बढनेके पहले ही समझी गई। दो श्लोकमें यही बात कह भी दी गई है। ठीक भी है न? पूजा तो-और ही चीज मानी जाती है। यह निराली पूजा कैसी? लोगोको सहसा ताज्जुब हो सकता है। इस-लिये उसकी सफाई कर देना जरूरी हो गया। ऐसा भी हो सकता है कि शासन और युद्धादिके कामोको निर्दयता और हिसाकी चीज समझ लोग

उससे हिचके। इस तरह सारे गुडके गोबर हो जानेकी शका बनी रहेगी। ऐसे कामोको तो खामखा कोई भी पूजा माननेको जल्दी तैयार होगा ही नही। इसलिये फौरन ही ये बाते साफ कर दी गई है। निर्दयता और हिंसाकी दलीलका भी यही उत्तर दे दिया है कि सृष्टिके त्रिगुणात्मक होनेके कारण सर्वत्र ही बुराइयाँ रहती ही है। भले-बुरे सभी मिले-जुले है। क्या साँस लेने और आरती-चन्दनमे हिंसा नही है ? फिर इस वाहियात बातमे क्या पडना ?

**श्रेयान्स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।**
**स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्विषम् ॥४७॥**
**सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।**
**सर्वारंभा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः ॥४८॥**

दूसरेके धर्म या स्वाभाविक कर्मको अच्छी तरह या आसानीसे कर लेनेपर भी उसकी अपेक्षा अपना अधूरा या दीखनेमें बुरा भी धर्म कही अच्छा है। (क्योकि) स्वभावके ही अनुसार निश्चित कर्मोके करनेमें (दरअसल) कोई पाप या बुराई नही होती। (इसीलिये) हे कौतेय, (देखनेमे) दोषयुक्त भी स्वाभाविक कर्म कभी न छोडे। क्योकि जैसे आग धुएँसे घिरी होती ही है वैसे ही सभी काम दोषसे घिरे ही (नजर आते) है।४७।४८।

इन श्लोकोमे एक तो "विगुण", "स्वनुष्ठितात्" तथा "सदोषम्" पदोके अर्थ जरा लम्बे चौडे है। दोषमे सभी तरहकी छोटी-बडी बुराइयाँ, हानियाँ और त्रुटियाँ आ जाती हैं, न कि सिर्फ हत्या वगैरह पापोसे यहाँ मतलब है। दूसरी बात यह भी है कि ऊपरसे देखनेमे ही ऐसा मालूम होनेसे यहाँ तात्पर्य है। क्योकि वाकई तो बुराई किसीमे भी नही है। सबके सब तो पूजा ही है। और अगर बुराई है तो सबोमे है। यह ठीक है कि किसीमे साफ दीखती है और किसीमे नही। बस, यही आशय है।

इसी तरह विगुणका अर्थ है अधूरा किया हुआ और देखनेमें दोषयुक्त। हमने ये दोनो ही अर्थ मिलाके लिख दिये है। स्वनुष्ठितात् (सु+अनुष्ठितात्)के भी दो मानी है, अच्छी तरह किया गया और आसानीसे किया गया। सहज शब्द भी महत्त्वपूर्ण है। मनुष्यके जन्मके साथ ही जो कर्म पैदा हुए वही स्वाभाविक कर्म है, जैसे बतकका तैरना, न कि पीछेसे सिखाये या बलात् लादे गये। वर्णधर्मकी यही बडी खूबी थी, न कि आज जैसी धक्कमधुक्की।

यो तो हमने कही दिया है कि वर्णव्यवस्था विशेषज्ञता सम्पादनके द्वारा आत्माको कर्मसे अलग करने या सात्त्विक कर्ममे धीरेधीरे लग जानेका रास्ता साफ करती है। मगर उतनी दूर न जाके भी यदि स्वाभाविक कर्मोंको अनासक्तिके साथ करें तो भी काम बन जाये। यह अनासक्ति भी स्वाभाविक कर्मोमें ही पूरी-पूरी हो सकती है, जैसे साँस लेने या मलादिके त्यागमें। इनमे कौनसी आसक्ति किसीको होती है? बनावटी कर्मोमे यह बात या तो असभव है या अत्यत दु साध्य। ऐसे कर्मवाले पथभ्रष्ट जो ठहरे। और पथभ्रष्टको रास्ते पर लाना तो कठिन हुई। इस तरह अनासक्तिपूर्वक स्वधर्म करते हुए ही मनकी पूर्ण शुद्धि हो जाती है। फिर तो फौरन समाधिकी दशा आ जानेपर कर्मोका स्वरूपत त्याग करके पूरी निष्कर्मता प्राप्त हो जाती है। क्योकि आसक्तिके त्यागसे एक तरहका कर्मत्याग तो पहलेसे ही रहता है। मगर स्वरूपत कर्मोंके करते रहनेसे वह पूर्ण या परम कर्म-त्याग नही होता, किंतु अधूरा। वही परम-त्याग हो गया, जब समाधिके लिये स्वरूपत भी कर्म छोड दिये गये। यदि "न कर्मणामनारभात्" (३।४) श्लोककी मिलान हम इस ४९वेंसे करे तो पता लग जाय कि वही नैष्कर्म्य और सिद्धि शब्द यहाँ भी है। मगर जो कमी वहाँ बताई गई है उसकी पूर्त्ति करके यहाँ परम नैष्कर्म्यका सच्चा रूप खडा कर दिया है।

**असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः ।**
**नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति ॥४९॥**

सभी चीजोंमे जिसकी बुद्धि आसक्तिशून्य है, कावूमे है और जो सभी इच्छासे रहित है, (वही मनुष्य कर्मोके स्वरूपतः) सन्यासके द्वारा परम नैष्कर्म्यकी प्राप्ति कर लेता है ।४९।

इसीलिये हमने पहले भी कह दिया है कि इसी श्लोकमे संन्यास शब्दका अर्थ है स्वरूपत. कर्मोका त्याग। नैष्कर्म्यका परम विशेषण भी इसीसे संगत हो सकता है। इसके बाद तो 'सन्यस्य' शब्द एक ही बार ५७वे श्लोकमे आया है। मगर वहाँ कर्मोका स्वरूपत त्याग अर्थ है नही । वह शब्द क्रियावाचक है और अर्पण. रखने या समर्पणके ही मानीमे आया है । हाँ. तो इस तरह पूर्ण कर्म-त्याग हो जाने पर किस तरह ब्रह्मात्माका साक्षात्कार होता है और उसमे कर्मकी निर्लेपता प्रतीत होने लगती है, झलक जाती है, यही बात आगेके चार श्लोक (५०-५३) बताते है। इसीको समाधि कहते है, ध्यान योग कहते है तथा ज्ञाननिष्ठा, समाधिनिष्ठा और ध्याननिष्ठा भी कहते है। इसीके चलते पूर्ण ज्ञान और आत्मदर्शन-की प्राप्ति हो जाती है। इसीलिये ज्ञाननिष्ठा इसे कहा गया है। बिना ऐसा किये ज्ञान परिपक्व नही होता और न सर्वत्र आत्मदृष्टि होती है। फिर कर्म छूटे कैसे और आत्मा निर्लेप दिखे कैसे ?

इसके बाद ५४वे श्लोकमे उस ज्ञान या आत्म-दर्शनका स्वरूप कहके ५५वेमे कारण बताया है कि क्यो उसे पूर्ण ज्ञान, ज्ञाननिष्ठा या आत्मदर्शन कहते है। उसका परिणाम भी कह दिया है कि आत्मा ब्रह्मरूप ही हो जाती है. उसीमे मिल जाती है।

**सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे ।**
**समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा ॥५०॥**

वुद्धया विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मान नियम्य च ।
शव्दादीन्विषयास्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च ॥५१॥

विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानस. ।
ध्यानयोगपरो नित्य वैराग्य समुपाश्रित ॥५२॥

अहकार वल दर्पं काम क्रोध परिग्रहम् ।
विमुच्य निर्मम. शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥५३॥

(इस प्रकार पूर्ण नैष्कर्म्यकी) सिद्धि प्राप्त कर लेनेपर (मनुष्य) जिस तरह ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है और जिसे परले दर्जेकी ज्ञाननिष्ठा कहते है वह मुझसे जान लो। निर्मल सात्त्विक वुद्धिवाला (मनुष्य) (सात्त्विक) धैर्यके वलसे मनको रोकके, शव्द आदि (इन्द्रियोंके) विषयोको छोडके और रागद्वेषको हटाके एकान्त देशका सेवन करते, हलका भोजन करते तथा जवान, मन और शरीरको कावूमे रखे हुए निरन्तर ध्यानयोग-में ही दत्तचित्त होता एव वैराग्यको पक्का कर लेता है। (फलत ) अहकार, वलप्रयोग, ऐंठ, काम, क्रोध और सभी लवाजिमसे नाता तोडे हुए, ममतारहित (तथा पूर्ण) शातियुक्त होके ब्रह्मका रूप हो जाता है ।५०।५१।५२।५३।

ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा न शोचति न काक्षति ।
सम. सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम् ॥५४॥

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वत ।
ततो मा तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ॥५५॥

ब्रह्मस्वरूप निर्मल मनवाला (मनुष्य) न तो कोई चिता रखता है, न इच्छा। वह सभी पदार्थोमे समदृष्टि-रूप मेरी परमभक्ति पा जाता है। मुझ आत्मा-ब्रह्मका जो भी और जैसा भी स्वरूप है उसे इस समदर्शन

रूप भक्तिके बलसे अच्छी तरह जान जाता है (और) (इस तरह) मेरे तत्त्वज्ञानके बाद ही फौरन मुझमे प्रवेश कर जाता है ।५४।५५।

यहाँ भक्तिको परा कहा है। इसका अर्थ है सबसे ऊँचे दर्जेकी भक्ति, जिसे "ज्ञानीत्वात्मैव मे मतम्" (७।१८)मे पूर्ण ज्ञान कहा है और जिसका स्वरूप "वासुदेव सर्वमिति" (७।१९) बताया है। यदि परा भक्ति न हो तो वहाँ जो निचले दर्जेके तीन भक्त गिनाये हैं उन्हीवाली भक्ति हो जायगी। यहाँ भी उसका रूप "सम सर्वेषु भूतेषु" कह दिया है। इसीलिये उसका पूरा विवरण भी "भक्त्या मामभिजानाति"मे कर दिया है, जिसमे कोई शकशुभा रही न जाय। मुझमे प्रवेश करने का अर्थ कही जाना-आना नही है। इसीलिये 'मयि विशते' न कहके 'मा विशते' कहा है। इसका ठीक-ठीक अर्थ "समुद्रमाप. प्रविशति" (२।७०) जैसा ही है। वहाँ भी वही द्वितीयान्त है जैसा यहाँ।

इस प्रकार जब आत्मदर्शी और ब्रह्मनिष्ठ हो जाता है तो उसकी क्या दशा होती है यह प्रश्न स्वभावत उठता है और उसका उत्तर जरूरी हो जाता है। उसकी दोई हालते हो सकती है। वह वामदेव, शुकदेव आदिकी तरह बिलकुल ही मस्तराम हो सकता है। फिर तो कोई सुध-बुध उसे रही न जायगी। उसीकी बात "यस्त्वात्मरतिरेव" (३।१६) में कही जा चुकी है। असलमे ऐसे लोग एक तो कम होते ही है। क्योकि जीतेजी मुर्दा बनना आसान नही। यह बडी ही दुर्लभ बात है। दूसरे व्यावहारिक दुनियामे आमतौरसे न तो उन्हे लोग पहचानी सकते और न उनसे कोई फायदा ही उठा सकते। गीताको व्यावहारिक ससारकी ही ज्यादा पर्वा भी है। अर्जुनके लिये यही उपयुक्त भी था। प्रथमत तो उसीको यह उपदेश दिया भी गया है। इसीलिये मस्तरामोकी बात फिर कहनेकी कोई खास जरूरत रही नही गई थी; हालाँकि अगले श्लोकमे उनकी भी बात है, यह आगे स्पष्ट हो जायगा। उनके बारेमे

किसीको कोई शकशुभा भी तो नही हो सकता कि वह निर्वाण मोक्ष प्राप्त करेगे या नही । मगर जिनकी दूसरी हालत होती है और जो लोकसग्रह करते है उनका व्यवहारमें पूरा उपयोग होनेके साथ ही उनके वारेमें यह खयाल हो सकना स्वाभाविक है कि जव वे जनसाधारणकी ही तरह सव कुछ करते-धरते नजर आते है, तो उन्हे निर्वाण मुक्ति कैसे होगी ? फलत इन्हींके वारेमें अन्तमे स्पष्टतया कह देना जरूरी हो गया कि चाहे वह कही किसी भी दशामे रहे और कुछ भी करते रहे, फिर भी परम धाम, शाश्वत पद या निर्वाण मुक्ति उनके लिये धरी-धराई ही है । यही वात आगेके पाँच श्लोकोमे कही गई है । अर्जुनको यह भी कह दिया गया है कि तुम्हारे जैसोके लिये तो यही रास्ता है। दूसरा हई नही । इसी-लिये यदि तुमने नादानी की और दूसरा मार्ग लिया, तो चौपट हो जाओगे । यह भी वात है कि तुम ऐसा कर भी नही सकते । क्योकि तुम्हारी तो क्षत्रियवाली प्रकृति है । इसलिये वह तुम्हे युद्धसे अलग जाने न देगी । प्रत्युत इसीमे तुम्हे जरूर जोत देगी ।

**सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रय· ।**
**मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वत पदमव्ययम् ॥५६॥**

सदा सभी तरहके कर्मोको करता हुआ भी मेरा स्वरूप वना हुआ (ऐसा मनुष्य) मेरी कृपासे—आत्मसाक्षात्कारके फलस्वरूप—निर्वि-कार शाश्वत पद—मोक्ष—पा जाता है ।५६।

इसीलिये अर्जुनको आगे स्पष्ट उपदेश दिया गया है कि तुम मोक्ष या परलोककी चिन्ता छोडके जैसा कहा जाता है करो और आत्मदर्शन, जिसे वुद्धियोग, ज्ञानयोग और साख्ययोग भी कहते है, के वदले सभी कर्मोको भगवानको सौंपके उनकी जवावदेहीसे अलग हो जाओ । अव-तक जो तुम समझते थे कि आत्मामें ही कर्म है उसे गलत समझ कर्मोको भगवानमे फेकके भस्म कर दो और आत्माके सिवाय और कुछ देखो ही मत ।

इस तरह यहाँ कर्मोको आत्मामे न रहने देने या न मानने की वातका उपसहार भी साफ-साफ हो जाता है। इस ५७वे श्लोकका आशय पहले ही वताया जा चुका है।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
वुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव ॥५७॥

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहकारान्न श्रोष्यसि विनंक्ष्यसि ॥५८॥

यदहंकारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैष व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति ॥५९॥

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात्करिष्यस्यवशोऽपि तत् ॥६०॥

(इसी ज्ञानयोगकी शरण जाके) मन और हृदयसे सभी कर्मोको परमात्मामे समर्पित करो, उसीमे चित्त लगाओ और उससे वढके और कुछ न जानो। परमात्मामे चित्त लगानेसे उसीकी कृपासे—आत्मज्ञानके ही प्रतापसे—सभी सकटोसे पार हो जाओगे। लेकिन यदि घमड मे आके (मेरी यह वात) न सुनोगे तो चौपट हो जाओगे। (इतना ही नही।) अगर अहकारमे आके तुमने नही ही लडनेका निश्चय किया भी तो तुम्हारा यह उद्योग—यह निश्चय—झूठा होगा—व्यर्थ होगा (और) तुम्हारा स्वभाव तुम्हे (लडाईमे) डालके ही रहेगा। (क्योकि) हे कौन्तेय, अपने स्वाभाविक कर्मके साथ जकडे होनेके कारण यदि यह काम—युद्ध—भूलसे नही भी करना चाहो तो भी मजवूरन तुम्हे इसे करना ही होगा।५७।५८।५९।६०।

कर्मोका भगवानमे सन्यास या अर्पण क्या चीज है और इस तरह

आत्मासे उनका कैसे सम्बन्ध छूट जाता है इसपर वहुत ज्यादा प्रकाश पहले ही डाला जा चुका है।

यहाँ जो वार-बार 'मयि', 'मत्' आदि शब्दोके द्वारा परमात्माका उल्लेख किया गया है उससे शायद लोगोको यह भ्रम हो सकता है कि ईश्वर या परमात्मा कोई दूसरा पदार्थ है जो कही अन्यत्र रहता है। उसीमे मन लगाने और उसे ही कर्मोको अर्पण करनेकी वात कही गई है। क्योकि यदि वह आत्माका स्वरूप ही हो तो कर्मोको आत्मामे ही रखना हो जायगा न ? सन्यस्य शब्द जो पहले ५७वें श्लोकमें आया है उसका तो अर्थ ही है धरोहर या थाती रखना। ऐसी दशामे अवतकका यह कहना व्यर्थ हो जायगा कि आत्मामे कर्म रहता ही नही, उसका कर्मसे ताल्लुक हई नही। इसीलिये ईश्वरको अलग ही मानना ठीक है।

मगर ऐसा समझनेवालोंके सामने भी तो यह दिक्कत रही जाती है कि आत्मा या जीवका कर्म, या यो कहिये कि मनुष्योका कर्म वहाँ कैसे रखा जायगा ? और जव पहले ही कह दिया है कि "न च मा तानि कर्माणि" (९।९)—"इन कर्मोसे मेरा कोई ताल्लुक हई नही", तो फिर कर्म उसमें रहने पायेंगे कैसे ? यदि यह कहा जाय कि ईश्वर तो कर्मोंके लिये अग्नि जैसा ही है, और भस्म हो जानेके लिये ही उसमे कर्म डाल दिये जाते है, तो यह बात तो "ज्ञानाग्नि सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा" (४।३७)के द्वारा पहले ही कह दी गई है कि आत्मज्ञानके द्वारा ही सभी कर्म दग्ध हो जाते है। इसलिये एक तो ईश्वरमें डालनेका भी अर्थ समदर्शन ही होगा। दूसरे ईश्वर आत्मासे जुदा फिर भी सिद्ध न होगा। फिर तो वह शका बेबुनियाद ही सिद्ध होगी।

असल बात यह है कि आत्मज्ञानी कर्मोकी पर्वा करता ही नही कि वे क्या चीज है और कब कैसे हो रहे है। उनका परिणाम क्या होगा यह भी खयाल उसके दिलमे भूलकर भी नही आता है। वह तो यही

जानता है कि सृष्टिका अर्थ ही है क्रिया, कर्म (action)। इसलिये जो कुछ होता है वह तो सृष्टिके इसी नियमके अनुसार ही हो रहा है। इसमे मुझे क्या लेना-देना है? मै क्यो नाहक इस वलामे फँसने जाऊँ? जिसने यह सब कुछ बनाया है वह जाने, उसका काम जाने। इस प्रकार आत्माको निर्लेप समझके लोकसग्रहके कर्मोको करते रहना ही उन कर्मोका भगवान या ब्रह्मात्मामे सन्यास है, अर्पण है, डाल देना है।

इसलिये अगले श्लोक यही बात वताते है कि भगवान कही बाहर नही है। न तो वह बैकुठ या ब्रह्मलोकमे है और न तीर्थो या मन्दिरोमे। वह तो अपनी आत्मा ही है। फलत हृदयमे ही बसता है। हृदयमे बसनेका भी यह अर्थ नही है कि हृदय उसका घर है। उसका पहला आशय तो यही है कि वह आत्मासे अलग नही है। दूसरा आशय यह है कि वह तर्क-दलीलो और युक्तियोसे न जाना जाकर हृदय-ग्राह्य ही है। "ज्ञान ज्ञेय ज्ञानगम्य हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्" (१३।१७) तथा "सर्वस्य चाह हृदि सन्निविष्ट" (१५।१५) मे भी यही बात कही गई है। केवल तर्क-दलीलोका आश्रय लेना नास्तिकता और निरीश्वरवादमे पहुँचा देता है और केवल हृदय अन्धपरम्पराका भक्त बना देता है। इसलिये यहाँ हृदयग्राह्य कहनेका तात्पर्य यही है कि तर्क-युक्तिकी सहायतासे रास्ता साफ करनेके बाद हृदयसे ही आत्मा-परमात्माका ग्रहण होता है। मनुने भी कहा है कि "यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्म वेद नेतर" (मनु० १२।१०६)—"जो तर्कसे विचार करता है वही धर्म जानता है, दूसरा नही।" यहाँ उच्छृखल तर्क रोकके हृदयका साथी तर्क ही माना गया है। मनुने जो तर्कको 'वेदशास्त्रका अविरोधी' कहा है उसका यही तात्पर्य है। जिस हृदयने ईश्वरको देख लिया उसमे अलौकिक शक्ति होती है, ऐसी कि दुनियाको हिला दे, डुला दे, चला दे। यह वात हम पहले वहुत विस्तारके साथ लिख चुके है। ६१वे श्लोकका यही आशय है, न कि सचमुच

हृदयमें वैठके ईश्वर मैशीनकी तरह चलाता है । इसलिये उसी हृदयको सम्पादित करना, हृदयको वैसा ही वनाना यही हमारा काम है ।

इस श्लोकका यह भी आशय है कि हृदयमे जिस परमात्माका स्वरूप व्यक्त होता है वह मनुष्यको चलाता है उस हृदयके ही वलसे । जहाँ हृदय जा लगा वहाँ पहुँचना टल नही सकता । हृदयमें वह ताकत है जो और कही नही है । हिरण बाँसुरीका शब्द सुनके अपने आपको भूल जाता है । साँप भी सँपेरेकी बीनकी आवाजसे मुग्ध हो जाता है । इसीसे शिकारी और सँपेरा उन दोनोको आसानीसे पकड लेते है । उनके हृदयके ही चलते यह बात हो जाती है । उसका स्वभाव ही है । और जब क्षत्रियका हृदय स्वभावत युद्धमें ही रहता है, वही फँसा होता है, तो फिर अर्जुन हजार कोशिश करे, मगर वह रुकेगा कैसे ? वह तो युद्धमे जायगा ही, लडेगा ही । भगवान ही हृदयमे वैठके ऐसा करता है इस कहनेका आशय "मयाऽध्यक्षेण प्रकृति." (९।१०) मे वताई चुके है । उसके बिना जब प्रकृति कुछ करी नही सकती, तो हृदय तो उसीका रूप है न ? फिर वह विना भगवानके कैसे करेगा ? इस प्रकार हृदयमें भगवानके रहनेका वहुत विस्तृत आशय इस श्लोकमे व्यक्त हो जाता है ।

जो लोग 'अह' 'मम' आदि शब्दोको आत्माके अर्थमे न लगाके एक निराले ही ईश्वरमें लगाते, उसे सर्वशक्तिमान मानते और जीवको उसका स्वरूप न मानके सेवक मानते है, उनसे हमारा अनुरोध है कि वे वृहदारण्यक उपनिषदके चौथे अध्यायका तीसरा ब्राह्मण पूरेका पूरा पढ जायें और देखे कि उसमे आत्माका ही निवास हृदयमे स्वय-ज्योति-रूपमे लिखा गया है या नही, सृष्टिका वनाने-विगाडनेवाला उसे कहा गया है या नही और उसके सिवाय कोई दूसरी वस्तु हई नही है, यह बार-बार दिखाया गया है या नही । वही यह भी लिखा गया है कि वह स्वय-ज्योति है, उसका प्रकाशक कोई नही और जैसे ही सपनेमे वैसे ही जगनेमें सारी

चीजें अपनी ही शक्तिसे बनाता और देखता है, लीला करता है, सभी जगह विहरता-विचरता है, मौज करता है। यह भी वे लोग देखे। "ध्यायतीव लेलायतीव" लिखा गया है जिसका अर्थ है, कि सभी लीलाये करता है।

जब उस ब्राह्मणके शुरूमे ही जनकने याज्ञवल्क्यसे पूछा है कि इस आत्माके मददगार प्रकाश कौन कौनसे हैं—"किज्योतिरय पुरुष" ? (३।१), तो याज्ञवल्क्यने, जितने भी उजाला करनेवाले या पथदर्शक सभव है उन्ही सबोको पहले गिनाके, कहा है कि एके बाद दीगरे इन्हीसे उसका पथदर्शन होता है। सबसे पहले सूर्यकी ही प्रचड ज्योतिसे उनने शुरू किया है। मगर रातमे तो वह ज्योति मिलती नही, ऐसा कहने पर चन्द्रमाका नाम लिया है। लेकिन कृष्णपक्षकी अँधियाली और अमावस्यामे ? तब तो चन्द्र होता नही। तब अग्निके प्रकाश, दीपक आदिसे ही काम चलता बताया है। तो निरे अन्धेरेमे, जहाँ दीपक भी न हो, क्या काम बिलकुल ही बन्द हो जाता है ? अन्धेरेमे भी तो लोग दूरसे बातें सुनके ही जान जाते है कि कौनसा आदमी है। जबानसे रास्ते की बात सुनके वैसे ही चलते भी है। इसीलिये बात या शब्दको ही उस समय प्रकाशक और पथदर्शक मानना पडा है। मगर जब नीदके समय आत्मानन्दका अनुभव करता है और उठने पर याद करता है कि बडे आनन्दसे सोये थे, तब वहाँ कौनसा प्रकाश रहता है, जो आनन्दको दिखाता है ? और अगर अनुभव न करता तो उठने पर फौरन ही उसे याद क्यो करता ? जिसका अनुभव न हो उसका तो स्मरण होता नही। इसलिये शरीरके भीतर सुषुप्ति या गाढ नीदमे आनन्दका अनुभव मानना ही पडता है। इसी प्रकार सपनेमे जाने क्या-क्या देखता-सुनता है। हजारो चीजे देखी जाती है, यह तो सभी मानते जानते है। मगर वहाँ भी न तो शब्द ही है और न सूर्य आदि ही है। फिर वहाँ कौनसा प्रकाश है, सो भी भीतर

शरीरमे ? इसीका उत्तर दिया है कि "आत्मैवास्य ज्योतिर्भवतीत्यात्मनैवाय ज्योतिषास्ते पल्ययते कर्म कुरुते विपल्येतीति" (४।३।६) ।

इसका आशय यही है कि "उस समय मनुष्यकी आत्मा ही ज्योतिका काम करती है और वह उसीके बलसे बैठने, जाने, आने, लौटने और अन्य सभी कामोमे लग जाता है" । इसपर प्रश्न हुआ है कि वह आत्मा है कौन-सा ? "कतमोऽयमात्मा ?" '(४।३।७) । क्योकि शरीरके भीतर मन, बुद्धि, हड्डियाँ, मास आदि हजार चीजे है न ? इसीके उत्तरमे कहना पडा है कि वह विज्ञानमय है, सभी इन्द्रियादिको चलाता है और हृदयके भीतर रहता है, "विज्ञानमय प्राणेपु हृद्यन्तज्योंति पुरुष" (४।३।७) । उसीके बारेमे यह भी लिखा है कि जागरण और सपना इन्ही दोनो हालतोमे वह काम-वाम करता है, लीला करता है ऐसा जान पडता है । वह सर्वत्र एक ही है, एकसा ही है, "स समान सन्नुभौलोकावनुसचरति ध्यायतीव लेलायतीव" (४।३।७) । उसके तीन लोक या क्रीडास्थल माने गये है । नमे सुपुप्तिमे तो ससार रहता नही । वहीसे कभी सपनेमे जाता और चीजे बनाके मौज करता है, तो कभी जाग्रत दशामे आके,—"तस्यवा-एतस्यपुरुषस्यद्वे एवस्थानेभवत इद च परलोक स्थान च सन्ध्य तृतीय स्वप्न स्थान तस्मिन्सध्ये स्थाने तिष्ठन्नेते उभे स्थाने पश्यति" (४।३।८) । यहाँ सन्धि-स्थानको स्वप्न-स्थान कहा है । स्वप्नका अर्थ है गाढ नीद या सुपुप्ति । यहीसे दोनोमे पहुँचता है । जाग्रत्को यह लोक और सपनेको परलोक कहा है ।

इसके बादसे लेकर १८वे ब्राह्मणके अन्ततक सपनेकी सृष्टिके बनाने और बिगाड़नेकी बात सविस्तार कही गई और लीला बताई गई है । आत्मा ही सब कुछ करती है यह भी बताया गया है । अनन्तर गाढ नीद या सुपुप्तिका प्रसग लाके उसका चित्र खीचा गया है । वहाँ यह प्रश्न उठा है कि सुपुप्तिमे कोई पदार्थ आत्माको मालूम क्यो नही होता है ? पदार्थ

तो हजारो है। शरीरके भीतर ही जाने कितने है। फिर उनका अनुभव वहाँ आत्माको होता क्यो नही ? इसीका उत्तर बहुत ही विस्तारके साथ ३१वे ब्राह्मणके अन्ततक दिया गया है और कहा गया है कि अगर सचमुच कोई दूसरा भी पदार्थ उसके अलावे हो तब न उसे देखे, सुने, सूँघे, छूए, खाये, पीये ? दरअसल तो आत्माके सिवाय और कुछ हई नही—"न तु तद्द्वितीयमस्ति"। यही बात बीसियो बार कही गई हैं। सचमुच ही आश्चर्य है कि यदि इन्द्रियोसे देखे-सुने न भी तो मनसे तो सोचे-विचारे। मगर वहाँ तो कुछ भी नही होता। मनको तो बाहर जाना भी नही है कि इन्द्रियोकी मदद चाहिये। वह भीतर ही सोचता क्यो नही ? आखिर सपनेमे तो मन ही सब कुछ करता है न ? फिर सुषुप्तिमे भी क्यो नही करता ? इसीलिये मानना ही पडता है कि उस समय आत्माके सिवाय और कुछ हई नही। ठीक ही है, जिसका ज्ञान नही उसके अस्तित्वमे प्रमाण ही क्या ? यदि कहा जाय कि जिसे नीद न हो उसे तो उस समय ज्ञान होता ही है, अतएव वही ज्ञान उन वस्तुओके लिये प्रमाण होगा, तो प्रश्न होता है कि सुषुप्तिवालेको क्या मालूम कि किसीको ज्ञान होता है ? और अस्तित्वका प्रश्न तो उसीके लिये है न ? और अगर सभीको एक ही साथ सुषुप्ति हो जाय तो ? यह असभव भी नही है। प्रलयकी ही तरह वह भी हो सकती है। फलत. अद्वैत-तत्त्वको मानना ही पडता है।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया ॥६१॥
तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्ति स्थान प्राप्स्यसि शाश्वतम् ॥६२॥

हे अर्जुन, सभी प्राणियोके हृदयस्थानमे ईश्वर मौजूद रहता है, मौजूद है, (और अपनी) मायाशक्तिसे उन्हे कठपुतलीकी तरह घुमाता रहता

है। हे भारत, समस्त ससारको उसीका स्वरूप जानो और इसी रूपमें उसकी शरण जाओ। उसीकी कृपासे परम शान्ति और शाश्वत स्थान पा जाओगे।६१।६२।

६१वे श्लोककी पूरी व्याख्या पहले ही हो चुकी है। ६२वेमें जो 'सर्वभावेन' पद है ऐसा ही पद पहले भी "स सर्वविद्भजति मा सर्वभावेन भारत" (१५।१९)मे आया है। अन्तर यही है कि वहाँ 'भजति' है और यहाँ 'शरण गच्छ' है। मगर मानी दोनोके एक ही हैं। भजने या शरण जानेका ही रूप "सर्वभावेन" कहा है। "वासुदेव सर्वमिति"की ही तरह सभीको आत्मा-परमात्मामय ही देखना यही शरण जाना है।

इस प्रकार उपदेश करके उसका उपसहार करते हुए अर्जुनको मौका देते है कि वह खूव सोच-विचार ले, तभी कुछ करे। कही ऐसा न हो कि आवेशमे आके या बातोमे पडके कुछ कर डाले। क्योकि ऐसे कामोका नतीजा कभी अच्छा नही होता। लेकिन इसीके साथ उसे यह भी याद रखना होगा कि जो उपदेश दिये गये है वह ऐसे-वैसे नही है, किन्तु दुर्लभ और गोपनीयसे भी गोपनीय है। ऐमी वाते शायद ही सुननेको कभी मिलती हैं, कभी मिले। इसलिये इनपर पूरा गौर करना होगा।

**इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।**
**विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु ॥६३॥**

मैंने तुम्हें यह गोपनीयसे भी गोपनीय अक्ल और सोचने-विचारनेकी वात कही है। इसपर खूव अच्छी तरह सोच-विचारके जो चाहो सो करो। ६३।

श्लोकसे स्पष्ट है कि जो कुछ उपदेश है वह ज्ञान ही है, न कि और कुछ। चाहे जितनी वातें भी शुरूसे अन्ततक आई हो सब ज्ञानके ही सिलसिलेमे आई है। गीतोपदेशका असली विषय ज्ञान ही है। उसीके भीतर विज्ञान भी आ जाता है। फिर भी जो यह कह दिया है कि समझ-

बूझके करो और जो चाहो सोई करो, उससे साफ हो जाता है कि आज्ञा या हुक्मकी गुजाइश गीतामे है नही। यहाँ तो अपने दिलसे ही चलनेकी बात है। यह ठीक है कि जो कुछ करना हो उसे बखूबी समझ-बूझके करना चाहिये। मगर करना है अपनी ही मर्जीसे, अपनी रायसे ही, जिसे इच्छा कहते है। क्योकि जवाबदेही तो अपने ही ऊपर आनेको है न ? फिर दूसरेके दबाव या हुक्मका क्या सवाल ? वह क्यो माना जाय ? और अगर माना गया तो जवाबदेही करनेवालेपर न होके आज्ञा देनेवालेपर ही जो हो जायगी। इसपर तो हमने पहले श्रद्धाके प्रसगमे बहुत लिखा है।

'अशेषेण विमृश्य' कहनेका एक और भी अभिप्राय है। एक तो विमर्श ही व्यापक चीज है। इसके मानी ही है कि सभी पहलुओपर अच्छी तरह गौर कर लिया जाय। लेकिन जब उसके साथ 'अशेषेण' भी जुटा है, तब तो कहनेका मतलब साफ हो जाता है कि खबरदार, एक बात भी छूटने न पाये। शुरूसे यहाँतक जितनी बाते कही गई है सभीको सामने रखके अच्छी तरह उनपर सोचो-विचारो और गौर करो। उसके बाद जिस निश्चयपर पहुँचो उसीके अनुसार काम करो। असलमे गीतोपदेशकी पूर्वापर बातोको भूल जानेसे ही ज्यादा गडबड होती है और लोग कुछका कुछ निश्चय कर बैठते है। दृष्टान्तके लिये "ईश्वर सर्वभूताना"को ही ले सकते है। जाने कितनोने इसका सचमुच ही आत्मासे भिन्न ईश्वर अर्थ करके इस आत्माको उसके चरणोमे झुका दिया है, उसका सेवक और गुलाम बना दिया है। हम तो इसे आत्माका पतन मानते है, न कि और कुछ भी। फिर भी ऐसा ही किया गया है, हालाँकि यदि गीताकी ही पहलेकी बाते याद रहे तो यह बात कभी न हो। "न कर्तृत्व न कर्माणि (५।१४-१५) श्लोकोमे आत्माके ही लिये प्रभु और विभु शब्द आये है, जो आमतौरसे ईश्वरके ही लिये प्रयुक्त होते है। बल्कि इसीसे

बहुतेरे यहाँ भी धोका खा गये हैं और ईश्वर ही अर्थ कर डाला है, हालाँकि हमने यह भूल वही सुझा दी है।

मगर इसे भी जाने दीजिये। क्योंकि यहाँ विवादकी गुजाइश है। "भर्त्ता भोक्ता महेश्वर परमात्मेति चाप्युक्त" (१३।२२)में तो साफ ही जीवात्माको ही ईश्वर क्या महेश्वर और परमात्मातक कहा है, परम-पुरुषतक कहा है। कहा ही नही है, वल्कि ऐसा ही पहलेसे कहा जाता है यह वताया है। यहाँ विवादकी जगह हुई नही। इसके वादवाले "तिष्ठन्त परमेश्वरम्" (१३।२७)को हम छोड ही देते हैं, हालाँकि वहाँ भी परमेश्वर शव्द जीवात्माके ही लिये आया है। मगर "शरीर यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वर" (१५।८)में तो साफ ही मरने-जीनेके प्रसगमे ईश्वर शब्द जीवात्माके ही लिये आया है। यहाँ तो सन्देहके लिये जरा भी स्थान नही है। फिर भी "ईश्वर सर्वभूताना"मे अगर ईश्वरका अर्थ आत्मा न करके और कुछ किया जाय तो मानना ही होगा कि पूर्वापर विचारके विना ही ऐसा होता है। फलत "विमृश्यैतदशेषेण" कहना जरूरी था। यही वजह है कि इतना कहनेके वाद भी एक वार और यही वाते शव्दान्तरमे चलते-चलाते याद दिला देते हैं, ताकि धोकेकी भी गुजाइश रहने न पाये और अर्जुनका निश्चय सही और दुरुस्त होके ही रहे।

इतना कहनेपर भी स्वय कृष्णको सन्तोष न हुआ। क्योकि परिस्थिति नाजुक थी। उनने उपदेशके शुरूमे अर्जुनकी आश्चर्यजनक मनोवृत्तिको भी खुद अनुभव किया था। वह देख रहे थे कि उसमे कितनी कमजोरी आ गई है। जिस वातके लिये वह सपनेमे भी तैयार न थे वही देखके वह एक तरहसे दहल उठे थे। उन्हें अर्जुनका अनुभव बचपनसे ही था। पाँचो भाइयोमें उसे सबसे ज्यादा वह मानते भी थे। यही वजह थी कि सबोके बुरा मानने और लाख नाक-भौं सिकोडनेपर भी अपनी वहन सुभद्रासे

अर्जुनकी शादीतक उनने करा दी थी। जिसे लँगोटियायारी कहते हैं वही ताल्लुक अर्जुनके साथ उनका था। फलत उसका रगरेशा वह पहचानते थे, उसे रत्ती-रत्ती जानते थे। जानें कितने ही भीषणसे भीषण सकटके समय पाडवोके सामने आये थे। बचपनमे ही पिताके मर जानेसे वे एक प्रकारसे अनाथ जैसे हो गये थे। क्योकि धृतराष्ट्रका रुख उनके प्रति आरम्भसे ही खराब था और यह बात छिपी न थी। ऐसी दशामे विपदाओके वज्रोके एके बाद दीगरे गिरनेकी बात जितनी न थी उतनी उनकी परीशानी, पामाली तथा असीम कष्टकी बात थी। कोई भी उनका पुर्साँ हाल था जो नही। द्रौपदीकी नग्नताके काडसे यह बात और भी साफ हो चुकी थी। भीष्म आदिकी जबानतकपर ताला लग चुका था। ऐसे मौकोपर बडे भाई युधिष्ठिरतक अधीर हो जाया करते थे। मगर अर्जुनने न तो कभी हिम्मत हारी थी, न बुजदिली दिखाई थी और न आँसू बहाये थे! ऐसा था वह इस्पात और वज्रका बना! कृष्णको यह बात बखूबी विदित थी। क्योकि सबोके साथ छोड देनेपर भी वही तो पाडवोके सदाके सच्चे साथी, पुर्साँ हाल थे। फिर जानते क्यो नही?

लेकिन वही अर्जुन गीतोपदेशके पहले बच्चो जैसा रो रहा था। उसके हाथ-पाँवोमे ही क्या, सारे अगमे जैसे लकवा मार गया था। वह खड़ा रह सका नही और, जैसे कोई कटा पेड हो, धडामसे रथके बीचमे पड गया था, गिर गया था! इसमे अनुमानकी भी जरूरत न थी। उसने तो खुद ही कहा था कि मेरा मन जैसे चक्कर काट रहा है और मै खडा रह सकता नही, "न च शक्नोम्यवस्थातु भ्रमतीव च मे मन" (१।३०)। जिसका धनुष सदा साथ रहा, बगलमे ही वाणोके साथ पडा रहा, वही कह चुका था कि हाथसे मेरा यह गाडीव—सदाका प्यारा गाडीव—खसका जा रहा है, "गाडीव स्रसते हस्तात्" (१।३०)। ऐसी ही जाने कितनी बाते थी जो अनहोनी थी। अर्जुनके मनमे जो ग्लानि थी, जो

बेचैनी और घबराहट थी, सभी कामोमे जो अनास्था हो गई थी, जो भीषण वैराग्य था और इन सबोके चलते जिस दीनताने उसपर काबू कर लिया था वह तो सचमुच ही "न भूतो न भविष्यति"का दृश्य था।

गीताकी चार बाते अलौकिक थी—ऐसी बाते जिनका उल्लेख गीतामे पाया जाता है। वास्तवमे ये बाते न कभी हुई थी और न आगे हो सकती थी। इनमे पहली थी अर्जुनकी यह दशा जिसका उल्लेख हमने अभी-अभी किया है और जिसका सजीव और नग्न चित्र गीताके पहले अध्यायके बीस (२८-४७) तथा दूसरेके शुरूके नौ (१-९) श्लोकोमे पाया जाता है। जो लोग उसे योही पढ जाते है वह क्या समझ पायेगे, जबतक अर्जुनकी समूची जीवनी अपने आँखोके सामने वैसे ही न रख लें जैसे कृष्णके सामने थी? यही कारण था कि कृष्ण परिस्थितिकी भीषणताको समझ सके थे।

गीताकी ऐसी ही दूसरी चीज थी इतना देखने-सुननेके बाद कृष्णकी भावभगी, उनकी उस समयकी दशा, उनका रुख और चेहरा-मोहरा, जिसकी तरफ "तमुवाच हृषीकेश" (२।१०) श्लोकका "प्रहसन्निव" इशारा करता है। जो लोग इस समूचे श्लोकको इस पूर्व परिस्थितिको मद्देनजर रखके गौरसे पढे और उसपर दिमाग लगाये उन्हे उसके शब्दोमें कृष्णकी इस अनोखी भावभगीकी झाँकी मिल सकती है। इस पूरे श्लोकमें बहुत खबी है और इसके हरेक पद कुछ न कुछ अर्थ व्यक्त करते है, जो निरे शब्दार्थसे निराली चीज है और जिसे ही काव्यकी जान कहते है। इसे पूर्णरूपेण समझनेमें जो दिक्कत है उसे हल करनेके लिये गीताके अन्तिम श्लोकसे पहलेका "तच्च सस्मृत्य सस्मृत्य रूपमत्यद्भुत हरे। विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुन पुन" (१८।७७) श्लोक इसीके साथ पढ लेना चाहिये। गीतोपदेशके आरम्भ करनेके ठीक पहलेका वह और अन्तका यह—इन दोनोको—मिलाके देखे कि सचमुच वह रूप अलौकिक

था या नही, नायाब था या नही। सजयने उसे 'अत्यद्भुतम्' कह दिया है। एक तो अद्भुत चीज ही निराली है। मगर उसे इतनेसे ही सन्तोष न हुआ और उसके साथ 'अति' भी जोड दिया। हम उस श्लोकके अर्थके ही समय विशेष बाते लिखेगे। यहाँ तो केवल दोनोको एक साथ पढके कृष्णकी अलौकिक भावभगीका चित्र दिमागमे बैठानेकी ही बात कहनी है। वह ऐसी थी कि सजयका मन मानता न था। फलत बार-बार उसे भीतरी आँखोके सामने ला खडा करता था। यह भी "सस्मृत्य सस्मृत्य" शब्दोने साफ ही कह दिया है। केवल साधारण स्मृति न थी। किन्तु अलौकिक वस्तुकी अलौकिक स्मृति थी, अनोखी याद थी। इसीलिये तो 'सम्' लगाके 'सस्मृत्य' कहना पडा। उसके साक्षात् देखनेपर क्या दशा हुई होगी, जब कि याद करने मात्रसे ही बार-बार रोएँ खडे हो जाते थे, हर्षातिरेक बह चलता था, "हृष्यामि च पुन पुन"। इसीलिये सजयको भी मामूली नही, किन्तु महान् विस्मय, पीछेतक बना हुआ था—"विस्मयो मे महान्"। जैसी अलौकिक वस्तु देखी थी और बार-बार याद की थी उसी हिसाबसे ही तो आश्चर्यचकित होना भी था।

गीताकी तीसरी चीज थी भगवानकी विराट मूर्त्ति या विश्वरूप। वह भी वाकईमे "न भूतो न भविष्यति" ही था। इसमे भी स्वय गीताके ही वचन प्रमाण है। वह रूप दिखा चुकनेके बाद खुद कृष्णने दो बार कहा है कि "तुमसे पहले यह रूप किसीने देखा ही नही, किसीने देख पाया ही नही"—"यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्" (११।४७), और, "तुम्हारे सिवाय दूसरा कोई भी, सभी प्रकारके यज्ञ दानादिके द्वारा यत्न करके भी, इसे आगे देख न सकेगा—"एव रूप शक्य अह नृलोके द्रष्टु त्वदन्येन कुरुप्रवीर" (११।४८)। इससे बढके "न भूतो न भविष्यति"की सफाई और क्या हो सकती है?

गीताकी चौथी अलौकिक चीज है गीताधर्म या गीताके उपदेश।

इसके बारेमे हम काफी लिख चुके है। हमें विश्वास है कि यह बात निर्विवाद सिद्ध की जा चुकी है। इसीलिये अब यहाँ कुछ भी लिखनेका प्रश्न हुई नही।

हाँ, तो ऐमी नाजुक हालतमे कृष्णको भारी अन्देशा था कि कही इतनेपर भी अर्जुनकी वही हालत न हो और वह विचलितका विचलित ही न रह जाय। यही कारण है कि आगेकी अन्तिम बातके कहनेपर भी उन्हे विश्वास नही हो पाया था। फलत उनने अर्जुनसे पूछ ही तो दिया कि, "अर्जुन, तुमने हमारी बाते ध्यानसे सुनी तो है? और अगर हाँ, तो इससे तुम्हारी वह अज्ञानमूलक भूलभुलैयाँ मिटी क्या"? "कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा। कच्चिदज्ञानसमोह प्रणष्टस्ते धनजय" (१८।७२)। जब अर्जुनने इसका स्पष्ट उत्तर दे दिया कि, "भगवन्, आपकी कृपासे अब मेरा वह मोह भाग गया, सभी बातकी ठीक-ठीक स्मृति हो आई, मेरे सभी शक काफूर हो गये और आपकी बातें मानूंगा, "नष्टो मोह स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत। स्थितोऽस्मि गतसन्देह करिष्ये वचन तव" (१८।७३), तब कही जाके उन्हें सन्तोष हुआ।

यही वजह है कि कृष्ण एक बार और भी उसे सभी उपदेशोका निचोड कह देनेको तैयार हो गये। ऐसी परिस्थिति न रहनेपर भी प्रिय जनोके सम्बन्धमे ऐसा होता ही है कि एक ही बात बार-बार कहते जाते है, खासकर ऐसे मौकेपर जब उन्हे कुछ महत्त्वपूर्ण काम करना या कही दूर देश जाना हो। यह अधिक प्रेमकी पहचान है। यह बात "इष्टोसि मे दृढमिति" शब्दोसे साफ हो भी गई है। इसलिये लोग पुनरावृत्ति देखके ऊब न उठे।

एक बात और भी है। सन्यासके सम्बन्धके अर्जुनके प्रश्नका पूरा उत्तर अभीतक दिया गया भी नही है। बेशक, यह कहा गया है जरूर कि कर्मोंके स्वरूपत त्यागसे पूर्ण नैष्कर्म्य हो जाता है, जिसकी अनिवार्य आवश्यकता समाधि या पूर्ण ज्ञाननिष्ठाके लिये जरूरी है। उसके बाद

उस पूर्ण ज्ञाननिष्ठाका निरूपण भी किया है। मगर यह तो कही नही कहा है कि कर्मोंके स्वरूपत त्यागके बिना काम चली नही सकता। अर्थत यह बात सिद्ध जरूर हो गई है, हो जाती है। फिर भी साफ शब्दोमे कहे बिना काम चलता नही। लोग खीचतान शुरू जो करेगे और जोई मानी चाहेगे शब्दोको पिन्हा जो देगे। इसीलिये साफ-साफ कह देना जरूरी था कि बिना स्वरूपत कर्मोका सन्यास या त्याग किये आत्मनिष्ठा होई नही सकती। अन्तमे ही इस बातका आ जाना भी सबसे अच्छा था। इसीलिये आगेके तीन श्लोकोमेसे पहलेमे तो पुनरपि यह बात कहनेका कारण लिखा गया है, दूसरेमे आत्मनिष्ठाका पूरा स्वरूप खडा कर दिया है और तीसरेमे साफ कह दिया है कि बेफिक्र होके सभी कर्मोके फन्दोको तोड डालो। तभी एकमेवाद्वितीय आत्मतत्त्वमे पूर्णतया लग सकते हो और तभी सारे झमेले खतम हो सकते है।

**सर्वगुह्यतम भूयः शृणु मे परमं वचः।**
**इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम् ॥६४॥**
**मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।**
**मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥६५॥**
**सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरण व्रज।**
**अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥६६॥**

सबोसे अधिक गोपनीय मेरी यह आखिरी बात फिर सुन लो। तुम मेरे अत्यन्त प्यारे हो, इसीसे तुम्हारे हितकी बात कहे देता हूँ। मुझ आत्मामे ही मन लगाओ, मेरा ही भजन करो, मेरा ही यजन करो (और) मुझीको नमस्कार करो। (परिणामस्वरूप) मुझीको पा जाओगे। यकीन रखो, मेरे प्रिय हो, तुमसे सच कहता हूँ। सभी धर्मोको छोडके एक मेरी ही शरण जाओ। मै (आत्मा) तुम्हे सभी पापोसे छुटकारा दिला दूँगा, अफसोस मत करो।६४।६५।६६।

यहाँ भी 'वक्ष्यामि'का कहूँगा यह अर्थ न होके अभी-अभी कहे देता हूँ यही अर्थ है। इसका कारण पहले ही बताया जा चुका है। दूसरे श्लोकमे 'माम्', 'मत्' आदि शब्द 'अह'के ही रूप हैं और 'अह'का अर्थ आत्मा ही है यह सभी जानते हैं। इसपर बहुत कुछ कहा जा भी चुका है। 'सत्य प्रतिजाने'का अर्थ है विश्वास करो, सच कहता हूँ। यहाँ 'प्रतिजाने'का सीधे 'प्रतिज्ञा करता हूँ' यह अर्थ कुछ बैठतासा नही है। 'सर्वधर्मान्' श्लोककी तो लम्बी-चौडी व्याख्या पहले ही की गई है। वहाँ जाने कितनी ही शकाओ का उत्तर दिया जा चुका है। इसलिये वे बाते यहाँ फिर लिखना बेकार है। मगर दो-एक अन्य बातें लिख देना जरूरी है।

जो लोग 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'का यह अर्थ करते है कि धर्मोंके फलोका त्याग करके शरणमे आओ उन्हे यह खयाल करना भी तो चाहिये कि जब धर्मोको करते ही रहेगे तो फिर पापका प्रश्न उठेगा ही कैसे ? पापकी बात तो तभी आती है जब नित्य, नैमित्तिक कर्मोको ही छोड दिया जाय। यही धर्मशास्त्रोका निश्चित मत है। लेकिन यदि पापकी बात न होती तो उत्तरार्द्धमे यह क्यो कहते कि तुम्हें सभी पापोसे छुटकारा दिला दूँगा ? जिस तरह 'धर्मान्' यह बहुवचन लिखा है, ठीक वैसे ही 'पापेभ्य' यह भी बहुवचन ही आया है, यह भी बात है। इससे दोनोका सम्बन्ध बखूबी जुट जाता है और आशय सिद्ध होता है कि धर्मोंके छोडनेसे ही जो पापोका खतरा पैदा हो गया था उसीसे छुटकारा दिलानेकी बात यहाँ कही गई है।

इसपर ऐसा कहनेका यत्न हो सकता है कि 'पापेभ्य'का अर्थ है जन्म-मरणके सभी बन्धनोसे छुटकारा दिलाना ही। इसीलिये तो 'मोक्षयिष्यामि' क्रियामें मोक्षकी बात लिखी गई है। परन्तु यह भी ठीक नही है। क्योकि 'मोक्षयिष्यामि' कह देनेसे ही उसका अर्थ ही यह होता है कि सभी बन्धनोसे छुट्टी हो जायगी। मोक्ष शब्दका अन्य अर्थ हई नही। फिर 'पापेभ्य' शब्दसे बन्धन अर्थ लेना महज बेकार और निरर्थक है। इसके पहले इसी

मोक्षकी बात "परा शान्ति स्थान प्राप्स्यसि शाश्वतम्" (१८।६२) तथा "मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वत पदमव्ययम्" (१८।५६) आदिके द्वारा कहके भी वहाँ पाप या बन्धनसे छुटकारेकी बात नही लिखी है, हालाँकि मोक्ष शब्द न रहनेसे वहाँ ऐसा लिखनेका मौका था भी। मगर यहाँ तो वह भी नही है। फिर 'पापेभ्य'की क्या जरूरत थी ? इससे तो मानना ही पडेगा कि अर्जुनको जो डर था कि कही नित्य-नैमित्तिक कर्मोके छोड देनेसे पाप न चढ बैठे, उसीके लिये उसे आश्वासन दिया गया है कि बेफिक्र रहो, ऐसा कुछ न होगा। 'मोचयिष्यामि'की जगह 'मोक्षयिष्यामि' कहनेका साफ आशय यही है कि जैसे प्रायश्चित्तादिके द्वारा पापोसे छुटकारा होता है वैसी बात यहाँ न होके मुक्ति ही मिल जायगी और सदाके लिये पापसे पिड ही छूट जायगा।

इस श्लोकमे जो 'परित्यज्य' शब्द है उससे स्पष्ट हो जाता है कि अद्वैत आत्माकी शरण जानेके पहले सभी धर्मोको सोलहो आना छोडना ही होगा। उसके बिना काम चलनेका नही। इसका अभिप्राय यही है कि इससे पूर्वके श्लोकमे जो आत्मतत्त्वमे ही मनको रमाना लिखा है और जिसे ही उसकी शरण जाना भी कहते है, उसके पहले ही सभी धर्मोको छोडना ही होगा। पहले उन्हे छोड लो, पीछे शरण जानेकी बात सोचो, यही उसका निचोड है। पूर्वकालिक क्रियाका दूसरा मतलब नही है। जैसे कहा जाय कि सुनते ही विषादमे डूब गया "श्रुत्वैव विषण्णो जात", तो यहाँ जो पूर्वकालिक क्रिया "श्रुत्वा" है उससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विषादका कारण अप्रिय समाचार सुनना ही है। वैसे ही यहाँ भी शरण जानेका कारण सभी धर्मोका परित्याग है। त्याग न कहके परित्याग कहनेका भी यही अभिप्राय है कि बखूबी त्याग करना होगा, न कि आधा-साझा करके "आधा तीतर आधा बटेर" करना होगा। इसमे गुजर है नही। हाँ, एक बात और। कर्मोके स्वरूपत त्यागके बाद जब ज्ञान-

निष्ठा पूर्ण हो जाय तो उसके बाद क्या हो इस बारेमे यहाँ कुछ नही कहा है। फलत पूर्ववत् दोनो बाते हो सकती हैं। जब वृत्ति ऊपर चढ जाये तो सब छूट जायें, न चढे तो लोकसग्रह चालू हो। यही बात "सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्व्वाण"(१८।५६)मे कही गई है। क्योकि वहाँ जो 'अपि' शब्द है उससे यही अर्थ निकलता है कि सभी कर्म करते हुए भी शाश्वत पद पा जाता है। यह 'भी' साफ ही बताता है कि कर्मोके न करनेवाले भी होते हैं और उन्हें बेखटके शाश्वत पद प्राप्त होता ही है। मगर कर्म करनेवाले भी उसे प्राप्त करते ही हैं। यह बात बहुत साफ है।

बस, गीतोपदेश पूरा हो गया और जहाँतक गीताधर्मके बतानेका ताल्लुक है कुछ भी कहना शेष रहा नही। हाँ, एक बात रह गई जरूर। अर्जुनने ही यह सुना है और स्वभावत लोग कौतूहलसे समय पाके उससे पूछेगे ही कि कृष्णने आपसे क्या-क्या कहा, क्या-क्या उपदेश आपको दिया? और हो सकता है कि वह सबोसे "कुल धान साढे बाईस पसेरी"के हिसाबसे ये गोपनीय बाते कहने लग जाय। तब तो अनर्थ ही होगा। एक तो इनकी कीमत सब लोग कर सकते नही। हीरा-जवाहरातके जानकार और ग्राहक तो सभी होते नही। कहते है कि किसी नादानको कही हीरेके बडे पत्थरकी ठोकर लगी तो उसने उसे उठाके दूर गलीजमे फेक दिया, ताकि फिर ऐसी ठोकरे किसीको न लगें! यही बात गीताधर्मकी भी हो जायगी। दूसरे, जानकार लोग भी हिचक जायेगे कि हो न हो यह कोई ऐसी ही वैसी चीज है। तभी तो अर्जुन सबोसे कहता फिरता है। फलत यह गीताधर्म पनप सकेगा ही नही। इसीलिये आगेके पाँच (६७-७१) श्लोकोमें इसी बातकी चेतावनी देते हैं कि कैसे लोगोसे ये बाते कही जायँ और कही जायँ या नही। क्योकि ऐसा भी हो सकता है कि खुद जाननेके बाद इसकी चर्चा ही न की जाय और न इसकी जरूरत ही महसूस की जाय। मगर कृष्णको तो फिक्र थी कि समाजहितके लिये

इसका प्रचार निहायत जरूरी है। उन्हे केवल अर्जुनकी ही फिक्र न थी। इसीलिये उपदेश करनेवालेकी भरपूर प्रशसा भी कर दी है और उसका सुन्दर फल सुना दिया है। निरन्तर पढते-पढाते और सुनते-सुनाते ही इसे हृदयगम किया जा मकता है, इसका प्रसार हो सकता है, इसीलिये उसपर भी जोर दिया गया है।

इद ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति ॥६७॥
य इम परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्ति मयि परा कृत्वा मामेवैष्यत्यसशयः ॥६८॥
न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्य. प्रियतरो भुवि ॥६९॥
अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः ॥७०॥
श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात् पुण्यकर्मणाम् ॥७१॥

यह (उपदेश) तुझे तपशून्य लोगोसे कभी नही कहना होगा, जो न तो भक्त हो, न श्रद्धापूर्वक सुननेके लिये लालायित हो, (प्रत्युत) हमारी निन्दा करते हो। (विपरीत इसके) जो कोई ये बाते मेरे भक्तोको सुनायेगा वह मुझमे (ज्ञानरूप) पराभक्ति करके निस्सन्देह मुझे ही पायेगा। (इतना ही नही।) मनुष्योमे उससे बढके मेरा प्रिय करनेवाला और भूमडलमे उससे बढकर मेरा प्रिय कोई होगा भी नही। साथ ही, जो कोई हम दोनोके इस धर्मयुक्त सवादको पढेगा वह ज्ञानयज्ञके द्वारा मेरी पूजा ही करेगा, ऐसा मै मानता हूँ। जो मनुष्य श्रद्धायुक्त हो तथा निन्दाकी भावना छोडके इसे (केवल) सुनेगा भी वह भी मरनेपर पुण्यकर्मा लोगोंके शुभ लोको या समाजोमे जा पहुँचेगा।६७।६८।६९।७०।७१।

यहाँ 'अतपस्क'से मतलव है जिसमे पूर्वोक्त कायिक, वाचिक, मानसिक तपोमे कुछ भी पाये न जाये। वे तीनो प्रकारके तप ऐसे है कि उनसे ज्ञानकी योग्यता होती है और मनुष्य गीताधर्म समझनेके योग्य वन जाता है। इसीलिये उनकी आवश्यकता है। यही कारण है कि जिनमे वे या कमसे कम उनमेंके मुख्य तप न पाये जाये उसे गीताधर्म सुनाना "भैसके आगे बीन बजाये, सो बैठी पगुराये"को ही चरितार्थ करना होगा। इन श्लोकोमे 'मा' या 'मद्' शब्द भगवानके वाचक न होके आत्मा-परमात्माके ही वाचक है, यह भूलनेकी बात नही है। भक्तिका अर्थ पहले श्लोकमें अपराभक्ति या पूर्वोक्त चार भक्तियोमेंसे जिज्ञासुवाली भक्ति ही है। इसीलिये चौथी या ज्ञानरूपा भक्ति आगे कही गई है। दूसरे श्लोकमे भी 'भक्तेषु'का अर्थ जिज्ञासु ही है। जिज्ञासुको ये बातें सुनाना ही ज्ञानका अभ्यास और मनन हो जाता है। फलत ज्ञानकी पूर्णतामे जो कमी रहती है वह पूरी हो जाती है। किन्तु जिसका ज्ञान पूर्ण हो उसके सम्बन्धमे जव यह श्लोक लागू होगा तो " भक्ति मयि परा कृत्वा" पहले ही आयेगा और अर्थ यह होगा कि जो मुझमे पराभक्ति करके मेरे भक्तोको यह सुनायेगा उसे भी मुक्ति होगी ही। यह सुनाना उसमे वाधक न होगा। यह कथन गीताधर्मके सम्प्रदायके प्रचलित करनेके ही खयालसे है।

इसके वादके दो श्लोक गीताकी प्रशसाके लिये है। लोग इसमे प्रवृत्ति करें इसीलिये कह दिया है कि पठन-पाठन भी ज्ञानयज्ञ है, जिससे भगवान या आत्माकी पूजा ही होती है। फलत धीरे-धीरे मनुष्य प्रगतिकी ओर चलते हुए पूर्ण ज्ञानी बनता है। जो पढ भी न सके उसे दूसरे पढनेवालोके मुखसे सुनना ही चाहिये। अगर श्रद्धापूर्वक भक्तिसे कोई सुने, तो आगे चलके उसका भी कल्याण होके ही रहेगा। यहाँ अन्तिम श्लोकमे 'मुक्त' शब्दका मुक्ति या मोक्ष अर्थ न होके प्रयाण, मरण या शरीरका त्याग ही अर्थ है। क्योकि मुक्ति होनेपर पुण्यकर्मियोके शुभ लोकमे जानेका

सवाल उठता ही नही। वह तो निर्वाणमुक्त हो जाता है। उसका आना-जाना कही होता नही। यह भी तो प्रश्न है कि केवल सुननेवाला मुक्त होगा भी कैसे ? यह तो सबसे नीचे दर्जेका है न ? लोकका अर्थ वह प्रगतिशील समाज ही है जहाँ ज्ञानचर्चाकी अनुकूलता हो। स्वर्गादि लोकोकी बात यहाँ उठाना गीताधर्मके अनुकूल नही है। गीता तो ज्ञान-मार्गकी चीज है न ? फिर भी यदि कोई लोक शब्दसे स्वर्गादि भी समझ ले तो हमे उससे इनकार नही है। मगर केवल उसे ही न समझ प्रगतिशील समाजको भी लोकके अर्थमे लेना ही होगा।

इस तरह कृष्णको जो कुछ कहना था कह दिया। गीताधर्मके उप-देशके बाद भविष्यमे उसके प्रचारकी व्यवस्था भी कर दी। इसे ही सम्प्र-दाय कहते है और परम्परा भी, जैसी कि चौथे अध्यायके शुरूमे ही विवस्वान्, मनु आदिकी परम्परा कही गई है। फिर भी वह परम्परा या सम्प्रदाय आजकी तरह पेशा और दूकानदारी न बन जाये, इसीलिये पहले ही श्लोकमे कह दिया है कि किन लोगोसे ये बाते कही जायँ। बादके श्लोकोमे तो कौन कहे, कौन न कहे आदि बन्धन भी लगा दिये गये है।

अन्तमे, जैसा कि पहले ही कह चुके है, कृष्णने यह मुनासिब समझा कि जरा पूछ तो देखे कि इन बातोका अर्जुनपर क्या असर हुआ है। क्योकि इससे भविष्यके बारेमे भी उन्हे निश्चिन्त हो जानेकी बात थी। कमसे कम यह तो समझ जाते जरूर ही कि हम एव अर्जुन भी कितने गहरे पानीमे है। इसीलिये उनने पूछा, और यह जानके उनकी प्रसन्नताका ठिकाना न रहा कि अर्जुनने न सिर्फ गौरसे उनके उपदेशोको सुना, बल्कि समझा भी पूरी तरहसे और तैयार भी वह हो गया तदनुकूल ही। यही प्रश्न और उत्तर आगेके दो श्लोकोमे क्रमश आये है।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥७२॥

हे पार्थ, भला कहो तो कि आया तुमने यह उपदेश एकाग्र चित्तसे सुना है (और अगर हाँ, तो) आया तुम्हारा (वह) अज्ञानसे उत्पन्न हृदयका अन्धकार मिटा है ?।७२।

कच्चित् शब्द वही बोला जाता है जहाँ उत्तरके बारेमें सन्देह हो और पूछनेवालेका मन खुद आगा-पीछा करता हो कि देखें क्या होता है। यहाँ "अज्ञानसमोह"मे समोह वही है जिसका वर्णन "क्रोधाद्भवति समोह॰ समोहात्स्मृतिविभ्रम" (२।६३)मे आया है। वहाँ समोहका परिणाम लिखा है स्मृति-विभ्रम या स्मृतिका गायब हो जाना। अर्जुनने इसी स्मृति-विभ्रमके फेरमें ही तो न लडनेका निश्चय कर लिया था। हम इसका अर्थ वहीं अच्छी तरह बता चुके है। कृष्णका खयाल था कि यदि अर्जुनने ठीक-ठीक सुना और समझा होगा तो फौरन वह यही उत्तर देगा कि हमें स्मृति मिल गई। समोह कहनेमें कृष्णका दूसरा मतलब था। साधारणत॰ दिल-दिमागकी सफाईकी बात तो थी ही। मगर ऐसा भी तो हो सकता था कि अर्जुन उन्हे खुश करनेके ही लिये कह देता कि हाँ, हमने सब कुछ समझ लिया। तब क्या होता ? तब तो सब कुछ बेकार हो जाता। किन्तु इसकी पहचान कैसे हो कि उसने आया सचमुच ही समझा है और मान लिया है, या केवल शिष्टाचारकी बाते करता है ? इसीलिये समोह पद दिया। क्योकि इसका सम्बन्ध स्मृति-विभ्रमसे है। फलत अगर अर्जुनने ध्यान देके सुना और समझा है तो जरूर ही कह देगा कि स्मृति प्राप्त हो गई। लेकिन यदि ऐसा न होगा तो कुछ और ही बोलेगा। और कृष्णकी प्रसन्नताका क्या ठिकाना रहा होगा जब उनने सुना कि अर्जुन ठीक वही "स्मृतिर्लब्धा" ही बोल उठा ? बस, उनने जान लिया कि अर्जुनने यह उत्तर शिष्टाचारसे न देके सचमुच ही हृदयसे दिया है और उसे हमने जो भी उपदेश दिया है उसका उसपर पूरा असर हुआ है। "ध्यायतो विषयान्पुस" तो आखिर उसी उपदेशका अमली और व्यावहारिक रूप ही था न ?

**नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत ।**
**स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव ॥७३॥**

(इसपर चट) अर्जुनने उत्तर दिया कि) हे अच्युत, आपकी कृपासे (मेरा) मोह भाग गया, (वह) स्मृति (पुनरपि) जग उठी और मै सन्देह-रहित—स्थितप्रज्ञ—हो गया हूँ । (इसलिये) आपकी बात मानूँगा ।७३।

इसमे 'स्मृतिर्लब्धा'की ही तरह 'स्थित' शब्द भी मार्केका है । क्योकि द्वितीय अध्यायमे स्मृति और समोहकी बाते स्थितप्रज्ञके ही प्रसगसे आई है । इसलिये स्वाभाविक ही है कि समोह हटनेपर स्मृति फिर जग उठे और मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाय । फलत अर्जुनने जो उत्तर दिया उसमे स्थितप्रज्ञका निर्देश भी जरूरी था और उसीके मानीमे ही 'स्थितोऽस्मि' आया है । इसमे और स्थितप्रज्ञ कहनेमे जरा भी अर्थभेद या अन्तर नही है । हमने यही अर्थ लिखा भी है । स्थितप्रज्ञकी पहचान पहले ही बताई गई है । उसकी सबसे बडी खूबी यह होती है कि अपने लिये उसे कुछ करना रही नही जाता । फलत जो कुछ भी वह करता है लोकसग्रहकी ही दृष्टिसे । इसीलिये अर्जुनने यह कहनेकी अपेक्षा कि "करिष्ये धर्म-मात्मन"—"अपना धर्म करूँगा", यही कहना उचित समझा कि "आपकी बाते मानूँगा"—"आप जैसा कहते है वही करूँगा"—"करिष्ये वचन तव" । इससे कृष्णको और भी पूरा यकीन हो गया कि अर्जुनने अच्छी तरह हमारा उपदेश सुना है, समझा है और काम भी तदनुसार ही करेगा ।

इस तरह कृष्ण और अर्जुनके सवादको सजयने धृतराष्ट्रसे ज्योका त्यो सुना दिया । यहाँ लोगोको यह खयाल हो सकता है कि उसने मनगढन्त बाते ही कही होगी । क्योकि भीषण सग्रामकी स्थलीसे बहुत ज्यादा दूर बैठे-बैठे सारी बाते आखिर उसे मालूम कैसे हुई ? वहाँ तो कोई टेलिफोन या तार भी न था और न बेतारका तार ही । और अगर होता भी तो इससे क्या ? सजयके साथ उसके जरिये कृष्ण और अर्जुन तो बाते

करते जाते न थे और न माईक्रोफोन पर बैठके ही बाते करते थे कि सजय भी सुन लेता। और अगर सजय सुनता तो धृतराष्ट्र भी जरूर सुनता। फिर इस प्रश्नोत्तरकी जरूरत दोनोके बीच क्यो होती कि कुरुक्षेत्रमे क्या हुआ, क्या नही ? लोगोके अलावे खुद धृतराष्ट्रको ही शक हो सकता था कि सजय बाते तो नही बना रहा है ? यह ठीक है कि व्यासजीने उससे कह दिया था कि यह सजय सारी बाते बैठे-बिठाये जान जायगा। क्योकि इसे मै दिव्य दृष्टि (television) दिये देता हूँ। इसीलिये दिनरात मे जब कभी धीरे या जोरसे बाते होगी या और भी जो काम होगे, यहाँ तक कि लोगोके मनमे भी जो कुछ बाते आयेगी सभी इसकी आँखोके सामने नाचने लगेगी। फलत अथसे इति तक युद्धका सारा वृत्तान्त तुम्हे ज्योका त्यो सुना देगा,—"एष ते सजयो राजन् युद्धमेतद्वदिष्यति। एतस्य सर्व-सग्रामे न परोक्ष भविष्यति ॥ चक्षुषा सजयो राजन्दिव्येनैव समन्वित । कथयिष्यति युद्ध च सर्वज्ञश्च भविष्यति ॥ प्रकाश वाऽप्रकाश वा दिवा वा यदिवा निशि। मनसाचितित मपि सर्व वेत्स्यति सजय" (महा० भीष्म० ६।९-११)। लेकिन धृतराष्ट्रकी बुद्धि तो उस समय मारी गई थी। वह ठिकाने न थी। वह बुरी तरह परीशान भी था। व्यासजीसे भी उसने साफ ही यह बात स्वीकार की थी। इसलिये उसके मनमे ऐसा खयाल होना असभव न था। कुटिल तो था ही। और उसे चाहे भले ही शक हो, या न हो, किन्तु लोगोको तो हो सकता था ही। क्योकि व्यासका यह प्रबन्ध सब लोग तो जानते न थे। गीतामें कही पहले यह बात आई भी नही है। महाभारतमें लिखी होने पर भी गीता तो स्वतत्रसी चीज है न ? फलत केवल गीतापाठीको भी ऐसा खयाल न हो इसीलिये आगेके चार श्लोकोमेंसे पहले दोमें सजयने खुद यही बात कही है कि व्यासजीकी कृपासे ही मैंने यह सब कुछ सुना है। शेष दोमे इस गीतोपदेशकी अलौकिकता तथा कृष्णकी उस समयकी अलौकिक भावभगीका निरूपण किया है।

## संजय उवाच

इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः ।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम् ॥७४॥

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानेतद्गुह्यमहं परम् ।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम् ॥७५॥

सजयने कहा (कि) इस तरह वासुदेव कृष्ण और महात्मा अर्जुनका यह अद्भुत (एव) रोमाचकारी सवाद मैंने (खुदबखुद) सुना था। व्यासकी कृपासे यह अत्यत गोपनीय योग मैंने स्वय योगेश्वर कृष्णसे साक्षात् कहते हुए ही सुना था ।७४।७५।

पार्थका जो विशेषण महात्मा दिया गया है उससे भी सिद्ध हो जाता है कि अर्जुनने आत्मतत्त्व और तन्मूलक कर्म-अकर्मका पूर्ण रहस्य अच्छी तरह हृदयगम कर लिया था।

सजयने यह बात धृतराष्ट्रसे तब कही थी जब भीष्म आहत हो चुके थे, न कि कृष्णके उपदेशके ही समय। इसीलिये भूतकालके सूचक "अश्रौषम्" तथा "श्रुतवान्" पद आये है।

यह सवाद निराला है यह भी कह दिया है। ठीक ही निराला था।

रोमहर्षणका मतलब है आनन्दके मारे ही रोगटे खडे कर देनेवाला, न कि भयसे। क्योकि भयका कोई अवसर था नही।

गीताधर्मको भी योग कहा है। यो तो गीताके सारे विषय ही योग कहे गये है। इसीलिये कृष्ण योगेश्वर है। उनसे बढके इस योगको और कौन जानता था ?

सचमुच ऐसे योगेश्वरके मुखसे ही सुननेमे कितना आनन्द आया होगा, जब कि पीछे पढनेमे इतना ज्यादा मन आकर्षित होता और मजा मिलता है। इसीलिये तो सजयकी उस समय भी अजीब हालत थी।

सुनना तो पहले ही हो चुका था। उस समय तो उसीकी स्मृति मात्र थी। फिर भी रह-रहके वह गद्गद हो जाता है, यह खुद स्वीकार करता हुआ कहता है कि—

**राजन् सस्मृत्य सस्मृत्य सम्वादमिममद्भुतम् ।**
**केशवार्जुनयोः पुण्य हृष्यामि च मुहुर्मुहु ॥७६॥**

हे राजन्, केशव तथा अर्जुनके इस महान सवादको (इस समय भी) बार-बार याद करके रह-रहके गद्गद हो जाता हूँ ॥७६॥

यह सवाद ऐसा निराला है कि हमेशा ताजा ही मालूम पडता है। इसीलिये कुछ समय बीतने पर भी जब सजय उसे केवल याद कर पाता है, तो भी वह जैसे आँखोके सामने नाचता रहता है और ओझल नही होता। यही कारण है कि उसे 'तम्' न कहके 'इमम्' कहता है। 'त' कहनेसे परोक्ष या ओझल जान पडता न ? मगर सो तो है नही। यह ठीक है कि उसका वर्णन तो अभी-अभी हुआ है। इसीलिये पहले भी 'तत्'की जगह 'एतत्' ही आया है। मगर यह बात इनकार नही की जा सकती कि वह दिमागमे नाचता जरूर था। नही तो साधारण चीज होने पर कभी 'तम्' भी जरूर कह देते। सारा वर्णन ही यही सूचित करता है। इतने पर भी वह सवाद अलौकिक होता ही नही यदि अर्जुनकी उस समयकी अलौकिक मनोवृत्तिके साथ ही गीताधर्मके उपदेशक एव प्रथमाचार्य कृष्णकी भावभगी भी दिव्य और अलौकिक न होती। दरअसल सारी खूबी और सारा मजा तो उपदेशककी भावभगी और प्रतिपादन शैलीमें ही होता है। इसीलिये सजय स्वयमेव कृष्णकी उस निराली भावभगीकी ओर इशारा करता हुआ कहता है कि—

**तच्च सस्मृत्य सस्मृत्य रूपमत्यद्भुत हरेः ।**
**विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः ॥७७॥**

हे राजन्, हरिका—कृष्णका—वह अत्यत अद्भुत रूप याद कर करके मुझे महान् विस्मय हो रहा है और बार-बार गद्गद हो जाता हूँ ॥७७॥

इस श्लोकके सम्बन्धमे बहुत सी बाते थोडी देर पहले कही जा चुकी है। फिर भी कितनी ही कहनेको शेप है। बहुतोकी यह धारणा है कि सजय यहाँ भगवानके उस विश्वरूपके ही बारे मे कह रहा है जिसका वर्णन ग्यारहवे अध्यायमे आया है। प्राय सभी भाष्यकारो और टीकाकारोने यही अर्थ किया है। दर हकीकत मेरी नजरके सामने एक भी टीका अबतक ऐसी नही गुजरी है, जिसमे वैसा अर्थ न किया गया हो। हरिके रूपके अति, अद्भुत आदि विशेषणोसे ही और भी आसानीसे इस अर्थकी ओर लोग झुक पडे है। मगर हमने तो पहले लिखा है कि यह बात नही है। इसका कारण भी काफी दिया है। इतना ही नही। हमने तो यह भी चित्रित करनेका यत्न किया है कि जिस रूपका यहाँ उल्लेख है वह वस्तुत किस तरह का था। रथपर अर्जुन और कृष्ण दोनो ही खडे थे। युद्धमे ऐसा ही होता था। कृष्ण घोडोकी बाग पकडे खडे थे। मगर जब अर्जुनने अपना रोना गाना एकाएक शुरू कर दिया तो जो कृष्ण घोड़ोकी ओर मुँह किये खडे थे वह अचानक यह सुनते ही पीछे मुंड पडे और अर्जुनकी बाते गौरसे सुनने लगे। जैसे जैसे बाते सुनते जाते थे उनका चेहरा-मुहरा बदलता जाता था। ऐसा होते होते "अशोच्यानन्वशोचस्त्व" (२।११) शुरू करनेके पहले तक उनकी जो अलौकिक भावभगी हो चुकी थी हमने उसीका चित्र खीचनेका यत्न किया है और उसीसे यहाँ आशय है। भला विश्वरूप दर्शनसे और गीतोपदेशसे क्या ताल्लुक ? वह तो गीतोपदेशके बीचकी हजार बातोमे केवल एक है। मगर यहाँ तो स्पष्ट ही गीताके समूचे सवादका और योगका उल्लेख है। योग भी वह जिसे कृष्णने कहा था, जिसे वह कह रहे थे। क्योकि साफ ही "कथयत" लिखा है। न कि जिसे दिखाया था। यह मार्केकी बात है।

एक बात और भी है। विश्वरूपके बारेमे ग्यारहवे अध्यायमे स्पष्ट ही कहा है कि अर्जुनके अलावे पहले किसीने भी उसे नही देखा था और न आगे कोई देख ही सकता है। यह बात हमने ग्यारहवे अध्यायके उन श्लोकोको उद्धृत करके थोडी ही देर पहले सिद्ध की है। किन्तु यह बात झूठी हो जाती है यदि सजय उस विश्वरूपको याद करता है। क्योकि स्मृतिके पहले तो देखना जरूरी है न ? बिना देखे स्मृति कैसी ? अर्जुन या कृष्णके मुखसे जो कुछ वर्णन ग्यारहवे अध्यायमे आया था केवल उसे वहाँ कह देना और बात है। वह जैसेका तैसा सुनके ही हो सकता था। मगर उसमे वह मजा स्वय सजयको नही मिल सकता था जो देखनेमे मिलता। देखे हुए हीका जो प्रबलतम सस्कार होता है वही जगके उसे ला खडा करता है आँखोके सामने। सुने हुएके बारेमें यह बात नही होती, नही हो सकती। सजयको दिव्य दृष्टि मिलने पर भी ग्यारहवे अध्याय-वाले कृष्णके वचनोसे ही सिद्ध है कि वह विश्वरूप न तो पहले किसीने देखा था और न आगे कोई देख सकेगा। तब सजय उसे देख सकता था कैसे ? यह बात मानी कैसे जा सकती है ? लेकिन इस श्लोकके पदोको पढके कोई भी कह सकता है कि आँखो देखे स्वरूपका ही उल्लेख सजय करता है। फलत उपदेशके आरभवाले रूपसे ही यहाँ तात्पर्य है।

इसके सम्बन्धमें इसी श्लोकमे एक और भी प्रमाण मिल जाता है। हमने तो पहले ही कहा है कि विलक्षण और अलौकिक होनेके नाते ही उस सवादको आँखोके सामने बराबर नाचनेवाला मानके उसे बार-बार 'एतत्', 'इमम्' कहा है। लेकिन कृष्णका विश्वरूप तो और भी ज्यादा आँखोंके सामने नाचनेवाला था। फिर भी उसे इसी श्लोकमे 'तच्च' कह दिया है। 'तत् च'मे उसे 'तत्' या दूरका कहनेके क्या मानी हो सकते है ? यह तो उलटीसी बात मालूम होती है। दरअसल 'एतत्' तो उसीको कहना उचित था। हाँ, उसमे एक खतरा जरूर था। कृष्णके उपदेशके

समयके रूपके बाद विश्वदर्शनके समय विश्वरूप आया था। फलत उससे निकटका यही पडता था। इसलिये एतत् कहनेसे स्वभावत लोग इसे ही समझ सकते थे। क्योंकि पहला रूप अपेक्षाकृत इससे दूर पड जाता था। इसीलिये सजयने 'तत्' कह दिया और सारा झमेला ही खत्म हो गया। क्योंकि अब तो मौका ही न रहा कि विश्वरूपका खयाल भी किया जाय। मगर जो लोग फिर भी विश्वरूपको ही मानते है उनके लिये तत्का औचित्य बताना कठिन है।

गीतोपदेशकी बातोका उपसहार करते हुए अन्तमे सजयने धृतराष्ट्रको धोकेमे रखना उचित न समझ विजय तथा पराजयके सम्बन्धमे भी अपनी स्पष्ट राय दे दी कि कौन जीतेगा, कौन हारेगा। इसका कारण भी धीरेसे बता दिया। जिस पक्षमे योगेश्वर कृष्ण हो जो सभी युक्तियोके आचार्य है और जहाँ पार्थ जैसा धनुर्धर हो उस पक्षकी जीत न होगी तो होगी किसकी? यह तो मोटीमी बात है। शायद धृतराष्ट्रके मनमे कुछ आशा बँधी थी। क्योंकि एक तो वह अपने लडकोके मोहमे बुरी तरह फँसा था। दूसरे लोभ और मोहके करते उसकी विवेक-शक्ति नष्ट हो चुकी थी। ऐसी दशामे गीतोपदेशका युद्धपर क्या असर होगा यह बात वह शायद ही समझ सकता था।

**यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।**
**तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ।।७८।।**

जहाँ—जिस पक्षमे—योगेश्वर कृष्ण है (और) पार्थ (जैसा) धनुर्धर है वही लक्ष्मी, विजय, ऐश्वर्य और पक्की—अटल—नीति है, यही मेरा निश्चय है।७८।

अटल और पक्की नीति जही रहेगी वही विजय भी होगी और उसके बाद उसमे स्थिरता भी आयेगी। इसीलिये तो भारविने किराता-र्जुनीयमे कहा है कि जिस चीजको दुर्योधनने जैसे-तैसे जीत लिया था वह

'उसीको नीतिके बलसे सदाके लिये जीत लेना—उस विजयको स्थायी कर लेना—चाहता है, "दुरोदरक्षद्मजिता समीहते नयेन जेतु जगती सुयोधन" (१।७)। कहनेका आशय यही है कि पाडवोंकी जीत भी होगी और वह स्थायी भी हो जायगी।

लक्ष्मी या सम्पत्ति और ऐश्वर्यमे अन्तर है। ऐश्वर्य व्यापक चीज है। शासनादि भी इसमे आ जाते है। भूतिका अर्थ विस्तार है, फैलाव है और हमने ऐश्वर्य इसीको कहा है। ध्रुवा नीति कहनेसे कच्ची और बराबर बदलनेवाली दुर्योधनकी नीति घातक सिद्ध हो जाती है। चाहे जो हो। फिर भी नीति तो पक्की और स्थायी होनी चाहिये और गीताने उसीपर जोर दिया है।

इस अध्यायका विषय मोक्षसन्यासयोग लिखा है। इससे स्पष्ट है कि सन्याससे ही शुरू करके अन्तमे भी सन्यास ही आया है और उसीके साथ मोक्ष भी। यो तो शुरूमें गीतामें दूसरे ढगके भी सन्यासका वर्णन आया है और अठारहवें अध्यायके शुरूमे भी उसीको सभी कर्मोके सदा त्यागके रूपमें लिखा है। मगर उससे मोक्ष तो होता नही। इसीलिये वह इस अध्यायका और गीताका भी विषय कभी हो नही सकता। हाँ, अन्तके ६६वें श्लोकमें मोक्षके साधनके रूपमें जिस सन्यासका वर्णन किया है वही गीताको मान्य है और वही इस अध्यायका विषय है। चौथे अध्यायमे भी सन्यास आया है। मगर एक तो वह ज्ञानके साथ आया है। दूसरे उस अध्यायका वही अकेला विषय नही है। हाँ, पाँचवेंका विषय सिर्फ सन्यास ही है। फिर भी यहाँ उसीको स्पष्ट कर दिया है कि उससे केवल ज्ञान ही नही होता, किन्तु मोक्ष भी मिलता है। इस प्रकार तीन अध्याय इस सन्यासके प्रतिपादनमे लगे है।

**इति श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसवादे मोक्षसंन्यासयोगो नामाष्टादशोऽध्याय ॥१८॥**

श्रीमद्भगवद्गीताके रूपमे उपनिषद रूपी ब्रह्मज्ञान-प्रतिपादक योग-शास्त्रमे जो श्रीकृष्ण और अर्जुनका सवाद है उसका मोक्षसन्यासयोग नामक अठारहवाँ अध्याय यही है ।

कुछ लोगोने 'इति'का अर्थ 'समाप्त हुआ' ऐसा किया है। मगर सच पूछिये तो उसका अर्थ है 'यह' । यह पहले कही गई बातकी ही ओर इशारा करके उसीको याद कराता है। "इत्यह वासुदेवस्य" (१८।७४) तथा "इति ते ज्ञानमाख्यातम्" (१८।६३) आदिमे सर्वत्र यही अर्थ इति शब्दका माना गया है । हमने यही लिखा भी है। समाप्ति तो अर्थसिद्ध चीज है, न कि शब्दार्थ और वह भी कुछ जँचती नही है। इसीसे हमने उसे छोड दिया है ।

# गीता-हृदय के मूल श्लोकों की वर्णानुक्रमणिका

श्लोक के बाद पहिले पृष्ठ सख्या दी गई है
फिर डैश के बाद श्लोक सख्या